प्रकाशक —
लाला तुलसीराम जैन, मैनेजिङ्ग
प्रोप्राइटर, मेहरचन्द लक्ष्मणदास,
संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर ।

(अस्य ग्रन्थस्य पुनर्मुद्रणादिसर्वेऽधिकाराः प्रकाशकायत्ता ।

मुद्रक —
लाला खज़ानचीराम जै[illegible]
मैनेजर, मनोहर [illegible]
प्रेस, सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

भूमिका ।

आयुर्वेद प्रत्यक्ष शास्त्र है। इस का प्रभाव भी प्रत्यक्ष है। इस का आधार भी प्रत्यक्ष ज्ञान है। आयुर्वेद हमारे 'जीवन का वेद' या ज्ञान है। जब से "जीवन" है, तभी से "जीवन ज्ञान" की सत्ता भी माननी पड़ेगी। प्रारम्भिक अवस्था का "जीवन ज्ञान" कैसा था इस में कोई साक्षी विद्यमान नहीं। हां, इतना निःसन्देह कहा जा सकता है कि मनुष्य जाति के पास प्राचीन से प्राचीन जो भी साक्षी है, उस में आयुर्वेद का विकास उन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।

आयुर्वेद का मूल स्रोत वेद हैं। ऋग्वेद में आयुर्वेद और शल्य-शास्त्र विकसितावस्था में दृष्टिगोचर होते हैं। अश्विनीकुमारों के कृत्य आज भी आश्चर्यावह हैं। ऋग्वेद में कई सूक्तों के देवता अश्विनीकुमार हैं। शारीरिक रोगों में ये दोनों सिद्धहस्त थे। युद्ध में विश्पला की टांग टूट गई। इन्होंने झट लोहे की कृत्रिम टांग चढ़ा कर उसे चलने फिरने योग्य बना दिया। शल्य और आयुर्वेद के अतिरिक्त ऋग्वेद में सूर्य की किरणों द्वारा भी "Sun Bath" आदि की चिकित्सा का विधान है। पाण्डु रोग कामलापित्त Jaundice रोग में उस का विशेष रूप से उल्लेख है। ऋग्वेद के अनन्तर अथर्ववेद तो आयुर्वेद का खजाना है। अथर्ववेद के अन्यान्य विषयों के साथ "भैषज्यानि" सूक्तों में सैकड़ों बीमारियों, बूटियो और ओषधियों का वर्णन है। इस के अतिरिक्त "स्त्रीसूक्तानि" में गर्भविद्या तथा गर्भ सम्बन्धी आपरेशन और नाना प्रकार के शल्य शस्त्रों का निर्देश है। यह अद्भुत बात है कि इतने प्राचीन समय में भारतीय आर्य महर्षि पुङ्गवों ने विज्ञान और विशेषतः "जीवन विज्ञान" और शल्यशास्त्र में इतनी अधिक उन्नति की हुई थी जितनी संसार के भाग्य में आज से कुछ सौ वर्ष पूर्व न थी।

वेदों के उत्तरवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों में भी आयुर्वेद का वर्णन विद्यमान है। शतपथ ब्राह्मण में मानवीय शरीर की अस्थियां, प्राणों की संख्या, मस्तिष्क की बनावट, रीढ की हड्डी तथा अन्यान्य शारीरिक तथ्यों के साथ चिकित्सा का भी पूर्ण निर्देश है।

यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि संसार की किसी अन्य जाति या देश की धर्मपुस्तकों में आयुर्वेद जैसे वैज्ञानिक विषय पर कुछ भी नहीं लिखा गया। जंदावस्ता, अंजील, कुरान और गुरु ग्रन्थ साहेब आदि धर्म पुस्तकें वैज्ञानिक विचारों के सम्बन्ध में सर्वथा मौन हैं। आर्य जाति का मस्तिष्क ही इतना विकसित और विलक्षण रहा है

कि इस की धर्म पुस्तकों में भी आयुर्वेद के वैज्ञानिक तथ्यों का निर्देश है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद आयुर्वेद ने "पृथक स्वतन्त्र शास्त्र" का रूप धारण कर लिया। इस के लिये चरक (चिकित्सा अध्याय १) में एक उद्धरण मिलता है जिस से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि जब भारतवर्ष में ग्रामों और नगरों की बस्तियां बसने लगीं और लोग तपोवनों और हिमालय के शुद्ध आश्रमपदों को छोड़कर सांसारिक व्यवहार के लिये ग्राम तथा नगर बसा कर रहने लगे, तो ग्राम-वास-दोषोत्पन्न नाना प्रकार की नई व्याधियां उत्पन्न हो गई जिन्होंने उस समय की जनता को भयभीत कर दिया। उस के लिये हिमालय के एक सुन्दर रम्य प्रदेश में ऋषियों की एक बड़ी भारी सभा हुई जिस में यह निर्णय किया गया कि कुछ लोग आयुर्वेद के अध्ययन में विशेष रूप से संलग्न हों और इस विद्या को सीख कर वे आगे इस का प्रचार करें जिस से स्वास्थ्य शास्त्र और चिकित्सा शास्त्र के उपाय सब को विदित हों और रोगों से मुक्ति प्राप्त की जा सके। इस कार्य के लिये भरद्वाज ने सब से पहले अपने आप को पेश किया। उस ने इस सम्बन्ध में इन्द्र से सब कुछ पढ़ा और फिर अपने शिष्यों को पढ़ाया। शिष्यों में से अग्निवेश ने प्रथम स्वतन्त्र संहिता निर्माण की। तत्पश्चात् भेड़, जातुकर्ण, पराशर, क्षारपाणि और हारीत ने भी पृथक् २ अपने २ नामों से संहिताओं का निर्माण किया। हारीत संहिता का मुद्रित संस्करण जो इस समय प्राप्य है, कइयों का विचार है कि वह प्रकृत पुस्तक नहीं है। शेष संहिताओं की प्राप्ति दुष्कर कार्यों में परिणत हो चुकी है।

इस प्रकार आयुर्वेद ने सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये स्वतन्त्र शास्त्र का रूप धारण किया। तब से यह निरन्तर रूप से परिष्कृत और परिवर्द्धित होता गया।

पुरानी संहिताएं—चरक, सुश्रुत और वाग्भट का विषय और शैली प्रायः एक सी ही है। चरक में चिकित्सा की प्रधानता है और सुश्रुत में शल्य या सरजरी की। वाग्भट सूत्रस्थान Elementary Hygiene में ऊंचा स्थान प्राप्त किये हुए है। प्राचीन संहिताओं के बाद भी सामयिक अवस्थाओं और आवश्यकताओं को यथासमय पूरा करने के लिये आयुर्वेद के आठों भिन्न २ अङ्गों पर सैकड़ों पुस्तकें लिखी गई। एक २ अङ्ग पृथक् रूप से स्वतन्त्र शास्त्र की पदवी को पहुंच गया। खेद है कि इस समय आयुर्वेद के आठों अङ्गों पर स्वतन्त्र ग्रन्थों का लोप हो गया है। जो उपलब्ध भी हैं, वे भी हस्तलिखित रूप में पड़े हैं और किसी भी वैद्य या वैद्यसभा ने उन्हें सम्पादित करने का कष्ट

नहीं किया। इस प्रकार के लगभग २०० ग्रन्थ औफ्रेक्ट (Aufrecht) के बृहत्सूचीपत्र में उल्लिखित हैं। इन को सम्पादित करना या कराना एक मनुष्य का कार्य नहीं। इस के लिये अनुसन्धान सभाएं और पुष्कल द्रव्य की आवश्यकता है। वैद्य बन्धुओं को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

प्राचीन संहिताओं के चिकित्सा और निदान विभाग में भी यथा-समय विकास होता ही गया। चरक के क्वाथ और बड़ी २ वटिकाओं के स्थान में थोड़ी मात्रा वाली ओषधियों की आवश्यकता का प्रतीत होना आवश्यक था। भारतीय रसायनशास्त्रियों ने संसार में सब से पहले लोह आदि धातुओं के औषधोपयुक्त गुणों (Medicinal properties) का पता चलाया। चरक में इस विषय का बहुत कम उल्लेख है। पर बाद में इस विषय ने भी पूर्ण उन्नति की और आयुर्वेद आज सत्य रूप में यह गौरव कर सकता है कि इस की ओषधियों की मात्रा—विशेष कर रसों की मात्रा—संसार भर के मैडिकल सिस्टम्ज़ की दवाइयों से कम है।

रसायन विद्या के साथ साथ निदान, निघण्टु, चिकित्सा और दूसरी उपयुक्त शाखाएं भी उन्नति करती गईं। यवनों के प्रादुर्भाव के पश्चात् आयुर्वेद में नई २ रिसर्च का काम बड़ी धीमी गति पर हो गया। अब साधारण संग्रहों की बारी आ गई। नूतन ग्रन्थ कम लिखे जाने लगे। पुरानी संहिताओं और पुराने ग्रन्थों की टीकाएं, टिप्पणी और संग्रहों का ही यह समय था। भावप्रकाश आदि इसी समय के ग्रन्थ हैं। इसी समय में "वृद्धत्रयी" और "लघुत्रयी" की परिभाषाएं बनाई गई। लघुत्रयी में शार्ङ्गधर का स्थान विशेष आदरणीय है। शार्ङ्गधर ने निघण्टु और निदान के विषय को कम छुआ है। उस का अधिक झुकाव चिकित्सा की ओर है।

चिकित्सा में शार्ङ्गधर ने योगों का क्रम बड़ा उत्तम कर दिया है। क्वाथ, वटिका, अरिष्ट, आसव, घृत, तैल आदि की परिभाषाएं और पृथक् २ रूप से वैज्ञानिक क्रम शार्ङ्गधर के लिये उत्तम श्रेय के विधायक हैं। संहिता में प्रायः उन्हीं योगों को स्थान दिया गया है जो अनुभवी चिकित्सकों द्वारा सैकड़ों बार आजमाये जा चुके हैं। इन्हीं चमत्कृत योगों के कारण शार्ङ्गधरसंहिता को वैद्यमण्डल में आदर का स्थान प्राप्त है।

शार्ङ्गधर संहिता का विशेष महत्त्व

आयुर्वेदाचार्य शार्ङ्गधर द्वारा निर्मित "शार्ङ्गधरसंहिता" प्रामाणिक ग्रन्थों में से एक है। आयुर्वेद की वृद्धत्रयी में चरक, सुश्रुत और वाग्भट की गणना होती है और लघुत्रयी में माधवनिदान, भावप्रकाश-निघण्टु और शार्ङ्गधर की गणना होती है। श्रेणी विभाग में परिगणित

होने वाले अन्य स्वल्प महत्त्व के नहीं। शार्ङ्गधरसंहिता बहुत छोटी सी पुस्तक है। केवल २६०० श्लोक इस में हैं। ऐसी लघु पुस्तिका होने पर भी इसे वह आदर प्राप्त है जो अन्य बहुत कम पुस्तकों को प्राप्त है। इसका कारण क्या है? इसके उत्तर में कहना होगा कि जो खूबियां शार्ङ्गधर ने अपनी संहिता में गुम्फित की हैं अन्यत्र उनका अभाव सा है। बृहद् संहिताओं में अथवा तत्सदृश अन्य आयुर्वेदीय उपलब्ध ग्रन्थों में पुरातन शैली के अनुसार रोगों के वर्गीकरण अथवा चिकित्सा के वर्गीकरण पर उदासीनता से काम लिया गया है। यह उदासीनता वर्तमान के अल्पधी जनसमुदाय को खटकती है। शार्ङ्गधर ने इस अवर्गीकरण की 'खिचड़ी' को दूर करने में जो प्रशंसात्मक कार्य किया है उसने उसे विद्वानों के हृदय का हार बना दिया है।

शार्ङ्गधरसंहिता में सब से बड़ी खूबी यह है कि आचार्य ने प्रत्येक विषय को तीनों खण्डों के पृथक् २ अध्यायों में बांट दिया है। जो विषय एक स्थान पर आरम्भ किया है उसका आदि और अन्त वहीं कर दिया है। जिससे पाठक अथवा अन्वेषक को 'वर्कगर्दानी' के कष्ट से बचा दिया है।

जैसे—मान परिभाषा, पूर्वखण्ड के प्रथमाध्याय में ही मिलेगी। औषध व्यवहार के नियम, मधुरादि रसों की उत्पत्ति और उनके गुण दोषों के संचय प्रकोपोपशम का विधान पूर्व खण्ड के द्वितीय अध्याय में मिलेगा अन्यत्र नहीं। नाड़ीपरीक्षाविधान दूत परीक्षा, शुभाशुभ शकुनज्ञान पूर्व-खण्ड के तृतीय अध्याय में प्राप्त होगा। औषधों के दीपन पाचनादि गुण-धर्म पूर्व खण्ड के चतुर्थ अध्याय में ही दृष्टिगोचर होंगे। शरीर सम्बन्धी समस्त उपादेय ज्ञान पूर्वखण्ड के पञ्चमाध्याय में ही उपलब्ध होगा। आहार और उसके परिपाक का उपदेश पूर्वखण्ड के षष्ठ अध्याय में ही प्राप्त होगा। संख्यात्मक रोग गणना का वृत्त पूर्वखण्ड के सातवें अध्याय से ही जाना जावेगा।

यावतीय स्वरस परिभाषा द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय में देखी जायेगी। समस्त क्वाथों का वर्णन द्वितीयखण्ड के दूसरे अध्याय से भिन्न अन्यत्र प्राप्त नहीं होगा। फाण्ट हिम कल्क, चूर्ण वटिका, अवलेह, घृत तैल और आसवारिष्ट आदि का वर्णन यथाक्रम द्वितीयखण्ड के ३, ४, ५, ६ ७ ८, ९, १० अध्याय में ही प्राप्त होगा। स्वर्णादि धातुओं के शोधन मारण का समस्त परिज्ञान ग्यारहवें और रसौषधों का सम्पूर्ण वर्णन मध्यमखण्ड के १२ वें अध्याय में ही प्राप्त होगा। इसी प्रकार पञ्च-कर्म, वस्तिविधान, नस्यविधि, धूमपान कवल, गण्डूष लेप तथा शोणित स्राव आदि का समस्त वर्णन उत्तर खण्ड के मध्य में ही प्राप्त होगा।

इस प्रकार खण्डानुक्रमणिका के अनुसार की हुई प्रतिज्ञा में आचार्य ने लेशमात्र भी वैपरीत्य उपस्थित होने नहीं दिया। इसी सुश्रृंखला के कारण पाठकों को किसी भी विषय को निर्णीत स्थान से अन्यत्र ढूंढने का कष्ट करना नहीं पड़ता। यही एक महान् गुण है जो पुस्तक की उपयोगिता को चार चान्द लगाता है। चिकित्सा और अनुभूत योगों के सम्बन्ध के लिये आचार्य ने आरम्भ में ही—

प्रसिद्धयोगा मुनिभिः प्रयुक्ताश्चिकित्सकैर्ये बहुशोऽनुभूताः।
विधीयते शार्ङ्गधरेण तेषां सुसंग्रहः सज्जनरञ्जनाय॥

यह प्रतिज्ञा की है और इसको पूर्ण रूपेण निभाया है। इसके मानने में किसी भी चिकित्सक को इनकार नहीं हो सकता कि शार्ङ्गधरीय योग सद्यः फलप्रद तथा अद्वितीय लाभ करने वाले हैं।

शार्ङ्गधर का परिचय

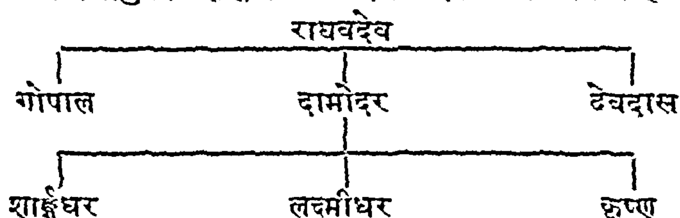
शार्ङ्गधर संहिता के अध्यायान्त वाक्य से यह विदित होता है कि शार्ङ्गधर दामोदर का पुत्र था। शार्ङ्गधर पद्धति नाम की सद्यः प्रकाशित पुस्तक में शार्ङ्गधर का जो परिचय दिया है उस में भी शार्ङ्गधर को दामोदर का पुत्र लिखा है। इस से यह मानने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती कि शार्ङ्गधरपद्धति और शार्ङ्गधरसंहिता का कर्ता शार्ङ्गधर एक ही व्यक्ति था।

इस स्थापना के अनुसार हमें शार्ङ्गधराचार्य को १४ वीं शताब्दी में रखना पड़ेगा। क्योंकि शार्ङ्गधरपद्धति में उस का समय इस प्रकार दिया है।

पुरा शाकम्भरीदेशे श्रीमान् हम्मीरभूपतिः।
चाहुवाणान्वये जातः ख्यातः शौर्य इवार्जुनः॥
तस्याभवत्सभ्यजनेषु मुख्यः परोपकारव्यसनैकनिष्ठः।
पुरस्करस्येव गुरुर्गरीयान् द्विजाग्रणी राघवदेवनामा॥
गोपाल-दामोदर-देवदास-संज्ञा बभूवुस्तनयास्तदीयाः।
नेत्रावतारा इव चन्द्रमौलेरपाकृतध्वान्तगणास्त्रयोऽपि॥
तेषां मध्ये यस्तु दामोदरोऽभूदुत्पाद्य त्रीनात्मजान्वीतरागः।
भागीरथ्यां शुद्धदेहं विधाय ज्ञानादात्मन्येव निष्ठां जगाम।
ज्येष्ठः शार्ङ्गधरस्तेषां लघुर्लक्ष्मीधरस्ततः।
कृष्णोऽनुजस्ततस्तेषां त्रयस्त्रेताऽग्नितेजसः॥

हम्मीर का समय १३२५—१३५१ ई० का सर्वविदित इतिहास सम्मत है।

उक्त पद्यानुसार शार्ङ्गधर का वंशक्रम इस प्रकार बनता है ।



इस प्रकार शार्ङ्गधर न केवल आयुर्वेद का पूर्ण ज्ञाता था अपितु वह काव्यरसिक भी था । शार्ङ्गधरसंहिता के आद्य मङ्गलाचरण से भी उसकी काव्यप्रियता का परिचय मिलता है ।

शार्ङ्गधर संहिता की टीकाएं

शार्ङ्गधर संहिता पर संस्कृत की तीन प्राचीन टीकाएं मिलती हैं ।

१ दीपिका । २ गूढ़ार्थदीपिका । ३ आयुर्वेददीपिका ।

दीपिका टीका के कर्ता पं० आढमल्ल हैं । ये हस्तीकान्त प्रदेश के श्री जैत्रसिंह के यहां राजवैद्य थे । ऐसा उन्होंने अपनी टीका की भूमिका में लिखा है । यह चक्रदत्त के प्रणेता चक्रपाणि का ही कोई वंशधर और सांभर देश का रहने वाला था । यह टीका जीर्ण हो चुकी है और समय का परिचायक श्लोक तो आधा ही उपलब्ध होता है—"एकादश सहस्राणि तथा" "शकानामाढमल्लो हि पञ्जिमादाचिनिर्ममे" ।

गूढार्थदीपिका—इसके कर्ता श्रीयुत काशीराम वैद्य हैं । इन्होंने अपना समय "श्रीमत् शाहसलेमस्य राज्ये" दिया है । 'शाहसलेम' या 'सलीम' का समय १५५० ई० माना जाता है । अत. गूढार्थदीपिका १६वीं सदी की है ।

आयुर्वेददीपिका—इसके कर्ता रुद्रभट्ट हैं । इनके पिता का नाम कोनोरी भट्ट था । इनका समय भी आढमल्ल का समय ही प्रतीत होता है । कारण कि आढमल्ल ने इनके उद्धरण दिये हैं और इन्होंने आढमल्ल को उद्धृत किया है । इस प्रकार संस्कृत की प्राचीन तीन टीकाएं मिलती हैं । हिन्दी टीकाओं का तो कहना ही क्या ?

इस समय शार्ङ्गधर पर हिन्दी की अनेक टीकाएं प्राप्त हो रही है ।

१—पं० दत्तराम चौबे मथुरा निवासी कृत हिन्दी टीका ।

२—पं० रामप्रसाद जी वैद्यराज पटियाला निवासी कृत भावप्रकाशिका टीका ।

३—पं० वसतिराम शास्त्री वेरी निवासी कृत हिन्दी टीका ।

४—पं० रामेश्वर भट्ट वैद्यराज काशी निवासी कृत सुबोधिनी टीका ।

सम्भव है अन्य हिन्दी टीकाएं भी इस पर हों परन्तु मुझे उपलब्ध नहीं हुईं ।

शार्ङ्गधर की संस्कृत और हिन्दी की अनेक टीकाएं रहने पर भी 'रहस्यार्थ प्रकाशिका टीका' प्रकाशित करने का साहस क्यों हुआ ? इसकी संस्कृत टीकाएं जिनका ऊपर वर्णन किया गया है, उनकी आवश्यकता उन विद्वानों के लिये कोई महत्त्व नहीं रखती जो मूल पाठ को समझ सकते हैं। जो संस्कृत नहीं समझते उनके लिये इस की अन्य भाषा टीकाएं सरल मार्ग उपस्थित नहीं करतीं। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही है कि भाषा टीका से अपना निर्वाह करने वालों के लिये एक ऐसी टीका हो जो उनके लिये सत्य और भ्रमरहित मार्ग उपस्थित करे। इस आवश्यकता को अनुभव करते हुए मुझे यह साहस हुआ है। मैं यह निर्णय करने में असमर्थ हूं कि इस उद्देश्य पूर्ति में मै कहां तक सफल हुआ हूं। इसका निर्णय विज्ञ पाठकों पर छोड़ता हूं। विद्यार्थियों को इस टीका से विशेष लाभ होगा। वैद्य तथा सर्व साधारण जन समुदाय भी पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकेगा।

सन्दिग्ध स्थलों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। शार्ङ्गधर पढ़ने पर जिन परिभाषाओं की आवश्यकता पड़ती है उन्हें पूर्ण विस्तृत कर दिया है। प्रत्येक योग के बनाने की विज्ञानानुमोदित विधि एवं उसकी मात्रा आदि का समुचित वर्णन इसमें प्राप्त होगा। प्रसंगानुसार संक्षिप्त विषयों को वक्तव्यों द्वारा विस्तृत करके बोधगम्य बना दिया गया है। सम्भव है अन्य उपयोगी बातें भी पाठकों को इस में प्राप्त हों। यदि ऐसा हुआ तो मेरा प्रयत्न सफल होगा।

पुस्तक के प्रूफ तथा मूल पाठ आदि संशोधन में मुझे प्रिय मित्र पं० विजयानन्द जी खण्डूड़ी शास्त्री महोदय से बहुत भारी सहायता प्राप्त हुई है। एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूं।

संस्कृत विद्या के प्रख्यात प्रचारक श्रीमान् ला० मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास संस्कृत पुस्तकालयाध्यक्ष महोदयों का भी मैं विशेष कृतज्ञ हू जिन्होंने बहुधन व्यय करके इस पुस्तक को अत्यन्त सुन्दर छापने में सफलता प्राप्त की है। मनुष्य स्वभाव से ही अल्पज्ञ है। इस पर भी ऐसी महान् पुस्तक को सर्वथा दोष और त्रुटिशून्य सम्पादन करना असम्भव सा है। बहु प्रयत्न करने पर भी, सम्भव है त्रुटियॉ रह गई हों। उनके लिये सज्जन जन क्षमा करते हुए भविष्य सुधारार्थ मुझे सूचित करने की कृपा करें। अन्त में ग्रन्थ कर्ता के शब्दों के साथ मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूं—

"कृपाकटाक्षनिक्षेपमस्यां कुर्वन्तु साधवः"।

आयुर्वेदाचार्य हरदयाल गुप्त

व्याख्याकर्तुः संक्षिप्तपरिचयः ।

अस्ति सर्वगुणश्लाघ्यं नानारत्नसमाकुलम् ।
त्रिगर्तेषु सता सेव्यं पुर नूरपुरं शुभम् ॥ १ ॥
तत्रासीत् परमोदारगुणो नयविभूषित ।
भीमसेन इति ख्यातो वैद्यवशादिपूरुष ॥ २ ॥
तत्पुत्रो मन्त्रशास्त्रज्ञ सिद्धहस्तश्च वैद्यके ।
श्रीमान् **'फित्थो'** इति ख्यातो वैद्यवशदिवाकर ॥ ३ ॥
तस्मादभूत् सुगुणिना वरेण्यो भिषजा मत ।
पीयूषपाणि **'श्रीवुह्लु'**धन्वन्तरिरिवापर ॥ ४ ॥
य श्रीनूरपुराधीशे जगत्सिंहे प्रशासति ।
राजवैद्यस्य पदवीं लेभे गुणगणाकर ॥ ५ ॥
मन्मण्यस्य सुतस्तस्याजनि मूर्तिरिवापरा ।
'श्रीदेविया' इति ख्यातो लोकानामगदङ्कर ॥ ६ ॥
तस्य सर्वगुणोपेत शास्त्रज्ञो भूरिवित्तम ।
'गङ्गाराम' इति ख्यात पुत्ररत्नमजायत ॥ ७ ॥
कवि सदा शाश्वतधर्मवृत्ति श्रीगङ्गराम सुनयप्रवृत्ति ।
अध्यास्त पीठ स्वपितु प्रतीत प्रशासति श्रीयशवन्तसिंहे ॥ ८ ॥
नाथारामाभिधस्तस्य सुतो विद्वानजायत ।
स्वपूर्वजगुणोपेत आयुर्वेदकृतश्रम ॥ ९ ॥
तस्यात्मजास्त्रयो जाता शास्त्रज्ञानविशारदा ।
घनश्यामो हरदयालुस्तथा रघुनन्दनः ॥१०॥
तत्रायुर्वेदविज्ञानशालिना गुणमौलिना ।
रसायनरहस्यज्ञेनायुर्वेदपटीयसा ॥ ११ ॥
गुप्तोपाख्येन शास्त्रार्थजुषा **हरदयालुना** ।
शशिग्रहनवेन्द्वब्दे [१९९१] वैशाखे च सिते दले ॥ १२ ॥
शार्ङ्गधरीयशास्त्रस्य रहस्यार्थप्रकाशिका ।
व्याख्या कृतेय कामाना दोग्ध्री तत्त्वार्थवर्णिनी ॥ १३ ॥
तया विश्वपतिर्विश्वमूर्तिर्देव प्रसीदतु ।
प्रसीदन्तु च विद्वांसो निर्मात्सर्या गुणाग्रहा ॥ १४ ॥

द्वितीयखण्डः।

अथ प्रथमोऽध्यायः।

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

अथ दशमोऽध्यायः ।

अथैकादशोऽध्यायः ।

अथ द्वादशोऽध्यायः।

उत्तरखण्डः ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

अथ नवमोऽध्यायः ।

अथ दशमोऽध्यायः ।

अथ एकादशोऽध्यायः ।

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

शार्ङ्गधरसंहितास्थभैषज्यानुक्रमणिका।

हमारी

मेहरचन्द लक्ष्मणदास

आयुर्वैदिक ग्रन्थमाला

में

मुख्य सभी आयुर्वैदिक ग्रन्थों के सानुवाद-संस्कृत टीका सहित-सरल और विस्तृत एवं सस्ते संस्करण

छापे जा रहे हैं

आपको जब कभी किसी पुस्तक की आवश्यकता पड़े तो पहले हमें स्मरण कीजिएगा।

प्राप्तिस्थान—

मेहरचन्द लक्ष्मणदास

संस्कृत पुस्तकालय

सैद मिट्ठा बाज़ार, लाहौर

यदि

आपको कभी किसी भी आयुर्वैदिक या होमियोपैथिक पुस्तक की आवश्यकता पड़े तो नीचे लिखे पता पर आर्डर देने की कृपा करें

नियमानुसार कमीशन भी दिया जाता है

हमारा आयुर्वैदिक पुस्तकों का सूचीपत्र पृथक् छपा है

पत्र भेजकर मंगवा लीजिएगा।

मेहरचन्द्र लच्मणदास

संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता

सैद मिट्ठा बाज़ार, लाहौर



श्रीधन्वन्तरये नमः

भिषग्वरेण श्रीदामोदरसूनुना श्रीशाङ्गधरेण विरचिता

शार्ङ्गधर संहिता

रहस्यार्थप्रकाशिकया भाषाटीकया समेता

ग्रन्थकर्तुर्मङ्गलाचरणम्—

श्रियं स दद्याद्भवतां पुरारिर्यदङ्गतेजः प्रसरे भवानी ।
विराजते निर्मलचन्द्रिकायां महौषधीव ज्वलिता हिमाद्रौ ॥१॥

टीकाकर्तुर्मङ्गलाचरणम् ।

यमुपास्य सुखं सिद्धिं बुद्धिञ्च लभते नरः ।
सदयालुर्महावैद्यः शङ्करः शङ्करोतु नः ॥

अधीत्यशास्त्राणि पुरातनानि नव्यानि चैवानुविलोक्य भूरि ।
करोमि टीका सुगमाक्षराढ्यां प्रकाशिकां नाम रहस्यख्यात्रीम् ॥

जैसे हिमालय पर दिव्यौपधिया निमल चन्द्रमा की चांदनी में देदीप्यमान होकर विराजती हैं उसी प्रकार जिन के अङ्गों के तेज पुञ्ज में भवानी (श्री पार्वती जी) विराजमान हैं ऐसे शकर महादेव आपको श्री अर्थात् लक्ष्मी अथवा कल्याण देने वाले हों ॥ १ ॥

वक्तव्य—प्राय आदिकाल से ही यह नियम देखने में आता है कि संस्कृत ग्रन्थ लेखक ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण करते हैं। ऐसा करना उपयुक्त ही है, कारण कि एक ऐसे कार्य को आरम्भ करके जो स्वास्थ्य, समय और धन की सहायता से पूर्ण होने योग्य हो, उस की निर्विघ्न पूर्णता के लिये अपने इष्टदेव अथवा जगदीश्वर से अनुनय विनय करना पूर्ण युक्तिसंगत है।

मङ्गलाचरण प्राय प्रारब्ध ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये किया जाता है। इससे ग्रन्थकर्ता के धार्मिक विचारों और इष्ट देव का भी पता लग जाता है। शार्ङ्गधर ने अपने मंगलाचरण मे शंकर महादेव का कीर्त्तन किया है। शङ्कर ही आयुर्वेद के प्रवर्तक हैं—'अस्ति वेद पञ्चमो वैद्यकाख्यो, वेत्ता कश्चित्तस्य नास्ते महेशान्'। इनका नाम शंकर अर्थात् व्याधियों से पीडितो का कल्याण करने वाला है। आयुर्वेद की परम प्राचीन संहिता भी 'रुद्रसंहिता' है। आयुर्वेदीय ग्रन्थ में शंकर को नमस्कार करना अत्यन्त उचित है। उस पर कर्त्ता ने उपमा ऐसी दी है जो एक अनुभवी वनौषधीसेवी वैद्य के अत्यन्त अनुरूप है। अवश्य ही शार्ङ्गधर ने प्रकृति निरीक्षण और वनस्पति विज्ञान की खोज में हिमालय की यात्रा की होगी। जिससे निर्मल शुभ्र चन्द्रिका में ज्वलन्त दिव्य औषधियों को देखकर उसे शङ्कर की निवास भूमि और पार्वती के पितृगृह का स्मरण हो आया। उसने चन्द्रिका को तेज प्रसर, पार्वती को दिव्यौषधी, और शिवजी को हिमालय की उपमा देकर अपने गूढ़ निरीक्षण का परिचय दिया है। पार्वती का नामान्तर भवानी भव-संसार की सुख समृद्धि की सूचना देता है, जिसकी प्राप्ति सदा पुरारि—पुर+अरि त्रिपुर—त्रिदोष जन्य व्याधि समूह के निराकरण में विद्यमान है।

कृतिसाफल्य और उपयोगिता—

प्रसिद्धयोगा मुनिभिः प्रयुक्ताश्चिकित्सकैर्ये बहुशोऽनुभूता ।
विधीयते शार्ङ्गधरेण तेषां सुसंग्रहः सज्जनरञ्जनाय ॥२॥

मुनियों (त्रिकालदर्शी और पुरुषातिशय शक्ति सम्पन्न व्यक्ति को मुनि कहते हैं ऐसे अनेक मुनीश्वरों चरक सुश्रुत हारीत चक्रपाणि आदि २) द्वारा कथित प्रसिद्ध योग (आशुफल प्रद और कृतिसाध्य) एवं जिनको अनुभवी चिकित्सकों ने अनेक वार अनुभूत किया है (नाम, रूप और योजनादि से) उनका संग्रह (इस संहिता के रूप में) सज्जनों की प्रसन्नता के लिये (मुझ) शार्ङ्गधर द्वारा किया जाता है ॥२॥

वक्तव्य—यह नियम भी परम्परागत ही चला आ रहा है कि एक विषय पर जब अन्य नूतन पुस्तक लिखी जाये तब उसमें हेतु दर्शाया जावे कि इसी सम्बन्ध की प्रथम पुस्तकें विद्यमान होने पर नूतन पुस्तक जनता के समक्ष पेश

करने का हेतु क्या है ?, इसी प्रश्न का उत्तर शार्ङ्गधराचार्य ने वडे सुन्दर शब्दों में दिया है। वे कहते हैं कि नि सन्देह इसी विषय पर पूर्ववर्ती मुनीश्वरों की पुस्तकें विद्यमान हैं परतु उनमें संग्रह योजना अधिक गम्भीर होने के कारण उनके अन्दर छुपे हुए दिव्य रत्नों को सर्व साधारण ग्रहण नही कर सकते। अत इस कष्ट से सवको बचाने के लिये बृहत् संहिताओं से उन २ योगो का संग्रह मैंने किया है जो प्रसिद्ध और वैद्यों द्वारा अनुभूत हो चुके हैं। एवंविध पुस्तक की प्राचीनता और उपयोगिता सिद्ध होने से सर्वत्र इस ग्रन्थ का मान हो एतदर्थ पूर्व ही यह निनाद किया गया है कि हमारा निर्मित ग्रन्थ आर्पत्व से शून्य नहीं।

चिकित्सकों के लिये उपदेश—

हेत्वादिरूपाकृतिसात्म्यजातिभेदैः समीक्ष्यातुर सर्वरोगान् ।
चिकित्सितं कर्पणबृंहणाख्यं कुर्वीत वैद्यो विधिवत् सुयोगैः ॥३॥

चिकित्सक को सर्व प्रथम रोगियों के सव रोगों को हेतु (कारण-निदान), आदिरूप (पूर्वरूप), आकृति (लक्षण), सात्म्य (उपशय) और जाति (सम्प्राप्ति) से भली प्रकार देख और समझकर तदनतर विधि पूर्वक उत्तम योगों (दवाईयों) द्वारा कर्पण (प्रवृद्ध दोपों को वमन विरेचनादि से शांत करना) और बृहण (क्षीण अथवा न्यून परिमाण दोपों को तत्तद्योग, आहार विहारादि से वढाना), चिकित्सा करनी चाहिये ॥३॥

वक्तव्य—हेत्वादि पूर्वक जो चिकित्सक व्याधि विज्ञान नहीं करते वह शास्त्राज्ञानुकूल दोपी होते हैं। वैद्य का कर्तव्य है कि—

'रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौपधम्'।

अन्यच्च—'यस्तु रोगमविज्ञाय कर्मण्यारभते भिषक्।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्' ॥

परीक्षणविधि—

१—'दर्शन स्पर्शन प्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्'।

२—'रोगं निदान प्राग्रूप लक्षणोपशयाप्तिभिः'।

इन द्विधा परीक्षण विधियों में शार्ङ्गधर ने दूसरी विधि को अपनाया है और यही विधि अधिक उपयुक्त है।

हेतु—देश, ऋतु और काल के अनुसार व्यवहार में आने योग्य आहार विहारादि पर विचार करे और रोगी से पूंछे कि वर्तमान रोग का कारण क्या है ? रोगी के उत्तर और स्वविचार से स्थिर करे कि ऐसी अवस्था में कौन दोप किस मात्रा तक कुपित हुआ है।

२ आदिरूप-पूर्वरूप—पूर्वरूप से रोगोत्पादक दोप की प्रतीति होती है, जैसे जृम्भाधिक्य–वातबोधक, दाहाधिक्य-पित्तबोधक और अरुचि कफ परिचायक

होती है। अनुभवी वैद्य को पूर्वरूप रोगारम्भक दोष निर्णयार्थ वडा सहायक होता है।

आकृति-लक्षण—रोगपरिचायक चिन्हों के निर्बल होने से रोग का सुख साध्यत्व जाना जाता है और पूर्णबल लक्षणों से व्याधि की असाध्यता प्रकट होती है।

सात्म्य-उपशय—अनेक पुराने रोगी ऐसे देखने में आते हैं जिनकी व्याधि का पूर्ण विज्ञान तुरत अथवा केवल चिह्नों से नही होता। कारण कि परस्पर दोष जनित लक्षणों की साम्यता के कारण अन्तिम निर्णय करने में कठिनता प्रतीत होती है। शास्त्रकार ऐसी अवस्था के लिये कहते हैं कि—'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्या परीक्षेत्'। अत जब कोई निर्णय न होसके तो रोगी को कोई उष्ण औषध अथवा आहारादि की व्यवस्था कर देवे और उसके परिणाम को देखे। यदि औषध अथवा आहार विहार सात्म्य पड़े तव वात विकार स्थिर करे यदि शीतोपचार से शान्ति हो तो पित्त विकार जाने।

जाति—सम्प्राप्ति विधान आयुर्वेद का जीवन है। पुराने और अनुभवी वैद्यों में इसी का प्राचुर्य्य होता है। जिसके कारण उनके लक्ष्य अचूक रहते हैं। दुष्ट हुआ एक दोष अथवा बहुदोष ऊर्ध्वाध तिर्यक् भेद से कहा २ पहुच कर किस विधि विधान से रोग उत्पन्न करते हैं यह बात सम्प्राप्ति से जानी जाती है। जो चिकित्सक अपने यश को देखना चाहें उन्हें 'सम्प्राप्ति' विज्ञान पर विशेष प्रयत्न करना होगा। सम्प्राप्ति को ठीक समझने के लिये एक दृष्टान्त—कल्पना कीजिये कि किसी की जन्म कुण्डली में प्रत्यक्ष रूप में एक उत्तम ग्रह पूर्णबल, मित्र दृष्ट, स्वक्षेत्री और स्वराशीय केन्द्र में स्थित है। परतु ऐसी अवस्था का शास्त्रीय फल कुण्डली वाले को प्राप्त नहीं होता। इसकी देख भाल करने के लिये चलित चक्र के अनुसार अंशांश विकल्पना की जाती है तव मालूम होता है कि यह ग्रह अपने अन्तिमरूप में उसी अवस्था में स्थिर नहीं रह सका जिसमें प्रत्यक्ष देखा जाता है। एवंविध दोष कुपित कहीं होता है और रोग कहीं उत्पन्न करता है। यही रहस्य सम्प्राप्ति से जाना जाता है।

दिव्यौषधियों के प्रभाव—

दिव्यौषधीनां बहवः प्रभेदा वृन्दारकाणामिव विस्फुरन्ति।
ज्ञात्वेति संदेहमपास्य धीरैः संभावनीया विविध प्रभावाः ॥४॥

जिस प्रकार वृन्दारक—देवताओं के अनेक और अपरिसख्य भेद हैं उसी प्रकार दिव्य औषधों के भी अनेक और अपरिमित भेद होते हैं। अत बुद्धिमान वैद्य अपने चित्त से सदेह (ऊहापोह) को दूर करके उनके विविध और अलौकिक प्रभावों की ओर पूर्ण श्रद्धा धारण करे ॥४॥

वक्तव्य—जब तक अपने चित्त में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के स्थान पर सन्देह अथवा सन्देहाभास हो, तब तक प्रयुक्त की हुई औषध लाभ नही करती। अत औषधों से पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिये निघण्टु शास्त्र के अनुसार जाने हुए औषधो के गुणों पर पूरी श्रद्धा और मानसिक बल के अनुसार पूर्ण विश्वास रखना चाहिये, क्योंकि 'अचिन्त्योहि मणिमन्त्रौषधीनाम्प्रभाव इति' इनका यह अचिन्त्य प्रभाव अपने मनोवल के योग से तुरन्त प्रकट होता है।

प्रयोजन—

स्वाभाविकागन्तुक कायिकांतरा रोगा भवेयुः किल कर्मदोषजाः ।
तच्छेदनार्थं दुरितापहारिणः श्रेयोमयान् योगवरान्नियोजयेत् ॥५॥

स्वाभाविक (स्वभाव से होने वाले—क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, निद्रादि) आगन्तुक (आगन्तुक कारण निमित्तज—सर्पदंश, अग्निबाधा, अभिघातादि), कायिक (शरीर के भीतर से वातादि दोषों के कोप से होने वाले) और आन्तरिक (सन्यास, मूर्च्छा, अपस्मार, उन्मादादि मनोविकार) ऐसे चार प्रकार के रोग मनुष्यों के शरीर में निश्चय से कर्म और दोषों की विकृति से उत्पन्न होते हैं। अत उत्पन्न हुए रोगों की शान्ति और उन से प्राप्त होने वाले दु खों से रोगियों को बचाने के लिये, कल्याण करने वाले उत्तम (आशुफलप्रद) योगों का प्रयोग करे ॥५॥

वक्तव्य—कई आचार्य रोगों को त्रिविधात्मक मानते हैं—यदुक्तं सुश्रुते—

'कर्मजा व्याधयः केचिद्दोषजाः सन्ति चापरे ।
कर्मदोषोद्भवाश्चान्ये कर्मजास्तेष्वहेतुका· ॥
नश्यन्ति त्वक्रियाभिस्ते क्रियाभिः कर्मसंक्षये ।
शाम्यन्ति दोषसम्भूता दोषसंक्षय हेतुभिः ॥
तेषामल्पनिदाना ये प्रतिकष्टा भवन्ति च ।
मृदवो बहुदोपा वा कर्मदोषोद्भवास्तुते ॥
कर्मदोष क्षयकृतातेषां सिद्धिर्विधीयते' ।

मनुष्यों के तीन प्रकार की व्याधियां हुआ करती हैं। इनमें कोई कर्म दोष से (अर्थात् प्राक्तन कृत पापादि से) होती हैं और कोई वात, पित्तादि दोषों से होती हैं और कोई कर्म और दोष दोनों से होती हैं। इनमें से जो पाप कर्मज होती हैं उनके कारण प्रत्यक्ष मालूम नही होते और ऐसे कर्मज रोग पाप के भोगने के पश्चात् बिना ही चिकित्सा किये अथवा निमित्त मात्र चिकित्सा करने से शान्त हो जाते हैं। एवं जो दोषज (वात, पित्तादि से) रोग उत्पन्न हों वह उस दोष के क्षय हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं। और ऐसी व्याधियां जिनके कारण तो स्वल्प हों परन्तु वह प्रतिक्षण कष्टसाध्य और भयंकर होती जावें

अथवा मृदु होकर वहु दोषारव्ध हों ऐसी व्याधिया कर्म और दोप दोनों से उत्पन्न हुई समझनी चाहियें । इनकी सिद्धि कर्म और दोप दोनों के क्षय होने से होती है ।

ग्रन्थ माहात्म्य—

प्रयोगानागमात्सिद्धान्प्रत्यक्षादनुमानतः ।
सर्वलोकहितार्थाय वक्ष्याम्यनतिविस्तरात् ॥६॥

मैं सव लोगों के हित के लिये उन्हीं प्रयोगों का सक्षेप से वर्णन करूगा जो प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आदि प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो चुके हैं ॥६॥

वक्तव्य—आगम (आप्तमो वेद , आप्ताना शास्त्र वा)

यथाहि—'सिद्ध सिद्धै प्रमाणैस्तु हित चात्र परत्र च ।
आगमाशास्त्रमाप्तानामाप्ता सत्यार्थ वेदिन.' ॥

जैसे आगम सिद्धों से सुना जाता है—'जीवेद्वर्पसहस्राणि योगस्यास्य प्रभावत ' । वृद्धा च शतवर्षीया भवेत् षोडशवार्षिकी'। प्रत्यक्ष (यत्किंचित् साक्षात्कारिज्ञान तदेव प्रत्यक्ष, जो कुछ अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं) यथाहि—

मनोक्षिगतमभ्रान्तं वस्तुप्रत्यक्ष मुच्यते ।
इन्द्रियाणामसंज्ञानं वस्तु तद्वै भ्रमः स्मृत ।

अर्थात् मन, आख आदि इन्द्रियगत भ्रान्तिरहित जो वस्तु है उस को प्रत्यक्ष कहते हैं और जिस में इन्द्रियों को यथार्थ ज्ञान न हो उस को भ्रम कहते हैं । जैसे वमन विरेचकादि औपधें प्रत्यक्ष फलप्रद हैं और अनुमान (अनुपश्चादव्यभिचारि लिङ्गाल्लिङ्गी ज्ञायते येन तदनुमानम्, अर्थात्, जिस से अव्यभिचारी लक्षणों द्वारा प्रत्यानुसारी ज्ञान हो उसको अनुमान कहते हैं, जैसे मृत पाण्डुरोग से मिट्टी खाने का अनुमान होता है इत्यादि) से सिद्ध (माने हुए) योगों को सम्पूर्ण लोगों के हित के लिये सक्षेप से कहता हू ॥ ६ ॥

पूर्व खण्ड की अनुक्रमणिका—

प्रथमं परिभापा स्याद्भैषज्याख्यानकं तथा ।
नाडी परीक्षादि विधिस्ततो दीपन पाचनम् ॥७॥
ततः कलादिकाख्यानमाहारादि गतिस्तथा ।
रोगाणां गणना चैव पूर्वखण्डोऽयमीरितः ॥८॥

इस खण्ड के प्रथम अध्याय में परिभापा (मानपरिभापा) का वर्णन होगा, दूसरे अध्याय में भैषज्याख्यान (रोग और दोप भेदानुसार औपध भक्षण का समय तथा औषधों के रस, वीर्य, विपाक, प्रभावादि) का वर्णन होगा,

तीसरे अध्याय में नाडीपरीक्षा (नवज देखने की विधि और स्वप्न तथा दूतों के शुभाशुभ आदि) का वर्णन होगा, चौथे अध्याय में दीपन, पाचन, अनुलोमन, स्रंसन, व्यवायि, विकाशी आदि गुणों का वर्णन होगा, पांचवें अध्याय में कला (शरीर के भीतरी अवयवों) का वर्णन होगा, छठे अध्याय में आहार विधि (भक्षित भोजन की पाक विधि, गर्भोत्पत्ति, कुमार पोषण तथा प्रकृतियों) का वर्णन होगा और सातवें अध्याय में ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, यक्ष्मा, अर्श, रक्त पित्तादि रोगों की गणना का वर्णन होगा। इस प्रकार सात अध्यायों करके यह पूर्वखण्ड (पहिला भाग) समाप्त हुआ है ॥७—८॥

वक्तव्य—शार्ङ्गधर ने अपनी संहिता में जो कुछ भी दिया है शृङ्खलाबद्ध दिया है। यह उनके अगाढानुभव का परिचायक है। आयुर्वेद की अन्य पुस्तकों में जहा यह कष्ट अनुभव होता है कि एक विपय किसी स्थल पर है और दूसरा उसी से सम्बन्ध रखने वाला किसी अन्य स्थल पर है वहां इस पुस्तक में पाठकों की सुविधा के लिये पूर्ण प्रयत्न किया गया है । यदि शार्ङ्गधर संहिता में मान परिभाषा सम्बन्धी विवेचन देखना हो तो वह पूर्वखण्ड के प्रथम अध्याय में देखा जा सकता है। मान परिभाषा के सम्बन्ध का एकशब्द भी अन्यत्र ढूढने से प्राप्त नही होगा। इसी प्रकार जिस २ अध्याय और खण्ड में जिस २ विषय का विवेचन किया गया है उस का लेश मात्र भी अन्य स्थानों पर दृष्टिगोचर न होगा। यह एक विशेप उत्कृष्टता है जो सराहनीय और अत्यन्त उपयोगी है।

मध्यमखण्ड की अनुक्रमणिका—

स्वरसः क्वाथफाण्टौ च हिमः कल्कश्च चूर्णकम्।
तथैव गुटिकालेहौ स्नेहः सन्धानमेव च ॥९॥
धातुशुद्धी रसाश्चैव खण्डोऽयं मध्यमः स्मृतः।

इसी प्रकार मध्यम खण्ड १२ अध्यायों में पूर्ण हुआ है, यथा—मध्यम खण्ड के प्रथमाध्याय में स्वरस (सद्योद्धृत रस) का वर्णन है दूसरे अध्याय में क्वाथ (कुट्टित द्रव्य और जल को यथामान डालकर पकाना और यथा निर्देश अवशिष्ट रखना) का वर्णन है। तीसरे अध्याय में फाण्ट (क्षुण्ण द्रव्य और उष्णजल को यथामान मिलाकर वस्त्रपूत प्राप्त द्रव पदार्थ) का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में हिम (कुटे हुए द्रव्य में यथामान शीतल जल डालकर रात्रिभर पडा रहने के पश्चात् प्रात वस्त्रपूत करने) का वर्णन है। पाचवें अध्याय में कल्क (शिला पेपित द्रव्य) का वर्णन है। छठे अध्याय में चूर्ण (शुष्क द्रव्यों को कूटकर वस्त्रपूत करना और उन्हें औषध रूप में व्यवहार करने) का वर्णन है। सातवें अध्याय में गुटिका (गोली के रूप में औषधों के व्यवहार) का वर्णन है। आठवें अध्याय में—लेह (किसी क्वाथ अथवा स्वरस को पुन पका

कर चाटने योग्य गाढा कर लेने को लेह अथवा अवलेह कहते हैं) का वर्णन है। नवम अध्याय में—स्नेह (घी अथवा तैल में कल्क एव क्वाथादि का निर्दिष्ट विधि के अनुसार पाक करना और उन्हें औषधार्थ व्यवहार करने) का वर्णन है। दशम अध्याय में—सन्धान—(चूर्ण, क्वाथ एव जल, गुड, शर्करा और मधु मिला कर सन्धित करने) की विधि का वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में—धातु शुद्धि (स्वर्ण, रजत, ताम्र, नाग, वग आदि धातु तथा उपधातुओं के शोधन मारण) का वर्णन है। बारहवें अध्याय में—रस (पारद) उपरस (गन्धक, अभ्रक, तुत्थादि) के शोधन मारण का वर्णन है। इस प्रकार १२ अध्यायों और अपरिमित औषधों के वर्णन से यह मध्यम खण्ड पूर्ण है ॥ ६ ॥

उत्तर खण्ड की अनुक्रमणिका—

स्नेहपानं स्वेद विधिर्वमन च विरेचनम् ॥१०॥
ततस्तु स्नेहवस्तिः स्यात्ततश्चापिनिरूहणम् ।
ततश्चाप्युत्तरो वस्तिस्ततो नस्य विधिर्मतः ॥११॥
धूमपानविधिश्चैव गण्डूषादि विधिस्तथा ।
लेपादीनां विधिः ख्यातस्तथा शोणित विस्रुतिः ॥१२॥
नेत्रकर्म प्रकारश्च खण्डः स्यादुत्तरस्त्वयम् ।

उत्तर खण्ड के प्रथम अध्याय में—स्नेहपान-(शरीर को स्निग्ध करने के लिये घृत, तैल वसा और मज्जा आदि को सस्कृत अथवा असस्कृत रूप में पान करने की विधि) का वर्णन है। दूसरे अध्याय में—स्वेद विधि-(ताप, ऊष्म, द्रव और उपनाह विधान से शरीर से पसीना निकालने की विधि) का वर्णन है। तीसरे अध्याय में—वमन-(किन को कय कराना किन को कय न कराना, किस २ अवस्था में किन २ औषधों से कय कराना इत्यादि) का वर्णन है। चौथे अध्याय में—विरेचन-(किन २ को किस अवस्था में कैसे और कितने विरेचन कराना इत्यादि) का वर्णन है। पाचवें अध्याय में—स्नेहवस्ति-(अनुवासनवस्ति-गुदमार्ग से वस्ति यत्र द्वारा भीतर स्नेह पहुचाने की विधि) का वर्णन है। छठे अध्याय में—निरूहण वस्ति-(गुदमार्ग से वस्ति यंत्र द्वारा क्वाथादि को भीतर पहुचाने की विधि) का वर्णन है । सातवें अध्याय में—उत्तर वस्ति-(मूत्रेंद्रिय और स्त्रियों की जननेन्द्रिय में स्नेह तथा क्वाथादि के प्रवेश करने की विधि) का वर्णन है। आठवें अध्याय में—नस्यविधि-(नासामार्ग में तैल, स्वरस व चूर्णादि-प्रयोग करने की विधि का वर्णन है। नवम अध्याय में—धूमपान-(दोष और रोगों के अनुसार औषधों के धूम को पान करने की विधि का वर्णन है। दशम अध्याय में—गण्डूष-(मुख, जिह्वा, कण्ठ और दातों के रोगों को दूर करने के लिये कुल्ले करने और कवल धारण करने की विधि) का वर्णन है।

ग्यारहवें अध्याय में—लेप-(शरीर के बाह्यभाग में उत्पन्न रोगों को लेप लगा कर नष्ट करने की विधि) का वर्णन है । बारहवें अध्याय में—शोणितमोक्षण-(शरीर से रक्त निकालने की विधि) का वर्णन है और तेरहवें अध्याय में—नेत्र कर्म-प्रकार-(नेत्रों में होने वाले रोगों की अनेक प्रकार की चिकित्सा) का वर्णन है। इस प्रकार तेरह अध्यायों में—यह उत्तर खण्ड-(तृतीय खण्ड) पूर्ण हुआ है । ॥ १०—१२ ॥

संहिता के अध्यायों और श्लोकों की सख्या—

द्वात्रिंशत्संमिताध्यायैर्युक्तेयं संहिता स्मृता ॥१३॥
षड्विंशति शतान्यत्र श्लोकानां गणितानि च ।

यह शार्ङ्गधर नाम वाली संहिता (सम्यक् प्रकार से रचित) पूर्वोक्त तीनों खण्डों के ३२ अध्यायों से युक्त है और इसमें २६०० श्लोक हैं ॥१३॥

वक्तव्य—शार्ङ्गधराचार्य निर्मितसंहिता का यह पूर्ण न्यास है । इससे न्यूनाधिक ग्रन्थकार का न समझा जाये ।

मानकी आवश्यकता—

न मानेन विनायुक्तिर्द्रव्याणां जायते क्वचित् ॥१४॥
अतः प्रयोग कार्यार्थं मानमत्रोच्यते मया ।

मान (तौल) के बिना द्रव्यों (औषध एवं योगों) की युक्ति (नियुक्ति अथवा व्यवहृति) कभी और कही नही होती अतएव औषध निर्माण और व्यवहार की सुविधा के लिये यहा मान विधि का वर्णन करते हैं ॥१४॥

वक्तव्य—उचित तौल अथवा मात्रा के बिना प्रयुक्त हुई कोई भी औषध अथवा औषध समुदाय (योग) लाभ नही पहुंचा सकता । किस योग में कौन द्रव्य कितना है और उसका कितना अंश शरीर के भीतर पहुंच कर किस प्रभाव को उत्पन्न करता है जब तक वैद्य को यह ज्ञान नहीं तब तक सर्वदा अनिष्ट की सम्भावना बनी रहती है और यह ज्ञान बिना मान निर्धारण के प्राप्त नहीं हो सकता । अत. औषधों के बनाने और बनी हुई औषधों के प्रयोग के लिये मान परिभाषा की अनिवार्य आवश्यकता है । इसी कठिनाई को दूर करने के लिये आचार्य ने मान विधान कहा है ।

मागधीयमान परिभाषा—

त्रसरेणुर्बुधैः प्रोक्तस्त्रिंशता परमाणुभिः ॥१५॥
त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना वंशी निगद्यते ।

(मान परिभाषा के जानने वाले) बुद्धिमानों ने ३० परमाणुओं का एक 'त्रसरेणु' माना है और त्रसरेणु का दूसरा नाम 'वंशी' कहा है ॥१५॥

परमाणु के लक्षण—

जालान्तर गते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ॥१६॥
तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुः स कथ्यते ।
जालांतरगतैः सूर्यकरैर्वंशी विलोक्यते ॥१७॥

अर्थ—जाल (झरोंखों के द्वारा प्रविष्ट हुई सूर्य रश्मियों में जो अत्यत सूक्ष्म कण (उडते हुए) दिखाई देते हैं उनमें से एक कण के तीसवें भाग को 'परमाणु' कहते हैं। एव जालान्तर गत सूर्य रश्मियों में दीखने वाले कणों को वंशी कहते हैं ॥१६—१७॥

मरीचि आदि सज्ञाए—

षड्वंशीभिर्मरीचिः स्यात् ताभिः षड्भिस्तु राजिका ।
तिसृभीराजिकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः ॥१८॥
यवोऽष्टसर्षपैः प्रोक्तो गुञ्जा स्यात्तच्चतुष्टयम् ।
षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधान्यकौ ॥१६॥

छ वंशी की एक मरीचि होती है और छ मरीचि की एक राई (राई का दाना) होती हे। तीन राई के दानों का एक सर्षप (सरसों का दाना) होता है ॥१८॥

आठ सरसों के दाने का एक जौं (जौं का दाना) होता है। चार जौं के दाने के बराबर एक गुञ्जा (रत्ती, घूंघची) होती है। छ रत्तियों का एक मासा होता है। मासे के दूसरे पर्याय 'हेम' और 'धान्यक' होते हैं ॥१६॥

शाण और कोल सज्ञा—

माषैश्चतुर्भिः शाणः स्याद्धरणः स निगद्यते ।
टङ्कः स एव कथितस्तद्वयं कोल उच्यते ॥२०॥
क्षुद्रको वटकश्चैव द्रङ्क्षणः स निगद्यते ।

चार मासों का एक 'शाण' होता है। उसी शाण के दूसरे नाम 'धरण' और 'टङ्क' होते हैं। दो शाणो का एक 'कोल' होता है। इसी कोल के दूसरे पर्याय (नाम) क्षुद्रक, वटक और द्रङ्क्षण होते हैं ॥२०॥

कर्ष और उसके पर्याय—

कोलद्वयं च कर्षः स्यात्सप्रोक्तः पाणिमानिका ॥२१॥
अक्षं पिचु पाणितलं किंचित्पाणिश्चतिंदुकम् ।
बिडाल पदकं चैव तथा षोडशिका मता ॥२२॥

करमध्यो हंसपदं सुवर्णं कवलग्रहः ।
उदुम्बरं च पर्यायः कर्ष एव निगद्यते ॥२३॥

दो कोल का एक कर्ष (१ तोला) होता है । उसको 'पाणिमानिका' 'अक्ष' 'पिचु' 'पाणितल' 'किंचित्पाणि' 'तिंदुक' 'बिडालपदक' 'षोडशिका' 'करमध्य' 'हंसपद' 'सुवर्ण' 'कवलग्रह' और 'उदुम्बर' कहते हैं । यह सब नाम कर्ष के पर्याय वाचि शब्द कहे हैं । (यत्र तत्र इनमें से किसी के भी व्यवहार होने से एक कर्ष का मान ग्रहण करना चाहिये) ॥२२—२३॥

अर्धपल और पल—

स्यात्कर्षाभ्यामर्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा ।
शुक्तिभ्यां च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका ॥२४॥
प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते ।

दो कर्ष (२ तोले) का आधापल होता है, उसी को 'शुक्ति' और 'अष्टमिका' कहते हैं । दो शुक्तियों (४ तोले) का एक पल होता है इसी को मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुञ्च, षोडशी और बिल्व कहते हैं ॥२४॥

प्रसृति और कुडवादिमान—

पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतश्च निगद्यते ॥२५॥
प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात्कुडवोऽर्धशरावकः ।
अष्टमानं च स ज्ञेयः कुडवाभ्यां च मानिका ॥२६॥
शरावोऽष्टपलं तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणैः ।

दो पलों की एक 'प्रसृति' होती है । इसी को 'प्रसृत' भी कहते हैं । दो प्रसृतियों की एक 'अञ्जलि' होती है, इसी को 'कुडव' 'अर्धशराव' और 'अष्टमान' कहते हैं । दो कुडवों की एक 'मानिका' होती है, इसी को 'शराव' और 'अष्टपल' (३२ तोला) कहते हैं ॥२५-२६॥

प्रस्थ और आढकमान—

शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थश्चतुष्प्रस्थैस्तथाऽऽढकम् ॥२७॥
भाजनं कंसपात्रं च चतुःषष्टिपलं च तत् ।

दो 'शरावों' का एक 'प्रस्थ' होता है । चार प्रस्थों का एक 'आढक' होता है । इसी को 'भाजन' कंस, 'पात्र' और 'चौसठ पल' कहते हैं ॥२७॥

द्रोण और द्रोणीमान—

चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशो नल्वणोर्मणः ॥२८॥

उन्मानश्च घटोराशिर्द्रोण पर्याय सञ्ज्ञकाः ।
द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुःषष्टि शरावकाः ॥२६॥
शूर्पाभ्यां च भवेद्द्रोणी वाहो गोणी च सा स्मृता ।

चार आढकों का 'एक द्रोण' होता है। इसी को 'कलश' 'नल्वण' 'अर्मण' 'उन्मान' 'घट' और 'राशि' कहते हैं अर्थात् यह द्रोण के पर्याय शब्द (दूसरे नाम) हैं ॥२८-२६॥

खारी मान—

द्रोणीचतुष्टयं खारी कथिता सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥३०॥
चतुः सहस्रपलिका षण्णवत्यधिका च सा ।

चार द्रोणियों की एक 'खारी' होती है ऐसा सूक्ष्म बुद्धिवाले (मान परिभाषा के मर्मज्ञ) कहते हैं और ४०९६ पल खारी के होते हैं ॥३०॥

भार और तुलामान--

पलानां द्वि सहस्रं च भार एकः प्रकीर्तितः ॥३१॥
तुला पलशतं ज्ञेया सर्वत्रैवैष निश्चयः ।

दो हजार (२०००) पलों का एक 'भार' होता है और १०० पल की 'तुला' होती है। ऐसा ही सर्वत्र निश्चय (सिद्धान्त) है ॥३१॥

यथोत्तर चतुर्गुण—

माषटङ्काक्षबिल्वानि कुडवः प्रस्थमाढकम् ॥३२॥
राशिर्गोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणः ।

माषा के मान को चतुर्गुण करने से 'टक' होता है। टक को चतुर्गुण करने से—'अक्ष' होता है। अक्ष (१ तोले) को चतुर्गुण करने से 'बिल्व' (१ पल) होता है। बिल्व को चतुर्गुण करने से 'कुडव' (१६ तोला) होता है। कुडव को चतुर्गुण करने से एक 'प्रस्थ' (६४ तोला) होता है। प्रस्थ को चतुर्गुण करने से एक 'आढक' होता है। आढक को चतुर्गुण करने से एक 'राशि' (१ द्रोण) होती है। राशि को चतुर्गुण करने से एक 'गोणी' (द्रोणी) होती है। द्रोणी को चतुर्गुण करने से एक 'खारी' होती है। इस प्रकार ऊपर के मान यथाक्रम एक से एक चतुर्गुण होते हैं ॥३२॥

द्रव, आर्द्र और शुष्क द्रव्यों का अनुक्रमान में ग्रहण—

गुञ्जादिमानमारभ्य यावत्स्यात्कुडवस्थितिः ॥३३॥
द्रवार्द्रशुष्कद्रव्याणां तावन्मानं समं मतम् ।

गुञ्जा से आरम्भ करके कुडव पर्यन्त जिन मान वाचक सञ्ज्ञाओं का निर्देश किया गया है अर्थात् गुंजा (रत्ती), वल्ल, मासा, शाण, कोल, अर्धपल, पल, प्रसृति और कुडव तथा द्रव (पतले), आर्द्र (गीले) और शुष्क (सूखे) द्रव्यों को समान मान में लेना चाहिये ॥३३॥

अर्थात् गुञ्जा से कुडव मान पर्यन्त निर्दिष्ट द्रव्यों को उतने ही मान में ग्रहण करे जितने के लिये निर्देश किया गया हो, द्विगुण ग्रहण न करे।

द्विगुण ग्रहणार्थ परिभाषा—

प्रस्थादि मानमारभ्य द्विगुणं तद्द्रवार्द्रयोः ॥३४॥
मानं तथा तुलायाश्च द्विगुणं न क्वचित्स्मृतम् ।

प्रस्थ मान से लेकर 'तुलामान' से प्रथम के द्रव और आर्द्र द्रव्यों को द्विगुणमान से ग्रहण करे और तुला तथा इस से ऊपर के मानों को कभी द्विगुण न करे (ग्रहण न करे)।

वक्तव्य—

यदुक्तम्—

'शुष्क द्रव्यस्य या मात्रा त्वार्द्रस्य द्विगुणा हि सा ।
शुष्कस्य गुरुतीक्ष्णत्वात्तस्मादर्धं प्रयोजयेत्' ॥

कुडव परिमित द्रव को मापने का पात्र—

मृद्वृक्षवेणुलोहादेर्भाण्डं यच्चतुरङ्गुलम् ॥३५॥
विस्तीर्णं च तथोच्चं च तन्मानं कुडवं वदेत् ।

मिट्टी से, लकड़ी से, बास से अथवा लोहे से बने हुए चार अंगुल चौड़े और चार अंगुल परिमित ऊंचे पात्र को 'कुडवमान' कहते हैं अर्थात् ऐसे व्यास युक्त पात्र में १ कुडव (१६ तोले) द्रव पदार्थ आता है ॥३५॥

नाम निर्माण परिभाषा—

यदौषधं तु प्रथमं यस्य योगस्य कथ्यते ॥३६॥
तन्नाम्नैव स योगोहि कथ्यतेऽत्र विनिश्चयः ।

जिस योग (नुसखे) में जो औषध पहिले कही हो वह योग उसी के नाम से कहा जाता है यही निश्चय जानना। जैसे–कुंकुमादि नस्य, रास्नादि क्वाथ, रजतादि लोह, इत्यादि। इस प्रकार योगों के नाम स्थिर करने में यह पद्धति बड़ी सुविधा जनक है। इसका प्रचुर व्यवहार आचार्य ने किया है। ॥३६॥

अथ कालिङ्ग परिभाषा--

स्थितिर्नास्त्येव मात्रायाः कालमग्निं वयो बलम् ॥३७॥
प्रकृतिं दोषदेशौच दृष्ट्वा मात्रां प्रकल्पयेत् ।

मात्रा की स्थिति नहीं है (अर्थात् यह निश्चिति नहीं कि अमुक मनुष्य के लिये अमुक औषध अमुक मात्रा में देवे), इसके लिये काल (शीत, उष्ण और वर्षा इन तीन प्रकार के समयों में एक औषध भिन्न भिन्न मात्रा में प्रयुक्त होती है) अग्नि (सम, विषम, तीक्ष्ण और मन्द भेद से अग्नि चार प्रकार की होने से औषध मात्रा भी चार प्रकार की होगी), वय (आयु, उत्तम, मध्यम और हीन भेद से तीन प्रकार की होने से त्रिविधायु के मनुष्यों को औषध मात्रा भी भिन्न होगी), बल (हीन, मध्यम और उत्तम भेद से शक्ति भी तीन प्रकार की है), प्रकृति (हीन मध्यम और उत्तम अथवा देश, जाति और शरीर भेद से प्रकृति भी तीन प्रकार की है अत भिन्न भिन्न प्रकृतियों के लिये औषध मात्रा का भिन्न होना भी आवश्यक है), दोष (वात, पित्त और कफ के भेद के अनुसार औषध मात्रा में भी भेद आवश्यक होगा), देश (आनूप जागल और साधारण भेद से देश भी तीन प्रकार का होता है, देश भेदानुसार औषध मात्रा में भेद करना कार्य साधक होता है) इन सब बातों को देख कर (विचार कर) औषध मात्रा की कल्पना करे। अर्थात् बुद्धिमान् वैद्य का कर्त्तव्य है कि काल, अग्नि, वय, बल, प्रकृति, दोष और देश के बलाबल के अनुसार औषध मात्रा का निश्चय करे ॥३७॥

मात्रा की कल्पना में कारण--

यतो मन्दाग्नयो ह्रस्वा हीनसत्वा नराः कलौ ॥३८॥
अतस्तु मात्रा तद्योग्या प्रोच्यते सुज्ञसंमता।

कारण कि कलियुग के मनुष्य मन्दाग्नियुक्त, स्वल्प शरीर वाले तथा हीन-बल होते हैं। अत उनके लिये मात्रा (औषध भक्षण मात्रा) भी उन्ही के योग्य (अल्प) और वैद्यों द्वारा प्रशंसित होनी चाहिये ॥३८॥

कालिंगमान के तोल--

यवोद्वादशभिर्गौरसर्षपैः प्रोच्यते बुधैः ॥३९॥
यवद्वयेन गुञ्जा स्यात् त्रिगुञ्जो वल्ल उच्यते।
माषो गुञ्जाभिरष्टाभिः सप्तभिर्वा भवेत्क्वचित् ॥४०॥
स्याच्चतुर्माषकैः शाणः सनिष्कष्टङ्क एव च।
गद्याणो माषकैः षड्भिः कर्षः स्याद्दश माषकः ॥४१॥
चतुष्कर्षैः पलं प्रोक्तं दशशाणं मितंबुधैः।
चतुः पलैश्च कुडवं प्रस्थाद्या पूर्ववन्मताः ॥४२॥

बारह श्वेत सरसों के दानों का १ यव, होता है। २ यवों (जौ) की एक गुञ्जा (रत्ती) होती है। तीन रत्तियों का एक 'वल्ल' होता है। आठ रत्ती का एक

माशा और कही कही सात रत्ती का भी माशा होता है। ४ माशों का एक शाण होता है। इसी को निष्क और टक कहते हैं। ६ माशों का एक 'गद्याण' होता है। दश माशों का एक 'कर्ष' होता है। चार कर्षो का एक पल होता है जिस के दश शाण होते हैं। एव चार पलों का एक 'कुडव' होता है अवशिष्ट प्रस्थ से ऊपर जितने मान हैं वह पूर्ववत् पूर्व कथित मागध मानोक्त) ग्रहण करने चाहियें। ॥३६—४२॥

वक्तव्य—आयुर्वेदीय मान परिभाषा में प्राचीन काल से ही परस्पर भिन्नता चली आरही है। जिसका कारण सम्भव है यह हो कि मान परिभाषा स्थिर करने वाले अथवा निर्माण करने वाले भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न समयों पर भिन्न भिन्न स्थानों पर होते रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में परिभाषा में भेद अथवा भिन्नता आश्चर्योत्पादक नहीं। वर्त्तमान में भी ऐसा दृष्टिगोचर हो रहा है, अगर लाहौर में ८० तोले का सेर माना जाता है तो पेशावर में १०० तोले का माना जाता है और पर्वतीय प्रान्तों में ३२ तोले के सेर से ही व्यवहार चल रहा है। यह वड़ा जटिल विषय है हम इसके विवादग्रस्त ऐतिहासिक स्थल पर न जाते हुए आयुर्वेदीय मानपरिभाषा को प्रचलित मान के साथ तुलना करने का यत्न करेंगे।

प्राय यह नित्य सुनने में आता है कि सुश्रुतीय अथवा मागधीय मान की अपेक्षा चरकीयमान द्विगुण बैठता है। इसी मन्तव्यानुसार कहीं कही द्विगुण ग्रहण भी किया जाता है। अत निदर्शनार्थ प्रथम चरकीय मान—दिखाया जाता है—

३२ उड़दों का—१ माशा, १२ माशे का एक तोला। ४८ माशों का एक पल।

अत इस हिसाब से चरकीय पल १५३६ उड़दों का हुआ। ३२ उड़द बराबर हैं १० रत्ती के। अत चरकीय १ माशा १० रत्ती का हुआ। इस विधान से चरक भगवान् ने ४८० रत्तियों का एकपल स्थिर किया है। इसी के ४८ माशे हुए और १२ ही माशे का एक तोला हुआ।

वर्त्तमान—८ रत्ती के माशे के हिसाब से ४८० रत्तियों के ६० माशे होते हैं। अत यह निर्विवाद सिद्ध है कि चरकीय एक पल वर्तमान ५ तोला (१ छटाक) के बराबर है, न कि द्विगुण।

सुश्रुतीय मान—

सुश्रुताचार्य १२ उड़दों का १ माशा मानते हैं। १६ माशों का १ तोला और ६४ माशों का १ पल मानते हैं।

५ रत्तियें बरावर हैं १२ उडदों के, जिसे एक माशा कहते हैं। अर्थात् सुश्रुत ५ रत्ती का माशा मानते हैं और ऐसे ६४ माशों का एक पल मानते हैं।

मौजूदा ८ रत्ती माशा के हिसाब से सुश्रुत का १ पल, ३ तोला ४ माशा का होता है। क्योंकि सुश्रुतीय पल की ३२० रत्तियां होती हैं और वर्तमान ८ रत्ती माशे के पल की ३८४ रत्तिया वनती हैं। अत सुश्रुत का मान अगर ४ तोला १२ माशे, ४ रत्ती हो तो उसको मौजूदा मानके ४ तोला के वरावर मानेंगे। क्योंकि ४ तोला, १२ माशे, ४ रत्ती की ही ३८४ रत्तिया होती हैं और इतनी ही रत्तिया ८ रत्ती के माशे के पल की होती हैं। अव पाठक स्वय निश्चय करें कि सुश्रुतीय तथा चरकीय मान के पल में कितना अतर है, द्विगुण का है या न्यूनाधिक।

मागध मान—	वर्त्तमान (मौजूदा) मान—
४ यव = १ रत्ती	
६ रत्ती = १ माशा,	
४ माशा = १ शाण,	२४ रत्ती = ३ माशा,
२ शाण = १ कोल,	६ माशा
२ कोल = १ कर्ष,	१ तोला = (१२ माशे)
२ कर्ष = ½ पल	२ तोला,
२ शुक्ति = १ पल,	४ तोला,
२ पल = १ प्रसृति,	८ तोला,
२ प्रसृति = १ अञ्जली, कुडव, अर्धशराव अष्टमान,	१६ तोले,
२ कुडव = १ मानिका, अष्ट-पल, शराव,	३२ तोले,
२ शराव = १ प्रस्थ	१२ छ ४ तो०, (६४ तोला)
४ प्रस्थ = १ आढक	३ सेर १६ तोले, (२५६ तोले,)
४ आढक = १ द्रोण,	१२ सेर, १२ छ, ४ तो,
२ द्रोण = १ सूर्प, चतुषष्टि शराव,	२५ सेर, ६ छ, ३ तोला,
२ सूर्प = १ द्रोणी,	५१ सेर, १६ तोले,
४ द्रोणी = १ खारी, ४०९६ पल,	५ मण, ४ सेर, १२ छ, ४ तोले,
२००० पल = १ भार,	२॥ मण, (१०० सेर) ८००० तो,
१०० पल = १ तुला,	५ सेर, (४०० तोला),

मागध परिभाषा का मान 'खारी' तक जाता है और प्राय खारी तक के मान से आयुर्वेदीय व्यवहार सुविधा के साथ चल पड़ता है। परन्तु अन्य मानविदों ने इस से आगे भी मान की संज्ञाएं स्थिर की हैं। उन्हें भी दिग्दर्शनार्थ संक्षेप से यहा लिखा जाता है। यथा—

वैजयन्तीकोषोक्तमान

१० तुला	= (१०० पल की एक तुला)	१ अक्ष,
१० अक्ष	=	१ आचित,
१० आचित	=	१ द्वयाचित,
१० द्वयाचित	=	१ होड,
१० होड	=	१ हेलक,
१० हेलक	=	१ समक,
१० समक	=	१ सम,
१० सम	=	१ वाहित,
१० वाहित	=	१ भारित, इत्यादि।

वर्त्तमान मान—

ब्रिटिश राज्य में जो मान भारत में चल रहा है उसके मूल में भी गडबडाध्याय है। बच्चों को स्कूलों में बताया यह जाता है कि ८ खशखश का एक चावल और ८ चावल की १ रत्ती और ८ रत्ती का एक माशा। परन्तु जहा तक देखा गया है कोई भी चावल ८ खशखश के बराबर नही होता प्रत्युत मोटे चावल में ६०–७०, खशखश के दाने चढ़ जाते हैं। अत. इस भ्रम का संशोधन होना भी आवश्यक है।

निष्कर्ष—यह है कि मानपरिभाषा मार्गदर्शक है। वैद्य को अनेक प्रकार के मान की कल्पनाओं में न फंसकर अपने योगों में सर्वदा निर्दिष्ट अथवा एक मान व्यवहार में लाना चाहिये। ऐसा करने से योग के फल में कोई अन्तर नही आता।

द्विविधमान—

कालिङ्गं मागधं चेति द्विविधं मानमुच्यते ॥४३॥
कालिङ्गान्मागधं श्रेष्ठं मानं मानविदो विदुः।

कालिङ्ग (गोदावरी के उत्तर पूर्व स्थित 'उडीसा' के समीप) देशीय मान और मागध (विहार) प्रान्तीय मान। इस भेद से मान दो प्रकार का है। कालिङ्ग देशीय मान से मगध देशीय मान श्रेष्ठ होता है। ऐसा मान जानने वाले कहते हैं ॥४३॥

औषधों का युक्तायुक्तत्व—

नवान्येव हि योज्यानि द्रव्याण्यखिल कर्मसु ॥४४॥
विना विडङ्गकृष्णाभ्यां गुडधान्याज्य माक्षिकैः।

अनेक विधात्मक औषध कार्यों में सब द्रव्य नूतन प्रयोग करे परन्तु विडंग, कालीपीपल, गुड, घनियां, घृत और शहद को छोडकर अर्थात् विडग से मधु पर्यंत द्रव्य पुराने ग्रहण करे क्योंकि यह पुराने गुणकर होते हैं ॥४४॥

वक्तव्य—अपक्व (सस्कार रहित) घृत को पुराना करके व्यवहार करे कारण कि—

घृतमब्दात्पर पक्वहीनवीर्यं प्रजायते ।
तैल पक्वमपक्व वा चिरस्थायि गुणाधिकम् ॥

एक एक वर्ष के उपरान्त द्रव्यों की पुराण सज्ञा होती है ।

सर्वदा नूतन और अद्विगुण ग्रहण करने योग्य द्रव्य—

गुडूची कुटजो वासा कूष्माण्डं च शतावरी ॥४५॥
अश्वगन्धा सहचरी शतपुष्पा प्रसारिणी ।
प्रयोक्तव्या सदैवार्द्रा द्विगुणा नैव कारयेत् ॥४६ ।

गिलोय, कूडा की छाल, वासा, कूष्माण्ड (पेठा, जिसकी हलवाई मिठाई बनाते हैं), शतावरी, असगध, सहचर (पियावासा), सौंफ (मीठी), प्रसारिणी (पसरन) इन सब औषधों को सर्वदा आर्द्र (गीली, हरित) प्रयोग करे और हरित प्रयोग करने पर भी द्विगुण न करे ॥४५-४६॥

वक्तव्य—चूकि इन के भीतर जलीयाश स्वल्प होता है एतदर्थ इन को द्विगुण नहीं किया गया । इन का निज रस से युक्त होना अधिक लाभ करता है इसलिये आर्द्र प्रयुक्त किया है ।

नूतन द्रव्य की प्रधानता—

शुष्कं नवीनं यद्द्रव्यं योज्यं सकलकर्मसु ।
आर्द्रं च द्विगुणं युञ्ज्यादेष सर्वत्र निश्चयः ॥४७॥

सम्पूर्ण औषध कार्य में समस्त द्रव्य (औषधें) नयी और सूखी प्रयुक्त करनी चाहियें और गीली औषधें (वनस्पतिया) सर्वदा द्विगुण मात्रा (एक भागापेक्षा) में ग्रहण करे (पूर्वाचार्यों का) यह निश्चय सर्वत्र जानना । ॥४७॥

वक्तव्य—इस परिभाषा में प्रदर्शित नियम के अनुसार व्यवहार करे परन्तु ऊपर वर्णित परिभाषा को विस्मरण न करे अर्थात् विडगादि द्रव्य सर्वदा पुराने ग्रहण करे और गुडूची आदि औषधें सर्वदा गीली व्यवहार करे। यह नियम पूर्व परिभाषा पर कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं करता । अत अवशिष्ट द्रव्यों को नूतन और द्विगुण ग्रहण करे ।

अनुक्तावस्था में परिभाषा विधान—

कालेऽनुक्ते प्रभातं स्यादङ्गेऽनुक्ते जटा भवेत् ।

भागेऽनुक्ते तु साम्यं स्यात्पात्रेऽनुक्ते च मृण्मयम् ॥४८॥
द्रवेऽनुक्ते जलं ग्राह्यं तैलेऽनुक्ते तिलोद्भवम् ।

यदि किसी औषध का भक्षण करने का समय निर्दिष्ट न हो तो उसे प्रात काल सेवन करे। यदि किसी औषध के किसी अंग विशेष (जटा, त्वक् पत्र, फल, पुष्पादि) का स्पष्ट निर्देश न किया गया हो तो उस औषध की जड (जड का छिलका) ग्रहण करना चाहिये और यदि बहुत सी औषधों के समूह में भाग प्रकल्पना न की गयी हो तो सबको समान भाग ग्रहण करना चाहिये एवं यदि औषध निर्माण, पान, अथवा क्वाथ साधन में पात्र विशेष का निर्देश न हो तो (सुदृढ़) मृत्पात्र (मिट्टी का) ग्रहण करना चाहिये और यदि किसी क्वाथादि के पाक में अथवा अनुपान रूप में किसी विशिष्ट द्रव पदार्थ का निर्देश न हो तो जल ग्रहण करना चाहिये एव तैल साधन में किसी तैल (सरसों, तिल, एरण्ड, मधूकादि) की जाति निर्देश का अभाव हो तो तिल तैल ग्रहण करना चाहिए।

वक्तव्य—

यदुक्तम्—

द्रवेऽप्यनुक्ते जलमेव देय भागेऽप्यनुक्ते समता विधेया ।
अङ्गेऽप्यनुक्ते विहितंतु मूलं कालेऽप्यनुक्ते दिवसस्यपूर्वम् ॥

पुनरुक्त द्रव्यमान व्यवस्था—

एक मप्यौषधं योगेयस्मिन्यत्पुनरुच्यते ।
मानतो द्विगुणं कार्यं तद्द्रव्यं तत्वदर्शिभिः ॥४९॥

जिस योग (नुसखे) में एक औषध दो बार कही गयी हो उस औषध को मान से द्विगुण ग्रहण करे ऐसा तत्वदर्शि (योग प्रकल्पना के आचार्य) कहते हैं। ॥४६॥

वक्तव्य—यदि किसी योग में 'सोंठ' अथवा अन्य कोई भी औषध दो बार कही गयी है तो वह औषध अन्य समस्त औषधों के सम मान से द्विगुण लेवे अर्थात् यदि योग में सब द्रव्य एक एक तोला कहे गये हों तो दो बार कही जाने वाली औषध को २ तोले लेवे।

यदुक्तम्—

घृते तैले च योगे च यद्द्रव्यं पुनरुच्यते ।
तज्ज्ञातव्य मिहार्येण मानतो द्विगुणं भवेत् ॥

रक्तश्वेत चन्दनादि व्यवस्था—

चूर्णस्नेहासवा लेहाः प्रायशश्चन्दनान्विताः ।
कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम् ॥५०॥

चूर्ण (लवणादि, वह चूर्ण जो खाये जाते हैं), स्नेह—(लाक्षादि तैल, त्रिफलादि घृत), आसव— द्राक्षासव, कुमारीआसव, लोध्रासव, चन्दनासव), लेह—(च्यवनप्राशावलेह, कटकार्यवलेह), इत्यादि में यदि चन्दन ग्रहण करने की आज्ञा हो तो प्राय (विशेषतया) श्वेत चन्दन का ग्रहण करे। कषाय (पञ्चविधात्मक—स्वरस, क्वाथ, हिम, फाण्ट और कल्क) आदि में तथा लेप—(दशाङ्गादि) में प्राय रक्तचन्दन प्रयोग करे ॥५०॥

वक्तव्य—'प्राय शब्दो विशेषार्थे क्वचिन्न्यूनेऽपि दृश्यते।'

इस नियम में रक्तश्वेत की पूर्ण निश्चिति प्रयोक्ता पर है यथा—छर्दिहरएलादि चूर्ण में रक्तचन्दन ही प्रयोग किया गया है। इसी लिये आचार्यो ने प्राय शब्द का प्रयोग किया है।

कालातिक्रम से सिद्धौषधों का गुणहीनत्व—

गुणहीनं भवेद्वर्षादूर्ध्वं तद्रूपमौषधम् ।
मासद्वयात्तथा चूर्णं हीनवीर्यत्वमाप्नयात् ॥५१॥
हीनत्वं गुटिकालेहौ लभेते वत्सरात्परम् ।
हीनाः स्युर्घृततैलाद्याश्चतुर्मासाधिकात्तथा ॥५२॥
औषध्यो लघुपाकाःस्युर्निर्वीर्या वत्सरात्परम् ।
पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः ॥५३॥

एक वर्ष के उपरान्त 'तद्रूप औषध' (जिस औषध का जो अपना रग रूप हो उससे वह) गुण हीन हो जाती है। दो मास के पश्चात् चूर्ण (जो भक्षणार्थ वस्त्रपूत तयार किये गये हों) गुण हीन होजाते हैं। गुटिका (गोलिया, जो केवल वनस्पतियों को पीसकर बनाई गयी हों) तथा अवलेह-(जो रस क्रिया विधान से बनाये गये हों) एक वर्ष व्यतीत होने पर हीनवीर्य हो जाते हैं। घृत और तैल (सस्कृत, पक) १६ मास के पश्चात् हीनवीर्य होजाते हैं और वह औषधें जो 'लघुपाक' (मृदुपाक) द्वारा सिद्ध की गई हों वह भी एक वर्ष के पीछे हीन गुण वाली होजाती हैं । परन्तु-आसव (मध्यम खण्ड के १० म, अध्याय में निर्दिष्ट), धातु (मध्यम खण्ड के ११ वें, अध्याय में पठित) और रस-(मध्यम खण्ड के १२ वें, अध्याय में कथित), पुराने (वर्षादूर्ध्व) होने से गुण युक्त (गुणाढ्य) होते हैं ॥५१—५३॥

वक्तव्य—१—परिभाषा के इस दिव्य नियम को प्रकाशित करके आचार्य ने यह सिद्ध किया है कि जिन शस्त्रों के आधार पर वैद्य की विजय अवलम्बित है, उनके प्रति वैद्य को परम कर्त्तव्य है कि वह उन को भली प्रकार देखता रहे। अन्यथा हीन गुण सम्पन्न औषधें रोगी पर पूर्ण प्रभाव न करेंगी ऐसा होने से

जहा वैद्य का अपयश होगा वहा आयुर्वेद के प्रति भी अश्रद्धा होने की पूर्ण सम्भावना होगी ।

२—सर्व प्रथम आचार्य ने सिद्ध औषधों के प्राणभूत वानस्पतिक द्रव्यों की ओर संकेत किया है अर्थात् औषधों में प्रयोग करने से प्रथम कच्चे द्रव्यों को देखे, यदि उनके रग, रूप, स्वाद और गंध में नूतनावस्था की सी समता का अभाव हो अथवा परिवर्तन हो तो समझ लेवे कि इनके गुणों में अन्तर उपस्थित होगया है। कारण कि समय की प्रगति से सग्रहीत द्रव्यों पर वायु, शीत, उष्ण और वर्षादि के प्रभाव से परिवर्तन हो जाता है। यही परिवर्तन द्रव्यातरगत गुणो को नाश अथवा हीन कर देता है। ऐसे हीन गुण युक्त द्रव्य प्रयोग करने से औषधें गुण कर नही वनती ।

नि सन्देह वाय्वादि का प्रभाव प्रत्येक द्रव्य और द्रव्येतर प्राणि समूह पर होता है परन्तु इसमें भी सन्देह नही कि मनुष्य की युक्तिया वहुत अंशों में कार्य साधक होती हैं ।

उदाहरणार्थ—मान लीजिये कि आप आज वन से शालपर्णी उखाड कर लाते हैं और उसे वाहर डाल देते हैं जहा उसके ऊपर वायु, शीत, धूप और वर्षा तथा पृथ्वी की नमी वगैरह का सीधा स्पर्श होता रहता है, ऐसी अवस्था में एक वर्ष की कौन कहे मास दो मास में ही शालपर्णी के समस्त गुण धराशायी होजायेंगे। इससे भिन्न यदि आप शालपर्णी अथवा अन्य किसी भी वनस्पति को जंगल से लाकर उसे छाया में सुखावें और सुशुष्क पत्रों को किसी सुशुद्ध और संशुष्क वोतल में भर कर सुदृढ रीत्या उसका मुख वन्द करके रखदें तो इस प्रकार रखने से सुरक्षित वस्तु पर वाय्वादि का सीधा प्रभाव न होने से एक वर्ष से अधिक समय तक भी वस्तु हीनगुण नही होती । एवं यदि आप वनस्पति के पत्रों को विलकुल अक्षुण्ण रखना चाहें तव वनस्पति के हरित पत्रों को मसीशोषक पत्रों पर सूई धागा के साथ चिपकादें और छाया में सूखने दें। सूख जाने पर मसीशोषक पत्र से ढाप कर उचित स्थान (आलमारी आदि में) पर रख दें चिरकाल तक औषध के रग रूपादि में परिवर्तन उपस्थित न होगा ।

३—चूर्ण—रक्षा विधान सव पर प्रभाव करता है। सुरक्षित विधि से चूर्ण भी चिरकाल तक गुण करता है और यदि उसे भी वाय्वादि के सीधे प्रभाव के लिये खुला छोड़ दिया जावे तो वह भी नष्ट गुण हो जाता है। अत सिद्ध चूर्णों को शुद्ध और सशुष्क वोतलों में ही रक्खे और मुखमुद्रा उत्तम करे, चूर्ण अवश्य गुणकर रहेंगे। दो मास में कोई भी चूर्ण गुणरहित नहीं होता। प्राय चिकित्सक समुदाय वडी २ मात्रा में चूर्णों को वनाते हैं और एक ही बार वने चूर्ण को चिरकाल तक प्रयोग में लाते रहते हैं। ऐसा करने से चिरकाल के पश्चात हीन गुणत्व उनमें अवश्य आजाता है ।

४—गुणों को हीन करने के यही कारण अन्य—गुटिका, अवलेह, घृत, तेल आदि को गुण हीन करते हैं, यदि इन्हें भी बाहर के प्रभावों से बचाया जावे तो यह भी निश्चितकालातिक्रम के पश्चात् भी उत्तम गुण कर रहते हैं।

५—मृदुपाक सिद्ध औषधों में प्राय जलीयांश कुछ अधिक रहता है जो वर्ष भर में द्रव्यांतर्गत अवयवों को गला सड़ा देता है। जिससे यह अवश्य वीर्यरहित (नष्टगुण) हो जाते हैं।

६—आसव—इस श्रेणी में आसव, अरिष्ट एव मद्यादि का समावेश है। आसवारिष्ट में भी मद्यांश रहता है चूंकि मद्य पुराना होने से इसके भीतर से तीक्ष्णत्व तथा मादकता स्वल्प हो जाती है इन दोनों का कम होना ही रोगियों के लिये सुखकर होता है। जिससे यह पुराने ही गुणकर माने जाते हैं।

७—धातु—धातुओं से अभिप्राय स्वर्ण, रजतादि भस्मों से है। इन में भी नूतनावस्था में तीक्ष्णता अधिक होती है जो दुर्बल रोगियों को सह्य नहीं होती। इसी लिये अनुभवी वैद्य अपने रोगियों पर कम से कम संवत्सरातीत भस्मों का प्रयोग करते हैं।

८—रस—रसों से अभिप्राय उन सिद्धौषधों से है जिनका निर्माण प्रचुर धातु भस्मादि से किया गया हो और यह अधिक पुराने होने से गुणदायक होते हैं और जिन रसों में वनस्पतियों का भाग अधिक है, यद्यपि उनको भी 'रस' की संज्ञा से पृथक् नहीं किया जा सकता परन्तु अनुभवी विद्वानों की यह धारणा है कि वनस्पति प्रधान रस (सिद्धौषधें) अवश्य कालांतर में हीन गुण हो जाते हैं।

चिकित्सक के लिये निर्देश—

व्याधेरयुक्तं यद्द्रव्यं गणोक्तमपि तत्त्यजेत् ।
अनुक्तमपि यद्युक्तं योजयेत्तत्र तद्बुधः ॥५४॥

यदि किसी क्वाथादि अथवा अन्य योगों में कोई ऐसा द्रव्य कह दिया गया हो जो व्याधि (रोग, व्याधित, देश, काल, ऋतु अथवा सात्म्य) के प्रतिकूल हो उसे गणोक्त (योगोक्त) होने पर भी निकालदेवे। एव जो औषध रोग और रोगी के अनुकूल हो उसे न कहने पर भी योग में ग्रहण कर लेवे ॥५४॥

स्थान भेद से गुण भेद—

आग्नेया विन्ध्यशैलाद्याः सौम्यो हिमगिरिर्मतः ।
अतस्तदौषधानि स्युरनुरूपाणि हेतुभिः ॥५५॥
अन्येष्वपि प्ररोहन्ति वनेषूपवनेषु च ।

विन्ध्याचल आदि (विन्ध्याचल, मलयाचल सह्याद्रि और पारियात्र)

पर्वतों पर उत्पन्न होने वाली औपधें आग्नेय (अग्निगुण भूयिष्ठ आर्थात् उष्णवीर्य) होती हैं और हिमालय पर्वत पर (अथवा उसके आसपास) उत्पन्न होने वाली औपधें सौम्य (शीतवीर्य) होती हैं, यह वनस्पतिया अन्य वन और उपवन (कृत्रिम बागीचे वगैरह) आदि पर भी होती हैं और इनके गुण वीर्यादि तत्त-त्स्थानानुरूप होते हैं, अर्थात् ऋतु और पृथ्वी के गुण इनमें अवश्य रहते हैं ।।५५।।

वनस्पतियों के ग्रहण करने की विधि—

गृह्णीयात्तानि सुमनाः शुचिःप्रातः सुवासरे ।।५६।।
आदित्यसंमुखो मौनी नमस्कृत्य शिवं हृदि ।
साधारणधराद्द्रव्यं गृह्णीयादुत्तराश्रितम् ।।५७।।

उन औपधो को ग्रहण करने के लिये किसी अच्छे दिन में स्नानादि से पवित्र होकर तथा स्वस्थचित्त होकर प्रात (सूर्योदय पर) आदित्याभिमुख मौनव्रती होकर कल्याण करनेवाले जगदीश्वर को हृदय में नमस्कार करके साधारण पृथ्वी (जाङ्गलानूप मिश्रितापृथ्वी) पर उत्पन्न होनेवाले द्रव्य (वनस्पति) को उत्तराभिमुख होकर ग्रहण करे (उखाड़े) ।।५६-५७।।

वक्तव्य—

साधारण भूमि के लक्षण—

सर्वलक्षणसम्पन्ना भूमिः साधारणा स्मृता ।
द्रव्याणि यत्र तत्रैव तद्गुणाश्च विशेषत' ॥

(सुश्रुत० सूत्र०)

अनुभवी वैद्यों का कथन है कि शास्त्र प्रदर्शित विधि के अनुसार ग्रहण की हुई वनस्पतिया अधिक लाभ करती हैं । नि सन्देह इस विधान में प्रदर्शित नियमों के पालन से एकाग्रता प्राप्त होती है और इसी एकाग्रता से मन निरन्तर ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हे भगवन् ! मैं जिस कार्य के लिये औपध ग्रहण कर रहा हू वह सिद्ध हो ऐसी प्रार्थना और बार २ ऐसा चितन मन के अन्दर एक विशेप प्रकार के बल को उत्पन्न करता है। जिस को 'मनोविज्ञान' के जानने वाले 'मनःशक्ति' के नाम से सम्बोधित करते हैं। कौन ऐसा भारतीय है जो मन.शक्ति के चमत्कारों से अनभिज्ञ हो। संसार में ऐसे कार्य बहुत कम हैं जो मन शक्ति द्वारा सिद्ध न हों। इसीलिये आचार्य ने यहां वनस्पति ग्रहण करने के लिये वैद्य को मन शक्ति के प्रयोग का आदेश किया है। इस प्रकार मनोबल द्वारा प्राप्त की हुई औषधें अवश्य और पूर्ण लाभकारक होंगी। दिव्य औपधों के ग्रहण में मन की दुर्बलता अथवा उसके गुणों के सदेह को पास तक न आने देवे ।

स्थान भेद से औषधों का परित्याग—

वल्मीककुत्सितानूपश्मशानोपरमार्गजाः ।
जन्तुवह्निहिमव्याप्ता नौषध्यः कार्यसिद्धिदाः ॥५८॥

नीचे लिखे स्थानों पर उत्पन्न औषधें कार्यसाधक (गुणकर) नहीं होतीं वल्मीक (वाम्बी, सर्पादि के रहने का स्थान, विषबाधा के कारण), कुत्सित स्थ (कूडा करकट अथवा दलदलयुक्त स्थान, ऐसे स्थानों की औषध शुद्ध और पु वीर्य नहीं होती), अनूप (जलप्रधान स्थान), श्मशान (जहां मुरदे जला जाते हों उसके आसपास की औषध, कारण कि निरन्तर अग्नि दहन से वनस्पति क्षीण और शुष्क वीर्य होती है), ऊपर स्थान (जिस भूमि में रेह का नमक अधिक हो), मार्गज—(रास्ते में उत्पन्न होने के कारण वह प्रतिक्षण पद दलित होती रहती है), जन्तुव्याप्त (जिसके पत्ते अथवा मूलादि में कीड़ा लग गया हो अथवा जो कृमियों से भक्षित हो), वह्निव्याप्त (जंगल में आग लग जाने से अथवा अग्निद्वारा विदग्ध होजाने से, रसवीर्यादि का नाश हो जाता है), हिमव्याप्त—(जो औषध बरफ के प्रभाव से जलाई गई हो), ऐसे स्थानों की औषधें कार्यकर नहीं होतीं । अत औषध कार्य में सर्वदा इनका परित्याग करे ॥५८॥

कार्य भेद से औषध ग्रहण—

शरद्यखिलकार्यार्थं ग्राह्यं सरसमौषधम् ।
विरेकवमनार्थं च वसन्तान्ते समाहरेत् ॥५९॥

प्राय सब कार्यों में व्यवहार करने के लिये वनौषधियों को शरत्काल (आश्विन कार्तिक मास) मे रसयुक्त औषधें ग्रहण करे (कारण कि वर्षा ऋतु मे औषधें उत्पन्न होकर शरद् ऋतु में रसवीर्य में पूर्ण परिपक्व हो जाती हैं । रस वीर्यादि से परिपक्व औषधें ही पूर्ण गुणकर होती हैं । अत यह ऋतु औषध संग्रहणार्थ उत्तम है ।) विरेचन (दस्त लाने के लिये) और वमनकर्मार्थं (कय लाने के लिये) वनस्पतियों को वसन्तान्त (ग्रीष्मारम्भ) में ग्रहण करे ॥५९॥

वक्तव्य—

यदुक्तम्—

'ग्रीष्मे मञ्जरिकाग्रेषु वर्षासु दलचर्मणि ।
वसन्ते मूलमाश्रित्य वृक्षाणां च रसस्य च ॥'

अनुक्तावयव द्रव्यों के ग्रहण का विधान—

अतिस्थूलजटा याः स्युस्तासां ग्राह्यास्त्वचो बुधैः ।
गृह्णीयात्सूक्ष्ममूलानि सकलान्यपि बुद्धिमान् ॥६०॥

न्यग्रोधादेस्त्वचो ग्राह्याः सारः स्याद्बीजकादितः ।
तालीसादेश्च पत्राणि फलं स्यात्त्रिफलादितः ॥६१॥
धातक्यादेश्च पुष्पाणि स्नुह्यादेः क्षीरमाहरेत् ।

इति श्रीदामोदरसूनुनाश्रीशार्ङ्गधरेण विरचितायां
श्रीशार्ङ्गधर संहितायां पूर्वखण्डे परिभाषा
नाम प्रथमोऽध्याय. ॥ १ ॥

—'o:—

जिन औषधों (वृक्षो) के मूल अत्यंत स्थूल (मोटे) हों उन औषधों की त्वचा (छाल) लेनी चाहिये (यथा वट निम्बाम्रप्रभृतय), एवं सद्वैद्य को सूक्ष्म मूल (जड) वाली औषधों का सर्वांग ग्रहण करना चाहिये (यथा मूलपत्रपुष्पशाखान्वितानि इत्यर्थ. , न्यग्रोध (वट) आदि—(प्लक्षाम्रजम्बूक पीतनकाश्वत्थ प्रभृतय) वृक्षों की छाल ग्रहण करनी चाहिये एव बीजक (विजय-सार) आदि-(खदिरासनबन्धूकबब्बूलादीनाग्रहणम्) वृक्षों के सार (निर्यास) को ग्रहण करना चाहिये तथा तालीसपत्र एवं कुमारी, नागवल्ली, तेजपत्र आदि के पत्तों को ग्रहण करना चाहिये और फल करके हरीतकी बिभीतक, आमलक, प्रियंगु, कंकोल, सुपारी, नारियल और मदन फलादि को ग्रहण करना चाहिये । धातकी कथन मात्र से उसके फूल ग्रहण करने चाहियें एवं थोहर तथा अर्क आदि सदुग्ध द्रव्यों का दूध ग्रहण करना चाहिये ॥६०—६१॥

— o —

इति श्री आयुर्वेदाचार्य कविराज हरदयाल वैद्यवाचस्पति कृताया शार्ङ्गधर
सहिताया रहस्यार्थ प्रकाशिकाया भाषाटीकाया प्रथमखण्डे
परिभाषानाम प्रथमोऽध्याय ॥ १ ॥

———

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

भैषज्याख्यानक—

भैषज्यमभ्यवहरेत् प्रभाते प्रायशो बुधः ।
कषायांश्च विशेषेण तत्र भेदस्तु दर्शितः ॥१॥

साधारणतया बुद्धिमान् प्रातःकाल ही औषध सेवन करे और विशेषकर कषायों (स्वरस, क्वाथ, हिम, फाण्ट, कल्कादि), को अवश्य ही प्रातःकाल पान करे। शेष औषधों को भक्षण करने के सम्बन्ध में नीचे लिखे भेद बताये जाते हैं ॥१॥

औषध भक्षणार्थ पाचकाल—

ज्ञेयः पञ्चविधः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम् ।
किञ्चित्सूर्योदये जाते तथा दिवसभोजने ॥२॥
सायन्तने भोजने च मुहुश्चापि तथा निशि ।

मनुष्यों को औषध ग्रहण (सेवन) के लिये पाच समय कहे हैं, यथा—

१—प्रथम काल किञ्चित्सूर्योदय होने पर। (खाली पेट, प्रायः कषायादि का पान करना),

२—द्वितीयकाल—दिन (मध्याह्न) के भोजन के समय औषध ग्रहण करना।

३—तृतीयकाल—सायंकाल के भोजन के समय औषध भक्षण करना।

४—चतुर्थकाल—बारबार औषध सेवन करना।

५—पञ्चमकाल—रात्रि के समय औषध सेवन करना, इस प्रकार औषध सेवन के पाच काल होते हैं ॥२॥

वक्तव्य--पाच प्रकार के औषध भक्षण के समयों को स्थिर करने से आचार्य का अभिप्राय रोग, स्थान और शेष भेद के अनुसार औषध प्रयुक्त करने

से है, जिस का वर्णन वह स्वत ही आगे कर रहे हैं। कई आचार्यों की सम्मति इस प्रकार है—

अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद्विधिमिमां भिषक् ।
प्रदीप्तागारवच्छीघ्र ततः कुर्यात्प्रतिक्रियाम् ॥

अत. इस उपरोक्त नियम को त्याग कर शेष रोगों की शांति के लिये काल नियमानुसार औषध प्रयोग करे।

१—औषध भक्षण के प्रथम काल में कषायादि औषधें सेवन की जाती हैं परन्तु विशेषतया वमन विरेचनादि औषधों के प्रयोग के लिये यह उत्तम काल है।

२—मध्याह्न के भोजक का काल दूसरा काल है यह पञ्चधा व्यवहृत होता है, यथा—

(१) भोजन से १०—१५ मिनट प्रथम जैसे 'भोजनाग्रे सदापथ्यं लवणार्द्रक भक्षणम्'। (२) भोजन के प्रारम्भिक ग्रासों से, यथा—'प्रथमकवलभुक्त सर्पिषा चूर्णमेतत्। जनयतिजठराग्नि वातरोगांश्च हन्यात्'। (३) भोजन के मध्य में मद्यादि पानीय औषधें। (४) भोजनांत में लवंग हरीतकी ताम्बूलादि का सेवन। (५) भोजन के आदि, मध्य और अन्त में यथा—

घृतमधुना संयुक्तं भक्तादौ मध्यतस्तथान्ते'।

इस प्रकार केवल दूसरा काल पञ्चधा विभक्त होता है।

३—यह तीसरा काल भी त्रिधा विभक्त होता है।

(१) सायकाल, (२) ग्रास २ में, (३) भोजनान्त में।

४—चतुर्थ काल द्विधा विभक्त होता है यथा—

(१) अन्न के साथ, (२) निरन्न, एवं पाचवा काल रात का होता है।

वर्तमान का चिकित्सक समुदाय चार प्रकार की व्यवस्था दे रहा है। यथा–

१—पुराने चिकित्सक साधारणतया प्रातः सायं दो बार औषध देने के पक्ष में हैं।

२—दूसरा पक्ष—प्रति ४–४ घंटा के पश्चात् औषध देने के पक्ष में है।

३—तीसरा पक्ष—प्रति ३—३ घंटे के पश्चात् औषध देने की व्यवस्था देता है।

४—चतुर्थ पक्ष—प्रति २–२ घंटा बाद औषधें उदरस्थ करने के पक्ष में है।

यह साधारण नियम नित्य व्यवहार में आते देखे जाते हैं। चिकित्सक का लक्ष्य रोगी की अवस्था पर होना चाहिये। रोग की प्रबलावस्था में एक बार प्रयुक्त की हुई औषध जितने समय तक अपना प्रभाव स्थिर रख सके उसी के अनुसार औषध की मात्रा घटों अथवा प्रहरों के हिसाब से स्थिर करे।

प्रथमकाल—

प्रायः पित्तकफोद्रेके विरेकवमनार्थयोः ॥३॥
लेखनार्थं च भैषज्यं प्रभाते तत्[1]समाहरेत् ।
एवं स्यात्प्रथमः कालो भैषज्य ग्रहणे नृणाम् ॥४॥

प्राय पित्त और कफ के उद्रेक (उफान) पर (उनकी शान्ति के लिये) विरेचनार्थ और वमनार्थ एवं लेखनार्थ (दोषों को अथवा मनुष्यों को पतला (कृश) करने के लिये) औषधों को प्रात काल (किंचित्सूर्योदय पर) भक्षण करे । इस प्रकार मनुष्यों के औषध भक्षण में प्रथम काल जानना ॥३–४॥

वक्तव्य—उपरोक्त वमन विरेचन का नियम क्रमानुसार विधि अवलम्बन करने के लिये चलता है। आवश्यकता पर इससे भिन्न भी शास्त्रीय आज्ञा विद्यमान है।

यथा—सद्यो भुक्तस्य वा जाते ज्वरे सामे विशेषत ।
वमनं वमनार्हस्य शस्तमित्याह वाग्भट ॥

तथा—'वमनाति योगेन विरेक मृदु कारयेत् ।' इत्यादि वचनात ।

द्वितीय काल—

भैषज्यं विगुणेऽपाने भोजनाग्रे प्रशस्यते ।
अरुचौ चित्रभोज्यैश्च मिश्रं रुचिरमाहरेत् ॥५॥
समानवाते विगुणे मन्देऽग्नावग्निदीपनम् ।
दद्याद्भोजनमध्ये च भैषज्यं कुशलो भिषक् ॥६॥
व्यानकोपे च भैषज्यं भोजनान्ते समाहरेत् ।
हिक्काक्षेपककम्पेषु पूर्वमन्ते च भोजनात् ॥७॥
एवं द्वितीयकालश्च प्रोक्तो भैषज्य कर्मणि ।

अपान वायु (गुदास्थित वायु) के विगुण (दुष्ट) होने पर (उस की शान्ति के लिये) भोजन के प्रारम्भ में औषध सेवन करे । अरुचि रोग (भोजनेच्छा के अभाव) को दूर करने के लिये मनोऽनुकूल वढ़िया भोज्य पदार्थों के साथ औषध मिलाकर जिस प्रकार रुचिर बने उस प्रकार सेवन करे । समान वायु (नाभिस्थ, अथवा 'समानोऽग्नि समीपस्थ') की विकृति और मन्दाग्नि को दूर करने के लिये अग्निदीपन (पाचकाग्नि को दीपन) करने वाले द्रव्यों को भोजन के मध्य में कुशल वैद्य प्रयोग करे ।

१—ऽन्नं माहरेत् इत्यपि पाठ ।

व्यान वायु (व्यान सर्वशरीरग) के कोप को शान्त करने के लिये (वातकोप शामक) औषध को भोजन के अन्त में प्रयोग करे।

हिचकी, आक्षेपक (वातविकार) और कम्परोग (शरीर का कांपना) को दूर करने के लिये औषध को भोजन के पूर्व और अन्त में प्रयोग करे। इस प्रकार औषध भक्षण विधान में यह दूसरा काल कहा है ॥५-७॥

तृतीय काल—

उदाने कुपिते वाते स्वरभङ्गादिकारिणि ॥८॥
ग्रासे ग्रासान्तरे देयं भैषज्यं सान्ध्यभोजने।
प्राणे प्रदुष्टे सान्ध्यस्य भुक्तस्यान्ते च दीयते ॥९॥
औषधं प्रायशो धीरैः कालोऽयं स्यात्तृतीयकः।

उदान वायु—(कण्ठस्थित वह वायु जो स्वरादि का प्रवर्तक है) के दुष्ट होने पर (उसकी शान्ति के लिये) सायकाल के भोजन के ग्रास २ (प्रारम्भिक ग्रासों) के साथ औषध देवे। इसी प्रकार प्राणवायु (जो हृदय में रहकर अन्नादि का पाचन करता है) की विकृति पर (उसकी शान्ति के लिये) प्राय बुद्धिमान् सायकाल के भोजन के अन्त में औषध देवे। इस प्रकार औषध सेवन में यह तीसरा काल जानना ॥८—९॥

चतुर्थकाल—

मुहुर्मुहुश्च तृट्छर्दिहिक्काश्वासगरेषु च ॥१०॥
सान्नं च भेषजं दद्यादिति कालश्चतुर्थकः।

प्यास, कय, हिचकी, दमा और गर (विष) रोग में वार वार भोज्य पदार्थों के साथ मिलाकर औषध देवे। (एव 'च' कार से निरन्न औषध प्रयोग भी दोपल नही। इस प्रकार यह चतुर्थ काल जानना ॥१०॥

पचमकाल—

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु लेखने बृंहणे तथा ॥११॥
पाचनं शमनं देयमनन्नं भेषजं निशि।
इति पञ्चमकालः स्यात् प्रोक्तो भैषज्यकर्मणि ॥१२॥

जत्रु (ग्रीवामूल) के ऊपर के (शिरोगत) रोगों में (अर्थात् नेत्र, शिर, कर्ण, नासिकादि के रोगों में) तथा लेखनार्थ (अर्थात् नेत्रादि के अत्यन्त वृद्धि गत रोगों को शात करने के लिये) और बृंहणार्थ (अर्थात् नेत्रादि के क्षीण प्राय दोषों को वर्धन करने के लिये) पाचन और शमन औषधें रात्री में अन्न रहित. प्रयोग करावे। इस प्रकार औषध सेवन में यह पांचवां काल जाने ॥१२॥

वक्तव्य—आचार्य ने औषध भक्षण के कालों में प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान भेद से पञ्चवा वायुओं का वर्णन किया है। परन्तु एव विध पित्त और कफ के लिये समय स्पष्टता से निर्धारण नहीं किया। सम्भव है इसका कारण, आचार्य ने यह मान लिया हो कि 'एक प्रकुपितो दोष सर्वानेव प्रकोपयेत्'। दूसरे यह कि—

पित्त पङ्गु कफ पङ्गु पङ्गवोमलधातवः
वायुना यत्रनीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ।

अथवा—

स्वयम्भूरेप भगवान् वायुरित्यभिशब्दित ।
अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेतारोगसमूहराट् ॥

अत प्रधान शक्ति के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने से तदाधीन स्वयं ही प्रभुत्व स्वीकार कर लेते हैं।

द्रव्य में रसादि पाच अवस्थाए—

द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च ।
सम्बन्धेन क्रमादेता पञ्चावस्थाः प्रकीर्तिताः ॥१३॥

द्रव्य में (की) तत्तत्कार्यानुसन्धान से रस गुण, वीर्य विपाक और शक्ति यह पाच अवस्थाएं कही हैं (होती हैं) ॥१३॥

वक्तव्य—रसादि का वर्णन आचार्य ने स्वयं आगे किया है। द्रव्य का वर्णन छोड दिया गया है।

द्रव्य क्या है—

'यत्राश्रिता कर्मगुण कारणंसमवायियत् तद्द्रव्यम्' ॥ चरक० ॥
'द्रव्यलक्षणं तु क्रियागुणवत्समवायि कारणमिति'। सुश्रु० ।

अर्थात क्रिया और गुणवाला तथा क्रिया और गुण का समवायिकारण द्रव्य होता है। जिस कारण में कार्यका समवाय सम्बन्ध अर्थात् नित्य सम्बन्ध हो वह उसका समवायिकारण कहलाता है जैसे—वस्त्र का समवायिकारण ततु (तारें) और घट का समवायिकारण मृत्कपाल आदि।

द्रव्य कहने से किस का ग्रहण होता है—

मूलत्वक्सारनिर्यासनालस्वरसपल्लवा ।
क्षीरं क्षारं फलं पुष्पं भस्म तैलानि कण्टकम् ॥
पत्राणि शुङ्गकन्दानि प्ररोहास्तृड्भिदादयः ।
द्रव्यशब्देन गृह्यंत जङ्गमा पार्थिवास्तथा ॥

एव जगम और पार्थिव भेद से भी द्रव्य दो प्रकार के होते हैं।

जंगम द्रव्य—

'मधूनि गोरसाः पित्तं वसामज्जाऽसृग्मामिषम् ।
विण्मूत्रचर्मरेतोऽस्थि स्नायुश्टङ्गनखं खुराः ॥
जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशा लोमानि रोचनाः' ।

पार्थिव द्रव्य—

'सुवर्णं समला. पञ्च लोहाश्चेति कलासु च ।
मनःशिलाले मणयो लवणं गैरिकाञ्जनम्' ॥

उपरोक्त सब पदार्थ द्रव्य के नाम से पुकारे जाते हैं।

द्रव्य की प्रधानता—

पाको नास्ति विना वीर्याद्वीर्यं नास्ति विना रसात् ।
रसोनास्ति विना द्रव्या द्रव्यं श्रेष्ठतमं स्मृतम् ॥

अत वीर्य विपाकादि का आश्रय स्थान होने से द्रव्य ही सर्वश्रेष्ठ है कारण कि इसके विना वीर्यादि की स्थिति नही होती।

रस —

मधुरोऽम्लः पटुश्चैव कटुतिक्तकषायकाः ।
इत्येते षड्रसाः ख्याता नानाद्रव्यसमाश्रिताः ॥१४॥

मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), पटु (नमकीन), कटु तीक्ष्ण, तीखा, मरिचादि) तिक्त (कड़वा चिरायते में होने वाला) और कषाय (कसैला हरीतकी में होने वाला) यह छ. रस अनेकात्मक द्रव्यों के आश्रित होते हैं ॥१४॥

वक्तव्य—जिस प्रकार द्रव्य वर्णन में ऋषियों के परस्पर के वाक्यों के अनुसार द्रव्य की प्रधानता दिखाई गयी है उसी प्रकार रस की प्रधानता में भी ऋषियों की युक्तियां अत्यंत रुचिर हैं।

यथा—'नेत्याहुरन्ये रसास्तु प्रधानं कस्मात् 'आगमात्' आगमो हि शास्त्रमुच्यते शास्त्रे हि रसा अधिकृता तथा रसायत्त आहर इति तस्मिंश्च प्राणाः'।

अर्थात् अन्य आचार्य रस को ही प्रधान मानते हैं क्योंकि—

१—आगमात्—आगम (शास्त्र) से रसप्रधान है और आगम ही शास्त्र है एवं शास्त्र में रसों को ही अधिकृत किया गया है, यथा—रसों के आधीन आहार है और आहार-रस में ही प्राण रहते हैं।

२—'उपदेशाच्च'—अर्थात् उपदेश से रस प्रधान है एव रसों का ही उपदेश किया गया है जैसे मधुर, अम्ल, लवण, यह तीनों रस वायु को शांत करते हैं।

३—'अनुमानाच्च'—अनुमान से भी रस प्रधान है क्योंकि द्रव्य का अनुमान रस ही से किया जाता है। जैसे यह मधुर है, यह अम्ल है।

४—'ऋषिवचनाच्च'—ऋषि वाक्य से भी रस प्रधान है और ऋषि वचन वेद है। जैसे वेद में आज्ञा है कि 'यज्ञ' के लिये मीठा लाओ। इत्यादि।

एवं विध युक्तिपूर्वक रस की प्रधानता का प्रतिपादन किया गया है।

मधुरादि रसों की उत्पत्ति—

धराम्बुक्ष्मानलजल ज्वलनाकाशमारुतैः।
वाय्वग्निक्ष्मानिलैर्भूतद्वये रससभवः क्रमात् ॥१५॥

धरा (पृथ्वी) और अम्बु (जल) से मधुर (मीठा) रस उत्पन्न होता है।
क्ष्मा (पृथ्वी) और ऽनल (अग्नि) से अम्ल (खट्टा) रस उत्पन्न होता है।
जल और अग्नि से लवण रस उत्पन्न होता है।
आकाश और वायु से कटु (तीक्ष्ण) रस उत्पन्न होता है।
वायु और अग्नि से तिक्त (कडवा) रस उत्पन्न होता है।
पृथ्वी और वायु से कषाय (कसैला) रस उत्पन्न होता है।
इस प्रकार क्रम से पच महाभूतों द्वारा छ रसों की उत्पत्ति होती है ॥१५॥

वक्तव्य—षड् रसो की उत्पत्ति का उपरोक्त क्रम आयुर्वेद की प्रगाढ गम्भीरता का द्योतक है। दो दो महाभूतों के परमाणुओं के मिश्रण से एक एक रस की उत्पत्ति स्थिर की गयी है। वर्त्तमान के चिकित्सक समुदाय के पास इस समय ऐसा कोई साधन नहीं जिससे वह यह दिखा सके कि किस रस के निर्माण में प्रत्येक महाभूत के कितने कितने परमाणु व्यय होते हैं और किस महाभूत के अधिक परमाणु किस रस की उत्पत्ति के कारण होते हैं। प्रधानता से प्राय छ ही रसों का ग्रहण किया जाता है। परन्तु इस निश्चिति पर ऋषियों का मत भेद है—

यथा—'भद्रकाप्य ऋषि कहते हैं रस एक ही होता है।
शाकुन्त ऋषि कहते हैं रस २ होते हैं।
पूर्णाक्ष और मौद्गल्य ऋषि कहते हैं रस तीन होते हैं।
हिरण्याक्ष और कौशिक ऋषि कहते हैं रस चार होते हैं।
कुमारशिर ऋषि पाच रस मानते हैं।
मायोर्विद राजर्षि छ: रस मानते हैं।
निमि और राजाविदेह सात रस मानते हैं यथा—
'मधुर, अम्ल, लवण कटु, तिक्त, कषाय और क्षार,

वडिश और धामार्गव ऋषि आठ रस मानते हैं यथा—'मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार और अव्यक्त रस,

काङ्कायन और वाल्हीक असख्येय रस मानते हैं। इस प्रकार रस निर्णायक परिषद् में ऋषियों के भिन्न भिन्न विचार सुनकर भगवान् आत्रेय-पुनर्वसु जी अपना अन्तिम निर्णय इस प्रकार देते हैं, यथा—'षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेय. पुनर्वसु मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाया'। अत रस छ ही होते हैं। क्षार के लिये कहते हैं 'क्षरणात् क्षारो, नासौ रस' 'द्रव्यं तदनेकरस समुत्पन्नमनेकरसं कटुकलवणभूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम्'।

अव्यक्तीभाव के प्रति कहते हैं—

अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतौ भवत्यनुरसेऽनुरससमन्विते वा द्रव्ये।

अपरि संख्येयता के प्रति कहते हैं।

अपरिसंख्येयत्वं पुनस्तेषामाश्रयादीना भावानां विशेषापरिसंख्येयत्वान्नयुक्तम्'। इस प्रकार महर्षि ने छ से अधिक रसों का खण्डन करके छ का ही प्रतिपादन सुदृढ़ किया है।

३—रसों से दोषों की उत्पत्ति और उपशम—

तद्यथा—'कटुतिक्तकषाया वात जनयन्ति। मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति। कटुकाम्ललवणाः पित्त जनयन्ति। मधुरतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति। मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति। कटुतिक्तकषायास्त्वेन शमयन्ति। (चरक वि०)

इस चरकीय वचन के अनुसार तीन २ रस एक २ दोष को उत्पन्न करते हैं और तीन २ रस ही एक २ दोष को शान्त करते हैं। यह रसों का सूक्ष्म और अत्यावश्यक विवेचन है जो प्रत्येक चिकित्सक को अपने कार्य में प्रतिभा उत्पन्न करने के लिये जानना अत्यन्त आवश्यक है।

गुण—विवेचन—

गुरुः स्निग्धश्च तीक्ष्णश्च रूक्षो लघुरिति क्रमात्।
धराम्बुवह्निपवनव्योम्नां प्रायो गुणाः स्मृताः ॥१६॥
एष्वेवान्तर्भवन्त्यन्ये गुणेषु गुणसञ्चयाः।

पृथिव्यादि पञ्च महाभूतों के पृथक् २ क्रमश गुण इस प्रकार हैं। यथा—

१—धरा (पृथ्वी) का गुरु (भारी) गुण होता है

२—अम्बु-(जल) का स्निग्ध (चिकना) गुण होता है।

३—वह्नि (अग्नि) का तीक्ष्ण (दाहक) गुण होता है।

४—'पवन-(वायु) का रूक्ष (स्नेह रहित) गुण होता है ।

५—'व्योम (आकाश) का लघु (हलका, भार रहित) गुण होता है ।

इस प्रकार पंचभूतों के यह मुख्य पाच गुण कहे हैं एवं अन्य श्लक्ष्णसान्द्र-मृदु आदि गुण भी इन्हीं के अन्दर जानने और व्यवायी, विकाशी तथा सत्व रज और तम आदि यह तीन महागुण भी इन्हीं के अन्तर्गत जानने ।।१६।।

वीर्य विवेचन—

वीर्यमुष्णं तथा शीतं प्रायशो द्रव्यसंश्रयम् ।।१७।।
तत्सर्वमग्नीषोमीयं दृश्यते भुवनत्रये ।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति वीर्याण्यन्यानि यान्यपि ।।१८।।

प्राय द्रव्य के आश्रय रहने वाला वीर्य शीत और उष्ण भेद से दो प्रकार का होता है । अतएव तीनों लोकों में (समस्त जगत मे) यह वीर्य गरम या शीतल दीखते हैं और इन्हीं शीतोष्ण वीर्यो में अन्य- स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छलादि आठ प्रकार के) वीर्य रहते हैं । ।।१७—१८।।

वक्तव्य—वीर्य के सम्बन्ध में भी ऋषियों का मत भेद है—

यथा—'नेत्याहुरन्ये । अर्थात् ऊपर जो द्रव्य और रस की प्रधानता कही है उसे कई आचार्य नहीं मानते । वह कहते हैं—

'वीर्यप्रधानमिति' कस्मात्—

१—'तद्वशेनौषधकर्म निष्पत्ते ' अर्थात् वीर्य के आधीन औषधों के कर्म की सिद्धि होने से वीर्य प्रधान है ।

औषधों के कर्म—ऊर्ध्वाध संशोधन, उभय भाग संशोधन, संशमन (दोषों को शमन करना), संग्राहण, (ग्राही होना) जठराग्नि दीपन करना, प्रपीडन, बृंहण, रसायन, वाजीकरण, श्वयथुकर, श्वयथुनाशक, दहन, दारण, मादनादि कर्म वीर्य की प्रधानता से होते हैं।

वीर्य-प्रधान्य में उदाहरण—

१—'जैसे बृहत्पञ्चमूल कषायरस और कडवा अनुरस होने पर भी (उष्ण वीर्य होने से) वातनाशक होता है ।

२—'एवं कुलत्थ भी कषाय और कटुरस होने पर भी (उष्णवीर्य होने से) वातनाशक है ।

३—'इक्षुरस मधुर होने पर भी (शीतवीर्य होने से) वायु को बढ़ाता है ।

४—'पीपल (गीली) चरपरी होने पर भी कोमल और शीतवीर्य होने से पित्त को शान्त करती है ।

५—'खट्टा आमला, लवणरस और सैन्धा नमक भी शीतवीर्य होने से पित्त को शांत करते हैं।

६—'काकमाची कडवी होने पर भी उष्णवीर्य होने से पित्त को बढाती है।

७—'एवं मछली में मीठा रस होने पर भी (उष्ण वीर्य होने से) पित्त प्रकोपक है।

८—'मूली तीक्ष्ण (चरपरी) होने पर भी (स्निग्धवीर्य) होने से कफ को बढाती है।

९—'कैंथका फल खट्टा होने पर भी (रूक्षवीर्य होने से) कफ को शान्त करता है'।

१०—'शहद मीठा होने पर भी (रूक्षवीर्य होने से) कफ को शान्त करता है'। इत्यादि। (सु० सू०)

यहा एक और सिद्धान्तभूत सारसूत्र इस प्रकार है,—

यथा—'ये रसा· वातशमना भवंति यदि तेषु वै।
वायु—रौक्ष्यलाघवशैत्यानि न ते हन्युः समीरणम्'॥
पित्त—ये रसाः पित्तशमना भवंति यदि तेषु वै
तैक्ष्ण्यौष्ण्यलघुताश्चैव न ते तत्कर्मकारिणः'॥
कफ—ये रसाः श्लेष्मशमना भवंति यदि तेषु वै।
स्नेह गौरवशैत्यानि बलासं वर्द्धयन्ति ते'॥

यह नियम वीर्य प्राधान्य से स्थिर होते हैं। अत· वीर्य ही प्रधान हुआ।

विपाक विवेचन—

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः।
मिष्टः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः ॥१९॥
कषायकटुतिक्तानां पाकः स्यात्प्रायशः कटुः।
मधुराज्जायते श्लेष्मा पित्तमम्लाच्च जायते ॥२०॥
कटुकाज्जायते वायुः कर्माणीति विपाकतः।

प्राय द्रव्यों का तीन प्रकार का पाक होता है—स्वादु (मीठा), अम्ल (खट्टा) और कटु (तीक्ष्ण) मीठे और नमकीन पदार्थों का मधुर (मीठा) विपाक होता है। अम्ल (खट्टे) रस का विपाक खट्टा ही होता है।

कषाय (कसैला), कटु (चरपरे) और तिक्त (कडवे) द्रव्यों का पाक प्राय कटु होता है।

मधुर विपाक—श्लेष्मा को उत्पन्न करता है।

अम्ल विपाक—पित्त को उत्पन्न करता है।

कटु विपाक—से वायु उत्पन्न होती है ।

इस प्रकार तीन विपाकों से तीन कार्य होते हैं ॥१९—२०॥

वक्तव्य—'विशिष्टो पाको विपाक' ।

इसमें भी ऋषियों का मतभेद है, यथा—

'नेत्याहुरन्ये । अर्थात् द्रव्य, रस तथा वीर्य के प्राधान्य को कई आचार्य नहीं मानते वह कहते हैं—

'विपाक प्रधानमिति' कस्मात्—

'सम्यङ् मिथ्या विपाकत्वात्' विपाक ही प्रधान है क्योंकि ठीक अथवा मिथ्या सब का विपाक होने से विपाक ही प्रधान है ।

यथा—'इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ् मिथ्याविपाकानि गुणं दोषं वा जनयन्ति ।'

अर्थात् सब पदार्थ सेवन किये हुए ठीक या मिथ्या विपाक हुए, गुण अथवा दोष को उत्पन्न करते हैं अर्थात् सम्यक् पके हुए गुण और अन्यथा पके हुए दोष उत्पन्न करते हैं ।

प्रभाव विवेचन—

> प्रभावस्तु यथा धात्री लकुचस्य रसादिभिः ॥२१॥
> समाऽपि कुरुते दोषं त्रितयस्य विनाशनम् ।
> क्वचित्तु केवलं द्रव्यं कर्म कुर्यात्प्रभावतः ॥२२॥
> ज्वरं हन्ति शिरोबद्धा सहदेवी जटा यथा ।

जिस प्रकार धात्री (आमले) और लकुच (दयूं) रस, गुण, वीर्य, विपाकादि में समान होने पर भी जैसे आमले तीनों दोषों को नष्ट करते हैं उसी प्रकार लकुच तीनों दोषों को उत्पन्न करते हैं । इसी को प्रभाव कहते हैं । कहीं द्रव्य केवल प्रभाव (स्पर्श मात्र) से ही कर्म करता है, यथा—सहदेवी की जड़ सिर में बांधने से ज्वर को दूर करती है ॥२१-२२॥

वक्तव्य—मणि मन्त्र और औषधियों का नियत दिव्य प्रभाव विख्यात है । दिव्यौषधियों के प्रभाव आगम से जाने जाते हैं । प्रत्यक्ष में प्रमाण की आवश्यकता नहीं । इस समय भी भारत में सहस्रों महापुरुष ऐसे हैं जो अनेकानेक औषधों से अनेक रोगों को दूर करते हैं । उदाहरणार्थ—

१—अपामार्ग की जड़ की माला कण्ठ में बांधने से कण्ठमाला नष्ट होती है ।

२—लशुन की तुरियों की माला बच्चों के गले में डालने से 'सूखा' रोग दूर होता है ।

३—पाटला की फली के भीतर के बीजों को सूत्रावेष्टित करके कान में बाधने से सूर्य्यावर्त रोग निश्चय से नष्ट होता है। इत्यादि। अत. प्रभाव सम्बन्धी ऋषि वचनों को सर्वदा स्मरण रखना चाहिये—

यथा—'अमीमांस्यान्यचिंत्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः।
आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः॥

अन्यत्र—'प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कथंचन॥
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत्।
तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमे न तु हेतुषु॥'

रसवीर्यादि का पृथक् २ प्रभाव—

क्वचिद्रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च॥२३॥
कर्म स्वं स्वं प्रकुर्वन्ति द्रव्यमाश्रित्य ये स्थिताः।

द्रव्य के आश्रित रहनेवाले रस, गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति (प्रभाव) अपने २ कर्म करते हैं अर्थात् कही रस काम करता है, कही गुण काम करता है, कही वीर्य काम करता है, कही विपाक काम करता है और कही शक्ति या (प्रभाव) काम (लाभ) करता है॥२३॥

वक्तव्य—

उदाहरण १—जैसे गिलोय का रस कटु और उष्ण होने पर भी पित्त को शान्त करता है।

२—मूली तीक्ष्ण गुण होने पर भी कफ को उत्पन्न करती है।

३—बृहत्पचमूल कषाय रस और कडवा होने पर भी वायु को शांत करता है।

४—सोंठ तीक्ष्ण होने पर भी वायु को शात करती है।

५—खदिर कुष्ठघ्न है।

इस प्रकार क्रमश. यह उदाहरण रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव के जानने चाहियें।

सुश्रुतीय मतानुसार ६ रसों के ६३ भेद—

	सख्या	रसों के रूप	उदाहरण
एक एक रस, ६	१	मधुर रस.	संतानिका, गोधूम, दुग्धादि
	२	अम्ल रस	निम्बु, आम्र, इमली आदि
	३	लवण रस.	सैन्धवादि
	४	तिक्त रस.	निम्बपर्पटादि
	५	कटु रस	त्र्यूषणाचव्यादि
	६	कषाय रस.	पद्मकन्दन्यग्रोधादि
दो दो रस, १५	७	मधुराम्ल—रस.	कपित्थफलादि
	८	मधुरलवण—रस.	उष्ट्रीक्षीरादि
	९	मधुर तिक्त रस.	श्रीवाससर्जरसादि
	१०	मधुर कटु रस	कुक्कुरशृगालमासादि.
	११	मधुर कषाय रस	तैल धन्वन फलादि.
	१२	अम्ल लवण रस.	एडकादि, ऊपकादि
	१३	अम्लतिक्त रस	सुरादिकम्
	१४	अम्ल कटु रस.	चुक्रादिकम्
	१५	अम्ल कषाय रस	हस्तिनीदध्यादि
	१६	लवण तिक्त रस.	त्रपुसीसादि
	१७	लवण कटु रस	गोमूत्रस्वर्जिकादि.
	१८	लवण कषाय रस.	समुद्रफेनादि
	१९	तिक्त कटु रस	कर्पूरजातीफलादि
	२०	तिक्त, कषाय रस.	लवलीफलहस्तिनीघृतादि.
	२१	कटु कषाय रस	भल्लातकमज्जाहरितालादि.
तीन तीन	२२	म अ ल	हस्तिनीमासादि
	२३	म अ ति	गोधूमोत्थसुरादि.
	२४	म अ. कटु	शल्यमासादि
	२५	म अ. कषाय	मस्तुतक्रादि
	२६	म ल तिक्त	शम्बूकादिमासम्
	२७	म ल कटु.	अनूपादीनि
	२८	म ल कषाय	ताप्यकासीसादि.

संख्या	रसों के रूप	उदाहरण
२९	म. ति. कटु.	कटुकाम्लभक्तादि.
३०	म. ति कषाय	गुडूच्यादि.
३१	म कटु. कषाय.	एरण्डतैलादि
३२	अ. ल. तिक्त	हस्तिमृगमूत्रादि.
३३	अ. ल. कटु.	रौप्यशिलाजत्वादि
३४	अ ल. कषाय.	हस्तिनीदधि
३५	अ. ति. कटु.	मरिचसंस्कृतसुरादि
३६	अ. ति. कषाय	हस्तिमांसयुतसुरादि
३७	अ कटु. कषाय	अम्लवेतसादि.
३८	ल ति–कटु	अविमूत्रम्
३९	ल. ति–कषाय.	समुद्रफेनम
४०	ल कटु कषाय	अरुष्कासवरोमकम्
४१	ति कटु कषाय.	कृष्णागुरुसिद्धदारुस्नेहादि
४२	म अ. ल. ति	गोमूत्रैकशफक्षीरादि
४३	म अ. ल. कटु	गोमूत्रान्वितशिलाज्वत्वादि
४४	म. अ ल. कषाय.	सैन्धवान्वित तक्रादि
४५	म. अ. ति कटु.	लशुनान्वितसुरादि.
४६	म. अ. ति कषाय	कम्ब्वादिकम्
४७	म अ कटु. कषाय.	काञ्जिकान्वितएरण्डतैलादि.
४८	म ल. ति. कटु	उदुम्बरान्वितयवादि
४९	म. ल ति कषाय	समुद्रफेन शर्करायुक्त चन्दनम्
५०	म ल कटु कषाय.	गोमूत्रान्वित तैलादि
५१	म ति. कटु. कषाय.	तिल गुग्गुल्वादि.
५२	अ. ल ति कटु	सैन्धव सौवर्चलान्वितं हस्ति-न्यादिकृतसुरादिकम्
५३	अ. ल ति कषाय	उद्भिदलवणान्वितशुकमां-सादि
५४	अ ल कटु. कषाय	सौवर्चलान्वितंहस्तिनीदध्यादि
५५	अ ति. कटु कषाय	बालमूलकाक्त हस्तिनी दध्यादिकम्
५६	ल. ति क. कषाय	रोमकबालविल्वादिकम्

चार चार रस, [illegible]

	संख्या	रसों के रूप	उदाहरण
पांच पांच रस ७	५७	म अ ल ति कटु	आम्रकरमर्दान्वितभृष्टचृता-कफलादि
	५८	म अ ल ति कषा	उद्भिदान्वित तक्रादिकम्
	५९	म अ ल कटु कषा,-	त्रिकटुयवान्विततक्रादिकम्
	६०	म. अ ति कटु कषा	हरीतकीफलादिकम्
	६१	म ल ति कटु कषा	रसोनादिकम्
	६२	अ. ल ति कटु कषा	भल्लातकरूप्यकशिलाजतुमिश्र-निम्बादि
	६३	अ ल ति कटु कषाय	पारद -

इस प्रकार परस्पर एक एक दो दो तीन तीन चार चार और पांच पाच रस मिलकर ६३ भेदों में विभक्त होते हैं ।

इन भेदों को भली प्रकार समझ लेने से चिकित्सक कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होता ।

ऋतु भेद से दोषों का चयकोपादि—

चयकोपशमा यस्मिन्दोषाणां संभवन्ति हि ॥२४॥
ऋतुषट्कं तदाख्यातं रवे राशिषु संक्रमात् ।

जिन छ: ऋतुओं में दोषों (वात. पित्त, कफ) का संचय (वृद्धि). प्रकोप (रोगव्याप्ति) और उपशम (रोगशान्ति) होता है वह ऋतु सूर्य के बारह राशियों में संक्रमण (भ्रमण) करने से होती हैं ॥२४॥

राशि क्रमानुसार छ ऋतु—

ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रोक्तौ प्रावृड्मिथुनकर्कयोः ॥२५॥
सिंहकन्ये स्मृता वर्षास्तुलाः वृश्चिकयोः शरत् ।
धनुर्ग्राहौ च हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनयोः ॥२६॥

मेष (वैशाख) और वृष (ज्येष्ठ) इन दो मासों की 'ग्रीष्म' ऋतु होती है ।

मिथुन (आषाढ) और कर्क (श्रावण) इन दो मासों की 'प्रावृड्ऋतु' होती है ।

सिंह (भाद्रपद) और कन्या (आश्विन) इन दो मासों की 'वर्षाऋतु' होती है ।

तुला (कार्तिक) और वृश्चिक (मार्गशीर्ष) इन दो मासों की 'शरद् ऋतु' होती है।

धनु (पौष) और ग्राह (माघ) इन दो मासों की 'हेमन्तऋतु' होती है।

कुम्भ (फाल्गुण) और मीन (चैत्र) इन दो मासों की 'वसन्तऋतु' होती है ॥२५-२६॥

वक्तव्य—इस प्रकार दो २ मासो की एक २ ऋतु होती है। ऋतुओ की इस प्रकार की स्थिति रोगों के अनुसार स्थिर समझनी चाहिये।

२—ऊपर जो क्रम ऋतुओं का दिया गया है इस से भिन्न एक और क्रम भी आता है।

यदुक्त सुश्रुते—

'तत्र माघादयो द्वादशमासा द्विमासिकमृतुंकृत्वा षड्ऋतवो भवन्ति। ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ता.'।

तेषां तपस्तपस्यौ शिशिर.। मधुमाधवौ वसन्तः। शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः। नभोनभस्यौ वर्षा। ईषोर्जौ शरत्। सह सहस्यौ हेमन्त इति'।

अर्थात् माघ को आदि लेकर (वर्ष के) बारह महीने होते हैं और दो दो महीनों की एक २ ऋतु करके (१२ महीनो में) छ ऋतु होती हैं। वह ऋतु इस प्रकार होते हैं कि शिशिर वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद् और हेमन्त। उनमें से माघ और फाल्गुण शिशिर। चैत्र और वैशाख वसन्त। ज्येष्ठ और आषाढ ग्रीष्म। श्रावण और भाद्रपद वर्षा। आश्विन और कार्तिक शरद्। मार्गशिर और पौष हेमन्त ऋतु होते हैं।

इस प्रकार भारतीय विद्वानो ने दो प्रकार से ऋतु विभाग स्थिर किया है। शार्ङ्गधराचार्य ने भाद्रपद और आश्विन को वर्षाऋतु माना है और सुश्रुताचार्य ने श्रावण और भाद्रपद को वर्षा ऋतु माना है। इसी प्रकार अन्य ऋतुओं में भी तारतम्य है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि भारत में अनेक स्थान ऐसे हैं जहा वर्षा जलदी आरम्भ होती है और कई स्थान ऐसे हैं जहा कुछ विलम्ब से आरम्भ होती है। अत. ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक ही ऋतुओं की मासानुमासिक गणना में तारतम्य होना चाहिये। जहां श्रावण से वर्षा आरम्भ हो जाती है वहां श्रावण और भाद्रपद को वर्षाऋतु स्थिर किया गया है और जहा विलम्ब से आरम्भ होती है वहा भाद्रपद और आश्विन को वर्षाऋतु माना गया है। इस प्रकार भिन्न २ मासों में वर्षाऋतु मानने में कोई विपत्ति नही आती। शार्ङ्गधराचार्य ने सूर्य की सक्राति के क्रम का ऋतुनिर्णय 'भावप्रकाश' से लिया है।

यहां एक और प्रश्न विचारास्पद है अर्थात् एक पक्ष 'प्रावृट्' ऋतु मानता है और दूसरा पक्ष 'शिशिर' ऋतु मानता है । यह अन्तर क्यों है ?

उक्तञ्च—

'गंगाया दक्षिणे देशे वृष्टेर्बहुल भावतः ।
इमौ मुनिभिराख्यातौ प्रावृड्वर्षाभिधावृतू ॥
तस्या एवोत्तरे देशे हिमप्राचुर्यभावतः ।
एतावुभौ समाख्यातौ हेमन्त शिशिरावृतू ॥

अर्थात् गंगा के दक्षिण की ओर जो देश हैं उनमें वर्षा के होने से ऋषियों ने प्रावृट् और वर्षा ऐसे दो दो मास की दो ऋतु विभक्त करदीं और गंगा के उत्तर के देशों में जहां शीत अधिक होता है वहां हेमन्त और शिशिर भेद से दो दो मास की दो ऋतु ग्रहण की हैं ।

साराश यह कि जहां चार मास (चौमासा) वर्षा रहती है वहां प्रावृट् और जहां शीत अधिक होता है वहां शिशिर ऋतु ग्रहण की है ।

चय, कोप और शम—

ग्रीष्मे संचीयते वायुः प्रावृट् काले प्रकुप्यति ।
वर्षासु चीयते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति ॥२७॥
हेमन्ते चीयते श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति ।
प्रायेण प्रशमं याति स्वयमेव समीरणः ॥२८॥
शरत्काले वसन्ते च पित्तं प्रावृट् ऋतौ कफः ।

ग्रीष्म ऋतु (वैशाख ज्येष्ठ) में वायु का संचय होकर प्रावृट् ऋतु (आषाढ़-श्रावण में प्रकोप होता है । वर्षा ऋतु (भाद्रपद आश्विन) में पित्त का संचय हो कर शरद् ऋतु (कार्तिक मार्गशिर) में प्रकोप होता है । हेमन्त ऋतु (पौष माघ) में कफ का सचय होकर वसन्त ऋतु (फाल्गुण चैत्र) में कोप होता है । एवं शरत्काल में प्राय स्वयमेव ही वायु शांत होजाता है । वसन्त ऋतु में पित्त स्वयं शांत हो जाता है । एवं प्रावृट् ऋतु में कफ स्वयं शांत हो जाता है ॥२७-२८॥

वक्तव्य—स्वभाव से प्रत्येक ऋतु में जो जो परिवर्तन होते हैं और उन में मनुष्य समाज जैसा जैसा आहार विहारादि में परिवर्तन करता है इसी प्रकार शरीर में रहने वाले दोषों का सचय, और प्रकोप होकर स्वतः ही उपशम होता रहता है । यह सचय प्रकोप और उपशम स्वभाविक होता है । यदि इस सिद्धान्त पर पूर्ण ध्यान रक्खा जावे तो प्रायः कठिन रोगों का सामना नहीं करना पड़ता । ऋतु जन्य साधारण रोगों को साधारणोपाय से ही दूर करके मनुष्य स्वस्थ रह सकता है ।

दोषों के चयकोपादि को भली प्रकार समझने के लिये नीचे एक कोष्टक दिया जाता है।

नाम	वात	पित्त	कफ
सञ्चय	ग्रीष्म ऋतु वैशाख, ज्येष्ठ मेष, वृष	वर्षा ऋतु भाद्रपद, आश्विन सिंह, कन्या	हेमन्त ऋतु पौष, माघ धन, मकर
प्रकोप	प्रावृद् ऋतु आषाढ, श्रावण मिथुन, कर्क	शरद् ऋतु कार्तिक, मार्गशिर तुला, वृश्चिक	वसन्त ऋतु फाल्गुण, चैत्र कुम्भ, मीन
उपशम	शरद् ऋतु कार्तिक, मार्गशिर तुला, वृश्चिक	वसन्त ऋतु फाल्गुण, चैत्र कुम्भ, मीन	प्रावृट् ऋतु मिथुन, कर्क आषाढ, श्रावण

यमदंष्ट्रा—

कार्तिकस्य दिनान्यष्टावष्टावाग्रयणस्य च ॥२६॥
यमदंष्ट्रा समाख्याता स्वल्प भुक्तो हि जीवति ।

कार्तिक मास के (सूर्य की सक्रांति के हिसाब से) अन्त के आठ दिन और मार्गशिर के आरम्भ के आठ दिन, इन १६ दिनों की 'यमदंष्ट्रा' संज्ञा होती है। इन में थोडा खाने वाले ही जीवित (सुखी) रहते हैं ॥२६॥

आकस्मिक चयादि में कारण—

चयकोपशमा दोषा विहाराहारसेवनैः ॥३०॥
समानैर्यान्त्यकालेऽपि विपरीतैर्विपर्ययम् ।

दोष वर्द्धक आहार विहार के सेवम से तथा दोष नाशक आहार विहार के सेवन से अकाल (प्रकृत चयकोपादि का समय न होने पर भी) में भी दोषों का चय, कोप और उपशम होता रहता है ॥३०॥

वायु का प्रकोप और शमन—

लघुरूक्षमिताहारा दतिशीतात्छ्रमा तथा ॥३१॥

प्रदोषे कामशोकाभ्यां भीचिन्तारात्रिजागरैः ।
अभिघातादपां गाहाज्जीर्णेऽन्ने धातुसंक्षयात् ॥३२॥
वायुः प्रकोपं यात्येभिः प्रत्यनीकैश्च शाम्यति ।

लघु (मात्रा में तथा पाक में लघु, हलका) भोजन, रूक्ष भोजन, एवं मित (नित्य एक आदमी एक पाव भर अन्न खाता है परन्तु किसी दिन उस की तृप्ति पाव भर से नहीं होती। उसे अधिक आहार की आवश्यकता है परन्तु वह मनुष्य पाव भर से अधिक भोजन नही करता, इस को मिताहार कहते हैं।) आहार इनके सेवन करने से तथा अत्यन्त शीत सेवन से तथा अत्यत शीतल पदार्थों के सेवन से, अत्याधिक परिश्रम से, प्रदोषकाल (सायकाल, निशामुख) में काम और शोकादि करने से (धन, बन्धु, बान्धवादि जनित क्लेश), भय से, चिंता से, रात को जागने से, चोट के लगने से, जल में अवगाहन करने से, अन्न के जीर्ण हो चुकने पर और शुक्रादि धातुओं के क्षय से वायु का प्रकोप होता है। एवं उपरोक्त कारणों के प्रतिकूल आचरण (आहार विहारादि) करने से वात प्रकोप शात होता है ॥३०-३२॥

पित्त प्रकोप और शमन—

विदाहिकट्वम्लोष्णभोज्यैरत्युष्णसेवनात् ॥३३॥
मध्याह्ने क्षुत्तृषो रोधाज्जीर्यत्यन्नेऽर्धरात्रके ।
पित्तं प्रकोप यात्येभिः प्रत्यनीकैश्च शाम्यति॥३४॥

विदाहि (वंश, करीरादि पित्त प्रकोपक), कटु, (तीक्ष्ण), अम्ल (खट्टे), एवं अत्युष्ण भोजनों (खान पानादि) के सेवन करने से, (अत्यधिक धूप अथवा अग्नि सेवन से), क्षुधा और प्यास के रोकने से, अन्न के पचन काल में, मध्याह्न में, और आधी रात के समय उपरोक्त कारणों से पित्त का कोप (पित्त का दुष्ट होना) होता है। इन कारणों से विपरीत (उल्टा) आचरण करने से और विपरीत समयों में पित्त का शमन होता है ॥३४॥

कफ प्रकोप और शमन—

मधुरस्निग्धशीतादिभोज्यैर्दिवसनिद्रया ।
मन्देऽग्नौ च प्रभाते च भुक्तमात्रे तथाऽश्रमात् ।
श्लेष्मा प्रकोपं यात्येभिः प्रत्यनीकैश्च शाम्यति ॥३५॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधरेण विरचितायां श्रीशार्ङ्गधर-
संहितायां पूर्वखण्डे भैषज्याख्यानकं नाम
॥ द्वितीयोऽध्याय. ॥

मधुर (मीठा आहार), स्निग्ध (चिकना आहार) शीतल (ठंडा) तथा गुरु-पाकी आहारों के सेवन से, दिन में सोने से, मन्दाग्नि (में अधिक भोजन करने) से, प्रात काल में, भोजन करने के तत्काल उपरात में, परिश्रम के न करने से, श्लेष्मा (कफ) प्रकुपित होता है। और उपरोक्त कारणों के विपरीत आचरण करने से शात होता है ॥३५॥

इति श्री आयुर्वेदाचार्य कविराज हरदयाल वैद्यवाचस्पति कृताया शार्ङ्गधर
साहिताया रहस्यार्थ प्रकाशिकाया भाषाटीकाया भैषज्या-
ख्यानक नाम द्वितीयोऽध्याय ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

नाडी परीक्षा विधि—

करस्याङ्गुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी ।
तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः ॥१॥

जो जीव साक्षिणी (जीवन परिचायक) धमनी (नाडी) हाथ के अगूठे के मूल में स्थित है उसकी चेष्टा (गति–मन्द स्थिर चपलादि) से वैद्यों द्वारा शरीर का सुख (स्वास्थ्य) और दु ख (रोग) जाना जाता है ॥१॥

वक्तव्य—जिस जीव साक्षिणी नाडी का वर्णन ऊपर के श्लोक में किया गया है, उसका विस्तृत वर्णन यद्यपि वर्तमान में प्राप्त आयुर्वेद की बृहत्संहिताओं में नही है, परन्तु इसकी उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता । नाडीपरीक्षा मे सिद्धहस्त चिकित्सक कभी २ वह कमाल करके दिखाते हैं जिससे मन्त्र मुग्धावस्था प्राप्त होती है । आयुर्वेद के आदि काल के पश्चात् की यह वृद्धि आयुर्वेद के मस्तक को ऊचा करने में पूर्ण वल से सहायक हुई है । नि सन्देह नाडी परीक्षण से शरीर के भीतर के अनेक रोग और अवस्थाओं का ज्ञान होता है, परन्तु इसके सम्यक् परिज्ञान के लिये प्रगाढ योग्यता, अगाध अनुभव, मनकी पूर्ण शुद्धता सर्वदा प्रसन्नता और शान्ति की परमावश्यकता होती है । जिन चिकित्सकों को ऊपर की सुविधाए प्राप्त हैं वही वैद्य इसके पूर्ण अधिकारी हैं ।

नाडी से क्या २ जाना जाता है—

वात पित्तं कफ द्वन्द्वं सन्निपात रसं त्वसृक् ।
साध्यासाध्यविवेकं च सर्व नाडी प्रकाशयेत् ॥

किन अवस्थाओं में नाडी से सम्यक् ज्ञान नहीं होता—

'सद्य स्नातस्य भुक्तस्य क्षुत्तृष्णाऽऽतपशीलिन ।
व्यायामश्रान्तदेहस्य सम्यङ् नाडी न वुध्यते' ॥

अन्यच्च--'तैलाभ्यङ्गे च सुप्ते च तथा च भोजनांतरे
तथा न ज्ञायते नाडी यथा दुर्गतमा नदी' ॥

प्रकुपित वातज नाड़ी के लक्षण—

नाड़ी धत्ते मरुत्कोपे जलौकासर्पयोर्गतिम् ।

जब शरीर में वायु का कोप होता है तब नाड़ी जोंक और सांप की गति धारण करती है (अर्थात् जोक और सांप की चाल के अनुसार गमन करती है) ।

प्रकुपित पित्त की नाड़ी के लक्षण—

कुलिङ्गकाकमण्डूकगतिं पित्तस्य कोपतः ॥२॥

जब शरीर में पित्त प्रकोप अथवा पित्त की वृद्धि होती है तब नाडी कुलिग (चिडा), काक (कौआ) और मण्डूक (मैंडक) की चाल के समान चलती है ॥२॥

कफ प्रकोप में नाड़ी की गति—

हंस पारावतगतिं धत्ते श्लेष्मप्रकोपतः ।

जब शरीर में कफ का कोप अथवा वृद्धि होती है तब नाडी हंस और कबूतर की चाल के सदृश गति को धारण करती है ।

वक्तव्य—नाडीपरीक्षा के सिद्धान्त वादियों ने नाडीपरीक्षा में किसी प्रकार की यान्त्रिक सहायता की अपेक्षा नहीं रक्खी प्रत्युत् उन्होंने इस विधि में ऐन्द्रियक अनुभव को महत्ता दी है अर्थात् नित्य और प्रतिक्षण देखने और स्थिर रीत्या समझ में आने योग्य पक्षियों के नामों का उल्लेख किया गया है । जिन की बाह्य गति से वात पित्त और कफ के प्रकोप अथवा वृद्धि के तारतम्य को समझा जासके । यद्यपि यह विषय नूतनाभ्यासी के लिये अत्यन्त कठिन प्रतीत होगा, परन्तु जब गुरु मुख से इस रहस्य को वारम्वार सुनकर अनुभव कर लिया जावे तब पक्षियों की गति से वात पित्त कफ के प्रकोप अथवा वृद्धि को समझना दुष्कर नही । इस कार्य में पटुता प्राप्त करने के लिये जहा सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है वहां निरतर अभ्यास की भी पूर्ण आवश्यकता है ।

२—वातादि दोषों की नाड़ी के स्थूल लक्षण—

वाताद्वक्रगता नाड़ी चपला पित्तवाहिनी ।
स्थिरा श्लेष्मवती ज्ञेया मिश्रिते मिश्रिता भवेत् ॥

अर्थात् वात प्रकोप को जताने वाली नाड़ी वक्र (टेढा) गमन करती है । पित्त प्रकोप को जताने वाली नाड़ी चपल (चचल) गमन करती है । श्लेष्म

प्रकोप को जताने वाली नाडी स्थिर (चपल और वक्र गति से रहित) गमन करती है ।

अन्यत्र—

'आदौ च वहते वातो मध्ये पित्तं तथैव च ।
अन्ते च वहते श्लेष्मा नाड़िकात्रयलक्षणम्' ॥

अर्थात् आदि (तर्जनी अगुली) में अधिक प्रस्पन्दन करने वाली नाडी वायु की होती है, मध्य में (मध्यमा अगुली के नीचे) अधिक प्रस्पन्दन करने वाली नाडी पित्त की होती है और अन्त में (अनामिका अगुली के नीचे) अधिक प्रस्पन्दन करने वाली नाड़ी श्लेष्मा (कफ) की होती है अर्थात् इन अगुलियों के नीचे नाडी के प्रस्पन्दन के तारतम्य से वात पित्त और कफ का ज्ञान होता है ।

सन्निपात की नाडी के लक्षण—

लावतित्तिरिवर्तीनां गमन सन्निपाततः ॥३॥

जब शरीर में तीनों दोषों का प्रकोप हो तब नाडी लवा, तीतर और वतक (या बटेर) की चाल के सदृश गमन करती है ॥३॥

द्विदोष कोप में नाडी की गति—

**कदाचिन्मंदगमना कदाचिद्वेगवाहिनी ।
द्विदोपकोपतो ज्ञेया, हन्ति च स्थानविच्युता ॥४॥**

जब शरीर में दो दोषों का प्रकोप हो तब नाडी कभी मन्द (नियमित गति से मन्द) और कभी वेगवती (नियमित गति से शीघ्र) गमन करनेवाली होती है । दो दोषों की विकृति से नाडी ऐसा गमन करती है और स्थान विच्युत नाडी मार डालती है ॥४॥

वक्तव्य—स्थानविच्युत नाडी मार डालती है, इस का कारण यह है कि इस जीवसाक्षिणी धमनी का सीधा सम्बन्ध हृदय से है। जब तक रोगाक्रान्त होने पर भी हृदय में इतनी शक्ति रहती है कि वह अपने प्रस्पन्दन से निज रक्त को वेग पूर्वक शरीर की ओर भेज सके तब तक नाड़ी की गति ठीक अगुष्ठमूल में प्रतीत होती है । लेकिन जब रोग प्रभाव से हृदय इतना दुर्वल हो जाता है कि वह अपने रक्त को पूर्ण वल से बाहर की ओर धकेल न सके तब रक्त का वेग दूर तक न पहुचने से रक्तरिक्त नाडी का प्रस्पन्दन ठीक अगुष्ठ के मूल पर नहीं होता । यह अवस्था यदि सम्भाल ली जावे तो कल्याण हो सकता है यदि न सुधरे तो शनैः २ नाडी अगुलीत्रय के परीक्षास्थान को छोड़कर नीचे प्रस्पन्दन देती है । इसी को स्थानविच्युत कहते हैं । यह अवस्था हृदय की दुर्वलता की सूचक है। इसी से जाना जाता है कि हृदय इसी प्रकार निर्वल होता गया तो निकट भविष्य में मृत्यु उपस्थित होगी ।

असाध्य नाड़ी के अन्य लक्षण—

स्थित्वा स्थित्वा चलति या सा स्मृता प्राणनाशिनी ।
अतिक्षीणा च शीता च जीवितं हन्त्यसंशयम् ॥५॥

जो नाड़ी ठहर २ कर गमन करे वह प्राणनाश करने वाली होती है और जो नाडी अत्यन्त क्षीण और शीतल (ठंडी) प्रतीत हो वह निश्चय से जीवन का नाश करती है ॥५॥

वक्तव्य—ठहर २ कर चलना इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि जब हृदय पूर्णबल से रक्त को बाहर फेंकता है तब नाडी में गति प्रतीत होती है और जब वह कुछ क्षण के लिये मन्द हो जाता है तब नाडी की गति ठहरी हुई प्रतीत होती है। अतिक्षीण—इस का कारण हृदय द्वारा अत्यल्प मात्रा में रक्त भेजना है। जिस के कारण नाड़ी की गति अत्यन्त सूक्ष्म प्रतीत होती है। शीतता—में यह कारण है कि जितनी उष्णता हृदय में आवश्यक है उसका अभाव है जिस के कारण से नाड़ी तक पहुंचने वाला रुधिर शीत हो जाता है। अत शीतरुधिर का बाह्य स्पर्श भी शीतल प्रतीत होता है। यह भी हृदयावरोध का एक लक्षण है। शेष कारण ऊपर के वक्तव्य में दिये जा चुके हैं।

ज्वर की नाड़ी के लक्षण—

ज्वरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत् ।

जब शरीर में ज्वर का प्रकोप होता है तब धमनी (नाडी) गरम और जल्दी २ चलने वाली होती है।

वक्तव्य—शरीर में अनुपयुक्त अथवा अत्यधिक ऊष्मा की वृद्धि का नाम चिकित्सकों की परिभाषा में ज्वर होता है। वृद्धिगत ऊष्मा रक्त द्वारा प्रकट होती है। अत. ऐसी अवस्था में समग्र रुधिर के अत्युष्ण होने से समग्र शरीर उत्तप्त हो जाता है। इस उत्तप्तता का प्रभाव हृदय द्वारा रक्त वाहिनियों पर होता है जिस के कारण से जीवसाक्षिणी धमनी उष्ण और वेगवान् हो जाती है।

काम और क्रोधावस्था में नाड़ी की गति—

कामक्रोधाद्वेगवहा क्षीणा चिंताभयप्लुता ॥६॥

काम (स्त्रीप्रसंग अथवा प्राप्ति के उत्साह में) और क्रोधावस्था में नाड़ी वेगपूर्वक (जल्दी २) चलती है। एवं चिंता (फिकर) और भय के कारण नाडी क्षीण (वेगरहित) चलती है।

वक्तव्य—काम और क्रोधावस्था में हृदय में उद्वेग होता है इसलिये हृदय का प्रस्पन्दन शीघ्र होने के कारण नाड़ी वेगवती होती है और चिंता तथा भय

की अवस्था में हृदय क्षीण, दुर्बल और शिथिल प्राय होता है जिससे नाड़ी की गति क्षीण अथवा वेगरहित हो जाती है।

मन्दाग्नि और धातुपक्ष में नाड़ी की दशा—

मन्दाग्नेः क्षीण धातोश्च नाड़ी मन्दतरा भवेत्।
असृक्पूर्णा भवेत् कोष्णा गुर्वी सामा गरीयसी ॥७॥

मन्दाग्नि युक्त तथा क्षीणधातु (अत्यधिक शुक्रनाश) वाले मनुष्यों की नाड़ी, अत्यत मन्द मन्द गमन करती है। जब शरीर में रुधिर की वृद्धि अथवा कोप होता है तब नाड़ी पूर्ण (मोटी) गरम और भारी जान पडती है तथा जब शरीर में आम (रस) की वृद्धि होती है तब नाड़ी अत्यत भारी होती है ॥७॥

वक्तव्य—

आम के लक्षण—

जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रस.।
स आम संज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपक.॥

दीप्ताग्नि और स्वस्थ नाड़ी के लक्षण—

लघ्वी वहति दीप्ताग्नेस्तथा वेगवती भवेत्।
सुखितस्य स्थिरा ज्ञेया तथा बलवती मता ॥८॥
चपला क्षुधितस्यापि तृप्तस्य वहति स्थिरा।

दीप्ताग्नि युक्त मनुष्य की नाड़ी हलकी और वेग पूर्वक चलती है। स्वस्थ मनुष्य की नाड़ी स्थिर (विषमगति रहित) और बलवती होती है एवं भूखे मनुष्य की नाड़ी चपल गति से चलती है तथा तृप्त (भोजन करने के पश्चात्) मनुष्य की नाड़ी स्थिर गति से गमन करती है।

इति नाड़ी परीक्षा।

दूत परीक्षा—

दूताः स्वजातयोऽव्यङ्गा पटवो निर्मलाम्बराः।
सुखिनोऽश्ववृषारूढाः शुभ्रपुष्पफलैर्युताः ॥९॥
सुजातयः सुचेष्टाश्च सजीवदिशि संश्रिताः।
भिषजं समये प्राप्ता रोगिणः सुखहेतवे ॥१०॥

दूत अपनी जाति (रोगी की जाति) का हो, अव्यङ्ग (हाथ, कान, नाक, ख आदि किसी अंग से हीन न) हो, (दर्शनीय हो, बोलने चालने एव समयोचित व्यवहार करने और समझने में चतुर हो, स्वच्छवस्त्र पहिने हुए हो,

पूर्ण स्वस्थ हो, उत्तम घोड़े अथवा बैल पर आरूढ हो, श्वेत फूलों की माला पहिने हो, खाद्य और उत्तम फल (वैद्य की भेंटा के लिये) लिये हो, (अथवा) उत्तम जाति (ब्राह्मण) का हो, समयोचित चेष्टा करने वाला हो, सजीव दिशा में बैठने वाला हो (दूत की नासिका से उस समय जो स्वर चलता हो उसी ओर बैठे अर्थात् यदि दूत का दक्षिण स्वर चलता हो तो वैद्य के दाहिनी ओर बैठे यदि वाम स्वर चलता हो तो वैद्य के वाम पार्श्व में बैठे*) इस प्रकार वैद्य को शुभ समय पर मिलने वाला दूत रोगी के कल्याण का हेतु होता है ॥९-१०॥

वक्तव्य—अर्थात् रोगी मनुष्य का समाचार लेकर जो मनुष्य वैद्य को बुलाने के लिये जाता है उसे 'दूत' कहते हैं, वह सुन्दर दर्शनीय और स्वस्थ तथा चतुर होना चाहिये जिससे रोगी के सब हाल धीरता के साथ वैद्य तक पहुँचाए जा सकें ।

यदुक्तं वाग्भटे—

पाखण्डाश्रमवर्णानां सपक्षाः कर्म सिद्धये ।
त एव विपरीताः स्युर्दूताः कर्म विपत्तये ॥

निषिद्ध दूत—

तैलकर्दमदिग्धाङ्गा रक्तस्रगनुलेपनाः ।
फलंपक्वमसारं वा गृहीत्वाऽन्यच्च तद्विधम् ॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥

दूत से होने वाली दुश्चेष्टाएं—

छिन्दन्तस्तृण काष्ठानि स्पृशन्तो नासिकां स्तनम् ।
वस्त्रान्तानामिकाकेशनखरोमदशस्पृशः ॥
स्रोतोऽवरोधहृद्गण्डमूर्धोरः कुक्षिपाणयः ।
कपालोपलभस्मास्थि तुषाङ्गारकराश्च ये ॥
विलिखन्तो महीं किञ्चिन्मुञ्चतो लोष्टभेदिनः ।

दूत के शकुन—

वैद्याह्वानाय दूतस्य गच्छतो रोगिणः कृते ॥११॥
न शुभं सौम्यशकुनं प्रदीप्तं च सुखावहम् ।

वैद्य को बुलानें के लिये घर से चलते समय यदि सौम्य (भेरी मृदंगादि वाद्य) शकुन हों तो रोगी के लिये अशुभ (अमंगल कारक) होते हैं और यदि

---

* 'यस्यां प्राणमरुद्याति सा नाडी जीव संयुता।' ॥
अन्यच्च—'चन्द्रस्थाने यदा वायुः सूर्यस्थाने च पृच्छकः ।
तदा न जीवति रोगी यदि वैद्यशतैर्वृतः' ॥

प्रदीप्त (तैल कुलत्थ, भासुर पदार्थ) शकुन में मिलें तो रोगी के लिये शुभ (मंगल कारक) होते हैं ॥११॥

वैद्य के शकुन—

चिकित्सा रोगिणः कर्तुं गच्छतो भिषजः शुभम् ॥१२॥
यात्रेयं सौम्यशकुनं प्रोक्तं दीप्तं न शोभनम् ।

रोगी की चिकित्सा के लिये घर से चलने वाले वैद्य को यदि सौम्य शकुन मिलें तो शुभ होते हैं और यदि प्रदीप्त शकुन मिलें तो अशुभ होते हैं ॥१२॥

चिकित्सा योग्य रोगी के लक्षण--

निजप्रकृतिवर्णाभ्यां युक्तः सत्वेन संयुतः ॥१३॥
चिकित्स्यो भिषजा रोगी वैद्यभक्तोजितेन्द्रियः ।

जिस रोगी की प्रकृति (स्वभाव) बदल न गयी हो और रोगी के शरीर का वर्ण पलट न गया हो एवं रोगी सत्त्व (बल) युक्त हो तथा वैद्यभक्त (वैद्य की आज्ञा का पालन करने वाला) और जितेन्द्रिय (इन्द्रियों को जीतने वाला) हो ऐसे रोगी की चिकित्सा वैद्य करे ॥१३॥

दु स्वप्नों के लक्षण—

स्वप्नेषु नग्नान्मुण्डांश्च रक्तकृष्णाम्बरावृतान् ॥१४॥
व्यङ्गांश्च विकृतान् कृष्णान् सपाशान् सायुधानपि ।
बध्नतो निघ्नतश्चापि दक्षिणां दिशमाश्रितान् ॥१५॥
महिषोष्ट्रखरारूढान् स्त्रीपुंसान् यस्तु पश्यति ।
स स्वस्थो लभते व्याधिं रोगी यात्येव पञ्चताम् ॥१६॥

स्वप्न (गाढ निद्रा के अभाव में दीखने वाले दृश्य) में नंगे, (वस्त्र रहित), मुण्डित (मुण्डे हुए शिर अथवा दाढी मूछ वाले), लाल काले वस्त्रों वाले, विकृत (नाक, कान, हाथ, पाव आदि से रहित), काले वर्ण के पाश (बाधने वाली रस्मियां) और आयुध (तलवार खड्ग, भाला, बरछी, धारण किये हुए. बांधते हुए (स्वप्न देखने वाले को). मारते हुए, दक्षिण दिशा में स्थित भैंसा ऊट, गधा इन पर चढे हुए, पुरुष अथवा स्त्रियों को देखें तो स्वस्थ मनुष्य ऐसे स्वप्नों के देखने से रोगी होवे और यदि रोगी को ऐसे स्वप्न हों तो उसकी मृत्यु होती है ॥१४—१६॥

अन्य दु स्वप्न--

अधो यो निपतत्युच्चाज्जलेऽग्नौ वा विलीयते ।

श्वापदैर्हन्यते योऽपि मत्स्याद्यैर्गिलितो भवेत् ॥१७॥
यस्य नेत्रे विलयिते दीपो निर्वाणतां व्रजेत्।
तैलं सुरां पिबेद्वापि लोहं वा लभते तिलान् ॥१८॥
पक्वान्नं लभतेऽश्नाति विशेत्कूपं रसातलम्
स स्वस्थो लभते रोगं रोगी यात्येव पञ्चताम् ॥१९॥

जो मनुष्य स्वप्न में अपने आपको ऊंचे पर्वत अथवा वृक्षादि से गिरता हुआ देखे तथा जल में डूब जावे अग्नि में गिरजावे, श्वापद (कुत्ते) ने काट खाया हो, जिसे स्वप्न में मछली अथवा अन्य जल जन्तुओं ने निगल लिया हो, जो स्वप्न में अपने नेत्र नष्ट हो गये हों ऐसा देखे, जलता हुआ दीपक (स्वप्न में) बुझता देखे, स्वप्न में शराब पीवे तथा लौह (स्वर्ण रजतादि धातुएं) अथवा तिलों (एवं अन्य अन्न विशेषों) को देखे और पक्वान्न (भोजन करने योग्य सिद्ध अन्न) का भोजन करे एवं कूएं में अथवा रसातल में प्रवेश करे। ऐसे स्वप्न यदि स्वस्थ मनुष्य को हों तो वह रोग पीडित होता है और यदि रोगी को हों तो वह पंचत्व (मृत्यु) को प्राप्त होता है ॥ १७–१९॥

दु स्वप्नों के उपाय—

दुःस्वप्नानेवमादींश्च दृष्ट्वा ब्रूयान्न कस्यचित्।
स्नानं कुर्यादुषस्येव दद्याद्धेमतिलान्यथ ॥२०॥
पठेत्स्तोत्राणि देवानां रात्रौ देवालये वसेत्।
कृत्वैवं त्रिदिनं मर्त्यो दुःस्वप्नात्परिमुच्यते ॥२१॥

उपरोक्त दुष्ट स्वप्न देखकर उनको किसी से न कहे। प्रात काल स्नान करके (यदि स्वस्थ हो तो अन्यथा रोगी को पञ्चस्नान पर्याप्त हैं) स्वर्ण और तिलों का दान करे । देवताओं के स्तोत्रों का पाठ करे। इस प्रकार दिन में कृत्य करके रात्री को देवमन्दिर में रह कर स्तोत्रपाठ करता रहे। इस प्रकार तीन दिन आचरण करने से मनुष्य खोटे स्वप्नों के दोषों से छूट जाता है ॥२०—२१॥

शुभस्वप्न—

स्वप्नेषु यः सुरान् भूपान् जीवतः सुहृदो द्विजान्।
गोसमिद्धाग्नितीर्थानि पश्येत्सुखमवाप्नयात् ॥२२॥

जो मनुष्य स्वप्न में इन्द्रादि देवताओं को, राजा महाराजाओं को, जीते हुए अपने सुहृदों को, पूज्य ब्राह्मणों को, गौ, प्रज्वलितअग्नि और पवित्र तीर्थ स्थानों के दर्शन करता है वह सुख को प्राप्त होता है ॥२२॥

अन्यच्च—

तीर्त्वा कलुषनीराणि जित्वा शत्रुगणानपि ।
आरुह्य सौधगोशैलकरिवाहान्सुखीभवेत् ॥२३॥

जो मनुष्य स्वप्न में मलिन जलों (नदी, तालाव आदि) मे तैरता है और अपने शत्रुओं को जीत लेता है और सौध (श्वेतगृह) , बैल, पर्वत, हाथी और घोड़ा इन पर अपने आपको चढ़ा हुआ देखता है वह सुखी होता है। (अर्थात् उसे सुख और स्वास्थ्य लाभ होता है) ॥२३॥

अन्यच्च—

शुभ्रपुष्पाणि वासांसि मांसमत्स्यफलानि च ।
प्राप्यातुरः सुखी भूयात्स्वस्थो धनमवाप्नुयात् ॥२४॥

जो मनुष्य स्वप्न में श्वेत फूलों को श्वेत वस्त्रों को, कच्चा मास, मछली और आम्रादि फलों को देखे वह रोगी स्वस्थ हो जाता है। और यदि नीरोग मनुष्य देखे तो उसे धन की प्राप्ति होती है ॥२४॥

अन्यच्च—

अगम्यागमनं लेपो विष्ठया रुदितं मृतिः ।
आममांसाशनं स्वप्ने धनारोग्याप्तये विदुः ॥२५॥

जो मनुष्य स्वप्न में अगम्या (गुरुपत्नी, माता, बहिन, पुत्री आदि) से गमन (भोग) करे तथा विष्टा से अपने शरीर को लिपा हुआ देखे एवं रोता हुआ देखे अथवा अपने आपको मरा हुआ देखे और कच्चे मास का भोजन करे तो रोगी मनुष्य स्वस्थ होता है और स्वस्थ को ऐसे स्वप्न हों तो धन की प्राप्ति होती है ॥२५॥

अन्यच्च—

जलौका भ्रमरी सर्पो मक्षिका वापि यं दशेत् ।
रोगी स भूयादुल्लाघः स्वस्थो धनमवाप्नुयात् ॥२६॥

इति श्रीदामोदरसूनुनाशार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर संहितायां नाड़ीपरीक्षादिविधिर्नाम तृतीयोऽध्याय ।

जिस मनुष्य को स्वप्न में जोंक, शहद की मक्खी, साप और अन्य मक्खियें काटें वह रोगी रोग रहित हो जाता है और स्वस्थ को धन प्राप्त होता है ॥२६॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्य कविराज हरदयाल वैद्यवाचस्पति कृताया शार्ङ्गधर संहिताया रहस्यार्थ प्रकाशिकाया भाषाटीकाया नाड़ीपरीक्षादिविधिर्नाम तृतीयोऽध्याय ॥३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ दीपन पाचनाऽध्याय —

पचेन्नामं वह्निकृच्च दीपनं तद्यथा मिशिः ।

जो औषध (द्रव्य) आम (अपक्व आहार रस) को न पचावे परन्तु अग्नि (जठराग्नि) को दीप्त करे उसको 'दीपन' (अग्नि बढाने वाली) कहते हैं। जैसे 'मिशि' (शतपुष्पा, सौंफ) ।

वक्तव्य—यह प्रश्न स्वभावत' उत्पन्न होता है कि जो द्रव्य अग्निवर्द्धक हो वह रस पकाने में भाग क्यों नही लेता ?

स्वभावत यह प्रश्न ठीक है, परन्तु जब द्रव्यों के गुण धर्मों का स्पष्टीकरण किया जाता है तब इसका निराकरण हो जाता है यथा—

'दीपनमग्निगुणभूयिष्ठम्'। अर्थात् अग्निगुण भूयिष्ठ होने से ही दीपन शक्ति प्राप्त होती है। अग्निगुणाधिक्य द्रव्य के प्रयोग से पाचकाग्नि (पित्त) की वृद्धि होती है, परन्तु रस को पकाना चरकीय मतानुसार 'रसाग्नि' का काम है अर्थात् रस का सम्यक् पाक तब समझा जाता है जब रसवाहि स्रोतों द्वारा रस का उचित संशोषण (आकर्षण) हो, यह काम स्रोतों का है, इसका सम्बन्ध जठराग्नि की वृद्धि से सीधा बन्धा हुआ नहीं है। इसी लिये जठराग्नि को बढ़ाने वाली औषध आम को नही पकाती।

आम के लक्षण—

आहारस्य रसः सारः यो न पक्वोऽग्निलाघवात्
स मूलं सर्वरोगाणामाम इत्याभिधीयते ॥

शतपुष्पा के गुण—

शतपुष्पा लघुस्तीक्ष्णा पित्तकृद्दीपनी कटुः

औषधों के नियत गुण में ऋषि वचन—

नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कथंचन ।
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत् ॥

पाचन औषध के लक्षण—

पचत्यामं न वह्निं च कुर्याद्यत्तद्धि पाचनम् ॥१॥
नागकेशर वद्विद्याच्चित्रो दीपनपाचनः ।

जो औषध आम को पचावे और अग्नि को प्रदीप्त न करे ऐसी औषध को 'पाचन' कहते हैं ।

जैसे 'नागकेशर' एव जो औषध अग्नि को दीपन करे तथा आमरस का भी पाचन करे उसको 'दीपन पाचन' कहते हैं । जैसे 'चित्रक' ॥१॥

वक्तव्य—

१—'नाग केशरकं रूक्षमुष्णं लघ्वामपाचनम्' ।
२—'चित्रकः कटुकः पाके वह्निकृत्पाचनो लघु' ।

संशमन औषध—

न शोधयति न द्वेष्टि समान् दोषांस्तथोद्धतान् ॥२॥
समीकरोति विषमान् शमनं तद्यथामृता ।

जो औषध प्रकुपित दोषों को ऊर्ध्वाध निःसरण किए विना तथा विना दोषों को दुष्ट किए एव दूपित और विपम (न्यूनाधिक) दोपों में मिलकर उन्हें शमन (शात) करती है उसे 'संशमन' औषध कहते हैं जैसे अमृता (गुडूची) ॥२॥

वक्तव्य—'आकाशगुणभूयिष्ठंसंशमनम्' ।

अर्थात् संशमन औषध आकाश गुण बाहुल्य होती है ।
रसायनी संशमनी दोषाणां ज्वरनाशिनी ।
गुडूची कटुका लघ्वी तिक्ताऽग्निदीपनी मता ॥

शमन के एक और लक्षण—

'न शोधयति यद्दोषान् समान् नोदीरयत्यपि ।
समीकरोति च क्रुद्धान् तत् संशमनमुच्यते' ॥

अनुलोमन औषध के लक्षण—

कृत्वा पाकं मलानां यद्भित्वा बन्धमधो नयेत् ॥३॥
तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी ।

जो औषध वातादि दोषों को पका कर और उनके अटकाव को तोड़कर उन्हें नीचे गुदमार्ग की ओर ले जाती है उसको 'अनुलोमन' औषध कहते हैं । जैसे 'हरीतकी' ॥३॥

स्रंसन औषध के लक्षण—

पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम् ॥४॥
नयत्यधः स्रंसनं तद्यथा स्यात्कृतमालकः ।

कोष्ठ (अन्तड़ियों में) में स्थित पकने योग्य वातादि दोषों को एव अन्तड़ियों के मल को जो औषध नीचे की तरफ ले जाकर गुदमार्ग से बाहर कर देती है उसको 'स्रंसन' कहते हैं। यथा—कृतमालक (अमलतास, अमलतास की फ़ली का गूदा) ॥४॥

वक्तव्य—कोष्ठ के आयुर्वेदीय लक्षण—

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥

भेदन औषध के लक्षण—

मलादिकमबद्धं च बद्धं वा पिण्डितं मलैः ॥५॥
भित्वाधः पातयति तद्भेदनं कटुकी यथा ।

जो औषध वातादि दोषों से बांधे हुए मल मूत्र को अथवा बन्ध रहित स्वभावत. पिण्डी भूत (गांठें सुद्दे) मल का भेदन (पतला) करके नीचे गुदमार्ग से बाहर करती है उसे भेदन कहते हैं। जैसे कटुकी (कौड) ॥५॥

रेचन औषध के लक्षण—

विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत् ॥६॥
रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा ।

जो औषध अन्तडियों में स्थित पुरीष तथा वातादि दोषों को (अपनी शक्ति से) पतला करके विरेचन (दस्त) लाती है उसको 'रेचन' औषध कहते हैं। यथा—'निसोत' ॥६॥

वक्तव्य—

'तत्र विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि पृथिव्यापो गुर्व्यो गुरुत्वादधो गच्छन्ति तस्मात् विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्' ।

॥सु० सू०॥

उपरोक्त—स्रंसन, अनुलोमन, भेदक और रेचक जितने भी द्रव्यों का वर्णन हुआ है इन में पृथ्वी और जल तत्व के परमाणु अधिक होते हैं। उदर में पहुंच कर इन का यह प्रभाव होता है कि उदरीय गह्वर में मल भाग से सम्बन्ध रखने वाली जल बहाने की ग्रन्थिया सजातीय पदार्थ को प्राप्त करके अपनी सा-

धारण क्रिया से अत्यधिक मात्रा में जल उत्पन्न करती हैं। यही जल मल को पतला करके जब इतना अधिक बढ जाता है जिसे आंतों की साधारण धारणा-शक्ति धारण (रोक) नही कर सकती। तब यह द्रवीभूत मल गुदमार्ग से बाहर आजाता है इसी कारण से रेचक औषधों से पतले दस्त आते हैं।

वामक औषध के लक्षण—

अपक्वपित्तश्लेष्माणौ बलादूर्ध्वं नयेत्तु यत् ॥७॥
वमनं तद्धि विज्ञेयं मदनस्य फलं यथा ।

जो औषध अपक (कच्चे) पित्त और कफ को निजशक्ति से वेगपूर्वक मुख के द्वारा बाहर करे (उल्टी करे) उसको 'वमन' कारक औषध कहते हैं। जैसे 'मैनफल' ॥७॥

वक्तव्य—वमनार्थ इसकी मात्रा १ तोला की है। गरम जल से प्रयोग किया जाता है।

कारण—

वमनद्रव्याण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठान्यग्निवायू हि लघू लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति तस्माद्वमनमप्यूर्ध्वगुणभूयिष्ठमुक्तम्' ॥ सु० सू०॥

संशोधन औषध के लक्षण—

स्थानाद्बहिर्नयेदूर्ध्व मधो वा मलसंचयम् ॥८॥
देहसंशोधनं तत्स्याद्देवदालीफलं यथा ।

शरीर में संचित हुए वातादि दोषों को जो औषध निजशक्ति से ऊपर मुखमार्ग (वमन द्वारा) से अथवा अधो (गुद) मार्ग से बाहर निकाले उसको 'संशोधन' औषध कहते हैं। जैसे देवदाली (घग्गर बेल) ॥८॥

वक्तव्य—एक दृष्टि से देखने वाले सम्भव है संशोधन औषध के उभयात्मक गुण देख कर भ्रम में पडकर चक्कर खाने लग जावें कि यह क्या मामला है। दो विरुद्ध शक्तियों का एक स्थान में रहना असम्भव है। परन्तु इस विषम समस्या को हल करने के लिये महर्षियों का निर्णय देखने योग्य है, यथा—

'उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्'। सु० सू०

अर्थात् जिस पदार्थ में दोनों गुण (अधोगामी और ऊर्ध्वगामी) हों वह दोनों तरफ प्रवृत्त होता है अर्थात् वमन और विरेचन दोनों लाता है।

छेदन औषध के लक्षण—

श्लिष्टान्कफादिकान्दोषानुन्मूलयति यद्बलात् ॥९॥
छेदनं तद्यथा क्षारा मरिचानि शिलाजतु ।

शरीर के भीतर श्लिष्ट (संलग्न) हुए कफादि दोषों को जो औषध निज बल से उखाड़ती है उसको छेदन कहते हैं। जैसे क्षार, मरिच (काली) और शिलाजीत ॥६॥

लेखन औषध के लक्षण—

धातून् मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत् ॥१०॥
लेखनं तद्यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः।

शरीरस्थ रसादि धातुओं और वातादि दोषों को जो द्रव्य निजशक्ति से उन्हें सुखाकर लेखन (उखाडना) करती है उसको 'लेखन' कहते हैं। जैसे शहद, गरमपानी, वच और जौं ॥१०॥

ग्राहि औषध के लक्षण—

दीपनं पाचनं यत्स्यादुष्णत्वाद्द्रवशोषकम् ॥११॥
ग्राहि तच्च यथा शुण्ठी जीरकं गजपिप्पली।

जो औषध दीपन, पाचन और उष्ण वीर्य होने से द्रव (अन्तडियों के पतले पन) को सुखाती है उसको 'ग्राही' कहते हैं। जैसे—सोंठ, जीरक और गजपीपल ॥११॥

स्तम्भन औषध के लक्षण—

रौक्ष्यात् शैत्यात् कषायत्वाल्लघुपाकाच्च यद्भवेत् ॥१२॥
वातकृत् स्तम्भनं तत्स्याद्यथा वत्सकटुण्टुकौ।

जो औषध—रूक्ष, शीतल, कषायरस एवं लघुपाकी होने से वात कारक होती है उसको स्तम्भन (मल अथवा शुक्रादि को रोकने वाली) कहते हैं। जैसे—वत्सक (कुडा) और टुण्टुक (श्योनाक) ॥१२॥

रसायन औषध के लक्षण—

रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम् ॥१३॥
यथाऽमृता रुदन्ती च गुग्गुलुश्च हरीतकी।

जिस औषध के प्रभाव से शरीर की वृद्धावस्था और ज्वर, अतिसारादि व्याधियों का नाश होता है उसको 'रसायन' कहते हैं। जैसे—गुडूची, रुदन्ती (रुद्रवती) गूगल और हरीतकी।

वक्तव्य—'रसादीनां धातूनामयनमाप्यायनरूपं रसायनम्'। जिन औषधों के प्रभाव से रसादि धातुओं की पुष्टि और वृद्धि हो उसे रसायन कहते हैं औषधों के रसायन गुणों को ढूडने का श्रेय आयुर्वेदज्ञों के अतिरिक्त अन्य चिकित्सकों

के भाग्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। द्रव्यातर्गत रसवीर्यादि के अत्युत्तम विश्लेषण का यह परिणाम है। रसवीर्यादि का निर्णय द्रव्यों के पाच भौतिक मिश्रण से सरलतया होसकता है। परन्तु द्रव्यों के रसायन गुण का अन्वेषण आप्त पुरुषों के अतिरिक्त साध्य नहीं। अत इस सत्ता को हम आप्तसत्ता कह सकते हैं जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं।

वाजीकरण औषध—

यस्माद्द्रव्याद्भवेत्स्त्रीषु हर्षो वाजीकरं च तत् ॥१४॥
यथानागबलाद्याः स्युर्बीजं च कपिकच्छुजम् ।

जो औषध अपने प्रभाव से स्त्रियों में हर्ष (मैथुन शक्ति) उत्पन्न करे उसको 'वाजीकर' कहते हैं। जैसे—नागबला (खरैंटी), शतावर, दूध और कौंच के बीज ॥१४॥

शुक्रवर्द्धक औषध के लक्षण—

यस्मात् शुक्रस्य वृद्धिः स्याच्छुक्रलं च तदुच्यते ॥१५॥
यथाऽश्वगन्धा मुशली शर्करा च शतावरी ।

जिस औषध से शुक्र (वीर्य) की वृद्धि हो उसे 'शुक्रल' (वीर्य कारक) कहते हैं। जैसे—असगन्ध, मुसली (श्वेत), मिशरी और शतावरी ॥१५॥

शुक्र प्रवर्तक और शुक्रोत्पादक

दुग्धं माषाश्च भल्लातफलमज्जामलानि च ॥१६॥
प्रवर्तकानि कथ्यन्ते जनकानि च रेतसः ।

दूध, उड़द, भिलावे के फल की मज्जा (भिलावे के फल को तोडने से श्वेताभ पदार्थ प्राप्त होता है उसे मज्जा कहते हैं। वह भिलावे के तैल की तरह शोथोत्पादक नहीं होती) और आमले यह पदार्थ शुक्र (वीर्य) को चलाने और उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥१६॥

विशेष व्यवस्था—

प्रवर्तनी स्त्री शुक्रस्य रेचनं वृहती फलम् ॥१७॥
जातीफलं स्तम्भकं च शोषणी च हरीतकी ।

स्त्री (स्मरण, कीर्तन, दर्शन, सभाषण, स्पर्शन, चुम्बन और आलिङ्गनादि से) शुक्र धातु को प्रवर्तन करने वाली होती है। बडी कंटकारी के फल वीर्य को चलाने वाले होते हैं। जायफल से वीर्य का स्तम्भन (अवरोध) होता है। हरीतकी वीर्य को शोषण (क्षीण) करती है ॥१७॥

वक्तव्य—औषधों से जो प्रभाव शरीर पर होता है तथा वनितादि के दर्शन से जो प्रभाव मन द्वारा शरीर पर होता है उसका वर्णन ऊपर किया गया है।

सूक्ष्म औषध के लक्षण—

देहस्य सूक्ष्मछिद्रेषु विशेद्यत्सूक्ष्ममुच्यते।
तद्यथा सैन्धवं क्षौद्रं निम्बतैलं रुबूद्भवम् ॥१८॥

जो द्रव्य शरीर के सूक्ष्म (बारीक) छिद्रों में निज शक्ति द्वारा प्रवेश करे उसको 'सूक्ष्म' कहते हैं। जैसे—सैंधानमक, शहद, नीम का तैल और एरण्ड का तैल। ऐसे द्रव्य सूक्ष्म कहलाते हैं ॥१८॥

व्यवायि औषध के लक्षण—

पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकं च गच्छति।
व्यवायि तद्यथा भङ्गा फेनंचाहिसमुद्भवम् ॥१९॥

जो द्रव्य प्रथम शरीर में व्याप्त होकर पुन पाक को प्राप्त होता है उसको 'व्यवायि' कहते हैं। जैसे भाग और अफीम ॥१९॥

वक्तव्य—औषधों के अचित्य प्रभावों में से यह भी एक प्रभाव है। इस में औषध आमाशय में पहुंचते ही अपना प्रभाव उत्पन्न कर देती है और पुन यथाविधि इस का पचन होता है। परन्तु पाकान्त में ऐसे द्रव्यों का प्रभाव प्राय' नष्ट हो जाता है। जैसे पचने पर भाग का नशा उतर जाता है।

विकाशी औषध के लक्षण—

सन्धिबन्धांस्तु शिथिलान् यत् करोति विकाशि तत्।
विश्लेष्यौजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवाः ॥२०॥

जो औषध समग्र शरीर के सन्धिबन्धनों को शिथिल (निर्बल) करे और रसादि धातुओं से प्राप्त होने वाले ओज का शोषण करे उसको 'विकाशी' कहते हैं। यथा—क्रमुक (सुपारी) और कोदों धान ॥२०॥

मदकारी औषध के लक्षण—

बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारी तदुच्यते।
तमोगुण प्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम् ॥२१॥

जिस द्रव्य से बुद्धि (विचारशक्ति) का लोप हो उसे 'मदकारी' कहते हैं। ऐसे द्रव्य तमोगुण प्रधान होते हैं। यथा मद्य और सुरा। (इनके भेद मध्यम खण्ड के दशम अध्याय में देखें) ॥२१॥

वक्तव्य—मदकारक पदार्थ तमोगुण प्रधान होने से ही ऐसा गुण करते हैं। परन्तु इनका मात्रातीत सेवन बुद्धि को लोप करता है। अल्प मात्रा जहा तक तमोगुण की अत्यधिक वृद्धि नही करती वहा तक बुद्धि लुप्त नही होती। यथा—'बुद्धिस्मृतिप्रीतिकर सुखश्च' इत्यादि।

प्राणहर द्रव्य—

व्यवायि च विकाशि स्यात्सूक्ष्मं छेदि मदावहम् ।
आग्नेयं जीवितहरं योगवाहि स्मृतं विषम् ॥२२॥

व्यवायी, विकाशी, सूक्ष्म, छेदी, मदावह और अग्निगुण प्रधान द्रव्य 'जीवन' को नाश करने वाले होते हैं। यथा—योगवाही विष प्राणनाशक होता है ॥२२॥

प्रमाथी औषध—

निजवीर्येण यद्द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसंचयम् ।
निरस्यति प्रमाथि स्यात्तद्यथा मरिचं वचा ॥२३॥

जो द्रव्य निज शक्ति से स्रोतों (मुख, नासिका, कर्ण, आख तथा अन्य शारीरिक विवरों) से दोष संचय को निकालता (दूर करता) है उसको 'प्रमाथी' कहते हैं। यथा—कालीमिरच और वच ॥२३॥

वक्तव्य—इन के सूंघने अथवा स्रोतों में प्रविष्ट हो जाने से जल और श्लेष्म स्राव होता है जिस से दोष संचय नष्ट होता है।

अभिष्यन्दि औषध के लक्षण—

पैच्छिल्याद्गौरवाद्द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाशिराः ।
धत्ते यद्गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधिः ॥२४॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधरेण विरचितायां शार्ङ्गधर
संहितायां प्रथमखण्डे दीपनपाचनविधिर्नाम
चतुर्थोऽध्याय ॥४॥

जो द्रव्य पिच्छिल (चिपकने वाला, चिक्कण) और भारी होने के कारण रसवहन करनेवाली शिराओं (धमनियों) को रोककर शरीर में भारीपन उत्पन्न करता है उसको 'अभिष्यन्दि' कहते हैं। यथा—दही।

वक्तव्य—प्राय ऐसे द्रव्यों का रस गाढ़ा होता है जो रसवाही स्रोतों के मार्ग में चिपक कर उन के मार्ग को सूक्ष्मातिसूक्ष्म करके अवरुद्ध कर देता है जिस से शरीर भारी और आमविकारयुक्त हो जाता है।

इति श्रीआयुर्वेदाचार्य कविराज हरदयालवैद्यवाचस्पति कृताया
शार्ङ्गधर संहिताया रहस्यार्थ प्रकाशिकाया भाषाटीकाया
प्रथमखण्डे—दीपन पाचन विधिर्नाम
चतुर्थोऽध्याय ॥४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

आचार्योक्त अनुक्रमणिका के अनुसार

'तत कलादिकाख्यानम्'—

कलाः सप्ताशयाः सप्त धातवः सप्त तन्मलाः ।
सप्तोपधातवः सप्त त्वचः सप्त प्रकीर्तिताः ॥१॥
त्रयो दोषा नवशतं स्नायूनां सन्धयस्तथा ।
दशाधिकं च द्विशतमस्थ्नां च त्रिशतं तथा ॥२॥
सप्तोत्तरं मर्मशतं शिराः सप्तशतं तथा ।
चतुर्विंशतिराख्याता धमन्यो रसवाहिकाः ॥३॥
मांसपेश्यः समाख्याता नृणां पञ्चशतं बुधैः ।
स्त्रीणां च विंशत्याधिकाः कण्डराश्चैव षोडश ॥४॥
नृदेहे दश रन्ध्राणि नारीदेहे त्रयोदश ।
एतत्समासतः प्रोक्तं विस्तरेणाधुनोच्यते ॥५॥

सात कला होती हैं । सात आशय होते हैं । सात धातुए होती हैं । सात धातुओं के सात मल होते हैं । सात उप उपधातुए होती हैं । सात त्वचा (चमडियां) और तीन दोष होते हैं । नौ सौ (९००) स्नायु होते हैं । दो सौ दश (२१०) सन्धियां होती हैं । तीन सौ (३००) हड्डियां होती हैं । एक सौ सात (१०७) मर्म होते हैं । सात सौ (७००) शिराएं होती हैं । रस बहाने वाली चौवीस (२४) धमनिया होती हैं । पुरुषों के शरीर में पाच सौ (५००) मास पेशिया होती हैं । स्त्रियों के शरीर में पांचसौ वीस (५२०) मांसपेशियां होती हैं ।

कण्डरा सोलह (१६) होती हैं । पुरुषों के शरीर में रन्ध्र (विवर, सूराख) दश (१०) होते हैं । स्त्रियों के शरीर में रन्ध्र तेरह (१३) होते हैं ।

कला से रन्ध्र पर्यन्त शरीरावयवों का यह संक्षेप से वर्णन किया गया है अब इन्ही का विस्तार से वर्णन करते हैं ॥१—५॥

वक्तव्य—ऊपर कलादि पारिभाषिक शब्दों का अर्थ पिष्टपेषण के भय से नहीं दिया क्यों कि इनका पृथक् २ वर्णन आगे यथाक्रम किया गया है ।

कलाओं का वर्णन--

मांसासृङ्मेदसां तिस्रो यकृत्प्लीह्नोश्चतुर्थिका ।
पञ्चमी च तथाऽन्त्राणां षष्ठी चाग्निधरा मताः ॥६॥
रेतोधरा सप्तमी स्यादिति सप्तकलाः स्मृताः ।

कला सात होती हैं, यथा—

१—मासधरा कला (मास को धारण करने वाली) ।
२—रक्तधरा कला (रक्त को धारन करने वाली) ।
३—मेदोधरा कला (मेदा को धारण करने वाली) ।
४—श्लेष्मधरा कला (यकृत और प्लीहा के मध्य में स्थित ।
५—पुरीषधरा कला (अन्तडियों के मध्य में स्थित) ।
६—अग्निधरा कला (अग्नि धारण करने वाली) ।
७—रेतोधरा कला (शुक्र धारण करने वाली) ।

इस प्रकार शरीर में सात कलाएं होती हैं ॥६॥

वक्तव्य—कला किस को कहते हैं ?

कला के लक्षण—

धात्वाशयान्तरे स्थस्तुयत्क्लेदस्त्वधितिष्ठति ।
देहोष्मणा विपक्को य सा कलेत्यभिधीयते ॥

कला के सुश्रुतोक्त लक्षण—

स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् संततांश्च जरायुणा ।
श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कला भागांस्तु तान् विदु ॥

कला के वाग्भटोक्त लक्षण—

धात्वाशयांतरक्लेदो विपक्व स्वंस्वमूष्मणा ।
श्लेष्मस्नाय्वपराच्छन्न. कलाख्य काष्ठसारवत् ॥

अर्थात् रसादि धातुओं के आधारभूत धात्वाशयों के मध्य में अवस्थित क्लेद अपनी २ धातुओं की ऊष्मा (अग्नि) से परिपक्व होकर कफ, स्नायु और अपरा (झिल्ली) से आच्छन्न हुआ २ कला के नाम से कहा जाता है । यह कला काष्ठ

के सार के समान एक धातु को दूसरी धातु से अलग रखने के लिये शरीर में विद्यमान हैं। इसीलिये सुश्रुतोक्त यह लक्षण 'धात्वाशयातरमर्यादा' ठीक व्यवहृत होता है 'कला' धातुओं के आशयों के मध्य में मर्यादा रूप होती हैं। जैसे छेदन किये हुए काष्ठ में उसकी त्वचा और सार के मध्य में पृथक् भेद बोधक मर्यादा होती है उसी प्रकार धात्वाशयों को पृथक् रखने वाली मर्यादा रूप कलाएं होती हैं। कलाएं आकृति में अत्यत सूक्ष्म प्रतानवान् झिल्ली के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। इन्हें वर्त्तमान में म्युक्स मैम्बरीन (Mucous Mambrane) के नाम से पुकारा जा सकता है।

प्रत्येक कला के स्थान और कार्य सुश्रुतोक्त—

१—तासां प्रथमा मांसधरा नाम यस्यां मांसगतानां सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति।

२—द्वितीया रक्तधरा नाम मांसस्याभ्यंतरत. तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति।

३—तृतीया मेदोधरा नाम मेदो हि सर्व भूतानामुदरस्थमण्वास्थिषु च महत्सु च मज्जा भवति।

४—चतुर्थी श्लेष्मधरा नाम सर्वसन्धिषु प्राणभृतां भवति।

५—पञ्चमी पुरीषधरानाम याऽन्तः कोष्ठे मलमभिविभजते पक्काशयस्था।

६—षष्ठी पित्तधरानाम, या चतुर्विधमन्नपानमुपभुक्तमामाशयात् प्रच्युतं पक्काशयोपस्थितं धारयति।

७—सप्तमी शुक्रधरा नाम सर्व प्राणिनां सर्व शरीर व्यापिनी।

चतुर्विधमन्नपान—

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम्।
तज्जीर्यति यथा कालं शोषितं पित्त तेजसा॥

सप्ताशय वर्णन—

श्लेष्माशयः स्यादुरसि तस्मादामाशयस्त्वधः॥७॥
ऊर्ध्वमग्न्याशयो नाभेर्वामभागे व्यवस्थितः।
तस्योपरि तिलं ज्ञेयं तदधः पवनाशयः॥८॥
मलाशयस्त्वधस्तस्य बस्तिः मूत्राशयः स्मृतः।
जीवरक्ताशयमुरो ज्ञेयाः सप्ताशयास्त्वमी॥९॥
पुरुषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारीणामाशयास्त्रयः।
धरा गर्भाशयः प्रोक्तः स्तनौ स्तन्याशयौ मतौ॥१०॥

जिस प्रकार शरीर में सात कलाएं होती हैं उसी प्रकार आशय (आधार अथवा अधिष्ठान) भी सात होते हैं यथा—

१—वक्षस्थल में श्लेष्माशय (कफाशय) होता है, इस से कुछ नीचे 'आमाशय' होता है। नाभि के ऊपर वाईं ओर 'अग्न्याशय' होता है। (इसी को ग्रहणी कहते हैं)। उसके ऊपर (नीचे की ओर) तिल (क्लोम) स्थान है। अग्न्याशय के नीचे 'पवनाशय' (वाय्वाशय) होता है। पवनाशय के नीचे 'मलाशय' होता है इसी मलाशय के नीचे 'मूत्राशय' (वस्तिगह्वर) होता है और जीवनदाता रक्त का आशय (स्थान) उर (हृदय) होता है। पुरुषों के शरीर में इस प्रकार सात आशय होते हैं। स्त्रियों के शरीर में पुरुषों की अपेक्षा तीन आशय अधिक होते हैं। यथा—एक गर्भाशय (गर्भशय्या) और दो स्तन्याशय (दुग्धाधार)। इस प्रकार स्त्री और पुरुष के शरीर में दश आशय (आधार स्थान) होते हैं ॥७–१०॥

रसादि धातुओं के नाम और उत्पत्ति––

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ।
जायन्तेऽन्योऽन्यतः सर्वे पाचिताः पित्ततेजसा ॥११॥

शरीर को धारण करने वाली सात धातुए होती हैं—यथा—

१—रस
२—रक्त
३—मास
४—मेद (चर्वी)
५—अस्थि (हड्डी)
६—मज्जा (अस्थियों के भीतर रहने वाला स्नेह)
७—शुक्र (वीर्य) यह सात धातुए होती हैं।

और यह सब परस्पर एक के पश्चात् दूसरी पित्त तेज (अपनी २ धातु की अग्नि) से पाचित (पक्व) होकर तैयार होती हैं ॥११॥

वक्तव्य—रस—यह चतुर्विध और षड्रस अथवा न्यूनाधिक रसों से युक्त आहारपाक का सर्व प्रथम परिणाम है। यह प्राय फेनस्वरूप और श्वेताभ तरल पदार्थ होता है। यही आहाररस रसवाहिनियों द्वारा प्रवाहित होकर शरीर का पोषण करता है और इसी रस का सर्वोत्तम सारभाग अन्त में रक्तरूप में परिणत हो जाता है।

२—रक्त—वही रस जब रक्त में परिणत होता है तब हृदय में पहुंच कर समग्र शरीर में भ्रमण करता है और रक्ताग्नि से पाचित होकर इसी रक्त का सारभाग 'मास' को उत्पन्न करता है।

३—मास—तत्काल माससंज्ञा को प्राप्त होने वाला रक्त, मांसधातु की अग्नि से पाचित होकर शरीर में मास को पुष्ट करता है और इसी मास का सर्वोत्तम सारभाग वसा (चर्बी) के रूप में परिणत होजाता है।

४—मेद—जब मांस स्नेह मेदोधातु की अग्नि से पाचित होता है तब उसी का पूर्ण पाचित अंश मेदो धातु की वृद्धि करता है।

५—अस्थि—मेदोधातु का सर्वोत्तम अंश पूर्णपाचित होकर अस्थि (हड्डियों) के निर्माण में कारणभूत होता है।

६—मज्जा—अस्थिधातु का सर्वोत्तम अंश मज्जाधातु की अग्नि से पूर्णपाचित होकर मज्जा के रूप में परिणत होता है।

७—शुक्र—मज्जा धातु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश पूर्णपाचित हो कर शुक्र धातु में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार रसादि धातुओं का यथाक्रम निर्माण होता है।

रसादि धातुओं के वर्ण-परिवर्तन के सम्बन्ध में भगवान् आत्रेय से महामति अग्निवेश ने एक उपयोगी प्रश्न किया है। वह पूछते हैं कि यथा—

'रसाद्रक्तं विसदृशात्कथं देहेऽभिजायते।
रसस्य च न रङ्गोऽस्ति स कथं याति रक्तताम्॥
रसाद्रक्तात्स्थिरं मांसं कथं तज्जायते नृणाम्।
रसाद्रक्तात्तथा मांसान्मेदसः श्वेतता कथम्॥
श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु।
खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा॥
मज्ज्ञश्च परिणामेन यदि शुक्रं प्रवर्तते।
सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः।
अथापि मध्ये मज्ज्ञश्च शुक्रं भवति देहिनाम्।
छिद्रं न दृश्यतेऽस्थ्नांच तन्निसरति वा कथम्।'
एवमुक्तस्तु शिष्येण,
... ... 'गुरुः प्राहेदमुत्तरम्—
तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते।
पित्तोष्मणः सरागेण रसो रक्तत्वमृच्छति॥
वाय्वग्नितेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम्।
स्थिरतां प्राप्य शौक्ल्यं च मेदो देहेभिजायते॥
पृथिव्यग्न्यनिलादीनां संघातः श्लेष्मणावृतः।
खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम्॥
करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मध्ये समीरणः।
मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः॥

तस्मान्मज्ज्ञस्तु य स्नेह शुक्रं सजायते तत ।
वाय्वाकाशादिभिर्भावै· सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु ॥
तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात्कुम्भादिवोदकम् ।
स्रोतोऽभिष्यन्दते देहात्समन्ताच्छुक्रवाहिभिः ॥
हर्षेणोदीरित रागात्सकल्पाच्च मनोभवात् ।
विलीन घृतवद्व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम् ॥
वस्तौ संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम्' ।

रसादि धातुओं की उत्पत्ति

रसाद्रक्तं ततो मांसं मासान्मेदः प्रजायते ।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्र सम्भव' ॥१२॥

एव रस से रक्त की उत्पत्ति होती है। रक्त से मास की उत्पत्ति होती है। मास से मेदो धातु की उत्पत्ति होती है। मेदा से अस्थि (हड्डियो) की उत्पत्ति होती है। हड्डी से मज्जा (तद्गतस्नेह) की उत्पत्ति होती है और मज्जा धातु से शुक्र (वीर्य) की उत्पत्ति होती है ॥१२॥

वक्तव्य—यह विधान रसादि धातुओं की उत्पत्ति में ऊपर वर्णन किया गया है। इसका भी साराश यही है कि प्रत्येक धातु जो रस से आरम्भ होती है वह अपनी अपनी अग्नि (धात्वग्नि) से पाचित होकर अपने सारभूत अश से अगली धातु को उत्पन्न करती है यथा-रस के शुद्ध और अत्युत्तम भाग से रक्त की उत्पत्ति होती है । उसी प्रकार उत्तरोत्तर धातुओं की वृद्धि से शरीर की वृद्धि होती रहती है।

धातुओं के मलों का वर्णन—

जिह्वानेत्रकपोलानां जलं पित्तं च रञ्जकम् ।
कर्णविड्रसनादन्तकक्षामेढ्रादिजं मलम् ॥१३॥
नखनेत्रमलं वक्त्रे स्निग्धत्वं पिटिकास्तथा ।
जायन्ते सप्तधातूनां मलान्येतान्यनुक्रमात् ॥१४॥

रसादि सातो धातुओं के मल यथाक्रम इस प्रकार होते हैं—
यथा—

१—जिह्वा का जल (जिह्वा की लालाग्रन्थियों का स्राव), नेत्रों का जल (आनन्द अथवा शोकावस्था में प्राप्त अश्रु) और कपोलों का जल यह 'रस' धातु के मल होते हैं।

---

१ प्रक्षिप्तमिदम् ।

२—रञ्जक पित्त (रस को रंग करके रुधिर बनानेवाला पित्त) 'रक्त' धातु का मल होता है ।

३—कानों की मैल 'मास' धातु का मल होता है ।

४—जिह्वा का मल, कक्षा का मल और अण्डकोषादि में आनेवाला मल (तथा प्रस्वेद) यह मेद धातु के मल होते हैं ।

५—नख (नाखून) यह अस्थि धातु का मल होते हैं ।

६—नेत्रमल (गीध), मुख की चिक्कणता तथा युवावस्था की मुखपिडिकायें यह 'मज्जा' धातु के मल होते हैं ।

शुक्र सब धातुओं का प्रसाद होने से मलरहित होता है। परन्तु कई आचार्य मुखपिडिकाओं को शुक्र का मल मानते हैं ॥१४॥

वक्तव्य—किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः ।
पित्तं मांसस्य तु मलं खेषु स्वेदस्तु मेदसः ॥
नखमस्थ्नस्तु लोमाद्या मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचः ।
प्रसादः किट्टधातूनां पाकादेव विवर्धते ।
शुक्रस्यातिप्रसन्नत्वान्मलाभाव इति स्मृतिः ॥

अन्यच्च—कफः पित्तं मलं खेषु प्रस्वेदो नखरोम च ।
नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः ॥

उपधातुओं का वर्णन—

स्तन्यं रजश्च नारीणां काले भवति गच्छति ।
शुद्धमांसभवः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता ॥१५॥
स्वेदो दंतास्तथा केशास्तथैवोजश्च सप्तमम् ।
इति धातुभवा ज्ञेया एते सप्तोपधातवः ॥१६॥

स्त्रियों के स्तनों में दूध, रस धातु की उपधातु है और स्त्रियो का रज (आर्तव) रक्तधातु की उपधातु है । यह दोनों समयानुसार (आवश्यकतानुसार) उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं । विशुद्ध मांस के स्नेह (स्वच्छ चिक्कणांश) को वसा कहते हैं। यह 'मांस' धातु का उपधातु होता है। स्वेद (पसीना) मेदधातु की उपधातु है। दांत (और नख) अस्थियो की उपधातु हैं। केश और रोम आदि मज्जाधातु के उपधातु होते हैं। ओज शुक्रधातु की उपधातु होती है। इस प्रकार सात रसादि धातुओं से सात उपधातुओं की उत्पत्ति होती है ॥१५-१६॥

वक्तव्य—

अन्यच्च—रसादेव स्त्रिया रक्तं रजः संज्ञं प्रवर्तते ।
तद्वर्षाद्द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥

अन्यच्च—रसात् स्तन्य ततो रक्तमसृज स्नायुकण्डरा ।
मांसाद्वसा त्वच. स्वेदो मेदस स्नायुसंधय ।
अस्थ्नो दन्तास्तथा मज्ज्ञः केशा ओजश्च सप्तमात् ।
धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्ते उपधातव ॥

इन उपरोक्त अन्य मतों से भी उपधातुओं की उत्पत्ति स्वमतानुसार ही वर्णन की गई है ।

त्वचाओं का वर्णन—

ज्ञेयाऽवभासिनी पूर्वं सिध्मस्थानं च सा मता ।
द्वितीया लोहिता ज्ञेया तिलकालक जन्मभूः ॥१७॥
श्वेता तृतीया संख्याता स्थानं चर्मदलस्य च ।
ताम्रा चतुर्थी विज्ञेया किलासश्वित्रभूमिका ॥१८॥
पञ्चमी वेदनी ख्याता सर्वकुष्ठोद्भवस्ततः ।
विख्याता रोहिणी षष्ठी ग्रन्थिगण्डापचीस्थिति ॥१९॥
स्थूला त्वक् सप्तमी ख्याता विद्रध्यादेः स्थितिश्च सा ।
इति सप्तत्वचः प्रोक्ताः स्थूला व्रीहिद्विमात्रया ॥२०॥

प्रथम (वाह्य, रोमाधिष्ठान) त्वचा का नाम 'अवभासिनी' है । यह सिध्म (थिम्म) रोग की उत्पत्ति का स्थान है । दूसरी त्वचा का नाम 'लोहिता' है । यह तिलों और कालक (व्यग न्यच्छ, लहसन आदि) की जन्म भूमि है । तीसरी त्वचा का नाम 'श्वेता' है । यह चर्मदल (कुष्ठ) की जन्मभूमि होती है । चौथी त्वचा का नाम 'ताम्रा' होता है । यह श्वित्र और किलास (फुलवहरी) कुष्ठ की जन्मभूमि है । पाचवीं त्वचा का नाम 'वेदिनी' है । यह अनेक कुष्ठों की जन्मभूमि होती है । छठी त्वचा का नाम 'रोहिणी' है । यह गाठ (ग्रथिया), गण्ड (फोडे), अपची (कण्ठ माला के व्रणों) की जन्मभूमि होती है । सातवीं त्वचा का नाम 'स्थूला' है । यह विद्रधी आदि (शोथों) की जन्मभूमि है । इस प्रकार यह सात त्वचा होती हैं । इनकी मोटाई दो यवों जितनी होती है ॥१७—२०॥

दोषों का वर्णन—

वायुः पित्तं कफो दोषा धातवश्च मला मताः ।
तत्रापि पञ्चधा ख्याताः प्रत्येकं देह धारणात् ॥२१॥

वात, पित्त और कफ इन तीनों को दोष कहते हैं । शरीर को धारण करने से इनको धातु भी कहते हैं । शरीर को मलिन करने से यह मल कहलाते

हैं। भिन्न २ कार्यों द्वारा देह धारण करने से प्रत्येक (वात, पित्त, कफ पृथक् २) पांच २ प्रकार का होता है ॥२१॥

वक्तव्य—ईश्वरीय लीला वैचित्र्य से इस शरीर में वात पित्त और कफ एक ऐसी त्रिमूर्ति निर्मित हुई है जिसकी लीला न सिर्फ मनुष्यों से प्रत्युत आप्त पुरुषों से भी अगम्य है।

१—शरीर में जब वात, पित्त और कफ अविकृतावस्था में रहते हैं तब इनको वात, पित्त और कफ का नाम दिया जाता है। इसी अवस्था में यह स्वय समावस्था में रह कर शरीर को समावस्था में रखते हैं। इनकी विषम (न्यूनाधिक) अवस्था ही 'रोग' और समावस्था ही 'आरोग्य' है।

यदुक्तं—

'रोगस्तु दोष वैषम्यं दोष साम्यमरोगता'

२—जब वात, पित्त, कफ, शरीर, शरीरावयव अथवा रसादि धातुओं को दूषित करते हैं तब (व्यापार भेद से) इनको 'दोष' कहते हैं शरीर और मन बुद्ध्यादि को मलिन करने से यही वात, पित्त, कफ, मल कहलाते हैं।

यदुक्तम्—

'शरीरदूषणाद्दोषा धातवो देह धारणात्।
वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनी करणान्मलाः' ॥

३—'तत्रापि पञ्चधा'—

जैसे वायु—प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान इन नामों से एवं—प्रस्पन्दन, उद्वहन, पूरण, विवेचन और धारण इन क्रिया भेदों से पाच प्रकार का होकर शरीर को धारण करता है।

४—पित्त—पाचक, भ्राजक, रञ्जक, आलोचक और साधक, नाम भेदों से तथा—राग, पक्ति, मेधा, ऊष्मा और तेज कारक क्रिया भेदों से पाच प्रकार का होकर शरीर को धारण करता है।

५—कफ—क्लेदन, स्नेहन, रसन, अवलम्बक और तर्पक इन नामों से तथा वृद्धि, सन्धिसंश्लेषण, स्नेहन, रोपण और पूरणादि क्रिया भेदों से पञ्चधा विभक्त होकर शरीर को धारण करता है।

वायु का प्राधान्य तथा कार्य वर्णन—

पवनस्तेषु बलवान् विभागकरणान्मतः।
रजोगुणमयः सूक्ष्मः शीतो रूक्षो लघुश्चलः ॥२२॥

उन तीनों दोषों (वात, पित्त और कफ) में तथा विभाग (रसादि धातुओं को विभक्त, पृथक्करण में) करने में वायु बलवान् होता है। यह रजोगुण प्रधान होता है एवं यह सूक्ष्म (सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में गमन करने वाला). शीत (ठंडा), रूक्ष (स्नेह रहित). लघु (हलका-भार रहित) और चल (चंचल) होता है ॥२२॥

कार्य भेद से वायु का पञ्चविधत्व—

मलाशये चरेत् कोष्ठे वह्निस्थाने तथा हृदि ।
कण्ठे सर्वांग देशेषु वायुः पञ्च प्रकारतः ॥२३॥

मलाशय (पक्वाशय) में, कोष्ट में अग्निस्थान में, हृदय में, कण्ठ में और समग्र शरीर में विचरण करने के भेद से वायु पाच प्रकार का होता है ॥२३॥

वायु के पाचनाम—

अपानः स्यात् समानश्च प्राणोदानौ तथैव च ।
व्यानश्चेति समीरस्य नामान्युक्तान्यनुक्रमात् ॥२४॥

अपान, समान, प्राण, उदान, और व्यान इन नामों के भेद से क्रमानुसार वायु पाच प्रकार का होता है। अर्थात् अपानवायु मलाशय (पक्वाशय) में रहता है। पाचकाग्नि के समीप समान वायु का स्थान है यदुक्तम्— समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वदा'। प्राणवायु हृदय में रहता है। उदान वायु कण्ठ में रहता है। व्यान वायु समग्र शरीर में रहता है ॥२४॥

'शरीर में ऐसा कोई स्थान नहीं जहा वायु की स्थिति अथवा पहुच न हो तथापि उपरोक्त स्थान विभाग केवल स्थान विशेष की क्रियाओं को बतलाने के लिये किया गया है। विशेष विवरण नीचे के वक्तव्य में देखें।

वक्तव्य—

वायु की प्रधानता—

१—पित्तं पङ्गु कफः पङ्गु पङ्गवो मल धातवः ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्' ॥

२—वायु के प्रति भगवान् धन्वतरि की श्रद्धाञ्जली—

स्वयंभूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः ।
स्वातंत्र्यान्नित्य भावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च ॥
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः ।
स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूतानामेष कारणम् ॥
अव्यक्तो व्यक्त कर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः ।
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधान गुदालयः ॥
देहे विचारतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे । (सु०)

प्राणवायु—

वायुर्यो वक्त्रसंचारी स प्राणोनाम देहधृक्।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यंतः प्राणाश्चाप्यवलम्बते॥
प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान्गदान्॥

उदानवायु—

उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत्।
वाक्प्रवृत्ति प्रयत्नोर्जो वलवर्ण स्मृति क्रिय॥

व्यानवायु

व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः।
गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः॥

समानवायु—

समानोग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः।
अन्नं गृह्णाति पचति विरेचयति मुञ्चति॥

अपानवायु—

अपानोऽपानगः श्रोणिबस्तिमेढ्रोरुगोचरः।
शुक्रार्तव शकृन्मूत्र गर्भनिष्क्रमण क्रियः॥ (अष्टागहृ०)

महर्षि चरक क्या कहते हैं—

'वायुस्तंत्रयत्रंधरः'।
वायुरायुर्वलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्त्तितः॥१॥
लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथागतिः।
तथा शरीरे वातस्य,

श्री तीसटाचार्य जी क्या कहते हैं—

'चेष्टा चेतनयोस्तनौ तनुभृतां धाता तु वायुः स्मृतः'।

पित्त का विवरण—

पित्तमुष्णं द्रवं पीतं नीलं सत्त्व गुणोत्तरम्।
कटुतिक्तरसं ज्ञेयं विदग्धं चाम्लतां व्रजेत्॥२५॥

पित्त (स्पर्श और गुण में) उष्ण (गरम) होता है। द्रव (तरल) है। वर्ण में पीत (पीला) और नील (नीला) वर्ण का है। यह सत्वगुण प्रधान होता है। रस—में कटु (चरपरा) और तिक्त (कडवा) होता है। विदग्ध (दूषित) होने पर पित्त खट्टा हो जाता है॥२५॥

पित्त के स्थान और कार्य —

अग्न्याशये भवेत् पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितम् ।
त्वचिक्रान्तिकरं ज्ञेयं लेपाभ्यङ्गादि पाचकम् ॥२६॥
दश्यं यकृति यत्पित्त तद्रसं शोणितं नयेत् ।
यत्पित्तं नेत्रयुगले रूपदर्शनकारि तत् ॥२७॥
यत्पित्तं हृदये तिष्ठन्मेधाप्रज्ञाकरं च तत् ।
पाचकं भ्राजकं चैव रञ्जकालोचके तथा ॥२८॥
साधकं चेति पञ्चैव पित्तनामान्यनुक्रमात् ।

अग्न्याशय (पक्वामाशय के मध्य में) में अग्निरूप (पाचकरूप) तिल परिमाण की स्थिति में पित्त रहता है। उसको 'पाचक' पित्त कहते हैं। यह चतुर्विध आहार को पचाता है। इस का वर्णन इस प्रकार भी किया जाता है—

स्थूल कायेषु सत्वेषु यवमात्रं प्रमाणत ।
ह्रस्वमात्रेषु सत्वेषु तिलमात्रं प्रमाणत ॥
कृमिकीट पतङ्गेषु वालमात्रं हि तिष्ठति ।

त्वचा (चमड़ी) में जो पित्त रहता है वह त्वचा में कान्ति (प्रभा) की उत्पत्ति करता है और शरीर की वाह्य त्वचा पर लगाये हुए लेप और अभ्यङ्ग को पचाता (शोषण करता) है। इसको 'भ्राजक' पित्त कहते हैं।

जो पित्त यकृत् (जिगर) में रहता है वह रस को रग करके रुधिर बनाता है। इसको 'रञ्जक' (रगनेवाला) पित्त कहते हैं।

जो पित्त दोनों नेत्रों में रहकर (कृष्ण पीतादि) रूपों का ज्ञान देता है उसको 'आलोचक' (दिखानेवाला) पित्त कहते हैं।

जो पित्त हृदय में रहकर मेधा (धारणाशक्ति) और प्रज्ञा (वुद्धि) को देता है वह 'साधक' पित्त होता है। इस प्रकार नाम और कर्म भेद से पित्त पाच प्रकार का होता है ॥२६—२८॥

वक्तव्य—

यदुक्त वाग्भटे

'नाभिरामाशय· स्वेदो लसीका रुधिरं रस· ।
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्रविशेषत·' ॥

पाचक पित्त—

'पित्तं पञ्चात्मक तत्र पक्वामाशयमध्यगम् ।
पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात् ॥
त्यक्तद्रवत्व पाकादि कर्मणाऽनल शब्दितम् ।
पचत्यन्न विभजते सारकिट्टौ पृथक तथा ॥

तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचक नाम तत्स्मृतम् ॥

रञ्जकपित्त—

'आमाशयाश्रयंपित्तं रजक रसरञ्जनात्'।

साधकपित्त—

'बुद्धिमेधाऽभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थ साधनात्।
साधक हृद्गत पित्तं' ॥

आलोचकपित्त—

'रूपालोचनत स्मृतम्।
दृक्स्थमालोचकं' ॥

भ्राजकपित्त—

त्वक्स्थं भ्राजक भ्राजनात्त्वचः'।

और यही पित्त समग्र शरीर में अग्नि (पाचक) का काम करता हुआ चतुर्विध आहार को पचाता है, यही अग्नि है, यही ऊष्मा है और यही शरीर को उत्तप्त रखने का कारण है।

श्री तीसटाचार्य जी कहते हैं कि—

'यत्तापं विदधात्यविरतं देहे हि पित्तं तु तत्'।

कफ का विवरण—

कफः स्निग्धो गुरुः श्वेतः पिच्छलः शीतलस्तथा ॥२९॥
तमोगुणाधिकः स्वादुर्विदग्धो लवणो भवेत्।

कफ चिकना, भारी, सफेद, पिच्छिल (लेसदार) तथा शीतल (ठंडा) होता है। यह तमोगुण प्रधान और स्वाद में मीठा होता है। विदग्ध (अम्लपाकी) होने पर इसका स्वाद नमकीन हो जाता है ॥२९॥

कफ के स्थान, नाम और कर्म—

कफश्चामाशये मूर्ध्नि कण्ठे हृदि च सन्धिषु ॥३०॥
तिष्ठन्करोति देहेषु स्थैर्यं सर्वाङ्ग पाटवम्।
क्लेदनः स्नेहनश्चैव रसनश्चावलम्बनः ॥३१॥
संश्लेषणश्चेति नामानि कफस्योक्तान्यनुक्रमात्।

कफ—आमाशय में, शिरमें (मस्तिष्क में), हृदय में और सन्धियों (जोड़ों) में रहकर शरीर की स्थिरता और पुष्टि को करता है।

१—आमाशय में रहकर जो कफ अन्न को पतला करता है उसे 'क्लेदन' कहते हैं।

२--मूर्ध्नि—(मस्तिष्क) में जो कफ रहता है वह ज्ञानेन्द्रियों को तृप्त और स्निग्ध करता है इस लिये उसको 'स्नेहन' कफ कहते हैं ।

३—कण्ठ में रहकर जो कफ कण्ठ मार्ग को कोमल और मुलायम रखता है तथा—जिह्वा की रस ग्रन्थियों को कार्यशील बनाता है और रस ज्ञानकी शक्ति उत्पन्न करता है उसको 'रसन' कफ कहते हैं ।

४—हृदय में (समीपत्वेन उर स्थित) रहने वाला कफ अपनी स्निग्धता और शीतलता से सर्वदा हृदय की रक्षा करता है अत उसको अवलम्बन कहते हैं ।

५—सन्धियों में (जोडों) जो कफ रहता है, वह सन्धियों को सर्वदा चिकना रखकर उन्हें कार्य क्षम बनाता है उसको 'सश्लेषक' कफ कहते हैं । इस प्रकार कफ के पाच नाम यथाक्रम जानने ॥३०—३१॥

वक्तव्य—'विदग्धस्तु लवणो भवेत्'

यदुक्तम्—

प्रकृतिस्थोऽविदग्धश्चाप्रदुष्टो मधुर कफ· ।
विदग्धो विकृतश्च स्यात् प्रदुष्टो लवणस्तथा ॥

क्लेदन कफ—

'स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणा श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणानुग्रह करोति' ।

अवलम्बन कफ—

'उरःस्थस्त्रिकसंधारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति' ।

रसन कफ—

'जिह्वामूल कण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात्सम्यग्रसज्ञाने वर्तते' ।

स्नेहन कफ—

'शिरस्थ· स्नेहसंतर्पणाऽधिकृतत्वादिंद्रियाणामात्मवीर्य्येणानुग्रहं करोति' ।

सश्लेषण कफ—

'सन्धिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसन्धि संश्लेषणात्सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति' ।

श्री तीसटाचार्य्य जी कहते हैं—

'यश्चाश्लिष्य वपु सदा रसयति प्रीणाति सोऽयं कफः' ।

स्नायु के कर्म—

स्नायवो बन्धनं प्रोक्ता देहे मांसास्थिमेदसाम् ॥३२॥

शरीर में मास, अस्थि और मेदो भाग को बन्धन (बान्धने–सुदृढ) करने के लिये स्नायु (पट्ठे) प्रयुक्त होते हैं ॥३२॥

वक्तव्य—समग्र शरीर में ९०० स्नायुओं का वर्णन किया गया है, यथा—

शाखाओं में (दोनों बाहू, दोनों टांगें) ६००,
कोष्ठ—(मध्य शरीर) में—२३०,
ग्रीवा से ऊपर और शिरो प्रदेश में—७०, ९००

स्नायुओं के भेद—

'स्नायुश्चतुर्विधा विद्यात्तास्तु सर्वा निबोध मे
प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथुलाः शुषिरास्तथा ।।सु० शा०।।

स्थान—

प्रतानवत्यः शाखासु सर्वा सन्धिषु चाप्यथ ।
वृत्तास्तु कण्डराः सर्वा विज्ञेया कुशलैरिह ॥
आमपक्वाशयान्तेषु वस्तौ च शुषिराः खलु ।
पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ ॥

स्नायुओं की उपयोगिता—

नह्यस्थीनि न वा पेश्यो न शिरा न च सन्धयः ।
व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणम् ॥

स्नायुओं के लक्षण और कर्म—

'स्नायवः सूत्रवत्सूक्ष्माः शुभ्रा निखिल देहगाः ।
कारणानि चेतनानां सदाचैतन्यसाधने ॥
सुखदुःखाववोधे च प्रवृत्तौ च निवर्तने ।
रूप गन्ध रस स्पर्श शब्द ज्ञाने च हेतव. ॥
निखिलास्ताश्च सजाता मस्तिष्कात्पृष्ठमज्जतः ।
शिरोमण्डलमेवाद्याः शेषाः शेषाङ्गमाश्रिताः ॥
तेषु तेषु च भावेषु देहमासेषु वस्नसा. ।
कम्पमानाः कम्पयन्ते मस्तुलुंगं च तत्क्षणात् ॥
तस्य प्रकंपभेदेन ज्ञान भेदो भवेद्बहु ।
अतो मस्तिष्कमेवैको ज्ञानहेतुः प्रकीर्तितः ॥
स्नायुनाशो भवेद्यस्मिन्नंगे तत्स्यान्मृतोपमम् ।
पक्षाघातादि रोगेषु कारणं तद्विधं मतम् ॥

सन्धि के लक्षण—

सन्धयश्चाङ्गसन्धानाद्देहे प्रोक्ताः कफान्विताः ।

शरीर के एक अंग अथवा अवयव विशेष को दूसरे अंग अथवा अवयव

विशेष के साथ सन्धान (जोडना) करने को सन्धि (जोड) कहते हैं । शरीर की समस्त सन्धिया कफ (चिकना पदार्थ) युक्त होती हैं ।

वक्तव्य—समग्र शरीर में २१० सन्धिया होती हैं ।

यथा—	
हाथों और पाओं में	६८
कोष्ठ (मध्य शरीर) में	५९
ग्रीवा से ऊपर (शिरो भाग) में	८३
	२१०

सन्धियों के दो प्रकार—

'शाखासु हन्वो· कट्यां च चेष्टावंतस्तु संधय· ।
शेपास्तु सन्धय· सर्वे विज्ञेया हि स्थिराबुधै·' ॥

सन्धियों के आठ नाम—

१—कोर, २—उदूखल, ३—सामुद्ग, ४—प्रतर, ५—तुन्नसेवनी, ६—वायसतुण्ड, ७—मण्डल, ८—शंखावर्त ।

अस्थियों का वर्णन—

आधारश्च तथा सारः कायेऽस्थीनि वुधा जगुः ॥३३॥

शरीर शास्त्र को जानने वाले पण्डित अस्थियों (हड्डियों) को शरीर का आधार और सार कहते हैं ॥३३॥

वक्तव्य – समग्र शरीर में ३०० हड्डिया होती हैं । यथा—

दोनों हाथ पाओं में	१२०
शरीर के मध्य भाग में	११७
ग्रीवा के ऊपर के भाग में	६३
	३००

अस्थियों के पाच प्रकार—

१—कपाल, २—रुचक, ३—तरुण, ४—वलय, ५—नलक ।

अभ्यन्तरगतै सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहा ।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिना ध्रुवम् ॥
तस्माच्चिरविनष्टेपु त्वङ्मांसेपु शरीरिणाम् ।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ॥
मांसान्यत्र निवद्धानि शिराभि स्नायुभिस्तथा ।
अस्थीन्यालम्बन कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥

मर्मों का वर्णन—

मर्माणि जीवाधाराणि प्रायेण मुनयो जगुः ।

देह तत्व को जानने वाले मुनि लोग शरीर के मर्मों को जीवन का आधार मानते हैं ।

वक्तव्य— समग्र शरीर में १०७ मर्म स्थान हैं । यह पाच प्रकार के होते हैं । यथा—

१—मास मर्म	११
२—शिरा मर्म	४१
३—स्नायु मर्म	२७
४—अस्थि मर्म	८
५—सन्धि मर्म	२०
	१०७

एवं- शाखा चतुष्टय में	४४
मध्य भाग में	२६
ग्रीवा से ऊपर	३७
	१०७

कार्य भेद से मर्मों का पञ्चविधत्व—

१—सद्य प्राण हर,	१६ मर्म हैं ।
२—कालांतर प्राण हर,	३३ ,,
३—विशल्यघ्न	३ ,,
४—वैकल्य कर	४४ ,,
५—रुजाकर	८ ,,
	१०७

शिराओं का वर्णन

सन्धिबन्धन कारिण्यो दोषधातुवहाः शिराः ॥२४॥

शिरायें (मोटी नसें) सन्धियों के बांधने वाली तथा शरीर में वातादि दोषों को तथा रसादि धातुओं को वहन करने वाली होती हैं ॥२४॥

वक्तव्य—समग्र शरीर में ७०० शिराएं होती हैं ।

अवेध्य शिराएं—

शिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान् ।
षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुषष्टिं च मूर्ध्नि ॥

शाखासु षोडशशिरा कोष्ठे द्वाविंशदेव तु ।
पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्ध्वमवेध्या परिकीर्तिता ' ॥

शिराओं का विशेष निरूपण—

मेदस स्नेहमादाय शिरा स्नायुत्वमाप्नुयात् ।
शिराणां च मृदु· पाक' स्नायूना च तत· खर ' ॥
'सन्धिबन्धन कारिण्यो दोष धातुवहा शिरा ।
नाभ्यां सर्वानिबद्धास्ता· प्रतन्वन्ति समंतत ॥
शरीरं सफल चेतत् शिराभि· पोष्यते सदा ।
प्रणालिभिरिवारामकुल्याभि· क्षेत्रधान्यवत् ॥
प्रसारणाकुञ्चनाभि· क्रियाभिः सततं तनौ ।
शिराण्येवोपकुर्वन्ति ता· स्यु सप्तशतानि तु ॥
यथाद्रुमदले शाखा दृश्यन्ते प्रतता· शिरा· ।
तथैव देहिनां देहे वर्तन्ते सकले शिराः ॥ (सरणात् सिरा)

धमनियों के कार्य—

धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ ।

रस वहन करने वाली नाडिया शरीर में वायु को धमन (धुमाती) कर हैं इस लिये उन्हें धमनी कहते हैं ।

वक्तव्य—'धमनात् धमन्य इति' ।

धमनियों की सख्या और स्थिति—

'धमन्यो नाभितो याताश्चतुर्विंशति संख्यया ।
दशोर्ध्वगा दशाधोगा शेषास्तिर्यग्वरा स्मृताः ॥
यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु भवन्ति हि ।
धमनीना तथा खानि रसो यैरन्ततश्चरेत् ॥

पेशी के कार्य—

मांस पेश्यो बलाय स्युरवष्टंभाय देहिनाम् ॥३५॥

देहधारियों के देह में मास पेशियों (मास की गिल्टियों) का कार्य ब की स्थिरता और शरीर को सीधा रखना होता है ॥३५॥

पुरुषों के शरीर में ५०० मास पेशियां होती हैं । यथा—

शाखाचतुष्टय में	४००
मध्य शरीर में	६६
ग्रीवा से ऊपर	३४
	५००

स्त्रियों के शरीर में २० मांस पेशियां अधिक होती हैं । यथा—

दोनों स्तनों में	१०
योनि गह्वर में	४
गर्भ द्वार के छिद्रपर	३
गर्भ द्वार के अन्दर	३
	२०
	५००
	५२०

कण्डरा के कार्य—

प्रसारणाकुञ्चनयोरङ्गानां कण्डरा मताः ।

कण्डरा (बृहत्स्नायु), शरीर के अंग प्रत्यगों के आकुंचन (सिकोडने) और प्रसारण (फैलाने) के कार्य को करती हैं ।

वक्तव्य—समस्त शरीर में १६ कण्डराए होती हैं—

हाथ और पाओं में	८
पृष्ठ में	४
ग्रीवा में	४
	१६

रन्ध्र—छिद्रों का वर्णन—

नासानयनकर्णानां द्वे द्वे रन्ध्रे प्रकीर्तिते ॥३६॥
मेहनापानवक्त्राणामेकैकं रन्ध्रमुच्यते ।
दशमं मस्तके प्रोक्तं रन्ध्राणीति नृणां विदुः ॥३७॥
स्त्रीणां त्रीण्यधिकानि स्युः स्तनयोर्गर्भवर्त्मनः ।
सूक्ष्मच्छिद्राणि चान्यानि मतानि त्वचि जन्मिनाम् ॥३८॥

नाक, नेत्र, कान इन में दो २ छेद होते हैं । लिग, गुदा और मुख इन में एक २ छेद होता है । इस प्रकार यह ९ छिद्र (देहद्वार) होते हैं और दशम छिद्र (दशमद्वार) शिर में होता है (इसी को ब्रह्मरन्ध्र अथवा ब्रह्मद्वार कहते हैं । यह शिखा के नीचे होता है) । इस प्रकार पुरुषों के शरीर में दश छेद होते हैं । स्त्रियों के शरीर में एक गर्भाशय और दो दुग्धाशय यह तीन छेद अधिक होते हैं । एवं इन को छोड़कर शरीर में और त्वचा में अनेक सूक्ष्म छेद होते हैं ।।३६-३८।।

फुफ्फुस, प्लीहा और यकृत्—

तद्वामे फुफ्फुसप्लीहौ दक्षिणाङ्गे यकृन्मतम् ।
उदानवायोराधारः फुफ्फुसः प्रोच्यते बुधैः ॥३९॥
रक्तवाहिशिरामूलं प्लीहा ख्याता महर्षिभिः ।
यकृद्रञ्जकपित्तस्य स्थानं रक्तस्य संश्रयः ॥४०॥

हृदय के बाईं ओर फुफ्फुस (फेफडे) और प्लीहा (तिल्ली) होती है। हृदय के दक्षिण की ओर यकृत् (जिगर अथवा पित्ताशय) होता है। फेफडे उदान (कण्ठस्थ) वायु का आधार (कार्य संस्थान) होते हैं (इन्हीं से श्वासक्रिया होती है) और रक्तवाही शिराओं का मूलस्थान प्लीहा है तथा यकृत्, रंजकपित्त और रुधिर का प्रधान केन्द्र है ॥३९–४०॥

वक्तव्य—फुफ्फुस दो होते हैं वाम और दक्षिण। वर्ण में यह रक्तनील के से होते हैं। युवावस्था में रक्तकृष्णवर्ण के और वृद्धावस्था में कृष्णप्रभ हो जाते हैं। वाम फुफ्फुस की अपेक्षा दक्षिण फुफ्फुस बडा होता है। दक्षिण फुफ्फुस का भार ११ छटाक और वाम का भार १० छटाक होता है। पुरुषों के फेफडों की अपेक्षा स्त्रियों के फेफडे भार में हलके होते हैं। इन के भीतर छोटे २ कोष होते हैं जो बाहर से खींची हुई वायु को अपने भीतर समा लेते हैं और प्रत्येक श्वास में फेफडे का प्रत्येक कोष भर जाता है और इसी वायु द्वारा प्राप्त 'प्राणतत्व' (विष्णुपदामृत) रक्त में मिश्रित होकर मनुष्य को जीवित और रक्त को शुद्ध करता है और प्रश्वास द्वारा निसृत वायु रक्त में से अशुद्ध पदार्थ (कार्बोनिक गैस) को अपने साथ लाकर बाहर की वायु में मिला देती है। यह दोनों ओर के फेफड़े एक मिल्ली में लिपटे हुए होते हैं।

प्लीहा—यह एक चपटी आकार की ग्रन्थि है। वर्ण में रक्तकृष्णप्रभ होती है और आर्द्र रहनेवाली भिल्ली से लिपटी हुई होती है। वाम भाग की नीचे की पसलियों के नीचे इस का स्थान है। युवावस्था में इस की लम्बाई ५ इंच और चौड़ाई ३–४ इंच होती है। मोटाई १ या १॥ इञ्च होती है। इस का भार २॥ या ३ छटाक होता है। स्वस्थावस्था में पसलियों के नीचे इस की प्रतीति नहीं होती रुग्णावस्था में यह बढकर नाभि से नीचे तक चली जाती है। इसका कार्य भोजन के पचाने में सहायता करना, रक्त के श्वेत कणों को उत्पन्न करना और रक्तकणों की वृद्धि करना तथा रक्त के निर्जीव रक्तकणों को नष्ट करना है।

यकृत्—यह भी एक ग्रन्थि है और शरीर की समग्र कार्यशील ग्रन्थियों में सब से बडी ग्रन्थि है। यह भी द्विधा विभक्त होता है दक्षिण भाग की अपेक्षा

वाम भाग का यकृत् छोटा होता है। वर्ण में यह बैंजनी रंग का होता है। इसका दक्षिण भाग आमाशय के ऊपर होता है और वाम भाग बाईं ओर की पसलियों के नीचे छुपा रहता है।

स्वस्थावस्था में इसका भार ३–४ पौंड होता है। इसकी लम्बाई १०–१२ इञ्च और चौडाई ६–७ इञ्च होती है।

इस में से पाचक पित्त नि सृत होकर आमाशय से नीचे उतरते हुए भोजन के साथ मिलता है। इसके अनेक रोग होते हैं जिनमें से एक रोग वह है जिसमें यह संकुचित हो जाता है। इस में पथरी, शोथ और विद्रधी तथा व्रणादि अनेक व्याधियां उत्पन्न होती हैं। प्रधान कार्य इसका पित्त उत्पन्न करना होता है।

तिल (क्लोम)—

जलवाहिशिरामूलं तृष्णाच्छादनकं तिलम्।

जल वहन करने वाली शिराओं का मूल तिल (क्लोम) होता है। यह क्लोम तृषा उत्पन्न करने का साधनभूत है।

वक्तव्य—पाश्चात्य चिकित्सक क्लोम को (Pancreas) 'पैन्कयाँज' कहते हैं। यूनान के वैद्य इसको 'लबलबा' कहते हैं।

वर्णन—यह एक ग्रन्थि है जो कुत्ते की जिह्वा के आकार प्रकार की होती है। इसकी लम्बाई ६ इंच, चौडाई—१॥ इंच, मोटाई—१। इच और भार १–३ छटांक तक होता है। इसका आश्रयस्थान—नाभि के ३–४ इंच ऊपर आमाशय के पीछे पृष्ठवंशीय (कमर के) पहले और दूसरे कशेरुका के सामने माना जाता है। इसके बाईं ओर से एक नलिका निकल कर इसके दाहिने भाग से होती हुई आमाशय से अन्न को लाने वाली नाली में वही खुलती है जहा पित्ताशय की नाली खुलती है। (द्वादशागुलीय नलिका में)। इससे निकलने वाला पाचकरस फेनिल और क्षारीय होता है इसका प्रधान कार्य 'नशास्ता' 'घृत' 'तैल' 'वसा' श्वेतसार (अण्डे की सफेदी) और पिच्छिल अन्न और रसों को पचाना होता है।

वृक्कों का वर्णन—

वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः ॥४१॥

वृक्क (गुर्दे) उदरस्थ मेदा की पुष्टि करने वाले होते हैं ॥४१॥

वक्तव्य—पाश्चात्य मतानुसार वृक्कों को (Kidnies) कहते हैं।

वर्णन—गुर्दे दो होते हैं। एक दाई ओर दूसरा बाईं ओर। प्रत्येक वृक्क ११ वी पर्शुका के नीचे होता है। यह उदर की पिछली दीवार में पीठ के साथ लगे

हुए रहते हैं परन्तु वामपार्श्वस्थ वृक्क कुछ ऊंचा और दक्षिण भागस्थ कुछ नीचे होता है। प्रत्येक वृक्क ४ इंच लम्बा, २ इंच चौडा और २-३ छटाक भारी होता है। स्त्रियों के वृक्क पुरुषों की अपेक्षा भार में आधी छटाक कम होते हैं। दोनों वृक्क आकृति में 'राजमाष' के सदृश होते हैं। दोनों वृक्क आर्द्रझिल्ली से आवृत रहते हैं। इनके अन्दर कुछ कुछ उभार होते हैं इन्हीं उभारों के भीतर मूत्र को शुद्ध और विसर्जन करने वाली सूक्ष्म सूक्ष्म नालिया होती हैं। यह नाड़ियां (खून से) मूत्र उत्पन्न करके मूत्र वहनियों द्वारा मूत्राशय में मूत्र को भेजती रहती हैं। वहां मूत्र संचित होता रहता है।

वृषण वर्णन—

वीर्यवाहिशिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ।

वीर्य (शुक्र) वाही शिराओं के प्रधान केन्द्र तथा पौरुष (मैथुन) शक्ति को बढाने वाले दो वृषण (अण्डकोष) होते हैं।

वक्तव्य—वृषण दो होते हैं। इन्हें 'Testicles' कहते हैं। इन्हें शुक्र उत्पन्न करने वाली ग्रन्थियां माना जाता है और यह एक सौत्रिक तन्तु से बंधे हुए फोतों के गोलक में लटकते रहते हैं। इनके प्रत्येक भाग पर ३ आवरण होते हैं। यह लम्बाई में १॥ इन्च, चौडाई में १ इंच, मोटाई मे ॥ इंच होते हैं। भार में प्रत्येक लगभग ३।४ तोले होता है। इनके पिछले (शरीर से सम्बन्धित) भाग में प्राप्त हुआ शुक्र परिपक्वता प्राप्त करता है। प्रत्येक वृषणग्रन्थि में लगभग ४०० के करीब छोटे २ भाग होते हैं और इन्हीं भागों में शुक्र वाहिनियों के सूक्ष्म तंतुमुख आकर खुलते हैं। इन्हीं द्वारा शुक्र यहां पहुंचकर पूर्ण पक्व होकर मैथुन शक्ति की स्थिरता उत्पन्न करता है। वृद्धावस्था में इन्हीं के निर्बल हो जाने से मनुष्य पौरुष शक्ति विहीन हो जाता है।

लिङ्गवर्णन—

गर्भाधानकरं लिङ्गमयनं वीर्यमूत्रयोः ॥४२॥

लिंग (शिश्नेन्द्रिय) गर्भ कारक तथा वीर्य (शुक्र) और मूत्र के निकलने का मार्ग होता है ॥४२॥

वक्तव्य—

उक्तं च—

द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्ति द्वारस्य चाप्यधः ।
मूत्रस्रोत पथः शुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥

उक्तं हि सुश्रुते—

ग्रीवाहृदय निबंधनीनामधोभाग गतानां कण्डराणां मेढ्रं ।

हृदय के लक्षण—

हृदयं चेतनास्थानमोजसश्चाश्रयो मतम् ।

चेतना (ज्ञान) और ओज (शुक्रादि धातुओं के प्रसादात्मकतेज) का स्थान हृदय होता है ।

वक्तव्य—हृदय मुकुलित कमल पुष्प की आकृति का माना जाता है । पाश्चात्य चिकित्सक इसको 'Heart' और यूनानी इसे 'क़लब' कहते हैं । रक्त के प्रसाद से इसकी उत्पत्ति होती है । वर्ण में यह नीलिमामिश्रितरक्तता लिये हुए होता है ।

इसके बाहर थैली के आकार की एक झिल्ली होती है इसी में यह रहता है । दोनों फेफड़ों के मध्य में इसकी स्थिति होती है । भीतर से यह चार कोष्ठों में विभक्त होता है । दो कोष्ठों में शुद्ध रुधिर होता है और दो कोष्ठों में शरीर परिभ्रमण से अशुद्ध होकर रुधिर लौटता है ।

युवावस्था में इसका भार पाच छ छटाक होता है । लम्बाई ५ इंच, चौड़ाई ३॥ इंच, मोटाई २॥ इच होती है । स्त्रियों का हृदय पुरुषों की अपेक्षा भार में कम होता है । प्रसारण और आकुंचन यह दो गतियां निरंतर इसमें होती रहती हैं । इन्ही से रक्त शरीर में जाता है और इन्ही के प्रभाव से पुन लौट कर हृदय में पहुंचता है । यही क्रम आदि से अन्त तक इसका जारी रहता है । जब इस क्रम का अवरोध होता है तब मृत्यु होती है । तब ही ओज और चेतना का सर्वथा नाश होता है ।

शरीर पोषक विधान—

शिरा धमन्यो नाभिस्थाः सर्वा व्याप्य स्थितास्तनुम् ॥४३॥
पुष्णन्ति चानिशं वायोः संयोगात्सर्वधातुभिः ।

नाभिस्थान से प्रवृत्त होकर समग्र शरीर में व्याप्त और स्थिर रहने वाली शिरा और धमनिया वायु की सहायता से रस रक्तादि धातुओं को समग्र शरीर में लेजाकर दिन रात (चौबीसों घंटे) शरीर का पालन और पोषण करती हैं ॥४३॥

वक्तव्य—

शिरा और धमनियों की शरीर में स्थिति—

व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः शिराः ।
प्रतानां पद्मिनीकन्दाद्बिसादीनां यथा जलम् ।

अर्थात् रसादि धातुओं के शिरा आदि के द्वारा शरीर में भ्रमण करने पर स्थान २ पर उनका 'सैलों' द्वारा आवश्यक भाग चूस लिया जाता है । जिससे शरीर के सञ्चय प्राप्त तत्वों की पूर्ति और पुष्टि तथा वृद्धि होती रहती है। यही भाव उपरोक्त श्लोक द्वारा आचार्य ने दर्शाया है ।

प्राणवायु का कौतुक—

नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् ॥४४॥
कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ।
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ॥४५॥
प्रीणयन्देहमखिलं जीवं च जठरानलम् ।

नाभिस्थ प्राणवायु हृदय का स्पर्श करता हुआ विष्णुपदामृत (आकाशीय शुद्ध वायु) पीने की इच्छा से कण्ठ मार्ग से बाहर जाता है और बाहर के अम्बर पीयूष (आकाशीय शुद्धवायु) को पीकर पुन वेगपूर्वक तत्क्षण (उसी मार्ग से) भीतर लौटकर हृत्कमल का स्पर्श करता हुआ, समग्र शरीर, जीवात्मा और जठराग्नि का प्रीणन (पुष्ट अथवा सन्तुष्ट) करता है ॥४४-४५॥

वक्तव्य—आचार्य का यह 'कूट' थोडासा वैषम्य उत्पन्न करता है कारण कि सुश्रुत ने 'हृदिप्राणो' कहकर प्राणवायु की स्थिति हृदय में दर्शाई है और ऊपर के श्लोक में 'नाभिस्थ' प्राणपवन ' कहा गया है अब 'प्राणवायु' का स्थान हृदय है या 'नाभि' यह प्रश्न उपस्थित होता है ।

समाधान— प्रथम युक्ति— यदुक्तम्—

१—प्राणा अग्निसोमादय., नाभिस्थ इति कारणात् नाभौस्थित· सकलशरीर व्यापकत्वात् , एतेन नाभ्यावृतशिरास्वपिस्थित इति भावः ।

यदुक्तं—नाभिस्था प्राणिना प्राणा प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता ।
शिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकै· ॥

२—ब्रह्मरन्ध्रान्नाभिचक्रं द्वादशारमवस्थितम् ।
लूनेव तन्तुजालस्था तत्रजीवो भ्रमत्ययम् ॥
सुषुम्नया ब्रह्मरन्ध्रमारोहत्यवरोहति ।
जीव· प्राण समारूढो रञ्जकः स्फटिको यथा ॥

३—तेषामुष्णतमः प्राणो नाभिकन्दादधः स्थित ।
चरत्यास्ये नासिकायां नाभौ हृदयपङ्कजे ।
शब्दोच्चारण निश्वासोच्छ्वासकासादिकारणम् ॥

४—यह सब कुछ होते हुए भी भगवान् धन्वतरि प्रदर्शित प्राणवायु का स्थान हृदय ही रहेगा । अत· ऐसी परिस्थिति में समीपत्वेन आचार्य ने नाभि का ग्रहण किया है अथवा गाढ श्वासोच्छ्वास में नाभिस्थ वायु का भी आकर्षण होता है । इस मे भी प्राणवायु का प्रसार नाभि तक हो सकता है ।

मौलिक भावों की दृष्टि से ऊपर का श्लोक हमें यह सकेत करता है कि ईश्वरीय लीला से जो शक्ति प्राणिमात्र को श्वासोच्छ्वास में सहायता देती है

उस का नाम प्राणवायु है। जब मनुष्य श्वास खैंचता है तब अन्दर प्रविष्ट हुआ वायु रक्त की अशुद्धता से विषाक्त होकर अपने साथ विष प्रभाव को लाकर बाहर की वायु में छोड़ देता है और उसी चेष्टा से जितनी वायु वह बाहर छोडता है उतना ही विष्णुपद (आकाश) का अमृत (वायु) नासामार्ग से आकर्षण करके भीतर लौटता है और इस अम्बरपीयूष 'ऑक्सीजन' (Oxygen) के प्रभाव से हृदय को 'ताजापन' एवं शरीर, आत्मा और जठरानल की प्रसन्नता का कारण बनता है। अर्थात् मनुष्य का जीवन इसी पर निर्भर है कि वह अपने भीतर से विषाक्त वायु को बाहर निकाले और उस के स्थान पर शुद्ध प्राणतत्व Oxygen अपने भीतर खैंचता रहे। यही सकेत आचार्य ने ऊपर के श्लोक से प्रदर्शन किया है।

आयु और मृत्यु के लक्षण

शरीरप्राणयोरेवं संयोगादायुरुच्यते ॥४६॥
कालेन तद्वियोगाच्च पञ्चत्वं कथ्यते बुधैः ।

शरीर और प्राणों के सयोग को आयु (जीवन) कहते हैं और कालचक्र के अनुसार (अथवा नियतायु समाप्त होने पर) जब इनका वियोग (पृथक्त्व) होता है उस अवस्था को पञ्चत्व (मृत्यु) कहते हैं ॥४६॥

वैद्य के लिये उपदेश—

न जन्तुः कश्चिदमरः पृथिव्यां जायते क्वचित् ॥४७॥
अतो मृत्युरवार्यः स्यात् किन्तु रोगान्निवारयेत् ।

समस्त भूमण्डल पर कही भी ऐसा कोई प्राणी (देहधारी) नही जो अमर (मृत्युरहित) हो। अत. अनिवार्य मृत्यु को निवारण करने की चेष्टा न करके रोगो (और उन से होनेवाले दु खों) को निवारण (दूर) करने की चेष्टा करे। (वैद्य) ॥४७॥

वक्तव्य—नियमानुसार मृत्यु अनिवार्य है कारण कि जिस का सयोग है उसका वियोग भी है सयोग आयु और वियोग ही मृत्यु कहलाती है।

यदुक्तम्—

व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः ।
एतद्वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः ॥

रोग निवारण न करने का फल—

याप्यत्वं याति साध्यश्च याप्यो गच्छत्यसाध्यताम् ॥४८॥
जीवितं हन्त्यसाध्यस्तु नरस्याप्रतिकारिणः ।

जो मनुष्य रोगी होने पर रोगों की शांति के लिये चिकित्सा नही करते उनके साध्य (शीघ्र दूर होने वाले) रोग याप्य (कष्टसाध्य) और याप्य रोग

असाध्य (ला इलाज) हो जाते हैं और रोग असाध्य होने पर जीवन का नाश कर डालते हैं। अत रोग निवृत्त्यर्थ शीघ्र ही चिकित्सा करनी चाहिये ॥४८॥

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में नीति के यह शब्द स्मरण रखने योग्य हैं—

'जातमात्र चिकित्स्यास्तु नोपेक्ष्योऽल्पतया गद ।

मनुष्य का कर्तव्य—

धमार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः ॥४९॥
अतो रुग्भ्यस्तनुं रक्षेन्नरः कर्मविपाकवित् ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करने के लिये सर्वदा स्वस्थ (रोग रहित) शरीर की आवश्यकता है अत शुभाशुभ कर्मों के फलों को जानता हुआ मनुष्य सर्वदा रोगों से शरीर की रक्षा करे ॥४९॥

दोषों की समता और विषमता का परिणाम—

धातवस्तन्मला दोषा नाशयन्त्यसमास्तनुम् ॥५०॥
समाः सुखाय विज्ञेया बलायोपचयाय च ।

धातु (रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र) और रसादि धातुओं के मल (इसी अध्याय के श्लोक १३-१५ तक वर्णित), दोष (वात, पित्त, कफ) यह शरीर में असम (हीनाधिक) हों तो शरीर को नष्ट (अथवा रोगी) करते हैं एव यही रसादि धातु और दोष शरीर में सममात्रा में हों तो बल और शरीर की वृद्धि के कारण होते हैं ॥५०॥

वक्तव्य—शरीर में सम रसादि धातुओं का परिमाणयदुक्त वाग्भटे—

य प्रसादपरोऽन्नस्य पर जीर्णस्य सर्वश ।
सरसोऽञ्जलयस्तस्य नव देहेषु देहिनः ॥
रक्तस्याञ्जलयस्त्वष्टौ शकृत सप्त सर्वश ।
पित्तस्याञ्जलय पञ्च षट् कफस्य प्रचक्षते ॥
मूत्रस्य विद्याच्चत्वारो वसायाश्चाञ्जलित्रयम् ।
द्वावञ्जली मेदसस्तु मज्ज एकाञ्जलिर्मत ॥
शुक्रस्यार्धाञ्जलिर्ज्ञेयो मस्तिष्कस्योजसस्तथा ।
चात्वारोऽञ्जलयः स्त्रीणा रजस प्रकृतिस्थितिः ॥
द्वावञ्जली प्रसूताया स्तन्यस्यापि हि योषितः ।
प्रमाणमेतद्धातूनामदुष्टानामुदाहृतम् ॥
हीना स्युस्तत्प्रमाणात्तु प्रवृद्धश्चापि धातव ।
योजयन्ति विकारेषु दोषा वृद्धिक्षयप्रदा ॥

अन्यच्च—रोगस्तु दोषवैषम्य दोषसाम्यमरोगता ।
विकृता प्रकृता देह घ्नन्ति ते वर्धयन्ति च ॥

चरकेऽप्युक्तम्—

'विकरो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते ।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च' ॥

अथ सृष्टिक्रम.।

अब सृष्टि के उत्पत्ति क्रम का वर्णन करते हैं—

जगद्योनेरनिच्छस्य चिदानन्दैकरूपिणः ॥५१॥
पुंसोऽस्ति प्रकृतिर्नित्या प्रतिच्छायेव भास्वतः ।

सृष्टि की आदि मूलकारण 'प्रकृति' नित्य है अर्थात् सदा से चली आई है और किसी से वनी नहीं । जैसे भगवान् सूर्य की प्रतिच्छाया नित्यरूप से सदा उसके साथ रहती है, वैसे ही संसारोत्पत्ति की मूलयोनि (निमित्त कारण) इच्छा रहित, चेतनस्वरुप, आनन्दरूप उस परम पुरुष (परमात्मा) की प्रकृति भी नित्य है ॥५१॥

वक्तव्य—सृष्टिक्रम के सम्बन्ध में आयुर्वेद का वही मत है जो महर्षि कपिल के प्रतिपादित 'सांख्यदर्शन' का सिद्धान्त है । साख्यदर्शन में सृष्टि को दो भागों में विभक्त किया गया है । १—चेतन और २—अचेतन । इस में चेतन तो 'आत्मा' या 'पुरुष' है और अचेतन 'प्रधान' 'प्रकृति' या 'मूल प्रकृति' है । आत्मा के दो भेद हैं 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' । प्रधान या प्रकृति के आगे विकार हैं जो २४ तत्वों के नाम से प्रसिद्ध हैं । इन्ही का वर्णन आगे है । साख्य मत में सुख, दु ख, मोह, या सत्व, रज, तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं । इसी से सारे ससार की उत्पत्ति होती है । यह स्वयं 'अविकृति' अर्थात् किसी का विकार नही। अतएव यह नित्य है । पुरुष या आत्मा प्रकृति से भिन्न है और प्रकृति का प्रवर्त्तक है । पुरुष स्वय सुख, दु ख, इच्छादि से रहित है । यह केवल साक्षी मात्र और निर्गुण है । प्रकृति में बद्ध होने के कारण से ही यह सुख दु ख रागद्वेषादि में लिप्त कहा जाता है । वास्तव में यह इच्छादि दोष शून्य है। प्रकृति में सत्तामात्र का अस्तित्व है। आत्मा में चेतना और आनद भी पाया जाता है । इन्हीं के योग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है । ग्रन्थकार ने इसी का वर्णन अगले श्लोकों में किया है ।

विश्वनिर्माण—

अचेतनापि चैतन्ययोगेन परमात्मनः ॥५२॥
अकरोद्विश्वमखिलमनित्यं नाटकाकृतिः ।

चैतन्य परमात्मा के योग से अचेतन प्रकृति ने इस सारे नानाविध नाटकाकृति विश्व को बनाया है जो अनित्यहै ॥५२॥

वक्तव्य—जड़ प्रकृति विश्व रचना में कैसे प्रवृत्त हुई ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि प्रकृति अचेतन है तथापि परमात्मा जो चेतन है वही उसका प्रवर्त्तक है। चेतन के योग से अचेतन में भी प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे दूध यद्यपि स्वय अचेतन वस्तु है, तथापि वछडे को देखकर उसमें प्रस्रवण रूप प्रवृत्ति चेतना के सयोग के कारण से उत्पन्न होजाती है। प्रकृति यद्यपि नित्य है तथापि ससार 'विकार' का कारण होने से अनित्य है। जो वस्तु उत्पन्न और नाश होती है उसे अनित्य कहते हैं। ससार किन २ तत्वों से वना है और वे किस प्रकार उत्पन्न हुए हैं इसका वर्णन नीचे लिखा जाता है।

प्रथम वुद्धि का निर्माण—

प्रकृतिर्विश्वजननी पूर्वं वुद्धिमजीजनत् ॥५३॥
इच्छामयीं महद्रूपामहङ्कारस्ततोऽभवत्।
त्रिविधः सोऽपि संजातो रजःसत्त्वतमोगुणैः ॥५४॥

ससार की जननी 'प्रकृति' से सव से प्रथम वुद्धितत्व' उत्पन्न हुआ। उसी को 'महत्‌तत्व' भी कहते हैं उस में 'इच्छा' या 'वासना' का समावेश हुआ। उस इच्छामय वुद्धितत्व से 'अहङ्कार तत्व' की सृष्टि हुई। सत्व, रज और तम इन तीन गुणों के भेद से 'अहङ्कार' भी तीन प्रकार का हुआ। सात्विक, राजस और तामस ॥५३—५४॥

वक्तव्य—प्रकृति जड है। चेतन पुरुष के योग से उसमें प्रवृत्ति होती है। इससे इच्छामयी वुद्धि की उत्पत्ति होती है। वुद्धि से 'अहकार' अर्थात् 'मैं हूं' इस भाव की जाग्रति होती है। वह अहङ्कार भी त्रिविध गुण भेद से तीन प्रकार का है।

त्रिगुणात्मक अहकार के कार्य—

तस्मात्सत्त्वरजोयुक्तादिन्द्रियाणि दशाभवन्।
मनश्च जातं तान्याहुः श्रोत्रत्वङ्नयनं तथा ॥५५॥
जिह्वाघ्राणवचोहस्तपादोपस्थगुदानि च।
पञ्च वुद्धीन्द्रियाण्याहुः आद्यानीतराणि च ॥५६॥
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव कथ्यन्ते सूक्ष्मवुद्धिभिः।

उस सत्व, रज आदि गुण युक्त अहकार तत्व से दश इन्द्रिया और मन उत्पन्न हुआ। इन्द्रिया दो प्रकार की हैं ज्ञानेन्द्रिया और कर्मेन्द्रियां। कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा (रसना) और नाक ये पाच ज्ञान इन्द्रिया कही जाती हैं। हाथ, पैर, जिह्वा, उपस्थेन्द्रिय और गुदा यह पाच कर्मेन्द्रिया कहलाती हैं ॥५५—५६॥

वक्तव्य—सांख्य सिद्धान्त में मन भी इन्द्रिय है। मन भीतर की इन्द्रिय है। शेष बाह्य इन्द्रियां कहलाती हैं। ये वाह्य दसों इन्द्रियां मन के आधीन कार्य करती हैं—मन इनका राजा है। इन्द्रिय के अर्थ हैं—'साधन' 'करण' अर्थात् जिस से किसी कार्य की सिद्धि या ज्ञान की उपलब्धि हो सके। अत मन 'अहङ्कार' और बुद्धि को 'अन्तःकरण' कहा जाता है। शेष बाह्य करण हैं। जिह्वा को ज्ञान और कर्म दोनों इन्द्रियों में गिना गया है कारण कि इस के दो कार्य हैं एक रसज्ञान की उपलब्धि दूसरे 'वचन' शक्ति या बोलना । रस ज्ञान की विधायक रसना ज्ञानेन्द्रिय है और बोलने का काम करने वाली जिह्वा कर्मेन्द्रिय कहलाती है।

अहकार और तन्मात्राए—

रजः सत्त्व गुणोत्कृष्टादहङ्कारादथाभवत् ॥५७॥
तन्मात्रपञ्चकं तस्य नामान्युक्तानि सूरिभिः ।
शब्दतन्मात्रकं स्पर्शतन्मात्रं रूपमात्रकम् ॥५८॥
रसतन्मात्रकं गन्धतन्मात्रं चेति तद्विदुः ।
तन्मात्रपञ्चकात्तस्मात्संजातं भूतपञ्चकम् ॥५९॥
व्योमानिलानलजलक्षोणीरूपं च तन्मतम् ।

उसी सत्व रज आदि गुण विशिष्ट अहकार से तन्मात्राएं उत्पन्न हुई। उनके नाम विद्वानों ने इस प्रकार बताए हैं। १—शब्द तन्मात्रा, २—स्पर्श तन्मात्रा, ३—रूप तन्मात्रा, ४—रस तन्मात्रा, ५—गन्ध तन्मात्रा।

इन पाच तन्मात्राओं से पाच महाभूतों की सृष्टि हुई। वह पंचमहाभूत इस प्रकार स्थिर किये गये हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथिवी ॥५७-५९॥

वक्तव्य—ससार भर के समस्त कार्य उक्त कर्मेन्द्रियों से ही सम्पादित होते हैं। संसार भर का ज्ञान उक्त ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही उपलब्ध होता है। संसार भर के ज्ञेय पदार्थ उक्त तन्मात्रापञ्चक में आजाते हैं। उक्त तन्मात्राओं के ही विकार पञ्चमहाभूत हैं । शब्द का गुण आकाश है । आकाश में स्पर्श, रूप, गन्ध आदि कुछ नही। वायु स्पर्शवान् है और इसमें शब्द गुण भी विद्यमान है। इतरगुण नही हैं। अग्नि में रूप है स्पर्श है और शब्द भी है। रस और गन्ध नही हैं। पृथ्वी में—गन्ध है और रस रूप स्पर्श और शब्द भी विद्यमान है। शब्द का ग्रहण श्रोत्र से, स्पर्श का ग्रहण त्वचा से, रूप का ग्रहण आंखों से, रस का ग्रहण रसना से और गन्ध का ग्रहण नाक से होता है । इस प्रकार

पाचों ज्ञानेन्द्रियों का, पाचों तन्मात्राओं और पांचों महाभूतों के साथ परस्पर सम्वन्ध होता है ।

तन्मात्राओं के स्थूलभाव

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसगन्धावनुक्रमात् ॥६०॥
तन्मात्राणां विशेषाः स्युः स्थूलभावमुपागताः ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये क्रम से स्थूल भाव को प्राप्त हुए २ पञ्चतन्मात्राओं के विशेष हैं । इन्हीं को इन्द्रियों के विषय कहते हैं ॥६०॥

इन्द्रियों के विषय—

बुद्धीन्द्रियाणां पंचैव शब्दाद्या विषया मताः ॥६१॥
कर्मेन्द्रियाणां विषया भाषादानविहारिताः ।
आनन्दोत्सर्गकौ चैव कथितास्तत्त्वदर्शिभिः ॥६२॥

उक्त शब्द आदि पाचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय कहे जाते हैं । अर्थात् पाचों ज्ञानेन्द्रिया इन्हीं पाचों विषयों का ज्ञान कराती हैं । कर्मेन्द्रियों के विषय यह हैं— जिह्वा का काम वोलना, हाथों का काम देना और लेना, पाओं का काम चलना फिरना, उपस्थ का काम आनन्दोपभोग और गुदा का काम मलोत्सर्ग है ॥६१-६२॥

प्रकृति के नाम

प्रधान प्रकृतिः शक्तिर्नित्या चाविकृतिस्तथा ।
एतानि तस्या नामानि शिवमाश्रित्य या स्थिता ॥६३॥

'प्रधान' 'मूलप्रकृति' 'शक्ति' 'नित्या' और अविकृति (स्वय किसी का विकार न होकर अपने आप होने वाली) और दूसरों को उत्पन्न करने वाली, ये प्रकृति के नामान्तर हैं, जो शिव (परमात्मा) के आश्रय में स्थित है ॥६३॥

चौवीस तत्त्वों का वर्णन—

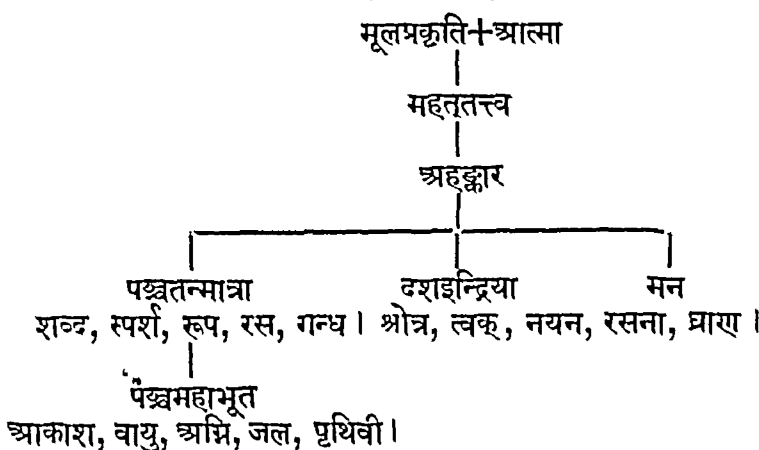
महानहङ्कृतिः पञ्चतन्मात्राणि पृथक्पृथक् ।
प्रकृतिर्विकृतिश्चैव सप्तैतानि बुधा जगुः ॥६४॥
दशेन्द्रियाणि चित्तं च महाभूतानि पञ्च च ।
विकाराः षोडश ज्ञेयाः सर्वं व्याप्य जगत्स्थिताः ॥६५॥
एवं चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः सिद्धे वपुर्गृहे ।
जीवात्मा नियतो नित्यो वसति स्वान्तदूतवान् ॥६६॥
स देही कथ्यते पापपुण्यदुःखसुखादिभिः ।
व्याप्तो बद्धश्च मनसा कृत्रिमैः कर्मबंधनैः ॥६७॥

उक्त 'प्रधान प्रकृति' स्वयं अविकृति है और सब की मूलप्रकृति है। महत् तत्व, अहङ्कार और पांचों तन्मात्राएं यह सात तत्व प्रकृति के विकार हैं और इन्द्रियादिकों की प्रकृति भी हैं। अर्थात् ये विकृति भी हैं और प्रकृति भी। दश इन्द्रिया मन और पञ्च महाभूत ये सोलह विकार हैं। ये आगे किसी की प्रकृति नही। यही चौवीस तत्व सर्व संसार में व्याप्त हो रहे हैं।

इस प्रकार चौवीस तत्वों से बने हुए शरीर रूपी घर में जीवात्मा नित्य वास करता है। मन उसका दूत है। उसी को 'देही' (देह वाला) कहते हैं। वही मन द्वारा पाप पुण्य दु ख सुख आदि कृत्रिम कर्म बन्धनों से व्याप्त और बद्ध कहा जाता है ॥६४—६७॥

विशेष वक्तव्य—इन चौवीस तत्वों में ही सारा ससार आ जाता है। इन से पृथक् कुछ नही। ये सब प्रकृति के ही विकार हैं। आत्मा इन से पृथक् है। कर्म, इन्द्रियां करती हैं। सुख दु ख का अनुभव भी इन्द्रिया ही करती हैं। इच्छा आदि भी बुद्धि के धर्म हैं जो प्रकृति के आदिम विकार हैं। इस प्रकार सुख दु ख मोह, इच्छा द्वेष आदि यावन्मात्र भोग हैं, सांख्यमत से वे सब प्रकृति के धर्म हैं। आत्मा इन से विभिन्न है। वह जब प्रकृति में बद्ध होता है तो ये सुख दु खादि धर्म उस के माने जाते हैं। जैसे राजा स्वयं युद्ध नही करता, सेना का युद्ध-सेना की हार जीत राजा की हार जीत मानी जाती है इसी प्रकार प्रकृति के सुख, दु ख, कर्म, सब आत्मा के कहे जाते हैं। वास्तव में आत्मा गुणत्रय शून्य और नित्य है। वह केवल साक्षीमात्र है।

चौवीस तत्त्वों का क्रम इस प्रकार है—



जीव के बन्धन—

कामक्रोधौ लोभमोहावहङ्कारश्च पञ्चमः।
दशेन्द्रियाणि बुद्धिश्च तस्य बन्धाय देहिनः ॥६८॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहङ्कार तथा दशों इन्द्रिया और बुद्धि ये उस देही जीवात्मा को बन्धन में डालने वाले हैं ॥६८॥

जीव के वध मोक्ष और दु ख सुख—

आप्नोति बन्धमज्ञानादात्मज्ञानाच्च मुच्यते ।
तद्दुःखयोगकृद्व्याधिरारोग्यं तत्सुखावहम् ॥६९॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधरेण विरचिताया श्रीशार्ङ्गधर-
संहिताया प्रथमखण्डे कलादिकाख्यानं नाम
॥ पञ्चमोऽध्याय ॥

वह जीवात्मा अज्ञान से बन्ध को प्राप्त होता है और 'आत्म ज्ञान' से मुक्ति को प्राप्त होता है । व्याधि और रोग उसे दु ख देने वाले हैं और आरोग्य उसे सुखकारक है ।

इतिश्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-
संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकाया प्रथमखण्डे
कलादिकाख्यान नाम पञ्चमोऽध्याय ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

आचार्योक्त अनुक्रमणिका के अनुसार—

'आहारादिगतिस्तथा'—

यात्यामाशयमाहारः पूर्वं प्राणानिलेरितः ।
माधुर्यं फेनभावं च षड्रसोऽपि लभेत सः ॥१॥

प्राणवायु द्वारा प्रेरित हुआ २ षड् रस (मधुर अम्ल, लवण, कटु तिक्त, कषाय रस) युक्त आहार (भुक्त द्रव्य) प्रथम आमाशय में पहुंच कर (आमाशयाग्नि, तत्रस्थ पाचक रसों से) माधुर्य युक्त फेनभाव को प्राप्त होता है ॥१॥

अम्लपाक—

अथ पाचकपित्तेन विदग्धश्चाम्लतां व्रजेत् ।
ततः समानमरुता ग्रहणीमभिनीयते ॥२॥
ग्रहण्यां पच्यते कोष्ठवह्निना जायते कटुः ।

तदनंतर वही मधुर और फेनभाव को प्राप्त हुआ आहार पाचक पित्त से विदग्ध (पच्यमानावस्था में प्राप्त) होकर अम्ल भाव को प्राप्त होता है । तत्पश्चात् समान वायु द्वारा ग्रहणी कला की ओर चलायमान किया हुआ आहार ग्रहणी में कोष्ठाग्नि द्वारा पक्क होकर कटु (चरपरे) भाव को प्राप्त होता है ॥२॥

रस और आमावस्था—

रसो भवति संपक्वादपक्वादामसम्भवः ॥३॥

भुक्त आहार के भली प्रकार पक्क होने से (पक्क) 'रस' प्राप्त होता है और उचित पाक के अभाव में 'आम' (अपक्क रस) में परिणत होता है ॥३॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहङ्कार तथा दशों इन्द्रियां और बुद्धि ये उस देही जीवात्मा को बन्धन में डालने वाले हैं ॥६८॥

जीव के बंध मोक्ष और दुःख सुख—

आप्नोति बन्धमज्ञानादात्मज्ञानाच्च मुच्यते।
तद्दुःखयोगकृद्व्याधिरारोग्यं तत्सुखावहम् ॥६९॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधरेण विरचितायां श्रीशार्ङ्गधर-
संहितायां प्रथमखण्डे कलादिकाख्यानं नाम
॥ पञ्चमोऽध्याय. ॥

वह जीवात्मा अज्ञान से बन्ध को प्राप्त होता है और 'आत्म ज्ञान' से मुक्ति को प्राप्त होता है। व्याधि और रोग उसे दुःख देने वाले हैं और आरोग्य उसे सुखकारक है।

इतिश्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायां शार्ङ्गधर-
संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकायां भाषाटीकायां प्रथमखण्डे
कलादिकाख्यान नाम पञ्चमोऽध्याय ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

आचार्योक्त अनुक्रमणिका के अनुसार—

'आहारादिगतिस्तथा'—

यात्यामाशयमाहारः पूर्वं प्राणानिलेरितः ।
माधुर्यं फेनभावं च षड्सोऽपि लभेत सः ॥१॥

प्राणवायु द्वारा प्रेरित हुआ २ षड् रस (मधुर अम्ल, लवण, कटु तिक्त, कषाय रस) युक्त आहार (भुक्त द्रव्य) प्रथम आमाशय में पहुंच कर (आमाशयाग्नि, तत्रस्थ पाचक रसों से) माधुर्य युक्त फेनभाव को प्राप्त होता है ॥१॥

अम्लपाक—

अथ पाचकपित्तेन विदग्धश्चाम्लतां व्रजेत् ।
ततः समानमरुता ग्रहणीमभिनीयते ॥२॥
ग्रहण्यां पच्यते कोष्ठवह्निना जायते कटुः ।

तदनंतर वही मधुर और फेनभाव को प्राप्त हुआ आहार पाचक पित्त से विदग्ध (पच्यमानावस्था में प्राप्त) होकर अम्ल भाव को प्राप्त होता है । तत्पश्चात् समान वायु द्वारा ग्रहणी कला की ओर चलायमान किया हुआ आहार ग्रहणी में कोष्ठाग्नि द्वारा पक्व होकर कटु (चरपरे) भाव को प्राप्त होता है ॥२॥

रस और आमावस्था—

रसो भवति संपक्वादपक्वादामसम्भवः ॥३॥

भुक्त आहार के भली प्रकार पक्व होने से (पक्व) 'रस' प्राप्त होता है और उचित पाक के अभाव में 'आम' (अपक्व रस) में परिणत होता है ॥३॥

परिपक्व रस के कार्य—

वह्नेर्बलेन माधुर्यं स्निग्धतां याति तद्रसः ।
पुष्णाति धातूनखिलान्सम्यक्पक्वोऽमृतोपमः ॥४॥

उदरस्थ आहार का रस जब पाचकाग्नि से पक्व कर मधुर और स्निग्धता को प्राप्त होता है तब वह रस यथाक्रम रस रक्तादि धातुओं का पोषण करता है। उत्तम परिपक्व आहाररस अमृत के सदृश शरीर की वृद्धि करता है ॥४॥

आम रस के कार्य—

मन्दवह्निविदग्धश्च कटुश्चाम्लो भवेद्रसः ।
विषभावं व्रजेद्वापि कुर्याद्वा रोगसंकरम् ॥५॥

पाचकाग्नि की दुर्बलता के कारण जब आहाररस विदग्ध (दूषित अथवा अपरिपक्व) होजाता है तब वह रस कटु और अम्ल भाव में परिणत होकर विष भाव (मारणात्मक) को प्राप्त होजाता है अथवा (दूषितांश अल्प होने से मारणात्मक न होवे तो) रोग समूहों को उत्पन्न करने वाला हो जाता है ॥५॥

आहार का सार और मल—

आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः ।
शिराभिस्तज्जलं नीतं वस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात् ॥६॥
तत्किट्टं च मलं ज्ञेयं तिष्ठेत्पक्वाशये च तत् ।
वलित्रितयमार्गेण यात्यपानेन नोदितम् ॥७॥
प्रवाहिणी सर्जनी च ग्राहिकेति वलित्रयम् ।

पूर्वोक्त विधि के अनुसार प्राप्त आहाररस को 'सार' कहते हैं और आहार के साररहित अवशिष्ट भाग को मलद्रव (मल से पुरीष और द्रव से मूत्र) कहते हैं। पुन मलद्रव का जलीयांश शिराओं (मूत्रवाहिनी शिराओं) द्वारा वस्ति (मूत्राशय, मसाना) में प्राप्त होकर 'मूत्र' बन जाता है। एव द्रवांश रहित अवशिष्ट मलभाग पक्वाशय (मलाशय) में पहुचकर मल (पुरीष) बन जाता है। मलाशय में पहुचा हुआ मल अपानवायु की अध प्रेरणा से गुदा की तीन वलियों (आंटों) द्वारा शरीर से बाहर होजाता है। प्रवाहिणी (मल को खिंच कर निकालने की चेष्टा का जिस भाग पर प्रभाव होता है, उसे प्रवाहिणीवली कहते हैं), सर्जनी (प्रवाहित मल को जो वली बाहर निकालती है) और ग्राहिका (मल त्यागने के पश्चात् गुदद्वार का स्वत संकोच इसी के आधीन है। इसके कार्य में गुदौष्ठ भी सहायता करते हैं) यह तीन गुदा में रहने वाली वलिया होती हैं अथवा इन तीनों का सामूहिक रूप ही गुदा है ॥६—८॥

रस से रक्त व—

रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः ॥८॥
रञ्जितः पाचितस्तत्र पित्तेनायाति रक्तताम् ।

यथाविधि पूर्णरीत्या पाक होने पर प्राप्त हुई है 'रस' संज्ञा जिसको ऐसा 'रस' समान वायु (नाभि में रहने वाला) द्वारा प्रेरित (ऊपर की ओर चलाया हुआ) होकर (यकृत् मार्ग से) हृदय में जाता है और रञ्जकपित्त से रञ्जित होकर तथा पाचित (रक्त धातु की अग्नि से पक कर) होकर रक्तरूप को प्राप्त होता है ॥८॥

रक्त का प्राधान्य—

रक्तं सर्वशरीरस्थं जीवस्याधारमुत्तमम् ॥९॥
स्निग्धं गुरु चलं स्वादु विदग्धं पित्तवद्भवेत् ।

समग्र शरीर में रहने वाला रुधिर जीवन का सर्वोपरि आधा (स्तम्भ) है। स्वच्छरुधिर-चिकना, भारी और चल (स्थिति रहित) तथा स्वाद में मीठा होता है। एवं विदग्ध (दूपित) होने पर पित्त के सदृश (तीक्ष्ण, अम्ल और पीतप्रभ) होजाता है ॥९॥

वक्तव्य— रक्त में पंचभूतों का परिचय—

विस्रता द्रवता रागः स्यन्दनं लघुता तथा ।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥

अन्यच्च—

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते ।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥

अन्यच्च—

अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः ।
शोणितं गुरु विस्रं स्याद्विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥

रसादि धातुओं का पाकक्रम—

पाचिताः पित्ततापेन रसाद्या धातवः क्रमात् ॥१०॥
शुक्रत्वं यान्ति मासेन तथा स्त्रीणां रजो भवेत् ।

पित्त के तेज से क्रमश पाचित रसादि धातुएं एक मास में शुक्र भाव को प्राप्त होती हैं। इसी क्रम से एक मास में स्त्रियों के आर्तव (मासिकरक्त) की परिणति होती है ॥१०॥

१—'तस्माद्रक्तेद्धि रुधिर रुधिर जीवमुच्यते' इति पाठान्तरम् ।

गर्भ विधान—

कामान्मिथुनसंयोगे शुद्धशोणितशुक्रजः ॥११॥
गर्भः संजायते नार्याः स जातो बाल उच्यते।

काम पीडित होकर जब स्त्री और पुरुष मैथुन में प्रवृत्त होते हैं तब शुद्ध शुक्र और शुद्ध आर्तव से स्त्रियों के गर्भ स्थिति होती है। जब गर्भाशयस्थ गर्भ जन्म लेता है तब उसको 'बालक' कहते हैं ॥११॥

वक्तव्य—

गर्भ लक्षण—यदुक्तं सुश्रुते—

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते।

शुद्ध शुक्र (गर्भोपयोगी) के लक्षण—

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च।
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा॥

शुद्धार्तव के लक्षण—

शशासृक्प्रतिमं यच्च यद्वा लाक्षारसोपमम्।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत्॥

पुत्र और कन्या—

आधिक्ये रजसः कन्या पुत्रः शुक्राधिके भवेत् ॥१२॥
नपुंसकं समत्वेन यथेच्छा पारमेश्वरी।

रज (आर्तव) की अधिकता से कन्या और शुक्र की अधिकता से पुत्र तथा दोनों (रजवीर्य) के समान (सम) होने से नपुंसक की उत्पत्ति होती है इस निर्माण वैचित्र्य में जैसी ईश्वरेच्छा होती है वैसा ही होता है ॥१२॥

वक्तव्य—ऊपर का श्लोक अनुभवी विद्वानों के अनुभव को दर्शाता है अर्थात लड़का और लड़की के होने में जो प्रत्यक्ष कारण होते हैं उन्हें बतलाय गया है। परन्तु कर्मगति को लक्ष्य में रखते हुए विद्वानों को भी अन्त में यही कहना पड़ा है कि 'यथेच्छा पारमेश्वरी' अत पुत्र और पुत्री को उत्पन्न करनेवाली शुक्रार्तव की अधिकता केवल 'कारणमात्र' होती है, होता वही है जो ईश्वर को स्वीकार होता है। भगवान् ने यह रचनाक्रम अपने ही हाथ में रक्खा हुआ है अन्यथा अत्यंत निर्बल स्त्रियों के जिन के आर्तव अल्पाल्प होता है और इस के विपरीत उन पुरुषों के जो पूर्ण स्वस्थ हैं और जिन के वीर्य की अधिकता है केवल कन्याएं ही उत्पन्न होती हैं। इस से विपरीत अत्यन्त दुर्बल और वृद्ध-पुरुषों के

घर पुत्र ही उत्पन्न होते हैं। विधि की ऐसी विडम्बना देखकर ही ईश्वरेच्छा को बलवान् माना गया है।

अथवा 'ईश्वरेच्छा' से एक बार में ही दो अथवा इस से अधिक बच्चों के प्रसूत होने का संकेत भी हो सकता है।

यदुक्तं सुश्रुते—

बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ।
यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ॥

बालक के लिये औषध की मात्रा—

बालस्य प्रथमे मासि देया भेषजरक्तिका ॥१३॥
अवलेहीकृतैकैव क्षीरक्षौद्रसिताघृतैः।
वर्धयेत्तावदेकैकां यावद्भवति वत्सरः ॥१४॥
माषैर्वृद्धिस्तदूर्ध्वं स्याद्यावत्षोडशवत्सरः।
ततः स्थिरा भवेत्तावद्यावद्वर्षाणि सप्ततिः ॥१५॥
ततो बालकवन्मात्रा ह्रासनीया शनैः शनैः।
मात्रेयं कल्कचूर्णानां कषायाणां चतुर्गुणा ॥१६॥

बालक (नवजातशिशु) को पहिले महीने में भेषज (औषध, जो उसे हितकर हो) एकरत्ति परिमित देवे। अनुपानार्थ—क्षीर (माता का दूध), शहद, मिशरी और घृत (गव्य) आवश्यकतानुसार इन में से किसी का उपयोग करे।

भक्षण विधि—एक रत्तिभर औषध को उचित अनुपान (क्षीरक्षौद्रादि) के साथ मिलाकर लेह के सदृश चाटने योग्य बनाकर (अगुली के पर्व से) चटावे।

जैसे २ बालक की आयु बढती जावे उसी प्रकार प्रतिमास एक २ रत्ति औषध की मात्रा बढाता जावे। यह वृद्धिक्रम एकवर्ष तक जारी रक्खे अथवा जितने मास के बालक को औषध देनी हो उतनी रत्तिया देवे। एक वर्ष के ऊपर सोलह वर्ष तक एक २ मासे (६।६ रत्ति) की वृद्धि करे अर्थात् एक वर्ष के बालक को १॥ मासा, दो वर्ष के बालक को २ मासे, तीन वर्ष के बालक को ३ मासे इसी प्रकार १६ वर्ष तक १६ मासे औषध की वृद्धि करे। १६ से ७० वर्ष की आयु तक १६ मासे की औषध मात्रा को स्थिर रक्खे। ७० वर्ष के उपरान्त, बाल्यकाल में जिस प्रकार वृद्धि की थी उसी क्रम से शनैः २ घटाता जावे। ऊपर निर्दिष्ट की हुई मात्रा कल्क और चूर्णों की है। क्वाथों की मात्रा इन से चौगुनी लेनी चाहिये ॥१३-१६॥

वक्तव्य—बालकों के लिये औषध मात्रा का जो वृद्धिक्रम आचार्य ने ऊपर वर्णन किया है वह वर्तमान में भयावह प्रतीत होता है यदि यह मान भी

लिया जावे कि बालकों में व्यवहार होने वाले औषध साधारण, मृदुवीर्य औ विषरहित होते हैं तदपि १६ मासे तक की मात्रा व्यवहार में नहीं आ सकती मात्रा के सम्बन्ध में 'विश्वामित्र' का मत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है, यथा

विडङ्गफलमात्र तु जातमात्रस्य भेषजम् ।
एतेनैव प्रमाणेन मासि मासि प्रवर्धितम् ॥
कोलाऽस्थिमात्रं क्षीरादे दद्याद्भैषज्यकोविदः ।
क्षीरान्नादे कोलमात्रमन्नादे दुम्बरोपमम् ॥

२—जातमात्र में प्रयुक्त होने वाली औषधें—

सौवर्णं सुकृत चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा ।
मत्स्याख्यकः शङ्खपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥
अर्कपुष्पी घृत क्षौद्र चूर्णितं कनक वचा ।
हेमचूर्णानि वैदूर्यं श्वेतदूर्वा घृतं मधु ॥
चत्वारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकार्धेषु चतुर्ष्वपि ।
कुमाराणावपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्द्धना ॥

१६ साल की आयु तक बालकों की तीन सञ्ज्ञाएं होती हैं, यथा—

१—क्षीराद-(केवल दूध पीने वाला)

२—क्षीरान्नाद-(दूध और अन्न खाने वाला)

३—अन्नाद-(केवल अन्नाशी)

इस प्रकार बालकों के भेद देखकर औषध मात्रा व्यवहार करे ।

जन्म से सात्म्य कर्म—

अञ्जनं च तथा लेपः स्नानमभ्यङ्गकर्म च ।
वमनं प्रतिमर्शश्च जन्मप्रभृति शस्यते ॥१७॥

आखों में अञ्जन लगाना (बच्चों की आखों में काजल डालना), लेप (उबटना) लगाना, स्नान करना, अभ्यग (मालिश) करना, वमन (कय) करना, प्रतिमर्श (बृंहणनस्य) लेना, यह सब कर्म जन्म से ही हितकर होते हैं ॥१७॥

आयु के अनुसार कवलादि की योजना—

कवलः पञ्चमाद्वर्षादष्टमान्नस्यकर्म च ।
विरेकः षोडशाद्वर्षाद्विंशतेश्चैव मैथुनम् ॥१८॥

बच्चों को ५ वर्ष की आयु के पश्चात् कवल (पिष्ट औषधकल्क को मुख में धारण करना) धारण करावे। आठ वर्ष की आयु के पश्चात् नस्य प्रयोग करावे। सोलह वर्ष की आयु के पश्चात् (विधि पूर्वक तीक्ष्ण विरेचन) विरेचन करावे और बीस वर्ष की आयु के पश्चात् (यह अति न्यून अवधि है) मैथुन में प्रवृत्त होना। (शरीर के लिये हितकर होता) है ॥१८॥

वाल्यादि वृद्धि ह्रास—

बाल्यं वृद्धिर्वपुर्मेधा त्वग्दृष्टिः शुक्रविक्रमौ ।
बुद्धिः कर्मेन्द्रियं चेतो जीवितं दशतो ह्रसेत ॥१९॥

जन्म होने के दश वर्ष के पश्चात् 'बाल्यावस्था' का ह्रास (अवरोध) होता है बीसवर्ष की आयुके पश्चात् 'वृद्धि' (शरीर की लम्बाई) का ह्रास होता है। तीस वर्ष की आयु के पश्चात् 'वपु' (शरीर की मोटाई) का ह्रास होता है। चालीस वर्ष की आयु के पश्चात् 'मेधा' (ग्रन्थपाठ को स्मरण रखने की) शक्ति का ह्रास होता है। पचास वर्ष की आयु के पश्चात् 'त्वक्' (शरीर की त्वचा की स्थिरता) का ह्रास होता है। साठवर्ष की आयु के पश्चात् 'दृष्टि' (नेत्रज्योति की तीक्ष्णता) का ह्रास होता है। सत्तर वर्ष की आयु के पश्चात् 'शुक्र' (वीर्य की दृढता तथा गर्भोत्पादन की शक्ति) का ह्रास होता है। अस्सीवर्ष की आयु के पश्चात् 'विक्रम' (पराक्रम तथा स्फूर्त्ति युक्त उत्साह) का ह्रास होता है। नब्बेवर्ष की आयु के पश्चात् 'बुद्धि' (और ज्ञानेन्द्रियों की स्थिर सत्ता) का ह्रास होता है सौ (१००) वर्ष की आयु के पश्चात् 'कर्मेन्द्रियों' (गमनागमन व्यापार और चेष्टा) की सत्ता का ह्रास होता है। ११० वर्ष की आयु के पश्चात् 'चेतना' (सुख दु खावबोधक ज्ञान) का ह्रास होता है। १२० वर्ष की आयु के पश्चात् 'जीवन' का ह्रास (नाश) होता है ॥१९॥

वक्तव्य—आचार्य ने ऊपर के श्लोक में विधिपूर्वक पूर्णायु का क्रम निबद्ध किया है। परंतु; वर्तमान में अनेक कारणों से मनुष्य इस आयुतक पहुंचते ही नही। अत वर्तमान में भी आयुकी अवधि स्थिर करके उसीके अनुसार शरीर में उपरोक्त परिवर्तन यथाक्रम जान लेने चाहिएं क्योंकि इसलिये कि अब १०० वर्ष की आयु तो होती नहीं परंतु शरीर में परिवर्तन अवश्य होते रहते हैं।

ACC. No. 799 जयपुर

वातप्रकृति के लक्षण—

अल्पकेशः कृशो रूक्षो वाचालश्चलमानसः ।
आकाशचारी स्वप्नेषु वातप्रकृतिको नरः ॥२०॥

वातप्रकृति मनुष्य के बाल तुच्छ और छोटे २ होते हैं, शरीर कृश (दुबला) होता है, शरीर की चमडी खुशक होती है, वाचाल और चंचलचित्त का होता है तथा निद्रितावस्था में आकाश में भ्रमण करता है ॥२०॥

पित्त प्रकृति के लक्षण—

अकाले पलितैर्व्याप्तो धीमान् स्वेदी च रोषणः ।
स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा पित्तप्रकृतिको नरः ॥२१॥

पित्तप्रकृति मनुष्य के बाल अकाल (समय से प्रथम) में ही श्वेत हो जाते हैं। यह बुद्धिमान् होता है, इसे पसीना अधिक आता है, इसके स्वभाव में क्रोध अधिक होता है और यह निद्रितावस्था में चमकीली चीजों को देखता है ॥२१॥

वक्तव्य—

क्रोधशोकश्रमकृत. शरीरोष्मा शिरोगत.।
पित्तश्च केशान् पचति पलित तेन जायते ॥

कफप्रकृति के लक्षण—

गम्भीरबुद्धिः स्थूलाङ्गः स्निग्धकेशो महाबलः।
स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः ॥२२॥

कफप्रकृति मनुष्य की बुद्धि गम्भीर होती है। शरीर मोटा होता है। केश चिकने होते हैं, शरीर में बल अधिक होता है, निद्रितावस्था में जलाशयों (नदी, तालाब आदि) को देखता है अथवा उनमें तैरता है ॥२२॥

द्विदोषज और त्रिदोषज प्रकृति के लक्षण—

ज्ञातव्या मिश्रचिह्नैश्च द्वित्रिदोषोल्बणा नराः ॥२३॥

दो दोषों के लक्षण मनुष्य शरीर में मिलने से 'द्विदोषज प्रकृति' और तीनों दोषों के लक्षण मिलने से 'त्रिदोषज प्रकृति' वाला जानना चाहिये ॥२३॥

वक्तव्य—

प्रकृति निर्माण—

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षण शृणु ॥ (सुश्रुत)

अन्यच्च—

शुक्रासृग्गर्भिणीभोज्यचेष्टागर्भाशयर्तुषु।
य स्याद्दोषोऽधिकस्तेन प्रकृति. सप्तधोदिता ॥ (वाग्भ०)

एवं सत्त्व, रज और तमो गुणाधिक्य से भी प्रकृति निर्माण होता है।

वाग्भटकार—हीन, मध्य और उत्तम भेद से त्रिविध प्रकृति मानते हैं, यथा—

शुक्रार्तवस्य जन्मादौ विशेषेण च विक्रम।
ताश्च प्रकृतयास्तिस्रो हीनमध्योत्तमा पृथक् ॥

सन्निपातज और द्विदोषज प्रकृति के सम्बन्ध में यह आशका की जा सकती है कि वह रोगकारक अथवा मारक क्यों नहीं होती। इस के उत्तर में वाग्भट कहते हैं—

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते।
तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवंति न बाधितुम्॥

सुश्रुतकार इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं—

प्रकोपो वाऽन्यभावो वा क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावोऽयं जायते गुरुतायुषः॥

प्रकृति निर्माण में प्राय वंश का, जाति का, ऋतु का, देश का, गर्भिणी के आहार विहार का तथा गर्भकाल के आचरणों का विशेष प्रभाव पड़ता है। भारतवर्ष के पूर्विए कृष्णवर्ण के ही होते हैं और योरुप के लोग श्वेताङ्ग ही होते हैं।

वातादि प्रकृतियों के विस्तृत लक्षण—वातप्रकृति के लक्षण—

विभुत्वादाशुकारित्वाद्बलित्वादन्यकोपनात्।
स्वातंत्र्याद्बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः॥
प्रायोऽत एव पवनाध्युषिता मनुष्या
दोषात्मकाः स्फुटितधूसरकेशगात्राः।
शीतद्विषश्चलधृतिस्मृतिबुद्धिचेष्टा-
सौहार्ददृष्टिगतयोऽतिबहुप्रलापाः॥
अल्पपित्तबलजीवितनिद्रासन्नसक्तचलजर्जरवाचः।
नास्तिका बहुभुजः सविलासा गीतहासमृगयाकलिलोलाः॥
मधुराम्लपटूष्णसात्म्यकांक्षाः कृशदीर्घाकृतयः सशब्दयाताः।
न दृढ़ा न जितेन्द्रिया न चार्या न च कान्तादयिता बहुप्रजा वा॥
नेत्राणि चैषां खरधूसराणि वृत्तान्यचारूणि मृतोपमानि।
उन्मीलितानीव भवन्ति सुप्ते शैलद्रुमांस्ते गगनं च यांति॥
अधन्या मत्सराध्माताः स्तेनाः प्रोद्बद्धपिण्डिकाः।
श्वशृगालोष्ट्रगृध्राखुकाकानूकाश्च वातिकाः॥

पित्तप्रकृति के लक्षण—

पित्तं वह्निर्वह्निजं वा यदस्मात् पित्तोद्रिक्तस्तीक्ष्णतृष्णाबुभुक्षः।
गौरोष्णाङ्गस्ताम्रहस्ताङ्घ्रिवक्त्रः शूरो मानी पिङ्गकेशोऽल्परोमा॥
दयितमाल्यविलेपनमण्डनः सुचरितः शुचिराश्रितवत्सलः।
विभवसाहसबुद्धिबलान्वितो भवति भीषुगतिर्द्विषतामपि॥
मेधावी प्रशिथिलसन्धिबन्धमांसो नारीणामनभिमतोऽल्पशुक्रकामः।
आवासः पलिततरङ्गनीलिकानां भुङ्क्तेऽन्नं मधुरकषायतिक्तशीतम्॥
धर्मद्वेषी स्वेदनः पूतिगन्धिर्भूर्युच्चारक्रोधपानाशनेर्ष्यः।
सुप्तः पश्येत्कर्णिकारान्पलाशान् दिग्दाहोल्काविद्युदर्कानलांश्च॥

तनूनि पिङ्गानि चलानि चैषां तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि।
क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि॥
मध्यायुषो मध्यबला पण्डिता क्लेशभीरवः।
व्याघ्रर्क्षकपिमार्जारयक्षानूकाश्च पैत्तिकाः॥

कफप्रकृति के लक्षण—

श्लेष्मा सोमः श्लेष्मलस्तेन सौम्यो गूढस्निग्धश्लिष्टसंध्यस्थिमांसः।
क्षुत्तृड्दुःखक्लेशधर्मैरतप्तो बुद्ध्या युक्तः सात्त्विकः सत्यसन्धः॥
प्रियङ्गुदूर्वाशरकाण्डशस्त्रगोरोचनापद्मसुवर्णवर्णः।
प्रलम्बबाहुः पृथुपीनवक्षा महाललाटो घननीलकेशः॥
मृद्वङ्गः समसुविभक्तचारुवर्ष्मा बह्वोजोरतिरसशुक्रपुत्रभृत्यः।
धर्मात्मा वदति न निष्ठुरं च जातु प्रच्छन्नं वहति दृढं चिरं च वैरम्।
समदद्विरदेन्द्रतुल्ययातो जलदाम्भोधिमृदङ्गसिंहघोषः।
स्मृतिमानभियोगवान् विनीतो न च बाल्येऽप्यतिरोदनो न लोलः॥
तिक्तं कषायं कटुकोष्णरूक्षमल्पं स भुङ्क्ते बलवांस्तथापि।
रक्तान्तसुस्निग्धविशालदीर्घसुव्यक्तशुक्लासितपक्ष्मलाक्षः॥
अल्पव्याहारक्रोधपानाशनेर्ष्यः प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः।
श्राद्धो गम्भीरः स्थूललक्ष्यः क्षमावानार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः॥
ऋजुर्विपश्चित्सुभगः सलज्जो भक्तो गुरूणां स्थिरसौहृदश्च।
स्वप्ने सपद्मान्सविहंगमालांस्तोयाशयान् पश्यति तोयदांश्च॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणतार्क्ष्यहंसगजाधिपैः।
श्लेष्मप्रतयस्तुल्यास्तथा सिंहाश्वगोवृषैः॥ (अष्टाङ्गहृ०)

निद्रादि का वर्णन—

तमःकफाभ्यां निद्रा स्यान्मूर्च्छा पित्ततमोभवा।
रजःपित्तानिलैर्भ्रान्तिस्तन्द्रा श्लेष्मतमोऽनिलैः॥२४॥

तमोगुण और कफ से निद्रा (नींद) की उत्पत्ति होती है। पित्त और तमोगुण के बाहुल्य से मूर्च्छा (विसञ्ज्ञता) उत्पन्न होती है। रजोगुण, पित्त और वायु के कारण 'भ्रान्ति' (भ्रम) उत्पन्न होती है। कफ, तमोगुण और वायु के कारण 'तन्द्रा' (अर्द्धनिद्रितावस्था) उत्पन्न होती है॥२४॥

वक्तव्य— निद्रा के लक्षण—

१—इन्द्रियाणां च मनसो मोहो निद्राऽभिधीयते। (वाग्भ०)
२—यदा तु मनसि क्लान्ते सर्वात्मानः क्लमान्विताः।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥ (चरक)

३—हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम् ।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्राविशति देहिनाम् ॥
निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते ॥

तन्द्रा के लक्षण—

१—इन्द्रियाणां च मनसो मोहस्तन्द्रेति कथ्यते ।

अन्यच्च—

२—उन्मीलितविनिर्भुग्ने परिवर्तित तारके ।
भवतस्तत्र नयने छुलिते चलपक्ष्मणी ॥
अर्वाक् त्रिरात्रात्साध्या सा न साध्या तु ततः परम् ।

क्लम के लक्षण—

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः ।
क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥

ग्लानि के लक्षण—

ग्लानिरोजःक्षयाद्दुःखादजीर्णाच्च श्रमाद्भवेत् ।

शुक्रान्त धातुओं के सारभूत ओज के क्षय होने से, दुःख (मानसिक वा शारीरक) से, अजीर्ण (अपचन के दोष) से और श्रम से 'ग्लानि' (क्लम अथवा हर्षक्षय) उत्पन्न होती है ।

आलस्य के लक्षण—

यः सामर्थ्येऽप्यनुत्साहस्तदालस्यमुदीर्यते ॥२५॥

शरीर में कार्य करने की शक्ति होने पर भी कार्य करने में उत्साह न होने को 'आलस्य' कहते हैं ॥२५॥

वक्तव्य— अन्य लक्षण—

सुखस्पर्शप्रसङ्गित्वं दुःखद्वेषणलोलता ।
शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मण्यालस्यमुच्यते ॥

इसको मन की अवसन्नता कहते हैं । यद्यपि इसको रोग नही समझा जाता परंतु मस्तिष्क के भाग में एक विशेष प्रकार के श्वेतसार के अभाव के कारण यह रोग उत्पन्न होता है ।

जृम्भा के लक्षण—

चैतन्यशिथिलत्वाद्यः पीत्वैकश्वासमुद्वमेत् ।
विदीर्णवदनः श्वासं जृम्भा सा कथ्यते बुधैः ॥२६॥

चैतन्य (ज्ञान लक्षण) के किंचित् शिथिलीभूत होने से मनुष्य प्रथम श्वास को भीतर की ओर खीचता है और पुनः इसी आकर्षित वायु को मुख फाड़

कर बाहर निकालता है । इस अवस्था को वैद्य लोग जृम्भा (जभाई) कहते हैं ॥२६॥

वक्तव्य—   अन्य लक्षण—

पीत्वैकमनिलं श्वासमुद्वेष्टन विवृताननः ।
यन्मुञ्चति सनेत्राम्भ स जृम्भ इति कीर्तितः ॥ (सु०)

छींक के लक्षण—

उदानप्राणयोरूर्ध्वयोगान्मौलिकफस्रवात् ।
शब्दः संजायते नस्तः क्षुतं तत्कथ्यते बुधैः ॥२७॥

उदान (कण्ठस्थ वायु) और प्राण (हृदयस्थ वायु) इन दोनों का जब ऊर्ध्वयोग (शृंगाटक मर्म में) होता है तब एक प्रकार के शब्द के साथ (स्रोत-पथस्थित) श्लेष्मा का स्राव होता है । इसको वैद्य लोग क्षुत (छींक) कहते हैं ॥२७॥

वक्तव्य—   अन्यलक्षण—

प्राणोदानौ च तौ स्याता मूर्ध्निस्रोत पथस्थितौ ।
नस्तः प्रवर्तते शब्द क्षुत तदाभिनिर्दिशेत् ॥

उद्गार के लक्षण—

उदानकोपादाहारसुस्थिरत्वाच्च यद्भवेत् ।
पवनस्योर्ध्वगमनं तमुद्गारं प्रचक्षते ॥२८॥

इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधरेण विरचितायां
शार्ङ्गधरसंहितायां प्रथमखण्डे आहारादि-
गतिर्नाम षष्ठोऽध्याय ॥६॥

उदान (कण्ठस्थ) वायु के कोप से तथा आहार के स्वस्थानस्थित होने से वायु का जो ऊर्ध्वगमन (मुखमार्ग से प्रवृत्ति) होता है । उस अवस्था को उद्गार (डकार) कहते हैं ॥२८॥

इति आयुर्वेदाचार्य कविराज श्रीहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-
संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकाया प्रथमखण्डे
आहारादिगतिर्नाम षष्ठोऽध्याय ॥६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

रोगगणनात्मक—

रोगाणां गणना पूर्वं मुनिभिर्या प्रकीर्तिता ।
मयात्र प्रोच्यते सैव तद्भेदा बहवो मताः ॥१॥

रोगों की जिस गणना (संख्या) को प्रथम मुनीश्वरों ने कहा है उसी को मैंने यहा (इस ग्रन्थ में) कहा है । उन रोगों के अनेक भेद होते हैं ॥१॥

ज्वरों के भेद—

पञ्चविंशतिरुद्दिष्टा ज्वरास्तद्भेद उच्यते ।
पृथग्दोषैस्तथा द्वन्द्वभेदेन त्रिविधः स्मृतः ॥२॥
एकश्च सन्निपातेन तद्भेदा बहवो मताः ।
प्रायशः सन्निपातेन पञ्च स्युर्विषमज्वराः ॥३॥
संततः सततश्चैव अन्येद्युष्कस्तृतीयकः ।
चातुर्थकश्च पञ्चैते कीर्तिता विषमज्वराः ॥४॥
तथागन्तुज्वरोऽप्येकस्त्रयोदशविधो मतः ।
अभिचारग्रहावेशशापैरागन्तुकस्त्रिधा ॥५॥
श्रमाच्छेदात्क्षताद्दाहाश्चतुर्धा घातजो ज्वरः ।
कामाद्भीतेः शुचो रोषाद्विषादौषधगन्धतः ॥६॥
अभिषङ्गज्वराः षट् स्युरेवं ज्वरविनिश्चयः ।

ज्वर पच्चीस प्रकार के कहे हैं, उनके भेद इस प्रकार हैं ।
पृथक् दोषों से—१—वातज्वर, २—पित्तज्वर, ३—कफज्वर ।
द्वन्द्वज—मिले हुए दोषों से—४—वातपित्तज्वर, ५—वातश्लेष्मज्वर,

६—कफपित्तज्वर, इस प्रकार द्वन्द्वज—३

७—सन्निपातज्वर, इसके वहुत भेद होते हैं। प्राय सन्निपात से पाच प्रकार के विषमज्वर होते हैं। सतत, सतत, अन्येद्यु, तृतीयक और चतुर्थक इस प्रकार पाच विषमज्वर होते हैं। यहा तक ज्वर के १२ भेद हुए।

८—एक आगन्तुक ज्वर १३ प्रकार का होता है। अभिचार से, ग्रहावेश से, शाप से यह तीन 'आगंतुज' होते हैं। श्रमसे, छेदनसे, दाहसे, क्षतसे, यह तीन 'अभिघातज' होते हैं। कामसे, भयसे, शोकसे, क्रोधसे, विषसे और औषधगन्धसे, इस प्रकार छ 'अभिषङ्गज' ज्वर होते हैं। इस प्रकार १२ प्रकार के शारीरिक और १३ प्रकार के आगन्तुज मिलाकर २५ प्रकार के ज्वर होते हैं ॥२-६॥

वक्तव्य—　　　　ज्वर के लक्षण—

स्वेदावरोध सन्ताप सर्वांगग्रहणं तथा ।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥

माधवोक्त इन लक्षणों से सन्तापवहुलज्वर की स्थिति होती है। अन्यत्र भी यही कहा है—

देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो वली ।
ज्वर प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा ॥

एव ज्वरसम्प्राप्ति में भी इसी नियम की पुष्टि की गई है, यथा—'वह्निर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदा स्यू रसानुगा ' अत ज्वर क्या है ? इसके संक्षिप्त उत्तर में यही कहना पर्य्याप्त होगा कि जो ऊष्मा (गर्मी) सममात्रा में रहकर शरीर का उपकार करती है वही ऊष्मा मिथ्याहार विहार से वृद्धिंगत होकर विकराल रूप धारण करके आपादमस्तक समग्र शरीर को उत्तप्त कर देती है। ऊष्मा की इसी अनुपयुक्त वृद्धि को ज्वर कहते हैं। जिसको आचार्य ने २५ भेदों में विभक्त किया है।

२—वातज्वर के लक्षण—

वेपथुर्विषमो वेग. कण्ठौष्ठपरिशोषणम् ।
निद्रानाश क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता ।
शूलाध्माने जृम्भण च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥

पित्तज्वर के लक्षण—

वेगस्तीक्ष्णोतिसारश्च निद्राऽल्पत्वं तथा वमि. ।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाक स्वेदश्च जायते ॥

प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा ।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥

कफज्वर के लक्षण—

स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता ।
शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च ॥
नात्युष्णगात्रता छर्दिरङ्गसादोऽविपाकिता ।
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता ।
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥
इति (माधव.)

३—वातपित्त ज्वर के लक्षण—

तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा ।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः ॥ (इति मा० नि०)

वातकफ ज्वर के लक्षण—

स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रागौरवमेव च ।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम् ॥
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥

पित्तश्लेष्म ज्वर के लक्षण—

लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा ।
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं पित्तश्लेष्मज्वराकृतिः ॥

सन्निपात ज्वर के लक्षण—

क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजः ।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्तांगता परम् ।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा ।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च ।
चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥

सन्निपातज ज्वर अनेक प्रकार के होते हैं। कई आचार्यों के मत से-सन्धिक, तन्द्रिक, कण्ठकुब्ज, रक्तष्ठीवी इत्यादि भेद से १३ प्रकार के हैं। कई आचार्य उल्वणादि भेद से ५२ प्रकार के मानते हैं। कई इससे भी ऊपर तक चलते हैं। यहां आचार्य ने सततादि विषम ज्वरों को भी सन्निपातात्मक माना है—यदुक्त— 'ज्वराश्च विषमा सर्वे सन्निपातसमुद्भवा'।

सततज्वर—यह ज्वर वातादि दोषों के क्रम से एक बार का चढा हुआ सात दिन, दश दिन और बारह दिन तक अविसर्गी रह कर उतरता है। इसको संतत कहते हैं। यह रस और रक्तधातु के आश्रय होता है।

सततज्वर—यह दिन और रात्री में एक २ बार अर्थात् २४ घंटों में २ बार चढ़ता है।

तृतीयकज्वर—यह तीसरे दिन आता है। दोष भेदानुसार इसके तीन भेद होते हैं।

अन्येद्युज्वर—यह ज्वर दिन रात में एक बार प्रकोप करता है और इसका वेग ६—८ घंटे रह कर शांत हो जाता है।

चतुर्थकज्वर—यह ज्वर ठीक चौथे दिन प्राय शीत से आता है। निगूढ धात्वाश्रित होने के कारण इसे भयकर और रोगसमूहकारक माना है। इस प्रकार यह पांच विषम ज्वर होते हैं। आज कल के डाक्टर लोग इन्हें प्राय 'मलेरिया फीवर' मानते हैं।

अभिघातजज्वर—यह ज्वर शरीर में किसी प्रकार के आघात (चोट) आदि के लगने से होता है। आगन्तुक (आकस्मिक) व्याधियां क्षण भर के लिये आगंतुक कहलाती हैं पुन दोषानुबन्ध होने से-इनके लक्षण और उपायादि दोषानुसार ही होते हैं।

अभिचारजनितज्वर—इसका कारण अनुष्ठानभ्रष्टता, विपरीत मत्रजाप और मारणार्थ किये गये (जादू टोणे) उपाय हुआ करते हैं।

अभिषङ्गजज्वर—काम (मनोनीत स्त्री की प्राप्ति के अभाव से होने वाला ज्वर, 'इश्किया बुखार') क्रोध, भय, भूतावेश आदि से उत्पन्न होता है।

अभिशापजज्वर—ऋषि, मुनि, महात्मा, माता, पिता, गुरु एवं अन्य आत्मशक्ति सम्पन्न व्यक्तियों के मानसिक क्षोभ से निकलने वाले दुर्वचनो से होने वाला ज्वर 'अभिशापज' कहलाता है।

ज्वर सम्बन्धी अन्य विस्तृतवृत्त श्री माधवकर-सग्रहीत 'माधव निदान' में देखना चाहिये।

अतिसार-सग्रहणी—

पृथक्त्रिदोषैः सर्वैश्च शोकादामाद्भयादपि ॥७॥

अतिसारः सप्तधा स्याद् ग्रहणी पञ्चधा मता।
पृथग्दोषैः सन्निपातात्तथा चामेन पञ्चमी ॥८॥
प्रवाहिका चतुर्धा स्यात्पृथग्दोषैस्तथास्रतः।

वातातिसार, पित्तातिसार, कफातिसार, सन्निपातातिसार, शोकातिसार, आमातिसार और भयजनित अतिसार, इन भेदों से अतिसार रोग सात प्रकार का होता है। वातिक सग्रहणी, पैत्तिक संग्रहणी, श्लैष्मिक संग्रहणी, सान्निपातिक सग्रहणी और आमजन्य संग्रहणी, इन भेदों से संग्रहणी रोग पांच प्रकार का होता है। वातिक प्रवाहिका, पित्तजनित प्रवाहिका, कफजनित प्रवाहिका और रक्तजनित प्रवाहिका, इन भेदों से प्रवाहिका (मरोड़े, पेचिश) का रोग चार प्रकार का होता है ॥७–८॥

वक्तव्य—अतिसार उदर की अंतड़ियों का रोग है। संग्रहणी 'ग्रहणीकला' का रोग है। प्रवाहिका 'मलधरा' कला का रोग होता है।

अजीर्ण रोग—

अजीर्णं त्रिविधं प्रोक्तं विष्टब्धं वायुना मतम् ॥९॥
पित्ताद्विदग्धं विज्ञेयं कफेनामं तदुच्यते।
विषाजीर्णं रसादेकं,

अजीर्ण रोग तीन प्रकार का होता है। यथा—वायु से—'विष्टब्धाजीर्ण' पित्त से—'विदग्धाजीर्ण' और कफ के कोप से—'आमाजीर्ण' होता है तथा एक रसाजीर्ण होता है जिसको 'विषाजीर्ण' भी कहते हैं ॥९॥

वक्तव्य—अजीर्ण रोग को आचार्य ने तीन प्रकार का माना है। परन्तु माधवकार ने छः प्रकार का माना है।

यथा—आम विदग्ध विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभि।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः॥
अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च।
वदन्ति षष्ठञ्चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम्॥

२—रसाजीर्ण को माधव ने 'रसशेषाजीर्ण' कहा है और आचार्य ने इस को विषाजीर्ण कहा है कारण कि रसाजीर्ण का प्रबल प्रकोप विष की तरह प्राण-घातक होने से 'विषाजीर्ण' के नाम से कहा गया है।

दोषैः स्यादलसस्त्रिधा ॥१०॥
विषूची त्रिविधा प्रोक्ता दोषैः सा स्यात् पृथक् पृथक्।
दण्डकालसकश्चैक एकैव स्याद्विलम्बिका ॥११॥

वातपित्त और कफ इन तीनों दोषों से पृथक् २ होने वाला 'अलसक' रोग तीन प्रकार का होता है ॥१०॥

विसूचिका (हैजा) भी 'वातिकविसूचिका' 'पैत्तिकविसूचिका' और 'श्लैष्मिकविसूचिका' के भेद से तीन प्रकार की होती है । 'दण्डालसक' और 'विलम्बिका' यह दोनों रोग भी विसूचिका के नामान्तर हैं ॥११॥

वक्तव्य— अलसक के लक्षण—

प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते ।
कोष्ठे स्थितोऽलसीभूतस्तेन चालसक स्मृतः ॥

माधव ने 'विसूची' 'अलसक' और 'विलम्बिका' को अजीर्णान्तर्गत माना है, यथा—

अजीर्णमामं विष्टब्ध विदग्ध च यदीरितम् ।
विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥

दण्डकालसक के लक्षण—

तिर्यगतास्तनुं दोषा दण्डवत् स्तम्भयन्ति ये ।
सदण्डालसकस्त्याज्य शीघ्र देहविनाशकृत् ॥

विलम्बिका के लक्षण—

दुष्ट तु भुक्त कफमारुताभ्या प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्चय स्याम् ।
विलम्बिकां ता भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविद पुराणा ॥

विसूचिका (हैजा) साघातिक रोग है। इसका प्रवल आक्रमण शीघ्रातिशीघ्र प्राणनाश करता है अत चिकित्सा की सुविधा के लिये इसके साधारण और साघातिक लक्षणों को लिखा जाता है। जिस से इस पर अधिक प्रकाश पडेगा ।

साधारण विसूचिका ।	साघातिक विसूचिका ।
१—प्रधानता से यह खान पान के दोष से होता है ।	१—इसकी उत्पत्ति केवल खान पान के दोष से नही होती ।
२—इसमें नाभि के चारों ओर खीचने की सी पीडा होती है ।	२—इसके आरम्भ में प्राय सर्व प्रथम शरीर के अधोभाग (जङ्घाओं) में पीडा एव शैथिल्य आरम्भ होता है।
३—इसमें कय दस्त अधिक होने पर भी रोगी अधिक दुर्वलता का अनुभव नही करता ।	३—इसमें कय दस्त कम हों या अधिक रोगी शीघ्र ही अत्यत निर्वलता को अनुभव करता है ।

साधारण विसूचिका ।	सांघातिक विसूचिका
४—इसमें शारीरिक ताप शनै शनै घटता है।	४—इसमें शारीरिक ताप, एकदम घट जाता है ।
५—इसमें प्रथम आमाशय में जलन होती है और दर्द के साथ पित्त मिश्रित मल निकलता है।	५—इसमें आरम्भ से ही उद्वमन के मल का वर्ण चावलों के धोवन जैसा होता है और मल की प्रवृत्ति उभय-मार्ग से हो जाती है।
६—इसमें प्रथम उदर में मरोड उठती है किन्तु ऊर्ध्व काय में विशेष कष्ट नही होता।	६—इसमें प्रथम हाथ पैर की अगुलिया तदनतर समग्र हाथ पैर अकडने वा ऐंठने लग जाते हैं ।
७—इसमें केवल शरीर विवर्णता युक्त होता है ।	७—इसमें प्रथम हाथ पैर के नाखून तदुपरात समग्र शरीर नीलवर्ण का हो जाता है।
८—इसमें अत्यधिक तृषा का अभाव होता है ।	८—इसमें भयंकर तृषा होती है।
९—इसमें दात, ओष्ठ तथा नेत्रों में प्राकृतिक वर्ण में विशेष परिवर्तन नही होता।	९—इसमें नेत्र, दात और ओष्ठ नील अथवा कृष्ण वर्ण के हो जाते हैं।
१०—इसमें घबराहट तथा मूर्च्छा नही होती। इसमें रोगी के प्राण सकट में नही होते।	१०—इसमें अत्यत घबराहट तथा मूर्च्छा होती है एवं संज्ञानाश की अवस्था उपस्थित होकर प्राणांत हो जाता है।

अर्श विवरण—

अर्शांसि षड्विधान्याहुर्वातपित्तकफास्त्रतः ।
सन्निपाताच्च संसर्गात् तेषां भेदो द्विधा स्मृतः ॥१२॥
सहजोत्तरजन्मभ्यां तथा शुष्कार्द्रभेदतः ।
त्रिधैव चर्मकीलानि वातात्पित्तात्कफादपि ॥१३॥

अर्श (ववासीर) रोग छ प्रकार का होता है।

यथा—१—वातार्श—(वादी की ववासीर)

२—पित्तार्श—(पित्त की ववासीर)

३—कफार्श—(कफ की ववासीर)

४—रक्तार्श—(खूनी ववासीर)

५—सन्निपातार्श—(तीनों दोषों की ववासीर)

६—संसर्गजार्श—(द्विदोषज ववासीर)

उपरोक्त छ प्रकार की ववासीर, 'सहज' (जन्म के साथ उत्पन्न होने वाली) और 'उत्तर कालज' (जन्म के पश्चात् मिथ्याहार विहारादि से उत्पन्न होने वाली) भेद से तथा 'शुष्क' (सूखी, वादी ववासीर) और 'आर्द्र' (स्रावशील, खूनी ववासीर) के भेद से दो प्रकार की होती है ॥१२॥

वक्तव्य— १—अर्श की सम्प्राप्ति—

दोषस्त्वङ्मांसमेदांसि संदूष्य विविधाकृतीन् ।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगु· ॥

अर्श शब्द प्रयोग का कारण—

अरिवत्प्राणिनो मांसकीलने निविशति यत् ।
अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधत ॥

गुदा से भिन्न स्थानों पर भी अर्श होता है—

यथा—व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो वहि ।
कीलोपम स्थिरखर चर्मकील तु तद्विदु ॥

परन्तु अर्श का प्रधान स्थान गुदा की तीनों वलियां हैं । इन में एक एक में, दो दो में और तीनों मे मांसाङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं। कई मांसाङ्कुर सूखे होते हैं। इनको ववासीर वादी कहते हैं और कई अकुरों में से रुधिरस्राव होता है। इन्हें रक्तार्श कहते हैं। गुदा की प्रथम वली पर और एक वर्ष के भीतर का अर्श साध्य होता है एव गुदा की दूसरी और तीसरी वली में उत्पन्न अकुर तथा वर्षकालावधि से ऊपर का अर्श कष्टसाध्य और असाध्य होता है । माता पिता को अर्श होने से संतान में भी अर्श हो जाता है । ऐसे बालक गर्भ से ही इस व्याधि को साथ में लाते हैं। इसी को 'सहजार्श' कहते हैं ।

कृमिविवरण—

एवंविंशतिभेदेन कृमयः स्युर्द्विधा च ते ।
बाह्यास्तथाभ्यन्तराः स्युस्तेषु यूका बहिश्चराः ॥१४॥
लिक्षाश्चान्येऽन्तरचराः कफात्ते हृदयादकाः ।
अन्त्रादा उदरावेष्टाश्चुरवश्च महागुहाः ॥१५॥
सुगन्धा दर्भकुसुमास्तथा रक्ताश्च मातरः ।
सौरसा लोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः ॥१६॥

केशादाश्च तथैवान्ये शकृज्जाता मकेरुकाः ।
लेलिहाश्च सलूनाश्च सौसुरादाः ककेरुकाः ॥१७॥
तथाऽन्यः कफरक्ताभ्यां संजातः स्नायुकः स्मृतः ।
व्रणस्य कृमयश्चान्ये विषमा वाह्ययोनयः ॥१८॥

बीस प्रकार के कृमियों से उत्पन्न होने वाला कृमि रोग, बाहर के और अंदर के कृमियों के भेद से दो प्रकार का होता है। इन में यूका (जूआ) और लीख यह दो प्रकार के वाह्य कृमि कहलाते हैं। अवशिष्ट कृमि शरीर के भीतर होते हैं। इन में से कफ जनित कृमियों के नाम—हृदयाद, अन्त्राद, उदरावेष्ट, चुरव, महागुह, सुगन्ध, दर्भकुसुम यह सात नाम कफ जनित कृमियों के होते हैं। मातर, सौरस, लोमविध्वस रोमद्वीप, उदुम्बर और केशाद। यह छ प्रकार के कृमि रुधिर से उत्पन्न होते हैं। मकेरुक, लेलिह, सलून, सौसुराद और ककेरुक यह पाच प्रकार के कृमि मल (पुरीष) से उत्पन्न होते हैं। इन से भिन्न एक 'स्नायुक' (नहारुआ) होता है और वाह्य कृमियों की जाति से उत्पन्न होने वाले व्रणकृमि भी होते हैं ॥१७-१८॥

वक्तव्य—प्राय अधिकतर कृमि उदर में खान पान के दोष से उत्पन्न होते हैं। आकृति में यह अनेक प्रकार के छोटे, बडे, चौडे, लम्वे आदि होते हैं। कभी कभी दो दो हाथ लम्बे गोल आकृति के कीड़े पेट से निकलते हैं। जब पेट में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं तव न्यूनाधिक यह लक्षण होते हैं—

यथा—ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदन भ्रमः ।
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च सजातः कृमिलक्षणम् ॥

पाण्डुरोग विवरण—

पाण्डुरोगाश्च पञ्च स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा ।
त्रिदोषैर्मृत्तिकाभिश्च तथैका कामला स्मृता ॥१६॥
स्यात्कुम्भकामला चैका तथैकं च हलीमकम् ।

वातिक पाण्डुरोग, पैत्तिक पाण्डुरोग, श्लैष्मिक पाण्डुरोग, त्रिदोषज पाण्डु रोग तथा मृद्भक्षण जनित पाण्डुरोग, इन भेदों से पाण्डुरोग (यरकान) पांच प्रकार का होता है। इस पाण्डुरोग का एक और भेद 'कामला' रोग होता है, कामला के पश्चात् 'कुम्भकामला' और कुम्भकामला के पश्चात् 'हलीमक' रोग होता है। यह सब पाण्डुरोग की उत्तरोत्तर अवस्थाओं के नाम हैं ॥१६॥

वक्तव्य—यकृत्, उसकी नालिया और पित्ताशय। जब इन सब की क्रिया अथवा इन में से किसी एक की क्रिया में विगाड़ उत्पन्न होता है तब पाण्डुरोग

उत्पन्न होता है। अत्यन्त कटु, तीक्ष्ण और अत्युष्ण भोजनों से—यकृत्, उसकी नालियों और पित्ताशय की नालियों में शुष्कता उत्पन्न हो जाती है, जिसका प्रभाव यह होता है कि स्वभावत इन से निकलने वाला पाचकपित्त ग्रहणीद्वार पर अन्न की नाली में मिलता है परन्तु नालियों के शुष्कीभूत होने से तथा उनका प्रकृत मार्ग रुक जाने से पाचकपित्त विमार्ग होकर रक्त में मिल जाता है और रक्त द्वारा शरीर में प्रवाहित होकर मनुष्य को आपादमस्तक 'पीला' बना देता है।

यदुक्तम्—

व्यवायमम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् ।
निषेवमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति ॥

मृत्तिकाजनित पाण्डु की सम्प्राप्ति और लक्षण—

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः ।
कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं च रूक्षयेत् ।
पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्ध्यपि ॥
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा ।

कामला—

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते ।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥
हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः ।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः ।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रयामता ॥

कुम्भकामला—

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला ।

हलीमक—

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः ।
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः ॥
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णारुचिर्भ्रमः ।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ॥

रक्तपित्त विवरण —

रक्तपित्तं त्रिधा प्रोक्तमूर्ध्वगं कफसम्भवम् ॥२०॥
अधोगं मारुतं ज्ञेयं तद्द्वयेन द्विमार्गगम् ।

रक्तपित्त तीन प्रकार का होता है, यथा—

१—ऊर्ध्वमार्ग प्रवृत्त (नाक, मुख, कान, आंख आदि से रुधिर का स्राव होना)।

२—अध मार्गप्रवृत्त—(मूत्रेन्द्रिय और गुदामार्ग से रुधिर का निकलना)।

३—ऊर्ध्व और अध दोनों प्रकार के मार्गों से रुधिर का प्रवृत्त होना।

इन में ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त कफ से उत्पन्न होता है और अधोगामी रक्त-पित्त वायु से उत्पन्न होता है और दोनों मार्गों से प्रवृत्त होने वाला रक्तपित्त कफ और वायु दोनों दोषों से उत्पन्न होता है ॥२०॥

वक्तव्य—भगवान् चरक ने रक्तपित्त की एक 'रोमान्तिका' दशा मानी है।

यथा—कुपितं रोमकूपेषु समस्तैस्तत्प्रवर्तते ।

२—मनुष्य के अत्युष्ण भोजन और अत्युष्णता सहन से रक्त में ऊष्मा की पराकाष्ठा हो जाती है। जिस से अत्युष्ण हुआ २ रक्त जब रक्त केशिकाओं में भ्रमण करता है तब रक्त की अत्युष्णता के कारण केशिकाओ के मार्ग कुपित होकर फूट जाते हैं। यही स्वमार्गभ्रष्ट रुधिर समीप के मार्गों से बाहर निकलता है। इसी को रक्तपित्त कहते हैं।

कास विवरण—

कासाः पञ्च समुद्दिष्टास्ते त्रयस्तु त्रिभिर्मलैः ॥ २१ ॥
उरःक्षताच्चतुर्थः स्यात् क्षयाद्धातोश्च पञ्चमः ।

कास (खासी का) रोग पांच प्रकार का होता है—१—वातिककास, २—पित्तजकास, ३—श्लैष्मिककास, ४—उर क्षतज कास (छाती में आघातादि होने से), ५—धातुक्षयज कास ॥२१॥

वक्तव्य—

कासकी सम्प्राप्ति—

प्राणो ह्युदानानुगत. प्रदुष्टः सम्भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः ।
निरेति वक्त्रात् सहसा स दोषो मनीषिभि. कास इति प्रदिष्टः ॥

उर.क्षत कास

अतिव्यवाय भाराध्वयुद्धाश्वगजनिग्रहै. ।
रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥
स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत्सशोणितम् ।
कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विभिन्नेनैव चोरसा ॥

धातुक्षयजकास—

अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तरा' ।
क्षीयन्ते धातवः सर्वे तत शुष्यति मानवः ॥

क्षयविवरण

क्षयाः पञ्चैव विज्ञेयास्त्रिभिर्दोषैस्त्रयश्च ते ॥२२॥
चतुर्थः सन्निपातेन पंचमः स्यादुरःक्षतात् ।

क्षयरोग पाच प्रकार का होता है । यथा—१–वातिक क्षय, २–पैत्तिक क्षय, ३–श्लैष्मिक क्षय, ४–सान्निपातिक क्षय, और ५–उर क्षतजन्य क्षय । इस प्रकार पाच प्रकार का क्षय माना जाता है । यह क्षयरोग शोष के अन्तर्गत है । शोष का वर्णन नीचे दिया गया है ॥२२॥

शोषाः स्युः षट् प्रकारेण स्त्रीप्रसंगाच्छुचो व्रणात् ॥२३॥
अध्वश्रमाच्च व्यायामाद्वार्धक्यादपि जायते ।

शोषरोग (शरीर का सूख जाना) छ प्रकार का होता है । यथा—१—अत्यधिक स्त्री सेवन से, २—शोक से, ३—व्रणों से, ४—अत्यधिक मार्ग-गमन से, ५—स्वशक्ति से अधिक परिश्रम करने से, ६—वृद्धावस्था के कारण से । इस प्रकार शोष के छ कारण होते हैं ॥२३॥

वक्तव्य—शोष, क्षय और राजयक्ष्मा । एक ही व्याधि के लक्षण वैशिष्ट्य से तीन नाम हैं । यथा—

शोषणाच्च रसादीनां शोष इत्युच्यते बुधैः ।
क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्यभिधीयते ॥
राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः ।
तस्मात्त राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः ॥

२—अवस्था और लक्षणों के भेद से यह रोग अनेक प्रकार का होता है । वर्त्तमान में शोष को 'अनुलोमक्षय' कहते हैं और अत्यधिक शुक्रधातु के क्षय से होने वाले को 'प्रतिलोमक्षय' कहते हैं । अवस्था भेद से इस रोग को ३ प्रकार का माना जाता है ।

तीनों अवस्थाओं के लक्षण—

१—त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैर्ज्वरकासासृगामयैः ।
२—कासातिसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः ।
३—स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं सकोचश्चांसपार्श्वयोः ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चाऽऽगमः ॥
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च ।
कासः कण्ठस्य चोध्वंसो ॥

इस प्रकार ३, ६ और ११ लक्षणों की प्रत्येक अवस्था होती है । इसकी गणना महाभयकर और महारोगों में की गई है ।

श्वास विवरण—

श्वासाश्च पञ्च विज्ञेयाः क्षुद्रः स्यात्तमकस्तथा ॥२४॥
ऊर्ध्वश्वासो महाश्वासश्छिन्नश्वासश्च पञ्चमः ।

श्वासरोग पांच प्रकार का होता है यथा—१—क्षुद्रश्वास, तमकश्वास, ऊर्ध्व-श्वास, महाश्वास और छिन्नश्वास ॥२४॥

वक्तव्य—श्वास प्रश्वास का होना जीवन का परिचायक है। स्वाभाविक गति से वहन होने वाला श्वास रोग नहीं है। परन्तु जब इसकी गति अस्वाभाविक होती है तब इस को रोगात्मक श्वास कहते हैं।

यदुक्तम्—

श्लेष्मोपरुद्धगमनः पवनोऽतिदुष्टः, सदूषयन्ननु जलान्नवहाश्च नाडीः ।
आमाशयोद्भवमिदं विदधात्युरस्थं, श्वासे च वक्रगमनो हि शरीरभाजाम् ॥

हिक्का विवरण—

कथिताः पञ्च हिक्कास्तु तास्तु क्षुद्राऽन्नजा तथा ॥२५॥
गम्भीरा यमला चैव महती पञ्चमी स्मृता ॥

'क्षुद्रा' 'अन्नजा' 'गम्भीरा' 'यमला' और 'महती' इन भेदों से हिक्का (हिचकी) रोग पाच प्रकार का होता है ॥२५॥

वक्तव्य—

१—हिक्का की सम्प्राप्ति—

मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाऽऽक्षिपन् ।
सघोषवानाशु हिनस्त्यसून् यतस्ततस्तु हिक्केत्यभिधीयते बुधैः ॥

२—क्षुद्रा के लक्षण—

विकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते ।
क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात्प्रधावती ॥

३—अन्नजा हिक्का के लक्षण—

पानान्नैरतिसंभुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः ।
हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥

४—गम्भीरा हिक्का के लक्षण—

नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी ।
अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता ॥

५—यमला हिक्का के लक्षण—

चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का सम्प्रवर्त्तते ।
कम्पयंती शिरो ग्रीवां यमलां तां विनिर्दिशेत् ॥

६—महाहिक्का के लक्षण—

मर्म्माण्युत्पीडयतीव सततं या प्रवर्त्तते ।
महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रप्रकम्पिनी ॥

असाध्य हिक्का के लक्षण—

आयम्यते हिक्कतो यस्य देहो दृष्टिश्चोर्द्ध ताम्यते यस्य नित्यम् ।
क्षीणोऽन्नद्विद् क्षौति यश्चातिमात्रं तौ द्वौ चान्त्यौ वर्ज्जयेद्धिक्कमानौ ॥

अग्निविकार विवरण—

चत्वारोऽग्नेर्विकाराः स्युर्विषमो वातसम्भवः ॥२६॥
तीक्ष्णः पित्तात्कफान्मन्दो भस्मको वातपित्तयोः ।

अग्नि विकार (अजीर्ण रोग) चार प्रकार का होता है । यथा—वायु से—'विषमाग्नि', पित्त से—'तीक्ष्णाग्नि', कफ कोप से—'मन्दाग्नि', तथा वात और पित्त के कोप से—'भस्मकाग्नि' ॥२६॥

वक्तव्य—कभी आहार का पाक उत्तम हो और कभी न हो इस दशा को 'विषमाग्नि' कहते हैं । भोजन की मात्रा और अतिमात्रा का सुख से पाक होना 'तीक्ष्णाग्नि' कहलाता है । भोजन की थोडी मात्रा का भी सुख से पाक न हो, इसको 'मन्दाग्नि' कहते हैं । भस्मक का लक्षण—

अतिप्रवृद्ध पवनान्वितोऽग्निः क्षणाद्रसं शोषयति प्रसह्य ।
भुक्तं क्षणाद्भस्म करोति यस्मात्तस्मादयं भस्मकसञ्ज्ञकस्तु ॥

अरोचक रोग विवरण—

पञ्चैवारोचका ज्ञेया वातपित्तकफैस्त्रिधा ॥२७॥
सन्निपातान्मनस्तापात् ।

पाच ही प्रकार का अरोचक (अरुचि) रोग होता है । यथा—१—वातिक अरोचक, २—पैत्तिक अरोचक, ३—श्लैष्मिक अरोचक, ४—त्रिदोषज अरोचक, ५—मनोभिघातज अरोचक ।

वक्तव्य—इस रोग में भोजनेच्छा अथवा भोजन की रुचि नष्ट हो जाती है ।

यदुक्तम्—

प्रक्षिप्त च मुखे चान्नं जन्तुर्न स्वदते मुहु. ।
अरोचकः स विज्ञेयो, भक्तद्वेषमथ शृणु ॥
चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वा च भोजनम् ।
द्वेषमायाति यो जन्तुर्भक्तद्वेष स उच्यते ॥
यस्य नान्ने भवेत् श्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते ।
कुपितस्य भयार्तस्य यस्य भक्तनिरोधज ॥ (वृद्ध भोज०)

छर्दिरोग विवरण—

छर्द्यः सप्तधा मताः ।
त्रिभिर्दोषैः पृथक्तिस्रः क्रमिभिः सन्निपाततः ॥२८॥
घृणया च तथा स्त्रीणां गर्भाधानाच्च जायते ।

छर्दि (कय) रोग सात प्रकार का होता है। वायु की छर्दि, पित्त की छर्दि, कफ की छर्दि, त्रिदोष की छर्दि, उदर-कृमियों के कारण छर्दि, घृणा (मानसिक भावों की प्रतिकूलता) की छर्दि, तथा स्त्रियों के गर्भ धारण के प्रारम्भिक मासों में होने वाली छर्दि। इस प्रकार कय का रोग सात प्रकार का होता है ॥२८॥

स्वरभेदरोग—

स्वरभेदाः षडेव स्युर्वातपित्तकफैस्त्रयः ॥२९॥
मेदसा सन्निपातेन क्षयात्षष्ठः प्रकीर्तितः ।

स्वरभेद रोग छ प्रकार का होता है—

यथा—१-वायु का स्वरभेद, २-पित्त का स्वरभेद, ३-कफ का स्वरभेद, ४-मेद का स्वरभेद, ५-सन्निपात का स्वरभेद, ६-क्षय (धातु क्षय) जनित स्वरभेद, इस प्रकार स्वरभेद (गले का बैठना) छ प्रकार का होता है ॥२९॥

तृष्णारोग—

तृष्णा च षड्विधा प्रोक्ता वातात्पित्तात्कफादपि ॥३०॥
त्रिदोषैरुपसर्गेण क्षयाद्धातोश्च षष्ठिका ।

तृष्णारोग छ: प्रकार का होता है—

यथा—१-वायु की तृष्णा, २-पित्त की तृष्णा, ३-कफ की तृष्णा, ४-सन्निपातज तृष्णा, ५-उपसर्गज (आगन्तुक) तृष्णा, ६-धातुक्षयज तृष्णा। इस प्रकार तृष्णा (प्यास, अनुपयुक्त प्यास की अधिकता) का रोग छ प्रकार का होता है ॥३०॥

मूर्च्छारोग—

मूर्च्छा चतुर्विधा ज्ञेया वातपित्तकफैः पृथक् ॥३१॥
चतुर्थी सन्निपातेन तथैकश्च भ्रमः स्मृतः ।
तन्द्रा निद्रा च संन्यासो ग्लानिश्चैकैकशः स्मृताः ॥३२॥

मूर्च्छा (बेहोशी) का रोग चार प्रकार का होता है। यथा—१-वातिकमूर्च्छा, २-पैत्तिकमूर्च्छा, ३-श्लैष्मिकमूर्च्छा, ४-सन्निपातजमूर्च्छा तथा—भ्रम, निद्रा, तन्द्रा, सन्यास, और ग्लानि, यह रोग एक एक प्रकार के होते हैं ॥३२॥

वक्तव्य—सर्वथा विसंज्ञ होने को मूर्च्छा कहते हैं।

भ्रम—रजोगुण और पित्तादिक्य से मस्तक घूमने लग जाता है। इसको भ्रम कहते हैं।

निद्रा—यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपति मानवः॥

तन्द्रा—

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्॥

संन्यास—

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिपन्ति बलान्मलाः।
संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः॥
स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः।
प्राणैर्विमुच्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यः फलां क्रियाम्॥

ग्लानि—

योऽनायासश्रमो देहे हृदयोद्वेष्टनं क्लमः।
न चान्नमभिकाङ्क्षेत ग्लानिं तस्य विनिर्दिशेत्॥

मदरोग विवरण—

मदाः सप्त समाख्याता वातपित्तकफैस्त्रयः।
त्रिदोषैरसृजा मद्याद्विषादपि च सप्तमः॥ ३३॥
मदात्ययश्चतुर्धा स्याद्वातात्पित्तात्कफादपि।
त्रिदोषैरपि विज्ञेय एकः परमदस्तथा॥ ३४॥
पानाजीर्णं तथा चैकं तथैकः पानविभ्रमः।
पानात्ययस्तथा चैको

चित्त की विस्मृति, चित्त की अनवस्थिति अथवा बुद्धि के लोप को मद कहते हैं। यह मद रोग सात प्रकार का होता है। यथा—१-वातिकमद, २-पैत्तिकमद, ३-श्लैष्मिकमद, ४ सन्निपातजमद ५-रक्तजमद, ६-मद्यजनितमद, ७-विषजनितमद। इस प्रकार यह सात प्रकार का है।

मदात्यय (मद्य के मिथ्या प्रयोगों से) रोग चार प्रकार का होता है। वायु, पित्त, कफ तथा परमद, पानजीर्ण, पानविभ्रम, और पानात्यय इस प्रकार यह चार प्रकार का होता है॥३३-३४॥

दाहरोग—

दाहाः सप्त मतास्तथा॥ ३५॥

रक्तपित्तात्तथा रक्तात्तृष्णायाः पित्ततस्तथा ।
धातुक्षयान्मर्मघाताद्रक्तपूर्णोदरादपि ॥ ३६ ॥

दाहरोग सात प्रकार का होता है। यथा—१-रक्तपित्त से, २-रक्त से, ३—तृष्णाधिक्य से, ४—पित्ताधिक्य से, ५—धातुक्षय से, ६—मर्म स्थानों के आघात से, ७—उदर में रक्त भर जाने से। इस प्रकार यह दाह (शरीर में जलन होना) रोग सात प्रकार का होता है।

वक्तव्य— यदुक्तम्—

त्वचं प्राप्तः सपानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः।
दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥

उन्मादरोग—

उन्मादाः षट् समाख्यातास्त्रिभिर्दोषैस्त्रयश्च ते ।
सन्निपाताद्विषाज्ज्ञेयः षष्ठो दुःखेन चेतसः ॥ ३७ ॥
भूतोन्मादा विंशतिः स्युस्ते देवाद्दानवादपि ।
गन्धर्वात्किन्नराद्यक्षात्पितृभ्यो गुरुशापतः ॥ ३८ ॥
प्रेताच्च गुह्यकाद् वृद्धात्सिद्धाद् भूतात्पिशाचतः ।
जलाधिदेवतायाश्च नागाद्वै ब्रह्मराक्षसात् ॥ ३९ ॥
राक्षसादपि कूष्माण्डात्कृत्यावेतालयोरपि ।

उन्माद (धीविभ्रम) रोग छ प्रकार का होता है। यथा—१—वातोन्माद, २—पित्तोन्माद, ३—कफोन्माद, ४—त्रिदोषोन्माद, ५—विषोन्माद, ६—दु खोन्माद। इस प्रकार से उन्माद रोग छ प्रकार का होता है।

भूतोन्माद (देवराक्षसादि ग्रहजनित) वीस प्रकार का होता है। यथा—

१—देवग्रहोन्माद, २—असुरोन्माद, ३—गन्धर्वोन्माद, ४—किन्नरोन्माद, ५—यक्षोन्माद, ६—पितरोन्माद, ७—गुरुशापोन्माद, ८—प्रेतोन्माद, ९—गुह्योन्माद, १०—वृद्धों के रोष से, ११—सिद्धपुरुषों के रोष से, १२—भूतोन्माद, १३—पिशाचोन्माद, १४—वरुणोन्माद, १५—नागोन्माद, १६—ब्रह्मराक्षसोन्माद, १७—राक्षसोन्माद, १८—कूष्माण्डराक्षसोन्माद, १९—कृत्योन्माद (जादू टोना से), २०—वेतालोन्माद। इस प्रकार भूतावेशज उन्मादरोग बीस प्रकार का होता है ॥३७–३९॥

वक्तव्य— उन्माद की सम्प्राप्ति—

मदयन्त्युद्गता दोषा यस्मादुन्मार्गमागताः।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः ॥

अपस्माररोग—

अपस्मारश्चतुर्धा स्यात्समीरात्पित्ततस्तथा ॥४०॥
श्लेष्मणोऽपि तृतीयः स्याच्चतुर्थः सन्निपाततः ।

अपस्मार (भूल जाना) रोग चार प्रकार का होता है । यथा—१–वातिक-अपस्मार, २–पैत्तिकअपस्मार, ३–श्लैष्मिकअपस्मार, ४–सन्निपातजअपस्मार । इन भेदों से अपस्मार रोग चार प्रकार का होता है ॥४०॥

वक्तव्य—

तम प्रवेश संरम्भो दोषोद्रेकहत स्मृते ।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥

आमवातरोग—

चत्वारश्चामवाताः स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा ॥४१॥
चतुर्थः सन्निपाताच्च

आमवात (गठिया) रोग चार प्रकार का होता है । यथा—१–वातिक-आमवात, २–पैत्तिकआमवात, ३–कफजआमवात, ४–सन्निपातजआमवात, इस प्रकार आमवात रोग चार प्रकार का होता है ॥४१॥

शूलरोग—

शूलान्यष्टौ बुधा जगुः ।
पृथग्दोषैस्त्रिधा द्वन्द्वभेदेन त्रिविधान्यपि ॥४२॥
आमेन सप्तमं प्रोक्तं सन्निपातेन चाष्टमम् ।

वैद्यों द्वारा शूलरोग आठ प्रकार का कहा गया है । यथा—१–वातिकशूल, २–पैत्तिकशूल, ३–कफजशूल, ४–वातपैत्तिकशूल, ५–कफपैत्तिकशूल, ६–कफ-वातिकशूल, ७–आमजशूल, ८–सान्निपातिकशूल । इस प्रकार शूलरोग आठ प्रकार का होता है ॥४२॥

वक्तव्य—वातिकशूल पक्वाशय और वस्ति तथा कटि प्रदेश में होता है । पैत्तिकशूल नाभि में होता है ।

कफजशूल आमाशय में होता है । द्वन्द्वजशूल मिश्रित स्थानों पर होता है । आमजशूल आमाशय तथा उसके आस पास होता है । त्रिदोषजशूल समस्त उदर में प्रतीत होता है । परिणाम तथा अन्नद्रव के नाम से और भी शूल शास्त्र में माने गये हैं ।

परिणामशूल—

परिणामभवं शूलमष्टधा परिकीर्तितम् ॥४३॥

मलैर्यैः शूलसंख्या स्यात्तैरेव परिणामजम् ।
अन्नद्रवभवं शूलं जरत्पित्तभवं तथा ॥४५॥
एकैकं गणितं सुज्ञैः

परिणामशूल वातादि भेद से आठ प्रकार का होता है। अन्नद्रवशूल तथा जरत्पित्तशूल यह एक २ प्रकार का होता है ॥४३-४४॥

वक्तव्य— परिणामशूल के लक्षण—

भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ।
केचिदन्नद्रवं प्राहुरन्ये तत्पक्तिदोषजम् ॥
जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते ।
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च ॥
न शर्मं याति नियमात् सोऽन्नद्रव उदाहृतः ।

उदावर्तरोग—

उदावर्तास्त्रयोदश ।
एकः क्षुन्निग्रहात्प्रोक्तस्तृष्णारोधाद् द्वितीयकः ॥४५॥
निद्राघातात्तृतीयः स्याच्चतुर्थः श्वासनिग्रहात् ।
छर्दिरोधात्पञ्चमः स्यात्षष्ठः क्षवथुनिग्रहात् ॥४६॥
जृम्भारोधात्सप्तमः स्यादुद्गारग्रहतोऽष्टमः ।
नवमः स्यादश्रुरोधाद्दशमः शुक्रधारणात् ॥४७॥
मूत्ररोधान्मलस्यापि रोधाद्वातविनिग्रहात् ।
उदावर्तास्त्रयश्चैते घोरोपद्रवकारकाः ॥४८॥

उदावर्तरोग १३ प्रकार का होता है। यथा—१-क्षुधा (भूख) के रोकने से, २-तृषा के रोकने से, ३-निद्रा के रोकने से, ४-श्वास के रोकने से, ५-कय के रोकने से, ६-छींक के रोकने से, ७-जम्भाई के रोकने से, ८-डकार के रोकने से, ९-अश्रुओं के रोकने से, १०-उपस्थित शुक्रवेग को रोकने से, ११-मूत्र को रोकने से, १२-पुरीषवेग को रोकने से, १३-वायु (अपानवायु) को रोकने से भयंकर उपद्रवों को करनेवाला १३ प्रकार का उदावर्तरोग उत्पन्न होता है ॥४५-४८॥

आनाहरोग —

आनाहो द्विविधो ज्ञेय एकः पक्वाशयोद्भवः ।
आमाशयोद्भवश्चान्यः प्रत्यानाहः स कथ्यते ॥४९॥

आनाह (पेट के फूलने) का रोग दो प्रकार का होता है । पक्वाशयोद्भव को आनाह कहते हैं । और आमाशयोद्भव इसको 'प्रत्यानाह' कहते हैं ॥४९॥

उरोग्रहरोग—

उरोग्रहस्तथा चैको

उरोग्रह (छाती का जकड़ना) रोग एक ही प्रकार का होता है ।

वक्तव्य— यदुक्तम्—

सास्रं मांसं यकृत्प्लीह्नो· सद्यो वृद्धं यदा गतौ ।
उरोग्रह तदा कुक्षौ कुरुत· कफमारुतौ ॥

हृद्रोगविवरण

हृद्रोगाः पञ्च कीर्तिताः ।
वातादिभिस्त्रयः प्रोक्ताश्चतुर्थः सन्निपातत ॥५०॥
पञ्चमः क्रिमिसंजात—

हृद्रोग पाच प्रकार का होता है । यथा—१—वातिकहृद्रोग, २—पैत्तिकहृद्रोग, ३—कफजहृद्रोग, ४—सन्निपातजहृद्रोग, ५—कृमिजहृद्रोग, इस प्रकार हृद्रोग पाच प्रकार का होता है ॥५०॥

उदररोग—

स्तथाष्टावुदराणि च ।
वातात्पित्तात्कफात्तीणि त्रिदोषेभ्यो जलादपि ॥५१॥
प्लीह्नः क्षताद्बद्धगुदादष्टमं परिकीर्तितम् ।

उदर रोग आठ प्रकार का होता है । यथा—१—वातिकउदररोग, २—पैत्तिकउदररोग, ३—कफजउदररोग, ४—त्रिदोषजउदररोग, ५—जलोदररोग, ६—प्लीहोदररोग, ७—क्षतोदररोग, ८—बद्धगुदोदररोग । इस प्रकार उदररोग आठ प्रकार के होते हैं ॥५१॥

वक्तव्य— जलोदर के लक्षण—

य स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः ।
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्वहानि ॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवापि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति ।

बद्धगुदोदर के लक्षण—

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा वालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत् ।
सञ्चीयते यस्य मल सदोष शनै· शनैः संकरवच्च नाड्याम् ॥

निरुध्यते तस्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति तस्योदर बद्धगुदं वदन्ति॥

प्लीहोदर के लक्षण—

तद्वामपार्श्वे परिवृद्धिमेति प्लीहामय त जठर वदंति।

यकृतोदर के लक्षण--

सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रदुष्टे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव।

गुल्मरोग विवरण—

गुल्मास्त्वष्टौ समाख्याता वातपित्तकफैस्त्रयः ॥५२॥
द्वन्द्वभेदास्त्रयः प्रोक्ताः सप्तमः सन्निपाततः।
रक्तादष्टमकः ख्यातो

गुल्म (गोला) का रोग आठ प्रकार का होता है। यथा—१—वातिकगुल्म, २ पैत्तिकगुल्म, ३ श्लेष्मिकगुल्म, ४—वातपैत्तिकगुल्म, ५—वातश्लेष्मिकगुल्म, ६—कफपैत्तिकगुल्म, ७—सान्निपातिकगुल्म, ८—रक्तगुल्म (यह स्त्रियों को ही होता है)। इस प्रकार गुल्म रोग आठ प्रकार का है ॥५२॥

वक्तव्य— गुल्म के लक्षण

हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः सचारी यदि वाऽचलः।
वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः॥

रक्तगुल्म के लक्षण

नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्त करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्॥
पैत्तस्य लिंगेन समानलिंग विशेषणं चाप्यपरं निबोध।
यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूल समगर्भलिङ्ग॥
सरौधिर स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः।

गुल्म के उदर में पांच स्थान माने गये हैं। यथा—दोनों कुक्षि, हृदय, (हृदय के समीप) नाभि और बस्तिस्थान। इन स्थानों की नाडियों में वायु संचित होकर उन्हें गोलाकार उभार देती है। इसी उभार को गुल्म कहते हैं। दोषानुसार इस ... में लक्षण होने से इसका सम्बन्ध दोषों से होता है।

मूत्राघातरोग—

मूत्राघातास्त्रयोदश ॥५३॥
वातकुण्डलिका पूर्वं वाताष्ठीला ततः परा।
वातबस्तिस्तृतीयः स्यान्मूत्रातीतश्चतुर्थकः ॥५४॥
पञ्चमं मूत्रजठरं षष्ठो मूत्रक्षयः स्मृतः।
मूत्रोत्सर्गः सप्तमः स्यान्मूत्रग्रन्थिस्तथाष्टमः ॥५५॥

आनाह (पेट के फूलने) का रोग दो प्रकार का होता है। पक्काशयोद्भव को आनाह कहते हैं। और आमाशयोद्भव इसको 'प्रत्यानाह' कहते हैं ॥४६॥

उरोग्रहरोग—

उरोग्रहस्तथा चैको

उरोग्रह (छाती का जकडना) रोग एक ही प्रकार का होता है।

वक्तव्य— यदुक्तम्—

सास्रं मांसं यकृत्प्लीह्नोः सद्यो वृद्ध यदा गतौ ।
उरोग्रह तदा कुक्षौ कुरुत· कफमारुतौ ॥

हृद्रोगविवरण

हृद्रोगाः पञ्च कीर्तिताः ।
वातादिभिस्त्रयः प्रोक्ताश्चतुर्थः सन्निपाततः ॥५०॥
पञ्चमः कृमिसंजात—

हृद्रोग पाच प्रकार का होता है। यथा—१—वातिकहृद्रोग, २—पैत्तिकहृद्रोग, ३—कफजहृद्रोग, ४—सन्निपातजहृद्रोग, ५—कृमिजहृद्रोग, इस प्रकार हृद्रोग पाच प्रकार का होता है ॥५०॥

उदररोग—

स्तथाष्टावुदराणि च ।
वातात्पित्तात्कफात्तीणि त्रिदोषेभ्यो जलादपि ॥५१॥
प्लीह्नः क्षताद्बद्धगुदादष्टमं परिकीर्तितम् ।

उदर रोग आठ प्रकार का होता है। यथा—१—वातिकउदररोग, २—पैत्तिकउदररोग, ३—कफजउदररोग, ४—त्रिदोषजउदररोग, ५—जलोदररोग, ६—प्लीहोदररोग, ७—क्षतोदररोग, ८—बद्धगुदोदररोग। इस प्रकार उदररोग आठ प्रकार के होते हैं ॥५१॥

वक्तव्य— जलोदर के लक्षण—

य· स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः ।
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्वहानि ॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवापि तेषु दकोदर पूर्ववदभ्युपैति ।

बद्धगुदोदर के लक्षण—

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत् ।
सञ्चीयते यस्य मलः सदोष शनैः शनै· संकरवच्च नाड्याम् ॥

निरुध्यते तस्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति तस्योदरं बद्धगुदं वदन्ति॥

प्लीहोदर के लक्षण—

तद्वामपार्श्वे परिवृद्धिमेति प्लीहामय तं जठरं वदंति।

यकृतोदर के लक्षण--

सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रदुष्टे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव।

गुल्मरोग विवरण—

गुल्मास्त्वष्टौ समाख्याता वातपित्तकफैस्त्रयः ॥५२॥

द्वन्द्वभेदास्त्रयः प्रोक्ताः सप्तमः सन्निपाततः।

रक्तादष्टमकः ख्यातो

गुल्म (गोला) का रोग आठ प्रकार का होता है। यथा—१—वातिकगुल्म, २ पैत्तिकगुल्म, ३ श्लैष्मिकगुल्म, ४—वातपैत्तिकगुल्म, ५—वातश्लैष्मिकगुल्म, ६—कफपैत्तिकगुल्म, ७—सान्निपातिकगुल्म, ८—रक्तगुल्म (यह स्त्रियों को ही होता है)। इस प्रकार गुल्म रोग आठ प्रकार का है ॥५२॥

वक्तव्य— गुल्म के लक्षण

हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थि' सञ्चारी यदि वाऽचलः।
वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः॥

रक्तगुल्म के लक्षण

नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्त करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्॥
पैत्तस्य लिंगेन समानलिंग विशेषण चाप्यपरं निबोध।
यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूल समगर्भलिङ्गः॥
सरौधिर स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः।

गुल्म के उदर में पांच स्थान माने गये हैं। यथा—दोनों कुक्षि, हृदय, (हृदय के समीप) नाभि और वस्तिस्थान। इन स्थानों की नाड़ियों में वायु सचित होकर उन्हें गोलाकार उभार देती है। इसी उभार को गुल्म कहते हैं। दोषानुसार इस उभार में लक्षण होने से इसका सम्वन्ध दोषों से होता है।

मूत्राघातरोग —

मूत्राघातास्त्रयोदश ॥५३॥

वातकुण्डलिका पूर्वं वाताष्ठीला ततः परा।

वातवस्तिस्तृतीयः स्यान्मूत्रातीतश्चतुर्थकः ॥५४॥

पञ्चमं मूत्रजठरं षष्ठो मूत्रक्षयः स्मृतः।

मूत्रोत्सर्गः सप्तमः स्यान्मूत्रग्रन्थिस्तथाष्टमः ॥५५॥

मूत्रशुक्रं तु नवमं विड्घातो दशमः स्मृतः ।
मूत्रसादश्चोष्णवातो बस्तिकुण्डलिका तथा ॥५६॥
त्रयोऽप्येते मूत्रघाताः पृथग्घोराः प्रकीर्तिताः ।

मूत्राघातरोग १३ प्रकार का होता है । यथा—१—वातकुण्डलिका, २—वाताष्ठीला, ३—वातवस्ति, ४—मूत्रातीत, ५—मूत्रजठर, ६—मूत्रक्षय, ७—मूत्रोत्सर्ग, ८—मूत्रग्रन्थि, ९—मूत्रशुक्र, १०—विड्विघात, ११—मूत्रसाद, १२—उष्णवात, १३—बस्तिकुण्डली । इस प्रकार इन नामों से १३ प्रकार का मूत्राघात रोग होता है । मूत्राघातोक्त मूत्रसाद, उष्णवात और वस्तिकुण्डलिका—यह तीन रोग भयकर और घोर होते हैं ॥५३—५६॥

वक्तव्य—मूत्राघात वस्ति का रोग है । इसके रोगी को जब भी मूत्र आता है उस समय बस्ति और मेहनमार्ग में चीरने की सी पीडा होती है इसी को मूत्राघात कहते हैं ।

मूत्राघातोक्त रोगों में—मूत्रसाद—उष्णवात, वस्तिकुण्डली—यह तीनों रोग अत्यत दुःसाध्य होते हैं । उष्णवात को आजकल 'सुजाक' में परिगणित किया जारहा है परन्तु बहुत से विद्वान् इस धारणा से सहमत नहीं हैं ।

मूत्रकृच्छ्ररोग—

मूत्रकृच्छ्राणि चाष्टौ स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा ॥५७॥
सन्निपाताच्चतुर्थं स्याच्छुक्रकृच्छ्रं च पञ्चमम् ।
विट्कृच्छ्रं षष्ठमाख्यातं घातकृच्छ्रं च सप्तमम् ॥५८॥
अष्टमं चाश्मरीकृच्छ्रं

मूत्रकृच्छ्र (मूत्र का कष्ट से आना) रोग आठ प्रकार का होता है, यथा—१—वातिकमूत्रकृच्छ्र, २—पैत्तिकमूत्रकृच्छ्र, ३—श्लैष्मिकमूत्रकृच्छ्र, ४—सन्निपातजमूत्रकृच्छ्र, ५—शुक्रजमूत्रकृच्छ्र, ६—विड्मूत्रकृच्छ्र, ७—अभिघातजमूत्रकृच्छ्र, ८—अश्मरी जनित मूत्रकृच्छ्र, । इस विधान से आठ प्रकार का मूत्रकृच्छ्र होता है । इस रोग में मूत्र कष्ट से उतरता है इसलिये इसको मूत्रकृच्छ्र कहते हैं ॥५७—५८॥

अश्मरीरोग—

चतुर्धा चाश्मरी मता ।
वातात्पित्तात्कफाच्छुक्रात्

अश्मरी (पथरी) का रोग चार प्रकार का होता है—१—वाताश्मरी, २—पित्ताश्मरी, ३—कफाश्मरी, ४—शुक्राश्मरी ।

वक्तव्य—वात, पित्त और कफ की अश्मरी स्त्री पुरुष दोनों को होती हैं, परन्तु शुक्राश्मरी बड़ी आयु के पुरुषों को ही होती है । यथा—

शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्रधारणात् ।
स्थानाच्च्युतममुक्तं हि मुष्कयोरंतरेऽनिलः ॥
शोषयत्युपसंगृह्य शुक्रं तत् शुक्रजाश्मरी ।

प्रमेहरोग—

—तथा मेहाश्च विंशतिः ॥५९॥
इक्षुमेहः सुरामेहः पिष्टमेहश्च सान्द्रकः ।
शुक्रमेहोदकाख्यौ च लालामेहश्च शीतकः ॥६०॥
सिकताख्यः शनैर्मेहो दशैते कफसम्भवाः ।
माञ्जिष्ठाख्यो हरिद्राख्यो नीलमेहश्च रक्तकः ॥६१॥
कृष्णमेहः क्षारमेहः षडेते पित्तसम्भवाः ।
हस्तिमेहो वसामेहो मज्जामेहो मधुप्रभः ॥६२॥
चत्वारो वातजाः मेहा इति मेहाश्च विंशतिः ।

इसी प्रकार प्रमेह रोग बीस प्रकार का होता है । यथा—१—इक्षुमेह (इसमें गन्ने के रस के समान मूत्र आता है), २—सुरामेह (इस प्रमेही के मूत्र को कुछ देर रख देने से मूत्र के नीचे घनभाग बैठ जाता है और ऊपर का मूत्रांश स्वच्छ रहता है), ३—पिष्टमेह (इसमें पीसे हुए चावलों जैसा मूत्र आता है) । ४—सान्द्रमेह (इस प्रमेह में रात का रक्खा हुआ मूत्र प्रात तक जम जाता है) । ५—शुक्रमेह (इसमें मूत्रका वर्ण शुक्र जैसा होता है अथवा मूत्रमें शुक्रांश रहता है) । ६—उदकमेह (इस प्रमेह में मूत्र स्वच्छ और शीत तथा गन्धरहित अधिक मात्रा में आता है) । ७ - लालाप्रमेह (इसमें मूत्रके साथ लार सी बन्धी हुई आती है) । ८—शीतप्रमेह (इसमें मूत्र शीतल और अधिक परिमाण में आता है) । ९—सिकतामेह (इस प्रमेह में मूत्रके साथ रेत के सूक्ष्मकण आते हैं) । १०—शनै प्रमेह (इसमें मूत्र अतिमन्द गति और थोडा २ आता है) । इस प्रकार यह दश प्रमेह कफजनित होते हैं ।

१—मञ्जिष्ठाप्रमेह (इसमें मूत्र मंजीठ के क्वाथ जैसा लाल आता है । २—हरिद्राप्रमेह (इसमें मूत्रका वर्ण हलदी के रंग जैसा होता है), ३—नील प्रमेह (इसमें मूत्रका वर्ण नीले वर्ण का होता है) । ४—रक्तमेह (इसमें मूत्र दुर्गन्ध युक्त, उष्ण, लवण तथा रक्तवर्ण का होता है) । ५—कृष्णमेह (इसमें स्याही के समान कृष्णवर्ण का मूत्र आता है) । ६—क्षारप्रमेह (इस प्रमेह में मूत्रका वर्ण

क्षारोदक जैसा तथा गन्धवर्ण, रस और स्पर्श भी क्षारोदक के सदृश होता है)। इस प्रकार यह छ प्रमेह पित्तजनित होते हैं।

१—हस्तिप्रमेह (इस रोग में मूत्रवेग प्रमत्त हाथी के वेग रहित मूत्रके समान होता है)। २—वसामेह (इस रोग में मूत्र में वसा आती है अथवा मूत्र वसा की आभा वाला होता है)। ३—मज्जामेह (इस रोग में मनुष्य वार २ मज्जा मिश्रित मूत्र छोडता है)। ४—मधुमेह (इस प्रमेह में मूत्र में शर्करा आती है, मूत्र कषाय और रूक्ष होता है। साधारण मूत्र की अपेक्षा इसमें गुरुत्व अधिक होता है)। इस प्रकार यह चार प्रमेह वातजनित होते हैं। अत दश, छ और चार सब मिलाकर २० प्रमेह होते हैं ॥ ५६-६२॥

वक्तव्य—प्रमेह रोग में वस्ति, वृक्कद्वय, क्लोम, आमाशय, पक्वाशय, अंतडिया और रुधिर यह सब विकृत हो जाते हैं।

प्रमेह का पूर्व रूप—

दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयो.।
दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्य च जायते ॥

लक्षण—

सामान्यं लक्षण तेषां प्रभूताविलमूत्रता।
दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषत. ॥

कफज प्रमेहों के उपद्रव—

अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः।
उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहाना कफजन्मनाम् ॥

पैत्तिक प्रमेहों के उपद्रव—

वस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वर.।
दाहस्तृष्णाम्लिका मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम् ॥

वातिक प्रमेहों के उपद्रव—

वातजानामुदावर्त कम्पहृद्ग्रहलोलता।
शूलमुन्निद्रता शोष. कासः श्वासश्च जायते ॥

सोमरोग—

सोमरोगस्तथा चैकः—

सोमरोग एक ही प्रकार का होता है।

वक्तव्य—आपः सर्वशरीरेषु क्षुभ्यन्ति प्रस्रवंति च।
मूत्रमार्गेण विमला. सोमरोग इति स्मृत. ॥

प्राय इस रोग में स्त्रियों को मूत्र अधिक और जलवत् आता है। इस के साथ साथ शरीर में दाह, तृषा, बलहानि और निष्क्रियता उत्पन्न हो जाती है। चिरकाल का यह रोग स्त्री के स्वास्थ्य को भारी नुकसान पहुंचाता है।

प्रमेहपिडिका—

—प्रमेहपिडका दश ॥६३॥
शराविका कच्छपिका पुत्रिणी विनताऽलजी।
मसूरिका सर्षपिका जालिनी च विदारिका॥६४॥
विद्रधिश्च दशैताः स्युः पिडका मेहसम्भवाः।

प्रमेह रोग की अपेक्षा करने से दश प्रकार की पिडिकाएं (फुन्सियां) उत्पन्न होती हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१—शराविका (यह मध्य से गहरी और किनारों से ऊंची होती है)। कच्छपिका (यह पिडिका कच्छू की पीठ के समान ऊंची होती है)। ३—पुत्रिणी (इस के आस पास छोटी छोटी और पिडिकाएं उत्पन्न हो जाती हैं)। ४—विनता (तीव्रशूलयुक्त उदर अथवा पीठ पर हो)। ५—मसूरिका (मसूराकृति फुंसिया हों)। ६—सर्षपिका (सरसों के समान फुंसिया होती हैं)। ७—जालिनी (रक्त और श्वेतवर्ण के स्फोटों से युक्त हो)। ८—विदारिका (विदारीकन्द के समान कठिन फुसी हो)। ९—विद्रधी (गूढमूला, शोथ युक्त हो)। १०—अलजी। इस प्रकार दश पिडिकाएं प्रमेह की चिकित्सा न करने से होती हैं। यह पिडिकाए प्रमेह के विना भी हो जाती हैं॥६३—६४॥

यथा—विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदस'।

मेदोरोग—

मेदोदोषस्तथा चैकः—

मेद (चरबी) की वृद्धि से उत्पन्न होने वाला दोष (रोग) एक होता है।

वक्तव्य—मेदो वृद्धि का कारण—

अव्यायामदिवास्वप्नश्लेष्मलाहारसेविनः।
मधुरोऽन्नरस· प्रायः स्नेहान्मेद· प्रवर्द्धयेत्॥
मेदसाच्छ्रतमार्गत्वात्पुष्यन्त्यन्ये न धातवः।
मेदस्तु चीयते तस्मादशक्तः सर्वकर्मसु॥

मेद की स्थिति—

मेदस्तु सर्वभूतानामुदरेऽण्वस्थिसंस्थितम्।
अत एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत्॥

मेदस्वी के लक्षण—

क्षुद्रश्वासतृषामोहस्वप्नक्रथनसादनैः ।
युक्तः क्षुत्स्वेददौर्गन्ध्यैरल्पप्राणोऽल्पमैथुनः ॥

शोथरोग—

—शोथरोगा नव स्मृताः ॥६५॥
दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि ।

शोथरोग (सूजन) नौ प्रकार का होता है। यथा—१—वातिक शोथ, २—पैत्तिक शोथ, ३—श्लैष्मिक शोथ, ४—वातपैत्तिक शोथ, ५—वातश्लैष्मिक शोथ, ६—कफपैत्तिक शोथ, ७—सन्निपातज शोथ, ८—अभिघातज शोथ, ९—विषजनित शोथ ॥६५॥

वक्तव्य—यह शोथ व्रणशोथ से भिन्न है। इसकी स्थिति त्वङ्मास में होती है और यह प्राय रोगाक्रान्तावस्था में अपथ्यशीलता के कारण होता है।

यदुक्तम्—रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिः शिराः ।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम् ।
उत्सेधं संहतं शोथ तमाहुर्निचयादतः ॥

अभिघातज शोथ—

अभिघातेन शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिः ।
हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लातकपिकच्छुजैः ॥
रसैः शूकैश्च संस्पर्शात् श्वयथुः स्याद्विसर्पवान् ।
भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः ॥

विषज शोथ—

विषजः सविषप्राणिपरिसर्पणमूत्रणात् ।
दंष्ट्रादन्तनखाघातादविषप्राणिनामपि ॥
विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसंकरात् ।
विषवृक्षानिलस्पर्शाद्गरयोगावचूर्णनात् ॥
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाहरुजाकरः ।

अण्डवृद्धि रोग—

वृद्धयः सप्त गदिता वातात्पित्तात्कफेन च ॥६६॥
रक्तेन मेदसा मूत्रादन्त्रवृद्धिश्च सप्तमी ।

वृद्धिरोग सात प्रकार का होता है। यथा—१—वातिक वृद्धि, २—पैत्तिक वृद्धि, ३—श्लैष्मिक वृद्धि, ४—रक्तज वृद्धि ५—मेदज वृद्धि, ६—मूत्रज वृद्धि, ७—अन्त्र वृद्धि। इस प्रकार वृद्धि रोग ७ प्रकार का होता है ॥६६॥

वक्तव्य—इस रोग को हर्निया कहते हैं। इसमें अण्डकोष तथा आंत दोनों बढते हैं। यथा—

क्रुद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुः शोथशूलकरश्चरन्।
मुष्कौ वङ्क्षणतः प्राप्य फलकोषाभिवाहिनीः॥
प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फलकोशयोः।
दोषास्रमेदोमूत्रान्त्रैः स वृद्धिः सप्तधा गदः॥

अन्त्रवृद्धि—

अन्त्रं विगुणमादाय जन्तोर्नयति वङ्क्षणम्।
वङ्क्षणात् तद्‌जरायुक्तं फलकोशं प्रपद्यते॥

अण्ड वृद्धि—

अण्डवृद्धिस्तथा चैका—

एवं अण्डवृद्धि रोग एक प्रकार का होता है।

गण्डमाला—

—तथैका गण्डमालिका ॥६७॥

गण्डमाला रोग भी एक प्रकार का होता है।

वक्तव्य—इस रोग में मालाकृति गण्ड होते हैं। इसलिये इसको गण्डमाला कहते हैं।

गण्डमाला के लक्षण स्थानादि—

कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवङ्क्षणेषु।
मेद कफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः॥

गण्डमाला की ग्रन्थिया जब फूट जाती हैं अथवा अन्यत्र उत्पन्न हो जाती हैं तब इन्हें 'अपची' कहते हैं। यथा—

ते ग्रन्थयः केचिदवाप्तपाकाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये।
...न्धं चिरमादधाति सैवाऽपचीति प्रवदन्ति केचित्।

भोजोक्त गण्डमाला और अपची के लक्षण—

...तपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम्।
...न्यो· कण्डरां प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून्॥
...न्ति ग्रथितांस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः।
...न्दोषानूर्ध्वगो वक्षःकक्षमन्यागलाश्रितः॥
...नाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा त्वपची मता।

अपची कण्ठमन्यासु कक्षावङ्क्षणसन्धिषु ॥
गण्डमाला विजानीयादपचीतुल्यलक्षणाम् ।

गण्डालजी रोग—

गण्डालजी तु चैका स्यात्—

गण्डालजी (गलगण्ड) रोग एक प्रकार का होता है ।

वक्तव्य— गलगण्डलक्षण—

वात कफश्चापि गले प्रदुष्टौ मन्ये तु संश्रित्य तथैव मेदः ।
कुर्वन्ति गण्ड क्रमशः स्वलिङ्गै समन्वितं तं गलगण्डमाहु· ॥

भोजेनाप्युक्तं—

महान्तं शोथमल्प वा हनुमन्यागलाश्रयम् ।
लम्बन्त मुष्कवद्दुष्ट गलगण्ड विनिर्दिशेत् ॥

ग्रन्थिरोग—

—ग्रन्थयो नवधा मताः ॥६८॥

त्रिभिर्दोषैस्त्रयो रक्ताच्छिराभिर्मेदसो व्रणात् ।

अस्थ्ना मांसेन नवमः

ग्रन्थिरोग नौ प्रकार का होता है । यथा—१—वातिकग्रन्थि, २—पैत्तिक-ग्रन्थि, ३—श्लेष्मिकग्रन्थि, ४—रक्तजग्रन्थि, ५—शिराजग्रन्थि, ६—मेदजग्रन्थि, ७—व्रणजग्रन्थि, ८—अस्थिग्रन्थि, ९—मासजग्रन्थि । इस प्रकार नवधा ग्रन्थिरोग जानना ॥६८॥

वक्तव्य— ग्रन्थिरोग की सम्प्राप्ति—

वातादयो मांसमसृक्प्रदुष्टा· सन्दूष्य मेदश्च तथा शिराश्च ।
वृत्तोन्नत विग्रथित तु शोथं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥

इस रोग में शरीर के भागों में गोलाकार ग्रन्थिया उत्पन्न हो जाती हैं ।

अर्बुदरोग—

—षड्विधं स्यात्तथार्बुदम् ।

वातात्पित्तात्कफाद्रक्तान्मांसादपि च मेदसः ॥६९॥

अर्बुद (रसौली) रोग छ प्रकार का होता है । यथा—१—वातार्बुद, २—पित्तार्बुद, ३—कफार्बुद, ४—रक्तार्बुद, ५—मासार्बुद, ६—मेदोऽर्बुद ॥६९॥

वक्तव्य— अर्बुद की सम्प्राप्ति और लक्षण—

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषा समुत्थिता मांसमसृक् प्रदूष्य ।
वृत्त स्थिर मन्दरुज महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम् ॥
कुर्वन्ति मासोच्छ्रयमत्यगाध तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ।

माधवकर ने 'द्विरर्बुद' और 'अध्यर्बुद' के नाम से दो अर्बुद और पढे हैं। यथा—

यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः।
यद्द्वन्द्वजात युगपत्क्रमाद्वा द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम्॥

श्लीपदरोग—

श्लीपदं च त्रिधा प्रोक्तं वातात्पित्तात्कफादपि।

श्लीपदरोग तीन प्रकार का होता है। यथा—१—वातिक श्लीपद, २—पैत्तिक श्लीपद, ३—श्लेष्मिक श्लीपद। इस प्रकार श्लीपद रोग तीन प्रकार का होता है।

वक्तव्य—यह रोग प्राय श्लेष्मप्रकृति मनुष्यों को तथा प्राय आनूप देशों में होता है। यह पादगुल्फों में, पादस्तर में, एवं वृद्धिंगत होने पर पिण्डलियों और ऊपर जङ्घाओं तक हो जाता है। इस में रोग के लक्षण शोथरूप में प्रकट होते हैं और शोथ इतना बढ़ता है कि प्रसित अंग हाथी के पांओं जैसा हो जाता है। इसीलिये इस रोग को 'फीलपांओं' भी कहते हैं अर्थात् हाथी के पाओं जैसा मोटा पाओं।

सम्प्राप्ति—

यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगत' क्रमेण।
तत् श्लीपदं स्यात् करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहु'॥

वातिक श्लीपद के लक्षण—

वातजं कृष्णरूक्षं च स्फुटित तीव्रवेदनम्।
अनिमित्तरुजं तस्य बहुशो ज्वर एव च॥

पित्तज श्लीपद के लक्षण—

पित्तजं पीतसंकाशं दाहज्वरयुतं मृदु।

श्लेष्मिक श्लीपद के लक्षण—

श्लेष्मिकं स्निग्धवर्णं च श्वेतं पाण्डु गुरु स्थिरम्।

असाध्यता—

वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते॥
अब्दात्मकं महत्तच्च वर्जनीयं विशेषतः।

श्लीपद उत्पन्न होने के स्थान—

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः॥

असाध्य लक्षण—

यच्छ्लेष्मलाहारविहारजातं पुंसः प्रकृत्यापि कफात्मकस्य।
सास्रावमत्युन्नतसर्वलिङ्गं सकण्डुरं श्लेष्मयुतं विवर्ज्यम्॥

विद्रधि-रोग—

विद्रधिः षड्विधः ख्यातो वातपित्तकफैस्त्रयः ॥७०॥
रक्तात् क्षतात्त्रिदोषैश्च—

विद्रधी छः प्रकार की होती है। यथा—१—वातिक विद्रधी, २—पैत्तिक विद्रधी, ३—श्लेष्मिक विद्रधी, ४—रक्तज विद्रधी, ५—क्षतज विद्रधी, ६—त्रिदोषज विद्रधी। इस प्रकार विद्रधी रोग छः प्रकार का कहा है ॥७०॥

वक्तव्य— विद्रधी की सम्प्राप्ति—

त्वग्रक्तमांसमेदांसि संदूष्यास्थिसमाश्रिता ।
दोषाः शोथं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम् ॥

विद्रधी-लक्षण—

महामूलं रुजावन्त वृत्तं वाप्यथवायतम् ।
स विद्रधिरिति ख्यातो विज्ञेय षड्विधश्च स. ॥

इस रोग में प्राय शोथ होता है। इस शोथ का आश्रयस्थान अस्थियां होती हैं। यह बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। इन दोनों के स्थान भिन्न २ हुआ करते हैं। इन का विवरण नीचे दिया जाता है।

वातिकविद्रधी के लक्षण—

कृष्णोऽरुणो वा विषमो भृशमत्यर्थवेदनः ।
चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसम्भवः ॥

पैत्तिकविद्रधी के लक्षण—

पक्वोदुम्बरसंकाश' श्यावो (पीतो) वा ज्वरदाहवान् ।
क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधि पित्तसम्भवः ॥

कफजविद्रधी-लक्षण—

शरावसदृश' पाण्डु. शीतः स्निग्धोऽल्पवेदनः ।
चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्रधि कफसम्भव. ॥

त्रिदोषज विद्रधी के लक्षण—

नानावर्णरुजास्रावो घाटालो विषमो महान् ।
विषमं पच्यते चापि विद्रधि सान्निपातिक ॥

आगन्तुक विद्रधी के लक्षण—

तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यकारिण. ।
क्षतोष्मा वायुविसृत. सरक्तं पित्तमीरयेत् ॥
ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायन्ते तस्य देहिन ।
आगन्तुर्विद्रधिर्ह्येष पित्तविद्रधिलक्षणः ॥

अन्तर्विद्रधी के लक्षण—

पृथक् संभूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम् ।
वल्मीकवत् समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम् ॥

अन्तर्विद्रधी के स्थान—

गुदे वस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा ।
वृक्कयोः प्लीह्नि यकृति हृदि वा क्लोम्नि वाप्यथ ॥

गुदजादिविद्रधी के लक्षण—

गुदे वातनिरोधश्च वस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ।
नाभ्या हिक्का तथाऽऽटोप. कुक्षौ मारुतकोपनम् ॥
कटिपृष्ठग्रहस्तीव्रो हृदिकासश्च जायते ।
श्वासो यकृति हिक्का च क्लोम्नि पेपीयते पयः ॥

पक्व विद्रधियों के स्राव का नियम—

नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः ।

स्रावानुसार साध्यासाध्य—

अधः स्रुतेषु जीवेत्तु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति ।

असाध्य लक्षण—

आध्मानं बद्धनिष्यन्दं छर्दिहिक्कातृषान्वितम् ।
रुजाश्वाससमायुक्तं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥

व्रणविवरण—

—व्रणाः पञ्चदशोदिताः ।
तेषां चतुर्धा भेदाः स्युरागन्तुर्देहजस्तथा ॥७१॥
शुद्धो दुष्टश्च विज्ञेयस्तत्संख्या कथ्यते पृथक् ।
वातव्रणः पित्तजश्च कफजो रक्तजो व्रणः ॥७२॥
वातपित्तभवश्चान्यो वातश्लेष्मभवस्तथा ।
तथा पित्तकफाभ्यां च सन्निपातेन चाष्टमः ॥७३॥
नवमो वातरक्तेन दशमो रक्तपित्तजः ।
श्लेष्मरक्तभवश्चान्यो वातपित्तासृगुद्भवः ॥७४॥
वातश्लेष्मासृगुत्पन्नः पित्तश्लेष्मास्रसंभवः ।
सन्निपातासृगुद्भूत इति पञ्चदश व्रणाः ॥७५॥

साधारणतया व्रणों के चार भेद होते हैं—१—आगन्तुकव्रण (शरीर में किसी प्रकार के आघात से होने वाला व्रण), २—देहजव्रण (वातपित्तादि के

कोप से होने वाला व्रणशोथ) ३—शुद्धव्रण, ४—अशुद्धव्रण । इन भेदों मे व्रण चार प्रकार के होते हैं और संख्या के भेद से व्रण पन्द्रह प्रकार के होते हैं। यथा—१—वातजव्रण २—पित्तजव्रण, ३—कफजव्रण, ४—रक्तजव्रण, ५—वातपित्तजव्रण, ६—वातश्लेष्मिकव्रण, ७—कफपैत्तिकव्रण, ८—सन्निपातजव्रण, ९—वातरक्तजव्रण, १०—रक्तपित्तजव्रण, ११—श्लेष्मरक्तजव्रण, १२—वातपित्त रक्तजव्रण, १३—वातश्लेष्मरक्तजव्रण, १४—पित्तश्लेष्मरक्तजव्रण, १५—वातपित्तकफरक्तजव्रण। इस प्रकार संख्या भेद से व्रण १५ प्रकार के होते हैं ॥७१-७४॥

वक्तव्य— शुद्धव्रण के लक्षण—

जिह्वातलाभोऽतिमृदु श्लक्ष्णः स्निग्धोऽल्पवेदनः ।
सुव्यवस्थो निरास्राव शुद्धो व्रण इति स्मृतः ॥

अशुद्धव्रण के लक्षण—

पूतिः पूयातिदुष्टासृक्स्राव्युत्संगी चिरस्थितिः ।
दुष्टव्रणोऽतिगन्धादि शुद्धलिङ्गविपर्ययः ॥

प्रसङ्गत —आमशोथ के लक्षण—

मन्दोष्मताऽल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता ।
मन्दवेदनता चैतच्छोथानामामलक्षणम् ॥

पच्यमान शोथ के लक्षण—

दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते ।
पिपीलिकागणेनेव दश्यते छिद्यते तथा ॥
भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते ।
पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते ॥
सोपाचोषो विवर्णः स्यादङ्गुल्येवाऽवपीड्यते ।
आसने शयने स्थाने शान्ति वृश्चिकविद्धवत् ॥
न गच्छेदातत शोथो भवेदाध्मातवस्तिवत् ।
ज्वरस्तृष्णाऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ॥

पक्वशोथ के लक्षण—

वेदनोपशमः शोथो लोहितोऽल्पो न चोन्नत ।
प्रादुर्भावो वलीनां च तोदः कण्डूर्मुहुर्मुहु ॥
उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम ।
वस्ताविवाऽम्बुसंचारः स्याच्छोथेऽङ्गुलिपीडिते ॥
पूयस्य पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडिते ।
भक्ताकाङ्क्षा भवेच्चैतच्छोथानां पक्वलक्षणम् ॥

सद्योव्रणविवरण—

सद्योव्रणस्त्वष्टधा स्यादविक्लृप्तविलाम्बितौ ।
छिन्नभिन्नप्रचलिता घृष्टविद्धनिपातिताः ॥७६॥

सद्योव्रण (शस्त्रादि से होने वाला व्रण) आठ प्रकार का होता है। यथा—१—अवकल्प्त, २—विलम्बित, ३—छिन्न, ४—भिन्न, ५—प्रचलित, ६—घृष्ट, ७—विद्ध, ८—निपातित । इस प्रकार लक्षणों के भेद सद्योव्रण आठ प्रकार के होते हैं ॥७६॥

वक्तव्य— विशिष्ट लक्षण—

१—अवक्लृप्त—जिस व्रण में कर्त्तनवत् पीड़ा हो उसे अवक्लृप्त कहते हैं।

२—विलम्बित—जिस व्रण में मांस लटक पडे उस को 'विलम्बित' कहते हैं।

३—छिन्न व्रण के लक्षण—

तिर्यक्छिन्न ऋजुर्वाऽपि यो व्रणस्त्वायतो भवेत् ।
गात्रस्य पातनं तद्धि छिन्नमित्यभिधीयते ॥

भिन्न व्रण के लक्षण—

शक्तिदन्तेपुखड्गाग्रविषाणैराशयो हतः ।
यत्किंचित् प्रस्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ॥

घृष्ट व्रण के लक्षण—

घर्षणादविघाताद्वा यदङ्गं विगतत्वचम् ।
उषास्रावान्वित तच्च घृष्टमित्यभिधीयते ॥

प्रचलित-क्षतज व्रण के लक्षण—

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम् ।
विषमं व्रणमङ्गे यत्तत् क्षतं त्वभिधीयते ॥

विद्ध व्रण के लक्षण—

सूक्ष्मास्यशल्याभिहितं यदङ्ग त्वाशयं विना।
उत्तुण्डितं निर्गत वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत् ॥

निपातित व्रण के लक्षण—

न्न और भिन्न व्रणों के लक्षण वाले व्रण को 'निपातित व्रण' कहते हैं। श्रुत के प्रति उपदेश करते हुए भगवान् धन्वंतरि जी ने छ. प्रकार के माने हैं । इन से भिन्न जितने भी सद्योव्रण नामतः देखे जाने हैं वह कारों में ही आ जाते हैं। यथा—

छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चित मेव च ।
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं, तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

कोष्ठ भेद के लक्षण—

कोष्ठभेदो द्विधा प्रोक्तश्छिन्नान्त्रो निःसृतान्त्रकः ।

कोष्ठभेद (कोष्ठ का फूटना) दो प्रकार का होता है, १—छिन्नान्त्रक (जिस में उदर के भीतर की अन्तड़िया फूट जायें)। २—निःसृतान्त्रक (इस में उदर के बाहर का त्वक्‌भाग छिद जाने से अन्तड़िया बाहर लटक पड़ती हैं)।

वक्तव्य— कोष्ठ के लक्षण—

स्थानान्यामाग्निपक्कानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।
हृदुण्डुक फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥

ऊपर के श्लोक में इसी कोष्ठ का वर्णन किया गया है, परन्तु आचार्य का ऐसा अभिप्राय नहीं है। आचार्योक्त कोष्ठ शब्द यहा केवल उदर मात्र का बोधक है। परन्तु कई आचार्य यहा भी कोष्ठ करके वक्तव्योक्त श्लोक में प्रदर्शित कोष्ठ का ही ग्रहण करते हैं, कारण कि पक्वाशयादि अन्तड़ियों से भिन्न नहीं हैं।

अस्थि भग (भग्न) रोग—

अस्थिभङ्गोऽष्टधा प्रोक्तो भग्नपृष्ठविदारितौ ॥७७॥
विवर्तितश्च विश्लिष्टस्तिर्यक्‌क्षिप्तस्त्वधोगतः ।
ऊर्ध्वगः सन्धिभग्नश्च—

अस्थिभग (हड्डियों का टूटना) रोग आठ प्रकार का होता है। यथा—१—पृष्ठभग्न, २—विदारित, ३—विवर्त्तित, ४—विश्लिष्ट, ५—तिर्यक्‌क्षिप्त, ६—अधोगत, ७—ऊर्ध्वग, ८—सन्धिभग ॥७७॥

वक्तव्य—भग्नरोग को यहा सक्षिप्त सा वर्णन किया गया है। पूर्वाचार्यों ने सामान्यत भग्न रोग दो प्रकार का माना है—१—काण्डभग्न (इस में लम्बी, मोटी और काण्डाकृति युक्त हड्डियों का टूटना होता है), २—सन्धिभग्न (इस में छोटी बड़ी अस्थियों के परस्पर मिलाने वाली सन्धियों का टूटना होता है।

काण्डभग्न—यह १२ प्रकार का होता है।

सन्धिभग्न—यह ६ प्रकार का होता है।

अग्निदग्धरोग—

—वह्निदग्धश्चतुर्विधः ॥७८॥
प्लुष्टो विदग्धो दुर्दग्धः सम्यग्दग्धः प्रकीर्तितः ।

अग्निदग्ध चार प्रकार का होता है। १—प्लुष्ट, २—विदग्ध, ३—दुर्दग्ध, ४—सम्यक्‌दग्ध,

वक्तव्य—शरीर के किसी भाग के स्वत जल जाने अथवा स्वयं जलाने को 'अग्निदग्ध' कहते हैं।

१ प्लुष्ट—साधारण त्वक् मात्र दग्ध होने और दग्धस्थान के विवर्ण होने को 'प्लुष्ट' कहते हैं।

२ विदग्ध—इसमें त्वचा, मांस, मेदा, हड्डी एवं शिरास्नायु आदि विदग्धावस्था में विदग्ध दीखते हैं अत इसको 'विदग्ध' कहते हैं। इसमें ज्वर, दाह, तृषा, मूर्छा आदि उपद्रव भी हो जाते हैं।

३ दुर्दग्ध—जिस जलने के घाव में पीडा अधिक हो, व्रण के समीप फुन्सिया उत्पन्न हों, व्रण विलम्ब से भरें ऐसे जलने को 'दुर्दग्ध' कहते हैं।

४ सम्यक् दग्ध—इस दाह को आवश्यकतानुसार चिकित्सक स्वयं प्रयोग करते हैं। इसके प्रधान लक्षण यही हैं कि जिस व्याधि की शान्ति के लिये इसका व्यवहार किया जावे उसकी शान्ति हो। ऐसे उचित दाह को 'सम्यक्-दग्ध' कहते हैं।

नाडीव्रण—

नाड्यः पञ्च समाख्याता वातपित्तकफैस्त्रिधा ॥७६॥
त्रिदोषैरपि शल्येन—

नाडीव्रण (नासूर) रोग पाच प्रकार का होता है। यथा—१—वातिक नाडीव्रण, २—पैत्तिक नाडीव्रण, ३—कफज नाडीव्रण, ४—सान्निपातिक नाडीव्रण, ५—शल्यज (शस्त्रादिसम्भव) नाडीव्रण। इस विधान से नासूर का रोग पाच प्रकार का जानना ॥७६॥

वक्तव्य— नाडीव्रण की सम्प्राप्ति—

य. शोथमाममतिपक्वमुपेक्षतेऽज्ञो
यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य
स्थानानि पूर्वविहितानि तत. स पूय ॥
तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिष्यते तु
नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी।

वातिक नाडीव्रण के लक्षण—

तत्रानिलात् परुषसूक्ष्ममुखी सशूला
फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपासु।

पैत्तिक नाडीव्रण के लक्षण—

पित्तात्तृषाज्वरकरी परिदाहयुक्ता
पीतः स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु चापि ॥

कफज नाडीव्रण के लक्षण—

ज्ञेया कफाद्बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रा
स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनीप्रवृद्धा॥

त्रिदोषजनाडीव्रण के लक्षण—

दाहज्वरश्वसनमूर्च्छनवक्त्रशोषा
यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि।
तामादिशेत्पवनपित्तकफप्रकोपाद्
घोरामसुक्षयकरीमिव कालरात्रिम्॥

शल्यज नाडीव्रण के लक्षण—

नष्टं कथञ्चिदनुमार्गमुदीरितेषु
स्थानेषु शल्यमचिरेण गतिं करोति।
सा फेनिलं मथितमुष्णमसृग्विमिश्रं
स्रावं करोति सहसा सरुजा च नित्यम्॥

इस रोग में प्राय. व्रण से निरंतर दोषानुसार स्राव होता रहता है। इसी स्राव अथवा गति के कारण इसे 'नाडीव्रण' (नासूर) कहते हैं।

भगन्दररोग विवरण—

—तथाष्टौ स्युर्भगन्दराः।
शतपोनस्तु पवनादुष्ट्रग्रीवश्च पित्ततः॥८०॥
परिस्रावी कफाज्ज्ञेय ऋजुर्वातकफोद्भवः।
परिक्षेपी मरुत्पित्तादर्शोजः कफपित्ततः॥८१॥
आगन्तुजातश्चोन्मार्गी शङ्खावर्तस्त्रिदोषजः।

भगन्दर रोग आठ प्रकार का होता है। यथा—शतपोनक, यह वायु से होता है। २—उष्ट्रग्रीव, यह पित्त से होता है। ३—परिस्रावी, यह कफ से होता है। ४—ऋजु, यह वात-कफ से होता है। ५—परिक्षेपी, यह वायु-पित्त से होता है। ६—अर्शोज, यह कफ-पित्त से होता है। ७—उन्मार्गी, यह आगन्तुक कारणों से होता है। ८—शङ्खावर्त, यह तीनों दोषों से उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह आठ प्रकार का होता है॥८०-८१॥

वक्तव्य—वृषण और गुदा का मध्यवर्ती स्थान जिसको 'सीवन' या 'स्थूण' कहते हैं। इस स्थान पर प्रथम शोथ होता है पुन वह पिडिका की सञ्ज्ञा धारण करता है। तत्पश्चात् जब पककर फूट जाता है तब उसे 'भगन्दर' कहते हैं। अथवा—

गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकार्तिकृत्।
भिन्ना भगन्दरो ज्ञेय. स च पञ्चविधो मतः ॥

अन्यच्च—

भगं परिसमंताच्च गुदं वस्तिं तथैव च।
भगवद्दारयेद्यस्मात् तस्माज्ज्ञेयो भगन्दर. ॥

अर्शोभगंदर—

कफापित्ते सपूर्वोत्थे दुर्नामासृजकोपतः।
अर्शोमूले ततः शोथं कण्डूदाहादिमान् भवेत् ॥
स शीघ्रपक्वभिन्नास्यः क्लेदयन् मूलमर्शसः।
स्रवत्यजस्रं च पूतिरयमर्शो भगन्दरः ॥

उपदश रोग—

मेढ्रे पञ्चोपदंशाःस्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा ॥८२॥
सन्निपातेन रक्ताच्च—

मूत्रेन्द्रिय में पांच प्रकार का उपदश रोग होता है। यथा—१—वातिक उपदश, २—पैत्तिक उपदंश, ३—कफज उपदंश, ४—सन्निपातज उपदंश, ५—रक्तज उपदंश। इस प्रकार शिश्न भाग पर होनेवाला यह उपदश रोग वातादिभेद से पांच प्रकार का होता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद के इस उपदश रोग से आधुनिक 'फिरंग' रोग भिन्न है। उपदंश और फिरंग में केवल स्थानिक साम्यता अवश्य है। लक्षण कारण सम्प्राप्ति और परिणाम तथा चिकित्सा में समता का सर्वथा अभाव है। अतएव उपदंश और फिरंग दोनों भिन्न २ मानने चाहिऐं। ऐसे ही भावप्रकाश में इन्हें पृथक् २ निर्देश किया है।

शूकरोग वर्णन—

—मेढ्रे शूकामयास्तथा।
चतुर्विंशतिराख्याता लिङ्गार्शो ग्रथितं तथा ॥८३॥
निवृत्तमवमंथश्च मृदितं शतपोनकः।
अष्ठीलिका सर्षपिका त्वक्पाकश्चावपाटिका ॥८४॥
मांसपाकः स्पर्शहानिर्निरुद्धमणिरुत्तमा।
मांसार्बुदं पुष्करिका सम्मूढपिटिकालजी ॥८५॥
रक्तार्बुदं विद्रधिश्च कुम्भिका तिलकालकः।
निरुद्धप्रकशः प्रोक्तस्तथैव परिवर्तिका ॥८६॥

मेढ्र (लिङ्गेन्द्रिय) में शूक निमित्तज (लिङ्गवर्धक सविष कीटों के प्रयोग से) चौवीस प्रकार के 'शूकरोग' होते हैं। यथा—

१—लिङ्गार्श, २—ग्रथित, ३—निवृत्त, ४—अवमन्थ, ५—मृदित, ६—शतपोनक, ७—अष्ठीलिका, ८—सर्षपिका, ९—त्वक्पाक, १०—अवपाटिका, ११—मासपाक, १२—स्पर्शहानि, १३—निरुद्धमणि, १४—मासार्बुद, १५—उत्तमा, १६—पुष्करिका, १७—समूढपिटिका, १८—अलजी, १९—रक्तार्बुद, २०—विद्रधि, २१—कुम्भिका, २२—तिलकालक, २३—निरुद्धप्रकाश, २४—परिवर्तिका। इस प्रकार शूकज रोग २४ प्रकार के होते हैं ॥८३—८६॥

वक्तव्य—कामवासना की अधिकाधिक पूर्ति के लिये पूर्वाचार्यों तथा वात्स्यायनादि विद्वानों ने लिङ्गवृद्धयर्थं शूकों का प्रयोग किया है। यह प्राय जल-जन्तु होते हैं और अनेक प्रकार के होते हैं। इन में सविष और निर्विष दोनों प्रकार के होते हैं। प्राचीन काल में सम्भव है इन का व्यवहार अधिक होता हो, वर्तमान में वहुत कम होता है तथापि लोग इस कार्य के लिए 'गैण्डा' आदि का व्यवहार करते हैं। शास्त्रीय विधान से इनका प्रयोग हितकर होता है। अन्धाधुन्द अथवा सम्यक् ज्ञानरहित इन का प्रयोग रोगोत्पादक माना गया है। यथा—

अक्रमाच्छेफसो वृद्धिं योऽभिवाञ्छति मूढधीः।
व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शूकजा ॥

यहा १८ प्रकार के शूकरोग माने गये हैं परन्तु आचार्य ने लिङ्गसामान्यत्वेन अवपाटिका निरुद्धप्रकाशा आदि को साथ मिलाकर २४ माने हैं। अव इन के यथा-क्रम लक्षण लिखे जाते हैं।

लिङ्गार्श के लक्षण—

अङ्कुरैरिव संघातैरुपर्युपरि संस्थितै ।
क्रमेण जायते वर्तिस्ताम्रचूडशिखोपमा ॥
लिङ्गवर्तिरभिख्याता लिङ्गार्श इति चापरे ।

ग्रथित के लक्षण—

शूकैर्यत् पूरितं शश्वद् ग्रथित नाम तत् कफात् ।

निवृत्त के लक्षण—

विमर्दनादिदुष्टेन वायुना चर्ममेढ्रजम् ।
निवर्तते सरुग्दाहं त्वचि पाकं च गच्छति ॥
पिण्डितं ग्रथितं चर्म तत्प्रलम्बमधो मणेः ।
निवृत्तसंज्ञः सकण्डूकाठिन्यवर्तुल ॥ इति ।

अवमन्थ के लक्षण—

दीर्घावह्वयश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तथा ।
सोऽवमन्थ कफासृग्भ्या वेदना रोमहर्षकृत् ॥

मृदित के लक्षण—

मृदितं पीडितं यत्तु संरब्धं वातकोपतः।

शतपोनक के लक्षण—

छिद्रैरणुमुखैर्लिङ्गं चितं यस्य समन्ततः।
वातशोणितजो व्याधिः स ज्ञेयः शतपोनक ॥

अष्ठीलिका के लक्षण—

कठिना विषमैर्भुग्नैर्वायुनाऽष्ठीलिका भवेत्।

सर्षपिका के लक्षण—

गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुर्भुग्नहेतुका।
पिडका श्लेष्मवाताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका तु सा ॥

त्वक्पाक के लक्षण—

वातपित्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहकृत्।

अवपाटिका के लक्षण—

अल्पीयः खां यदा हर्षाद्बलाद्गच्छेत् स्त्रियं नरः।
हस्ताभिघातादपि वा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ॥
यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् ॥
सकण्डू कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुच्छ्रिता ॥

मासपाक के लक्षण—

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः।
विद्यात्तं मासपाक तु सर्वदोषकृतं भिषक् ॥

स्पर्शहानि के लक्षण-

स्पर्शहानिं तु जनयेच्छोणितं शूकदूषितम्।

निरुद्धमणि के लक्षण—

वातेन दूषित चर्म मणौ सक्तं रुणद्धि चेत्।
स्रोतो मूत्रं ततो भेत्ति मन्दधारं सवेदनम्।
मणेर्विकारात्प्ररोधश्च निरुद्धमणिरुच्यते ॥

उत्तमा के लक्षण

मुद्गमाषोपमा रक्ता रक्तपित्तोद्भवा च या।
व्याधिरेषोत्तमा नाम शूकाजीर्णनिमित्तजा ॥

मासार्बुद के लक्षण—

मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससम्भवम्।

पुष्करिका के लक्षण—

पिडिका पिडकायुक्ता पित्तशोणितसम्भवा।
पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिका तु सा ॥

समूढपिडका के लक्षण—

पाणिभ्यां भृशसमूढे समूढपिडका भवेत् ।

अलजी के लक्षण—

तुल्यजां त्वलजी विद्याद्यथा प्रोक्तां विचक्षण' ।

रक्तार्बुद के लक्षण—

कृष्णैः स्फोटैः सरक्ताभि पिडकाभिर्निपीडितम् ।
यस्य वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तच्छोणितार्बुदम् ॥

विद्रधी के लक्षण—

विद्रधि सन्निपातेन यथोक्तमिति निर्दिशेत् ।

कुम्भिका के लक्षण—

कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा ।

तिलकालक के लक्षण—

कृष्णानि चित्राण्यथवा शुक्लानि सविषाणि वा ।
यानि तानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥
कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिन· ।
सन्निपातसमुत्थांस्तु तान् विद्यात् तिलकालकान् ॥

निरुद्धप्रकश के लक्षण—

वातोपसृष्टे मेढ्रे तु चर्म संश्रयते मणिम् ।
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ॥
निरुद्धप्रकशे तस्मिन् मन्दधारमवेदनम् ।
मूत्र प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्विव्रियते न च ॥
निरुद्धप्रकश विद्यात् सरुजं वातसम्भवम् ।

परिवर्तिका के लक्षण—

मणेरधस्तात् कोषस्तु ग्रन्थिरूपेण लम्बते ।
परिवर्तिकां तु ता विद्यात् सरुजं वातसम्भवाम् ॥

प्रायः यह रोग अधिक होते हैं। अत वैद्यों को इनके ज्ञानार्थ अपना पर्याप्त समय देना चाहिये । इसी लिये इनके पृथक् २ लक्षण दिये गये हैं ।

कुष्ठरोग वर्णन—

कुष्ठान्यष्टादशोक्तानि वातात्कापालिकं भवेत् ।
पित्तेनोदुम्बरं प्रोक्तं कफान्मण्डलचर्चिके ॥८७॥
मरुत्पित्ताद्दृष्यजिह्वं श्लेष्मवाताद्विपादिका ।
तथा सिध्मैककुष्ठं च किटिभं चालसं तथा ॥८८॥

कफपित्तात्पुनर्दद्रुः पामा विस्फोटकं तथा ।
महाकुष्ठं चर्मदलं पुण्डरीकं शतारुकम् ॥८९॥
त्रिदोषैः काकणं ज्ञेयं तथान्यच्छ्वित्रसंज्ञितम् ।
तथा वातेन पित्तेन श्लेष्मणा च त्रिधा भवेत् ॥९०॥

कुष्ठरोग अठारह प्रकार का होता है। यथा—१—कापालिककुष्ठ यह वायु से होता है, २—उदुम्बरकुष्ठ यह पित्त से होता है, ३—मण्डल और ४—विचर्चिका यह दोनों कफ से होते हैं। ५—ऋष्यजिह्व, यह वायु और पित्त से होता है, ६—विपादिका यह वातश्लेष्म से होता है। ७—सिध्मकुष्ठ, ८—किटिभकुष्ठ, ९—अलसकुष्ठ, १०—दद्रु, ११—पामा, १२—अलसकुष्ठ यह कफ पित्त से होते हैं, १३—महाकुष्ठ, १४—चर्मदल, १५—पुण्डरीक, १६—शतारु, १७—काकण, १८—श्वित्रकुष्ठ (फुलवहरी), यह तीनों दोषों से उत्पन्न होते हैं। श्वित्र संज्ञक कुष्ठ वात से पित्त से और कफ से तीन प्रकार का होता है ॥८७—९०॥

वक्तव्य—अठारह प्रकार के कुष्ठों में ११ प्रकार के क्षुद्रकुष्ठ (सुखसाध्य) होते हैं और ७ प्रकार के महाकुष्ठ (प्राय असाध्य) कुष्ठ होते हैं।

कुष्ठैकसम्भव श्वित्रं किलासं चारुण भवेत् ।
निर्दिष्टमपरिस्रावी त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥

अन्यच्च—

अरुणं तत्तु विज्ञेयं मांसधातुसमाश्रितम् ।
मेदाश्रितं भवेच्छ्वित्र दारुणं रक्तसंश्रयम् ॥
तच्छ्वित्रं द्विविधमित्याचक्षते । व्रणज दोषजं च ।

यदुक्तं भोजे—

श्वित्रं तु द्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथा ।
तत्र मिथ्योपचाराद्धि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम् ॥
दोषजं द्विविध प्रोक्तमात्मजं परजं तथा ।

परज—

परसंस्कारसंस्पर्शाद्यत्तत् परजमुच्यते ।

आत्मज—

तदात्मजं विजानीयाद्यद्देहेष्वनिलात्मकम् ।

साध्य श्वित्र के लक्षण—

अशुक्लरोमबहुलमसंश्लिष्टमथो नवम् ।

असाध्य श्वित्र के लक्षण—

अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ।

असाध्य किलास के लक्षण—

गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम् ।
वर्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता ॥

क्षुद्ररोग वर्णन—

क्षुद्ररोगाः षष्टिसंख्यास्तेष्वादौ शर्करार्बुदम् ।
इन्द्रवृद्धा पनसिका विवृतान्धालजी तथा ॥६१॥
वराहदंष्ट्रो वल्मीकं कच्छपी तिलकालकः ।
गर्दभी रकसा चैव यवप्रख्या विदारिका ॥६२॥
कदरो मसकश्चैव नीलिका जालगर्दभः ।
इरिवेल्ली जतुमणिर्गुदभ्रंशोऽग्निरोहिणी ॥६३॥
सन्निरुद्धगुदः कोठः कुनखोऽनुशयी तथा ।
पद्मनीकण्टकश्चिप्यमलसो मुखदूषिका ॥६४॥
कक्षा वृषणकच्छूश्च गन्धः पाषाणगर्दभः ।
राजिका च तथा व्यङ्गश्चतुर्धा परिकीर्तितः ॥६५॥
वातात्पित्तात्कफाद्रक्तादित्युक्तं व्यङ्गलक्षणम् ।
विस्फोटाः क्षुद्ररोगेषु तेऽष्टधा परिकीर्तिताः ॥६६॥
पृथग्दोषैस्त्रयो द्वन्द्वैस्त्रिविधः सप्तमोऽसृजः ।
अष्टमः सन्निपातेन क्षुद्ररुक्तु मसूरिका ॥६७॥
चतुर्दशप्रकारेण त्रिभिर्दोषैस्त्रिधा च सा ।
द्वन्द्वजा त्रिविधा प्रोक्ता सन्निपातेन सप्तमी ॥६८॥
अष्टमी त्वग्गता ज्ञेया नवमी रक्तजा मता ।
दशमी मांसजा ख्याता चतस्रोऽन्याश्च दुस्तराः ॥६९॥
मेदोऽस्थिमज्जाशुक्रस्थाः क्षुद्ररोगा इतीरिताः ।

क्षुद्ररोग (छोटे छोटे रोग) साठ (६०) प्रकार के होते हैं । यथा—१—शर्करार्बुद, २—इन्द्रवृद्धा, ३—पनसिका, ४—विवृता, ५—अधालजी, ६—वराहदंष्ट्र, ७—वल्मीक, ८—कच्छपी, ९—तिलकालक, १०—गर्दभी, ११—रकसा, १२—यवप्रख्या, १३—विदारिका, १४—कदर, १५—मसक, १६—नीलिका, १७—जालगर्दभ, १८—इरिवेल्ली, १९—जतुमणि, २०—गुदभ्रंश २१—अग्निरोहिणी, २२—सन्निरुद्धगुद, २३—कोठ, २४ कुनख, २५—अनुशयी

२६—पद्मनीकण्टक, २७—चिप्य, २८—अलस, २६—मुखदूषिका, ३०—कक्षा, ३१—वृषणकच्छू, ३२—गन्ध, ३३—पाषाणगर्दभ, ३४—राजिका, ३५—व्यंगरोग। यह व्यंग चार प्रकार का है—१—वातसे, २—पित्तसे, ३—कफसे, ४—रुधिर से होता है । इस प्रकार यह ३८ रोग क्षुद्ररोगों के नाम से कहे जाते हैं। आठ प्रकार के विस्फोट (फुन्सियां–छाले) रोग भी क्षुद्ररोगों में कह दिये गये हैं। यथा—१—वातिक विस्फोट, २—पैत्तिक विस्फोट, ३—श्लैष्मिक विस्फोट, ४—वात-पित्तज विस्फोट, ५—वातकफज विस्फोट, ६—पित्तकफज विस्फोट, ७—रक्तज विस्फोट, ८—सन्निपातिक विस्फोट। चौदह प्रकार की मसूरिका (चेचक) भी क्षुद्ररोगों में परिगणित की गई है । यथा—१—वातिक मसूरिका, २—पैत्तिक मसूरिका, ३—श्लेष्मिक मसूरिका, ४—वातपित्तज मसूरिका, ५—वातकफज मसूरिका, ६—पित्तकफज मसूरिका, ७—सन्निपातज मसूरिका, ८—त्वक्गत मसूरिका, ६—रक्तज मसूरिका, १०—मासज मसूरिका, ११—मेदोगत मसूरिका, १२—अस्थिगत मसूरिका, १३—मज्जागत मसूरिका, १४—शुक्रगत मसूरिका । इस प्रकार ३८ क्षुद्ररोग, ८ प्रकार के विस्फोट और १४ प्रकार की मसूरिका मिला कर ६० प्रकार के क्षुद्र रोग पूर्ण होते हैं ॥६१-६६॥

वक्तव्य—स्वल्प हेतुओं से जो उत्पन्न होते हैं और स्वल्प ही जिन के लक्षण होते हैं तथा साधारण औषधों से जो सिद्ध होते हैं उन्हें 'क्षुद्र' रोग कहते हैं। क्षुद्र रोगों में यद्यपि ऐसे रोग भी हैं 'जैसे अग्निरोहिणी आदि' जो प्राणनाश करने वाले हैं तथापि बाहुल्यत्वेन इस प्रकरण में क्षुद्र रोगों के कारण ही ऐसे रोगों को भी क्षुद्र रोगों में ही सम्मिलित कर लिया गया है। अत ऐसा करने में कोई दोष नही आता। परन्तु अन्य आचार्यों ने मसूरिका प्रभृति की पृथक् ही गणना की है।

शर्करार्बुद के लक्षण—

दुर्गन्धिक्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः शिरा।
सृजन्ति सहसा रक्तं तं विद्याच्छर्करार्बुदम् ॥

अन्य लक्षण—

प्राप्यमांसशिरास्नायुं श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः ।
ग्रन्थि कुर्वन्त्यसौ भिन्नो मधुसर्पिर्वसानिभम् ॥
स्रवति स्रावमनिलः तत्र वृद्धिं गतः पुनः ।
मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत्पुनः ॥

इन्द्रवृद्धा के लक्षण—

पद्मकर्णिकवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम् ।
इन्द्रविद्धान्तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥

पनसिका के लक्षण—

कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडकामुग्रवेदनाम् ।
स्थिरां पनसिकां तां तु विद्याद्वातकफोत्थिताम् ॥

विवृता के लक्षण—

विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसन्निभाम् ।
विवृतामिति तां विद्यात्पित्तोत्था परिमण्डलाम् ॥

अन्त्रालजी के लक्षण—

घनामवस्त्रां पिडकामुन्नता परिमण्डलाम् ।
अन्त्रालजीमल्पपूया ता विद्यात्कफवातजाम् ॥

अन्त्राल जी के लक्षण—

अन्यच्च—कफानिलौ श्रितौ स्नायु पिडका परिमण्डलाम् ।
दुष्टौ जनयतश्चैकामल्पपूयाल्पकण्डुराम् ॥
आमोदुम्बरसंकाशा विद्यादन्धालजी तु ताम् ।

वराहदंष्ट्र के लक्षण—

सदाहो रक्तपर्यन्तस्त्वक्पाकी तीव्रवेदन' ।
कण्डूमान् ज्वरकारी च स स्यात् शूकरदंष्ट्रक ॥

इसमें सूअर की दाढ के सदृश शोथ और व्रण होता है जिसमें उक्त लक्षण होते हैं ।

वल्मीक के लक्षण—

ग्रीवासकक्षाकरपाददेशे सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषै ।
ग्रन्थि· स वल्मीकिवदक्रियाणां जात क्रमेणैव गत' प्रवृद्धिम् ॥
मुखैरनेकै' स्रुतितोदवद्भिर्विसर्पवत्सर्पति चोन्नताग्रै ।
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं निष्प्रत्यनीक चिरजं विशेषात् ॥

इस रोग में प्रथम शोथ होता है तदनन्तर वाम्बी के सदृश छोटे २ फोडे हो जाते हैं । एक इंच भर स्थान में अनेक व्रण होते हैं। इनसे स्राव होता है। इन व्रणों के किनारे ऊंचे होते हैं । इनको उत्पन्न करने वाला दोष गूढमूल होता है । इसीसे पुराना वल्मीक असाध्य हो जाता है ।

कच्छपी के लक्षण—

ग्रन्थयः पञ्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपोन्नताः ।
कफानिलाभ्या पिडिका ज्ञेया कच्छपिका बुधै' ॥

तिलकालक के लक्षण—

नीलानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च ।
वातपित्तकफोद्रेकात्तान् विद्यात्तिलकालकान् ॥

अन्यच्च—

मारुतः पित्तमादाय कफरक्तं समाश्रित ।
चिनोति तिलमात्राणि कोचित्तु तिलकालकम् ॥

गर्दभी के लक्षण—

मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम् ।
रुजाकरीं गर्दभिका तां विद्याद्वातपित्तजाम् ॥

रकसा के लक्षण—

कण्डूवन्विता या पिडिका शरीरे सस्रावहीना रकसोच्यते मा।

यवप्रख्या के लक्षण—

यवाकारा तु कठिना ग्रथिता मांससंश्रिता।
पिडिका श्लेष्मवाताभ्यां यवप्रख्येति सा मता॥

विदारिका के लक्षण—

विदारीकन्दवद्वृत्ता कक्षावक्षणसन्धिषु।
विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणा॥

कदर के लक्षण—

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः।
ग्रन्थि· कोलवदुत्सन्नो जायते कदर हि तत्॥

कदर रोग हाथों में भी होता है।

यदुक्तं भोजे—

हस्तयोः पादयोश्चापि गम्भीरानुगतं खरम्।
मांसकीलं जनयतः कुपितौ कफमारुतौ॥
शल्यमिव च तं देश मन्यते तेन पीडितः।
शर्कराकदरं केचिन्मन्यन्ते वातकण्टकम्॥

मसक के लक्षण—

अवेदनं स्थिरं चैव यस्मिन् गात्रे प्रदृश्यते।
माषवत्कृष्णमुत्सन्नं वातान्माषकमादिशेत्॥

नीलिका के लक्षण—

कृष्णामेव त्वचं गात्रे नीलिका तां विनिर्दिशेत्।

जालगर्दभ के लक्षण—

विसर्पवत् सर्पति यः शोथस्तनुरपाकवान्।
दाहज्वरकर· पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः॥

यह जालगर्दभ रोग विसर्प का ही भेद है। विसर्प का शोथ रक्ताभ होता है और इसमें शोथ का वर्ण कुछ श्यामता लिए होता है। भोज ने इसे स्पष्ट कर दिया है।

इरिवेल्लिका के लक्षण—

पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजां ज्वराम्।
सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम्॥

जतुमणि के लक्षण—

सममुत्सन्नमरुजं मण्डलं कफरक्तजम्।
सहजं लक्ष्म चैकेषां लक्ष्यो जतुमणिस्तु सः॥

इसको 'लहसन' कहते हैं ।

गुदभ्रंश के लक्षण—

प्रवाहणातिसाराभ्यां निर्गच्छति गुदो बहिः ।
रूक्षदुर्बलदेहस्य गुदभ्रंशं तमादिशेत् ॥

अग्निरोहिणी के लक्षण—

कक्षभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः ।
अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभाः ॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा हन्ति मानवम् ।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजाम् ॥

सन्निरुद्ध गुद के लक्षण—

वेगसंधारणाद्वायुर्विहितो गुदसंश्रित ।
निरुणद्धि महास्रोत. सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीष तस्य गच्छति ।
सन्निरुद्धगुद व्याधिमेनं विद्यात्सुदारुणम् ॥

कोठ के लक्षण—

उत्कोठ सानुबन्धश्च कोठ इत्याभिधीयते ॥

यह शीतपित्तान्तर्गत रोग है । त्वक् रोगों की साम्यता के कारण यहां कह दिया गया है । यथा—

क्षणिकोत्पादविनाश कोठ ।

कुनख के लक्षण—

तदेवाल्पतरैर्दोषै. परुषं कुनख वदेत् ।

तदेवाल्पतर का सम्बन्ध चिप्य से है । यथा—

नखमांसमधिष्ठाय वायु पित्तं च देहिनाम् ।
कुर्वते दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्यमादिशेत् ॥

अनुशयी के लक्षण—

गम्भीरामल्पसरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम् ।
पादस्यानुशयीं ता तु विद्यादन्त प्रपाकिनीम् ॥

पद्मिनीकण्टक के लक्षण—

कण्टकैराचितं वृत्तं मण्डलं पाण्डुकण्डुरम् ।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यं तदाख्यं कफवातजम् ॥

चिप्य के लक्षण—

नखमांसमधिष्ठाय वायुपित्तं च देहिनाम् ।
कुर्वते दाहपाकौ च त व्याधिं चिप्यमादिशेत् ॥

अलस के लक्षण—

क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुजान्वितौ ।
दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विभावयेत् ॥

मुखदूषिका के लक्षण—

शाल्मलीकण्टकप्रख्या कफमारुतरक्तजा ।
युवानपिडका यूनां विज्ञेया मुखदूषिका ॥

कक्षा के लक्षण—

बाहुपार्श्वांसकक्षेषु कृष्णस्फोटां सवेदनाम् ।
पित्तप्रकोपसम्भूतान् कक्षामित्यभिनिर्दिशेत् ॥

वृषणकच्छू के लक्षण—

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंस्थितः ।
प्रक्लिद्यते यदा स्वेदात् कण्डू जनयते तदा ॥
ततः कण्डूयनात्क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते ।
प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम् ॥

गन्धनामा के लक्षण—

एकामेतादृशीं दृष्ट्वा पिडकां स्फोटसन्निभाम् ।
त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धनाम्नीं प्रचक्षते ॥

पाषाणगर्दभ के लक्षण—

वातश्लेष्मसमुद्भूतः श्वयथुर्हनुसन्धिजः ।
स्थिरो मन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेय. पाषाणगर्दभः ॥

व्यङ्ग के लक्षण—

क्रोधायासप्रकुपितो वायुःपित्तेन संयुतः ।
मुखमागत्य सहसा मण्डलं विसृजत्यतः ॥
नीरुजं तनुक श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत् ॥

विस्फोटों की सम्प्राप्ति—

त्वचमाश्रित्य ते रक्तं मांसास्थीनि प्रदूष्य च ।
घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान् ॥

भोजोक्त सम्प्राप्ति—

यदा रक्तं च पित्तं च वातेनानुगतं त्वचि ।
अग्निदग्धनिभान् स्फोटान् कुरुते सर्वदेहगान् ॥

मसूरिका—

मसूरकुसुमानां च तुल्या तत् फलकोपमा ।
गात्रेषु वदने वापि पित्ताज्ज्ञेया मसूरिका ॥

अन्यच्च—

पित्तं शोणितसंसृष्टं यदा दूषयति त्वचम् ।
तदा करोति पिडकाः सर्वगात्रेषु देहिनाम् ॥

वातिक मसूरिका के लक्षण—

स्फोटाः श्यावारुणा रूक्षास्तीव्रवेदनयाऽन्विताः ।
कठिनाश्चिरपाकाश्च भवन्त्यनिलसंभवाः ॥
सन्ध्यस्थिपर्वणां भेदः कासः कम्पोऽरतिः क्लमः ।
शोषः ताल्वोष्ठजिह्वानां तृष्णा चारुचिसंयुता ॥

पैत्तिक मसूरिका के लक्षण—

रक्ताः पीताः सिताः स्फोटाः सदाहास्तीव्रवेदनाः ।
भवन्त्यचिरपाकाश्च पित्तकोपसमुद्भवाः ॥
विड्भेदश्चाङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिस्तथा ।
मुखपाकोऽक्षिरागश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः ॥

रक्तज मसूरिका के लक्षण—

रक्तजाया भवन्त्येते विकाराः पित्तलक्षणाः ।

कफज मसूरिका के लक्षण—

कफप्रसेकः स्तैमित्यं शिरोरुग्गात्रगौरवम् ।
हृल्लासः सारुचिर्निद्रा तन्द्रालस्यसमन्विताः ॥
श्वेताः स्निग्धा भृशं स्थूलाः कण्डुरा मन्दवेदनाः ।
मसूरिकाः कफोत्थाश्च चिरपाकाः प्रकीर्तिताः ॥

त्रिदोषज मसूरिका के लक्षण—

नीलाश्चिपिटविस्तीर्णा मध्ये निम्ना महारुजाः ।
चिरपाकाः दुरास्रावाः प्रभूताः सर्वदोषजाः ॥
कण्ठरोधाऽरुचिस्तम्भप्रलापाऽरतिसंयुताः ।
दुश्चिकित्स्याः समुद्दिष्टाः पिडकाश्चर्मसंज्ञिताः ॥

त्वक्गत (रस धातु) मसूरिका के लक्षण—

तोयबुद्बुदसंकाशास्त्वग्गतास्तु मसूरिकाः ।
स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च ॥

शोणितधातुगत मसूरिका के लक्षण—

रक्तस्था लोहिताकाराः शीघ्रपाकास्तनुत्वचः ।
साध्यानात्यर्थदुष्टाश्च भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च ॥

मांसधातुगत मसूरिका के लक्षण—

मांसस्थाः कठिनाः स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वचः ।
गात्रशूलतृषाकण्डूज्वराऽरतिसमन्विताः ।

मेदस्थ मसूरिका के लक्षण—

मेदोजा मण्डलाकारा मृदवः किंचिदुन्नताः ।
घोरज्वरपरीताश्च स्थूलाः स्निग्धाः सवेदनाः ॥

अस्थिगत मसूरिका के लक्षण—

छिन्दन्ति मर्मधामानि प्राणानाशु हरन्ति हि ।
भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः ॥

मज्जोत्थ मसूरिका के लक्षण—

संमोहारतिसन्तापाः कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेत् ।
क्षुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटा' किंचिदुन्नताः ॥
मज्जोत्था भृशसंमोहवेदनाऽरतिसयुताः ।

शुक्र धातुगत मसूरिका के लक्षण—

पक्वाभाः पिडकाः स्निग्धाः सूक्ष्माश्चात्यर्थवेदनाः ।
स्तैमित्याऽरतिसंमोहदाहोन्मादसमन्विताः ॥
शुक्रजायां मसूर्यां तु लक्षणानि भवन्ति हि ।
निर्दिष्टं केवलं चिह्नं दृश्यते न तु जीवितम् ॥

इस प्रकार यह मसूरिका रोग के लक्षण जानने । यद्यपि यह महा भंयकर रोगों में से है परन्तु आचार्य ने त्वक् रोग होने के कारण क्षुद्ररोगों में गणित किया है ।

विसर्परोग वर्णन—

विसर्परोगो नवधा वातपित्तकफैस्त्रिधा ॥१००॥
त्रिधा स द्वन्द्वभेदेन सन्निपातेन सप्तमः ।
अष्टमो वह्निदाहेन नवमश्चाभिघातजः ॥१०१॥

विसर्प रोग नौ प्रकार का होता है। यथा - १—वातिक विसर्प, २—पैत्तिक विसर्प, ३—श्लेष्मिक विसर्प, ४—वातपैत्तिक विसर्प, ५—वातश्लेष्मिक विसर्प, ६—कफपैत्तिक विसर्प, ७—सन्निपातज विसर्प, ८—अग्निविसर्प, ९—अभिघातज विसर्प । इस प्रकार विसर्प रोग नौ प्रकार का होता है ॥१०१॥

वक्तव्य—विसर्प, यह एक प्रकार का शोथ होता है। वर्ण में रक्त और गति में सरणशील होने से इसे विसर्प कहते हैं। 'सुर्खबाद' और 'ऐरीसेपलिस' भी इसे कहते हैं। वृद्धिगत यह रोग बडा भयानक होता है।

यदुक्तम्—

विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः ।
परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वत. परिसर्पणात् ॥

वातिक विसर्प के लक्षण—

तत्र वातात् स वीसर्पो वातज्वरसमव्यथः।
शोथस्फुरणनिस्तोदभेदायासार्तिहर्षवान् ॥

पैत्तिक विसर्प के लक्षण—

पित्ताद् द्रुतगति पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः।

कफज विसर्प के लक्षण—

कफात्कण्डूयुत स्निग्ध कफज्वरसमानरुक्।

त्रिदोषज विसर्प के लक्षण—

संनिपातसमुत्थश्च सर्वलिङ्गसमन्वितः।

उदर्द—शीतपित्तरोग—

तथैकः श्लेष्मपित्ताभ्यामुदर्दः परिकीर्तितः।
वातपित्तेन चैकस्तु शीतपित्तामयः स्मृतः ॥१०२॥

कफ और पित्त के विकार से 'उदर्द' रोग उत्पन्न होता है और वात तथा पित्त के प्रकोप से 'शीतपित्त' रोग उत्पन्न होता है ॥१०२॥

वक्तव्य—शीतल वायु तथा शीतल जल के स्पर्श से समग्र शरीर में अथवा हस्तपाद मुखादि अवयवों में कण्डूशील शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसी को शीतपित्त अथवा 'छपाकी' कहते हैं। इस रोग का विशेष वर्णन—

हेतु और सम्प्राप्ति—

शीतमारुतसंस्पर्शात्प्रदुष्टौ कफमारुतौ।
पित्तेन सह संभूय वहिरन्तर्विसर्पतः ॥

पूर्वरूप—

पिपासारुचिहृल्लासदेहसादांगगौरवम्।
रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम् ॥

लक्षण—

वरटीदंष्ट्रसंस्थानः शोथः संजायते वहिः।
सकण्डूस्तोदवहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान् ॥
उदर्दमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे ॥

भेद बोधक—

वाताधिकः शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः।
सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः।
शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः ॥

एक और भेद—कोठ—

असम्यग्वमनो दीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहे।

मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ॥
उत्कोठः सानुबन्धश्च काठ इत्यभिधीयते ॥

अम्लपित्त रोग वर्णन—

अम्लपित्तं त्रिधा प्रोक्तं वातेन श्लेष्मणा तथा ।
तृतीयं श्लेष्मवाताभ्यां—

अम्लपित्त रोग तीन प्रकार का होता है । यथा—१—वातज अम्लपित्त, २—कफज अम्लपित्त, ३—कफवातज अम्लपित्त ।

वक्तव्य—इस रोग में प्राय खट्टे डकार आते हैं । पाचकाग्नि अत्यन्त दुर्बल हो जाती है । कोष्ठबद्धता होती है अथवा वमन विरेचन आरम्भ हो जाते हैं । जब यह रोग स्थिरता पकड़ लेता है तब रोगी का जीवन दु खमय हो जाता है । पुराना अम्ल-पित्त रोग बहुत कम अच्छा होता है । इसका विशेप वर्णन नीचे दिया जाता है ।

अम्लपित्त के कारण—

विरुद्धदुष्टाम्लविदाहि पित्तप्रकोपि पानान्नभुजो विदग्धम् ।
पित्त स्वहेतूपचितं पुरा यत्तदम्लपित्त प्रवदन्ति सन्तः ॥

सामान्य लक्षण—

अविपाकक्लमोत्क्लेशतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः ।
हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद्भिषक् ॥

वातज अम्लपित्त के लक्षण—

तृड्दाहमूर्च्छाभ्रममोहकारि प्रयात्यधो वा विविधप्रकारम् ।
हृल्लासकोठानलसादहर्षस्वेदाङ्गपीतत्वकरं कदाचित् ॥

कफवातज अम्लपित्त के लक्षण—

वान्तं हरित्पीतकनीलकृष्णमारक्तरक्ताभमतीव चाम्लम् ।
मांसोदकाभ त्वतिपिच्छिलाच्छं श्लेष्मानुजातं विविधं रसेन ॥
भुक्ते विदग्धे त्वथवाप्यभुक्ते करोति तिक्ताम्लवमिं कदाचित् ।
उद्गारमेवंविधमेव कण्ठहृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुजं च ॥

कफज अम्लपित्त के लक्षण—

करचरणदाहमौष्ण्यं महतीमरुचिं ज्वर च कफपित्तम् ।
जनयति कण्डूमण्डलपिडकाशतनिचितगात्ररोगनिचयम् ॥

वातरक्त रोग—

—वातरक्तं तथाष्टधा ॥१०३॥

वाताधिक्येन पित्ताच्च कफाद्दोषत्रयेण च ।
रक्ताधिक्येन दोषाणां द्वन्द्वेन त्रिविधः स्मृतः ॥१०४॥

वातरक्त रोग आठ प्रकार का है । १—वातप्रधान वातरक्त, २–पित्तप्रधान वातरक्त, ३–कफप्रधान वातरक्त, ४–त्रिदोषप्रधान वातरक्त, ५–रक्तप्रधान वातरक्त ६–वातपैत्तिक वातरक्त, ७–वातश्लेष्मिक वातरक्त, ८–कफपैत्तिक वातरक्त । इस प्रकार वातरक्त रोग आठ प्रकार का होता है ॥१०३-१०४॥

वक्तव्य— सामान्य विवेचन—

वायुः प्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि ।
क्रुद्धः सन्दूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेय वातशोणितम् ॥

चरक ने वातरक्त को द्विधाभेद कर दिया है । यथा—

उत्तानमथ गम्भीर द्विविधं वातशोणितम् ।
त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ॥

इस रोग का आरम्भ पादांगुष्ट की सन्धि से और कभी २ हाथ के अंगूठे से होता है। यह बड़ी मन्दगति से प्रसार करता है। 'नुकरस' और 'गौट' (Gout) भी इसे कहते हैं ।

वातरोग वर्णन—

अशीतिर्वातजा रोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिताः ।
आक्षेपको हनुस्तम्भ ऊरुस्तम्भः शिरोग्रहः ॥१०५॥
बाह्यायामोऽन्तरायामः पार्श्वशूलं कटिग्रहः ।
दण्डापतानकः खल्ली जिह्वास्तम्भस्तथार्दितम् ॥१०६॥
पक्षाघातः क्रोष्टुशीर्षो मन्यास्तम्भश्च पङ्गुता ।
कलायखञ्जता तूनी प्रतितूनी च खञ्जता ॥१०७॥
पादहर्षो गृध्रसी च विश्वाची चापबाहुकः ।
अपतानो व्रणायामो वातकण्टोऽपतन्त्रकः ॥१०८॥
अङ्गभेदोऽङ्गशोपश्च मिन्मिनत्वं च विक्लता ।
प्रत्यष्ठीलाऽष्ठीलिका च वामनत्वं च कुब्जता ॥१०९॥
अङ्गपीडाङ्गशूलं च संकोचस्तम्भरूक्षता ।
अङ्गभङ्गोऽङ्गविभ्रंशो विड्ग्रहो बद्धविट्कता ॥११०॥
मूकत्वमतिजृम्भा स्यादत्युद्गारोऽन्त्रकूजनम् ।
वातप्रवृत्तिः स्फुरणं शिराणां पूरणं तथा ॥१११॥
कम्पः कार्श्यं श्यावता च प्रलापः क्षिप्रमूत्रता ।
निद्रानाशः स्वेदनाशो दुर्बलत्वं बलक्षयः ॥११२॥

अतिप्रवृत्तिः शुक्रस्य कार्श्यं नाशश्च रेतसः ।
अनवस्थितचित्तत्वं काठिन्यं विरसास्यता ॥११३॥
(कषायवक्त्रताध्मानं प्रत्याध्मानं च शीतता ।
रोमहर्षश्च भीरुत्वं तोदः कण्डू रसाज्ञता ॥११४॥)
शब्दाज्ञता प्रसुप्तिश्च गन्धाज्ञत्वं दृशः क्षयः ।

पूर्वाचार्यों द्वारा कथित अस्सी (८०) प्रकार के वातजनित रोगों का वर्णन किया जाता है। यथा—

१ आक्षेपक—

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः ।
तदाऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देह मुहुश्चरः ॥
मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ॥ इति ॥

२ हनुस्तम्भ—

कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनू ।
करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ॥

३ ऊरुस्तम्भ—

तदा स्तभ्नाति तेनोरु स्तब्धौ शीतावचेतनौ ।
परकीयाविव गुरू स्यातामिति भृशव्यथौ ॥

४ शिरोग्रह—

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः शिराः ।
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्याच्छिरोग्रहः ॥

५ बाह्यायाम—

बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ।

६ अन्तरायाम—

आभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवः ॥
तदास्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली ॥

७ पार्श्वशूल—

रुणद्धि मारुतं श्लेष्मा कुक्षिपार्श्वव्यवस्थितः ।
स संरुद्धः करोत्याशवाध्मानं गुडगुडायनम् ॥
सूचीभिरिव निस्तोदः कृच्छ्रोच्छ्वासी तदा नरः ।
नान्नं वाञ्छति नो निद्रामुपैत्यार्तिनिपीडितः ॥
पार्श्वशूलः स विज्ञेयः कफानिलसमुद्भवः ।

१—प्रक्षिप्तमिदम् ।

८ कटिग्रह—इसमें कटिभाग में अवस्थित वायु कटिस्थान में शूल और स्तम्भ को उत्पन्न करता है। यथा—

हेतुस्थानविशेषा च भवेद्रोगविशेषकृत्।

९ दण्डापतानक—

पाणिपादशिर.पृष्ठश्रोणी' स्तभ्नाति मारुत.।
दण्डवत् स्तब्धगात्रस्य दण्डक सोऽनुपक्रमः॥

अन्यच्च—

कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति।
दण्डवत्स्तम्भयेद्देहं स तु दण्डापतानक॥

१० खल्ली—

खल्लीति पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी।

इस रोग को 'वाऊटे' कहते हैं। हाथ पाओं का ऐंठ जाना इसमें होता है।

११ जिह्वास्तम्भ—

वाग्वाहिनीशिरासस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिल।
जिह्वास्तम्भ स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता॥

इसमें जिह्वा की वोलने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

१२ अर्दित—इसको 'लकवा' कहते हैं। इसमें मुख, नासिका, नेत्र इनमें वक्रता आजाती है।

अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यत।
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते॥

१३ पक्षाघात—इसमें शरीर का आधा भाग निष्क्रिय हो जाता है 'पक्षवध' 'अधरग' और 'फालिज' भी इसे कहते हैं। यथा—

गृहीत्वार्धं तनुर्वायु शिरास्नायू विशोष्य च।
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिवन्धान् विमोक्षयन्॥
कृत्स्नार्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतन.।
एकाङ्गरोगं त केचिदन्ये पक्षवध विदु॥

१४ क्रोष्टुशीर्ष—

वातशोणितज शोथो जानुमध्ये महारुजः।
ज्ञेय क्रोष्टुकशीर्षस्तु स्थूल. क्रोष्टुकशीर्षवत्॥

इस रोग मे जानु की संधि में गीदड़ के मस्तक के समान विस्तृत और स्थूल सूजन, जिसमें तीव्र व्यथा होती है उत्पन्न हो जाती है। वायु और दुष्ट रुधिर से इस रोग की उत्पत्ति होती है। यह भी कष्टसाध्य रोग है।

१५ मन्यास्तम्भ—

दिवास्वप्नाशनस्थाननिवृतोर्ध्वनिरीक्षणात् ।
मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणावृतः ॥

१६ पंगुता—

पङ्गु· सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात् ।

इस रोग में दोनों टांगें क्रियाहीन हो जाती हैं।

१७ कलायखञ्ज—

प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति ।
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ॥

१८ तूनी—

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता ।
भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनी नाम नामतः ॥

१९ प्रतितूनी—

गुदोपस्थोत्थिता या तु प्रतिलोमं प्रधाविता ।
वेगैः पक्काशयं याति प्रतितूनीति सोच्यते ॥

२० खञ्जता—

वायु· कट्याश्रितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ।
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः—

एक टाग का लंगड़ापन 'खञ्ज' कहलाता है।

२१ पादहर्ष—

हृष्येते चरणौ यस्य भवेतां चाऽपि सुप्तकौ ।
पादहर्षः स विज्ञेयः कफवातप्रकोपतः ॥

इस रोग में हाथ अथवा पांव का सो जाना होता है।

२२ गृध्रसी—

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात् ।
गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः ॥

यह प्रसिद्ध रोग है। इसको 'रिगणवाय' अथवा 'साईटिका' कहते हैं। लक्षणानुसार यह दो प्रकार की होती है—वातजनित और वातकफजनित । 'वाताद्वातकफात् तन्द्रा गौरवारोचकान्विता ।

२४ विश्वाची—

तलं प्रत्यङ्गुलीनां या कण्डरा बाहुपृष्ठतः ।
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाचीति निगद्यते ॥

२४ अपबाहुक—

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयित्वासबन्धनम् ।
शिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयत्यपबाहुकम् ॥

२५ अपतानक—

दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति ।
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः ॥
वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम् ॥

२६ प्रणायाम—यह भी आक्षेपक का भेद है। अभिघातज आक्षेप इसका पर्य्याय है।

कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः ।
कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम् ॥

२७ वातकण्टक—

रुक्पादे विषमे न्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा ।
वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् ॥

२८ अपतन्त्रक—

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते ।
पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन् ॥
धनुर्वन्नमयेद्गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तदा ।
सकृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः ॥
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ॥

२९ अङ्गभेद—किसी अंगविशेष में प्रकुपितवायु द्वारा वातविकारों का लक्षित होना ।

३० अंगशोष—बाहु, जङ्घा, मुखादि का सूखना अंग शोष कहलाता है

३१ मिन्मिनत्व—

आवृत्य वायुः सकफो धमनीः शब्दवाहिनीः ।
नरान् करोत्यक्रियकान् मूकमिन्मिनगद्गदान् ॥

३२ कल्लता—इस रोग में मनुष्य अटक अटक कर बोलता है ।

३३ प्रत्यष्ठीला—

नाभेरधस्तात्संजातः संचारी यदि वाऽचलः ।
अष्ठीलावद्घनो ग्रन्थीरूर्ध्वमायतमुन्नतम् ॥
वाताष्ठीलां विजानीयाद्बहिर्मार्गावरोधिनीम् ।
एतामेव रुजायुक्तां वातविण्मूत्ररोधिनीम् ॥
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ।

३४ अष्ठीला—इसमें नाभि के ऊपर लम्बी शकल की गाठ सी बन जाती है। उस में व्यथा होती है।

३५ वामनत्व—गर्भाशयस्थ शुक्रार्तव में वात प्रकोप होने तथा गर्भस्थ-शिशु की पुष्टि के अभाव में शरीर की अत्यल्प लम्बाई चौड़ाई होती है इसी को 'वामन' कहते हैं।

३६ कुब्ज (कुबडापन)—

कुर्यात् शिरागतः शूलं शिराकुञ्चन पूरणम्।
स बाह्याभ्यन्तरायाम खल्लीं कुब्जत्वमेव च॥

३७ अगपीडा—किसी अंगविशेष में वातजनित पीडा की वृद्धि होना।

३८ अंगविभ्रंश—किसी अंग का वात प्रकोप के कारण शिथिल होना अथवा नष्ट होना।

३९ अगशूल—किसी अंग विशेष में तीव्र शूल होना।

४० अंगसंकोच—किसी अंग का सकुचित होना।

४१ अंगस्तम्भ—किसी अग का सर्वथा स्तम्भित होना (जकड जाना)।

४२ अंगरूक्षता—किसी अग का अत्यन्त रूक्ष होना।

४३ अंगभंग—किसी अग में टूटने की सी पीडा का होना।

४४ विड्ग्रह—मल का अरोध होना।

४५ बद्धविट्कता—मल का कठिन होना।

४६ मूकत्व—बोलने की शक्ति का अभाव।

४७ जृम्भाधिक्य—जम्भाइयों का अधिक आना।

४८ अति उद्गार—डकारों का अधिक आना।

४९ अन्त्रकूजन—आंतों में वायु का बोलना। पक्वाशयस्थ वात विकृति में ऐसा होता है।

५० वातप्रवृत्ति—अधोवायु की अत्यधिक प्रवृत्ति।

५१ स्फुरण—अंगों में वायु का फडकना।

५२ शिरापूरण—शिराओं में दुष्ट वायु के अवस्थित होने से शिराओं का स्थूल होना।

५३ कम्प—

सर्वांगकम्पः शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः॥

५४ कार्श्य—शरीर का कृश होना।

५५ श्यावता—शरीर का कृष्ण वर्ण होना।

५६ प्रलाप—असम्बद्ध भाषण को प्रलाप कहते हैं।

५७ क्षिप्रमूत्रता—बार बार मूत्र का आना।

मारुतेऽविगुणे वस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते ।
विकारा विविधाश्चात्र प्रतिलोमे भवन्ति हि ॥

५८ निद्रानाश—नींद का अभाव । यदुक्तम्—
निद्रानाशेऽनिलो हेतु· ।

५९ स्वेदनाश—पसीने का अभाव ।

६० दुर्वलत्व—निर्बलत्व ।

६१ वलक्षय—वल का नाश । रसादि धातुओं के सूखने के कारण ऐसा होता है ।

६२ शुक्र की अति प्रवृत्ति—शुक्रधातु का अधिक स्राव होना ।

६३ कार्श्य—शुक्र का क्षीण होना ।

६४ शुक्रनाश—शुक्रच्युति ।

६५ चित्त की अनवस्थितता—सर्वदा मन का अस्थिर रहना ।

६६ काठिन्य—अगों का कृशत्वेन कठिन होना ।

६७ विरसास्यता—मुख का स्वाद रहित रहना ।

६८ कपायमुखता—मुख का कसैला रहना ।

६९ आध्मान—
साटोपमत्युग्ररुजामाध्मातमुदरं भृशम् ।
आध्मानमिति तं विद्याद्घोरं वातनिरोधजम् ॥

७० प्रत्याध्मान—
विमुक्तपार्श्वहृदय तदेवामाशयोत्थितम् ।
प्रत्याध्मान विजानीयात्कफव्याकुलितानिलम् ॥

७१ शीतता (शीतवात के लक्षण)—
हिमवन्ति हि गात्राणि रोमाञ्चज्वरितानि च ।
शिरोऽक्षिवेदनाऽऽलस्यं शीतवातस्य लक्षणम् ॥ (रसरत्न स०)

७२ रोमहर्ष—त्वक्गत वायु दूषित होकर रोमहर्ष (रोंगटों का खडा होना) रोग को उत्पन्न करता है ।

७३ भीरुता—सर्वदा भयभीत रहना । यह भी वातकोप से होता है । हृदय की दुर्वलता से इस का प्रादुर्भाव होता है ।

७४ तोद—समग्र शरीर अथवा अवयव विशेष में सूई चुभने की सी पीडा का होना ।

७५ कण्डू—सम्पूर्ण शरीर अथवा अवयव विशेष में खाज का होना कण्डू कहलाता है ।

७६ रसाज्ञता—खाद्य, चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेयादि भोजनों के स्वाद का ठीक २ अनुभव न होना रसाज्ञता कहा जाता है ।

७७ शब्दाज्ञता—उच्चारित शब्द का ठीक २ ज्ञान न होना।

७८ प्रसुप्ति—अंगविशेष की त्वचा का सो जाना अर्थात् सुख दुःख शीतोष्णादि के ज्ञान का अभाव।

७९ गन्धाज्ञता—सुगन्ध और दुर्गन्ध के समझने की शक्ति का अभाव।

८० दृश त्तयः—नेत्रज्योतिक्षय अर्थात् रक्तपीतादि वर्णों के सम्यक् ज्ञान का अभाव दृशक्षय कहलाता है।

यदुक्तम्—

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात्क्रुद्धः समीरणः।

अर्थात जब दुष्ट वायु ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करता है तब उनको अपने अपने विषयों के ज्ञान से रहित कर देता है। इस प्रकार वायु से होनेवाले यह ८० रोग गणना मात्र के लिये कहे हैं। वायु सब दोषों में बलवान् होने के कारण असख्य और अपरिमेय रोगों को उत्पन्न करता है—ऐसा चरक का मत है।

पित्तरोग वर्णन—

अथ पित्तभवा रोगाश्चत्वारिंशदिहोदिताः ॥११५॥
धूमोद्गारो विदाहः स्यादुष्णाङ्गत्वं मतिभ्रमः।
कान्तिहानिः कण्ठशोषो मुखशोषोऽल्पशुक्रता ॥११६॥
तिक्तास्यताम्लवक्त्रत्वं स्वेदस्रावोऽङ्गपाकता।
क्लमो हरितवर्णत्वमतृप्तिः पीतगात्रता ॥११७॥
रक्तद्रावोऽङ्गदरणं लोहगन्धास्यता तथा।
दौर्गन्ध्यं पीतमूत्रत्वमरतिः पीतविट्कता ॥११८॥
पीतावलोकनं पीतनेत्रता पीतदन्तता।
शीतेच्छा पीतनखता तेजोद्वेषोऽल्पनिद्रता ॥११९॥
कोपश्च गात्रसादश्च भिन्नविट्कत्वमन्धता।
उष्णोच्छ्वासत्वमुष्णत्वं मूत्रस्य च मलस्य च ॥१२०॥
तमसो दर्शनं पीतमण्डलानां च दर्शनम्।
निःसरत्वं च पित्तस्य चत्वारिंशद्रुजः स्मृताः ॥१२१॥

अब पित्त से होने वाले ४० रोगों का वर्णन किया जाता है। यथा—

१ धूमोद्गार—(डकार से निकलनेवाली वायु में धूएं की सी प्रतीति हो)।

२ विदाह—(इस में हाथ, पाव, नेत्रादि में जलन होती है)।

३ उष्णाङ्गत्व—(शरीर के अङ्गों का गरम रहना)।

४ मतिभ्रम—(पित्त की अत्यधिक वृद्धि से बुद्धि भ्रमित हो जाती है)।

५ कान्तिहानि—(शरीर के वर्ण में मलिनतायुक्त पीतवर्ण का बोध होन
६ कण्ठशोष—(कण्ठ का सूखना)।
७ मुखशोष—(मुख का सूखना)।
८ अल्पशुक्रता—(वीर्य का अल्प होना)।
९ तिक्तास्यता—(मुख का स्वाद कडवा रहना)।
१० अम्लवक्त्रता—(मुख का स्वाद खट्टा सा रहे)।
११ स्वेदस्राव—(पसीने का अधिक आना)।
१२ अङ्गपाक—(पित्ताधिक्य के कारण शरीरावयव का पक जाना)।
१३ क्लम—(परिश्रम के बिना ही थकावट का होना)।
१४ हरितवर्णत्व—(पित्त के मल युक्त होने पर हरा सा वर्ण होता है)
१५ अतृप्ति—(भोजनादि में तृप्ति नही होती)।
१६ पीत गात्रता—(अङ्गों का पीला होना)।
१७ रक्तस्राव—(रुधिर प्रवृत्ति)।
१८ अगदरण—(अगों में दरणवत् पीडा)।
१९ लोहगन्धास्यता—(निःश्वसित श्वास में लोहे की गन्ध का होना)।
२० दौर्गन्ध्य—(पसीने में दुर्गन्ध का आना)।
२१ पीतमूत्रता—(मूत्र का पीत वर्ण होना)।
२२ अरति—(बेचैनी का होना)।
२३ पीतविट्कता—(पुरीष का पीत होना)।
२४ पीतावलोकन—(पीला ही पीला देखना)।
२५ पीतनेत्रता—(नेत्रों का पीला होना)।
२६ पीतदन्तता—(दातों का पीला होना)।
२७ शीतेच्छा—(शीतल पदार्थ और शीतल वायु की अभिलाषा क
सर्वदा होना)।
२८ पीतनखता—(नाखूनों का पीला होना)।
२९ तेजोद्वेष—(अत्यत चमकीली वस्तुओं से द्वेष)।
३० अल्पनिद्रता—(थोडी निद्रा का आना)।
३१ कोप—(क्रोधी स्वभाव होना)।
३२ गात्रसाद—(अगों में दृढता का अभाव)।
३३ भिन्नविट्कता—(पुरीष का द्रव रूप में आना)।
३४ अन्धता—(नेत्रज्योति का ह्रास)।
३५ उष्णोच्छ्वास—(श्वासीय वायु का गरम हो कर आना)।
३६ उष्णमूत्रता—(मूत्र का गरम होना)।
३७ उष्णमलता—(मल का स्पर्शोष्ण होना)।

३८ तमसोदर्शन—(अंधकार का दीखना) ।

३९ पीत मण्डल दर्शन—(पीले २ मंडलों का दीखना) ।

४० नि.सहत्व—(सहन शक्ति का अभाव होना) ।

इस प्रकार पित्त जनित यह ४० रोग होते हैं। (एवं भिन्न २ दोषों के साथ मिलकर पित्त के भी असंख्य और अपरिमित रोग मानने का निर्देश वायु के सदृश ही है)। पित्त का विस्तृत विवेचन इसी खण्ड के पाचवें अध्याय में किया गया है। अधिक देखना हो तो वहां से देखें।

कफरोग वर्णन—

कफस्य विंशतिः प्रोक्ता रोगास्तन्द्रातिनिद्रता ।
गौरवं मुखमाधुर्यं मुखलेपः प्रसेकता ॥१२२॥
श्वेतावलोकनं श्वेतविट्कत्वं श्वेतमूत्रता ।
श्वेताङ्गवर्णता शैत्यमुष्णेच्छा तिक्तकामिता ॥१२३॥
मलाधिक्यं च शुक्रस्य बाहुल्यं बहुमूत्रता ।
आलस्यं मन्दबुद्धित्वं तृप्तिर्घरघरवाक्यता ॥१२४॥
अचैतन्यं च गदिता विंशतिः श्लेष्मजा गदाः ।

कफ के वीस रोग होते हैं। यथा—

१ तन्द्रा—

इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरव जृम्भण क्लमः ।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रा विनिर्दिशेत् ॥

२ अतिनिद्रा—

यदा तु मनसि क्लान्तिः कर्मात्मा च क्लमान्वितः ।
आलस्य मन्दबुद्धित्वं तृप्तिर्घर्घरवाक्यता ।
विषयेभ्यो निवर्तेत तस्य निद्रां विनिर्दिशेत् ॥

३ गौरव—

आर्द्रचर्मावनद्धं च यो गात्रं मन्यते नरः ।
तथा गुरुशिरोत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत् ॥

४ मुखमाधुर्य—मुख के स्वाद का मीठा होना ।

५ मुखलेप—मुख का कफ से लिपा रहना ।

६ प्रसेकता—मुख से जल का स्राव होना ।

७ श्वेतावलोकन—समस्त पदार्थों का सफेद दीखना ।

८ श्वेतविट्कता—पुरीष का श्वेत वर्ण होना ।

९ श्वेतमूत्रता—मूत्र के वर्ण का श्वेत होना ।

१० श्वेताङ्गवर्णता—अंगों के वर्ण का श्वेत होना ।

११ शैत्यता—शीतप्रतीति ।

१२ उष्णेच्छा—उष्ण पदार्थ और उष्णता की इच्छा ।

१३ तिक्तकामिता—कड़वे और तीखे पदार्थों की अभिलाषा ।

१४ मलाधिक्य—मल की अधिकता ।

१५ शुक्रवाहुल्यता—वीर्य की अधिकता ।

१६ वहुमूत्रता—मूत्र का अधिक आना ।

१७ आलस्य—
समर्थस्याप्यनुत्साह कर्मण्यालस्यमुच्यते ॥

१८ मन्दवुद्धित्व—बुद्धि की मन्दता ।

१९ तृप्ति—भोजनेच्छा का अभाव ।

२० घर्घरवाक्यता—वर्णों के स्पष्टोच्चारण का अभाव तथा जडता । यह वीस रोग कफ जनित होते हैं ॥१२२—१२४॥

रक्तज रोग वर्णन—

रक्तस्य च दश प्रोक्ता व्याधयस्तेषु गौरवम् ॥ १२५ ॥
रक्तमण्डलता रक्तनेत्रत्वं रक्तमूत्रता ।
रक्तनिष्ठीवनं रक्तपिडकानां च दर्शनम् ॥ १२६ ॥
औष्ण्यं च पूतिगन्धत्वं पीडा पाकश्च जायते ।

रक्तजनित रोग दश होते हैं । यथा—

१ गौरव—भारीपन होना ।

२ रक्तमण्डलता—शरीर पर लाल २ चकत्तों का होना ।

३ रक्तनेत्रत्व—नेत्रों का रक्तवर्ण होना ।

४ रक्तमूत्रता—मूत्र का रक्तवर्ण होना ।

५ रक्तनिष्ठीवन—रक्त का थूक के साथ निकलना ।

६ रक्तपिडका—शरीर पर लाल २ फुन्सियों का होना ।

७ उष्णता—शरीर का स्पर्श उष्ण होना ।

८ पूतिगन्धता—रक्त में पूय की सी गन्ध होना ।

९ पीडा—शरीर में रक्तजनित पीडाओं का होना ।

१० पाक—मास तथा त्वचादि का पक जाना ।

इस प्रकार रुधिरदोष से होनेवाले यह दश रोग होते हैं । (इन्हें भी सक्षेपत निर्देशात्मक जानना चाहिये) ॥१२५—१२६॥

मुखरोग वर्णन—

चतुःसप्ततिसंख्याका मुखरोगास्तथोदिताः ॥ १२७ ॥

मुख में होनेवाले रोग ७४ हैं। यह ७४ रोग सात स्थानों पर होते हैं। यथा—

मुखरोगाः समाख्याताः सप्तस्वायतनेषु च ।

अर्थात् दांत, ओष्ठ, दन्तवेष्ट, जिह्वा, कण्ठ, तालु तथा सर्वगत—इन सात स्थानों में मुखगत रोग होते हैं।

ओष्ठ रोग वर्णन—

तेष्वोष्ठरोगा गणिता एकादशमिता बुधैः ।
वातपित्तकफैस्त्रेधा त्रिदोषैरसृजा तथा ॥ १२८ ॥
क्षतं मांसार्बुदं चैव खण्डोष्ठं च जलार्बुदम् ।
मेदोऽर्बुदं चार्बुदं च रोगा एकादश स्मृताः ॥ १२६ ॥

मुखरोगों में से ओष्ठ भाग में होनेवाले रोग ग्यारह (११) होते हैं। यथा—

१ वातिक ओष्ठरोग—

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ सम्प्राप्तावनिलवेदनौ ।
दाल्येते परिपाट्येते ओष्ठौ मारुतकोपतः ॥

२ पैत्तिक ओष्ठरोग—

चीयेते पिडकाभिश्च सरुजाभिः समन्ततः ।
सदाहपाकपिडकौ पीताभासौ च पित्ततः ॥

३ कफज ओष्ठरोग—

सवर्णाभिस्तु चीयेते पिडकाभिरवेदनौ ।
भवतस्तु कफादोष्ठौ पिच्छलौ शीतलौ गुरू ॥

४ सन्निपातज ओष्ठप्रकोप—

सकृत् कृष्णौ सकृत् पीतौ सकृत् श्वेतौ तथैव च ।
सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडकान्वितौ ॥

५ रक्तज ओष्ठप्रकोप—

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिर्निपीडितौ ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥

६ क्षतज ओष्ठप्रकोप—

क्षतावभिहितौ वापि रक्तावोष्ठौ सवेदनौ ।
भवतः सपरिस्रावी कफरक्तप्रदूषितौ ॥

७ मांसज ओष्ठप्रकोप—

गुरुस्थूलौ मांसदुष्टौ मांसपिण्डवदुद्गतौ ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति नरस्योभयतो मुखात् ॥

८ मेदज ओष्ठप्रकोप—

सर्पिर्मण्डप्रतीकाशौ मेदसा कण्डुरौ गुरू।
अच्छं स्फटिकसंकाशमास्राव स्रवतो भृशम्।
तयोर्व्रणो न संरोहेद् मृदुत्वं च न गच्छति॥

९ खण्डौष्ठ—यह वात प्रकोप से होता है। इसमें प्रकुपित वायु ओष्ठ को द्विधा विभक्त कर देता है।

१० जलार्बुद—

जलवद्दुद्गतो वातः कफादोष्ठे जलार्बुदम्।

११ अर्बुद—अर्बुद सदृश ओष्ठभाग में मांस पिण्ड के सञ्चय को अर्बुद कहते हैं। प्रचलित भाषा में इसे रसौली कहते हैं।

दन्त रोग—

दन्तरोगा दशाख्याता दालनः कृमिदन्तकः।
दन्तहर्षः करालश्च दन्तचालश्च शर्करा॥ १३०॥
अधिदन्तः श्यावदन्तो दन्तभेदः कपालिका।

दांतों में होने वाले रोग दश होते हैं। यथा—

१ दालन—

दीर्यमाणेष्विव रुजा यस्य दन्तेषु जायते।
दालनो नाम स व्याधि. सदागतिनिमित्तज॥

२ कृमिदन्त—

कृष्णछिद्रश्चल स्रावी ससरम्भो महारुज।
अनिमित्तरुजो वातात् स ज्ञेय कृमिदन्तक॥

३ दन्तहर्ष—

शीतरूक्षप्रवाताम्लस्पर्शानामसहा द्विजा।
पित्तमारुतकोपेन दन्तहर्ष स नामत॥

४ कराल—

शनै. शनै प्रकुरुते वायुर्दन्तसमाश्रित।
करालान् विकटान् दन्तान् करालो न स सिद्ध्यति॥

५ दन्तचलन (भञ्जनक)—

वक्त्र वक्रं भवेद्यस्य दन्तभङ्गश्च जायते।
कफवातकृतो व्याधि. स भञ्जनकसंज्ञित॥

६ शर्करा—

मलो दन्तगतो यस्तु पित्तमारुतशोषित।
शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा॥

७ अधिदन्त (खलीवर्धन)—

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदन।

खलीवर्धनसंज्ञोऽसौ जाते रुक् च प्रशाम्यति ॥

८ श्यावदन्त—

असृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः ।
श्यावतां नीलतां वाऽपि गतः सः श्यावदन्तकः ॥

९ दन्तभेद—

वक्त्रं वक्रं भवेद्यस्य दन्तभङ्गश्च तीव्ररुक् ।
कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञकः ॥

१० कपालिका—

कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तानां सैव शर्करा ।
कपालिकेति पठिता सदा दन्तविनाशिनी ॥

दन्तमूलगत रोग—

तथा त्रयोदशमिता दन्तमूलामयाः स्मृताः ॥१३१॥
शीतादोपकुशौ द्वौ तु दन्तविद्रधिपुप्पुटौ ।
अधिमांसो विदर्भश्च महासौपिरसौपिरौ ॥१३२॥
तेष्वेव गतयः पञ्च वातात्पित्तात्कफादपि ।
सन्निपाताद्गतिश्चान्या रक्तनाडी च पञ्चमी ॥१३३॥

इसी प्रकार १३ रोग दांतों की जडों में होते हैं। यथा—१—शीताद, २—उपकुश, ३—दन्तविद्रधी, ४—दन्तपुप्पुट, ५ अधिमांस, ६—विदर्भ, ७—महासौपिर ८—सौपिर, ९—वातिक दन्तनाडी (नासूर), १०—पैत्तिक दन्तनाड़ी, ११—श्लेष्मिक दन्तनाड़ी, १२—सान्निपातिक दन्तनाडी, १३—रक्तज दन्तनाडी। इस प्रकार तेरह प्रकार के दन्तमूलों के रोग होते हैं । इनके लक्षण नीचे लिखे जाते हैं ॥१३३॥

वक्तव्य— १ शीताद के लक्षण—

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्तते ।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च ॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम् ।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः ॥

२ उपकुश के लक्षण—

वेष्टेषु दाहः पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च ।
यस्मिन् सोपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः ॥

३ दन्तविद्रधी के लक्षण—

दन्तमांसैर्मलस्त्रावैर्बाह्यान्तः श्वयथुर्गुरुः ।
सदाहरुक् स्रवेद्भिन्न पूयास्रं दन्तविद्रधिः ॥

४ दन्तपुप्पुट के लक्षण—

दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयथुर्जायते महान् ।
दन्तपुप्पुटको नाम स व्याधिः कफरक्तजः ॥

५ वैदर्भ के लक्षण—

घृष्टेषु दन्तमांसेषु संरम्भो जायते महान् ।
भवन्ति चञ्चला दन्ता स वैदर्भोऽभिघातजः ॥

६ अधिमास के लक्षण—

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महान् शोथो महारुजः ।
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः ॥

७ महासौषिर के लक्षण—

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते ।
यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महासौषिरनामतः ॥

भोजोक्त महासौषिर के लक्षण—

सदाहो दन्तमूलेऽपि शोथः पित्तकफानिलात् ।
जातः क्षपयति कफं क्षीणे तस्मिंस्तु शोणितम् ॥
प्रवृद्धमनिशं दन्तास्ताल्वोष्ठमपि दारयेत् ।
महासौषिर इत्येष सप्तरात्रान्निहन्त्यसून् ॥

८ सौषिर के लक्षण—

श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः ।
लालास्रावी स विज्ञेयः सौषिरो नाम नामतः ॥

९ दन्तनाड़ी के लक्षण—

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिता ॥

पञ्चधा दात के नासूरों के वही लक्षण जानने जो नाडी व्रण के लक्षण कहे

जिह्वा के रोगों का वर्णन—

तथा जिह्वामयाः षट् स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा ।
अलासश्च चतुर्थः स्यादधिजिह्वा च पञ्चमी ॥१३४॥
षष्ठी चैवोपजिह्वा स्यात्—

जिह्वारोग (जीभ पर होने वाले रोग) छः प्रकार के होते हैं । यथा—
१—वातिक जिह्वारोग, २—पैत्तिक जिह्वारोग, ३—श्लैष्मिक जिह्वा॰
४—अलास, ५—अधिजिह्वा, ६—उपजिह्वा । इस प्रकार जिह्वागत छः रोग हैं । इनके पृथक् २ लक्षण इस प्रकार हैं—

वक्तव्य— वातिक जिह्वा रोग के लक्षण—

१ जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा
२ पित्तेन पीता परिदह्यते च चिता सरक्तैरपि कण्टकैश्च ।

३ कफेन गुर्वी बहुला चिता च मांसोच्छ्रयैः शाल्मलिकण्टकाभैः ।

४ अलास के लक्षण—

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः ।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूले च जिह्वा भृशमेति पाकम् ॥

५ अधिजिह्वा के लक्षण—

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्वोपरिष्टादपि रक्तमिश्रात् ।
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥

६ उपजिह्वा के लक्षण—

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तमूलः ।
लालाकरः कण्डुयुतः सचोषः सा तूपजिह्वा पठिता भिषग्भिः ॥

तालुरोग वर्णन—

—तथाष्टौ तालुजा गदाः ।
अर्बुदं तालुपिटिका कच्छपी मांससंहतिः ॥१३५ ॥
गलशुण्डी तालुशोषस्तालुपाकश्च पुप्पुटः ।

तालु प्रदेश में होने वाले आठ रोग होते हैं । यथा—
१—तालुअर्बुद, २—तालुपिटिका, ३—कच्छपी, ४—मांससंहति, ५—गलशुण्डी, ६—तालुशोष, ७—तालुपाक, ८—तालुपुप्पुट ॥१३५॥

वक्तव्य—तालुरोगों के पृथक् २ लक्षण इस प्रकार होते हैं । यथा—

१ ताल्वर्बुद—

पद्माकारं तालुमध्ये तु शोथं विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिंगम् । (माधवोक्त)

भोजोक्त लक्षण—

उपर्येव भवेद् व्याधिर्यथा पद्मस्य कर्णिका ।
पार्श्वतश्चाङ्कुरैर्दीर्घैर्नासा चाप्यवसीदति ॥
श्लेष्मरक्तसमुत्थानं तत्ताल्वर्बुदसंज्ञितम् ॥

२ तालुपिटिका (अध्रुष)—

शोथः स्तब्धो लोहितस्तालुदेशे रक्ताज्ज्ञेयः सोऽध्रुषो रुग् ज्वरश्च ।

३ कच्छपी के लक्षण—

कूर्मोत्सन्नतोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा रोगो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा च ।

४ तालुसंहति (मांससंघात)—

दुष्टं मांसं नीरुजं तालुमध्ये कफात्स्थूलं मांससंघातमाहुः ।

५ गलशुण्डी (कण्ठशुण्डी)—

श्लेष्मासृग्भ्यां तालमूले प्रवृद्धो दीर्घः शोथो ध्मातवस्तिप्रकाशः ।
तृष्णाकासश्वासकृत्तं वदन्ति व्याधिं वैद्याः कण्ठशुण्डीति नाम्ना ॥

६ तालुशोष के लक्षण—

शोषोऽत्यर्थं दीर्यते वापि तालु श्वासश्चोग्रस्तालुशोषोऽनिलाच्च ।

७ तालुपाक के लक्षण—

पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं तालुन्येवं तालुपाकं वदन्ति ।

८ तालुपुप्पुट के लक्षण—

नीरुक् स्थायी कोलमात्र. कफात् स्यान्मेदोयुक्तात् पुप्पटस्तालुदेशे ।

गलरोग वर्णन—

गलरोगास्तथाख्याता अष्टादशमिता बुधैः ॥१३६॥
वातरोहिणिका पूर्वं द्वितीया पित्तरोहिणी ।
कफरोहिणिका प्रोक्ता त्रिदोषैरपि रोहिणी ॥१३७॥
मेदोरोहिणिका वृन्दो गलौघो गलविद्रधिः ।
स्वरहा तुण्डिकेरी च शतघ्नी शालुकोऽर्बुदम् ॥१३८॥
गलायुर्वलयश्चापि वाताद्गण्डः कफात्तथा ।
मेदोगण्डस्तथैव स्यादित्यष्टादश कण्ठजाः ॥१३९॥

अनुभवी चिकित्सकों ने गले में होने वाले १८ रोग कहे हैं । यथा—

१—वातिक रोहिणी, २—पैत्तिक रोहिणी, ३—कफज रोहिणी, ४—सन्निपात रोहिणी, ५—मेदज रोहिणी, ६—वृन्द, ७—गलौघ, ८—गलविद्रधि, ९—स्वरघ्न, १०—तुण्डिकेरी, ११—शतघ्नी, १२—शालूक, १३—अर्बुद, १४—गलायु, १५—वलय, १६—वातिक गलगण्ड, १७—कफज गलगण्ड, १८—मेदज गलगड । इस प्रकार नामान्तर भेद से १८ प्रकार के गलरोग होते हैं । नीचे इनके लक्षण लिखे जाते हैं ॥१३६—१३९॥

वक्तव्य— १ वातिक रोहिणी—

जिह्वा समन्ताद्भृशवेदना ये मांसाङ्कुरा' कण्ठनिरोधना. स्युः ।
तां रोहिणीं वातकृतां वदन्ति वातात्मकोपद्रवगाढजुष्टाम् ॥

२ पैत्तिक रोहिणी के लक्षण—

क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा तु ।

३ कफज रोहिणी के लक्षण—

स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका गुर्वी स्थिरा सा कफसम्भवा च ।

४ त्रिदोषज रोहिणी के लक्षण—

गम्भीरपाकिन्यनिवार्यवीर्या त्रिदोषलिङ्गा त्रितयोत्थिता च ।

५ मेदज रोहिणी (रक्तज रोहिणी)

स्फोटैश्चिता पित्तसमानलिंगा साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मका तु ।

६ वृन्दरोग के लक्षण—

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति।
तं चापि पित्तक्षतजप्रकोपाज्ज्ञेयं सतोद पवनात्मकं च।

७ गलौघ के लक्षण—

शोथो महानन्नजलावरोधी तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्तितोऽसौ॥

८ गलविद्रधी के लक्षण—

सर्व गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोथो रुजो यत्र च सन्ति सर्वा.।
स सर्वदोपो गलविद्रधिस्तु तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य॥

९ स्वरहा (स्वरघ्न) के लक्षण—

यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः।
कफोपादिग्धेष्वनिलायनेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः॥

१० तुण्डिकेरी के लक्षण—

शोथः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।

११ शतघ्नी के लक्षण—

वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या चितातिमात्रं पिशितप्ररोहैः।
नानारुजोच्छ्रायकरी त्रिदोषाज्ज्ञेया शतघ्नी च शतघ्निरूपा॥

१२ शालूक (कण्ठ शालूक)—

कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूत.।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति॥

१३ अर्वुद (मासतान)—

प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः॥

१४ गलायु के लक्षण—

थर्गले त्वामलकास्थिमात्र. स्थिरोऽल्परुक् स्यात्कफरक्तमूर्ति.।
क्ष्यते सक्तमिवाशनं च स शस्त्रसाध्यस्तु गिलायुसञ्ज्ञः॥

१५ वलय के लक्षण—

वलाश एवायतमुन्नत च शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य।
तं सर्वथैवाप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति॥

१६ वातिक गलगण्ड के लक्षण—

ोदान्वितः कृष्णशिरावनद्ध. श्यावोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु।
ारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको यदृच्छया पाकमियात्कदाचित्॥
ारस्य मास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेच्चथा तालुगलप्रशोषः॥

१७ कफज गलगण्ड के लक्षण—

स्थिरः सवर्णो गुरुरुग्रकण्डू शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु।

चिराभिवृद्धिं भजते चिराद्वा प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित् ॥
माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रलेपः ॥

१८ मेदज गलगण्ड के लक्षण—

स्निग्धो गुरुः पाण्डुरनिष्टगन्धो मेदोभवः कण्डुयुतोऽल्परुक् च ।
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः ॥
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तोर्गलेऽनुशब्दं कुरुते च नित्यम् ॥

विशेषतया यह रोग गल के बाह्य प्रदेश में होता है । इसके होने पर गल के चारों ओर अथवा गल प्रदेश के एक पार्श्व में गोलाकृति शोथ हो जाता है । कभी कभी यह बढते बढते बडे लोटे के आकार का हो जाता है । यथा—

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले ।
महान्वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥

मुखान्तर्गत रोग—

मुखान्तःसम्भवा रोगा अष्टौ ख्याता महर्षिभिः ।
मुखपाको भवेद्वातात्पित्तात्तद्वत्कफादपि ॥१४०॥
रक्ताच्च सन्निपाताच्च पूत्यास्योर्ध्वगदावपि ।
अर्बुदं चेति मुखजाश्चतुःसप्ततिरामयाः ॥१४१॥

समस्त मुखगह्वर में होने वाले आठ रोग महर्षियों ने कहे हैं । यथा—
१—वातिक मुखपाक, २—पैत्तिक मुखपाक, ३—श्लेष्मिक मुखपाक, ४—रक्तज मुखपाक, ५—सन्निपातज मुखपाक, ६—दुर्गन्धास्य, ७—ऊर्ध्वगद, ८—मुखार्बुद । ऐसे यह रोग आठ प्रकार के होते हैं ॥१४०—१४१॥

कर्णरोग विवरण—

कर्णरोगाः समाख्याता अष्टादशमिता बुधैः ।
वातात्पित्तात्कफाद्रक्तात्सन्निपाताच्च विद्रधिः ॥१४२॥
शोथोऽर्बुदं पूतिकर्णः कर्णार्शः कर्णहाल्लिका ।
बाधिर्यं तन्त्रिका कण्डूः शष्कुली कृमिकर्णकः ॥१४३॥
कर्णनादः प्रतीनाह इत्यष्टादश कर्णजाः ।

कान के भीतर और बाहर होने वाले रोग बुद्धिमानों ने १८ कहे हैं । यथा—
१ - वातिक कर्णरोग, २—पैत्तिक कर्णरोग, ३—श्लेष्मिक कर्णरोग, ४—रक्तज कर्णरोग, ५—सन्निपातज कर्णरोग, ६—विद्रधी, ७—कर्णशोथ, ८—कर्णार्बुद, ९—पूतिकर्ण, १०—कर्णार्श, ११—कर्णहल्लिका, १२ - बाधिर्य, १३—तन्त्रिका, १४—कर्णकण्डू, १५—कर्णशष्कुली, १६—कृमिकर्ण, १७— कर्णनाद, १८—कर्णप्रतीनाह । इस प्रकार यह १८ रोग कान के होते हैं ॥१४२-१४३॥

उक्त रोगों के पृथक् पृथक् लक्षण इस प्रकार हैं।

वक्तव्य— १ वातिक रोग—

नादोऽतिरुक् कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चास्रवण च वातात्।

२ पैत्तिक कर्णरोग—

शोथः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात्।

३ कफज कर्णरोग—

वैश्रुत्य कण्डूस्थिरशोथशुक्लस्निग्धस्रुतिः श्लेष्मभवोऽतिरुक् च।

४ रक्तज कर्णरोग के लक्षण पित्त के समान होते हैं।

५ सन्निपातज कर्णरोग—

सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः।

६ कर्ण विद्रधी के लक्षण—

क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत्तथा दोषकृतोऽपर. पुनः।
सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत् प्रतोदधूमायनदाहचोषवान्॥

७ कर्णशोथ के लक्षण—

कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणै.।

१० पूतिकर्ण के लक्षण—

पूयं स्रवति वा पूति स ज्ञेयः पूतिकर्णकः।

११ कर्णहल्लिका—

पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि।
अरतिं व्याकुलत्वं च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम्॥
कर्णो निस्तुद्यते तस्य तथा फरफरायते।
कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना॥

१२ बाधिर्य—

यदा शब्दवहं स्रोतो वायुरावृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वापि बाधिर्य तेन जायते॥

१३ तन्त्रिका (कर्णनाद)—

वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेड. स उच्यते॥

१४ कर्णकण्डू—

मारुत' कफसयुक्तः कर्णकण्डू करोति च।

१५ कर्णशष्कुली (कर्णस्राव) के लक्षण—

शिरोऽभिघातादथवा निमज्जतो जले प्रपाकादथवापि विद्रधेः।
स्रवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः स कर्णसस्राव इति प्रकीर्तितः॥

१६ कृमिकर्ण के लक्षण—

यदा तु मूर्च्छन्त्यथवाऽपि जन्तवः सृजन्त्यपत्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः ।
तदञ्जनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते भिषग्भिराद्यैः कृमिकर्णको गदः ॥

भोजोक्त कृमिकर्ण—

कृमिः पित्तजलोन्मिश्रे कोथे शोणितमासजे ।
जायन्ते जन्तवस्तत्र कृष्णास्ताम्राः सितारुणाः ॥
भक्षयन्तीव ते कर्णं कुर्वन्ति विविधा रुजाः ।
कृमिकर्णं विजानीयात् सन्निपातप्रकोपजम् ॥

१७ कर्णनाद के लक्षण—

कर्णस्रोतःस्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वरान् ।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां कर्णनादः स उच्यते ॥

१८ कर्णप्रतीनाह—

स कर्णगूथो द्रवतां गतो यदा विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते ।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञको भवेद्विकारः शिरसोऽर्धभेदकृत् ।

कर्णपाली के रोग—

कर्णपालीसमुद्भूता रोगाः सप्त इहोदिताः ॥१४४॥
उत्पातः पालिशोषश्च विदारी दुःखवर्द्धनः ।
परिपोटश्च लेही च पिप्पली चेति संस्मृताः ॥१४५॥

कर्णपाली (कानों के वींधने का स्थान) में होने वाले सात रोग होते हैं। यथा—१—उत्पात, २—पालिशोष, ३—विदारी, ४—दुःखवर्द्धन, ५—परिपोट, ६—लेही ७—पिप्पली। यह सात रोग कान की पाली में होते हैं ॥१४४—१४५॥

वक्तव्य—　　१ उत्पात—

गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद्धर्षणादपि ।
शोथः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुजान्वितः ॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः ।

२ पालिशोष (उन्मन्थक)—

कर्णं बलाद्वर्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ।
कफं संगृह्य कुरुते शोथं स्तब्धमवेदनम् ।
उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥

३ विदारी—

इसमें कान की पाली विदारी कंद के समान कठिन हो जाती है।

४ दुःखवर्द्धन—

संवर्ध्यमाने दुर्विद्धे कण्डूदाहरुजान्वितः ।
शोथो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्द्धनः ॥

५ परिपोटक के लक्षण—

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसातिप्रवर्धिते ।
कर्णशोथो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान् ॥
कृष्णारुणनिभ स्तब्धः स वातात्परिपोटकः ॥

६ लेही (परिलेही)—

कफासृक्कृमय. क्रुद्धा. सर्षपाभा विसर्पिणः ।
कुर्वन्ति पाल्यां पिडका. कण्डूदाहरुजान्विताः ॥
कफासृक्कृमिसभूत स विसर्पन्नितस्ततः ।
लिहेत् सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥

७ पिप्पली—इसके लक्षण उन्मथक के साथ मिलते हैं ।

कर्णमूल के रोग—

कर्णमूलामयाः पञ्च वातात्पित्तात्कफादपि ।
सन्निपाताच्च रक्ताच्च—

कान की जड़ में होने वाले रोग पांच होते हैं। यथा—१—वातिक कर्णमूल, २—पैत्तिक कर्णमूल, ३- श्लैष्मिक कर्णमूल, ४— सान्निपातिक कर्णमूल, ५—रक्तज कर्णमूल। इस प्रकार यह पाच रोग (शोथ) कान की जड में होते हैं।

वक्तव्य—सन्निपातज ज्वरों में कर्णमूल की ग्रन्थि पर विशेष प्रभाव होता है। त्रिदोषज ज्वर के प्रभाव से यह ग्रन्थिया शोथ ग्रस्त होकर पक भी जाती हैं। इन ग्रन्थियों का शोथ और पाक भयंकर परिणाम उत्पन्न करता है। यदुक्तम्—

सान्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुण ।
शोथ. सञ्जायते तेन कश्चिदेव विमुच्यते ॥

नासारोग वर्णन—

—तथा नासाभवा गदाः ॥१४६॥
अष्टादशैव संख्याताः प्रतिश्यायस्तु तेष्वपि ।
वातात्पित्तात्कफाद्रक्तात्सान्निपातेन पञ्चमः ॥१४७॥
अपीनसः पूतिनासो नासार्शो भ्रंशथुः क्षवः ।
नासानाहः पूतिरक्तमर्बुदं दुष्टपीनसम् ॥१४८॥
नासाशोषो घ्राणपाकः पूयस्रावश्च दीप्तकः ।

नाक में होने वाले रोग १८ होते हैं। यथा—१—वातिक प्रतिश्याय, २—पैत्तिक प्रतिश्याय, ३—श्लैष्मिक प्रतिश्याय, ४—रक्तज प्रतिश्याय, ५—सन्निपातिक प्रतिश्याय, ६—पीनसरोग, ७—पूतिनस्य, ८—नासार्श, ९—भ्रंशथु, १०—क्षवथु, ११—नासानाह, १२—पूतिरक्त, १३—नासार्बुद, १४—दुष्टपीनस,

१५—नासाशोष, १६—नासापाक, १७—पूयस्राव, १८—दीप्त । इस प्रकार नासा भाग में होने वाले अठारह रोग होते हैं । अब इनके यथाक्रम लक्षण लिखे जाते हैं ॥ १४६—१४८ ॥

वक्तव्य— १ वातिक प्रतिश्याय के लक्षण—

आनद्धा पिहिता नासा तनुस्रावप्रसेकिनी ।
गलताल्वोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोरपि ॥
क्षवप्रवृत्तिरत्यर्थं वक्त्रवैरस्यमेव च ।
भवेत् स्वरोपघातश्च प्रतिश्यायेऽनिलात्मके ॥

२ पैत्तिक प्रतिश्याय के लक्षण—

उष्णः सपीतकः स्रावो घ्राणात् स्रवति पैत्तिके ।
कृशोऽतिपाण्डुः सन्तप्तो भवेत् तृष्णानिपीडितः ॥
सधूममग्निं सहसा वमतीव स मानवः ।

३ कफज प्रतिश्याय के लक्षण—

घ्राणात्कफकृते शीतः कफः पाण्डुर्व्रजेद्बहु ।
शुक्लावभासः शूनाक्षो भवेद् गुरुशिरा नरः ॥
कण्ठताल्वोष्ठशिरसां कण्डूभिरभिपीडितः ।

४ रक्तज प्रतिश्याय के लक्षण—

रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते ।
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः ।
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनो गन्धानपि न वेत्ति सः ॥

५ सन्निपातज प्रतिश्याय के लक्षण—

भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो यस्याऽकस्मान्निवर्तते ।
संपक्वो वाऽप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः ॥

६ पीनस रोग के लक्षण—

आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा ।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत् स तु पीनसेन ॥
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ॥

७ पूतिनस्य के लक्षण—

दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले सम्मूर्च्छितो यस्य समीरणस्तु ।
निरेति पूतिं मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनासं प्रवदन्ति रोगम् ॥

८ भ्रंशथु के लक्षण—

प्रभ्रश्यते नासिकयोर्हि यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु ।
प्राक्संचितो मूर्धनि सूर्यतप्तस्तं भ्रंशथुं रोगमुदाहरन्ति ॥

९. क्षवथु के लक्षण—

घ्राणाश्रिते मर्मणि संप्रदुष्टो यस्याऽनिलो नासिकया निरेति ।
कफानुयातो बहुशः सशब्दस्त रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः ॥

१० नासानाह के लक्षण—

कफावृतो यदा वायुर्यस्य घ्राणे च तिष्ठति ।
वृणोतीव तदा घ्राण स प्रतीनाह उच्यते ॥

११ पूतिरक्त के लक्षण—

दोषैर्विदग्धैरथवापि जन्तोर्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तै ।
नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥

१२ दुष्ट पीनस (दुष्ट प्रतिश्याय) के लक्षण—

प्रक्लिद्यते पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति ।
पुनरानह्यते चापि पुनर्विव्रियते तथा ॥
निःश्वासश्चातिदुर्गन्धो नरो गन्धान् न वेत्ति च ।
एवं दुष्टप्रतिश्याय जानीयात्कृच्छ्रसाधनम् ॥

१३ नासाशोष के लक्षण—

घ्राणाश्रितं स्रोतसि मारुतेन गाढं प्रतप्ते परिशोषिते च ।
कृच्छ्रोच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च जन्तुर्यस्मिन् स नासापरिशोष उक्तः ॥

१४ नासापाक के लक्षण—

घ्राणाश्रिते पित्तमरूंषि कुर्याद्यस्मिन् विकारे बलवांश्च पाकः ।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्विक्लेदकोथावथवाऽपि यत्र ॥

१५ नासास्राव के लक्षण—

स्रोतः शृंगाटके श्लेष्मा चित्त क्लेदितमूष्मणा ।
विशेषात् स्यन्दते रात्रौ नासास्रावं तु तं विदुः ॥

१६ दीप्त के लक्षण—

घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु विनिःसरेद्धूम इवेह वायुः ।
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तोर्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति ॥

शेष नासार्बुद और नासार्श के लक्षण अर्श और अर्बुद में देखो ।

शिरोरोग वर्णन—

तथा दश शिरोरोगा वातेनार्धावभेदकः ॥१४९॥
शिरस्तापश्च वातेन पित्तपीडा तृतीयका ।
चतुर्थी कफजा पीडा रक्तजा सन्निपातजा ॥१५०॥
सूर्यावर्त्ताच्छिरःकम्पात्क्रिमिभिः शङ्खकेन च ।

शिर में होने वाले रोग दश होते हैं। १—वातिक शिरोभिताप, २—पैत्तिक

शिरोभिताप, ३—कफज शिरोभिताप, ४—रक्तज शिरोभिताप, ५—सन्निपातज शिरोभिताप, ६—सूर्यावर्त, ७—शिरोकम्प, ८—क्रिमिज शिरोरोग, ९—शङ्खक शिरोरोग, १०—अर्धावभेदक । इस प्रकार दश शिरोरोग होते हैं ॥१४९-१५०॥

वक्तव्य— १ वातिक शिरोभिताप के लक्षण—

यस्यानिमित्त शिरसो रुजश्च भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम् ।
बन्धोपतापैश्च भवेद्विशेष शिरोऽभिताप स समीरणेन ॥

२ पैत्तिक शिरोभिताप के लक्षण—

यस्योष्णमङ्गारचितं तथैव भवेच्छिरो धूप्यति चाक्षिनासम् ।
शीतेन रात्रौ च भवेद्विशेषः शिरोऽभिताप· स च पित्तकोपात् ॥

३ कफज शिरोभिताप के लक्षण—

शिरो भवद्यस्य कफोपदिग्ध गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमं च ।
शूनाक्षिकूट वदन च यस्य शिरोऽभिताप स कफप्रकोपात् ॥

४ रक्तज शिरोभिताप के लक्षण—

रक्तात्मक पित्तसमानलिङ्ग स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ।

५ त्रिदोषज शिरोभिताप के लक्षण—

शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति ॥

६ सूर्यावर्त के लक्षण—

सूर्योदयं या प्रतिमन्दमन्दमक्षिभ्रुव रुक् समुपैति गाढा ।
विवर्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवर्त तमुदाहरन्ति ॥

७ क्रिमिज शिरोरोग के लक्षण—

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं सभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्त ।
घ्राणाच्च गच्छेद्रुधिरं सपूय शिरोऽभिताप· कृमिभि स घोर ॥

८ शखक के लक्षण—

पित्तरक्ताऽनिला दुष्टा शङ्खदेशे विमूर्च्छिता ।
तीव्ररुग्दाहरागं वा शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥
स शिरो विषवद्वेगान्निरुध्याशु गलं तथा ।
त्रिरात्राज्जीवित हन्ति शङ्खको नामतः परम् ॥

९ अर्धावभेदक के लक्षण—

केवल· सकफो वार्धं गृहीत्वा शिरसोऽनिलः ।
मन्याभ्रूशङ्खकर्णाऽक्षिललाटार्धेऽतिवेदनाम् ॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात् तीव्रां सोऽर्धावभेदक ।
नयनं वाथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥

कपाल रोग वर्णन—

तथा कपालरोगाः स्युर्नव तेषूपशीर्षकम् ॥१५१॥

अरुंषिका विद्रधिश्च दारुणं पिडिकार्बुदम् ।
इन्द्रलुप्तं च खलतिः पलितं चेति ते नव ॥१५२॥

कपाल (शिर की खोपडी के ऊपर) में होने वाले रोग नौ होते हैं। यथा— १—उपशीर्षक, २—अरुंषिका, ३—विद्रधी, ४—दारुण, ५—पिडिका, ६—अर्बुद, ७—इन्द्रलुप्त, ८—खालित्य, ९—पलित। इस प्रकार यह नौ रोग शिर की खोपडी के ऊपर होते हैं ॥१५१—१५२॥

वक्तव्य— १ उपशीर्षक के लक्षण—

कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्याऽपि जायते ।
सवर्णो नीरुज· शोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम् ॥

२ अरुषिका के लक्षण—

अरूंषि बहु वक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्धनि ।
कफाऽसृक्कृमिकोपेन नृणा विद्यादरूंषिकाम् ॥

३ विद्रधी के लक्षण—

विद्रधी के कारणों के अनुसार शोथ अथवा व्रण हो जाता है। इसमें दाह शूल तथा पाक होता है। इसको विद्रधी कहते हैं।

४ दारुण के लक्षण—

दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमि· प्रपाट्यते ।
कफवातप्रकोपेण विद्याद्दारुणकं तु तम् ॥

५ पिडका के लक्षण—

पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजाज्वराम् ।
सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥

६ अर्बुद—

खोपडी की त्वचा पर मांसग्रन्थि का होना अर्बुद कहलाता है।

७ इन्द्रलुप्त के लक्षण—

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा स शोणित ॥
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसम्भव ।
तादिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुह्येति च विभाव्यते ॥

८ पलित के लक्षण—

क्रोधशोकश्रमकृत· शरीरोष्मा शिरोगतः ।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥

९ चरकीय विवरण—

तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं लब्ध्वा तु कुर्यात् पलितं नरस्य ।
किंचित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरित्प्रभत्वं च शिरोरुहाणाम् ॥

नेत्ररोगों की संख्या—

तथा नेत्रभवाः ख्याताश्चतुर्नवतिरामयाः ।
तेषु वर्त्मगदाः प्रोक्ताश्चतुर्विंशतिसंज्ञकाः ॥१५३॥
कृच्छ्रोन्मीलः पक्ष्मपातः कफोत्क्लिष्टश्च लोहितः ।
अरुद्धनिमेषः कथितो रक्तोत्क्लिष्टः कुकूणकः ॥१५४॥
पक्ष्मार्शः पक्ष्मरोधश्च पित्तोत्क्लिष्टश्च पोथकी ।
क्लिष्टवर्त्मा च बहलः पक्ष्मोत्सङ्गस्तथार्बुदम् ॥१५५॥
कुम्भिका सिकतावर्त्म लगणोऽञ्जननामिका ।
कर्दमः श्यावयर्त्मा च विसवर्त्मा तथाऽलजी ॥१५६॥
उत्क्लिष्टवर्त्मेति गदाः प्रोक्ता वर्त्मसमुद्भवाः ।

नेत्रों में होने वाले ६४ रोग होते हैं। उन में से २४ रोग वर्त्म (पलकों) में होते हैं। यथा—१—कृच्छ्रोन्मीलन (पलकों का कष्ट से खुलना), २—पक्ष्मपात (पलकों के बालों का गिर जाना), ३—कफोत्क्लिष्ट (पलकों में गीध का अधिक आना), ४—लोहितवर्त्म (पलकों का लाल होना), ५—अरुद्धनिमेष (पलकों का वार वार झपकना), ६—रक्तोत्क्लिष्टवर्त्म (रक्ताधिक्य से पलकों के ऊपर मासाकुरों की उत्पत्ति), ७—कुकूणक (माता के दूध के विकार से पलकों का भारी होना) ८—पक्ष्मार्श (पलकों पर अर्श के से अङ्कुरो का होना), ९—पक्ष्मरोध (पलकों के सूजने से देखने का अभाव), १०—पित्तोत्क्लिष्टवर्त्म (पलकों में दाह और पक्ष्मों का नाश होना) ११—पोथकी (कुकरों, रोहों का होना), १२—क्लिष्टवर्त्म (पलकों का परस्पर चिपकना), १३—बहलवर्त्म (पलकों के भीतर फुंसी होना) १४—पक्ष्मोत्सग (पलकों में अभ्यन्तरमुखी पिडिका) १५—पक्ष्मार्बुद (पलकों पर रसौली का होना), १६—कुम्भिका (कुम्भिका के बीजतुल्य पिडिका का होना) १७—सिकतावर्त्म (पलकों पर एक पिडिका के इतस्तत सूक्ष्म सूक्ष्म पिडिकाओं का होना), १८—लगण (पाक रहित कठिन और स्थूल सी गाठ का होना) १९—अञ्जननामिका (निहाली, पनिहारी, ग्वाडनी), २०—कर्दमवर्त्म (पलकों का गला सा होना), २१—श्याववर्त्म (पलकों का कृष्णवर्ण होना), २२—विसवर्त्म (सर्वदा स्रावयुक्त होना), २३—अलजी (पलकों की सन्धि में पिडिका का होना) २४—उत्क्लिष्टवर्त्म (पलकों की क्रियाशक्ति का अभाव) ॥१५३-१५६॥

वक्तव्य—इनके पृथक् पृथक् लक्षण इस प्रकार हैं।

१ कृच्छ्रोन्मीलन के लक्षण (कुञ्चन)—

वाताद्या वर्त्मसंकोचं जनयन्ति मला यदा ।
तदा द्रष्टुं न शक्नोति कुञ्चनं नाम तद्विदुः ॥

२ पक्ष्मशात के लक्षण—

वर्त्मपक्ष्माशयगतं पित्तं रोमाणि शातयेत् ।
कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तमादिशेत् ॥

३ कफोत्क्लिष्ट (प्रक्लिन्नवर्त्म)—

अरुजं बाह्यतः शून वर्त्म यस्य नरस्य हि ।
प्रक्लिन्नवर्त्म त विद्यात् क्लिन्नमत्यर्थमन्ततः ॥

४ लोहितवर्त्म (शुष्कार्श)—

दीर्घांकुर. खरः स्तब्धो दारुणो ह्यन्तरोद्भवः ।
व्याधिरेषोऽतिविख्यात. शुष्कार्श इति संज्ञितः ॥

५ अरुड्निमेष (निमेष)—

निमेषिणीः शिरा वायु प्रविष्टो वर्त्मसंश्रयः ।
चालयत्याक्षिवर्त्मानि निमेष इति तं विदु. ॥

६ लोहितवर्त्म (रक्तार्श)—

यः स्थितो वर्त्ममध्ये तु लोहितो मृदुरङ्कुरः ।
तद्रक्तजं शोणितार्शश्छिन्न भिन्न प्रवर्धते ॥

७ कुकूणक के लक्षण —

कुकूणकः क्षीरदोषाच्छिशूनामाक्षिवर्त्मनि ।
जायते तेन तन्नेत्रं कण्डुरं च स्रवेन्मुहुः ॥
शिशु कुर्याल्ललाटाक्षिकूटनासावघर्षणम् ।
शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मोन्मीलने क्षम. ॥

८ पक्ष्मार्श के लक्षण—

एर्वारुबीजप्रतिमा पिडका मन्दवेदनाः ।
श्लक्ष्णाः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते ॥

९ पक्ष्मरोध (वर्त्मबन्ध) के लक्षण—

कण्डूमताल्पतोदेन वर्त्मशोथेन यो नरः ।
न स संछादयेदक्षि भवेद्बन्धः स वर्त्मनि ॥

१० पित्तोत्क्लिष्ट (पक्ष्मकोप) के लक्षण—

प्रचालितानि वातेन पक्ष्माण्यक्षि विशन्ति हि ।
घृष्यन्त्यक्षि मुहुस्तानि संरम्भं जनयन्ति च ॥
असिते सितभागे च मूलकोषात्पतन्ति हि ।
पक्ष्मकोपः स विज्ञेयो व्याधिः परमदारुणः ॥

११ पोथकी के लक्षण—

स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसन्निभाः ।
पिडकाश्च रुजावत्यः पोथिक्य इति ता. स्मृताः ॥

१२ क्लिष्टवर्त्म (अक्लिन्नवर्त्म)—

यस्य धौतान्यधौतानि सवध्यन्ते पुन पुन ।
वर्त्मान्यपरिपक्कानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत् ॥

अन्य लक्षण—

मृद्वल्पवेदन ताम्र यद्वर्त्म सममेव च ।
अकस्माच्च भवेद्रक्त क्लिष्टवर्त्मेति तद्विदु ॥

१३ वहलवर्त्म—

वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभि समन्तत. ।
सवर्णाभि स्थिराभिश्च विद्याद्वहुलवर्त्म तत् ॥

१४ पक्ष्मोत्सग के लक्षण—

अभ्यन्तरमुखी ताम्रा वाह्यतो वर्त्मनश्च या ।
सोत्सङ्गोत्सङ्गपिडका रक्तजा स्थूलकण्डुरा ॥

१५ पक्ष्मार्बुद के लक्षण—

वर्त्मान्तरस्थ विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम् ।
आचक्षतेऽर्बुदमिति सरक्तमविलम्बितम् ॥

१६ कुम्भिका के लक्षण—

वर्त्मान्ते पिडकाध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च ।
कुम्भीकावीजसदृशा कुम्भीका सन्निपातजाः ॥

१७ सिकतावर्त्म के लक्षण—

पिडकाभि सुसूक्ष्माभिर्घनाभिरभिसंवृता ।
पिडका या खरा स्थूला सा ज्ञेया वर्त्मशर्करा ॥

१८ लगण के लक्षण—

अपाकी कठिन स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्मभवोऽरुज ।
सकण्डु. पिच्छिल कोलप्रमाणो लगणस्तु स. ॥

१९ अञ्जनिका के लक्षण—

दाहतोदवती ताम्रा पिडका या तु वर्त्मजा ।
मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका ॥

२० कर्दमवर्त्म के लक्षण—

क्लिष्ट पुन पित्तयुतं शोणित विदहेद्यदा ।
ततः क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दम ॥

२१ श्याववर्त्म के लक्षण—

यद्वर्त्म वाह्यतोऽन्तश्च श्याव शूनं सवेदनम् ।
दाहकण्डूपरिक्लेदि श्याववर्त्मेति तन्मतम् ॥

२२ बिसवर्त्म के लक्षण—

त्रयो दोषा. बहि.शोथं कुर्युश्छिद्राणि वर्त्मनोः।
प्रस्रवन्त्यन्तरुदकं बिसवद्बिसवर्त्म तत् ॥

२३ अलजी के लक्षण—

वर्तुलाकारपिडका सूक्ष्मा ताम्रा च वर्त्मनि।
सरुजा शोणितोत्क्लिष्टा दारुणा त्वलजी स्मृता ॥

२४ उत्क्लिष्टवर्त्म (वातहतवर्त्म) के लक्षण—

विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते।
एतद्वातहतं वर्त्म जानीयादक्षिचिन्तक. ॥

नेत्र सन्धिगतरोग—

नेत्रसन्धिसमुद्भूता नव रोगाः प्रकीर्तिताः ॥१५७॥
जलस्रावः कफस्रावो रक्तस्रावश्च पर्वणी।
पूयस्रावः क्रिमिग्रन्थिरुपनाहस्तथाऽलजी ॥१५८॥
पूयालस इति प्रोक्ता रोगा नयनसन्धिजाः।

नेत्रों की सन्धि में नौ रोग होते हैं। यथा—१—जलस्राव, २—कफस्राव, ३—रक्तस्राव, ४—पर्वणी, ५—पूयस्राव, ६—क्रिमिग्रन्थि, ७—उपनाह ८—अलजी, ९—पूयालस। इस प्रकार नेत्र संधि में नौ रोग होते हैं ॥१५७–१५८॥

इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

वक्तव्य— १ जलस्राव के लक्षण—

हरिद्राभं नीलमुष्णं जलाभ पित्तात्स्राव. संस्रवेत्सन्धिमध्यात्।
अन्यच्च—गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्युः स्रावान् लक्षणैः स्वैरुपेतान्।
तं हि स्रावं नेत्रनाडीमथैके तस्या लिङ्गं कीर्तयिष्ये चतुर्धा ॥

२ कफस्राव के लक्षण—

श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं य स्रवेत्तु श्लेष्मस्रावोऽसौ विकारो मतस्तु ॥

३ रक्तस्राव के लक्षण—

रक्तस्राव. शोणितोत्थो विकारः स्रवेद् दुष्टं तत्र रक्तं सपूयम् (प्रभूतम्) ॥

४ पर्वणी के लक्षण—

ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना ज्ञेया रक्तात् पर्वणी वृत्तशोथा ॥

५ पूयस्राव के लक्षण—

पाकात् सन्धौ संस्रवेत् यस्तु पूयं पूयस्रावो नैकरूपः प्रदिष्ट. ॥

६ क्रिमिग्रन्थि के लक्षण—

क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मन. पक्ष्मणश्च कण्डूं कुर्यु क्रमय. सन्धिजाता।
नानारूपा वर्त्मशुक्लान्तसंधौ चरंत्यन्तर्लोचनं दूषयन्तः ॥

७ अलजी के लक्षण—

जाता सन्धौ कृष्णशुक्लेऽलजी स्यात् तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गै ॥

८ पूयालस के लक्षण—

पक्व शोथ सन्धिजात सतोद पूयस्रावी सोऽत्र पूयालसाख्य ।

९ उपनाह के लक्षण—

ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धावपाकी कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाह ॥

नेत्र के शुक्ल भाग के रोग—

तथा शुक्लगता रोगा बुधैः प्रोक्तास्त्रयोदश ॥ १५९ ॥
शिरोत्पातः शिराहर्षः शिराजालश्च शुक्तिका ।
शुक्लार्म चाधिमांसार्म प्रस्तार्यर्म च पिष्टकः ॥ १६० ॥
शिरायाश्चिप्पिटं चैव कफग्र(ग्रं)थितकोऽर्जुनः ।
स्नाय्वर्म शोणितार्म स्यादिति शुक्लगता गदाः ॥१६१॥

नेत्र के श्वेतभाग में होने वाले रोग तेरह होते हैं। यथा—१-शिरोत्पात, २—शिराहर्ष, ३—शिराजाल, ४—शुक्तिका, ५—शुक्लार्म, ६—अधिमासार्म, ७—प्रस्तारि अर्म, ८—पिष्टक, ९—शिराजपिटिका, १०—कफग्रन्थि, ११—अर्जुन, १२—स्नायुअर्म, १३—शोणितार्म । इस प्रकार शुक्ल भाग के तेरह रोग होते हैं। ॥१५९—१६१॥ इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

वक्तव्य— १ शिरोत्पात के लक्षण—

अवेदना वाऽपि सवेदना वा यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्रा ।
मुहुर्विरज्यन्ति च या. स तादृग् व्याधि' शिरोत्पात इति प्रदिष्ट ॥

२ शिरा हर्ष के लक्षण—

मोहात् शिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोग स शिराप्रहर्षः ।
ताम्राभमस्रं स्रवति प्रगाढ तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च ॥

३ शिराजाल के लक्षण—

जालाभ कठिनशिरो महान् सरक्त सन्तान स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ।

४ शुक्तिका के लक्षण—

श्यावा स्यु पिशितनिभाश्च विन्दवो ये शुक्तथाभा सितनियता. स शुक्तिसंज्ञ.॥

५ शुक्लार्म के लक्षण—

सश्वेत मृदु शुक्लार्म शुक्ले तद्वर्धते चिरात् ।

६ अधिमांसार्म के लक्षण—

पृथु मृद्वधिमांसार्म बहुलं वा यकृन्निभम् ।

७ प्रस्तारि अर्म के लक्षण—

प्रस्तार्यर्म तनुस्तीर्णं श्याव रक्तनिभं सिते ।

८ पिष्टक के लक्षण—

श्लेष्ममारुतकोपेन यच्छुक्ले मांसमुन्नतम् ।
पिष्टवत् पिष्टकं विद्धि मलाक्तादर्शसन्निभम् ॥

९ शिराज पिटिका के लक्षण—

शुक्लस्थाः सितपिडकाः शिरावृता या-
स्ता विद्यादसितसमीपजाः शिराजाः ॥

१० बलासग्रथित के लक्षण—

मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः ।
जलबिन्दुरिवोच्छूनोऽमृदुः शोफः समुद्भवेत् ॥
बलासग्रथितं नाम नीरुजं वृत्तमण्डलम् ॥

११ अर्जुन के लक्षण—

एको यः शशरुधिरोपमश्च बिन्दुः
शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति ॥

१२ स्नाय्वर्म के लक्षण—

स्थिरं प्रस्तारि मांसाढ्यं शुष्कं स्नाय्वर्म पञ्चमम् ॥
अन्यत्र—प्रस्तारिणोऽर्मणः स्रावं निरुणद्धि यदाऽनिलः ।
विना स्रावं विशुष्कं तत् स्नाय्वर्मेति च तद्विदुः ॥

१३ अधिमांसार्म के लक्षण—

पद्माभं मृदु रक्ताभं यन्मांसं चीयते सिते ।
इस प्रकार शुक्ल भाग में होने वाले यह १३ रोग होते हैं ।

नेत्र के कृष्णभाग गत रोग—

तथा कृष्णसमुद्भूताः पञ्च रोगाः प्रकीर्तिताः ।
शुद्धशुक्रं शिराशुक्रं क्षतशुक्रं तथाऽजका ॥ १६२ ॥
शिरासङ्गश्च सर्वेऽपि प्रोक्ताः कृष्णगता गदाः ।

आंख के काले भाग में पांच रोग होते हैं । यथा—१—शुद्धशुक्र (फूला), २—शिराशुक्र, ३—क्षतशुक्र, ४—अजका, ५—सिरासंग । इस प्रकार नेत्र के कृष्ण भाग में ५ रोग होते हैं ॥ १६२ ॥

वक्तव्य— १ शुद्ध (अव्रण) शुक्र के लक्षण—

स्यन्दात्मकं कृष्णगतं सदो(चो)षं शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासम् ।
वैहायसाभ्रप्रतिमप्रकाशमथाव्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥

२ शिराशुक्र के लक्षण—

विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा चलं शिरासक्तमदृष्टिकृच्च
द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च चिरोत्थितं चाऽपि विवर्जनीयम् ॥

३ क्षत (सव्रण) शुक्र के लक्षण—

निमग्नरूप तु भवेद्धि कृष्णे सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्वै ।
स्रावं स्रवेदुष्णमतीव यच्च तत् सव्रण शुक्रमुदाहरन्ति ॥

४ अजकाजात के लक्षण—

अजापुरीषप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहितपिच्छिलास्र ।
विगृह्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तच्चाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥

५ सिरासग (अक्षिपाकात्यय) के लक्षण—

श्वेत समाक्रामति सर्वतो हि दोषेण यस्यासितमण्डलं तु ।
तमक्षिपाकात्ययमक्षिरोगं सर्वात्मक वर्जयितव्यमाहुः ॥

काच रोग का वर्णन—

काचं तु षड्विधं ज्ञेयं वातात्पित्तात्कफादपि ॥१६३॥
सन्निपाताच्च रक्ताच्च षष्ठं संसर्गसंभवम् ।

काच रोग (मोतियाबिन्द) छ प्रकार का होता है । यथा—१—वातिक काच (काच मण्डल में वायु के लक्षणों का प्राधान्य), २—पैत्तिक काच, ३—श्लैष्मिक काच, ४—सन्निपातिक काच, ५—रक्तज काच, ६—ससर्गज काच । इस प्रकार काच रोग छ प्रकार का होता है ॥१६६॥

वक्तव्य— वातादि काचों के लक्षण—

रागोऽरुणो मारुतज प्रदिष्टो म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तात् ।
कफात् सित शोणितज सरक्त समस्तदोषप्रभवो विचित्र ॥

तिमिर रोग का वर्णन—

तिमिराणि षडेव स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा ॥१६४॥
संसर्गेण च रक्तेन षष्ठं स्यात्सन्निपाततः ।

तिमिर रोग (प्रथम से चतुर्थ पटल का मोतियाबिन्द) छ प्रकार का होता है । यथा—१—वातज तिमिर रोग, २—पित्तज तिमिर रोग, ३—कफज तिमिर रोग, ४—ससर्गज तिमिर रोग, ५—रक्तज तिमिर रोग, ६—सन्निपातज तिमिर रोग । इस प्रकार तिमिर रोग छ प्रकार का है ॥१६४॥

वक्तव्य—

मूल दृष्टिविनाशस्य तिमिर समुदाहृतम् ।
ऋषिभिस्त्वरितं तस्मात् तस्य कुर्याच्चिकित्सितम् ॥

१ वातिक तिमिर के लक्षण—

तत्र वातेन रूपाणि भ्रमन्तीव च पश्यति ।
अरुणाभानि कृष्णानि व्याविद्धानीव मानव ॥

२ पैत्तिक तिमिर के लक्षण—

पित्तेनादित्यखद्योतशक्रचापतडिद्‌गुणान् ।
नृत्यतश्चैव शिखिन सर्वं नीलं च पश्यति ॥

३ कफज तिमिर के लक्षण—

कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च ।
पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रमेवाभ्रसंप्लवम् ॥
सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानव ।

४ ससर्गज (परिम्लायि) के लक्षण—

पित्तं कुर्यात् परिम्लायि मूर्च्छितं पित्ततेजसा ।
पीता दिशस्तु खद्योतान् भास्करं चापि पश्यति ॥
विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव च ॥

५ रक्तज तिमिर के लक्षण—

पश्येद्रक्तानि रक्तेन विविधानि तमासि च ।
हरितान्यथ कृष्णानि पीतान्यपि च मानवः ॥

६ सन्निपातज तिमिर के लक्षण—

संनिपातेन चित्राणि विप्लुतानीव पश्यति ।
बहुधा च द्विधा वापि सर्वाण्येव समन्ततः ॥
हीनाधिकाङ्गान्यथवा ज्योतींष्यपि च मानवः ॥

लिङ्गनाश का वर्णन—

लिङ्गनाशः सप्तधा स्याद् वातात्पित्तात्कफेन च ॥१६५॥
त्रिदोषैरुपसर्गेण संसर्गेणासृजा तथा ।

लिगनाश (देखने की शक्ति का सर्वथा अभाव) रोग सात प्रकार का होता है। यथा—१—वातिक लिगनाश (इस रोग में भी दृष्टि मण्डल के ऊपर वातिक दोषों के लक्षण प्रकटीभूत होते हैं), २—पैत्तिक लिगनाश, ३—कफज लिगनाश, ४—त्रिदोषज लिगनाश, ५—उपसर्गज लिगनाश, ६—संसर्गज लिंगनाश, ७—रक्तज लिगनाश १६५॥

वक्तव्य—नेत्र भाग में जो विकृत दोष तिमिरादि की उत्पत्ति करता है वही दोष जब चतुर्थ पटल में पहुंचता है तब लिगनाश को उत्पन्न करता है। अतः एक ही व्याधि स्थान भेद से नामान्तर को प्राप्त हुई है। यदुक्तम्—

तिमिराख्यः स वै दोषः चतुर्थं पटलं गतः ।
रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशमतः परम् ॥
अस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे ।
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरिक्षे च विद्युतः ॥
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णूनि च पश्यति ।

१ वातिक लिंगनाशीय मण्डल के लक्षण—

अरुणं मण्डलं वाताच्चञ्चलं परुषं तथा ।

२ पित्तज लिंगनाशीय मण्डल—

पित्ततो मण्डलं नीलं कांस्याभं पीतमेव च ।

३ कफज लिंगनाशीय मण्डल—

श्लेष्मणा बहुलं स्निग्धं शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम् ।
चलत्पद्मपलाशस्थ शुक्लो बिन्दुरिवाम्भस ॥
संकुचत्यातपेऽत्यर्थं छायाया विसत्यपि ।
मृज्यमाने च नयने मण्डलं तद्विसर्पति ॥

४ रक्तज लिंगनाशीय मण्डल—

प्रवालपद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम् ।

५ त्रिदोष लिंगनाशीय मण्डल—

दृष्टिरागो भवेच्चित्रो लिङ्गनाशे त्रिदोषजे ॥

६ उपसर्गज (निमित्तज लिंगनाश)—

निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापाज्ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शन स ।
विदीर्यते सीदति हीयते वा नृणामभीघातहता च दृष्टि ॥

७ ससर्गज (अनिमित्तज) लिंगनाश—

सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणा सन्दर्शनेनाऽपि च भास्करस्य ।
हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिंगनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञ ।

दृष्टिरोग वर्णन—

अष्टधा दृष्टिरोगाः स्युस्तेषु पित्तविदग्धकम् ॥१६६॥
अम्लपित्तविदग्धं च तथैवोष्णविदग्धकम् ।
नकुलान्ध्यं धूसरान्ध्यं रात्र्यांध्यं ह्रस्वदृष्टिकः ॥१६७॥
गम्भीरदृष्टिरित्येते रोगा दृष्टिगताः स्मृताः ।

दृष्टिमण्डल में होने वाले रोग आठ होते हैं। यथा—१—पित्तविदग्ध दृष्टि, २—अम्लपित्तविदग्ध दृष्टि, ३—उष्णविदग्ध दृष्टि, ४—नकुलान्ध्य, ५—धूसरान्ध्य, ६—रात्र्यांध, ७—ह्रस्वदृष्टि, ८—गम्भीरिका ॥१६६—१६७॥

वक्तव्य—दृष्टिगत रोगों से मसूरार्धदलपरिमाण मण्डल से अभिप्राय है।

दृष्टिप्रमाणं तु सुश्रुतेनोक्तम् । तद्यथा—

मसूरदलमात्रं तु पंचभूतप्रसादजम् ।

अन्यच्च— पचभूतात्मिका दृष्टिर्मसूरार्धदलोन्मिता ।

१ पित्त विदग्ध दृष्टि के लक्षण—

पित्तेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः पीता भवेत् यस्य नरस्य किंचित् ।
पीतानि रूपाणि च मन्यते य स मानव पित्तविदग्धदृष्टि ॥

२ अम्लपित्त विदग्ध (दिवान्ध) के लक्षण—

प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे दिवा न पश्येत् निशि वीक्षते च ।

रात्रौ च शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत् ॥

३ उष्णविदग्ध दृष्टि—

अत्युष्ण पदार्थों के सेवन अथवा अत्यूष्मा सहन करने से दृष्टिमें विकार उत्पन्न होता है जिससे दर्शनशक्तिमें विह्वलता तथा पित्त के लक्षण होते हैं उसको उष्णविदग्धदृष्टि कहते हैं। यह रोग प्राय धूपमें चलने अथवा अग्निके अधिक तापनेके कारण होता है अत आगन्तुक भी कहा जा सकता है।

४ नकुलान्ध्य के लक्षण—

विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत् ।
चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः ॥

५ धूसरान्ध्य (धूमदर्शी) के लक्षण—

शोकज्वरायासशिरोऽभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः ।
धूम्रांस्तथा पश्यति सर्वभावान् स धूमदर्शीति नरः प्रदिष्ट' ॥

६ रात्र्यन्ध्य के लक्षण—

त्रिषु स्थितोऽल्प· पटलेषु दोषो नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य ।
दिवा स सूर्यानुगृहीतदृष्टिः पश्येत्तु रूपाणि कफाल्पभावात् ॥

७ ह्रस्वजाति के लक्षण—

स ह्रस्वजात्यो दिवसेषु कृच्छ्राद्ध्रस्वानि रूपाणि च यो न पश्येत् ।

८ गम्भीरिका के लक्षण—

दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा संकुच्यतेऽभ्यन्तरतस्तु याति ।
रुजावगाढा च तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञा· ॥

अभिष्यन्द रोग वर्णन—

अभिष्यन्दाश्च चत्वारो रक्ताद्दोषैस्त्रिभिस्तथा ॥१६८॥

अभिष्यन्द (नेत्रों का दूखना अथवा आना) रोग चार प्रकार का होता है। यथा—१—रक्ताभिष्यन्द, २—वाताभिष्यन्द, ३—पित्ताभिष्यन्द, ४—कफाभिष्यन्द। इस प्रकार नेत्रों का दूखना चार प्रकार का होता है ॥१६८॥

वक्तव्य— १ वातज अभिष्यन्द के लक्षण—

निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्षसंघर्षपारुष्यशिरोऽभितापाः ।
विशुष्कभाव शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥

२ पैत्तिक अभिष्यन्द के लक्षण—

दाहप्रपाकौ शिशिराभिनन्दा धूमायनं बाष्पसमुच्छ्रयश्च ।
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥

३ कफज अभिष्यन्द के लक्षण—

उष्णाभिनन्दा गुरुताक्षिशोथः कण्डूपदेहावतिशीतता च ।
स्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥

४ रक्तज अभिष्यन्द के लक्षण—

ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च नाड्य समन्तादतिलोहिता च ।
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥

अधिमन्थरोग वर्णन—

चत्वारश्चाधिमन्थाः स्युर्वातपित्तकफास्रतः ॥

अधिमन्थ रोग (अभिष्यन्द की अगली अवस्था) चार प्रकार का होता है। यथा—१—वातिक अधिमन्थ, २—पैत्तिक अधिमन्थ, ३—कफज अधिमन्थ. ४—रक्तज अधिमन्थ।

वक्तव्य—अभिष्यन्द रोग की चिकित्सा न करने से अधिमन्थ रोग उत्पन्न होता है। प्रत्येक दोष के अभिष्यन्द में जो लक्षण होते हैं वही लक्षण अधिमन्थों में तीव्रतर हो जाते हैं। सामान्यतया अधिमन्थ में यह लक्षण होते हैं। यथा—

उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा।
शिरसोऽर्ध च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणै ॥

सर्वाक्षिरोग—

सर्वाक्षिरोगाश्चाष्टौस्युस्तेषु वातविपर्ययः ॥१६९॥
अल्पशोफोऽन्यतोवातस्तथा पाकात्ययः स्मृतः ।
शुष्काक्षिपाकश्च तथा शोफोऽध्युषित एव च ॥१७०॥
हताधिमन्थ इत्येते रोगाः सर्वाक्षिसम्भवाः ।

सम्पूर्ण नेत्रों में व्याप्त होकर आरम्भ होने वाले रोग सर्वाक्षिरोग कहलाते हैं। यह रोग आठ प्रकार के होते हैं। यथा—१—वातविपर्यय, २—अल्पशोथ, ३—अन्यतोवात, ४—पाकात्यय, ५—शुष्काक्षिपाक, ६—शोफ, ७—अध्युषित, ८—हताधिमन्थ। इस प्रकार यह आठ रोग आख के सब भागों को कष्टकारक होते हैं ॥ १६९—१७० ॥

वक्तव्य— १—वातविपर्यय के लक्षण—

वारंवारं च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मारुत.।
रुजश्च विविधास्तीव्रा ज्ञेयो वातविपर्यय ॥

२—अल्पशोथ सशोथजनेत्रपाक) के लक्षण—

कण्डूपदेहाश्रुयुत पक्वोदुम्बरसन्निभ.।
संरम्भी पच्यते यस्तु नेत्रपाकः स शोथज. ॥

३—अन्यतोवात के लक्षण—

यस्यावटु कर्णशिरोहनुस्थो मन्यागतो वाप्यनिलोऽन्यतो वा।
कुर्याद्रुजं वै भ्रुवि लोचने च तमन्यतो वातमुदाहरन्ति ॥

४—पाकात्यय के लक्षण—

संच्छाद्यते श्वेतनिभेन सर्वं दोषेण यस्यासितमण्डलं तु ।
तमक्षिपाकात्ययमक्षिरोगं समुच्छ्रितं तीव्ररुजं वदन्ति ॥

५ शुष्काक्षिपाक के लक्षण—

यत्कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म संदह्यते चाविलदर्शन यत् ।
सुदारुणं यत् प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥

६ अध्युषित (अम्लाध्युषित)—

श्यावं लोहितपर्यन्तं सर्वं चाक्षि प्रपच्यते ।
सदाहशोथ सास्रावमम्लाध्युषितमम्लत ॥

७ हताधिमन्थ के लक्षण—

उपेक्षणादक्षि यदाधिमन्थो वातात्मक. सादयति प्रसह्य ।
रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष हताधिमन्थः खलु नाम रोगः ॥

अन्यच्च—अथवा शोषयेदक्षि क्षीणतेजोबलादयम् ।
तत्पद्ममिव संशुष्कमवसीदति लोचनम् ॥
हताधिमन्थं तं विद्यादसाध्यं वातकोपजम् ॥

षण्ढरोग वर्णन—

पुंस्त्वदोषास्तु पञ्चैव प्रोक्तास्तत्रेर्ष्यकः स्मृतः ॥१७१॥
आसेक्यश्चैव कुम्भीकः सुगन्धिः षण्ढसंज्ञकः ।

पुंस्त्वदोष (शुक्रक्षय अथवा वीर्य की अल्पता के कारण होने वाली नपुंसकता) पांच प्रकार के होते हैं। यथा—१—ईर्ष्यक (जो दूसरों को मैथुन करते देखकर मैथुन में प्रवृत्त हो उसे 'ईर्ष्यक' कहते हैं। यदुक्तम्—'दृष्ट्वा व्यवायमन्येषा व्यवाये य प्रवर्तते। ईर्ष्यक स तु विज्ञेय सदा रोगविशारदैः'। इसी प्रकार के नपुंसकों को 'दृग्योनि' भी कहते हैं), २—आसेक्य—(अपनी स्त्री की योनि को देखकर संकल्पपूर्वक मैथुन में प्रवृत्त होने वाले को 'आसेक्य' कहते हैं अथवा माता पिता के क्षीण रजवीर्य से उत्पन्न होनेवाले बालक (गर्भ) को आसेक्य कहते हैं। यदुक्तम्—

पित्रोरत्यल्पवीर्यत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् ।
स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम् ॥

ऐसे नपुंसकों को पुनरपि पुरुषसिंह बनने के लिये शुक्र-प्राश उत्तम औषध है। इसका दूसरा नाम 'मुखयोनि' है। ३—कुम्भिक (जो पुरुष प्रथम अपनी गुदाभंजन कराकर चैतन्यता प्राप्त करके सम्यक्तया मैथुन में प्रवृत्त होता है उस को 'कुम्भिक' नपुसक कहते हैं। इस का दूसरा नाम 'गुदयोनि' भी कहा जाता है। यदुक्तम्—

'स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुवत् प्रवर्तते' ।

इसकी उत्पत्ति शास्त्रकार इस प्रकार दर्शाते हैं—

'मातुर्व्यवायप्रतिमेन वक्त्री स्याद्बीजदौर्बल्यतया पितुश्च' ।

अन्यत्र— 'अरजस्का यदा नारी श्लेष्मलस्तु व्रजेदृतौ ।

अन्यासक्ता भवेत् प्रीतिर्जायते कुम्भिकस्तदा' ॥

४—सुगन्धि—जो पुरुष दुष्टयोनि में उत्पन्न हो, जिसको योनि और लिंग की गन्ध सूघने से ध्वजबल प्राप्त हो, उसको 'सुगन्धि' अथवा 'सौगन्धिक' कहते हैं। इसका पर्यायनाम 'नासायोनि' भी है ।

यदुक्तम्—यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञितः ।

स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम् ॥

५—पण्ढ—जो पुरुष ऋतुमती स्त्री से मोहवश ऋतुकाल में स्वय नीचे और स्त्री को अपने ऊपर सुलाकर मैथुन करे। इस प्रकार के मैथुन से उत्पन्न होने वाले गर्भ से यदि (दुर्भाग्यवश) बालक हो तो वह बालक अपनी युवावस्था में स्वय नीचे पडकर स्त्री अथवा पुरुप को अपने ऊपर चढाकर मैथुन की लालसा को पूर्ण करने का प्रयत्न करता है । ऐसे पुरुप को पण्ढ कहते हैं । यदुक्तम्—

यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते ।

तत्र स्त्रीचेष्टिताकारो जायते पण्ढसंज्ञित. ॥

पण्ढजाति का नपुसक वीर्यरहित माना गया है । शेप जाति के नपुंसकों में न्यूनाधिक वीर्यस्थिति मानी गई है । यदुक्तम्—

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा ।

सरेतसस्त्वमी ज्ञेया अशुक्र पण्ढसंज्ञित. ॥

शुक्रदोप—

शुक्रदोपास्तथाष्टौ स्युर्वातात्पित्तात्कफेन च ॥१७२॥

कुणपं चास्रपित्ताभ्यां पूयाभं श्लेष्मपित्ततः ।

क्षीणं च वातपित्ताभ्यां ग्रन्थिलं श्लेष्मवाततः ॥१७३॥

मलाभं संनिपाताच्च शुक्रदोपा इतीरिताः ।

शुक्रदोप (वीर्य विकार) आठ प्रकार के होते हैं। यथा—१—वातज शुक्रदोप, २—पित्तज शुक्रदोप, ३—कफज शुक्रदोप, ४—कुणप शुक्रदोप, यह रक्त और पित्त के दूपित होने से होता है, ५—पूयाभ, यह कफपित्त के दूपित होने से होता है, ६—क्षीण दोप, यह वात और पित्त के विगाड़ से होता है, ७—ग्रन्थिदोष, यह वायु और कफ के दूपित होने से होता है । ८—मलाभशुक्रदोप, यह तीनों दोपों के प्रकोप से जब शुक्र व्याप्त हो तब होता है । इस प्रकार शुक्र धातु के आठ दोप (रोग) होते हैं ॥१७२—१७३॥

स्त्रियों के आर्तवदोष—

अथ स्त्रीरोगनामानि प्रोच्यन्ते पूर्वशास्त्रतः ॥१७४॥

अष्टावार्तवदोषाः स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा ।

पूयाभं कुणपं ग्रन्थि क्षीणं मलसमं तथा ॥१७५॥

स्त्रियों के आर्तव (मासान्त में ऋतुकाल पर प्रवृत्त होने वाला रुधिर) के रोगों के नाम जिन को पूर्वाचार्यों ने कहा है उन्हें कहते हैं। यह रोग सख्या में आठ होते हैं। यथा—१—वातिक आर्तवरोग, २—पैत्तिक आर्तवरोग, ३—कफज आर्तवरोग, ४—पूयाभ आर्तवरोग, ५—कुणप आर्तवरोग, ६—ग्रन्थ्याभ आर्तव रोग, ७—क्षीणार्तवरोग, ८—मलाभ आर्तवरोग। इस प्रकार आर्तवरोग आठ प्रकार के होते हैं ॥१७४—१७५॥

प्रदररोग वर्णन—

तथा च रक्तप्रदरं चतुर्विधमुदाहृतम् ।

वातपित्तकफैस्त्रेधा चतुर्थं सन्निपाततः ॥१७६॥

स्वभावत प्रवृत्त होने वाले रक्त (आर्तव) के चार दोष (रोग) होते हैं। यथा—१—वातिक प्रदररोग, २—पैत्तिक प्रदररोग, ३—कफज प्रदररोग, ४—सन्निपातज प्रदररोग। इस प्रकार आर्तव के ४ दोष होते हैं ॥१७६॥

वक्तव्य—अत्यधिक आर्तव की प्रवृत्ति को प्रदर कहते हैं। इस प्रवृत्ति में जिस दोष के लक्षणों का आधिक्य हो उसी दोष के नाम से इसका नाम होता है।

यदुक्तम्—तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि ।
असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात् ॥

इसकी अधिक प्रवृत्ति में यह लक्षण होते हैं। यथा—

तस्यातिवृत्तौ दौर्वल्यं भ्रमो मूर्च्छा मदस्तृषा ।
दाह. प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥

१—वातिक प्रदर के लक्षण—

रूक्षारुणं फेनिलमल्पमल्पं वातात्सतोदं पिशितोदकाभम् ॥

२—पैत्तिक प्रदर के लक्षण—

सपीतनीलासितरक्तमुष्णं पित्तार्तियुक्तं भृशवेगि पित्तात् ॥

३ कफज प्रदर के लक्षण—

आमं सपिच्छाप्रतिमं सपाण्डु पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु ॥

४ सन्निपातज प्रदर के लक्षण—

सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णं मज्जप्रकाशं कुणपं त्रिदोषात् ॥

योनिरोग वर्णन—

विंशतिर्योनिरोगाः स्युर्वातात्पित्तात्कफादपि ।

संनिपाताच्च रक्ताच्च लोहितक्षयतस्तथा ॥१७७॥
शुष्का च वामिनी चैव षण्ढी चान्तर्मुखी तथा ।
सूचीमुखी विप्लुता च जातघ्नी च परिप्लुता ॥१७८॥
उपप्लुता प्राक्चरणा महायोनिश्च कर्णिनी ।
स्यान्नन्दा चातिचरणा योनिरोगा इतीरिताः ॥१७९॥

योनि (गर्भाशय) के रोग वीस प्रकार के होते हैं । यथा—१—वातला योनि, २—पित्तला योनि, ३—श्लेष्मला योनि, ४—सन्निपातजा योनि, ५—रक्तजा योनि, ६—लोहितक्षया योनि, ७—शुष्का योनि, ८—वामिनी, ९—षण्ढी १०—अन्तर्मुखी ११—सूचीमुखी, १२—विप्लुता, १३—जातघ्नी, १४—परिप्लुतायोनि, १५—उपप्लुतायोनि, १६—प्राक्चरणायोनि, १७—महायोनि, १८—कर्णिनीयोनि, १९—नन्दायोनि, २०—अतिचरणा योनि । इस प्रकार योनि भाग में होने वाले वीस रोग होते हैं ॥१७७—१७९॥

वक्तव्य—ऊपर के जितने रोग लिखे गये हैं उन में से कई गर्भाशय के रोग हैं। आयुर्वेदज्ञों ने सामीप्यत्वेन गर्भाशय के रोगों को योनिरोग का नाम दे दिया है परन्तु प्राक्चरणा, अतिचरणादि रोग योनि के भी हैं इसलिये योनिरोग कहना असगत भी नहीं है । अब इन रोगों के पृथक् २ लक्षण लिखे जाते हैं। यथा—

१ वातला योनि के लक्षण—

वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता ।

२ पित्तला योनि के लक्षण—

अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाहपाकज्वरान्विता ।

३ श्लेष्मला योनि के लक्षण—

श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूग्रस्तातिशीतला ।

४ सन्निपातजा योनि के लक्षण—

सर्वलिङ्गसमुत्थाना सर्वदोषप्रकोपजा ।

५ रक्तजा योनि के लक्षण—

प्रस्रंसिनी स्रंसते तु क्षोभिता दुष्प्रजायिनी ॥

६ लोहितक्षया योनि के लक्षण—

सदाहं क्षीयते रक्तं यस्यां सा लोहितक्षया ॥

७ शुष्कायोनि के लक्षण—

शुष्का नष्टार्तवा कथिता ।
वन्ध्या नष्टार्तवां विद्याद्विप्लुतां नित्यवेदनाम् ॥

८ वामिनीयोनि के लक्षण—

सवातमुद्गिरेद्बीजं वामिनी रजसा युतम् ॥

९ षण्ढीयोनि के लक्षण—

अनार्तवाऽस्तनी षण्ढी खरस्पर्शा च मैथुने ॥

१० अन्तर्मुखी (अण्डली) योनि के लक्षण—

अतिकायगृहीतायास्तरुण्यास्त्वण्डली भवेत् ॥

११ सूचीमुखीयोनि के लक्षण—

सूचीवक्त्रातिसंवृता ।

१२ विप्लुता योनि के लक्षण—

विप्लुतां नित्यवेदनाम् ।

१३ जातघ्नी (पुत्रघ्नी) योनि के लक्षण—

स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसङ्क्षयात् ॥

१४ परिप्लुता योनि के लक्षण—

परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मेण रुग् भृशम् ।

१५ उपप्लुता (उदावर्ता)—

सा फेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति ॥

१६ प्राक्चरणायोनि के लक्षण—

मैथुनेऽचरणापूर्वं पुरुषादतिरिच्यते ॥

१७ महायोनि के लक्षण—

विवृता च महायोनिः सूचीवक्त्रातिसंवृता ।

१८ कर्णिनी योनि के लक्षण—

कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां च जायते ।

१९ नन्दा (अत्यानन्दा) योनि के लक्षण—

अत्यानन्दा न सन्तोषं ग्राम्यधर्मेण गच्छति ॥

२० अतिचरणायोनि के लक्षण—

बहुशश्चातिचरणा तयोर्बीजं न विन्दति ॥

इस प्रकार योनि और गर्भाशय में होने वाले यह बीस रोग होते हैं।

योनिकन्द रोग—

चतुर्विधं योनिकन्दं वातपित्तकफैस्त्रिधा ॥१२०॥
चतुर्थं संनिपातेन—

योनिकन्द (योनि में लकुच के आकार का मासपिण्डरूप कन्द उत्पन्न हो जाता है उसको योनिकन्द कहते हैं) रोग चार प्रकार का है। यथा—१—वातिक योनिकन्द, २—पैत्तिक योनिकन्द, ३—कफज योनिकन्द, ४—सन्निपातज योनिकन्द। इस प्रकार चार प्रकार का योनिकन्द रोग होता है।

वक्तव्य— १ वातिक योनिकन्द के लक्षण—

रूक्षं विवर्णं स्फुटितं वातिकं तं विनिर्दिशेत् ।

२ पित्तज योनिकन्द के लक्षण—

दाहरागज्वरकरं विद्यात् पित्तात्मक तु तम् ॥

३ कफज योनिकन्द के लक्षण—

नीलपुष्पप्रतीकाशं कण्डूमन्त कफात्मकम् ॥

४ त्रिदोषज योनिकन्द के लक्षण—

सर्वलिङ्गसमायुक्तं सन्निपातात्मक विदु. ॥

गर्भ के रोग—

—तथाष्टौ गर्भजा गदाः ॥१८०॥

उपविष्टकगर्भः स्यात्तथा नागोदरः स्मृतः ।
मक्कल्लो मूढगर्भश्च विष्कम्भो गूढगर्भकः ॥१८१॥
जरायुदोषो गर्भस्य पातश्चाष्टमकः स्मृतः ।

गर्भाशयस्थ रजवीर्य के सयोग से उत्पन्न होने वाले गर्भ के आठ रोग होते हैं। यथा—१—उपविष्टक गर्भ, २—नागोदर, ३—मक्कल्ल, ४—मूढगर्भ, ५—विष्कम्भ, ६—गूढगर्भ, ७—जरायुदोष, ८—गर्भपात। इस प्रकार आठ दोष गर्भ के होते हैं।

वक्तव्य—आचार्य ने मूढ (वक्रीभूत हुए) गर्भ के उपर्युक्त नाम दिये हैं परन्तु पूर्वाचार्यों द्वारा मूढगर्भ की गतियो के इन से भिन्न नाम भी प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—'सकीलक' 'प्रतिखुर' आदि। अत इनके विस्तृत लक्षणादि अन्यत्र देखने चाहियें।

स्तनरोग वर्णन—

पञ्चैव स्तनरोगाः स्युर्वातात्पित्तात्कफादपि ॥१८२॥
सन्निपातात्क्षताच्चैव तथा स्तन्योद्भवा गदाः ।
बालरोगेषु कथिताः—

स्तन (दुग्धाशय) के रोग पाच होते हैं। यथा—१—वातिक स्तनरोग, २—पैत्तिक स्तनरोग, ३—कफज स्तनरोग, ४—सन्निपातज स्तनरोग, ५—क्षतज (अभिघातज) स्तनरोग। इस प्रकार स्तनरोग पाच प्रकार के होते हैं तथा स्त्रियों के स्तन्य (दूध) के रोग भी पाच ही होते हैं जो 'बालरोग' में कहे गये हैं ॥१८२॥

स्त्रीदोष—

—स्त्रीदोषाश्च त्रयः स्मृताः ॥१८३॥

अदत्तपुरुषोत्पन्नः सपत्नीविहितस्तथा ।
दैवाज्जातस्तृतीयस्तु—

स्त्रियों को (मानसिक) दु ख उत्पन्न करने वाले तीन दोष होते हैं। यथा—१—अदत्तपुरुषोत्पन्न, २—सपत्नीविहित, ३—दैविक। इस प्रकार तीन दोष (मानसिक रोग) स्त्रियों को होते हैं।

वक्तव्य—१—युवा स्त्री के हाव, भाव, कटाक्षादि के समझने की जिसे बुद्धि नहीं है तथा जो स्त्री की कामेच्छा को पूर्ण न कर सके एवं तत्सम्बन्धी चतुरता जिसके भाग्य में नहीं ऐसे पुरुष (पति) से जो मानसिक क्षोभ होता है। उसे 'अदक्षपुरुषोत्पन्न' दोष कहते हैं। २—एक स्त्री के होने पर जब पुरुष दूसरी पत्नी लाता है तब प्रथम स्त्री को सौत का दु:ख होता है। इस असहनीय क्लेश से जो दु ख होता है उसे 'सपत्नीविहित' दोष कहते हैं। ३—पति के मरण अथवा एक मात्र संतानादि नाश से उत्पन्न शोक और दु ख को 'दैविक' दोष कहते हैं।

प्रसूता के रोग—

—तथा च सूतिकागदाः ॥१८४॥
ज्वराद्यश्चिकित्स्यास्ते यथादोषं यथाबलम्।

गर्भिणी स्त्री के बालक उत्पन्न होने के पश्चात् (मिथ्याहार विहारादि से) जो ज्वरादिरोग होते हैं उन्हें 'सूतिका' रोग कहते हैं। इनकी चिकित्सा दोषों तथा बल के अनुसार करनी चाहिये ॥१८४॥

वक्तव्य— सूतिका रोगों के लक्षण—

ज्वरातिसारशोथाश्च शूलानाहबलक्षयाः।
तन्द्रारुचिप्रसेकाद्याः कफवातामयोद्भवाः॥
कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमांसबलाग्नितः।
ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः।

अन्यत्र— अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता।
शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम्॥

बालरोग वर्णन—

द्वाविंशतिर्बालरोगास्तेषु क्षीरालसास्त्रयः ॥१८५॥
वातात्पित्तात्कफाच्चैव दन्तोद्भेदश्चतुर्थकः।
दन्तघातो दन्तशब्दोऽकालदन्तोऽहिपूतनम् ॥१८६॥
मुखपाको मुखस्रावो गुदपाकोपशीर्षकौ।
पार्श्वारुणस्तालुकण्टो विच्छिन्नं पारिगर्भिकः ॥१८७॥
दौर्बल्यं गात्रशोषश्च शय्यामूत्रं कुकूणकः।
रोदनं चाजगल्ली स्यादिति द्वाविंशतिः स्मृताः ॥१८८॥

बालकों में होनेवाले रोग २२ हैं। उनमें से तीन रोग 'क्षीरालस' (वातादि दोषों से दूषित दूध पीने से) कहलाते हैं। यथा १—वातज क्षीरालस, २—पित्तज क्षीरालस, ३—कफज क्षीरालस, ४—दन्तोद्भेद, ५—दन्तघात, ६—दन्तशब्द, ७—अकालदन्त, ८—अहिपूतन, ९—मुखपाक, १०—मुखस्राव, ११—गुदपाक,

१२—उपशीर्षक, १३—पार्श्वारुण, १४—तालुकण्टक, १५—विच्छिन्न १६—पारिगर्भिक, १७—दौर्बल्य, १८—गात्रशोष १९—शय्यामूत्र, २०—कुकूणक, २१—रोदन, २२—अजगल्ली। इस प्रकार नामानुसार यह २२ रोग बालकों के होते हैं ॥१८५-१८८॥

वक्तव्य—उपरोक्त २२ रोग बालकों की त्रिविध स्थिति के अनुसार प्रदर्शित किये गये हैं। यथा १—क्षीराशी, २—क्षीरान्नाशी, ३—अन्नाशी। इस विधि से १६ वर्ष की आयु तक बालसंज्ञा रहती है। क्षीरालसीय रोगों के लक्षण इस प्रकार हैं।

१ वातज क्षीरालस के लक्षण—

वातदुष्टं शिशुः स्तन्यं पिबन् वातगदातुरः।
क्षामस्वरः कृशाङ्गः स्याद्बद्धविण्मूत्रमारुतः॥

२ पित्तज क्षीरालस के लक्षण—

स्विन्नो भिन्नमलो बालः कामलापाण्डुरोगवान्।
तृष्णालुरुष्णसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिबन्॥

३ कफज क्षीरालस के लक्षण—

कफदुष्टं पिबन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान्।
निद्रान्वितो जडः शूनवक्त्राक्षश्छर्दनः शिशुः॥

४ दन्तोद्भेद के लक्षण—

दन्तोद्भेदश्च रोगाणां सर्वेषामपि कारणम्।
विशेषाज्ज्वरविड्भेदकासच्छर्दिशिरोरुजम्॥

५ दन्तघात के लक्षण—

दन्तघात से दन्तपात का अभिप्राय है। यह दन्तघात दो प्रकार का होता है—एक तो अपने ठीक समय पर दांतों का टूटना, दूसरा अभिघातादि के कारण दांतों का गिरना। यह दोनों बालकों को दुःख का कारण होते हैं।

६ दन्तशब्द के लक्षण—

सुप्तावस्था में परस्पर दांतों के संघर्ष अथवा कटकट को 'दन्तशब्द' कहते हैं। यह अजीर्ण और उदर में क्रिमि होने के कारण होता है।

७ अकालदन्त के लक्षण—

उपर्युक्त समय के पूर्व अथवा पश्चात् दांतों का उत्पन्न होना 'अकालदन्त' कहलाता है। यह भी दुःखकारक होता है।

८ अहिपूतना के लक्षण—

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्।
स्विन्ने वाऽस्नाप्यमाने वा कण्डू रक्तकफोद्भवा॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते।
एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम्॥

९ बालकों के मुख का पक जाना मुखपाक कहलाता है।

१० बालकों के मुख से अत्यधिक लार के बहने को मुखस्राव कहते हैं।

११ बालकों की गुदा पक जाने को गुदपाक कहते हैं।

१२ उपशीर्षक के लक्षण—कपाल रोगों के वर्णन में 'उपशीर्ष' का वर्णन किया जा चुका है। कई आचार्य महापद्म को ही उपशीर्ष रोग मानते हैं। यथा—

विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो वस्तिशीर्षजः।
पद्मवर्णो महापद्मो रोगो दोषत्रयोद्भव॥

१३ पार्श्वारुण के लक्षण—पार्श्वारुण भी महापद्म का ही भेद है। इसमें मुख, तालु तथा बाह्यत्वक् पद्मवर्ण की होती है।

१४ तालुकण्टक के लक्षण—

तालुमांसे कफः क्रुद्ध कुरुते तालुकण्टकम्॥

इससे शिर के ऊपर की खोपडी के तालु स्थान में गढ़ा सा हो जाता है।

१५ विच्छिन्न (तालुपात) के लक्षण—

तालुपातः स्तनद्वेष कृच्छ्रात्पान शकृद्द्रवम्।
तृडक्षिकण्ठास्यरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः॥

१६ पारिगर्भिक के लक्षण—

मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि।
कासाग्निसादवमथुतन्द्राकार्श्यारुचिभ्रमैः॥
युज्यते कोष्ठवृद्ध्या च तमाहुः पारिगर्भिकम्॥

१७ दौर्बल्य के लक्षण—

इस रोग में बालक प्रतिदिन दुर्बल होता जाता है। उसके मुख की सुन्दर कान्ति नष्ट हो जाती है।

१८ गात्रशोष के लक्षण—

इस रोग में गात्र सूख जाते हैं परन्तु मुख की प्रभा में अधिक विकार नहीं आता। लोक में इस रोग को 'सूखा' या 'मसान' कहते हैं।

१९ शय्यामूत्र के लक्षण—

इस रोग में बालक अक्षीण होता हुआ भी रात को बिस्तरे पर मूत देता है। कभी २ यह रोग बडी अवस्था तक भी रहता है।

२० कुकूणक के लक्षण—

कुकूणकः क्षीरदोषात् शिशूनामक्षिवर्त्मनि।
जायते तेन तन्नेत्रं कण्डूरं च स्रवेन्मुहुः॥
शिशुः कुर्याल्ललाटाक्षिकूटनासावघर्षणम्।
शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मोन्मीलनक्षमः॥

२१ रोदन के लक्षण—

शिशु का अत्यधिक रोदन भी रोगज्ञापक होता है। यथा—

शिशोस्तीव्रामतीव्रां च रोदनाल्लक्षयेद्रुजाम् ।
स्रोतांस्यङ्गानि सन्धींश्च पश्येद्यत्नान्मुहुर्मुहुः ॥

२२ अजगल्ली के लक्षण—

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजो मुद्गसन्निभा ।
कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका: ॥

बालग्रह वर्णन—

तथा बालग्रहाः ख्याता द्वादशैव मुनीश्वरैः ।
स्कन्दग्रहो विशाखः स्यात्स्वग्रहश्च पितृग्रहः ॥१८६॥
नैगमेयग्रहस्तद्वच्छकुनिः शीतपूतना ।
मुखमण्डितिका तद्वत्पूतना चान्धपूतना ॥१६०॥
रेवती चैव संख्याता तथा स्याच्छुष्करेवती ।

बालग्रह १२ प्रकार के होते हैं। यथा—१—स्कन्दग्रह, २-विशाखसञ्ज्ञग्रह, ३-स्वग्रह, ४-पितृग्रह, ५-नैगमेयग्रह, ६-शकुनिग्रह, ७-शीतपूतनाग्रह, ८-मुखमण्डितिकाग्रह, ६-पूतनाग्रह, १०-अन्धपूतनाग्रह, ११-रेवतीग्रह, १२-शुष्करेवतीग्रह। इस प्रकार बालकों को दुःख देनेवाले यह १२ ग्रह मुनीश्वरों ने कहे हैं ॥१८६—१६०॥

वक्तव्य—शास्त्रकारों ने बालकों के अनेक लक्षणयुक्त रोगों को ग्रहों के नाम से पुकारा है। ऐसे अद्भुत लक्षणाकृतियुक्त रोगों को ग्रह नाम से सम्बोधन करना अयुक्त प्रतीत नहीं होता। प्राय ऐसे विचित्र रोग होते भी बालकों को ही हैं।

सामान्यग्रहजुष्ट बालक के लक्षण—

क्षणादुद्विजते बालः क्षणात् त्रस्यति रोदिति ।
नखैर्दन्तैर्दारयति धात्रीमात्मानमेव च ॥
ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान् खादेत् कूजति जृम्भते ।
भ्रुवौ क्षिपति दन्तौष्ठ फेन वमति चासकृत् ॥
क्षामोऽति निशि जागर्ति शूनाक्षो भिन्नविद्स्वरः ।
मांसशोणितगन्धिश्च न चाश्नाति यथा पुरा ॥
सामान्य ग्रहजुष्टानां लक्षणं समुदाहृतम् ॥

ग्रहनामधेय रोगों की उत्पत्ति जिसका चरक ने वर्णन किया है यदि उस पर विचार और गूढ मनन किया जाये तो साधक इस परिणाम तक पहुचने में कुण्ठित नहीं होगा कि अन्तत आहार विहार की भ्रष्टता ही इनका मुख्य कारण होता है।

यदुक्तं चरके—

धात्रीमात्रोरात्मनश्चापचाराच्छौचभ्रष्टान् मङ्गलाचारहीनान् ।
कृत्स्नान् त्रस्तान् दुर्जनांस्ताडितांश्च पूजोहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान् ॥

स्कन्दग्रहजुष्ट के लक्षण—

एकनेत्रस्य गात्रस्य स्रावः स्पन्दनकम्पनम् ।
ऊर्ध्वदृष्टथा निरीक्षेत वक्रास्यो रक्तगन्धिकः ॥
दन्तान् खादति वित्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दति ।
स्कन्दग्रहगृहीतानां बालानां चाल्परोदनम् ॥

स्वग्रह (स्कन्दापस्मार) के लक्षण—

नष्टसंज्ञो वमेत् फेन संज्ञावानतिरोदति ।
पूयशोणितगन्धित्वं स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥

नैगमेयग्रह के लक्षण—

छर्दिस्पन्दनकण्ठास्यशोषमूर्च्छाभिगन्धिताः ।
ऊर्ध्वं पश्येद्दशेद्दन्तान्नैगमेयं ग्रहं वदेत् ॥

शकुनिग्रह के लक्षण—

स्रस्ताङ्गो भयचकितो विहङ्गगन्धिः स्रास्रावव्रणपरिपीडितः समन्
स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकैर्विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकु

५ शीतपूतना के लक्षण—

वेपते कासते क्षीणो नेत्ररोगो विगन्धता ।
छर्द्यतीसारयुक्तश्च शीतपूतनया शिशुः ॥

६ मुखमण्डितिका के लक्षण—

प्रसन्नवर्णवदनः शिराभिरभिसंवृतः ।
मूत्रगन्धिस्तु बह्वाशी मुखमण्डितिकाग्रही ॥

७ पूतनाग्रह जुष्ट के लक्षण—

अतीसारो ज्वरस्तृष्णा तिर्यक्प्रेक्षणरोदनम् ।
नष्टनिद्रस्तथोद्विग्नो ग्रस्तः पूतनया शिशुः ॥

८ अन्धपूतना के लक्षण—

छर्दिः कासो ज्वरस्तृष्णा वसागन्धोऽतिरोदनम् ।
स्तन्यद्वेषोऽतिसारश्च अन्धपूतनया शिशोः ॥

९ रेवतीग्रहजुष्ट के लक्षण—

व्रणैः स्फोटैश्चितं गात्रं पङ्कगन्धं स्रवेदसृक् ।
भिन्नवर्चा ज्वरी दाही रेवतीग्रहलक्षणम् ॥

पादरोग—

तथा चरणभेदास्तु वातरक्तादिकाश्च ये ॥ १६१ ॥

द्विचत्वारिंशदुक्तास्ते रोगेष्वेव मुनीश्वरैः ।

कई आचार्यों का मत है कि पाँओं में होने वाले वातरक्तादि (पाददाह, सुप्तिपाद, पादस्तम्भ आदि २) रोग ४२ प्रकार के होते हैं ॥ १६१ ॥

द्विषष्टिभेद—

द्विषष्टिर्दोषभेदाः स्युः सन्निपातादिकाश्च ये ॥ १६२ ॥
तेऽपि रोगेषु गणिताः पृथक् प्रोक्ता न ते क्वचित् ।

इसी प्रकार वात, पित्त, कफ—इन तीनों दोषों के तथा सन्निपात के जो ६२ भेद कहे हैं उनका भी पृथक् २ निर्देश नहीं किया । उन्हें भी रोगादिक में हीन मध्यावरादि भेद करके पृथक् २ जाने ॥ १६२ ॥

वक्तव्य—इनका पृथक्त्व इस प्रकार स्वीकार किया जाता है । तद्यथा—

द्व्युल्वणैकोल्वणैः षट् च हीनमध्याधिकाश्च षट् ।
समश्चैको विकाराणां सन्निपातात् त्रयोदश ॥

अन्यत्र—द्विषष्टिधा वन्दत्येते भूयिष्ठमिति निश्चयः ।
त्रय एव पृथग् दोषा द्विशो नवसमाधिकैः ॥
त्रयोदशाधिकैकद्विसममध्योल्वणैस्त्रिशः ।
पञ्चाशदेवं तु सह भवन्ति क्षयमागतैः ॥
क्षीणमध्याधिकक्षीणक्षीणवृद्धैस्तथाऽपरैः ।
द्वादशैव समाख्यातास्त्रयो दोषा द्विषष्टिधा ॥

पञ्चकर्मज रोग—

हीनमिथ्यातियोगानां भेदैः पंचदशोदिताः ॥१६३॥
पञ्चकर्मभवा रोगा रोगेष्वेव प्रकीर्तिताः ॥

वमन, विरेचन, निरूहण वस्ति, अनुवासन वस्ति और नस्यकर्म—इन पांच कर्मों में जिसका हीनयोग, मिथ्यायोग अथवा अतियोग होवे तो वे कर्म इन तीन कारणों से १५ प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥१६३॥

स्नेहादि के मिथ्यादि योग से—

स्नेहस्वेदौ तथा धूमो गण्डूषोऽञ्जनतर्पणे ॥१६४॥
पीडा अष्टादशैतज्जास्ताश्च रोगेषु लक्षिताः ।

स्नेहपान, स्वेदविधि, धूमपान, गण्डूष, अञ्जन, तर्पण—इन छ कर्मों में से प्रत्येक के हीनयोग, मिथ्यायोग, अतियोग—इन तीनों कारणों करके १८ भेद होते हैं और उन से होनेवाले रोग भी सब उक्त रोगों में सगृहीत किये गये हैं ॥१६४॥

शीतादिजन्य रोग —

शीतोपद्रव एकः स्यादेकश्चोष्णोपतापकः ॥१६५॥

शल्योपद्रव एकश्च क्षाराच्चैकः स्मृतस्तथा ।

अत्यन्त शीत के योग से मनुष्य को ठंडक का उपद्रव होता है, एवं गरमी के अत्यधिक योग से मनुष्य को उष्णता का उपद्रव होता है तथा— शल्य (नख, केश, काटा, शस्त्र की नोक, हाड, सीग इत्यादि शल्य होते हैं) के एकदम शरीर में प्रविष्ट होने के कारण जो रोग होता है उसे शल्योपद्रव कहते हैं और तीक्ष्ण क्षारादि (तेजाब) के स्पर्श अथवा पान से होनेवाले रोग को क्षारोपद्रव कहते हैं। इस प्रकार चार प्रकार के औपद्रविक रोग होते हैं ॥१६५॥

विषरोग वर्णन—

स्थावरं जङ्गमं चैव कृत्रिमं च त्रिधा विषम् ॥१६६॥
तेषां च कालकूटाद्यैर्नवधा स्थावरं विषम् ।
जङ्गमं बहुधा प्रोक्तं तत्र लूता भुजङ्गमाः ॥१६७॥
वृश्चिका मूषिकाः कीटाः प्रत्येकं ते चतुर्विधाः ।
दंष्ट्राविषं नखविषं बालशृङ्गास्थिभिस्तथा ॥१६८॥
मूत्रात्पुरीषाच्छुक्राच्च दृष्टेर्निश्वासतस्तथा ।
लालायाः स्पर्शतस्तद्वत्तथा शङ्काविषं मतम् ॥१६९॥
कृत्रिमं द्विविधं प्रोक्तं गरदूषीविभेदतः ।
सप्तधातुविषं ज्ञेयं तथा सप्तोपधातुजम् ॥२००॥
तथैवोपविषेभ्यश्च जातं सप्तविधं मतम् ।
दुष्टनीरविषं चैकं तथैकं दिग्धजं विषम् ॥२०१॥
कपिकच्छुभवा कण्डूर्दुष्टनीरभवा तथा ।
तथा सूरणकण्डूश्च शोथो भल्लातजस्तथा ॥२०२॥

स्थावर (वानस्पतिक), जङ्गम (प्राणिज) और कृत्रिम—इन भेदों से विष (अत्युग्र प्राणनाशक द्रव्य) तीन प्रकार के होते हैं। इनमें से कालकूटादि (कालकूट, वत्सनाभ, शृङ्गिक, प्रदीपक, हालाहल, ब्रह्मपुत्र, शक्तुविष, हारिद्र, सौराष्ट्रिक) इस प्रकार यह नौ विष स्थावर कहलाते हैं।

जङ्गमविष—यह बहुत प्रकार के होते हैं। यथा:—लूता (एक प्रकार का कीट), साप, विच्छू, चूहा, कीडा इत्यादि। यह प्रत्येक (जरायुजाण्डजादि भेद से) चार प्रकार के होते हैं।

दंष्ट्राविष—अनेक जीव जन्तु ऐसे होते हैं जिनमें से कइयों के दाढ में विष होता है। कइयों के नखों में विष होता है। कइयों के बालों में विष होता है। कइयों के सीग में विष होता है। कइयों के अस्थि में विष होता है। कइयों के मूत्र में विष

होता है। कइयों की विष्ठा में विष होता है। कइयों के शुक्र में विष होता है। कइयों की दृष्टि में विष होता है। कइयों के निःश्वास में विष होता है। कइयों के लाला (लार) में विष होता है। कइयों के स्पर्शमात्र से ही विष प्रभाव होता है। एवं एक शंका विष भी होता है अर्थात् विष का सन्देह होने से ही विष के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। इस सन्देहाभास को 'शंका विष' कहते हैं।

कृत्रिमविष—यह गरविष और दूषीविष के भेद से दो प्रकार का होता है।

यथा— गरविष—

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदरजोनानाङ्गजान् मलान्।
शत्रुप्रयुक्ताश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥

दूषीविष—

दूषित देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः ।
यस्मात्संदूषयेद्धातूंस्तस्मात् दूषीविषं स्मृतम् ॥

धातुविष—यह सात प्रकार का होता है अर्थात् सातों स्वर्णादि धातुओं का पृथक् पृथक् विष विष-लक्षणों को प्रकट करता है। धातुओं के विष को दूर करने के लिये ही उनका पृथक् २ शोधन विधान शास्त्र में वर्णन किया गया है।

उपधातुविष—स्वर्णादि सात धातुओं की सात ही उपधातुएं होती हैं। उनमें भी स्वल्पाल्प विषांश रहने के कारण उपधातुओं में भी विष रहता है और यह भी सात प्रकार का होता है।

नीरविष—दूषित जल विषैला होजाता है। इसके स्नान और पान से विष प्रभाव होता है। इसको नीरविष कहते हैं। इसका वर्णन सुश्रुत जी इस प्रकार करते हैं। यथा—

न पिबेत् पङ्कशैवालतृणपर्णाविलावृतम् ।
सूर्येन्दुपवनादृष्टमभिवृष्टं घनं गुरु ॥
फेनिलं जन्तुसंकीर्णं दन्तग्राह्यतिशैत्यतः ।
अनार्तवं च यद्दिव्यमार्त्तवं प्रथमं च यत् ।
लूतादिजन्तुविण्मूत्रविषमं श्लेष्मदूषितम् ॥

दिग्धजविष—विष में बुझाए हुए शस्त्रों से जो व्रण होते हैं एवं ज्वरादि उपद्रवों की उत्पत्ति होती है उसको 'दिग्धजविष' कहते हैं।

स्पर्शजविष—कौंच की फली के ऊपर के रोंगटों के स्पर्श से कण्डू होती है। दुष्ट जल के स्पर्श से और जिमीकन्द के छूजाने तथा भिलावा के वृक्ष के रुआ से तथा उसके फलों के तैल के स्पर्श से भी कण्डू, शोथ, ज्वरादिक विष के लक्षण प्रकट होते हैं। इसको स्पर्शज विषप्रभाव कहते हैं ॥१९९—२०२॥

चार प्रकार का मद—

मदश्चतुर्विधश्चान्यः पूगभङ्गासकोद्रवैः ।
चतुर्विधोऽन्यो द्रव्याणां फलत्वङ्मूलपत्रजः ॥२०३॥

सुपारी, भांग, बहेड़े की गुठली के भीतर की मिंगी और कोदों धान्य-इन चार पदार्थों से चार प्रकार का मद रोग उत्पन्न होता है तथा अन्य अनेकात्मक द्रव्यों (वनस्पतियों) के फल, त्वचा, मूल (जड़) और पत्तों से होने वाला मद भी चार प्रकार का होता है ॥२०३॥

उपसंहार—

इति प्रसिद्धा गणिता ये किलोपद्रवा भुवि ।
असंख्याश्चापरे धातुमूलजीवादिसंभवाः ॥२०४॥

इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधरेण विरचितायां शार्ङ्गधरसंहितायां प्रथमखण्डे रोगगणना नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

श्रीशार्ङ्गधराचार्य जी अन्त में कहते हैं कि पृथ्वी पर जो प्रसिद्ध २ उपद्रव (रोग) होते हैं उनकी गणना मैंने इस प्रकार की है तथा धातु (स्वर्णादिधातु एवं हरिताल मन शिलादि जनित विष), मूल (मूल, कंद, एवं वनस्पति, वृक्ष, वीरुध और औषधादि जनित विष), और जीव (सर्प, वृश्चिकादि जनित विष) आदियों से उत्पन्न होने वाले दूसरे असंख्य (बेशुमार) रोग वैद्य को अपनी पटुता से समझ लेने चाहियें ॥२०४॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकाया प्रथमखण्डे 'रोगगणना नाम' सप्तमोऽध्याय ॥७॥

समाप्तश्चायं प्रथमः खण्डः।

ओम्

शार्ङ्गधरसंहिता

रहस्यार्थप्रकाशिका-भाषाटीका-सहिता ।

द्वितीयखण्डे प्रथमोऽध्यायः ।

चिकित्सक चूडामणि वैद्यवर शार्ङ्गधर ने पूर्वखण्डोक्त अनुक्रमणिका की प्रतिज्ञा के अनुसार "स्वरस. क्वाथफाण्टौ च" द्वितीय खण्ड के आरम्भ में ही स्वरस कल्पना कही है। यथा—

अथातः स्वरसः कल्कः क्वाथश्च हिमफाण्टकौ ।
ज्ञेयाः कषायाः पञ्चैते लघवः स्युर्यथोत्तरम् ॥१॥

स्वरस, कल्क, क्वाथ, हिम, फाण्ट—इन पांचों को "पञ्चकषाय" कहते हैं। यह उत्तरोत्तर लघु (शीघ्रपाकी) होते हैं। यथा—स्वरस की अपेक्षा कल्क, कल्क की अपेक्षा क्वाथ, क्वाथ की अपेक्षा हिम और हिम की अपेक्षा फाण्ट हलका होता है ॥१॥

वक्तव्य—वैद्यवर शार्ङ्गधर ने पञ्चकषाय संग्रह में यावतीय पेय क्वाथ विधियों का संग्रह कर दिया है। इस से भिन्न अन्य कोई विधि अवशिष्ट नहीं है। आर्द्र और शुष्क प्रत्येक प्रकार के द्रव्य का सरलातिसरल शरीरोपयोगी विधान संग्रह करके सागर को गागर में बन्द कर दिया है।

स्वरस लक्षण—

अहताच्तत्क्षणाकृष्टाद्द्रव्यात्क्षुण्णात्समुद्धरेत् ।
वस्त्रनिष्पीडितो यः स रसः स्वरस उच्यते ॥२॥

---

१ स्वरस इति सद्यो रस । २ कल्को दृषदि पेषित । ३ क्वाथ क्वथित कषाय । ४ हिम इति शीतकषाय. । ५ फाण्ट इति जलप्लावितं चूर्णम् ।

तत्काल की उत्पाटित वनस्पति को भली प्रकार कूट कर वस्त्र द्वारा निष्पीडन (निचोड़न) करने से जो रस प्राप्त हो उसे स्वरस कहते हैं ॥२॥

वक्तव्य—ऊपर के श्लोक में 'अहतात्' पाठ है और कहीं कहीं 'आहतात्' भी मिलता है। 'अहतात्' से ग्रन्थकार का अभिप्राय—

वल्मीककुत्सितानूपश्मशानोषरमार्गजाः ।
जन्तुवह्निहिमव्याप्ता नौषध्यः कार्यसिद्धिदाः ॥

से है। जो किसी प्रकार से हत या क्षत विक्षत न हो, ऐसे शुभ लक्षणों युक्त वनस्पति को ही स्वरसार्थ ग्रहण करना योग्य है। अथवा—अहतात् न हतम् अहतं तस्मात् कृम्यवस्यादिभिरदूषितात्, कृम्यादिदूषितस्य भेषजस्य कल्पे निषेधात्। दूसरे पाठ में 'आहतात्' का अभिप्राय 'आहतात् क्षतात् शकलीकृतात्। शस्त्रादिना छिन्नादित्यर्थः'। आहतं स्यात्कृतीयाते आहतं ताडितेऽपि चेति विश्वकोष। अर्थात् स्वरस निष्पीडन करने योग्य औषध के छोटे छोटे टुकड़े करके पुनः उसे कुट्टन करे। उलूखल में डालकर निष्पीडन करने योग्य बना ले।

विधि—जिस वनस्पति का स्वरस निकालना हो, उसे शास्त्रानुमोदित विधि से ग्रहण करके सब से प्रथम उसे स्वच्छ जल से प्रक्षालन करे। तत्पश्चात् शिला, खरल, दौरोहंडा या काष्ठ निर्मित चट्टू को जल से स्वच्छ करके वनस्पति को छोटे छोटे टुकड़ों में काटकर उसमें डाल दे और शनैः शनैः कूटकर बारीक होने पर स्वच्छ वस्त्र खण्ड में डालकर रस निचोड़ ले। यह स्वरस मृत्पात्र या शीशे के पात्र अथवा अभाव में कलईदार बर्तन में ग्रहण करना चाहिये।

स्वरस की दूसरी विधि—

कुडवं चूर्णितं द्रव्यं क्षिप्तं च द्विगुणे जले ।
अहोरात्रं स्थितं तस्माद्भवेद्वा रस उत्तमः ॥३॥

एक कुडव ऽ=१ तोला (१६ तोले) चूर्ण किये हुए वानस्पतिक द्रव्य को ३२ तोला जल (परिस्रुत अथवा इसके अभाव में त्रिपादावशेष क्वथित जल लेना चाहिये) डालकर दोनों पदार्थों को मिट्टी के पात्र में एक अहोरात्र (२४ घंटा) पर्यन्त ढांप कर रख दे। इस प्रकार प्राप्त होने वाले रस को भी स्वरस कहते हैं ॥३॥

२४ घंटा के पश्चात् अर्थात् दूसरे दिन प्रातःकाल स्वरस निकालने से प्रथम अंगुलियों द्वारा जलांतर्गत चूर्ण को भली प्रकार मर्दन करके वस्त्र द्वारा छान कर प्रयोग करे।

स्वरस की तीसरी विधि—

आदाय शुष्कद्रव्यं वा स्वरसानामसंभवे ।
जलेऽष्टगुणिते साध्यं पादशेषं च गृह्यते ॥४॥

स्वरस निकालने योग्य आर्द्र द्रव्यों के अभाव में शुष्क द्रव्य को ही सम्यक्

कूटकर आठ गुने जल में पका कर चौथा भाग शेष रहने पर उतार ले और पूर्वानुसार मर्दन करके वस्त्र द्वारा छान कर प्रयोग करे ॥४॥

पेय स्वरस की मात्रा—

स्वरसस्य गुरुत्वाच्च पलमर्धं प्रयोजयेत् ।
निशोषितं चाग्निसिद्धं पलमात्रं रसं पिबेत् ॥५॥

स्वरस, गुरु (गुरुपाकी भारी) होने से २ तोला प्रयोज्य है और निशोषित (रात्रिस्थापित) तथा अग्निसिद्ध रस (क्वाथ) स्वरसापेक्षा लघु होने के कारण १ पल (४ तोले) प्रयोग करे ॥५॥

वक्तव्य—स्वरस की दूसरी और तीसरी विधि के अनुसार हिम और क्वाथ में गोलमाल उत्पन्न होता है । कारण कि हिम और क्वाथ की भी यही विधियां हैं । इस सशय छेदन के लिये आचार्यो का निर्णय यह है कि दूसरी और तीसरी दोनो विधियों में जल और वस्तु का परिमाण भिन्न भिन्न होने के कारण विधि की एकता वाधक नही है ।

स्वरस में प्रक्षेप का परिमाण—

मधुश्वेतागुडक्षाराञ्जीरकं लवणं तथा ।
घृतं तैलं च चूर्णादीन्कोलमात्रान् रसे क्षिपेत् ॥६॥

मधु, खांड, गुड़, क्षार (यवक्षारादि) जीरक, सैंधव, गोघृत, तैल (तिल, एरण्डादि), चूर्ण त्रिकटु, त्रिफला प्रभृति—ये स्वरस की एक पेयमात्रा में १ कोल (६ माशा) डालकर पान करे ॥६॥

वक्तव्य—मध्विति—सामान्यग्रहणेन तज्जातयोऽष्टौ गृह्यन्ते ।
तद्यथा—पौतिकं भ्रामरं क्षौद्रं माक्षिक छात्रमेव च ।
आर्घ्यमौद्दालक दालमित्यष्टौ मधुजातय· ॥ इति

एवमविशेषोक्तौ सर्वत्र । श्वेता सितशर्करा । क्षारानिति वहुवचनेन सर्वे क्षारा·, अनुक्ते यवक्षारमेव सर्वत्र । जीरकं प्रसिद्धम् । अविशेषे श्वेतजीरकमेव । लवणमपि सामान्येन पञ्चलवणानि गृह्यन्ते । तद्यथा—'सिन्धुसौवर्चलोपेतं विडं सामुद्रजोद्भिदम्' इति । अनुक्ते सैन्धवमेव ग्राह्यं सर्वत्र । घृततैलं पक्वापक्व नानाविधम् । तत्र अनुक्ते तु गव्यं घृतं तिलतैलं च प्रधानमिति । तथाहि—'घृतेषु गोघृत श्रेष्ठ तैलेषु तिलजं तथा' इति । चूर्णादीनिति व्योषचूर्णादीन् आदिग्रहणेन क्षारमूत्रारिष्टशुक्तादयो रोगापेक्षया गृह्यन्ते । यद्वा गुटिकावलेहादयोऽप्यादिशब्देन ग्राह्या· । (गू० दी०)

स्वरसों का रोगानुसार प्रयोग, अमृतादि और धात्र्यादि स्वरस प्रमेह पर—

अमृताया रसः क्षौद्रयुक्तः सर्वप्रमेहजित् ।
हरिद्राचूर्णयुक्तो वा रसो धात्र्याः समाक्षिकः ॥७॥

गिलोय का स्वरस, क्षौद्र (रक्तवर्ण का शहद) मिलाकर पान करने से सर्व प्रमेह (बीस प्रकार के प्रमेह) दूर होते हैं। एव आमलकी स्वरस में हरिद्राचूर्ण और मधु मिलाकर पीने से भी सम्पूर्ण प्रमेह नष्ट होते हैं ॥७॥

वक्तव्य—पानार्थ गुडूची रस २ तोला मधु ६ माशा। यह एकमात्रा का मान है। गुडूची के काण्ड पर पतली सफेद रंग की त्वक् (झिल्ली) होती है। उसे कूटने से प्रथम चाकू से खुरच कर साफ कर लेना चाहिये। यह स्वरस वातश्लेष्म प्रधान प्रमेह पर अधिक लाभकारक है।

दूसरे योग में भी यही परिभाषा है। आमलकी रस २ तोला, हरिद्राचूर्ण ६ माशा, मधु ६ माशा। इन सबको मिलाकर पान करे। यह पित्त प्रधान प्रमेह में विशेष गुणप्रद है। मात्रा का यह साधारण नियम है। योग्य चिकित्सक को औषधमात्रा में रोगी के बल और व्याधि की तारतम्यावस्था के अनुसार, परिवर्तन करने का पूर्ण अधिकार है।

वासकादि स्वरस रक्तपित्तादि पर—

वासकः स्वरसः पेयो मधुना रक्तपित्तजित्।
ज्वरकासक्षयहरः कामलाश्लेष्मपित्तहा ॥८॥

वासा के स्वरस में मधु मिलाकर पीने से रक्तपित्त, ज्वर, कास, क्षय, (राजयक्ष्मा) कामला (पीलिया रोग) और श्लेष्मपित्त से होने वाले रोग नष्ट होते हैं ॥८॥

वक्तव्य—वासा के पत्रों में जलीयांश स्वल्प होने के कारण इनसे स्वरस नहीं निकलता। एतदर्थ इसके पत्रों को कूटते समय थोड़ा सा जल इसमें मिला दिया जाता है। अथवा किसी मृत्पात्र में पत्तों को ढापकर किञ्चित् अग्निदान से स्वेदित करके निष्पीडन द्वारा स्वरस प्राप्त कर लिया जाता है। अथवा पत्रों को पुटपाक विधि से पकाकर भी स्वरस प्राप्त किया जाता है। पुटपाक की विस्तृत विधि पुटपाक प्रकरण में देखो ॥८॥

त्रिफलादिस्वरस कामला रोग पर—

त्रिफलाया रसः क्षौद्रयुक्तो दार्वीरसोऽथ वा।
निम्बस्य वा गुडूच्या वा पीतो जयति कामलाम् ॥९॥

त्रिफला, दारुहलदी, निम्बत्वक् और गुडूची—इनमें से किसी एक के स्वरस में मधु मिलाकर पीने से कामला (पीलिया) रोग नष्ट होता है। विधि और मात्रा का मान ऊपर दिया गया है ॥९॥

तुलसी और द्रोणपुष्पी स्वरस विषमज्वर पर—

पीतो मरिचचूर्णेन तुलसीपत्रजो रसः।
द्रोणपुष्पीरसो वाऽपि निहन्ति विषमज्वरान् ॥१०॥

तुलसी के पत्तों का रस अथवा द्रोणपुष्पी (गूमा-मलभेड्डु) के पत्तों का स्वरस-

इन दोनों में से किसी एक के स्वरस में मरिचचूर्ण (कालीमिरच) मिलाकर पीने से विमसज्वर (मलेरिया बुखार) नष्ट होता है ।

वक्तव्य—तुलसी और द्रोणपुष्पी का स्वरस तीक्ष्ण और कटूष्ण होने के कारण एक मात्रा में १ तोला और मरिचचूर्ण १ माशा प्रयुक्त करना सुखकर होता है। यह योग ज्वरवेग से पूर्व प्रयोग करने से ज्वर को रोकता है और अविसर्गी विषम ज्वरों में प्रयुक्त होने से यह ज्वर को घटाकर क्षुधाबोध कराता है ।

जम्वादि स्वरस रक्तातिसार पर—

जम्ब्वाम्रामलकीनां च पल्लवोत्थो रसो जयेत् ।
मध्वाज्यक्षीरसंयुक्तो रक्तातीसारमुल्बणम् ॥११॥

जामुन, आम, आमलकी—इनके पत्तों का स्वरस मधु, गोघृत और गोदूध (६।६ माशा) मिलाकर पीने से अत्यन्त बढा हुआ रक्तातिसार (रुधिरान्वित शौच) शान्त होता है ॥११॥

वक्तव्य—इन उपरोक्त वृक्षों के पत्तों का स्वरस भी वासा स्वरस की सदृश प्राप्त होता है। रक्तातिसार दूर करने के लिये उपरोक्त पत्तों का स्वरस पुटपाक द्वारा प्राप्त करना श्रेयस्कर होता है। यह योग संकोचक है। अत उसी अवस्था में इसका प्रयोग विधेय है जब आममल की समाप्ति का ठीक परिज्ञान हो जाय ।

बब्बूलदलादि स्वरस सम्पूर्ण अतिसारों पर—

स्थूलबब्बूलिकापत्ररसः पानाद् व्यपोहति ।
सर्वातिसारान् श्योनाककुटजत्वग्रसोऽथ वा ॥१२॥

पुराने कीकर के वृक्ष के पत्तों का स्वरस (२ तोला) पीने से समस्त अतिसार दूर होते हैं। अथवा श्योनाक (अरलू) और कुटज (कूडा) के वृक्ष की त्वचा से पुटपाक द्वारा प्राप्त स्वरस (२ तोला) पीने से सर्व प्रकार के अतिसार दूर होते हैं॥१२॥

वक्तव्य—आमरहित पक्वातिसार दूर करने में श्योनाक और कुटजत्वक्-रस मधुमिश्रित पीने से निश्चय लाभ होता है। यह योग शतशोऽनुभूत है ।

आर्द्रक स्वरस वृषणवात और श्वास पर ।

आर्द्रकस्वरसः क्षौद्रयुक्तो वृषणवातनुत् ।
श्वासकासारुचीर्हन्ति प्रतिश्यायं व्यपोहति ॥१३॥

अदरख का (१ तोला) स्वरस, (६ माशे) मधु मिलाकर पीने ते वृषणवात (वातिक अण्डवृद्धि एवं उससे होने वाली अन्य व्यथाएं) और श्वास, कास, अरुचि तथा प्रतिश्याय नष्ट होते हैं ।

बिजोरे निम्बु का रस पार्श्वशूलादि पर—

बीजपूररसः पानान्मधुक्षारयुतो जयेत् ।
पार्श्वहृद्वस्तिशूलानि कोष्ठवायुं च दारुणम् ॥१४॥

✓ विजोरानिम्बु के फल या मूलत्वक् का रस (२ तोला), मधु (६माशा), यवक्षार (१ माशा) मिलाकर पीने से दारुण पार्श्वशूल (पसलियों की पीडा, जो अजीर्ण से उत्पन्न हो), हृच्छूल (जो आमरसानुबन्धी हो) वस्तिशूल (जो विकृत वायु से उत्पन्न हो), कोष्ठवायु (पक्काशयस्थ विकृत और शूलाटोपकारकवायु) नष्ट होता है ॥१४॥

वक्तव्य—   पार्श्वशूल के लक्षण—

रुणद्धि मारुतं श्लेष्मा कुक्षिपार्श्वव्यवस्थित. ।
स संरुद्धः करोत्याध्माध्मान गुडगुडायनम् ॥
सूचीभिरिव निस्तोद. कृच्छ्रोच्छ्वासी तदा नरः ।
नान्नं वाञ्छति नो निद्रामुपैत्यर्तिनिपीडित ।
पार्श्वशूल. स विज्ञेय. कफानिलसमुद्भव. ॥

हृच्छूल के लक्षण—

कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रसमूर्च्छितः ।
हृदिस्थः कुरुते शूलमुच्छ्वासरोधकं परम् ॥
स हृच्छूल इति ख्यातो रसमारुतसंभव ।

वस्तिशूल के लक्षण—

संरोधात्कुपितो वायुर्वस्तिमावृत्य तिष्ठति ।
वस्तिवंक्षणनाभीषु तत शूलोऽस्य जायते ॥
विरमूत्रवातसंरोधी वस्तिशूल. स मारुतात् ॥

शतावरी का स्वरस पित्तशूल पर तथा—कुमारीस्वरस प्लीहा अपची पर—

शतावर्याश्च मधुना पित्तशूलहरो रसः ।
निशाचूर्णयुतः कन्यारसः प्लीहापचीहरः ॥१५॥

शतावरी का रस (सद्योद्धृत २ तोला) मधु (६ माशा) मिलाकर पीने से पित्तजनित शूल दूर होता है । तथा कुमारी स्वरस हरिद्राचूर्ण मिलाकर (निरन्तर) सेवन करने से प्लीहावृद्धि और अपची (गण्डमाला की दूसरी अवस्था) दूर होती है ॥१५॥

अलम्बुषास्वरस गण्डमाला पर—

अलम्बुषायाः स्वरसः पीतो द्विपलमात्रया ।
अपचीगण्डमालानां कामलायाश्च नाशनः ॥१६॥

गोरखमुडी का रस दो पल (८ तोला) पीने से अपची गण्डमाला (हजीरा) और कामला (पीलिया) रोग नष्ट होता है ॥१६॥

वक्तव्य—दो पल की मात्रा एक वार में अधिक प्रतीत होती है। चिकित्सक को अपने रोगी के वलादि के अनुसार मात्रा स्थिर कर लेनी चाहिये । (साधारणतया एक तोला मात्रा पर्याप्त है) ।

मुण्डीस्वरस सूर्य्यावर्त्त पर—

रसो मुण्ड्याः सकोष्णो वा मरिचैरवधूलितः ।
जयेत् सप्तदिनाभ्यासात् सूर्यावर्त्तार्धभेदकौ ॥१७॥

गोरखमुंडी के स्वरस (१—२ तो०) को किंचित् उष्ण करके मरिचचूर्ण (४—८ रत्ती) का प्रक्षेप देकर एक सप्ताह पान करने से सूर्य्यावर्त्त (यह शिरोरोग है और प्रातःकाल सूर्योदय के साथ आरम्भ होकर सूर्य के साथ २ बढता और सूर्य के अपवर्तन के साथ २ घटता जाता है। इसीलिये इसे सूर्यावर्त्त कहते हैं) और अर्धावभेदक (यह भी शिरोरोग है और शिर के आधे भाग में पीड़ा होती है। इसे आधाशीशी भी कहते हैं) नष्ट होते हैं ॥१७॥

ब्राह्मीस्वरस उन्माद पर—

ब्राह्मीकूष्माण्डषड्ग्रन्थाशङ्खिनीस्वरसाः पृथक् ।
मधुकुष्ठयुताः पीताः सर्वोन्मादापहारिणः ॥१८॥

ब्राह्मीबूटी, पेठा (जिसकी हलवाई मिठाई बनाते हैं), वच, शङ्खपुष्पी—इनके प्रत्येक के पृथक् २ स्वरस (२—४ तो०) में शहद (½—१ तो०) और कूठ के चूर्ण (४—८ रत्ती) का यथोक्तमान प्रक्षेप देकर पीने से समस्त प्रकार के उन्माद (पागलपन, मालीखौलिया) नष्ट होते हैं ॥१८॥

कूष्माण्डस्वरस मदरोग पर—

कूष्माण्डकस्य स्वरसो गुडेन सह योजितः ।
दुष्टकोद्रवसञ्जातं मदं पानाद् व्यपोहति ॥१९॥

पेठे का रस (२—४ तो०) और गुड (½—१ तो० पुराना गुड या अभाव में शर्करा) दोनों मिला कर पीने से दूषित कोदों (धान्यविशेष से) उत्पन्न मदरोग (नीम पागलपन) दूर होता है ॥१९॥

गंगेरन का स्वरस सद्योव्रणपर—

खड्गादिच्छिन्नगात्रस्य तत्कालं पूरितो व्रणः ।
गाङ्गेरुकीमूलरसैर्जायते गतवेदनः ॥२०॥

खड्ग (तलवार), शक्ति, कुत आदि शस्त्रों द्वारा गात्र (शरीरावयव) के छिन्न (कट जाने) या घाव होने से उसी समय गंगेरन (नागबला) के मूलत्वक् से (अथवा पत्र से) प्राप्त स्वरस को व्रण में भर देने से व्रण वेदना शीघ्र नष्ट होती है ॥२०॥

पुटपाक प्रकरण—पुटपाक कथन का हेतु—

पुटपाकस्य कल्कस्य स्वरसो गृह्यते यतः ।
अतस्तु पुटपाकानां युक्तिरत्रोच्यते मया ॥२१॥

(यद्यपि स्वरस विधि पीछे कह दी गई है परन्तु) पुटपाक और कल्क—इन दोनों ही से स्वरस ग्रहण किया जाता है। अतएव पुटपाक की युक्ति (क्रियाविधि) कहते हैं ॥२१॥

पुटपाकसाधन विधान—

पुटपाकस्य मात्रेयं लेपस्याङ्गारवर्णता ।
लेपं च द्वयङ्गुलं स्थूलं कुर्याद् वाऽङ्गुष्ठमात्रकम् ॥२२॥
काश्मरीवटजम्ब्वादिपत्रैर्वेष्टनमुत्तमम् ।
पलमात्रं रसो ग्राह्यः कर्षमात्रं मधु क्षिपेत् ॥२३॥
कल्कचूर्णद्रवाद्यास्तु देयाः स्वरसवद् बुधैः ।

प्रथम जिस द्रव्य का पुटपाक करना हो (इस कार्य के लिये पत्र, त्वक्, फल सब लिये जाते हैं) उसके पत्र या त्वक् को बारीक कूट पीसकर एक गोला बना लिया जाता है। उस गोले पर गम्भारी, वट, पीपल, जामुन वा आम्र के पत्तों को लपेट कर धागे से बाधकर कन्दुकाकार तैयार कर लिया जाता है। पुन उस पर चिकनी मिट्टी को गूधकर दो अगुल अथवा अगुष्ठ परिमाण मोटा लेप चढा दे। मृल्लेप शुष्क होने पर उसको साधारण कोयलों वा (जलते हुए) उपलों में रखकर पकावे। जब गोले के बाहर के लेप में अङ्गारवर्णता (रक्तवर्णता) आवे तब उसे अग्नि से पृथक् करके बहिस्थलेप और पत्तों को हटाकर अन्दर के स्विन्न गोले को वस्त्र में डालकर निचोड ले। यह पुटपाक द्वारा प्राप्त स्वरस १ पल की मात्रा से १ तोला मधु डालकर देना चाहिये। (परन्तु वर्तमान समय के मनुष्यों के लिये १ तोला से २ तोला तक की मात्रा उपयुक्त है।) एव कल्क, चूर्ण तथा अन्य द्रव (घृत तैल गोमूत्रादि) पदार्थ इस में स्वरसोक्त मान के अनुसार मिलाने चाहियें ॥२३॥

वक्तव्य—इसके पाक में वैद्य को अग्नि की मात्रा पर पूर्ण ध्यान रखने की आवश्यकता है। कारण कि अधिक उत्ताप में अन्त स्थगोलक जले हुए अङ्गार के सदृश हो जाता है। अत निर्दिष्ट अग्निमान आरक्तता (चारों ओर से लाली) आने पर पूर्णपाक समझना चाहिये। यदि किसी शुष्क द्रव्य से ऐसा करना हो तो उसे बारीक पीसकर वेष्टक पत्रों में से किसी का स्वरस अथवा तण्डुलोदक देकर गोला बना लेवे। शेष विधि ऊपर की तरह जाननी। पुटपाकोद्धृत रसों की मात्रा १—२ तो० होती है।

कुटजपुटपाक समस्त अतिसारों पर—

तत्कालाकृष्टकुटजत्वचं तण्डुलवारिणा ॥२४॥
पिष्टां चतुष्पलमितां जम्बूपल्लववेष्टिताम् ।
सूत्रेण बद्धां गोधूमपिष्टेन परिवेष्टिताम् ॥२५॥
लिप्तां च घनपङ्केन गोमयैर्वह्निना दहेत् ।
अङ्गारवर्णां च मृदं दृष्ट्वा वह्नेः समुद्धरेत् ॥२६॥
ततो रसं गृहीत्वा च शीतं क्षौद्रयुतं पिबेत् ।

जयेत् सर्वानतीसारान् दुस्तरान् सुचिरोत्थितान् ॥२७॥

तत्काल की प्राप्त की हुई कुटजत्वक् ४ पल (१६ तो०) तण्डुलोदक (चावलों को भिगोकर प्राप्त किए हुए जल) से पीसकर गोला बनावे । पुन उस गोले को जामुन के पत्तों से भली प्रकार लपेट कर सूत्र (धागे) से बांध देवे और उसके ऊपर गोधूम (गेहू, कणक) के आटे को पानी के साथ सानकर (दो दो अंगुल) लपेट देवे । पुन गोधूम लेप पर गाढ़ा कीचड़ (मिट्टी का लेप) चढा देवे और उपलों की अग्नि से बहिस्थ लेप के रक्तवर्ण होने तक पकावे । उचित पाक होने पर अग्नि से निकाल लेवे । तदनन्तर किसी स्वच्छ वस्त्रखंड में रखकर निचोड लेवे । जब यह स्वरस शीतल (ठंडा) हो जावे तब शहद मिलाकर सेवन करे (जितना स्वरस प्राप्त हो, उससे चतुर्थांश मधु मिलावे । पुन. एक एक तोले की मात्रा से पान करे) । इस से भयकर और चिरोत्थित सब अतिसार नष्ट होते हैं ॥२४-२७॥

तण्डुलोदक विधि—

काण्डितं तण्डुलपलं जलेऽष्टगुणिते क्षिपेत् ।
भावयित्वा जलं ग्राह्यं देयं सर्वत्र कर्मसु ॥२८॥

कण्डित (निस्तुप, छिलके रहित चावल) १ पल, स्वच्छ जल ८ पल, दोनों को मृत्पात्र में डाल कर (१ घंटा) भिगो देवे । पुन हाथों से मर्दन करके चावलों का धोवन निकाल लेवे । इसी को तण्डुलोदक कहते हैं । यही तण्डुलोदक सर्वत्र चिकित्सा कार्य में व्यवहृत होता है ॥२८॥

अरलु पुटपाक सर्वातिसार पर—

अरलुत्वक्कृतश्चैव पुटपाकोऽग्निदीपनः ।
मधुमोचरसाभ्यां च युक्तः सर्वातिसारजित् ॥२६॥

श्योनाक की तत्कालाकृष्ट त्वक् को पीस कर उपरोक्त पुटपाक विधान से स्वरस प्राप्त करे । यह पाचकाग्नि को दीपन (बढाने वाला है) करता है । यदि इसमें मधु और मोचरस (शाल्मली निर्यास) मिला कर सेवन करे तो सम्पूर्ण अतिसार रोगों को नष्ट करता है । (यह योग अनेक बार अपना जादू का सा प्रभाव दिखा चुका है । इसको पुराने और भयकर अतिसारों में बर्ता गया है) ॥२६॥

न्यग्रोधादि पुटपाक—

न्यग्रोधादेश्च कल्केन पूरयेद्गौरतित्तिरेः ।
निरन्त्रमुदरं सम्यक् पुटपाकेन तत् पचेत् ॥३०॥
तत्कल्कस्य रसः क्षौद्रयुक्तः सर्वातिसारनुत् ।

न्यग्रोधादिगण (सुश्रुतोक्त, यथालाभ) के द्रव्यों को कूट पीस कर कल्क करके उस कल्क को सफेद तीतर के उदर (पेट) को अन्त्र रहित करके उसमें भर देवे और ऊपर से पूर्वोक्त मृत्तिकादि लगा कर पूर्वाज्ञानुसार पका कर स्वरस निकाल लेवे । इस रस में मधु मिला कर पीने से सम्पूर्ण अतिसार नष्ट होते हैं ॥३०॥

वक्तव्य—सुश्रुत के गणपाठ में न्यग्रोधादिगण का पाठ है। उसमें बहुत द्रव्य हैं। कई आचार्य इसी का ग्रहण करते हैं और कई यह कहते हैं कि न्यग्रोधादिगण से न्यग्रोध (वट), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपर), प्लक्ष (पिलखन), वेतस (जलवेत) का ही ग्रहण करना चाहिये। परञ्च सुश्रुतोक्तगण अधिक लाभप्रद है। इसका प्रयोग—जब पुराणातिसार में अधिक निर्बलता, हृद्दौर्बल्य और कोष्ठवात प्रकोप हो तब विशेष उपयोगी होता है। इसका यह फल दृष्टप्रत्यय है।

दाडिमादि पुटपाक सर्वातिसार पर—

पुटपाकेन विपचेत् सुपक्कं दाडिमीफलम्।
तद्रसो मधुसंयुक्तः सर्वातीसारनाशनः ॥३१॥

ऊपर कहा गया है कि इस कार्य के लिये फलों का भी ग्रहण होता है। यथा—परिपक्व अनार को लेकर पुटपाक विधि से स्वरस प्राप्त करे और मधु मिला कर पीने से सब अतिसार दूर होते हैं। इसका प्रयोग रोगी को अत्यधिक अरुचि होने पर विशेष लाभ करता है ॥३१॥

बीजपूरादि पुटपाक—

बीजपूराम्रजम्बूनां पल्लवानि जटाः पृथक् ॥३२॥
विपचेत् पुटपाकेन क्षौद्रयुक्तश्च तद्रसः।
छर्दिं निवारयेद् घोरां सर्वदोषसमुद्भवाम् ॥३३॥

बिजोरानिम्बू, आम और जामुन के गीले पत्तों और मूलत्वक् को कूट पीस कर गोला बना लेवे और पूर्वोक्त विधि से पका कर रस निचोड लेवे। इस रस को मधु मिला कर पिलाने से तीनों दोषों से उत्पन्न और घोर छर्दि (वमन, कय, उल्टी) को दूर करता है ॥३३॥

वासक पुटपाक रक्तपित्त कास पर—

पिष्टानां वृषपत्राणां पुटपाकरसो हिमः।
मधुयुक्तो जयेद् रक्तपित्तकासज्वरक्षयान् ॥३४॥

अडूसा के आर्द्र पत्रों को पीस कर गोला बनावे और पुटपाक विधान से पाक करके रस निचोड लेवे। इस रस को शहद मिला कर पीने से रक्तपित्त (नाक से रुधिर गिरना), कास (खासी), ज्वर और क्षयरोग दूर होता है ॥३४॥

कटकारी पुटपाक कासश्वास पर—

पचेत् क्षुद्रां सपञ्चाङ्गां पुटपाकेन तद्रसः।
पिप्पलीचूर्णसंयुक्तः कासश्वासकफापहः ॥३५॥

छोटी कटकारी का पञ्चाङ्ग (मूल, पत्र, पुष्प, फल, काण्ड) लेकर कूट पीस कर पुटपाक द्वारा प्राप्त स्वरस में पिप्पली चूर्ण (४—८ रती तक) मिलाकर पीने से, कास, श्वास और कफ की प्रबलता नष्ट होती है ॥३५॥

वक्तव्य—इस योग में यदि १ रत्ती रससिन्दूर मिलाकर प्रयुक्त किया जावे तो यह कुत्ताखासी, काली खासी के लिये अत्यन्त हितकर है।

विभीतक पुटपाक—

विभीतकफलं किञ्चिद् घृतेनाभ्यज्य लेपयेत्।
गोधूमपिष्टेनाङ्गारैर्विपचेत् पुटपाकवत् ॥३६॥
ततः पक्वं समुद्धृत्य त्वचं तस्य मुखे क्षिपेत्।
कासश्वासप्रतिश्यायस्वरभङ्गान् जयेत्ततः ॥३७॥

बहेडे के (आर्द्र) फल को घी से चुपड़ कर, उस पर गेहूं का आटा पानी में सानकर (२ अगुल मोटा) चढादे और पुटपाक की विधि से अंगारों पर उसे पकावे। पूर्ण पक्व होने पर उसकी (स्विन्न) त्वचा (छिलका) ग्रहण कर मुख में धारण करने रस चूसने) से कास, श्वास, प्रतिश्याय (जुकाम), स्वरभंग (गले का बैठ जाना) आदि रोगो को शीघ्र हरण करता है ॥३७॥

शुण्ठीपुटपाक आमातिसार पर—

चूर्णं किंचिद् घृताभ्यक्तं शुण्ठ्या एरण्डजैर्दलैः।
वेष्टितं पुटपाकेन विपचेद् मन्दवह्निना ॥३८॥
नत उद्धृत्य तच्चूर्णं ग्राह्यं प्रातः सितान्वितम्।
तेन यान्ति शमं पीडा आमातीसारसम्भवाः ॥३९॥

सोंठ के चूर्ण को गोघृत से स्निग्ध करके गोला बनावे और उसपर एरण्ड के पत्तों को लपेट कर सूत्र से बांध दे। आटे या मिट्टी का लेप करके साधारण अग्नि पर (यह स्मरण रहे कि इसमें जलीयांश नही अत इतनी ही ऊष्मा इसमें पहुंचानी है जिससे एरण्ड पत्रों का जल भाग शुण्ठी चूर्ण से मिल सके) पाक करके निकाल ले। पुन उस परिपक्व शुण्ठी चूर्ण (६ माशा) को खाड (१ तोला) मिलाकर प्रात (एकबार उष्णोदक से) भक्षण करे। इससे आमातिसार (बद हजमी के दस्त) और उस से होने वाली अन्य पीडायें शात होती हैं ॥३९॥

द्वितीय शुण्ठीपुटपाक आमवात पर—

शुण्ठीकल्कं विनिक्षिप्य रसैरेरण्डमूलजैः।
विपचेत् पुटपाकेन तद्रसः क्षौद्रसंयुतः ॥४०॥
आमवातसमुद्भूतां पीडां जयति दुस्तराम्।

एरण्ड मूलत्वक् के रस में सोंठ के चूर्ण का गोला बनाकर उसे पुटपाक विधान से पाक करे और पुन यथाविधि उस से प्राप्त स्वरस में शहद मिलाकर पान करने से आमवात (गंठिया) और उससे होने वाले शोथ और शूल नष्ट होते हैं। (तीव्र पीडा को शात करने के लिये यह उत्तम योग है) ॥४०॥

वक्तव्य—सुश्रुत के गणपाठ में न्यग्रोधादिगण का पाठ है। उसमें बहुत द्रव्य हैं। कई आचार्य इसी का ग्रहण करते हैं और कई यह कहते हैं कि न्यग्रोधादिगण से न्यग्रोध (वट), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपर), प्लक्ष (पिलखन), वेतस (जलवेत) का ही ग्रहण करना चाहिये। परञ्च सुश्रुतोक्तगण अधिक लाभप्रद है। इसका प्रयोग—जब पुराणातिसार में अधिक निर्बलता, हृद्दौर्बल्य और कोष्ठवात प्रकोप हो तब विशेष उपयोगी होता है। इसका यह फल दृष्टप्रत्यय है।

दाडिमादि पुटपाक सर्वातिसार पर—

पुटपाकेन विपचेत् सुपक्वं दाडिमीफलम् ।
तद्रसो मधुसंयुक्तः सर्वातीसारनाशनः ॥३१॥

ऊपर कहा गया है कि इस कार्य के लिये फलों का भी ग्रहण होता है। यथा—परिपक्व अनार को लेकर पुटपाक विधि से स्वरस प्राप्त करे और मधु मिला कर पीने से सब अतिसार दूर होते हैं। इसका प्रयोग रोगी को अत्यधिक अरुचि होने पर विशेष लाभ करता है ॥३१॥

बीजपूरादि पुटपाक—

बीजपूराम्रजम्बूनां पल्लवानि जटाः पृथक् ॥३२॥
विपचेत् पुटपाकेन क्षौद्रयुक्तश्च तद्रसः ।
छर्दिं निवारयेद् घोरां सर्वदोषसमुद्भवाम् ॥३३॥

बिजोरानिम्बू, आम और जामुन के गीले पत्तों और मूलत्वक् को कूट पीस कर गोला बना लेवे और पूर्वोक्त विधि से पका कर रस निचोड लेवे। इस रस को मधु मिला कर पिलाने से तीनों दोषों से उत्पन्न और घोर छर्दि (वमन, कय, उल्टी) को दूर करता है ॥३३॥

वासक पुटपाक रक्तपित्त कास पर—

पिष्टानां वृषपत्राणां पुटपाकरसो हिमः ।
मधुयुक्तो जयेद् रक्तपित्तकासज्वरक्षयान् ॥३४॥

अडूसा के आर्द्र पत्रों को पीस कर गोला बनावे और पुटपाक विधान से पाक करके रस निचोड लेवे। इस रस को शहद मिला कर पीने से रक्तपित्त (नाक से रुधिर गिरना), कास (खांसी), ज्वर और क्षयरोग दूर होता है ॥३४॥

कटकारी पुटपाक कासश्वास पर—

पचेत् क्षुद्रां सपञ्चाङ्गां पुटपाकेन तद्रसः ।
पिप्पलीचूर्णसंयुक्तः कासश्वासकफापहः ॥३५॥

छोटी कटकारी का पञ्चांग (मूल, पत्र, पुष्प, फल, काण्ड) लेकर कूट पीस कर पुटपाक द्वारा प्राप्त स्वरस में पिप्पली चूर्ण (४—८ रती तक) मिलाकर पीने से, कास, श्वास और कफ की प्रबलता नष्ट होती है ॥३५॥

वक्तव्य—इस योग में यदि १ रत्ती रससिन्दूर मिलाकर प्रयुक्त किया जावे तो यह कुत्ताखांसी, काली खासी के लिये अत्यन्त हितकर है ।

विभीतक पुटपाक—

विभीतकफलं किञ्चिद् घृतेनाभ्यज्य लेपयेत् ।
गोधूमपिष्टेनाङ्गारैर्विपचेत् पुटपाकवत् ॥३६॥
ततः पक्वं समुद्धृत्य त्वचं तस्य मुखे क्षिपेत् ।
कासश्वासप्रतिश्यायस्वरभङ्गान् जयेत्ततः ॥३७॥

बहेड़े के (आर्द्र) फल को घी से चुपड़ कर, उस पर गेहूं का आटा पानी में सानकर (२ अंगुल मोटा) चढ़ादे और पुटपाक की विधि से अंगारों पर उसे पकावे । पूर्ण पक्व होने पर उसकी (स्विन्न) त्वचा (छिलका) ग्रहण कर मुख में धारण करने रस चूसने) से कास, श्वास, प्रतिश्याय (जुकाम), स्वरभग (गले का बैठ जाना) आदि रोगों को शीघ्र हरण करता है ॥३७॥

शुण्ठीपुटपाक आमातिसार पर—

चूर्णं किंचिद् घृताभ्यक्तं शुण्ठ्या एरण्डजैर्दलैः ।
वेष्टितं पुटपाकेन विपचेद् मन्दवह्निना ॥३८॥
नत उद्धृत्य तच्चूर्णं ग्राह्यं प्रातः सितान्वितम् ।
तेन यान्ति शमं पीडा आमातीसारसम्भवाः ॥३९॥

सोंठ के चूर्ण को गोघृत से स्निग्ध करके गोला बनावे और उसपर एरण्ड के पत्तों को लपेट कर सूत्र से बांध दे । आटे या मिट्टी का लेप करके साधारण अग्नि पर (यह स्मरण रहे कि इसमें जलीयांश नहीं अत. इतनी ही ऊष्मा इसमें पहुंचानी है जिससे एरण्ड पत्रों का जल भाग शुण्ठी चूर्ण से मिल सके) पाक करके निकाल ले । पुन' उस परिपक्व शुण्ठी चूर्ण (६ माशा) को खांड (१ तोला) मिलाकर प्रातः (एकबार उष्णोदक से) भक्षण करे। इससे आमातिसार (बद हजमी के दस्त) और उस से होने वाली अन्य पीडायें शात होती हैं ॥३९॥

द्वितीय शुण्ठीपुटपाक आमवात पर—

शुण्ठीकल्कं विनिक्षिप्य रसैरेरण्डमूलजैः ।
विपचेत् पुटपाकेन तद्रसः क्षौद्रसंयुतः ॥४०॥
आमवातसमुद्भूतां पीडां जयति दुस्तराम् ।

एरण्ड मूलत्वक् के रस में सोंठ के चूर्ण का गोला बनाकर उसे पुटपाक विधान से पाक करे और पुन. यथाविधि उस से प्राप्त स्वरस में शहद मिलाकर पान करने से आमवात (गंठिया) और उससे होने वाले शोथ और शूल नष्ट होते हैं । (तीव्र पीडा को शात करने के लिये यह उत्तम योग है) ॥४०॥

सूरणपुटपाक ववासीर पर—

सौरणं कन्दमादाय पुटपाकेन पाचयेत् ॥४१॥
सतैललवणस्तस्य रसश्चार्शोविकारनुत्।

सूरण (जिमीकद) कन्द (यथामान) लेकर कूट पीस कर गोला बना उपरोक्त विधि से स्वरस प्राप्त करे और उस स्वरस में यथामान तिल तैल और सैन्धवलवण मिला कर सेवन करने से ववासीर (विगुणवात, अर्शाङ्कुरों की कठोरता) नष्ट होती है ॥४१॥

पुटपक्वमृगशृंगभस्म हृच्छूल पर—

शरावसपुटे दग्धं शृङ्गं हरिणजं पिबेत् ॥४२॥
गव्येन सर्पिषा पिष्टं हृच्छूलं नश्यति ध्रुवम्।

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर, संहितायां मध्यमखण्डे स्वरसादिकल्पना नाम प्रथमोऽध्याय.।

हिरन के सीग को टुकडे २ करके एक मिट्टी के प्याले में डाल दे और ऊपर से उसी तरह का दूसरा प्याला (शराव) उसके ऊपर देकर दोनों की सन्धि को गीली मिट्टी से वद करके ऊपर से कपडा लगादे। जव सन्धिलेप सूख जाये तव पृथ्वी में सवा हाथ गहरा गढा खोद कर उस गढ़े के आधे भाग को एरने उपलों से भर दे और उन उपलों पर शृग का सम्पुट और अग्नि रख कर गढ़े के अवशिष्ट भाग को उपलों से भर दे। अग्नि शात होने पर सम्पुट को फोडकर अन्दर से कृष्ण वर्ण के शृग के टुकड़ो को ग्रहण कर खरल में पीसकर १—४ रती की मात्रा से गोघृत (६ माशा) के साथ मिलाकर चाटे तो निश्चय ही हृच्छूल रोग नष्ट होता है ॥४२॥

वक्तव्य—यदि १० तोला मृगशृंगखण्ड हों तो १० सेर उपलों की अग्नि पर्य्याप्त है।

तन्त्रान्तर से हृच्छूल के लक्षण—

कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रसमूर्च्छित.।
हृदिस्थः कुरुते शूलमुच्छ्वासरोधकं परम्॥
स हृच्छूल इति ख्यातो रसमारुतसम्भवः॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायां शार्ङ्गधर-संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकायां भाषाटीकायां मध्यमखण्डे स्वरसादिकल्पना नाम प्रथमोऽध्याय ॥१॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

क्वाथ विधि—

पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णे द्रव्यपले क्षिपेत् ।
मृत्पात्रे क्वाथयेद् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम् ॥१॥
तज्जलं पाययेद्धीमान् कोष्णं मृद्वग्निसाधितम् ।

एक पल (४ तोला) क्षुण्ण (कुटे हुए) द्रव्य को १६ पल (६४ तो०,ऽ॥४ तोला) स्वच्छ जल के साथ मिट्टी के पात्र में डालकर हलकी आंच से पकावे । जब २ पल (८ तोला) जल शेष रहे, तब उस पात्र को उतार कर क्वथित द्रव्य को मसलकर वस्त्र द्वारा छान ले और कुछ गरम २ पिला देवे । यह एक मात्रा है ।

वक्तव्य—(१) पेय क्वाथ को मसलते और छानते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि क्वाथ बिलकुल ठंडा न हो जावे । क्योंकि रोगी को ईषदुष्ण पान कराना है । शृतशीत क्वाथ को दुबारा गरम करने के पक्ष में पूर्वाचार्य सहमत नहीं हैं । यथा—

तैलं घृतं च पानीयं कषायं व्यञ्जनादिकम् ।
शृतं शीतं पुनस्तप्तं तत्सर्वं विषवद्भवेत् ॥

(२) १ पल द्रव्य में १६ गुणा पानी डालना साधारण नियम है । विशेष अवस्थाओं में इस में परिवर्त्तन हो जाता है । यथा—

चतुर्गुणं मृदौ द्रव्ये, कठिनेऽष्टगुणं जलम् ।
अत्यर्थं कठिने देयं बुधै. षोडशिकं जलम् ॥

वानस्पतिक द्रव्य मृदु, मध्य और कठिन भेद से तीन प्रकार के हैं । अत ग्रन्थकार ने सब के लिये पृथक् २ जलमान निर्दिष्ट कर दिया है, जिससे द्रव्यान्तर्गत सारांश मानानुसार क्वथित करने से क्वाथ में आ जाता है । इसलिये सब द्रव्यों के लिये १६ ही गुणा पानी डालकर कदापि क्वाथ न करना चाहिये । अन्यथा गुण हानि होती है ।

(३) एक बार के पेय क्वाथार्थ, यह आवश्यक नहीं कि एक मात्रा में एक पल द्रव्य लिया जाये । ग्राह्य द्रव्य के मान का निर्णय चिकित्सक को द्रव्य का बलाबल

देखकर निश्चय करना उचित है। क्योंकि तीक्ष्ण-वीर्य्य-प्रभाव (पिप्पली, वचा, कुष्ठ आदि) और मृदु-वीर्य्य-प्रभाव (पर्णीचतुष्टय, शतपुष्पा, गोक्षुरादि) द्रव्य कदापि एक मात्रा में प्रयुक्त नहीं होंगे। परतु व्याधि और आवश्यकता के अनुसार क्वाथ के सात भेद पूर्वाचार्य्यों ने किये हैं। यथा—

पाचनो दीपनीयश्च शोधन. शमनस्तथा ।
तर्पण. क्लेदन. शोषी क्वाथः सप्तविधो मत' ॥

इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भी ऊपर का नियम पालन करना और रोगी की अवस्था, प्रकृति, स्वभाव, बलाबल और व्याधि को विचार कर ही द्रव्य मान का निर्णय करना सुखकर होता है।

(४) वैद्यवर शार्ङ्गधर ने मध्यम खण्ड के प्रथम अध्याय के आरम्भ में यह प्रतिज्ञा की है। यथा—'अथात स्वरस कल्क क्वाथश्च'। इस नियम के अनुसार स्वरस कथनानतर कल्क का वर्णन होना आवश्यक था। परतु उपरोक्त मर्य्यादा उल्लघन के कारण स्वाभाविक प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों ? इसका परिहार आचार्य्यों ने इस प्रकार किया है। यथा—

अथात्र स्वरसः क्वाथ कल्कश्च हिमफाण्टकौ ।

कई ऐसा कहते हैं कि शार्ङ्गधर के पाठ में इस प्रकार पाठ कर लेने से झगड़ा समाप्त हो जायगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि वाग्भट्ट भी—"रसः कल्कः शृत शीत फाण्टश्चेति प्रकल्पना। पञ्चधैव कषायाणा पूर्वं पूर्वं बलाधिका॥" उसी पूर्वोक्त नियम को मानते हैं। कई ऐसा कहते हैं कि स्वरस, कल्क और क्वाथ—इनको पद्यातिक्रम से यथोत्तर लघुप्रतिपादनार्थ ऐसा लिखा गया है। क्रमप्रतिपादनार्थ नहीं। क्रम वर्णन तो अनुक्रमणिका में हो चुका। अत स्वरसानन्तर क्वाथ वर्णन ही युक्तियुक्त है।

क्वाथ पर्य्याय—

शृतः क्वाथः कषायश्च निर्य्यूहः स निगद्यते ॥२॥

शृत, क्वाथ, कषाय और निर्य्यूह—यह चार पर्य्याय क्वाथ के कहे हैं ॥२॥

क्वाथपान का समय—

आहाररसपाके च संजाते द्विपलोन्मितम् ।
वृद्धवैद्योपदेशेन पिबेत्क्वाथं सुपाचितम् ॥३॥

उत्तम विधि से परिसाधित क्वाथ, पूर्वकाल के किये हुए भोजन के ठीक पच जाने पर, अनुभवी चिकित्सक की आज्ञानुसार २ पल (८ तोला तक) की मात्रा से पान करे ॥३॥

क्वाथ में प्रक्षेप परिमाण—

क्वाथे क्षिपेत् सितामंशैश्चतुर्थाष्टमषोडशैः ।
वातपित्तकफातङ्के विपरीतं मधु स्मृतम् ॥४॥

यदि क्वाथ वातरोग नाश करने के लिये देना हो तो उसमें खांड (क्वाथ की १ पेय मात्रा में) २ तोला, पित्तज रोग के लिये देना हो तो खाड १ तोला, यदि कफ रोग के लिये देना हो तो ६ माशा डाले। एवंविध यदि मधु डालना हो तो इसके विपरीत (उलटा) अर्थात् मधु पैत्तिक रोग में ६ माशा, वातरोग में १ तोला और कफज रोगों में २ तोला डालकर पान करे ॥४॥

क्वाथ में चूर्णित पदार्थों का परिमाण—

जीरकं गुग्गुलुं क्षारं लवणं च शिलाजतु ।
हिंगु त्रिकटुकं चैव क्वाथे शाणोन्मितं क्षिपेत् ॥५॥

जीरा (कृष्ण), शुद्ध गुग्गलु, यवक्षार, सैंधव, शुद्ध शिलाजीत, हिंगु (घृत-भृष्ट), त्रिकटु चूर्ण, (पिप्पली, मरिच, सोंठ) क्वाथ की १ पेय मात्रा में १ शाण (३ माशा) डाल कर पीवे ॥५॥

वक्तव्य—वर्त्तमान में प्रक्षेप की यह मात्रा अत्यधिक और हानिकारक होगी। हिंगु की ३ माशा की मात्रा संकट उत्पन्न कर देगी। अत. प्रत्येक द्रव्य १–८ रत्ती तक आवश्यकतानुसार प्रयोग करे।

क्वाथ में द्रवपदार्थों का प्रक्षेप—

क्षीर घृतं गुडं तैलं मूत्रं चान्यद्द्रवं तथा ।
कल्कं चूर्णादिकं क्वाथे निक्षिपेत् कर्षसंमितम् ॥६॥

गोदूध, गोघृत, गुड (पुराना), तिलतैल (अथवा एरण्डतैल, बादाम रोगन, या नारायणादि तैल), गोमूत्र एवं अन्य द्रव पदार्थ, क्वाथ की १ पेयमात्रा में १ तोला डालकर पान करे ॥६॥

क्वाथपात्र के ढकने का निषेध—

अपिधानमुखे पात्रे जलं दुर्जरतां व्रजेत् ।
तस्मादावरणं त्यक्त्वा क्वाथादीनां विनिश्चयः ॥७॥

क्वाथ कथित होते समय पात्र के मुखपर ढकना देने से जल (क्वाथ) दुर्जर (भारी) हो जाता है। अत. क्वाथ को इस दोष से बचाने के लिये क्वाथादि का पाक आवरण रहित पात्र में सिद्ध करे। यही (पूर्वाचार्यो का) निश्चय है ॥७॥

वक्तव्य—इसमें तो सन्देह नही कि क्वथन काल में जल के वाष्पीभवन द्वारा जलीय अनेक प्रकार के क्षार और गुरुत्व नष्ट हो जाते हैं। परंतु इस में भी संदेह नही कि खुले मुखवाले पात्र से क्वाथ्य द्रव्य का गन्धाश और तैलांश वाष्पों द्वारा क्वाथ से निकल जायेगा। अत यह दोनों गुण क्वाथ में रखने के लिये यदि परि-स्रुत जल से क्वाथ बनाया जाये तो पात्रमुख को ढकने में दोष नहीं।

गुडूच्यादि क्वाथ समस्त ज्वरों पर—

गुडूचीधान्यकारिष्टरक्तचन्दनपद्मकैः ।
गुडूच्यादिगणक्वाथः सर्वज्वरहरः स्मृतः ॥८॥

दीपनो दाहहृल्लासतृष्णाच्छर्द्यरुचीर्जयेत् ।

गिलोय, धान्यक (धनिया), निम्बत्वक्, रक्तचन्दन, पद्माख । प्रत्येक द्रव्य (६-६ माशा) कूटकर क्वाथ विधि से काढा बनाकर पीवे । यह गुडूच्यादिगण का क्वाथ समस्त ज्वरों को नष्ट करता है, अग्नि को प्रज्वलित करता है, दाह (जलन), हृल्लास (जी मिचलाना), प्यास, वमन और अन्न की अरुचि को नष्ट करता है ।।८।।

नागरादिक्वाथ समस्त ज्वरों पर—

नागरं देवकाष्ठं च धान्याकं बृहतीद्वयम् ।।९।।
दद्यात्पाचनकं पूर्वं ज्वरितानां ज्वरापहम् ।

सोंठ, देवदारु, धनिया, छोटी कटकारी, बडी कटकारी (भटकटैया) प्रत्येक (६-६माशा) द्रव्य को क्वाथ विधि से पका कर ज्वर के आरम्भ होते ही पान करे । इससे दोष (ज्वर को उत्पन्न करने वाला आमदोष) पाचन होकर ज्वर रोगियों का ज्वर नष्ट होता है ।।९।।

वक्तव्य—नि सन्देह ज्वर पकाने और ज्वर की बढोतरी को रोकने के लिये यह रामबाण क्वाथ है । ज्वर की तरुणावस्था में पाचनार्थ इसका प्रयोग किया जाता है ।

क्षुद्रादिक्वाथ आठों ज्वरों पर—

क्षुद्रा किराततिक्तं च शुण्ठी छिन्ना च पौष्करम् ।।१०।।
कषाय एषां शमयेत् पीतश्चाष्टविधं ज्वरम् ।

छोटी कटकारी (मूलत्वक्), चिरायता, सोंठ, गुडूची, पोहकरमूल—इन सब का क्वाथ बनाकर पीने से आठ प्रकार के ज्वर (वातज, पित्तज, कफज, द्वन्द्वज३, सन्निपातज, आगन्तुक) नष्ट होते हैं ।।१०।।

गुडूच्यादिक्वाथ —

गुडूचीपिप्पलीमूलनागरैः पाचनं स्मृतम् ।।११।।
दद्यात् वातज्वरे पूर्णलिङ्गे सप्तमवासरे ।

गुडूची, पिप्पलामूल, सोंठ—इन तीनों औषधों का क्वाथ बनाकर, पूर्ण लक्षणों वाले वातज्वर में सातवें दिन पिलावे । इससे वातज्वर शीघ्र नष्ट होता है ।।११।।

शालपर्ण्यादि काढा—

शालिपर्णी बला द्राक्षा गुडूची सारिवा तथा ।।१२।।
आसां क्वाथं पिबेत् कोष्णं तीव्रवातज्वरच्छिदम् ।

शालिपर्णी खरेटी, रास्ना, गुडूची, सारिवा (अनन्तमूल)—इन पाञ्च औषधों का काढा बनाकर मन्दोष्ण पीने से प्रबल वातज्वर नष्ट होता है ।।१२।।

काश्मर्यादिक्वाथ वातज्वर पर—

काश्मरीसारिवाद्राक्षात्रायमाणामृताभवः ।।१३।।
कषायः सगुडः पीतो वातज्वरविनाशनः ।

काश्मरी (गम्भारी), सारिवा (अनन्तमूल), रास्ना, त्रायमाण (नागदमनी), गुडूची—इन पांचों द्रव्यों का क्वाथ बनाकर गुड़ मिलाकर पीने से वातज्वर नष्ट होता है ॥१३॥

कट्फलादि पाचन पित्तज्वर पर—

कट्फलेन्द्रयवापाठातिक्तामुस्तैः शृतं जलम् ॥१४॥
पाचनं दशमेऽह्नि स्यात् तीव्रे पित्तज्वरे नृणाम्।

जायफल, इन्द्रजौं, पाठा, कौड, नागरमोथा—इन पाच औषधों के (मिलित २॥ तोला) द्रव्यों को ग्रहण करके यथाविधि सिद्ध क्वाथ, पित्तज्वर वाले को दशवें दिन पिलाने से तीव्रज्वर नष्ट होता है ॥१४॥

पर्पटादि काढा पित्तज्वर पर—

पर्पटो वासकस्तिक्ता कैरातो धन्वयासकः ॥१५॥
प्रियङ्गुश्च कृतः क्वाथ एषां शर्करया युतः।
पिपासादाहपित्तास्रयुतं पित्तज्वरं जयेत् ॥१६॥

पित्तपापड़ा (शाहतरा), अडूसे की जड का छिलका, कौड, चिरायता, धमासा, प्रियंगु—इन सब का यथाविधि क्वाथ बनाकर शर्करा (खांड) मिलाकर पीवे। इससे प्यास, दाह, रक्तपित्त युक्त पित्तज्वर नष्ट होता है ॥१५-१६॥

अन्य द्राक्षादिक्वाथ पित्तज्वर पर—

द्राक्षा हरीतकी मुस्तं कटुकी कृतमालकः।
पर्पटश्च कृतः क्वाथ एषां पित्तज्वरापहः ॥१७॥
तृष्णमूर्च्छादाहपित्तासृक्शमनो भेदनः स्मृतः।

मुनक्का, हरीतकीत्वक्, नागरमोथा, कौड, कृतमालक (अमलतास की फली का गूदा) और पित्तपापडा—इन सब का क्वाथ पीने से पित्तज्वर नष्ट होता है। तथा तृष्णा, मूर्च्छा, दाह, रक्तपित्त—यह सब नष्ट होते हैं और यह भेदन होने के कारण कोष्ठ से दूषित मल को बाहर निकालता है ॥१७॥

कफज्वरे—बीजपूरादिपाचनम्—

बीजपूरशिवापथ्यानागरग्रन्थिकैः शृतम् ॥१८॥
सक्षारं पाचनं श्लेष्मज्वरे द्वादशवासरे।

बिजोरे निम्बु की जड़ का छिलका, हरड छोटी, हरड़ बड़ी, सोंठ, पिप्पलामूल—इनका यथाविधि निर्मित क्वाथ यवक्षार (१ मासा) मिलाकर पीने से ज्वरोत्पादक अपक्व दोषों को पचाता है और कफज्वर वाले को १२वें दिन पिलाने से ज्वर नष्ट होता है ॥१८॥

भूनिम्बादिक्वाथ —

भूनिम्बनिम्बपिप्पल्यः शठी शुण्ठी शतावरी ॥१९॥

गुडूची बृहती चेति क्काथो हन्यात् कफज्वरम् ।

चिरायता, निम्बत्वक्, पिप्पली, कचूर, सोंठ, शतावरी, गिलोय, बड़ी कंटकारी का मूल—इन का क्काथ पीने से कफज्वर नष्ट होता है ॥१९॥

पटोलादिक्काथ —

पटोलत्रिफलातिक्ताशठीवासामृताभवः ॥२०॥

क्काथो मधुयुतः पीतो हन्यात् कफकृतं ज्वरम् ।

पटोलपत्र, हरड, बहेड़ा, आमला, कौड, कचूर, वासा मूलत्वक्, गुडूची—इन का क्काथ मधु मिलाकर पीने से कफज्वर नष्ट होता है ॥२०॥

वातपित्तज्वरे—पञ्चभद्रक्काथ —

पर्पटाब्दामृताविश्वकैरातैः साधितं जलम् ॥२१॥

पञ्चभद्रमिदं ज्ञेयं वातपित्तज्वरापहम् ।

पित्तपापडा नागरमोथा, गिलोय सोंठ, चिरायता—इन से सिद्ध यह पचभद्र नामवाला क्काथ (पान करने से) वातपित्त ज्वर को नष्ट करता है ॥२१॥

सूचना—क्काथ चिकित्सा मे प्रेम रखने वाले अनुभवी चिकित्सक बाहुल्य से इसको प्रयोग करते हैं ।

लघुक्षुद्रादिक्काथ —

क्षुद्राशुण्ठीगुडूचीनां कषायः पौष्करस्य च ॥२२॥

कफवाताधिके पेयो ज्वरे वापि त्रिदोषजे ।

कासश्वासारुचिहरे पार्श्वशूलविनाशनः ॥२३॥

लघुकटकारी (मूलत्वक्) शुण्ठी, गुडूची, पोहकरमूल। प्रत्येक द्रव्य समभाग लेकर क्काथ विधि से क्काथ बनाकर पीने से वातश्लेष्मिक ज्वर, सन्निपात ज्वर तथा खासी, दमा, अरुचि और पार्श्वशूल (निमोनिया) को दूर करता है ॥२२-२३॥

उपरोक्त रोगों के लिये यह क्काथ अत्यन्त हितकर है ।

वातकफज्वरे आरग्वधादिक्काथ —

आरग्वधकणामूलमुस्तातिक्ताभयाकृतः ।

क्काथः शमयति क्षिप्रं ज्वरं वातकफोद्भवम् ॥२४॥

आमशूलप्रशमनो भेदी दीपनपाचनः ।

अमलतास की फली का गूदा, पीपरामूल, नागरमोथा, कटुकी, हरड—इन सब का यथाविधि परिसाधित क्काथ पान करने से शीघ्र ही वातकफात्मक ज्वर शात होता है। एव आमज शूल को नष्ट करता है। अग्नि को दीपन करता है। मल भेदक होने से विड्विबन्ध को नष्ट करता है तथा पाचन होता है ॥२४॥

पित्तश्लेष्म ज्वरेऽमृताष्टकक्वाथ —

अमृतारिष्टकटुकामुस्तेन्द्रयवनागरैः ॥२५॥
पटोलचन्दनाभ्यां च पिप्पलीचूर्णयुक्शृतम् ।
अमृताष्टकमेतच्च पित्तश्लेष्मज्वरापहम् ॥२६॥
छर्द्यरोचकहृल्लासदाहतृष्णानिवारणम् ।

गिलोय, नीम की छाल, कटुकी, नागरमोथा, इन्द्रयव, सोंठ, पटोल पत्र, रक्त चन्दन। अमृताष्टक गण की इन सब औषधों को कूट पीसकर क्वाथ विधि से प्राप्त क्वाथ को पिप्पली चूर्ण युक्त पान करने से पित्तश्लेष्मज्वर, वमन, अरुचि, जी मिचलाना, जलन और प्यास—यह सब रोग दूर होते हैं ॥२५—२६॥

पटोलादिक्वाथ —

पटोलं चन्दनं मूर्वातिक्तापाठामृतागणः ।
पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दिदाहकण्डूविषापहः ॥२७॥

पटोलपत्र, रक्तचन्दन, मूर्वा (इसके स्थान पर प्राय मरोडफली ली जाती है, परंतु शास्त्रीय मूर्वा—मरोड फली नही है। मूर्वा-मधुरसा-मरोडफली में मधुर रस नही है। मूर्वा लम्बे २ पत्तों वाली वनस्पति है, जो इसी नाम से प्राप्त होती है) कटुकी, पाठा (जलजमनी), गुडूची—इस पटोलादिगण का क्वाथ पीने से पित्त-श्लेष्मज ज्वर, वमन, दाह, खुजली और विषजनित बाधा दूर होती है ॥२७॥

कण्टकार्यादि पाचन—

कण्टकारीद्वयं शुण्ठी धान्यकं सुरदारु च ॥२८॥
एभिः शृतं पाचनं स्यात् सर्वज्वरविनाशनम् ।

लघुकंटकारी, बडी कटेरी, सोंठ, धनियां, देवदारु (यह भी बाजार में असली नही मिलता। इसके स्थान पर दयार लकड़ी का बुरादा दे देते हैं। परतु देवदारु दयार के उत्पत्ति स्थान से ६००० फुट की ऊचाई पर उत्पन्न होता है। देवदारु की लकडी दयार की अपेक्षा अधिक कठोर और सुगंधित होती है। जिन पर्वतों पर यह होता है वहां इसे केवल देवाज्ञा और देवकार्यार्थ काटने का नियम है। अन्यथा काटने वाले को पञ्चायत से दण्डित होना पडता है)—इन सबका यथाविधि बनाया हुआ क्वाथ सब तरह के ज्वरों को पकाता और नष्ट करता है ॥२८॥

वातश्लेष्मिकज्वरे दशमूलादिक्वाथ —

शालिपर्णीपृष्ठिपर्णीबृहतीद्वयगोक्षुरैः ॥२९॥
बिल्वाग्निमन्थश्योनाककाश्मरीपाटलायुतैः ।
दशमूलमिति ख्यातं क्वथितं तज्जलं पिबेत् ॥३०॥
पिप्पलीचूर्णसंयुक्तं वातश्लेष्मज्वरापहम् ।

सन्निपातज्वरहरं सूतिकादोषनाशनम् ॥३१॥
शोषशैत्यभ्रमस्वेदकासश्वासविकारनुत् ।
हृत्कण्ठग्रहपार्श्वार्तितन्द्रामस्तकशूलहृत् ॥३२॥

शालपर्णी, पृष्ठपर्णी (पिठवन), छोटी कटेरी, वडी कटेरी, गोखरू, बिल्वत्वक्, अरनीत्वक्, अरलुत्वक्, गम्भारीत्वक्, पाढलत्वक्—इस समुदाय को दशमूल कहते हैं। कुट्टित दशमूल (२ तोला)। यथाविधि (१६ गुणा जल डालकर चतुर्थांशावशिष्ट) परिसाधित क्वाथ पिप्पली चूर्ण डालकर पीने से वातकफोद्भव ज्वर, सन्निपातज ज्वर (तीनों दोषों का युगपत् प्रकुपित होना), सूतिकारोग (प्रसूता के समय होने वाले वातश्लेष्मजनित रोग), शोष (मुखशोष), शैत्य (शरीर का शीतल होना, यह भी सन्निपातिक है), भ्रम (वास्तविक ज्ञान का नाश, इन्द्रिय दौर्बल्य), स्वेद (शीतलस्वेद-यह सन्निपात के रोगियों को मरणासन्न अवस्था में आता है), खासी, दमा, हृत्प्रकम्प (हृद्दौर्बल्य), ग्रह (अगों का जकडना), पार्श्वार्ति (निमोनिया), तन्द्रा (अर्धनिद्रिता) और शिर पीडा नष्ट होती है ॥२६—३२॥

त्रिदोषजज्वरे अभयादिक्काथ —

अभयामुस्तधान्याकरक्तचन्दनपद्मकैः ।
वासकेन्द्रयवोशीरगुडूचीकृतमालकैः ॥३३॥
पाठानागरतिक्ताभिः पिप्पलीचूर्णयुक्शृतम् ।
पिबेत् त्रिदोषज्वरजित् पिपासादाहकासनुत् ॥३४॥
प्रलापश्वासतन्द्राघ्नं दीपनं पाचनं परम् ।
विण्मूत्रानिलविष्टम्भवमिशोषारुचिच्छिदम् ॥३५॥

हरडत्वक्, नागरमोथा, धनिया, रक्तचन्दन, पद्माख (इस द्रव्य के स्थान पर भी वाजार में 'पज्जा' वृक्ष के डण्डे मिलते हैं। 'पज्जे' और 'पद्माख' में केवल त्वक् के ऊपर वाली झिल्ली की समानता है। इसी लिये व्यवहार हो रहा है। वस्तुत पद्माख और पज्जा में वडा अन्तर है। पद्माख के अन्दर का काष्ठ भाग मृदु, गधयुक्त और हलका रग लिये हुए रक्त कमल का सा होता है। पज्जे का अन्तरीय काष्ठ रूक्ष, कठोर और श्वेताभ होता है), वासामूल, इन्द्र जौं, खस, गुडूची, अमलतास की फली का गूदा, पाठा, सोंठ, कुटकी—इनका यथाविधि परिसाधित क्वाथ पिप्पली चूर्ण का प्रक्षेप देकर पीने से त्रिदोषज ज्वर, प्यास, दाह, खासी, प्रलाप (असम्बद्ध भाषण), दमा, तन्द्रा इत्यादि सब रोग दूर होते हैं और यह काढ़ा दीपन (अग्नि को प्रदीप्त करने वाला), पाचन (अपक्व दोषों को पचाने वाला) है। एव मल, मूत्र, वायु, के विष्टम्भ (अवरोध) को नष्ट करता है तथा वमन, शोष अरुचि—इनको भी दूर करता है ॥३३—३५॥

अष्टादशाङ्गक्वाथ —

किरातकटुकीमुस्ताधान्येन्द्रयवनागरैः ।
दशमूलमहादारुगजपिप्पलिकायुतैः ॥३६॥
कृतः कषायः पार्श्वार्तिसन्निपातज्वरं जयेत् ।
कासश्वासवमीहिक्कातन्द्राहृद्ग्रहनाशनः ॥३७॥

चिरायता, कुटकी, नागरमोथा, धनियां, इन्द्रजौं, सोंठ, दशमूल, (लघु पंचमूल और बृहत्पञ्चमूल) देवदारु, गजपीपल—इन १८ द्रव्यों से निर्मित अष्टादशाङ्ग क्वाथ्य का यथाविधि परिसाधित क्वाथ ग्रहण करके पान करने से पार्श्वपीडा, सन्निपात ज्वर, कास, श्वास, वमन, हिचकी, तन्द्रा, हृद्ग्रह (हृदय का जकडना) आदि आदि सब रोग दूर होते हैं ॥३६—३७॥

कास श्वासरोगे-यवान्यादिक्वाथ —

यवानी पिप्पली वासा तथा वत्सकवल्कलः ।
एषां क्वाथं पिबेत् कासे स्वासे च कफजे ज्वरे ॥३८॥

अजवायन, पीपल, अडूसे के मूल का छिलका, कूडे की छाल यथामान ग्रहण करे। क्वाथ विधि से क्वाथ बना कर पीने से खासी, दमा और कफ से होने वाला ज्वर टूटता है ॥३८॥

कट्फलादिक्वाथ—

कट्फलाम्बुदभार्ङ्गीभिर्धान्यरोहिषपर्पटैः ।
वचाहरीतकीशृंगीदेवदारुमहौषधैः ॥३९॥
क्वाथः कासं ज्वरं हन्ति श्वासश्लेष्मगलग्रहान् ।

कायफल, नागरमोथा, भाडगी, धनियां, रोहिष (तृण विशेष), पित्तपापडा, वच, हरड, काकडासिगी, देवदारु, सोंठ—इन सब का क्वाथ पीने से कास, ज्वर, श्वास, कफ और कण्ठ रोग नष्ट होते हैं ॥३९॥

जीर्णज्वरे गुडूच्यादिक्वाथ —

क्वाथो जीर्णज्वरं हन्ति गुडूच्याः पिप्पलीयुतः ॥४०॥
तथा पर्पटजः क्वाथः पित्तज्वरहरः परः ।
किं पुनर्यदि युज्येत चन्दनोदीच्यनागरैः ॥४१॥

गुडूची का क्वाथ बनाकर पिप्पली का चूर्ण प्रक्षेप में देकर पीने से जीर्णज्वर (जिस ज्वर को तीन सप्ताह आते हुए हो गये हों एवं जो ज्वर शरीर में मद वेग से रहता हो तथा प्लीहा वृद्धि एवं मंदाग्नि हो । यह जीर्णज्वर के लक्षण हैं) नष्ट होता है । केवल पित्त पापडा से बनाया हुआ क्वाथ पित्तज्वर को नष्ट करता है और यदि

पित्त पापडा के साथ रक्तचदन खस और सोंठ मिलाकर बनाए हुए क्राथ का पान किया जाये तो पित्तज्वर भाग जाता है। इसमें कहना (आश्चर्य) ही क्या है ॥४१॥

अथ निदिग्धिकादिक्काथ —

निदिग्धिकामृताशुण्ठीकषायं पाययेद्भिषक् ।
पिप्पलीचूर्णसंयुक्तं श्वासकासार्दितापहम् ॥४२॥
पीनसारुचिवैस्वर्यशूलाजीर्णज्वरच्छिदम् ।

छोटीकटेरी, गिलोय, सोंठ—इन तीनों का यथाविधि परिसाधित क्वाथ पिप्पली चूर्ण युक्त पीने से श्वास, कास, अर्दित (लकवा), पीनस (पुराना जुकाम), अरुचि, स्वरभग, शूल और जीर्णज्वर आदि रोग नष्ट होते हैं ॥४२॥

प्रसूतिदोषे-देवदार्वादिक्काथ —

देवदारु वचा कुष्ठं पिप्पली विश्वभेषजम् ॥४३॥
कट्फलं मुस्तभूनिम्बतिक्तधान्या हरीतकी ।
गजकृष्णा च दुःस्पर्शा गोक्षुरं धन्वयासकम् ॥४४॥
बृहत्यतिविषा छिन्ना कर्कटी कृष्णजीरकम् ।
क्वाथमष्टावशेषं तु प्रसूतां पाययेत् स्त्रियम् ॥४५॥
शूलकासज्वरश्वासमूर्च्छाकम्पशिरोर्तिजित् ।

देवदारु, वच, कूठ, पिप्पली, सोंठ, कायफल, नागरमोथा, चिरायता, कुटकी, धनियां, हरीड, गजपीपल, कौंच की जड, गोखरू, धमासा, बडीकटेरी, अतीस, गिलोय, काकडासिंगी, कालाजीरा—यह सब द्रव्य समान भाग संग्रह करे और मिलित द्रव्य (२ तोला) क्काथ विधि से क्वथित, आठवा हिस्सा शेष रख कर प्रसूता स्त्री को (यदि वह रुग्णा हो तो) सेवन कराने से प्रसूतिजन्य शूल, खासी, ज्वर, दमा, वेहोशी, कापना और शिरोवेदना नष्ट होती है ॥४३—४५॥

शीतपूर्व विषमज्वरे—क्षुद्रादिक्काथ —

क्षुद्राधान्यकशुण्ठीभिर्गुडूचीमुस्तपद्मकैः ॥४६॥
रक्तचन्दनभूनिम्बपटोलवृषपौष्करैः ।
कटुकेन्द्रयवारिष्टभार्ङ्गीपर्पटकैः समैः ॥४७॥
क्वाथं प्रातर्निषेवेत सर्वशीतज्वरच्छिदम् ।

लघुकटकारी, धनिया, सोंठ, गिलोय, नागरमोथा, पद्माख, रक्तचन्दन, चिरायता, पढोलपत्र, अडूसे की छाल, पुष्करमूल, कुटकी, इन्द्रजौं, नीम की छाल, भाडगी और पित्तपापड़ा प्रत्येक सम—इन समस्त औपधों का क्काथ पीने से ठड लगकर चढने वाले समस्त ज्वर दूर होते हैं ॥४६—४७॥

वक्तव्य—मलेरिया के बुखारों को रोकने के लिये यह क्वाथ बडा काम करता है । इसको ज्वरकाल से प्रथम २—२ तोला की मात्रा से दिया जाता है । इसके प्रभाव से उसी दिन या दूसरे दिन ज्वर अवश्य रुक जाता है ।

विषमज्वरे–मुस्तकादिक्काथ —

मुस्तक्षुद्रामृताशुण्ठीधात्रीक्काथः समाक्षिकः ॥४८॥
पिप्पलीचूर्णसंयुक्तो विषमज्वरनाशनः ।

नागरमोथा, छोटी कटेरी, गिलोय, सोंठ, आमले–इन सबका यथाविधि परिसाधित क्वाथ पिप्पलीचूर्ण और मधु का प्रक्षेप देकर पीने से विषमज्वर नष्ट होता है ॥४८॥

वक्तव्य—यह प्रतिदिन आने वाले ज्वर में देना लाभदायक है ।

ऐकाहिकज्वरे पटोलादिक्काथ —

पटोलत्रिफलानिम्बद्राक्षाशम्याकवासकैः ॥४९॥
क्काथः सितामधुयुतो जयेदैकाहिकं ज्वरम् ।

पटोलपत्र, हरीड, बहेडा, आमला, नीम की छाल, मुनक्का, अमलतास की फलीका गूदा और वासापत्र—इनका क्वाथ मिशरी और शहद मिलाकर पीने से एकाहिक (नित्य आने वाले) ज्वरको नष्ट करता है ॥४९॥

सततादिज्वरे पटोलादिक्काथ —

पटोलेन्द्रयवादारुत्रिफलामुस्तगोस्तनैः ॥५०॥
मधुकामृतवासानां क्काथं क्षौद्रयुतं पिबेत् ।
संतते सतते चैव द्वितीयकतृतीयके ॥५१॥
ऐकाहिके वा विषमे दाहपूर्वे नवज्वरे ।

पटोलपत्र, इन्द्रजौ, देवदारु, हरीड़, बहेड़ा, आमला, नागरमोथा, मुनक्का, मुलेठी, गिलोय, वासापत्र—इन सब के यथाविधि साधित क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से संतत (अविसर्गीज्वर), सतत (दिनरात में दो बार चढने वाला ज्वर), द्वितीयक (दूसरे दिन आनेवाला ज्वर), तृतीयक (तीसरे दिन आनेवाला ज्वर), ऐकाहिक (प्रतिदिन आनेवाला ज्वर), विषमज्वर, दाहपूर्वकज्वर और नवज्वर आदि समस्त ज्वर शात होते हैं ॥५०–५१॥

स्तृतीयकज्वरे गुडूच्यादिक्काथ —

गुडूचीधान्यमुस्ताभिश्चन्दनोशीरनागरैः ॥५२॥
कृतं क्काथं पिबेत् क्षौद्रसितायुक्तं ज्वरातुरः ।
तृतीयज्वरनाशाय तृणादाहनिवारणम् ॥५३॥

गिलोय, धनिया, नागरमोथा, लालचंदन, खस, सोंठ—इन सबको यथामान लेकर जौ कूट करके क्वाथ विधि से क्वाथ बनाकर शहद और मिशरी का

प्रक्षेप देकर पान करने से तृतीयक ज्वर (तीसरे दिन चढने वाला) तथा प्यास और दाह (आदि उपद्रव) शांत होते हैं ॥५२—५३॥

चातुर्थिकज्वरे देवदार्वादिक्काथ —

देवदारुशिवावासाशालिपर्णीमहौषधैः ।
धात्रीयुतं शृतं शीतं दद्यान्मधुसितायुतम् ॥५४॥
चातुर्थिकज्वरे श्वासे कासे मन्दानले तथा ।

देवदारु, जंगीहरीड, वासामूलत्वक, शालपर्णी, सोंठ, आमले—इन उपरोक्त छ औषधों का यथाविधि बनाया हुआ काथ शहद और मिशरी मिलाकर पीने से चातुर्थिक ज्वर (चौथे दिन आनेवाला, चौथैइया बुखार), श्वास, कास और मंदाग्नि नष्ट होती है ॥५४॥

ज्वरातिसारे वृहद्गुडूच्यादिक्काथ —

गुडूचीधान्यकोशीरशुण्ठीबालकपर्पटैः ॥५५॥
बिल्वप्रतिविषापाठारक्तचन्दनवत्सकैः ।
किरातमुस्तेन्द्रयवैः क्वथितं शिशिरं पिवेत् ॥५६॥
सक्षौद्रं रक्तपित्तघ्नं ज्वरातीसारनाशनम् ।

गिलोय, धनिया, खस, सोंठ, नेत्रवाला, पित्तपापडा, बिल्वछाल, अतीस, पाठा, लालचंदन, कूडाछाल, चिरायता, नागरमोथा, इन्द्रजौं—इन उपरोक्त समस्त औषधों को कूटकर (मिलित २ तोला) काथ बनावे और क्वाथ को ठंडा करके मधु मिलाकर पान करे। इसके सेवन से रक्तपित्त (अधोमार्ग प्रवृत्त) और ज्वरातिसार नष्ट होते हैं ॥५५–५६॥

ज्वरातिसारे नागरादिक्काथ —

नागरं कुटजो मुस्तममृताऽतिविषा तथा ॥५७॥
एभिः कृतं पिबेत् क्वाथं ज्वरातीसारनाशनम् ।

सोंठ, कुटज (कूडा छाल), नागरमोथा, गिलोय, अतीस—इन सब द्रव्यों को कूटकर (मिलित २ तोला क्वाथ्य) यथाविधि पाक करे । अवशिष्ट पेय क्वाथ पान करने से ज्वरातिसार नष्ट होता है ॥५७॥

अथ आमशूलादौ—धान्यपञ्चकक्काथ —

धान्यबालकबिल्वाब्दनागरैः साधितं जलम् ॥५८॥
आमशूलहरं ग्राहि दीपन पाचनं परम् ।

धनिया, सुगंधवाला, बेलगिरी, नागरमोथा, सोंठ—इन ५ औषधों का काढा बनाकर पीने से आमशूल (आम और शूल अथवा—आम अपक्व रस दोषोद्भव शूल मरोड) नष्ट होता है। एव यह ग्राही (अत्यल्प) और दीपन पाचन है॥५८॥

वक्तव्य—ऊपर का काथ अनुभवी चिकित्सक प्राय. अधिक व्यवहार करते हैं। जब वातश्लैष्मिक प्रवाहिका या अतिसार के कारण शौच के समय अत्यधिक शूल (मरोड़ा) के साथ थोड़ा २ मलपात हो तब इसका प्रयोग आशु लाभप्रद होता है।

अथ धान्यकादिक्काथः—

धान्यनागरजः क्काथो दीपनः पाचनस्तथा ॥५९॥
एरण्डमूलयुक्तश्च जयेदामानिलव्यथाम्।

धनिया, सोंठ। (प्रत्येक १—१ तोला) यथाविधि परिसाधित काथ (पीने से) दीपन (जठराग्नि वर्धक) पाचन (अपक्व रस और दोषों को पचाने वाला) होता है और यदि इस (उपरोक्त क्वाथ) में एरण्ड मूलत्वक् (१ तोला) डालकर, इसका क्वाथ पिया जाये तब यह गंठिया की पीड़ा को शांत करता है ॥५९॥

अथ आमरक्तातिसारे वत्सकादिक्काथ —

वत्सकातिविषाबिल्वमुस्तबालकजः शृतः ॥६०॥
अतिसारं जयेत् सामं चिरजं रक्तशूलजित्।

कुडे की छाल, अतीस, बेलगिरी, नागर मोथा, सुगंधबाला। (मिलित क्वाथ्य २ तोला, जल अष्टगुण, अवशिष्ट चतुर्थांश) यथाविधि सिद्ध क्वाथ (पीने से) आमातिसार एवं शूल सहित रक्तातिसार को नष्ट करता है ॥६०॥

अथ कुटजाष्टकक्काथ —

कुटजातिविषापाठाधातकीलोध्रमुस्तकैः ॥६१॥
ह्रीवेरदाडिमयुतैः कृतः क्काथः समाक्षिकः।
पेयो मोचरसेनैव कुटजाष्टकसंज्ञकः ॥६२॥
अतिसारान् जयेद्दाहरक्तशूलामदुस्तरान्।

कुडे की छाल, अतीस, पाठा, धाय के फूल, पठानीलोध, नागरमोथा, सुगंधबाला, अनार की छाल, (कोई अनार दाना भी लेते हैं, मिलित क्वाथ्य २ तोला, जल १६ तोला, अवशिष्ट ४ तोला) यथाविधि क्वाथ बनाकर मोचरस (शाल्मली निर्यास) और मधु प्रक्षेप देकर पीने से रक्त, शूल और दाह सहित भयंकर अतिसारों को नष्ट करता है। इस योग का नाम कुटजाष्टक है ॥६१–६२॥

अथ ह्रीबेरादिक्काथ —

ह्रीबेरधातकीलोध्रपाठालज्जालुवत्सकैः ॥६३॥
धान्यकातिविषामुस्तागुडूचीबिल्वनागरैः।
कृतः कषायः शमयेदतिसारं चिरोत्थितम् ॥६४॥
अरोचकामशूलास्रज्वरघ्नः पाचनः स्मृतः।

सुगन्धवाला, धाय के फूल, पठानीलोध, पाठा, लाजवन्ती, कुटजत्वक्, धनिया, अतीस (कड़वी), नागरमोथा, गिलोय, वेलगिरी, सोंठ—इनका विधि से क्वाथ बनाकर पीने से चिरकाल से उत्पन्न अतिसार, अरुचि, आमशूल, रक्तातिसार, ज्वर—यह सब नष्ट होते हैं। यह पाचन (दोष पाचक) है ॥६३—६४॥

अथ बालातिसारे धातक्यादिक्वाथ —

धातकीविल्वलोध्राणि वालकं गजपिप्पली ॥६५॥
एभिः कृतं शृतं शीतं शिशुभ्यः क्षौद्रसंयुतम् ।
प्रदद्यादवलेहं वा सर्वातीसारशान्तये ॥६६॥

धाय के फूल, वेलगिरी, पठानीलोध, सुगन्धवाला, गजपीपल—इन सब के यथाविधि परिसाधित क्वाथ में शीतल होने पर शहद डालकर छोटी आयु के बच्चों को पिलावे अथवा उपरोक्त वस्तुओं के चूर्ण में मधु मिलाकर अवलेह (चटनी) बनाकर देवे। इस से बालकों के सब प्रकार के अतिसार नष्ट होते हैं ॥६५—६६॥

वक्तव्य—बालकों के तीन भेद हैं—१ क्षीराशी, २ क्षीरान्नाशी और ३ अन्नाशी। अत तीनों अवस्थाओं में भेषज मात्रा पृथक् २ होती है। युवा मनुष्यों के लिये जो औषध मात्रा है बच्चों के लिये उससे बहुत कम मात्रा व्यवहार में लाई जाती है। क्योंकि उनका वयोबल अत्यल्प होता है। इसका विस्तृत वर्णन पूर्व खण्ड के छठे अध्याय में देखें।

अथ वातग्रहण्या शालिपर्ण्यादिक्वाथ —

शालिपर्णीबलाविल्वधान्यशुण्ठीकृतः शृतः ॥६७॥
आध्मानशूलसहितां वातजां ग्रहणीं जयेत् ।

शालिपर्णी, खरेटी (की जड़), वेलगिरी, धनिया, सोंठ—इन पाचों औषधों का काढ़ा (पीने से) आध्मान (अफारा) और शूल (आमजशूल) सहित वातिक मग्रहणी रोग को दूर करता है ॥६७॥

अथ चातुर्भद्रादिक्वाथ —

गुडूच्यतिविषाशुण्ठीमुस्तैः क्वाथः कृतो जयेत् ॥६८॥
आमानुपक्वां ग्रहणीं ग्राही पाचनदीपनः ।

गिलोय, अतीस, सोंठ और नागरमोथा—इन चार औषधों का काढ़ा पीने से आमयुक्त ग्रहणी रोग दूर होता है। यह ग्राही (मल सग्राहक) है और दीपन है तथा पाचन करता है ॥६८॥

अथ सर्वातिसारे इन्द्रयवादिक्वाथ —

यवधान्यपटोलानां क्वाथः सक्षौद्रशर्करः ॥६९॥
योज्यः सर्वातिसारेषु विल्वाम्रास्थिभवस्तथा ।

इन्द्रजौं, धनियां और पटोल पत्र—इन तीनों का क्वाथ मिशरी और मधु मिलाकर पीने से सर्व अतिसार नष्ट होते हैं तथा बेलगिरी और आम की गुठली की मज्जा का क्वाथ मधु और मिशरी मिलाकर पीने से भी सब अतिसार दूर होते हैं ॥६९॥

अथ त्रिफलादिक्वाथ क्रिमिरोगे—

त्रिफला देवदारुश्च मुस्ता मूषकपर्णिका ॥७०॥
शिग्रुरेतैः कृतः क्वाथः पिप्पलीचूर्णसंयुतः ।
विडङ्गचूर्णयुक्तश्च कृमिघ्नः क्रिमिरोगहा ॥७१॥

हरीड़, बहेड़ा, आमला, देवदारु, नागरमोथा, मूसाकर्णी (चूहेकन्नी बूटी है) सोहांजने की छाल—इन समस्त औषधों के यथानियम साधित क्वाथ में पिप्पली चूर्ण और वायविडंग का चूर्ण प्रक्षेप देकर पीने से क्रिमि (अंतडियों में रहने वाले कीडे । यह अनेक तरह के होते हैं । विवरण के लिये देखो—पूर्वखंड अ० ७) और क्रिमि जनित रोग (ज्वर, वैवर्ण्य, शूल, कुष्ठ, हृद्रोग आदि आदि) नष्ट होते हैं ॥७०—७१॥

अथ कामलादौ त्रिफलादिक्वाथ.—

फलत्रिकामृतातिक्तानिम्बकैरातवासकैः ।
जयेन्मधुयुतः क्वाथः कामलां पाण्डुतां तथा ॥७२॥

हरड़, बहेडा, आमला, गिलोय, कुटकी, नीमकी छाल, चिरायता, अडूसे के पत्ते—इन सात औषधों के विधिवत् निर्मित क्वाथ में मधु डालकर (पीने से) कामला और पाण्डुरोग नष्ट होते हैं ॥७२॥

अथ पुनर्नवादिक्वाथ —

पुनर्नवाऽभयानिम्बदार्वीतिक्तापटोलकैः ।
गुडूचीनागरयुतैः क्वाथो गोमूत्रसंयुतः ॥७३॥
पाण्डुकासोदरश्वासशूलसर्वाङ्गशोथहा ।

पुनर्नवा (इटसिट मूल), हरड, नीमकी छाल, दारुहलदी (त्वक्), कुटकी, पडोलपत्र, गिलोय, सोंठ—इन आठ औषधों के यथाविधि परिसाधित क्वाथ में गोमूत्र (१ तोला) मिला कर पीवे । इससे पाण्डुरोग, खासी, उदररोग, श्वास, शूल और सर्वाङ्गीय शोथ (सूजन) दूर होती है ॥७३॥

अथ रक्तपित्तादौ वासादिक्वाथ —

वासाद्राक्षाऽभयाक्वाथः पीतः सक्षौद्रशर्करः ॥७४॥
निहन्ति रक्तपित्तार्तिश्वासकासान् सुदारुणान् ।

अडूसे के पत्र, मुनक्का, हरड—इन तीनों औषधों का काढा शहद और

शर्करा डालकर पीने से भयकर रक्तपित्त (ऊर्ध्वमार्ग प्रवृत्त), श्वास और कास—इनको नष्ट करता है ॥७४॥

अथान्यो वासाक्वाथ —

रक्तपित्तं क्षयं कासं श्लेष्मपित्तज्वरं तथा ॥७५॥
केवलो वासकक्वाथः पीतः क्षौद्रेण नाशयेत् ।

केवल अडूसे का क्वाथ मधु मिलाकर पीने से रक्त पित्त, क्षय, कास और कफपित्त से होने वाले ज्वर को नष्ट करता है ॥७५॥

वक्तव्य—इस योग में क्वाथार्थ वासा का पञ्चाग लिया जाता है । अभाव में मूलत्वक् या पत्र का भी ग्रहण होता है । शुष्कवासा उपयुक्त नहीं होती । क्वाथ्य एक मात्रार्थ २ तोला लेना चाहिये ।

कासे योगद्वयमाह—

वासाक्षुद्रामृताक्वाथः क्षौद्रेण ज्वरकासहा ॥७६॥
कासघ्नः पिप्पलीचूर्णयुक्तः क्षुद्राभृतस्तथा ।

अडूसा (पत्र), छोटी कटकारी की जड की छाल, गिलोय—इन तीनों का यथाविधि सिद्ध क्वाथ मधु मिला कर (पीने से) ज्वर और खासी दूर होती है । एव—लघु कटकारी की जड़ की छाल (२ तोला, पानी १६ तोले, अवशिष्ट ४ तोला) यथाविधि बनाया हुआ क्वाथ पिप्पली चूर्ण (और मधु) मिला कर पीने से खासी को दूर करता है ॥७६॥

वक्तव्य—यह क्वाथ श्लेष्मप्रधान कास में बहुत लाभ करता है । पतले और लेसदार कफ को शुद्ध करके सुखाता है । इसके साथ १ रत्ती की मात्रा से रस सिन्दूर प्रयुक्त करने से यह वातिक कास और काली खासी में भी लाभ पहुचाता है ।

अथान्यो क्षुद्रादिक्वाथ —

क्षुद्राकुलित्थवासाभिर्नागरेण च साधितः ॥७७॥
क्वाथः पौष्करचूर्णाढ्यः श्वासकासौ निवारयेत् ।

छोटी कटेरी, कुलथी (क्षुद्रान्न विशेष), अडूसा, सोंठ—यह सब यथामान ग्रहण करके यथाविधि क्वाथ बना लेवे। इस क्वाथ में पोहकर मूल का चूर्ण ४–८ रत्ती) प्रक्षेप में देकर पान करने से दमा और खासी दूर होती है ॥७७॥

वक्तव्य—यह क्वाथ श्लेष्मप्रधान श्वास कास में दिया जाना चाहिये । शुष्क श्लेष्मा में इसका प्रयोग श्रेयस्कर नहीं और शुष्क कफ वाले श्वासवेग पर १ तोला गोघृत डालकर देने से लाभ होता है ।

अथ हिक्कायां—रेणुकाक्वाथ —

रेणुकापिप्पलीक्वाथो हिङ्गुकल्केन संयुतः ।
पानादेव हि पञ्चापि हिक्का नाशयति क्षणात् ॥७८॥

रेणुका और काली पीपल—इन दोनों को कूट कर (१—२ तोला तक क्वाथ्य, मिला हुआ) क्वाथ बना ले और हींग (घृतभृष्ट २—४ रती तक) कल्क (चूर्ण) प्रक्षेप में देकर पान करने से पांचों प्रकार की हिचकी (अन्नजा १, यमला २, क्षुद्रा ३, गम्भीरिका ४, महती ५) तत्क्षण नष्ट होती है ॥७८॥

वक्तव्य—यह योग आशु लाभप्रद है। बहुत बार अनुभव में आचुका है। भयंकर हिक्का भी इसके प्रयोग से थोड़ी देर के लिये तो अवश्य रुकजाती है।

अथ छर्द्यां योगत्रयमाह—

बिल्वत्वचो गुडूच्या वा क्वाथः क्षौद्रेण संयुतः ॥७६॥
जयेत् त्रिदोषजां छर्दिं पर्पटः पित्तजां तथा।

यह तीन योग छर्दि (कय) निवारणार्थ हैं—१—बेल की छाल—यथाविधि परिसाधित क्वाथ। २—गुडूची—यथाविधि परिसाधित क्वाथ। ३—पित्तपापडा—यथाविधि परिसाधित क्वाथ। मधु मिलाकर पान करने से तीनों दोषों से उत्पन्न वमन रोग को शान्त करते हैं। इन में से तीसरा योग केवल पित्तज कय को दूर करता है ॥७६॥

अथ गृध्रस्यां—हिंग्वादिक्वाथ—

हिङ्गुपुष्करचूर्णाढ्यं दशमूलश्रृतं जयेत् ॥८०॥
गृध्रसीं केवलः क्वाथः शेफालीपत्रजस्तथा।

दशमूल (लघुपञ्चमूल और बृहत्पञ्चमूल) के यथामान और विधिसहित बनाये हुए क्वाथ में भूनी हुई हींग और पोहकरमूल का चूर्ण डालकर पिलाने से गृध्रसी (रीगनवाय—यह वातरोग है। स्फिक् प्रदेश से उठकर जङ्घा के बहिःपार्श्व से होकर इसकी दर्द पाओं की छोटी अंगुली तक पहुंचती है) शात होती है। एवं केवल शेफालीपत्र (काले फूल वाला सम्हालू) के क्वाथ में उपरोक्त प्रक्षेप देकर पीने से भी गृध्रसी शांत होती है ॥८०॥

अथ सप्तधातुगतवाते—रास्नापञ्चकादिक्वाथ—

रास्नामृतामहादारुनागरैरण्डजैः श्रृतम् ॥८१॥
सप्तधातुगते वाते सामे सर्वाङ्गजे पिबेत्।

रास्ना, गिलोय, देवदारु, सोंठ, एरण्डमूल—इन पाच द्रव्यों से बनाया हुआ क्वाथ पीने से सप्तधातुगत वात (इसके विस्तार के लिये पूर्वखंड ७म अध्याय देखो) गंठिया तथा सम्पूर्ण शरीर में होनेवाली वात की पीडायें शान्त होती हैं ॥८१॥

अथ जङ्घावातादौ—रास्नासप्तकादिक्वाथ—

रास्नागोक्षुरकैरण्डदेवदारुपुनर्नवा ॥८२॥
गुडूच्यारग्वधश्चैव क्वाथमेषां विपाचयेत्।

एरण्ड की जड, विजोरे की जड, गोखरूमूल, छोटी कटेरी की जड़, वडी कटेरी की जड, पाषाणभेद, वेल मूल की छाल—इन सात औषधों को यथामान ग्रहण करके क्वाथ विधि के अनुसार क्वाथ बनाकर एरण्डतैल १ तोला, भूनी हुई हींग ४ रत्ती, जौखार १ माशा, सैन्धवलवण १ माशा मिलाकर पान करने से स्तन, कन्धे, कमर, लिङ्ग, हृदय और छाती में उत्पन्न होने वाली वातोद्भव पीडायें शान्त होती हैं ॥६१–६२॥

वक्तव्य—किसी २ क्वाथ में प्रक्षेप अधिक होते हैं। ऐसी अवस्थाओं में प्रत्येक प्रक्षेप वडी सावधानी से प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। यद्यपि शास्त्राज्ञा का उल्लघन नहीं किया जा सकता, परन्तु तौ भी वर्तमान की पूर्ण परिस्थिति पर विचार होना आवश्यक है। कई आचार्य समुदायात्मक प्रक्षेप्य में यह व्यवस्था देते हैं। यथा—

क्षारसैन्धवचूर्णाना माषैकैकं प्रयोजयेत् ।
माषार्द्ध हिङ्गुचूर्णं च तैल माषचतुष्टयम् ॥ इति ।

अथ वातशूले नागरादिक्काथ —

नागरैरण्डजः क्काथः क्काथ इन्द्रयवस्य वा ॥६३॥
हिङ्गुसौवर्चलोपेतो वातशूलनिवारणः ।

सोंठ और एरण्डमूलत्वक्—इन दोनों औषधों को यथामान ग्रहण करके यथाविधि परिसाधित क्वाथ में भूनी हुई हींग और काला नमक का प्रक्षेप डाल कर पीने से अथवा केवल इन्द्रजौ के यथाविधि साधित क्वाथ में हींग और काला नमक मिला कर पीने से वातशूल नष्ट होता है ॥६३॥

वक्तव्य—यह वडा विचित्र योग है। केवल तीन औषधें हैं। जिनके दो योग बनाये गए हैं और दोनों ही वातशूल में पृथक् २ अवस्थाओं में प्रयुक्त होकर लाभ देते हैं। यथा—वातशूल का अभिप्राय यहा वातजनित उदरशूल से है, अन्य स्थानों के शूल से नहीं। प्रयोगभेद—यदि वातजनित उदरशूल के साथ २ मलावरोध हो तो सोंठ और एरण्ड का क्वाथ पिलावे। यदि मल भेद हो तो इन्द्रयव का क्वाथ देवे। प्रक्षेप दोनों ही क्वाथों में अनिवार्य्य है। प्रत्येक मात्रा में हिंगु ४—८ रत्ती और सौवर्चल लवण ३—६ माशा होगा।

अथ पित्तशूले त्रिफलादिक्काथ —

त्रिफलारग्वधक्काथः शर्कराक्षौद्रसंयुतः ॥६४॥
रक्तपित्तहरो दाहपित्तशूलनिवारणः ।

हरड़, वहेडा, आमला, अमलतास की फली का गूदा—इन चार औषधों के काढे में खाड और शहद मिलाकर (पीने से) रक्तपित्त, जलन और पित्तजनितशूल (नाभिस्थान अथवा पित्तवाहिनियों में पित्त संचित और अवरुद्ध होने से उत्पन्न होने वाले शूल को अवश्य दूर करता है) नष्ट होता है ॥६४॥

अथ कफशूले एरण्डक्काथ —

एरण्डमूलं द्विपलं जलेऽष्टगुणिते पचेत् ॥६५॥
तत्क्काथो यावशूकाढ्यः पार्श्वहृत्कफशूलहा ।

एरण्ड की जड़ २ पल (८ तोला), जल आठगुना डाल कर पकावे। (अष्टमाशावशिष्ट रहने पर, उतार कर मर्दनादि के बाद वस्त्र से छान ले) इस क्वाथ में जौखार प्रक्षेप में (एक माशा) मिला कर (पान करने से) पार्श्वशूल (पसवाड़ो की दर्द) हृच्छूल और कफजनितशूल नष्ट होता है ॥६५॥

अथ हृद्रोगे दशमूलक्काथ —

दशमूलकृतः क्काथः सयवक्षारसैन्धवः ॥६६॥
हृद्रोगगुल्मशूलानि कासं श्वासं च नाशयेत् ।

दशमूल (लघु पंचमूल और बृहत्पञ्चमूल मिलित २ तोला) यथाविधि कूट पीस कर यथाविधान परिसाधित क्वाथ में यवक्षार और सैंधा नमक मिलाकर पीने से हृद्रोग (वात्तिक हृद्रोग), गुल्म (वाय गोला), शूल, खासी, दमा आदि रोगों को नाश करता है ॥६६॥

अथ मूत्रकृच्छ्रादौ हरीतक्यादिक्वाथः—

हरीतकीदुरालम्भाकृतमालकगोक्षुरैः ॥६७॥
पाषाणभेदसहितैः क्काथो माक्षिकसंयुतः ।
विबन्धे मूत्रकृच्छ्रे च सदाहे सरुजे हितः ॥६८॥

हरीड़, जवासा, अमलतास की फली का गूदा, गोखरू (भखडा), पाषाणभेद—इन पांचों द्रव्यों के यथाविधि निर्मित क्वाथ में मधु मिला कर (पीने से) विबन्ध (वातविष्टम्भ), मूत्रकृच्छ्र (मूत्र का कष्ट से आना), मूत्र नाली के दाह जलन और पीडा को नष्ट करता है ॥६७—६८॥

वक्तव्य—पूयमेह (सुजाक) की प्रथम और द्वितीयावस्था में विशेष लाभप्रद है।

वीरतर्वादिगण —

वीरतरुर्वृक्षवन्दा काशः सहचरत्रयम् ।
कुशद्वयं नलो गुन्द्रा बकपुष्पोऽग्निमन्थकः ॥६९॥
मूर्वा पाषाणभेदश्च श्योनाको गोक्षुरस्तथा ।
अपामार्गश्च कमलं ब्राह्मी चेति गणो वरः ॥१००॥
वीरतर्वादिरित्युक्तः शर्कराश्मरिकृच्छ्रहा ।
मूत्राघातं वायुरोगान् नाशयेन्निखिलानपि ॥१०१॥

वीरणघास (इसी की जड़ को खस कहते हैं), वृक्षवन्दा (बांदे का पेड़, यह

लम्बकाय-जामुन, आम, शिशप आदि २ वृक्षों पर होता है। इसके लम्बे पत्ते और लाल पीले फूल होते हैं। इसे 'परण्ड' भी कहते हैं। जिस वृक्ष पर यह उत्पन्न होता है वह वृक्ष थोडे समय के पश्चात् सूख जाता है। इसीलिये इसे वृक्षभक्षा भी कहते हैं)। कास (तृणविशेष) पीले फूलों वाला, लाल फूलों वाला और काले फूलों वाला, पियावासा, कुशा, डाभ (कुशा हरितपत्रा और डाभ रक्तपत्रा होती है), नड, गुन्द्रा (पटेरक घास), वकपुष्प (अगस्त वृक्ष की छाल), अरनी छाल, मूर्वा, पाषाणभेद, अरलु, गोखरू, पुठकडा, कमल पुष्प, ब्राह्मी बूटी। इस औषध समुदाय को वीरतर्वादिगण कहते हैं। इसका यथाविधि वनाया हुआ क्वाथ पान करने से— शर्करा (मूत्र में रेत का आना), पथरी, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात और सम्पूर्ण वातजनित (वस्ति और मूत्र मार्ग में होने वाले) रोगों को नष्ट करता है ॥९९—१०१॥

अथ अश्मरीशर्करादौ एलादिक्वाथ —

एलामधुकगोकण्टरेणुकैरण्डवासकाः ।
कृष्णाश्मभेदसहिताः क्काथ एषां सुसाधितः ॥१०२॥
शिलाजतुयुतः पेयः शर्कराश्मरिकृच्छ्रहा ।

छोटी इलायची, मुलेठी, गोखरू, रेणुका, एरण्डमूल, अडूसा, काली पीपल, पाषाणभेद—इन सब औषधों को यथामान ग्रहण कर यथाविधि प्राप्त क्वाथ में शिलाजीत (शुद्ध ४—८ रत्ती) प्रक्षेप में देकर पान करने से शर्करा और पथरी तथा मूत्रकृच्छ्र (रोग) नष्ट होता है ॥१०२॥

मूत्रकृच्छ्रादौ गोक्षुरक्काथ —

समूलगोक्षुरक्काथः सितामाक्षिकसंयुतः ॥१०३॥
नाशयेन्मूत्रकृच्छ्राणि तथा चोष्णसमीरणम् ।

जडसहित गोखरू के (पञ्चाग) से किये हुए क्वाथ में मिशरी और मधु मिलाकर पीने से सब तरह के मूत्रकृच्छ्र और उष्णवात (इसमें सुजाक के से लक्षण होते हैं। परतु यह वर्त्तमान का सुजाक नहीं है।) नष्ट होते हैं ॥१०३॥

प्रमेहे वरादिक्काथ —

वरादार्व्यब्ददारूणां क्काथः क्षौद्रेण मेहहा ॥१०४॥
वत्सकत्रिफलादार्वीमुस्तको बीजकस्तथा ।

(यह दो योग प्रमेहनाशक हैं।) हरीड़, बहेड़ा, आमला, नागरमोथा. देवदारु। (यह एकयोग है।) दूसरा योग—कूडे की छाल, हरीड, वहेडा, आमला, दारुहल्दी की छाल, नागरमोथा, बीजक (विजयसार वृक्ष की त्वक्)। इन दोनों योगों को पृथक् २ यथाविधि (क्काथ विधान से) सिद्ध करके (मधुप्रक्षेप देकर) पान करने से प्रमेह (कफजनित प्रमेह) नष्ट होते हैं ॥१०४॥

प्रमेहेऽन्य फलत्रिकादिक्काथ —

फलत्रिकाब्ददार्वीणां विशालायाः शृतं पिबेत् ॥१०५॥
निशाकल्कयुतं सर्वप्रमेहविनिवृत्तये ।

हरड़, बहेडा, आमला, नागरमोथा, दारुहलदी, इन्द्रायण की जड—इन सब के यथाविधि सिद्ध किये हुए क्वाथ में निशाकल्क (हलदी का चूर्ण) का प्रक्षेप देकर पान करने से सम्पूर्ण प्रमेह नष्ट होते हैं ॥१०५॥

प्रदरे दार्व्यादिक्वाथः—

दार्वी रसाञ्जनं मुस्तं भल्लातः श्रीफलं वृषः ॥१०६॥
कैरातश्च पिबेदेषां क्वाथं शीतं समाक्षिकम् ।
जयेत् सशूलं प्रदरं पीतश्वेतासितारुणम् ॥१०७॥

दारुहलदी की छाल, रसोंत, नागरमोथा, भिलावा (शुद्ध), वेलगिरी, वासामूल और चिरायता—इन क्वाथ्य द्रव्यों को (एक मात्रार्थ प्रत्येक को ४—४ मासा ग्रहण करे) विधिपूर्वक पकाकर क्वाथ बनावे और क्वाथ ठंडा होने पर उसमें मधु डालकर पान करने से शूलयुक्त पीला, सफेद, काला और लालरंग का प्रदर नष्ट होता है ॥ १०६—१०७ ॥

वक्तव्य— इसका विशेष वर्णन पूर्वखण्ड के सातवें अध्याय म है ।

अथ योनिरोगव्रणादौ न्यग्रोधादिक्काथ —

न्यग्रोधप्लक्षकोशाम्रवेतसा बदरी तुणिः ।
मधुयष्टी प्रियालश्च लोध्रद्वयमुदुम्बरः ॥१०८॥
पिप्पलश्च मधूकश्च तथा पारिसपिप्पलः ।
सल्लकी तिन्दुकी जम्बूद्वयमाम्रतरुः शिवा ॥१०९॥
कदम्बककुभौ चैव भल्लातकफलानि च ।
न्यग्रोधादिगणक्वाथं यथालाभं च कारयत् ॥११०॥
अयं क्वाथो महाग्राही व्रणयो भग्नं च साधयेत् ।
योनिदोषहरो दाहमेदोमेहविषापहः ॥१११॥

बड़ (बोहड़) की छाल, पाखर (पलाख), अम्बाडे की छाल, वेत की छाल, बेरी की छाल, तुणी की छाल (यह एक वृक्ष होता है । इसकी लकड़ी गृहनिर्माण में प्रयुक्त होती है । इसके पत्ते भिभिरणी वृक्ष के समान होते हैं । इसके काष्ठ का वर्ण गहरे रक्तवर्ण का होता है), मुलेठी, चिरोंजी, पठानीलोध, सावरलोध (यह श्वेताभ होता है), गूलर की छाल, पीपल (वृक्ष) की छाल, महुआ की छाल, पारीस पीपल की छाल, सागोन की छाल, मीठे तिंदुक की छाल, छोटी जामुन

की छाल, बड़ी जामुन की छाल, आम के वृक्ष की छाल, हरीड, कदम्ब (वृक्ष) की छाल, अर्जुन (वृक्ष) की छाल, भिलावा (शुद्ध)—इस द्रव्यसमुदाय को 'न्यग्रोधादिगण' कहते हैं। गण की यदि सब औषधें प्राप्त न हों तो यथालाभ ग्रहण करके क्वाथ विधि (२-४ तोला क्वाथ्य १ मात्रार्थ) मे काढा बनावे। यह क्वाथ महाग्राही (बडा कब्जि) है। व्रणरोग में हित (व्रणियों को पिलाने और व्रण धोने में) होता है। इसके पान करने से अस्थिभंग, योनिरोग, दाह, मेदोरोग और विषदोष (स्थावर जगम दोनों प्रकार के) नष्ट होते हैं ॥१०८—१११॥

अथ मेदोदोषे योगत्रयमाह । प्रथमो योग —

विल्वोऽग्निमन्थः श्योनाकः काश्मरी पाटला तथा ।
क्वाथ एषां जयेन्मेदोदोषं क्षौद्रेण संयुतः ॥११२॥

विल्व, अरनी, अरलु, गम्भारी, पाढला - इनके यथाविधि परिसाधित क्वाथ मे मधु मिलाकर पान करने से मेदोरोग (मेद, चरबी) की अत्यन्त वृद्धि से होने वाले रोग) नष्ट होते हैं ॥११२॥

अथ द्वितीयो योग —

क्षौद्रेण त्रिफलाक्वाथः पीतो मेदोहरः स्मृतः ।

हरीड, बहेड़ा, आमला। (समानभाग) इनका क्वाथ, मधु मिलाकर पीने से मेदोवृद्धि नष्ट होती है।

अथ तृतीयो योग —

शीतीभूतं तथोष्णाम्बु मेदोहृत् क्षौद्रसंयुतम् ॥११३॥

औटाए हुए जल को ठंडा करके उसमें मधु मिलाकर पीने से मेदोरोग नष्ट होते हैं ॥११३॥

वक्तव्य—यह अन्तिम योग स्वस्थ मनुष्यों की मेदोवृद्धि को कम करने के लिये बहुत अच्छा है। रोगियों की अवस्था को देखभाल कर ही देना चाहिये। विधि यह है—जल १६ पल (६४ तोला) शुद्ध पात्र में डालकर औटावे। जब दो पल शेष रहे तब उतार ले। ठंडा होने पर दो तोला उत्तम मधु मिलाकर पीवे। यह प्रातःकाल ही पान करना चाहिये। इससे स्वस्थ मनुष्यों की मेदोवृद्धि शनैः २ निर्विकार घटती जाती है।

अथोदररोगे चव्यादिक्वाथ —

चव्यचित्रकविश्वानां साधितो देवदारुणा ।
क्वाथस्त्रिवृच्चूर्णयुतो गोमूत्रेणोदरान् जयेत् ॥११४॥

चव्य, चीते की छाल, सोंठ, देवदारु—इन चारों का यथाविधि काढा बनाकर उसमें निसोत का चूर्ण और गोमूत्र डालकर पीने से सम्पूर्ण उदर रोग नष्ट होते हैं ॥११४॥

अथ शोथोदरे पुनर्नवादिक्काथः—

पुनर्नवामृतादारुपथ्यानागरसाधितः ।
गोमूत्रगुग्गुलुयुतः क्काथः शोथोदरापहः ॥११५॥

सांठी की जड़, गिलोय, देवदारु, हरीड़, सोंठ—इन पांचों औषधों का यथाविधि बनाया हुआ क्वाथ, गुग्गुलु (शुद्ध) और गोमूत्र डालकर पीने से सूजनवाला उदर रोग नष्ट होता है ॥११५॥

अथ यकृत्प्लीहगुल्मोदरे पथ्यादिक्काथः—

पथ्यारोहितकक्काथं यवक्षारकणायुतम् ।
प्रातः पिबेद् यकृत्प्लीहगुल्मोदरनिवृत्तये ॥११६॥

हरीड, रोहितकछाल (रुहेड़ावृक्ष की छाल)—इन दोनों के विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए क्वाथ में यवक्षार और पिप्पलीचूर्ण मिलाकर प्रातःकाल पीने से जिगर, तिल्ली, गोला और उदर रोग शांत होते हैं ॥११६॥

अथ शोथरोगे पुनर्नवादिक्काथः—

पुनर्नवा दारुनिशा निशा शुण्ठी हरीतकी ।
गुडूची चित्रको भार्ङ्गी देवदारु च तैः शृतः ॥११७॥
पाणिपादोदरमुखप्राप्तं शोफं निवारयेत् ।

इटसिट, दारुहल्दी की छाल, हल्दी, सोंठ, हरीड़, गिलोय, चीते की छाल (मूलत्वक्), भाडङ्गी, देवदारु—इन सब को यथामान ग्रहण करके क्वाथविधि से काढा बनाकर पान करने से—हाथ, पाओं, उदर और मुख—इन स्थानों में होने वाली सूजन नष्ट होती है ॥११७॥

अथ वृषणशोथे त्रिफलादिक्काथः—

फलत्रिकोद्भवं क्काथं गोमूत्रेणैव पाययेत् ।
वातश्लेष्मकृतं हन्ति शोथं वृषणसम्भवम् ॥११८॥

हरड़, बहेड़ा, आमला—इन तीनों का यथाविधि काढा बनाकर और उस में गोमूत्र मिलाकर पीने से अण्डकोषों की सूजन नष्ट होती है ॥११८॥

अथ अन्त्रवृद्धौ रास्नादिक्काथः—

रास्नामृताबलायष्टीगोकण्टैरण्डजः शृतः ।
एरण्डतैलसंयुक्तो वृद्धिमन्त्रभवां जयेत् ॥११९॥

रास्ना, गिलोय, खरैटी, मुलहठी, गोखरू, एरंडमूलत्वक्—इन छः औषधों के यथाविधि परिसाधित क्वाथ में अरंडी का तैल डालकर पान करने से अन्त्र-वृद्धि (आंत का उतर आना, हरनियां) रोग दूर होता है ॥११९॥

अथ-गण्डमालाया काञ्चनारक्वाथ —

काञ्चनारत्वचः क्वाथः शुण्ठीचूर्णेन नाशयेत्।
गण्डमालां तथा क्वाथः क्षौद्रेण वरुणत्वचः ॥१२०॥

कचनार की छाल (२ तोला) से बने हुए क्वाथ में सोंठ का चूर्ण (१ माशा) प्रक्षेप देकर पान करने से गण्डमाला (हजीरें) नष्ट होती हैं तथा इसी प्रकार वरना वृक्ष की छाल से बने क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से भी गण्डमाला नष्ट होती है ॥१२०॥

अथ श्लीपदमेदादौ शाखोटक्वाथ —

शाखोटवल्कलक्वाथं गोमूत्रेण युतं पिबेत्।
श्लीपदानां विनाशाय मेदोदोषनिवृत्तये ॥१२१॥

सहोडा वृक्ष की छाल का क्वाथ बनाकर उसमें गोमूत्र डालकर पान करने से श्लीपद (फीलपाद) और मेदोवृद्धि (व्यर्थ का मोटापन) यह दोनों दूर होते हैं ॥१२१॥

अथ अन्तर्विद्रधौ वरुणादिक्वाथ —

पुनर्नवावरुणयोः क्वाथोऽन्तर्विद्रधीञ्जयेत्।
तथा शिग्रुभवः क्वाथो हिङ्गुसैन्धवसंयुतः ॥१२२॥

पुनर्नवा (मूल), वरुण (वरनावृक्ष) त्वक् से यथाविधि निर्मित क्वाथ पान करने स अन्तर्विद्रधी (अभ्यतर का रुजावान् शोथ) नष्ट होती है। (यह अपक्वविद्रधी में देना चाहिये) एवविध सोहाजने की छाल से बने हुए क्वाथ में हींग (घृतभृष्ट ४ रत्ती) सैन्धव (१ माशा) प्रक्षेप देकर पीने से अन्तर्विद्रधी नष्ट होती है ॥१२२॥

अथान्यो वरुणादिक्वाथ —

वरुणो वकपुष्पश्च विल्वापामार्गचित्रकाः।
अग्निमन्थद्वयं शिग्रुद्वयं च बृहतीद्वयम् ॥१२३॥
सैरेयकत्रयं मूर्वा मेषशृङ्गी किरातकः।
अजशृङ्गी च विम्बी च करञ्जश्च शतावरी ॥१२४॥
वरुणादिगणक्वाथः कफमेदोहरः स्मृतः।
हन्ति गुल्मं शिरःशूलं तथाभ्यन्तरविद्रधीन् ॥१२५॥

वरना की छाल, वकपुष्पा (अगस्तवृक्ष) की छाल, विल्वत्वक्, पुठकडा (मूल), चीते की छाल, अरनी छोटी, अरनी वडी, लालफूल का सोहाजना, श्वेत फूल का सोहाजना, छोटी कटकारी, वड़ी कंटकारी (दोनों का मूलत्वक्), श्वेतपुष्प वाला पियावासा, पीले फूल वाला पियावासा, कृष्णफूल वाला पियावासा, मूर्वा, मेढासिंगी, चिरायता, काकडा सिंगी, कन्दूरी (मूल), करजुआ (मूल), शतावरी—

इन २१ वस्तुओं के समुदाय को ‘वरुणादि गण’ कहते हैं। इस गण का यथाविधि परिसाधित क्वाथ पान करने से मेदरोग, कफरोग, गुल्म, मस्तकशूल और अन्तरविद्रधी प्रभृति रोग नष्ट होते हैं ॥१२३—१२५॥

वक्तव्य—अन्तर विद्रधी जैसे महारोग में यह क्वाथ अनुभवी वैद्यों द्वारा प्रयुक्त होता है। २—४ तोला मिलित क्वाथ १६ गुणा जल में क्वथित करके चतुर्थांशावशिष्ट ग्रहण करे और वस्त्रद्वारा छानकर २—२ तोला की मात्रा से मन्दोष्ण व्यवहार करे।

अथ ऊषकादिगण —

ऊषकस्तुत्थकं हिङ्गु काशीसद्वयसैन्धवम्।
सशिलाजतुकृच्छ्राश्मगुल्ममेदःकफापहम् ॥१२६॥

ऊषक (क्षारमृत्तिका, यह काशी के समीपस्थ बहाडा नामक स्थान पर बहुत *होती है), तुत्थ (तुत्थखर्पर या नीलाथोथा), हींग (भृष्ट), काशीस (धातुकाशीस* और पुष्पकाशीस, बाजारू नाम काही सुर्ख और काही सफेद), सैन्धा नमक, शिलाजीत—इन सब का प्रयोग करने से मूत्रकृच्छ्र, पथरीरोग, वायगोला, मेद और कफरोग नष्ट होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर का ऊषकादिगण तीव्रवीर्य औषधियों का संग्रह है। पाठ में इस का प्रयोग विधान और मात्रा का वर्णन नही है। अत वैद्यों को अपनी आवश्यकता के अनुसार मात्रा और प्रयोग स्थिर कर लेना चाहिये। इसमें प्राय वामकद्रव्य हैं। तुत्थ काशीसादि को यथाशास्त्र शोधन करके प्रयुक्त करें। हमारे विचार में यह ऊपकादिगण पूर्वोक्त वरुणादिगण का प्रक्षेप है। वरुणादिगण के क्वाथ में इन को व्यस्त या समस्त यथावश्यकता प्रयोग करें ॥१२६॥

अथ भगन्दरे—खदिरादिक्काथ —

खदिरत्रिफलाक्काथो महिषीघृतसंयुतः।
विडङ्गचूर्णयुक्तश्च भगन्दरविनाशनः ॥१२७॥

खैरसार, हरीड, बहेडा, आमला—इन चारों को यथाविधि पकाकर इसमें भैंस का घी और वायविडंग का चूर्ण (प्रक्षेप) डालकर पीने से भगदर नष्ट होता है। इस रोग का विस्तार पूर्वखण्ड के सातवें अध्याय में देखें ॥१२७॥

अथ वातरक्ते—अमृतादिक्काथ —

अमृतैरण्डवासानां क्वाथ एरण्डतैलयुक्।
पीतः सर्वाङ्गसञ्चारि वातरक्तं जयेद् ध्रुवम् ॥१२८॥

गिलोय, एरण्डमूल, वासामूल। सम भाग। इन तीनों के यथाविधि परिसाधित क्वाथ में एरण्ड तैल (१ तोला प्रतिदिन) मिलाकर पीने से सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण (प्रारम्भ में वातरक्तोत्पादक विषाश कभी कही और कभी कहीं भ्रमण करता हुआ पीडा करता है) करने वाला वातरक्त दूर होता है ॥१२८॥

वक्तव्य—वातरक्त की प्राय प्रत्येक अवस्था में अत्यधिक लाभ करता है । क्वाथार्थ—मिलित तीनों द्रव्य ४ तोला, पाकार्थ जल ३२ तोला, शेष ८ तोला वस्त्रपूत करके प्रयोग करे । यह एक मात्रा है ।

वातरक्ते—पटोलादिक्वाथ —

पटोलं त्रिफला तिक्ता गुडूची च शतावरी ।
एतत्क्वाथो जयेत् पीतो वातास्रं दाहसंयुतम् ॥१२९॥

पडोलपत्र, हरीड, बहेडा, आमला, कौड, गिलोय, शतावरी—इन सात औषधों का क्वाथ यथाविधि सिद्ध करके पीने से दाहयुक्त वातरक्तरोग दूर होता है ॥१२९॥

अथ श्वित्रकुष्ठे—बाकुचीक्वाथ —

क्वाथोऽवल्गुजचूर्णाढ्यो धात्रीखदिरसारयोः ।
जयेत् सुशीलितो नित्यं श्वित्रं पथ्याशिनां नृणाम् ॥१३०॥

आमला और खादिरसार—इन दोनों का क्वाथ यथामान सिद्ध करे और उस में बावची का चूर्ण (प्रक्षेप) डालकर निरन्तर बहुत काल तक सेवन करे और पथ्य (श्वित्रोक्त पथ्यविधान) पूर्वक रहे तो श्वित्रकुष्ठ (फुलबहरी) रोग दूर होता है॥१३०॥

अथ वातरक्तकुष्ठादौ—लघुमञ्जिष्ठादिक्वाथ —

मञ्जिष्ठा त्रिफला तिक्ता वचा दारुनिशामृता ।
निम्बश्चैषां कृतः क्वाथो वातरक्तविनाशनः ॥१३१॥
पामाकपालिकाकुष्ठरक्तमण्डलजिन्मतः ।

मजीठ, हरीड, बहेडा, आमला, कौड, वच, दारुहलदी, गिलोय, नीम की छाल—इन सबका यथाविधि परिसाधित क्वाथ पान करने से वातरक्त नष्ट होता है और पामा (पा), कापालिककुष्ठ, लाल २ चकत्ते (यह रक्त दूषित होने के कारण शरीर पर पड जाते हैं) नष्ट होते हैं ॥१३१॥

अथ सर्वकुष्ठे—बृहन्मञ्जिष्ठादिक्वाथ —

मञ्जिष्ठामुस्तकुटजगुडूचीकुष्ठनागरैः ॥१३२॥
भार्ङ्गीक्षुद्रावचानिम्बनिशाद्वयफलत्रिकैः ।
पटोलकटुकीमूर्वाविडङ्गासनचित्रकैः ॥१३३॥
शतावरीत्रायमाणाकृष्णेन्द्रयववासकैः ।
भृङ्गराजमहादारुपाठाखदिरचन्दनैः ॥१३४॥
त्रिवृद्वरुणकैरातबाकुचीकृतमालकैः ।
शाखोटकमहानिम्बकरञ्जातिविषाजलैः ॥१३५॥
इन्द्रवारुणिकानन्तासारिवापर्पटैः समैः ।
एभिः कृतं पिबेत् क्वाथं कणागुग्गुलुसंयुतम् ॥१३६॥
अष्टादशसु कुष्ठेषु वातरक्तार्दिते तथा ।

उपदंशे श्लीपदे च प्रसुप्तौ पक्षघातके ॥१३७॥
मेदोदोषे नेत्ररोगे मञ्जिष्ठादिः प्रशस्यते ।

मजीठ, नागरमोथा, कुटजछाल, गिलोय, कूठ, सोंठ, भाडंगी, छोटी कटेरी, वच, नीम की छाल, हलदी, दारुहलदी की छाल, हरड, बहेडा, आमला, पडोल-पत्र, कौड, मूर्वा, वायविडंग, विजयसार, चीते की छाल, शतावर, त्रायमाण (नागदमनी), पीपल, इन्द्रजौं, बांसा, भांगरा, देवदारु, पाठा, खैरसार, लालचन्दन, निसोत, वरना की छाल, चिरायता, वावची, अमलतास की फली का गूदा, महोडा की छाल, बकायन (द्रेक), करञ्जुआ, अतीस, सुगधवाला, इन्द्रायण की जड, अनता (सारि या यवासा, ऊषवा), पित्तपापड़ा—इन सबको समान भाग ग्रहण करे। (और क्वाथार्थ मिलित द्रव्य २—४ तोला तक लेवे और क्वाथविधि से क्वाथ बनावे।) इन से बने क्वाथ में पीपल का चूर्ण और गूगल (शुद्ध) का प्रक्षेप देकर पान करे। इससे १८ प्रकार के कुष्ठरोग, वातरक्त, अर्दित (लकवा), उपदश, (फिरग भेद) श्लीपद, सुप्तिवात (अंगों का स्पर्शाऽस्पर्श ज्ञान से रहित होना), अध-रंग, मेदो रोग और नेत्र गत रोग नष्ट होते हैं ॥१३२—१३७॥

अथ शिरोरोगे—पथ्यादिषडङ्गक्काथ —

पथ्याक्षधात्रीभूनिम्बैर्निशानिम्बामृतायुतैः ॥१३८॥
कृतः क्काथः षडङ्गोऽयं सगुडः शीर्षशूलहा[1] ।
भ्रूशङ्खकर्णशूलानि तथार्धशिरसो रुजम् ॥१३९॥
सूर्यावर्तं शङ्खकं च दन्तपातं च तद्रुजम् ।
नक्तान्ध्यं पटलं शुक्रं चक्षुःपीडां व्यपोहति ॥१४०॥

हरड़, बहेडा, आमला, चिरायता, हलदी, नीम की छाल, गिलोय—सब औषध समान भाग ग्रहण कर यथाविधि निर्मित क्वाथ में गुड (पुराना) प्रक्षेप डालकर (पीने से) मस्तक शूल नष्ट होता है। तथा—भ्रू (भौंहें), शख (कनपटी), कान का दर्द और आधा सीसी की पीडा दूर होती है। सूर्यावर्त (सूर्य के साथ २ बढ़ने घटने वाला सिर दर्द), शख का शूल, दतपात (दात का गिरना) और दातों में होने वाली पीडा, रतौंधापन, नेत्रों के पटल (पर्दे) गतरोग एव नेत्र का फूला, नेत्रों का दूखना इत्यादि सब रोग नष्ट होते हैं ॥१३८-१४०॥

वक्तव्य—ऊपर के रोगों के लिये यह रामबाण योग है। त्वरित लाभ करने वाला इससे बढिया दूसरा योग नही है। बहुत लोग इसमें एक आशंका उठाया करते हैं। यथा—इस योग की सात वस्तु हैं। आठवा गुड है। ऐसी अवस्था में इसे षडङ्ग क्यों कहते हैं ? उत्तर—जिसकी छ ही वस्तु हों उसी को षडङ्ग कहा जाये—

१—'हृत्' इत्यपि पाठ ।

यह अन्तिम निर्णय नही है । यदि यही नियम होता तब 'नवायस चूर्ण'(इसमें भी १० औषधें हैं) आदि भी शास्त्र में न होते । अत यह षडङ्ग शब्द सज्ञावाचक जानना ।

अथ नेत्ररोगे—वासादिक्काथ —

वासाविश्वामृतादार्वीरक्तचन्दनचित्रकैः ।
भूनिम्बनिम्बकटुकापटोलत्रिफलाम्बुदैः ॥१४१॥
यवकालिङ्गकुटजैः क्वाथः सर्वाक्षिरोगहा ।
वैस्वर्यं पीनसं श्वासं नाशयेदुरसः क्षतम् ॥१४२॥

वासामूल, सोंठ, गिलोय, दारुहलदी, लालचन्दन, चित्रक (चीता), चिरायता, नीम की छाल, कौड, पडोलपत्र, हरीड, वहेडा, आमला, नागरमोथा, जौं (अन्न), इन्द्रजौं, कूडे की छाल—इन समस्त औषधों को यथामान ग्रहण कर क्वाथ विधि से प्राप्त क्वाथ को पान करने से आख के सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं और स्वरभग, पीनस (पुराना जुकाम), दमा और उर क्षत प्रभृति सब नष्ट होते हैं ॥१४१—१४२॥

वक्तव्य—इस योग में 'यवकालिङ्ग' पाठ से कई यह अर्थ करते हैं कि इसमें केवल इन्द्रजौं का ही ग्रहण करना चाहिये । परन्तु दूसरी ओर वही अर्थ किया जाता है जो ऊपर दिया गया है । कारण कि यवान्न चाक्षुष्य है । यथा—

त्रिफला घृत मधु यवा पादाभ्यङ्ग शतावरी मुद्गा· ।
चाक्षुष्य सक्षेपाद्वर्ग· कथितो भिषग्भिरयम् ॥

अथ नेत्ररोगे अमृतादिक्काथ —

अमृतात्रिफलाक्वाथः पिप्पलीचूर्णसंयुतः ।
सक्षौद्रः शीलितो नित्यं सर्वनेत्रव्यथां जयेत् ॥१४३॥

गिलोय, हरीड, वहेड़ा, आमला—इन के यथाविधि साधित क्वाथ में पीपल का चूर्ण और मधु डालकर निरन्तर चिरकाल तक पान करने से सव प्रकार की नेत्र सम्बन्धी पीडा (वायु और रक्त विकार जनित व्यथा) नष्ट होती है ॥१४३॥

अथ व्रणप्रक्षालने—पञ्चवल्कलक्काथ.—

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटवेतसजं शृतम् ।
व्रणशोथोपदंशानां, नाशनं क्षालनात् स्मृतम् ॥१४४॥

पीपल, गूलर, पाखर, वट (वोड़), वेतस—इन (सव की छाल ली जाती है। मिलित क्वाथ्य ५ तोले, जल ४० तोले, शेष २० तोला) को यथाविधि क्वाथ करके, इस क्वाथ से व्रण, सूजन, उपदंशजव्रण (केवल) धोने मात्र से नष्ट होते हैं । यह व्रण धोने के लिये उत्तम है । इसमे सव प्रकार के विषैले जन्तु नष्ट होते हैं ॥१४४॥

अथ प्रमथ्यादिकषायभेदानाह—प्रमथ्या की परिभाषा—

प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यपलात् कल्कीकृताच्छृतात् ।
तोयेऽष्टगुणिते तस्याः पानमाहुः पलद्वयम् ॥१४५॥

एक पल भर द्रव्य (जिसे प्रमथ्या में प्रयुक्त करना हो) का कल्क (उत्तम शिला पर सुपेषित किया हुआ द्रव्य) बनाकर उसे आठगुने जल में पाक करे। दो पल शेष रहने पर उतार ले। इसे प्रमथ्या कहते हैं। इस की मात्रा दो पल की होती है। (वस्त्र से छान कर प्रयोग करे) ॥१४५॥

वक्तव्य—प्रमथ्या और क्वाथ में इतना ही अन्तर है कि क्वाथार्थ क्वाथ्य द्रव्य कूटकर प्रयुक्त होता है और प्रमथ्या के लिये आर्द्र या शुष्क द्रव्य को शिला पर चटनी के सदृश पीस लिया जाता है। प्रमथ्या में शेष प्रक्षेपादि की व्यवस्था क्वाथ की तरह होती है।

मुस्तकादिप्रमथ्यानाह—

मुस्तकेन्द्रयवैः सिद्धा प्रमथ्या द्विपलोन्मिता ।
सुशीता मधुसंयुक्ता रक्तातीसारनाशिनी ॥१४६॥

नागरमोथा (२ तोला), इन्द्रजौं (२ तोला)—इन दोनों से (दोनों औषधें शिला पर महीन पीस कर ८ पल जल में पकावे। जब २ पल शेष रहे तब) सिद्ध की हुई प्रमथ्या जब शीतल हो तब उसमें मधु डाल कर दो पल की मात्रा से पान करे। यह रक्तातिसार को नष्ट करती है ॥१४६॥

यवागूपरिभाषामाह—

साध्यं चतुष्पलं द्रव्यं चतुःषष्टिपले जले ।
तत्क्वाथेनार्धशिष्टेन यवागूं साधयेद्घनाम् ॥१४७॥

चार पल (कूटे हुए) द्रव्य (औषध) को ६४ पल (१६ गुना) जल डालकर आधा रहने पर्यन्त पकावे। (पुन छानकर) इस जल में तण्डुलादिकों को (उचित मात्रा) डालकर पकावे। जब गाढ़ी हो जाये तब उतार ले। इसे यवागू कहते हैं ॥१४७॥

वक्तव्य—यवागू ऐसा पेय पदार्थ बनता है जो औषध का औषध और जीवनोपयोगी आधार है। यह तब प्रयुक्त होता है जब पाचन शक्ति बड़ी दुर्बल हो गई हो। जो औषध रोगी के लिये निर्धारित की गई हो उसे (१६ गुना) जल में अर्धशेष तक पकाया जाता है। पुन. जल को छान कर, इसी में चावल यवादि अन्न डाल कर सिद्ध किया जाता है। चावलादि की मात्रा का निर्णय इस प्रकार है। यथा—'यवागूमुचिताद्भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत्'। (चक्रद०) स्वस्थावस्था में मनुष्य जितने चावलों का भात खाया करता हो उससे चतुर्थांश (कूटे हुए) चावलों से यवागू बनावे। अथवा रोगी मनुष्य की क्षुधा और शक्ति के अनुसार

यवागू के लिये चावलों की मात्रा का निर्णय करे । यवागू के साध्यद्रव्य के मान में वैद्यों में मतभेद है । यथा—

वृद्धवैद्या. पलं द्रव्यं ग्राहयन्त्याढकेऽम्भसि ।
भेषजस्यातिबाहुल्यात कदाचिदरुचिर्भवेत ॥

भेषजद्वेषियों के लिये यह मान अधिक उपयुक्त है । क्योंकि इसमें द्रव्य की मात्रा अन्यल्प होने के कारण यह अरुचि तथा स्वाद में विशेष अन्तर उत्पन्न नहीं करती । जिस जिस द्रव्य से यवागू सिद्ध हो उस उस का गुण उस में अवश्य होता है । यथा—

यैर्यैरौषधगुणैर्यवागू साधु साधिता ।
तांस्तानवौषधगुणान पुष्णाति विधियोजिता ॥

अथ ग्रहणीनाशन आम्रादियवागू—

आम्राम्रातकजम्बूत्वकषाये विपचेद् बुधः ।
यवागूं शालिभिर्युक्तां तां भुक्त्वा ग्रहणीं जयेत् ॥१४८॥

आम की छाल अम्बाडा की छाल जामुन की छाल—इन तीनों की मिलित छाल कुट्टित चार पल, छाल लेकर यथाविधि (६४ पल जल, अर्धा-वशिष्ट) सिद्ध किये हुए जल में शालि चावल (कुट्टित उचित मात्रा में) डालकर पकावे । जब पकने से गाढी हो जाये तब रोगी को खिलावे । इससे संग्रहणी रोग दूर होता है ॥१४८॥

यूष के लक्षण—

कल्कद्रव्यपलं शुण्ठी पिप्पली चार्धकार्षिकी ।
वारिप्रस्थेन विपचेत् स द्रवो यूष उच्यते ॥१४९॥

इसके पाक विधान में साधारण नियम यह है । यदि कल्क द्रव्य से यूष बनाना हो तो कल्क द्रव्य एक पल, पिप्पली और सोंठ (मिलित) एक तोला, जल एक प्रस्थ डालकर पकावे । पेय के समान गाढी होने पर उतार ले । इसे यूष कहते हैं ॥१४९॥

वक्तव्य—अथवा इसका यह अर्थ भी किया जाता है । यथा—कल्क द्रव्य चावलादि १ पल, पीपल और सोंठ प्रत्येक १—१ तोला, जल १ प्रस्थ डालकर पकावे । इसके सम्यक् पाक को यूष कहते हैं । इसके पाक में जो औषध डाले जाते हैं, उनका मृदु मध्य और तीक्ष्ण वीर्य के अनुसार प्रयोग किया जाता है । यथा—आमलक धान्यकादि मृदु वीर्य द्रव्य १ पल अथवा व्योषादि मध्यवीर्य द्रव्य आधा पल और पीपल सोंठ आदि तीक्ष्णवीर्य द्रव्य एक तोला ।

अथ सन्निपातादौ कुलत्थादियूष—

कुलित्थयवकोलैश्च मुद्गमूलकशुण्ठकैः ।
शुण्ठीधान्याकयुक्तैश्च यूषः श्लेष्माऽनिलापहः ॥१५०॥

सप्तमुष्टिक इत्येष सन्निपातज्वरं जयेत् ।
आमवातहरः कण्ठहृद्वक्त्राणां विशोधनः ॥१५१॥

कुलथी (क्षुद्रान्न), जौं, बेर (लघुबदर), मूग, मूली (शुष्क मूलक खण्ड), सोठ, धनिया—इन सात द्रव्यों को (१—१ पल) ग्रहण करके (१६ गुना) जल में गाढा होने तक पाक करे । यह सप्तमुष्टिक यूष वात, कफ, सन्निपात ज्वर और गठिया को दूर करती है । एवं कण्ठ, हृदय और मुख का शोधन (स्वच्छ) करती है ॥१५०—१५१॥

वक्तव्य—ऊपर के योग में जो निर्देश किया गया है, उसका अभिप्राय यह है—यदि सप्तमुष्टिक यूप में प्रत्येक द्रव्य पल २ भर लिया जाये तो "शुण्ठी पिप्पली चार्धकार्पिकी" का उपरोक्त नियम भग होता है तथा सोंठ की पल परिमित मात्रा का प्रयोग सर्वथा निन्द्य है । अतिरिक्त इसके कि वह अत्यधिक तीक्ष्ण वीर्य है, इसके प्रभाव से इतना कटुत्व हो जायगा कि वह खाई नही जा सकेगी । अत — कुलत्थ, यव, मुद्ग—इनमें शरीर धारणोपयोगी अंश होने के कारण १—१ पल अथवा तन्त्रान्तर में "एकैकमुष्टिमाहत्य" ऐसा कथन रहने पर "मुष्टिमुखांतर्मुष्टि" एसा ग्रहण करने से लग भग २—३ तोला कुलुत्थादि का पृथक् २ ग्रहण होगा । मूलक, शुण्ठी २ कर्ष और धनियां सुगन्धार्थ जितना आवश्यक हो । एव सोंठ तनिक कड़वापन या चरपरार्थ और बदरफल चूर्ण अम्लत्वार्थ । जल और पाक का नियम ऊपर दे दिया गया है । इस प्रकार बना हुआ यूष रोगी की रुचि के साथ ग्रहण भी करेगा और उस से उसके रोग की निवृत्ति भी होगी ।

पानादिकल्पना—

क्षुण्णं द्रव्यपलं साध्यं चतुःषष्टिपले जले ।
अर्धशिष्टं च तद्देयं पाने भक्तादिसंविधौ ॥१५२॥

कुटे हुए एक पल परिमित द्रव्य (यथा व्याधि) को ६४ पल जल में आधा शेष रहने तक पकावे । इस प्रकार पक्व जल को तृषा शाति के लिये प्रयुक्त करता रहे । एवं भोजनादि में जल की आवश्यकता पर भी इसी का प्रयोग करे तथा भोजनार्थ यवागू आदि के सिद्ध करने में भी इसका प्रयोग करे ॥१५२॥

अथ षडङ्गपानम्—

उशीरपर्पटोदीच्यमुस्तनागरचन्दनैः ।
जलं शृतं हिमं पेयं पिपासाज्वरनाशनम् ॥१५३॥

खस, पित्तपापडा, सुगन्धवाला, नागरमोथा, सोंठ और लालचन्दन—इन छ औषधों को यथामान (उपरोक्त पानकल्पना के अनुसार) ग्रहण कर, जल के साथ पकावे । (उचिताश अवशिष्ट रहने पर उतार कर छान ले) इस पानक को शीतल करके पीवे । इस से प्यास और ज्वर दूर होते हैं ॥१५३॥

अथोष्णोदकविधि —

अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्धकेन वा ।
अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं वदेत् ॥१५४॥

(केवल) स्वच्छ जल को स्वच्छ पात्र में डालकर आठवा भाग चौथा भाग, अथवा आधा भाग शेष रहने तक पकावे। इसको उष्णोदक कहते हैं। अथवा जल को उत्तम रीति से खूब औटावे। इसको भी) उष्णोदक कहते हैं ॥१५४॥

वक्तव्य—उपरोक्त जल के क्वथनांशों की संगति इस प्रकार है। यथा—

तत्पादहीनं वातघ्नमर्धहीनं तु पित्तजित् ।
कफघ्नं पादशेषं च पानीयं दीपनं स्मृतम् ॥

उष्णोदके विहितकाल —

श्लेष्मामवातमेदोघ्नं वस्तिशोधनदीपनम् ।
कासश्वासज्वरहरं पीतमुष्णोदकं निशि ॥१५५॥

यथाविधि क्वथित उष्णोदक रात्रि में (शयन के समय) पीने से कफ (वृद्धि), आमवात (गठिया). मेदोरोग (मोटापन) और खांसी, दमा. ज्वर (आदि २) नष्ट होते हैं तथा उष्णोदक मूत्राशय का शोधक (मूत्रश्लेष्मादि से रहित, स्वच्छ करने के कारण) और दीपन (पाचनशक्ति की वृद्धि करने वाला) है ॥१५५॥

अथ क्षीरपाकविधिमाह—

क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात् क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम् ।
क्षीरावशेषं तत्पीतं शूलमामोद्भवं जयेत् ॥१५६॥

जिन औषधों से दुग्ध सिद्ध करना हो उन सब को या एक द्रव्य विशेष को साफ स्वच्छ करके कूट लिया जाता है और जितना द्रव्य हो उससे आठ गुना गोदुग्ध और दूध से चौगुना पानी. सबको एकत्र करके पकावे। जब दूधमात्र शेष रहे तब उतार कर छान ले। इसको पान करने से आमोद्भव शूल नष्ट होता है। इसका पानमान क्वाथ की तरह है ॥१५६॥

अथ पञ्चमूलपय —

सर्वज्वराणां जीर्णानां क्षीरं भैषज्यमुत्तमम् ।
आमात् कासाच्छिरःशूलात् पार्श्वशूलात् सपीनसात् ॥१५७॥
मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलीशृतं पयः ।

शालिपर्णी, पृष्टपर्णी. लघुकंटकारी की मूलत्वक्, बड़ी कंटकारी की मूलत्वक्. गोखरू—इन पाचो औषधों को (मिलित और कुट्टित १ पल) आठगुने दूध में दूध से चौगुना पानी देकर पकावे। दूध शेष रहने पर छान कर प्रयोग करे। इस प्रकार पञ्चमूल से सिद्ध किया हुआ यह दूध सपूर्ण जीर्ण ज्वरों की उत्तम औषध

है और ज्वर रोगी के श्वास, कास, मस्तकशूल, पसवाड़ों का शूल, पीनस (पुराना जुकाम) आदि सब रोग दूर होते हैं ॥१५७॥

अथ कफज्वरे त्रिकण्टकादिपय.—

त्रिकण्टकबलाव्याघ्रीकुष्ठनागरसाधितम् ।
वर्चोमूत्रविबन्धघ्नं कफज्वरहरं पयः ॥१५८॥

गोखरू, खरेटी की जड, छोटी कंटकारी की जड़ का छिलका, कूठ, सोंठ— इन सबको यथाविधि गोदूध में सिद्ध करके पीने से मल मूत्र का रुक २ कर आना (अथवा उचित मात्रा में न आना) और कफज्वर यह सब विकार दूर होते हैं ॥१५८॥

अथ यवाग्वाद्यन्नप्रकारा —

अथान्नप्रक्रियात्रैव प्रोच्यते नातिविस्तरात् ।
यवागूः षड्गुणजले सिद्धा स्यात्कृशरा घना ॥१५९॥
तण्डुलैर्माषमुद्गैश्च तिलैर्वा साधिता हिता ।
यवागूर्ग्राहिणी बल्या तर्पणी वातनाशिनी ॥१६०॥

अब संक्षेप से अन्न प्रक्रिया (यवागू, पेया, विलेपी आदि की साधनविधि) का वर्णन किया जाता है। यवागू—तण्डुल (चावल), माष, मूंग, तिल—इनमें से जिस द्रव्य की यवागू बनानी हो उसे लेकर और उससे छ गुना जल डालकर, अन्न के भली प्रकार पकने (गलने) तक पकाई हुई (द्रवप्रधान) को यवागू कहते हैं और यदि इसी को अधिक गाढा कर दिया जाय तो यह कृशरा (खिचडी) कहलाती है। यह अतिसारादिकों को संग्रहण करती है। बलदायक (ओजोवर्द्धक) तर्पणी (धातूनां तृप्तिजननी) और वातरोग (अथवा प्रकोप) को नष्ट करती है ॥१५९-१६०॥

वक्तव्य—यद्यपि यवागू और तद्भेद खिचड़ी के लिये यहा तण्डुल और माषादि की मात्रा पूर्वोक्त नियमानुकूल समान है। परन्तु लौकिक व्यवहार में समान माष तण्डुल की खिचड़ी बनाने का नियम नहीं हैं। अत. प्रचलित नियमानुकूल २ भाग तण्डुल, एकभाग माष, एव आधाभाग तिल देकर छ. गुने पानी में इनका पाक करे। ऊपर जो गुण इसके बताये गये हैं वह द्रव्य गुणानुकूल भी होते हैं।

अथ विलेपीविवरणम्—

विलेपी घनसिक्था स्यात्सिद्धा नीरे चतुर्गुणे ।
तर्पणी बृंहणी हृद्या मधुरा पित्तनाशिनी ॥१६१॥

चावलों के परिमाण से चतुर्गुण जल देकर पाकपर्यन्त पकाने को विलेपी कहते हैं। यह पतली खीर की तरह लिपटने वाली होती है। लोक में इसका नाम लुगड़ी कहा जाता है। यह तृप्तिकारक धातुवर्द्धक, हृदय को हितकारी, (तण्डुलों के माधुर्य्य के कारण) मधुर और पित्त को शान्त करने वाली होती है ॥१६१॥

पेया के लक्षण—

द्रवाधिका स्वल्पसिक्था चतुर्दशगुणे जले।
सिद्धा पेया बुधैर्ज्ञेया यूषः किञ्चिद्घनः स्मृतः ॥१६२॥

चावलों के परिमाण से चौदह गुना जल डालकर तण्डुल पकने पर्यन्त पकाने से स्वल्पसिक्था (पक्व तण्डुल जिसमें अल्प हों) और अधिक पतली हो, वह बुद्धिमानों से पेया कही जाती है। पेया से कुछ गाढ़ी को यूष कहते हैं॥१६२॥

वक्तव्य—यूष प्राय मूग से बनती है। इसको लोक में मूंग का पानी कहते हैं। इसके पाक में १४ और १८ गुना जल देने की आज्ञा है।

पेया आदि के गुण—

पेया लघुतरा ज्ञेया ग्राहिणी धातुपुष्टिदा।
यूषो बल्यस्ततः कण्ठ्यो लघुपाकः कफापहः ॥१६३॥

पेया बहुत हलकी, ग्राही और धातु पुष्टिप्रदा होती है। यूष—बलकारक, कण्ठशोधक (अथवा कण्ठे हित) लघुपाकी और कफ को नष्ट करता है ॥१६३॥

वक्तव्य—पेयादि के प्रयोग में 'ग्राहिणी' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु शास्त्रनिर्देशानुसार—

वर्जयेद्द्विदल शूली, कुष्ठी मासं, क्षयी स्त्रियम्।
द्रवमन्नमतीसारी, सर्व च तरुणज्वरी ॥ (योगरत्नाकर)

निषिद्ध है। इसका परिहार इस प्रकार किया गया है। यथा—

कार्यं चानशनस्यान्ते प्रद्रवं लघुभोजनम्। प्रद्रव प्रकृप्रद्रवम् ॥(सुश्रुत)
व्रणोदरस्थापनपातिताना प्रमेहिणां छर्द्यतिसारिणां च।
द्रवं न दद्यादथवापि कोष्णं स्वल्प हितं भेषजसंप्रयुक्तम् ॥ (भोज)

अथेदानीं भक्तविधिमाह—

जले चतुर्दशगुणे तण्डुलानां चतुष्पलम्।
विपचेत् स्रावयेन्मण्डं स भक्तो मधुरो लघुः ॥१६४॥

यह भात बनाने का विधान है। इस में चावल चार पल (१६ तोले) चावलों से चौदह गुना अधिक जल। दोनों को मिलाकर (स्वच्छ पात्र में) पाक करे। (पानी के साथ २ पकते हुए चावलों में से एक चावल कड़छी आदि से उठाकर देखे, अगर तण्डुल कण नि शेषतया गल गया हो तो पात्र को चूल्हे से नीचे उतार कर स्वच्छ वस्त्र खण्ड (पोणा) पात्र मुख पर बाधकर पात्र को यथाविधि अधोमुखी कर देवे। जलीय भाग (मड, लुगडी, पिच्छ) के निकल जाने के पश्चात पात्र को सीधा कर उसके मुख से वस्त्र उतारे और पात्र पर ढकना देकर पुन उसे चार पाच मिनट साधारण उत्ताप पर रखकर उतार ले। इस प्रकार अत्युत्तम भात तैयार होता है। इस प्रकार सिद्ध किया हुआ भात रस में मधुर और पाक में हलका (शीघ्रपाकी) होता है ॥१६४॥

वक्तव्य—भात के उपरोक्त जल परिमाण से भिन्न जलपरिमाण का निर्देश भी शास्त्र में मिलता है—

श्रृतं पञ्चगुणे भक्तं विलेपीति चतुर्गुणे ।

अत. ऐसी व्यवस्था रहने से चतुर्दशगुण जल की व्यवस्था विवाद शून्य नही रहती । परिहार—शास्त्रकारों ने भातनिर्माण दो प्रकार का लिखा है । यथा—(१) धोये हुए चावलों से माड निकाल कर बनाया हुआ । (२) बिना धोये चावलों से माड निकालने के बिना बनाया हुआ । इस विधि से दोनों पाकों में जल भाग की भिन्नता अरुचिकर नही । अर्थात्—

'यत् सुधौतप्रस्रुतं तन्न चतुर्दशगुणे जले साध्यम, अधौतास्रुतं च पञ्चगुणे इति भाव ।'

सुधौतप्रस्रुत चोष्ण विशद गुणवन्मतम् ।
अधौतप्रस्रुतं शीतं गुरुवृष्यं कफप्रदम् ॥

शुद्धमण्डमाह—

नीरे चतुर्दशगुणे सिद्धो मण्डस्त्वसिक्थकः ।
शुण्ठीसैन्धवसंयुक्तः पाचनो दीपनः परः ॥१६५॥

(आम बढिया परिष्कृत) चावलों को चौदह गुना जल में पकावे । तंडुलों के सुपरिपक होने पर भात विधि से छान ले । इस शुद्ध छने हुए सिक्थ (भक्तकण) रहित तरल पदार्थ को शुद्ध मण्ड कहते हैं । आवश्यकतानुसार इस में सोंठ और सैन्धानमक मिलाकर पीने से यह दीपन और पाचनशक्ति वर्द्धक होता है ॥१६५॥

वक्तव्य—जिन रोगियों की पाचनशक्ति बिलकुल दुर्बल हो गई हो उन्हें अवश्य लाभकारक है । टाईफाईड फीवर के रोगियों के लिये यह उत्तम आहार है और उन्हें शंकारहित यथेष्ट दिया जा सकता है । मण्ड तीन प्रकार की होती है । यथा—

मण्डस्तु त्रिविधो ज्ञेय एकद्वित्रिपरिस्रुत. ।
लाजैर्भृष्टैरभृष्टैश्च तण्डुलैः परिसंस्कृतः ॥
चतुस्त्रिंशद्गुण भक्तात् पूर्वः पूर्वो लघुर्हितः ।

अथाष्टगुणो मण्ड —

धान्यत्रिकटुसिन्धूत्थमुद्गतण्डुलयोजितः ।
भृष्टश्च हिङ्गुतैलाभ्यां स मण्डोऽष्टगुणः स्मृतः ॥१६६॥
दीपनः प्राणदो बस्तिशोधनो रक्तवर्धनः ।
ज्वरजित् सर्वदोषघ्नो मण्डोऽष्टगुण उच्यते ॥१६७॥

धनियां, सोंठ, मरिच, कालीपीपल, सैन्धानमक, मूंग, चावल, हीग और तैल—इन सब द्रव्यों को यथामान लेकर चौदह गुना पानी डालकर पकावे । इसे अष्टगुणमण्ड कहते हैं । यह दीपन (अग्निवर्धक), बलदायक, वस्तिकशोधक, रक्त-वर्धक, ज्वरनाशक और सर्वदोषघ्न (त्रिदोषनाशक) है ॥१६६—१६७॥

विधि—तण्डुल और मूग मिश्रित एक पल (अथवा जितने अन्नमान की आवश्यकता हो) चौदह पल पानी के साथ पकावे। तण्डुलादि के पूर्ण पाक पर सैन्धव, धनिया और त्रिकटु चूर्ण (मिसाले के तौर पर) डाले और तिल तैल के साथ हींग को भूनकर (तडका, छौंक) मण्डपात्र में डाले और पात्र को थोडी देर ढाप देवे। धान्यकादि एव हिंगु और तैल केवल स्वादिष्ट बनाने के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। अत इन्हें एतदर्थ मान में डालना उचित है। इस में उपरोक्त आठ गुण होने से इसे अष्टगुणमण्ड कहते हैं। यथा तन्त्रान्तरे—

क्षुद्बोधनो वस्तिविशोधनश्च प्राणप्रदो रक्तविवर्धनश्च।
ज्वरापहारी कफपित्तहन्ता वायु जयेदष्टगुणो हि मण्ड ॥

अथ वाट्यमण्डमाह—

सुकण्डितैस्तथा भृष्टैर्वाट्यमण्डो यवैर्भवेत्।
कफपित्तहरः कण्ठ्यो रक्तपित्तप्रसादनः ॥१६८॥

सुकण्डित (भली प्रकार निस्तुष और कुट्टित) जौं को भूनकर चौदह गुने पानी में पकावे। जब ठीक पक जावे तब वस्त्र से छानकर प्रयोग करे। यह मण्ड कफ और पित्त के प्रकोप को दूर करता है। कण्ठशोधक और रक्तपित्त के कोप को शात करता है ॥१६८॥

अथ लाजमण्डमाह—

लाजैर्वा तण्डुलैर्भृष्टैर्लाजमण्डः प्रकीर्तितः।
श्लेष्मपित्तहरो ग्राही पिपासाज्वरजिन्मतः ॥१६९॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-
संहितायां चिकित्सास्थाने क्वाथकल्पना नाम
द्वितीयोऽध्याय ॥२॥

लाजा (धान की खीलें, फुल्लिया) को अथवा शालि चावलों को भूनकर (भाठ में) चौदह गुना जल से पकाकर प्राप्त किये मण्ड को लाजमण्ड कहते हैं। यह कफ पित्त के प्रकोप को तथा तृषा एवं ज्वर को नष्ट करता है और ग्राहीगुण विशिष्ट होता है ॥१६९॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायां शार्ङ्गधर-
संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकायां मध्यमखण्डे
क्वाथकल्पना नाम द्वितीयोऽध्याय ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

फाण्टकल्पना—

क्षुण्णे द्रव्यपले सम्यग्जलमुष्णं विनिक्षिपेत् ।
मृत्पात्रे कुडवोन्मानं ततस्तु स्रावयेत्पटात् ॥१॥
स स्याच्चूर्णद्रवः फाण्टस्तन्मानं द्विपलोन्मितम् ।
मधुश्वेतागुडादींश्च क्वाथवत् तत्र निक्षिपेत् ॥२॥

क्षुण्ण (अत्यत कुट्टित चूर्ण सदृश) किये हुए द्रव्य को एक पल लेकर, उष्णजल (जो क्वथित करते हुए अर्धावशिष्ट रह गया हो) में डालकर (५—१० मिनट तक जल के साथ उबलने दे) पश्चात् उसे उतारकर वस्त्र द्वारा छान ले। यह कार्य मृत्पात्र में करे। इसको फाण्ट कहते हैं। इसका दूसरा नाम चूर्णद्रव है इसकी मात्रा (एक बार की) दो पल की है। इसमें मधु श्वेतादि का प्रक्षेप परिमाण क्वाथ के सदृश है ॥१-२॥

अथ मधूकादिफाण्ट —

मधूकपुष्पं मधुकं चन्दनं सपरूषकम् ।
मृणालं कमलं लोध्रं गम्भारी नागकेशरम् ॥३॥
त्रिफलां सारिवां द्राक्षां लाजान् कोष्णे जले क्षिपेत् ।
सितामधुयुतः पेयः फाण्टो वाऽसौ हिमोऽथवा ॥४॥
वातपित्तज्वरं दाहं तृष्णामूर्च्छारतिभ्रमान् ।
रक्तपित्तं मदं हन्यान्नात्र कार्या विचारणा ॥५॥

महुआ के फूल, मुलेठी, लालचन्दन, फालसा, कमल की नाल, कमलपुष्प, पठानीलोध, गम्भारी के फल, नागकेसर, हरीड, बहेडा, आमला, सारिवा(आस्फोता), मुनका, लाजा (भृष्टधान्योद्भवा) प्रत्येक द्रव्य समान भाग (भागेऽनुक्ते तु साम्य स्यात्

ग्रहणकर (मिलित सब १ पल हों) भली प्रकार कूटकर चूर्णाकृति बना लेवे । पुन ४पल पानी को क्वथित करे । जब अर्धावशिष्ट रहे तब यह डालकर उपरोक्त विधि के अनुसार वस्त्रद्वारा छान लेवे । इसको फाण्ट कहते हैं । अथवा इसी योग का हिमकषाय बनावे । (इस हिमकषाय का वर्णन चौथे अध्याय में होगा) यह मधूक पुष्पादि फाण्ट शहद और मिशरी मिलाकर पीने से वायु और पित्त के ज्वर को दाह, तृषा, मूर्च्छा, बेचैनी, भ्रम (चक्कर आना), रक्तपित्त और मद (दुष्ट पूग कोद्रवादि जनित) विकार नष्ट होते हैं । इसमें विचारणा—सन्देह नहीं करना । कारण कि 'अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीना प्रभाव' । यथा सुश्रुते—

नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कथञ्चन ।
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्वष्ठादिर्विरेचयेत् ॥३-५॥

अथाम्रादिफाण्ट —

आम्रजम्बूकिसलयैर्वटशुङ्गप्ररोहकैः ।
उशीरेण कृतः फाण्टः सक्षौद्रो ज्वरनाशनः ॥६॥
पिपासाच्छर्द्यतीसारान् मूर्च्छां जयति दुस्तराम् ।

आम तथा जामुन वृक्ष के कोमल पत्र और वटशुङ्ग प्ररोह–वटवृक्ष के कोमल कोमल अभिनव पल्लव एव उशीर (खस) सब को यथामान ग्रहण करके यथाविधि फाण्ट बना लेवे । इसमें मधु डालकर पीने से यह ज्वर, पिपासा, कय, अतिसार, और दुःसाध्य मूर्च्छा को नष्ट करता है ॥६॥

अथ लघुमधूकपुष्पादिफाण्ट —

मधूकपुष्पगम्भारीचन्दनोशीरधान्यकैः ॥७॥
द्राक्षया च कृतः फाण्टः शीतः शर्करया युतः ।
तृष्णापित्तहरः प्रोक्तो दाहमूर्च्छाभ्रमाञ्जयेत् ॥८॥

महुआ के फूल, गम्भारी के फल, लाल चन्दन, खस, धनिया, मुनक्का—यह सब यथामान ग्रहण कर यथाविधि परिस्राधित फाण्ट के शीतल होने पर इसमें खाड डालकर पीने से तृषा, पित्तविकार, दाह, मूर्च्छा और भ्रमरोग नष्ट होते हैं ॥८॥

अथ मन्थविधि —

मन्थोऽपि फाण्टभेदः स्यात्तेन चात्रैव कथ्यते ।
जले चतुष्पले शीते क्षुण्णं द्रव्यपलं क्षिपेत् ॥९॥
मृत्पात्रे मन्थयेत् सम्यक् तस्माच्च द्विपलं पिबेत् ।

मन्थ भी फाण्ट का भेद है, उसे यहा कहा जाता है । एक पल भर सुकुट्टित द्रव्य में चार पल शीतल जल डाल कर दोनों को मृत्पात्र में भली प्रकार मथन करे । इस प्रकार प्राप्त तरल को मन्थ कहते हैं और इसकी दो पल की मात्रा होती है ॥९॥

वक्तव्य—इस मथविधि को कई आचार्य प्रक्षिप्त मानते हैं क्योंकि इसमें कहा गया है कि मन्थ फाण्ट का भेद है। परन्तु मन्थ और फाण्ट में दूर की भी समानता प्रतीत नही होती। यथा—फाण्ट अर्धविशिष्ट उष्णोदक से बनता है। मन्थ चतुर्गुण जल में वस्तु को मन्थन करने से सिद्ध होता है। दोनों में एकान्त पार्थक्य है। विधि—इसमें औषध का सूक्ष्म चूर्ण लिया जाता है। औषध और शुद्ध शीतल जल—दोनों मृत्पात्र में डालकर मधाणी (तक्र मथन करने का यंत्र) से खूब मथन करना पड़ता है। मन्थन क्रिया तब तक छोड़ी नही जाती जब तक पात्र में फेनोद्गम नहीं होता। झाग उत्पन्न होना ही मन्थन क्रिया छोडने का उपयुक्त काल है। झाग उत्पन्न होने पर इसे स्वच्छ वस्त्र से छान लिया जाता है। इस विधान से भी औषधाश मन्थित जल में प्राप्त हो जाता है जो शरीर के अन्दर पहुंच कर रोगनाश में समर्थ होता है।

अथ खर्जूरादिमन्थ—

खर्जूरदाडिमीद्राक्षातिन्तिडीकाम्लिकामलैः ॥१०॥
सपरूषैः कृतो मन्थः सर्वमद्यविकारनुत् ।

छुहारे, अनारदाना, मुनका, समाकदाना, इमली, आमले, फालसा (पक्व)—इन सबको यथामान लेकर (शिला पर पीस ले) पूर्वोक्त विधि के अनुसार मन्थ सिद्ध करे। यह मन्थ सम्पूर्ण मद्य विकारों (मद्यजनित मदात्य रोग) को नष्ट करता है ॥१०॥

अथ छर्द्याम्—मसूरादिमन्थ—

क्षौद्रयुक्ता मसूराणां सक्तवो दाडिमाम्भसा ॥११॥
मथिता वारयन्त्याशु छर्दिं दोषत्रयोद्भवाम् ।

प्रथम मसूरान्न को भाठ में भुना कर उनके सत्तू बना लेवे। मसूर के सत्तू, अनार का पानी और मधु—सबको यथामान (आवश्यकता के अनुसार) लेकर मृत्पात्र में मन्थन करके पान करने से तीनों दोषों से उत्पन्न छर्दि (कय, उल्टी) नाश होती है ॥११॥

यवशक्तुमन्थ—

प्लावितैः शीतनीरेण सघृतैर्यवशक्तुभिः ।
मन्थिता वारयन्त्याशु च्छर्दिं दोषत्रयोद्भवाम् ॥१२॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधरसंहितायां चिकित्सास्थाने फाण्टादिकल्पना नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

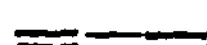
जौं के सत्तू (भूने हुए जौं से) घृत और जल मिलाकर मन्थन करे। इससे तीनों दोषों से उत्पन्न छर्दि रोग तुरन्त नष्ट होता है ॥१२॥

वक्तव्य—यवसक्तुमन्थ श्लोक के उत्तरार्ध के पाठ में कई पुस्तकों में यह पाठ मिलता है—

नातिसान्द्रद्रवो मन्थस्तृष्णादाहास्रपित्तहा ।

इसके लिये यह पाठ भी अनुपयुक्त नहीं है। क्योंकि लोकव्यवहार में प्राय जनसाधारण ग्रीष्म ऋतु में गरमी, तृषा, दाहादि को शात करने के लिये नित्य सत्तु प्रयोग करते हैं। इस श्लोक में विधि वह ही है जो व्यवहार मे आती है। अत यह अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। विधि—प्रथम सत्तू घी में मिलाये जाते हैं और फिर उनमे पानी (शर्करोदक) डालकर पिया जाता है। यद्यपि पाठ में शर्करा नहीं आई परन्तु इसमें शर्करा देने से यवसक्तुमन्थ के स्वाद और गुण में वृद्धि होती है।

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-
संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकाया मध्यमखण्डे
दीपनपाचनविधिर्नाम तृतीयोऽध्याय ॥३॥



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

हिमकल्पना—

क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्नीरपलैः प्लुतम् ।
निशोषितं हिमः स स्यात्तथा शीतकषायकः ॥१॥
तन्मानं फाण्टवज्ज्ञेयं सर्वत्रैवैष निश्चयः ।

सुकुट्टित एक पल द्रव्य और छः पल जल—इन दोनों को मृत्पात्र में डालकर मसल दे और पात्र के मुख को ढांपकर पात्र को रात्रिभर पडा रहने दे । प्रात इसे मसलकर वस्त्र से छान लेवे । इसको हिम और शीत कषाय कहते हैं । इसके पीने की मात्रा (और अन्य प्रक्षेपादि) फाण्ट की तरह दो पल की होती है ॥१॥

आम्रादिहिम —

आम्रं जम्बूं च ककुभं चूर्णीकृत्य जले क्षिपेत् ।
हिमं तस्य पिबेत् प्रातः सक्षौद्रं रक्तपित्तजित् ॥२॥

आम, जामुन और अर्जुनवृक्ष—इनकी छाल का चूर्ण बनाकर छ गुने पानी में भिगो देवे । प्रात. इसे छानकर मधु मिलाकर पान करे। इससे रक्तपित्त नष्ट होता है ॥२॥

तृष्णादौ मरिचादिहिम—

मरिचं मधुयष्टी च काकोदुम्बरपल्लवाः ।
नीलोत्पलं हिमस्तज्जस्तृष्णाच्छर्दिनिवारणः ॥३॥

कालीमिरच, मुलेठी, कठूमर के पत्र (नवपल्लव) और नीलोफर—इन चारों ओषधियों को (एकपल) लेकर कूट लेवे । पुन छ. पल पानी में यथाविधि हिम सिद्ध करे । प्रात काल सेवन करने से तृष्णा और छर्दिरोग नष्ट होता है ॥३॥

नीलोत्पलादिहिम —

नीलोत्पलं बला द्राक्षा मधूकं मधुकं तथा ।

उशीरं पद्मकं चैव काश्मरी च परूषकम् ॥५॥
एष शीतकषायश्च वातपित्तज्वराञ्जयेत् ।
सप्रलापभ्रमच्छर्दिमोहतृष्णानिवारणः ॥६॥

नीलोफर, खरैटी की छाल, दाख, महुआ के फूल, मुलेठी, खस, पद्माख, गम्भारीफल और फालसा (फल)—इन सब को यथाविधि और यथामान ग्रहण करके (आदेशानुसार) सिद्ध किये हुए शीत कषाय से वातपैत्तिक ज्वर, प्रलाप (असम्बद्ध भाषण), भ्रम, वमन, मोह (मन की व्याकुलता) और प्यास की अधिकता नष्ट होती है ॥५-६॥

अथ जीर्णज्वरे अमृतादिहिम —

अमृतायाः हिमः पेयो जीर्णज्वरहरः स्मृतः ।

केवल आर्द्र गुडूची से यथाविधि सिद्ध किया हुआ हिमकषाय जीर्णज्वर को नष्ट करता है। (इसके विशेष लक्षण पूर्वखण्ड के सातवें अध्याय में देखो)।

अथ रक्तपित्ते वासादिहिम —

वासायाश्च हिमः कासं रक्तपित्तज्वराञ्जयेत् ॥७॥

वासामूलत्वक् अथवा पत्र द्वारा यथाविधि प्राप्त हिमकषाय पान करने से खांसी, रक्तपित्त और ज्वर (पित्तप्रधान) नष्ट होते हैं ॥७॥

अथ धान्यादिहिम —

प्रातः सशर्करः पेयो हिमो धान्याकसम्भवः ।
अन्तर्दाहं तथा तृष्णां जयेत्स्रोतोविशोधनः ॥८॥

धनिया को यथामान लेकर कूट पीसकर साधन विधि से हिमसिद्ध करे। इसको प्रातः खाड मिलाकर पीने से अन्तर्दाह (बाहिर से शरीर शीतल होने पर भी अन्दर जलन मालूम होती है) और प्यास को शान्त करता है तथा स्रोतों (मार्गों) को शुद्ध करता है ॥८॥

अथ रक्तपित्तादौ धान्याकादिहिम —

धान्याकधात्रीवासानां द्राक्षापर्पटयोर्हिमः ।
रक्तपित्तं ज्वरं दाहं तृष्णां शोथं च नाशयेत् ॥९॥

इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां
शार्ङ्गधरसंहितायां चिकित्सास्थाने हिमकल्पना
नाम चतुर्थोऽध्याय ॥४॥

धनियां, आमले, वांसापत्र, दाख और पित्तपापड़ा—इन पांच औषधों को कूट पीसकर (१पल) यथाविधि परिसाधित हिमकषाय को पान करने से रक्त-पित्त, ज्वर, दाह, प्यास और शोथरोग (शोथरोग का वर्णन पूर्वखण्ड के सातवें अध्याय में है) नष्ट होते हैं ॥६॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकाया मध्यमखण्डे 'हिमकल्पना' नाम चतुर्थोऽध्याय ॥४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथेदानीं कल्ककल्पना व्याख्यास्याम —

द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत् ।
प्रक्षेपावापकल्कास्ते तन्मानं कर्षसंमितम् ॥१॥
कल्के मधु घृतं तैलं देयं द्विगुणमात्रया ।
सितागुडौ समौ दद्याद् द्रवा देयाश्चतुर्गुणाः ॥२॥

आर्द्रद्रव्य (नया उद्धृत) को स्वच्छ शिला पर चटनी के सदृश पीस लेने को कल्क कहते हैं। यदि द्रव्य शुष्क हो तो उस में जल डालकर चटनी सदृश पीसे। इसको भी कल्क कहते हैं। प्रक्षेप और आवाप—यह कल्क के दूसरे नाम हैं। कल्क की (एक बार की) मात्रा १ कर्ष तक है। कल्क में शहद, घृत और तैल (तिल) द्विगुण (कल्कापेक्ष) मात्रा से दिए जाते हैं। मिश्री और गुड़ कल्क के समान (१ कर्ष) देने चाहियें। एवं द्रव (अन्य द्रव पदार्थ यथा—क्षीर, जल, कांजी, शुक्तादि) पदार्थ (उपरिपानार्थ) चतुर्गुण (कल्कापेक्ष) देने चाहियें।

वक्तव्य—कल्क की साधारण मात्रा १ कर्ष स्थिर की गई है। परन्तु यह १ कर्ष अथवा न्यूनाधिक मात्रा व्याधि विहित द्रव्य के मृदु, मध्य और तीक्ष्ण वीर्य के अनुसार स्थिर करनी उपयोगी होगी। जहां शतपुष्पा की १ कर्ष की मात्रा सुखकर होगी, वहां चित्रक की १ कर्ष मात्रा अग्नि वर्षा करेगी। अतः औषधों के प्रभाव पर सर्वदा पूर्ण ध्यान रखने की आवश्यकता है। कल्क तीक्ष्णवीर्य होता है। क्योंकि कल्कान्तर्गत द्रव्य के सम्पूर्ण भाग उदर में पहुंचते हैं और क्वाथादि के द्रव्यों के वही भाग अन्दर जाते हैं जो क्वाथ के जल में विलीन होते हैं।

अथ वर्धमानपिप्पलीप्रकार.—

त्रिवृद्धया पञ्चवृद्धया वा सप्तवृद्धयाऽथवा कणाः ।
पिबेत् पिष्ट्वा दशदिनं तांस्तथैवापकर्षयेत् ॥३॥

एवं विंशद्दिनैः सिद्धं पिप्पलीवर्धमानकम् ।
अनेन पाण्डुवातास्रकासश्वासारुचिज्वराः ॥४॥
उदरार्शःक्षयश्लेष्मवाता नश्यन्त्युरोग्रहाः ।

प्रतिदिन तीन २ पाञ्च २ अथवा सात २ पिप्पली बढा कर और उन्हें पीस कर प्रयोग करे। ऐसा दश दिन तक करे। पुन उसी क्रम से जैसे प्रतिदिन पिप्पली वढ़ाई थी उसी मात्रा में घटाता जाये। इस प्रकार यह वीस दिन का वर्धमान पिप्पली का प्रयोग होता है। इस से पाण्डु रोग, वातास्र (रुधिर और वायु के मिश्रित विकार), खांसी, दमा, अरुचि, ज्वर, उदररोग (प्लीहोदररोग), बवासीर, क्षय तथा वायु और कफ एवं उरोग्रह यह सब रोग नष्ट होते हैं ॥३—४॥

वक्तव्य—वर्धमान पिप्पली का योग चरक का है। वहा प्रतिदिन दश पीपल से वढ़ाकर आरम्भ किया गया है। मालूम होता है कि वैद्यवर शार्ङ्गधर ने समय और मनुष्यों के बलाबल पर पूर्ण ध्यान देकर आवश्यकता के अनुसार इसमें परिवर्तन कर दिया है। यह परिवर्तन उचित और समयानुकूल सुखकर है। यह योग बडा प्रसिद्ध महोपकारी और भारतीय वैद्यों के नित्य व्यवहार में आता है। वर्धमान पिप्पली के तीन प्रयोग बलाबल के भेदानुसार इस प्रकार जानने चाहियें—तीन पिप्पली से आरम्भ कर तीन २ प्रतिदिन बढ़ाने का अल्पायु-अल्पबल और अल्प-रोगार्थ। पांच से आरम्भ करके पांच २ प्रतिदिन बढाने का मध्यायु-मध्यबल-मध्य-रोग या मध्यदोषप्रकोपशान्त्यर्थ। सात से आरम्भ करके प्रतिदिन सात २ बढाने का पूर्णायु-पूर्णबल और प्रबलरोग एवं प्रबल दोषप्रकोपशान्त्यर्थ। ये यथा-क्रम लघु, मध्य और उत्तम प्रयोग कहलाते हैं।

प्रयोगविधि—(१) जिस प्रयोग के योग्य रोगी हो उसे उतनी संख्या की पिप्पलियों को लेकर स्वच्छ शिला पर दूध के साथ पीस ले। दूध यथानियम चतुर्गुण अथवा आवश्यकता के अनुसार अधिक भी लिया जा सकता है। दोनों को मिलाकर पान करे। औषध के पच जाने पर साठी के चावलों का भात घृत मिश्रित दूध के साथ खावे। यथा—"जीर्णेऽजीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा"।

(२) वृद्धि—पहिले दिन ५, दूसरे दिन १०, तीसरे दिन १५, चौथे दिन २०, पाचवें दिन २५, छठे दिन ३०, सातवें दिन ३५, आठवें दिन ४०, नवें दिन ४५, दशवें दिन ५०। ह्रास—ग्यारहवें दिन ४५, बारहवें दिन ४०, तेरहवें दिन ३५, चौदहवें दिन ३०, पन्द्रहवें दिन २५, सोलहवें दिन २०, सत्रहवें दिन १५, अठारहवें दिन १०, उन्नीसवें दिन ५। यह वृद्धि ह्रास क्रम है। जैसे २ पिप्पलियों की सख्या बढती जाये दूध भी उसी प्रकार बढाते जाना चाहिये। जितनी संख्या से आरम्भ करे उतनी ही संख्या पर समाप्त करे।

(३) चिकित्सकों में इसके प्रति यह व्यवहार भी देखा जाता है कि पिप्पली

कल्क सहन न होने पर पिप्पलियों को वृद्धि और ह्रास क्रम के अनुसार दूध अथवा जल में कथित करके प्रयोग करते हैं। इस प्रकार भी लाभ होता है। जीर्ण ज्वर और जन्म की मन्दाग्नि वालों पर इसका आश्चर्यकारी गुण होता है।

अथ निम्बकल्क —

लेपान्निम्बदलैः कल्को व्रणशोधनरोपणः ॥५॥
भक्षणाच्छर्दिकुष्ठानि पित्तश्लेष्मकृमीञ्जयेत् ।

नीम के पत्तों को शिला पर जल के साथ सूक्ष्म (अत्यन्त सूक्ष्म) पीसकर लेप करने से व्रण शोधन (दुष्ट व्रण जिसमें स्राव अधिक हो) होता है और रोपण (भर जाता है) होता है। इसके कल्क को (मधु मिलाकर) भक्षण करने से वमन, कुष्ठ (रक्त विकार), पित्तकफ जनित विकार तथा कृमि (उदर कृमि) रोग नष्ट होता है।

वक्तव्य—दुष्ट व्रणों को शुद्ध करने के लिये यह कल्क शतशोऽनुभूत है। नीम के पत्रस्वरस में मधु मिलाकर चटाने से भयंकर वमन रोग नष्ट होता है। मुखपाक दूर होता है। बच्चों का दुग्धोद्वमन दूर होता है। बच्चों के पेट के छोटे २ कीडे मर जाते हैं। श्लेष्म विकार से होने वाले कुपचन दोष निश्चय से नष्ट होते हैं। मात्रा—निम्बपत्र रस ६ माशा मधु ६ माशा। बच्चों के लिये १-१ माशा प्रयोग करें।

अथ गृध्रस्याम्—महानिम्बकल्क —

महानिम्बजटाकल्को गृध्रसीनाशनः स्मृतः ॥६॥

बकायन (द्रेक) के जड की छाल (१ तोला) को जल के साथ पीसकर (चौगुने जल में घोलकर) पान करने से गृध्रसी (रीगणवात पीडा) को नष्ट करता है ॥६॥

अथ वातरोगे विषमज्वरादौ च—रसोनकल्क ।

शुद्धः कल्को रसोनस्य तिलतैलेन मिश्रितः ।
वातरोगाञ्जयेत् तीव्रान् विषमज्वरनाशनः ॥७॥

शुद्ध रसोन (लहशुन, छिलका रहित) को पीस कर तिल तैल (द्विगुण मात्रा में) मिला कर चाटने से दारुण वातरोग तथा विषमज्वर दूर होते हैं ॥७॥

विधि—इस कल्क के सेवनविधान दो प्रकार के हैं—प्रथम यह कि लहसन की तुरियों को छिलका रहित करके शिला पर पीसे और तिलतैल मिला कर चाट लेवे। दूसरा यह कि रसोन कल्क को तिलतैल में भूनकर उसमें थोडा सा लवण और धनिया तथा त्रिकटु चूर्ण देकर खावे। इस प्रकार स्वादिष्ट बन जाता है और लाभ भी अधिक करता है।

अथ द्वितीय रसोनकल्क —

पक्वकन्दरसोनस्य गुलिका निस्तुषीकृता ।
पाटयित्वा च मध्यस्थं दूरीकुर्यात्तदङ्कुरम् ॥८॥
तदुग्रगन्धनाशाय रात्रौ तक्रे विनिक्षिपेत् ।

अपनीय च तन्मध्याच्छिलायां पेषयेत्ततः ॥९॥
तन्मध्ये पञ्चमांशेन चूर्णमेषां विनिक्षिपेत् ।
सौवर्चलं यवानीं च भर्जितं हिङ्गु सैन्धवम् ॥१०॥
कटुत्रिकं जीरकं च समभागानि चूर्णयेत् ।
एकीकृत्य ततः सर्वं कल्कं कर्षप्रमाणतः ॥११॥
खादेदग्निबलापेक्षी ऋतुदोषाद्यपेक्षया ।
अनुपानं ततः कुर्यादेरण्डभृतमन्वहम् ॥१२॥
सर्वाङ्गैकाङ्गजं वातमर्दितं चापतन्त्रकम् ।
अपस्मारमथोन्मादमूरुस्तम्भं च गृध्रसीम् ॥१३॥
उरःपृष्ठकटीपार्श्वकुक्षिपीडां कृमीञ्जयेत् ।
अजीर्णमातपं रोषमतिनीरं पयो गुडम् ॥१४॥
रसोनमश्नन् पुरुषस्त्यजेदेतान्निरन्तरम् ।
मद्यं मांसं तथाऽम्लं च रसं सेवेत नित्यशः ॥१५॥

उत्तम परिपक्व पोथिया जाति के लहसन को (५ तोला) लेकर यथाविधि उसके ऊपर का (श्वेताभ पतला) छिलका दूर करे। पुन रसोन की तुरी को मध्य से द्विधाविभक्त करके उसके अन्दर से हरित वर्णाकृति अंकुर को निकाल लेवे। रसोन की तीव्रगन्ध दूर करने के लिये एक मृत्पात्र में तक्र (खट्टी छाछ) भर कर उसमें द्विधाविभक्त रसोन खण्डों को डालकर एक रात्रि भर पड़ा रहने दे। दूसरे दिन प्रात रसोन को तक्र से निकाल कर स्वच्छ शिला पर (चटनी सदृश) पीस लेवे और नीचे की औषधों का पञ्चमांश (मिलित १ तोला) चूर्ण रसोन कल्क में डालकर सबको परस्पर मिला देवे। यथा—कालानमक, अजवायन, घृत से भूनी हुई हीग, सैन्धानमक, कालीपीपल, कालीमिरच, सोंठ, कालाजीरा, सब समान भाग लेकर रसोन कल्क से मिलावे और इस प्रकार मिले हुए रसोन कल्क को कर्ष परिमित खावे। अथवा अग्निबल (पाचन शक्ति तथा व्याधि प्रभाव के अनुसार न्यूनाधिक) के अनुसार ऋतु (शीत ग्रीष्मादि के भेदानुसार) और दोष (दोषों के हीन प्रकोप, मध्य प्रकोप और प्रबल प्रकोप के अनुसार) वातपित्तादि के बलाबल के अनुसार मात्रा प्रयोग करे। ऊपर से एरण्डमूलत्वक् के क्वाथ को पान करे। इससे सर्वांगवात, एक अंग का वायु विकार, अर्दित, अपतंत्रक, अपस्मार, उन्माद, ऊरुस्तम्भ, गृध्रसी, छाती पीठ कमर पसवाडे की दर्द, कुक्षिशूल और क्रिमिरोग नष्ट होते हैं। इस रसोनकल्क के प्रयोग काल में—अजीर्ण कारक पदार्थ (गुरुपाकी), धूप का सेवन, क्रोध, अधिक जलपान, दूध और गुड—इन

मत्र का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये और मद्य, मास (जागल) तथा अम्ल रस का प्रयोग नित्य करना चाहिये ॥८—१५॥

अथ ऊरुस्तम्भे—पिप्पल्यादिकल्क —

पिप्पली पिप्पलीमूलं भल्लातकफलानि च ।
एतत्कल्कश्च सक्षौद्र ऊरुस्तम्भनिवारणः ॥१६॥

काली पीपल, पीपरामूल, शुद्ध भल्लातक—इन तीन औषधो के (मिलित १ तोला भर) कल्क में (२ तोला) मधु मिला कर चाटने से ऊरुस्तम्भ (वायु जनित ऊरु प्रदेश का निष्क्रिय होना) नष्ट होता है ॥१६॥

वक्तव्य—भल्लातक शुद्ध करने के लिये उत्तम पुष्ट भल्लातक लिये जाते हैं। सर्व प्रथम उनकी टोपिया दूर करके उन्हें क्षुण्ण कर लेवे । पुन कडाही में डाल-कर ऊपर से आठ गुणा नारियल का पानी देकर अत्यन्त मन्द आंच पर तीन चार दिन में पका लेवे । शुष्क होने पर शुद्ध हो जाते हैं। सर्वत्र शुद्ध भल्लातक का प्रयोग करे। भल्लातक क्षुण्ण करते समय अपने शरीर की भल्लातक तैल से पूर्ण रक्षा करे। अन्यथा शरीर या शरीराङ्ग के साथ तैल स्पर्श होने से समग्र शरीर पर या अङ्गावयव पर शोथ हो जाया करता है। ऐसी अवस्था में माखन, नारियल की मज्जा और तिल पीस कर लेप करने से विकार शात होता है।

अथ परिणामशूले—विष्णुक्रान्ताकल्क —

विष्णुक्रान्ताजटाकल्कः सिताक्षौद्रघृतैर्युतः ।
परिणामभवं शूलं नाशयेत् सप्तभिर्दिनैः ॥१७॥

विष्णुक्रान्ता (अपराजिता) की जड का कल्क मिशरी, मधु और घृत मिला कर सात दिन सेवन करने से परिणामशूल (भोजन पाक होने के पश्चात होने वाला उदर शूल) नष्ट होता है ॥१७॥

वक्तव्य—भुक्ते जीर्यति यच्छूल तदेव परिणामजम् ।

अथ शुण्ठीकल्क —

शुण्ठीतिलगुडैः कल्कं दुग्धेन सह योजयेत् ।
परिणामभवं शूलमामवातं च नाशयेत् ॥१८॥

सोंठ और तिल (मिलित एक कर्ष परिमित), गुड (१ कर्ष परिमित), दूध चतुर्गुण—इनका सेवन करने से परिणाम शूल और गठिया नष्ट होता है ॥१८॥

वक्तव्य—सोंठ और तिल—दोनो को शिलापेषण करके दूध मिलावे और इन तीनो में गुड घोल कर पान करे।

अथ रक्तार्शसि अपामार्गकल्क —

अपामार्गस्य बीजानां कल्कस्तण्डुलवारिणा ।
पीतो रक्तार्शसां नाशं कुरुते नात्र संशयः ॥१९॥

अपामार्ग (ओंगा, चिरचिरा, पुठकंडा) के वीज १ कर्ष, तण्डुलोदक (चावलों का धोवन ४ तोला) (विधि क्काथ कल्पना में देखें) के साथ पीसकर सेवन करने से सन्देह रहित खूनी बवासीर नष्ट होती है। (केवल रक्तनिस्रुति दूर होगी) ॥१६॥

अथ रक्तातिसारे वदरीमूलकल्क —

वदरीमूलकल्केन तिलकल्कश्च योजितः ।
मधुक्षीरयुतः कुर्याद् रक्तातीसारनाशनम् ॥२०॥

बेरी की जड़ की छाल (१ कर्ष) को पीसकर पिसे हुए (१ कर्ष) तिलों के साथ मधु (१ कर्ष) और दूध (४ कर्ष) मिलाकर सेवन करने से दस्तों में रुधिर का आना बन्द होता है ॥२०॥

लाक्षाकल्कः—

कूष्माण्डकरसोपेतां लाक्षां कर्षद्वयं पिबेत् ।
रक्तक्षयमुरोघातं क्षयरोगं च नाशयेत् ॥२१॥

बेरी की या पीपल की लाख (निर्यास) दो तोले पीसकर कूष्माण्ड (सफेद पेठा) के ४ तोले स्वरस में मधु मिलाकर सेवन करने से रक्तक्षय (रक्तनिस्रुति) छाती का दुखना या व्रण और राजयक्ष्मा यह सब रोग दूर होते हैं ॥२१॥

वक्तव्य—यह योग प्राय अनुभवी चिकित्सकों द्वारा सर्वत्र प्रयुक्त होता है और पूर्ण लाभ करता है। इसे शुद्ध करके प्रयुक्त किया जाता है। यथा—लाक्षा को प्रथम लकडी आदि से रहित करके मृत्पात्र में जल डालकर भिगो दिया जाता है। पुन उसे हाथ से मसल कर रक्तवर्ण के जल को फेंक दिया जाता है। यह क्रिया रक्तिमा निकलने तक आरम्भ रहती है। स्वच्छ जल निकलने पर इसे जल से पृथक् करके सुखा लिया जाता है और पीसकर ३—६ माशा तक चूर्ण कूष्माण्ड रस या बकरी के दूध से दिया जाता है। यह फेफड़ों से शुद्धरक्त के निर्गम को तुरन्त रोक देता है। इस कार्य के लिये बेरी की या पीपल की लाख उपयुक्त होती है।

अथ रक्तप्रदरे तण्डुलीयकल्क —

तण्डुलीयजटाकल्कः सक्षौद्रः सरसाञ्जनः ।
तण्डुलोदकसंपीतो रक्तप्रदरनाशनः ॥२२॥

चौलाई की जड (१ कर्ष) को पीसकर कल्क बनावे। उसमें मधु (१ कर्ष) और रसौत (१ माशा) मिलाकर चावलों के धोवन (४ तोला) के साथ सेवन करे। इससे रक्तप्रदर नष्ट होता है ॥२२॥

अथ अतीसारादौ अङ्कोटककल्क —

अङ्कोलमूलकल्कश्च सक्षौद्रस्तण्डुलाम्बुना ।
अतीसारहरः प्रोक्तस्तथा विषहरः स्मृतः ॥२३॥

अङ्कोल (ढेरा, यह मालावार में होता है) वृक्ष की जड के (१ कर्ष) छिलके को पीसकर मधु (१ कर्ष) मिलावे और चतुर्गुण चावलों के धोवन से पान करे । इससे अतिसार और विष प्रभाव नष्ट होता है ॥२३॥

अथ कर्कोटकादिकल्क —

वन्ध्याकर्कोटिकामूलं पाटलाया जटा तथा ।
घृतेन बिल्वमूलं वा द्विविधं नाशयेद्विषम् ॥२४॥

बाँझककोडे की जड (१ कर्ष), पाढल की जल की छाल (१ कर्ष), बिल्वमूलत्वक् (१ कर्ष)—इनका व्यस्त अथवा समस्त का कल्क बनाकर (२ तोले) गो घृत के साथ मिलाकर सेवन करने से स्थावर और जङ्गम दोनों प्रकार के विष प्रभाव नष्ट होते हैं ॥२४॥

अथ पाचनादौ अभयादिकल्क —

अभयासैन्धवकणाशुण्ठीकल्कस्त्रिदोषहा ।
पथ्यासैन्धवशुण्ठीभिः कल्को दीपनपाचनः ॥२५॥

हरीड़, सैन्धव नमक, कालीपीपल, सोंठ—इन चारों को(प्रत्येक ३-३ माशा) यथाविधि जल से पीसकर सेवन करने से वातपित्त और कफ की न्यूनाधिकता नष्ट होती है । एव हरीड़, सैन्धव, सोंठ—इनका यथाविधि परिसाधित कल्क सेवन करने से दीपन पाचन शक्ति की वृद्धि होती है ॥२५॥

कृमिरोगे त्रिवृतादिकल्क —

त्रिवृत्पलाशबीजानि पारसीययमानिका ।
कम्पिल्लकं विडङ्गं च गुडश्च समभागकः ॥२६॥
तक्रेण कल्कमेतेषां पिबेत् क्रिमिगणापहम् ।

निसोत, ढाक के बीज, किरमानी अजवायन, कमीला, वायविडग—इन सब को यथामान लेकर सब के बराबर गुड़ मिलाकर कल्क करे और उचित मात्रा (½-१ तोला) चतुर्गुण तक्र (मट्ठे) के साथ पान करने से उदरस्थ क्रिमिकुलों का नाश होता है ॥२६॥

वक्तव्य—कई इस योग में यह कहते हैं कि गुड़ प्रथम खा लेवे और ऊपर से तक्र के साथ कल्क का पान करे । उदर में गुड के प्रथम पहुचाने से गुड की मधुर गधपर कृमि आसक्त होकर स्वस्थानों से गुड़ गध की ओर प्रस्थान करते हैं और ऊपर से कृमिघ्न द्रव्यों के पहुचने से एक वार में ही समस्त कृमि समूह का नाश होता है । इसकी विधि भेद में यही रहस्य है । इसके सेवन के पश्चात् एक विरेचन ले लेना चाहिये ।

तिलकल्क —

नवनीततिलैः कल्को जेता रक्तार्शसां स्मृतः ।

नवनीतसितानागकेसरैश्चापि तद्विधः ॥२७॥

तिलों के (एक कर्ष) कल्क को द्विगुण माखन में मिलाकर सेवन करने से रक्तार्श नष्ट होता है और नागकेसर (१ माशा) के साथ माखन (१ कर्ष) और मिशरी (६ माशा) मिलाकर चाटने से अर्शाङ्कुरजन्य रक्तस्रुति नष्ट होती है ॥२७॥

शुण्ठीकल्क —

पीतो मसूरयूषेण कल्कः शुण्ठीशलाटुजः।
जयेत्संग्रहणीं तद्वत्तक्रेण बृहतीभवः ॥२८॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-संहितायां चिकित्सास्थाने कल्ककल्पना नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

सोंठ और अपक्व बिल्वगिरी दोनों को पीसकर मसूर के यूष के साथ और और बड़ी कटेरी के फल को तक्र के साथ पीस कर पान करने से संग्रहणी रोग दूर होता है ॥२८॥

वक्तव्य—आम रहित पक्व सग्रहणी में इसका प्रयोग विधेय है। बेल-गिरी का चूर्ण ६ माशा, सोंठ १ माशा यह एक योग है। बडी कटेरी का फल कल्क ½—१ तोला। तक्र दोनों योगों में एक बार की मात्रा से चतुर्गुण होगा।

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकाया चिकित्सास्थाने कल्ककल्पना नाम पञ्चमोऽध्याय ॥५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

इदानीं चूर्णकल्पनां व्याख्यास्यामः ।

चूर्ण के लक्षण—

अत्यन्तशुष्कं यद् द्रव्यं सुपिष्टं वस्त्रगालितम् ।
तत् स्याच्चूर्णं रजः क्षोदस्तन्मात्रा कर्षसंमिता ॥१॥

अत्यन्त शुष्क (आतपशोषित) द्रव्य को भली प्रकार कूट पीसकर वस्त्र (मलमल) द्वारा छान ले। इसी की चूर्ण सञ्ज्ञा है। रज और क्षोद—यह चूर्ण के दूसरे नाम हैं। मात्रा इस की एक कर्ष (१ तोला) परिमित है ॥१॥

वक्तव्य—(१) चूर्णार्थ जो द्रव्य ग्रहण करना हो उसे भली प्रकार देख भाल लेना चाहिये। साधारणतया पुष्प, फल, पत्र, त्वक्, निर्यास और मूल चूर्णार्थ प्रयुक्त होते हैं। यह सब अत्यन्त स्वच्छ होने चाहियें। पुराने, गले, सडे, कृमिभक्षित, विवर्ण और स्वादरहित द्रव्य चूर्ण के लिये कभी प्रयुक्त न करे। खाने के लिये जो चूर्ण प्रस्तुत हों उन्हें सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्त्रद्वारा छानना चाहिये। सूक्ष्मचूर्ण वर्ण में और खाने में रुचिर और सुखकर होता है।

(२) कर्षभर की मात्रा अनुक्तमान में व्याधि और द्रव्य का बलाबल विचार कर हो सकती है। चूर्णरूप में परिणत प्रत्येक द्रव्य की और प्रत्येक मनुष्य के लिये नहीं हो सकती। वर्तमान के मनुष्य समाज को अत्यन्त तीक्ष्ण और विष रहित द्रव्यों के चूर्ण की मात्रा ४—८ रत्ती तक ठीक है।

(३) शास्त्र में इस बात का उल्लेख है कि दो मास के पश्चात् चूर्ण हीन-वीर्य हो जाते हैं। यथा—

मासद्वयात् तथा चूर्णं हीनवीर्यत्वमाप्नुयात् ।

परञ्च हम नित्य देखते हैं कि विदेशी औषध विक्रेता विलायत से औषधें मंगाते हैं। उनमें अनेकानेक औषधों के साथ चूर्ण भी होते हैं जो विक्रेताओं के

यहां वर्षों पडे रहते हैं। अथवा विलायत से औषध बनकर यहां तक पहुंचते ही दो मास व्यतीत हो जाते हैं। उनके चूर्ण हीनवीर्य नही होते यह क्यों ? यह इसलिये कि हमारी और उनकी विधि में थोडा अन्तर है। कारण यह विदित होता है कि हम लोग चूर्णगुण रक्षणार्थ जितना उपाय अथवा प्रबन्ध करते हैं वह लगभग दो चार मास के लिये ही पर्याप्त होता है। चूर्ण के गुणो को हीन और नष्ट करनेवाले कारणों पर विचार करके यदि उनकी रक्षा के निमित्त उत्तम उपाय व्यवहार में लाये जायें तो यह सम्भव नही कि अवश्य चूर्ण दो मास के पश्चात् हीनवीर्य हो जायें। हम ने यह अनुभव करके देखा है कि दो वर्ष का चूर्ण भी स्वाद, रंग, रूप और गुण में वैसा ही होता है जैसा तत्काल का बनाया हुआ होता है। केवल रक्षणविधि में सावधानी की आवश्यकता है। असावधानता से अवश्य ही हीनवीर्य होजाता है। (रक्षणोपाय के लिये पूर्वखण्ड का प्रथम अध्याय देखो।)

चूर्ण में प्रक्षेप व्यवस्था—

चूर्णे गुडः समो देयः शर्करा द्विगुणा भवेत्।
चूर्णेषु भर्जितं हिङ्गु देयं नोत्क्लेदकृद् भवेत् ॥२॥

(यदि चूर्ण में गुड (गुटिकार्थ) डालना हो तो चूर्ण की मात्रा के समान डाले और यदि खांड डालनी हो तो चूर्ण की मात्रा से द्विगुण डाले। यदि किसी चूर्ण में हीग डालनी हो तो उसे घी में भूनकर इतनी डाले जिससे उत्क्लेद (जी मिचलाना, या घबराहट) न हो। यह प्रक्षेप व्यवस्था प्राय अनुक्त मानार्थ है ॥२॥

अनुपान व्यवस्था—

लिहेच्चूर्णं द्रवैः सर्वैर्घृताद्यैर्द्विगुणोन्मितैः।
पिबेच्चतुर्गुणैरेव चूर्णमालोडितं द्रवैः ॥३॥

चूर्ण को चाटने के लिये घृत, मधु, तैल प्रभृति समस्त पदार्थ चूर्ण के मान की अपेक्षा से द्विगुण ग्रहण करे। यदि पतले पदार्थों (जल, दूध, मद्य, मूत्र, काञ्जी काथादि) से चूर्ण लेना हो तो प्रत्येक द्रव पदार्थ चूर्णापेक्षा चौगुना लेवे और द्रव पदार्थ में चूर्ण को घोलकर पान करे ॥३॥

वक्तव्य—चूर्ण को द्रव पदार्थ में आलोडित करके पीने से यह लाभ है कि चूर्ण सूक्ष्म होता है। मुख में पुडिया के डालते ही चूर्ण के सूक्ष्म कण श्वासित वायु से नासारन्ध्र की ओर आकर्षित होते हैं। जिन से खांसी, घबराहट, वमन, छींक या स्वर घुटने लगता है। दूसरे चूर्ण का कटुत्व और तीक्ष्णत्व या क्षारत्व जिह्वा और मुख के स्वाद को विगाड देता है। तीसरे शुष्क चूर्ण को गले से नीचे उतारने में कष्ट होता है। अतएव पतले पदार्थ के साथ घोलकर पीने से कोई कष्ट नही होता। एव आलोडित चूर्ण द्रवपदार्थ के सहयोग से उदर में शीघ्र ही उदरीय रसों से एकीभाव ग्रहण करता है।

दोषानुसार अनुपान—

चूर्णावलेहगुटिकाकल्कानामनुपानकम् ।
वातपित्तकफातङ्के त्रिद्व्येकपलमाहरेत् ॥४॥

चूर्ण, अवलेह (चाटने योग्य औषध), गुटिका (गोली), कल्क (शिला पिष्ट सजल द्रव्य)—इन प्रत्येक (शास्त्रीय) औषधों के प्रति जो अनुपान (पीछे पीने योग्य, सहपान) शास्त्र निर्दिष्ट हो, उसे वात-रोग नष्ट करने के लिये (एक मात्रा में) तीन पल ग्रहण करे और पित्त-रोग नष्ट करने के लिये दो पल, एवं कफ-रोग नष्ट करने के लिये एक पल ग्रहण करे ॥४॥

अनुपान की आवश्यकता—

यथा तैलं जले क्षिप्तं क्षणेनैव प्रसर्पति ।
अनुपानबलादङ्गे तथा सर्पति भेषजम् ॥५॥

जिस प्रकार जल में डाला हुआ तैल का बिन्दु तुरन्त सम्पूर्ण जल पर फैल जाता है, उसी प्रकार अनुपान के प्रभाव या सहायता से भक्षित औषध भी शरीर में फैल जाती है ॥५॥

वक्तव्य—अनुपान प्राय द्रव पदार्थ होते हैं। द्रव पदार्थ सयोनि होने के कारण उदरीय रसों से शीघ्र मिल जाने के कारण से ही साथ की औषध के प्रभाव को शारीरिक रसों द्वारा तुरन्त फैला देते हैं। जहा कोई द्रव पदार्थ अनुपानार्थ निर्दिष्ट न हो वहा केवल जल का ग्रहण होता है। यथा—

सर्वानुपानेषु वरं वदन्ति मेध्यं यदन्तःशुचिभाजनस्थम् ।
लोकस्य जन्मप्रभृतिप्रशस्तं तोयात्मकाः सर्वरसाः प्रदिष्टाः ॥ (इति सुश्रुते)

अथ चूर्णार्थं भावनापरिमाणमाह—

द्रवेण यावता सम्यक् चूर्णं सर्वं प्लुतं भवेत् ।
भावनायाः प्रमाणं तु चूर्णे प्रोक्तं भिषग्वरैः ॥६॥

चूर्ण में भावनार्थ उतना ही द्रव पदार्थ देना जिस में चूर्ण डूब जावे। यही भावना का परिमाण वैद्यों द्वारा निर्धारित है ॥६॥

वक्तव्य—चूर्णों में गुण वृद्धि के लिये अनेक वनस्पतियों के स्वरस की भावना दी जाती है। अथवा चूर्ण को स्वादु बनाने के लिये निम्बू रस इमली आदि से भी भावित किया जाता है।

विधि—स्वच्छ पत्थर के खरल मे उत्तम चूर्ण डाल देवे। पुन जिस द्रव पदार्थ मे भावित करना हो उसका स्वरस निकाल कर वस्त्र द्वारा छान कर खरल में डाल देवे। यह रस इतना डाले जितने में द्रव्य से एक अगुल परिमित द्रव पदार्थ ऊपर रहे। पश्चात मर्दन करके स्वरस सुखा लिया जाता है। इस प्रकार एक भावना होती है।

अथ ज्वरादौ—आमलक्यादिचूर्णम्—

आमलं चित्रकः पथ्या पिप्पली सैन्धवस्तथा ।
चूर्णितोऽयं गणो ज्ञेयः सर्वज्वरविनाशनः ॥७॥
भेदी रुचिकरः श्लेष्मजेता दीपनपाचनः ।

आमलकी, चित्रक मूलत्वक्, हरीतकी, काली पीपल, सैंधानमक—इस आमलकादिगण की समस्त औषधें समान भाग लेकर यथाविधि कूट पीसकर वस्त्र-पूत चूर्ण कर लेवे। यह सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है। भेदी (विरेचक) और रुचि (अन्नकाङ्क्षा) कारक है। कफ और उससे उत्पन्न रोग दूर करता है। एव दीपन और पाचन है ॥७॥

वक्तव्य—यद्यपि यह सर्वज्वरनाशक कहा गया है। परन्तु इसका व्यवहार विषम ज्वर नष्ट करने के लिये होता है। १—३ माशा की मात्रा से उष्णोदक के साथ देना चाहिये। उपरोक्त मानानुसार दिन भर में ४ मात्रा तक दी जा सकती हैं।

अथ पिप्पलीचूर्णम्—

मधुना पिप्पलीचूर्णं लिहेत् कासज्वरापहम् ॥८॥
हिक्काश्वासहरं कण्ठ्यं प्लीहघ्नं बालकोचितम् ।

पिप्पली चूर्ण (१ भाग , मधु (४ भाग)–दोनो को मिलाकर चाटने से खासी, ज्वर, हिचकी, दमा—ये दूर होते हैं। यह अवलेह गले के रोगों को नाश करता है, गले को स्वच्छ करता है, प्लीहा वृद्धि को नष्ट करता है और बालकों के (ज्वर प्रतिश्याय कासादि में) प्राय' सब रोगों को दूर करता है ॥८॥

वक्तव्य—पिप्पली चूर्ण १ भाग, शर्करी आधा भाग, दोनों को मिला कर नस्य देने से हिक्का तुरंत शान्त होती है। मात्रा—एक बार के लिये ४—८ रत्ती। मधु चतुर्गुण।

अथ त्रिफलाचूर्णम्—

एका हरीतकी योज्या द्वौ च योज्यौ बिभीतकौ ॥९॥
चत्वार्यामलकान्येव त्रिफलैषा प्रकीर्तिता ।
त्रिफला मेहशोथघ्नी नाशयेद्विषमज्वरान् ॥१०॥
दीपनी श्लेष्मपित्तघ्नी कुष्ठहन्त्री रसायनी ।
सर्पिर्मधुभ्यां संयुक्ता सर्वनेत्रामयाञ्जयेत् ॥११॥

हरीतकी (फलत्वक्) एक, बिभीतक (फलत्वक्) दो, आमलकी (फलत्वक्) चार। इस (विषम सख्यान्वित) समुदाय को त्रिफला कहते हैं।

गुण—त्रिफला का सेवन—प्रमेह, सूजन, विषमज्वर, पित्त और श्लेष्म विकार, कुष्ठ—इन सब को नष्ट करता है, जठराग्नि को दीपन करता है और रसायन के गुणों को करता है (नित्य प्रयोग से)। शहद और गोघृत (दोनों विपम

मात्रा में ग्रहण करे) के साथ मिलाकर सेवन किया हुआ नेत्र रोगों (रक्ताधिक्य, नेत्रदाह, शूल, तिमिर, काचादि) को दूर करता है।

वक्तव्य—(१) त्रिफला के मान में वैद्यों में मतभेद है और दो पक्ष हैं। प्रथमपक्ष—उपरोक्त श्लोक से यह मानता है कि एक भाग हरीतकी, दो भाग बहेडा और चार भाग आमले। उनका विचार है कि ऊपर की सख्या से भागों का ग्रहण होना चाहिये। यदि ऊपर के मत को मान लिया जावे तो इसका अर्थ यह होगा कि हरीड १ तोला, बहेडा २ तोले, आमले ४ तोले। इस निर्णय में आमलकी चूर्ण सब से अधिक रहेगा। ऐसी अवस्था में त्रिफला से प्राप्त होने वाले गुणवर्ग में बडा भारी अन्तर आजायेगा। अतएव यह मत सर्व सम्मत नहीं।

दूसरा पक्ष—यह कहता है कि त्रिफला के प्रत्येक द्रव्य को समान मात्रा मे लेना चाहिये। कारण कि वर्णन शैली का अभिप्राय यही है। यथा—नूतन और उत्तम एक हरीतकी का मान दो कर्ष होता है। यथा—

नवादिगुणयुक्तत्व तथैकत्र द्विकर्पता।
हरीतक्याः फले यत्र द्वय तच्छ्रेष्ठमुच्यते॥ (भाव प्र०)

अत एक हरीतकी ग्रहण से २ तोला हरीतकी चूर्ण हुआ। विभीतक दो लिये जाते हैं, इसको कर्षफल (१ तोला का फल) कहते हैं। यथा—

बिभीतकस्त्रिलिङ्ग· स्याद्माक्ष· कर्षफलस्तु स·। (भाव प्र०)

अत विभीतक चूर्ण भी २ तोला हुआ।

आमले चार ग्रहण किये जाते हैं। आमले को कोल फल कहते हैं। कोल ('कोलद्वय च कर्प स्यात'), आधा तोलाभर होता है। इस मानानुसार ४ आमले २ तोला परिमित हुए। अत त्रिफला का प्रत्येक द्रव्य समान भाग हुआ। ऊपर त्रिफला के फलों को मान में निर्दिष्ट किया गया है। ऐसा मान जङ्गली फलों का होता है। यह प्रकृत है। क्रित्रिमता के कारण फल मान में अन्तर कर दिया जाता है वह ग्राह्य नहीं। अत त्रिफला में गणना वैपम्य है। भाग वैपम्य नहीं। और यही माननीय है। त्रिफला शब्द से एक और प्रकार का त्रिफला भी कहा गया है।

यथा—द्राक्षाकाश्मर्यखर्जूरफलानीति फलत्रिका।
इय प्रोक्ता द्वितीया च त्रिफला चरकादिभि·॥

परन्तु सर्वत्र व्यवहार में त्रिफला शब्द से हरीतक्यादि त्रिफला का ही ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। त्रिफला की साधारण मात्रा ६ माशा से १ तोला तक है।

अथ दीपनादौ—त्र्यूषणचूर्णम्—

पिप्पली मरिचं शुण्ठी त्रिभिस्त्र्यूषणमुच्यते।
दीपनं श्लेष्मभेदोघ्नं कुष्ठपीनसनाशनम् ॥१२॥
जयेदरोचकं सामं मेहगुल्मगलामयान्।

कालीपीपल, मरिच, सोंठ—इन तीनों को त्र्यूषण (तीन गरम द्रव्य, त्रिकटु,

व्योष) कहते हैं। गुण और प्रयोग—दीपन है। कफ, मेदरोग, कुष्ठ, पुराना जुकाम, अरुचि, आमदोष[1], प्रमेह, वायगोला और कण्ठ के रोगों को नष्ट करता है।

वक्तव्य—त्र्यूषणावय भी समान मात्रा में ग्रहण होते हैं। इसकी मिलित मात्रा १—२ माशा तक है। अनुपानार्थ—मधु।

अथ अरुच्यादौ—पञ्चकोलचूर्णम्—

पिप्पलीचव्यविश्वाह्वपिप्पलीमूलचित्रकैः ॥१३॥
पञ्चकोलमिति ख्यातं रुच्यं पाचनदीपनम्।
आनाहप्लीहगुल्मघ्नं शूलश्लेष्मोदरापहम् ॥१४॥

कालीपीपल, चव्य, सोंठ, पीपरामूल, चित्रकछाल—इन पांचों को पञ्चकोल कहते हैं। गुण और प्रयोग—रुचिवर्धक, दीपन, पाचन। इसके प्रयोग से अफारा, प्लीहवृद्धि, गोला, शूल (उदर शूल) और कफ जनित उदर रोग शात होते हैं॥१३-१४॥

मात्रा—इस पञ्चकोल की मात्रा १—२ माशा तक योग्य अनुपान से देवे।

त्रिगन्ध तथा चतुर्जात चूर्ण—

त्रिगन्धमेलात्वक्पत्रैश्चतुर्जातं सकेशरैः।
त्रिगन्धं सचतुर्जातं रूक्षोष्णं लघु पित्तकृत् ॥१५॥
वर्ण्यं रुचिकरं तीक्ष्णं पित्तश्लेष्मामयाञ्जयेत्।

छोटी इलायची, दालचीनी और तेजपत्र—इन तीनों (समान भाग, मिश्रित) को त्रिसुगन्ध कहते हैं और इन तीनों के साथ यदि नागकेसर मिला दिया जाये तो इस समुदाय को चतुर्जात कहते हैं।

गुण—त्रिसुगन्ध और चतुर्जात दोनों गुण में रूक्ष, गरम और पाक में लघु तथा तीक्ष्ण होते हैं। प्रयोग—पित्त कारक, वर्ण प्रसादक (कांतिवर्धक), रुचि करने वाले, पित्त और कफ के रोगों को नष्ट करते हैं॥१५॥

अथ कृष्णादिचूर्णम्—

कृष्णारुणामुस्तकशृङ्गिकाणां तुल्येन चूर्णेन समाक्षिकेण[2]।
ज्वरातिसारः प्रशमं प्रयाति सश्वासकासः सवमिः शिशूनाम् ॥१६॥

कालीपीपल, अतीस, नागरमोथा, काकड़ासिंगी—इन चारों को समान भाग लेकर यथाविधि चूर्ण करे और मधु के साथ मिलाकर मात्रानुसार प्रयोग करने से बालकों के ज्वर, अतिसार, दमा, खासी और वमन रोग दूर होते हैं॥१६॥

वक्तव्य—यह चूर्ण बच्चों के उक्त रोगों में बड़ा लाभदायक है। बालक के लक्षण—'आषोडशाद्बाल.' पुनः बालकों के तीन भेद हैं—१ क्षीराशी, २ क्षीरा-

---

१—अहारस्य रस सार यो न पक्वोऽभिलाघवात्।
स मूल सर्वरोगाणा आम इत्यभिधीयते ॥ (सुश्रुत)

२—प्रक्षिप्तम्।

न्नाशी, ३ अन्नाशी। १ क्षीराशी शिशु के लिये २—४ रती एक मात्रा में। २ क्षीरान्नाशी बालक के लिये ४—८ रती एक मात्रा में। ३. अन्नाशी बालक के लिये १—२ माशा एक मात्रा में। प्रत्येक मात्रा में चतुर्गुण मधु मिलाया करे।

अथ जीवनीयगण —

काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकौ तथा।
मेदा चान्या महामेदा जीवन्ती मधुकं तथा ॥१७॥
मुद्गपर्णी माषपर्णी जीवनीयो गणस्त्वयम्।
जीवनीयो गणः स्वादुर्गर्भसन्धानकृद् गुरुः ॥१८॥
स्तन्यकृद् बृंहणो वृष्यः स्निग्धः शीतस्तृषापहः।
रक्तपित्तं क्षयं शोषं ज्वरदाहानिलाञ्जयेत् ॥१९॥

काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, जीवन्ती, मुलहठी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी—इन दश औषधों के समुदाय को जीवनीय गण कहते हैं। यह जीवनीयगण स्वादु (रस और पाक मे मीठा), गर्भसस्थापक, पाक में भारी, स्तनों मे दुग्धोत्पादक, बृहण (मासवर्द्धक), वृष्य (वीर्यवर्द्धक), स्निग्ध (स्नेहन), शीतल, तृषानाशक, रक्तपित्त, क्षय, शोष, ज्वर, दाह और वात जनित रोगों को दूर करता है ॥१७-१९॥

वक्तव्य—यह जीवनीय गण आयुर्वेद की प्रसिद्ध औषधों में से है। परन्तु दुःख इस बात का है कि इसमें अष्टवर्ग की औषधें अप्राप्य हैं। वर्तमान में जिन औषधों को अष्टवर्ग के नाम से उपस्थित किया जा रहा है, वह सब विवादशून्य नही हैं। अष्टवर्ग के विक्रेता दिन प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। मगर हैं सब ढिंढोंरची। किसी ने अष्टवर्ग की जन्म भूमि तक पहुचने का कष्ट उठाया हो, इसमें सोलह आने सन्देह है।

अथाष्टवर्ग —

द्वे मेदे द्वे च काकोल्यौ जीवकर्षभकौ तथा ॥२०॥
ऋद्धिर्वृद्धी च तैः सर्वैरष्टवर्ग उदाहृतः।
अष्टवर्गो बुधैः प्रोक्तो जीवनीयसमो गुणैः ॥२१॥

मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, ऋद्धि और वृद्धि—इन आठ औषधो के समुदाय को अष्टवर्ग कहते हैं। इस अष्टवर्ग के गुण (उपरोक्त) जीवनीय गण के समान हैं ॥२०—२१॥

वक्तव्य—शास्त्राध्ययन से इस स्फुट भेद भेदन में सन्देह नहीं रहता कि जिस समय भी अन्वेषकों द्वारा अष्टवर्ग का अन्वेषण किया गया था, उसी समय से अद्यावधि इसके सम्बन्ध का यह निर्णय अक्षरश चरितार्थ हो रहा है कि "राज्ञा-

मपि सु दुर्लभः' । अत. इसकी ऐसी दुष्प्राप्ति देखते हुए निघण्टुकारों ने आरम्भ से ही इसके प्राय समगुणवीर्य स्थानापन्न औषधों का वर्णन कर दिया है। अतः हमारे विचार में अष्टवर्ग के अभाव में ऋषिनिर्णीत औषधों का ग्रहण करना श्रेष्ठ होगा। वर्तमान में प्रत्येक अष्टवर्ग विक्रेता का अष्टवर्ग भिन्न २ है। किसे विश्वस्त और किसे अविश्वस्त समझा जाये। जब तक वैद्यसमाज सन्देह रहित निर्णय नही करता तब तक के लिये अष्टवर्ग के अभाव में ग्रहण करने योग्य द्रव्य यह हैं—

"वरीविदार्यश्वगन्धावाराहीश्च क्रमात् क्षिपेत् ।" (भावप्रकाश)

मेदा और महामेदा के अभाव में शतावरी। काकोली और क्षीरकाकोली के अभाव में विदारीकन्द। जीवक, ऋषभक के अभाव में असगन्ध नागोटी। और ऋद्धि वृद्धि के अभाव में वाराहीकन्द। अभावद्रव्य ग्रहण में थोड़ा सा मत-भेद भी है। यथा—मेदा के अभाव में असगध। महामेदा के स्थान पर सारिवा। जीवक, ऋषभक के स्थान पर गुडूची और वंशलोचन। ऋद्धि के अभाव में बला और वृद्धि के अभाव में महाबला। (यह मत शार्ङ्गधर की संस्कृत टीका का है।) परतु यह व्यवहार में प्रयुक्त नही होता। अष्टवर्ग-लक्षण विज्ञानार्थ निघण्टु देख लेना चाहिये।

लवणपञ्चकचूर्णम्—

सिन्धु सौवर्चलं चैव विडं सामुद्रिकं गडम् ।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चलवणानि क्रमाद्विदुः ॥२२॥
तेषु मुख्यं सैन्धवं स्यादनुक्ते तत्प्रयोजयेत् ।
सैन्धवाद्यं रोमकान्तं ज्ञेयं लवणपञ्चकम् ॥२३॥
मधुरं सृष्टविण्मूत्रं स्निग्धं सूक्ष्मं बलापहम् ।
वीर्योष्णं दीपनं तीक्ष्णं कफपित्तविवर्धनम् ॥२४॥

सैंधालवण, संचरनमक, विडनमक, सामुद्रनमक, गडनमक(रोमकांत)—इन पाचों को यथाक्रम एक लवण को एकलवण, दो लवणों को द्विलवण, तीन लवणों को त्रिलवण, चार लवणों को चतुर्लवण, पांच लवणों को पञ्चलवण कहते हैं। इनमें सैंधवलवण प्रधान है। (कारण कि इसमें कोई दोष नहीं होता। खाद्य पदार्थों में इसी का व्यवहार होता है।) केवल लवण मात्र कथन से सर्वत्र सैन्धव का प्रयोग करे। सैन्धव से आदि लेकर रोमकांत तक पांचों लवणों को पञ्चलवण कहते है।

गुण—पाचों लवण मधुर (पाक में), मल मूत्र को निकालने वाले, स्निग्ध सूक्ष्म (स्रोतों में प्रवेश करने वाले), बलापह (अधिक मात्रा से शुक्रधातु को दुर्बल करते हैं), उष्णवीर्य, दीपन, तीक्ष्ण एवं कफपित्त वर्धक होते हैं ॥२२—२४॥

वक्तव्य—यथा 'तदत्यर्थमुपयुज्यमान ग्लानिशैथिल्यदौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकर शरीरस्य भवति' (चरक०) । लवण अत्यन्त कफ नाशक हैं। परन्तु मधुर विपाकी होने से कफ वर्धक ही हैं। यथा—'मधुरा जयते श्लेष्मा' इति । एव तीक्ष्ण और उष्णवीर्य होने के कारण पित्तवर्धक हैं । ऊपर गड और रोमकात दो नाम आये हैं । 'गड तच्च रोमक' गड को ही रोमकात अथवा रोमक कहते हैं । विडलवण—यह कृत्रिम होता है । प्रसारिणी बूटी के कल्क में किसी भी लवण को रखकर फूक लिया जाता है । इसी को विड कहते हैं ।

क्षारयोग—

स्वर्जिका यावशूकश्च क्षारयुग्ममुदाहृतम् ।
ज्ञेयौ वह्निसमौ क्षारौ स्वर्जिकायावशूकजौ ॥२५॥
क्षाराश्चाऽन्येऽपि गुल्मार्शोग्रहणीरुक्छिदः सराः ।
पाचनाः कृमिपुंस्त्वघ्नाः शर्कराश्मरिनाशनाः ॥२६॥

सज्जी और यवक्षार—इन दोनों को 'क्षारद्वय' कहते हैं । सज्जी और यवक्षार दोनो अग्नि के समान तीक्ष्ण वीर्य और पाचक हैं और २ प्रकार के क्षार भी गुल्म, अर्श, ग्रहणी के रोगों को नाश करते हैं । यह मल भेदक और पाचन होते हैं । एव कृमि (वाह्याभ्यन्तर), पुस्त्व (शुक्रधातु), शर्करा और पथरी को नष्ट करते हैं ॥२५—२६॥

वक्तव्य—यहा दो क्षार गिनाये गये हैं। परन्तु क्षार आठ होते हैं। अन्य क्षारों से अभिप्राय—अर्क, अपामार्ग, स्नुही, कदली, गोक्षुरु आदि से प्राप्त होने वाले क्षारों से है । क्षार—'वानस्पतिक लवण'—आयुर्वेदज्ञों का उत्तम आविष्कार है । यह वनस्पतियों से प्राप्त किये जाते हैं और महोपकारी पदार्थ हैं । जिस वनस्पति से क्षार प्राप्त किया जाता है उसकी मात्रा क्षाररूप में बहुत कम हो जाती है । क्षार निर्माण विधान इसी खड के ग्यारहवें अध्याय में देखें । मात्रा २—८ रत्ती तक व्यवहार में आती है ।

सुदर्शनचूर्ण—

त्रिफला रजनीयुग्मं कण्टकारीद्वयं शठी ।
त्रिकटु ग्रन्थिकं मूर्वा गुडूची धन्वयासकः ॥२७॥
कटुका पर्पटो मुस्तं त्रायमाणा च वालकम् ।
निम्बः पुष्करमूलं च मधुयष्टी च वत्सकम् ॥२८॥
यवानीन्द्रयवो भार्ङ्गी शिग्रुबीजं सुराष्ट्रजा ।
वचा त्वक्पद्मकोशीरं चन्दनातिविषाबलाः ॥२९॥
शालिपर्णी पृष्ठपर्णी विडङ्गं तगरं तथा ।

चित्रको देवकाष्ठं च चव्यं पत्रं पटोलजम् ॥३०॥
जीवकर्षभकौ चैव लवङ्गं वंशलोचना।
पुण्डरीकं च काकोली पत्रकं जातिपत्रकम् ॥३१॥
तालीसपत्रं च तथा समभागानि चूर्णयेत्।
सर्वचूर्णस्य चार्धांशं कैरातं निक्षिपेत्सुधीः ॥३२॥
एतत्सुदर्शनं नाम चूर्णं दोषत्रयापहम्।
ज्वरांश्च निखिलान् हन्यान्नात्र कार्या विचारणा ॥३३॥
पृथग्द्वन्द्वागन्तुजांश्च धातुस्थान् विषमज्वरान्।
सन्निपातोद्भवांश्चापि मानसानपि नाशयेत् ॥३४॥
शीतज्वरैकाहिकादीन् मोहं तन्द्रां भ्रमं तृषाम्।
श्वासं कासं च पाण्डुं च हृद्रोगं हन्ति कामलाम् ॥३५॥
त्रिकपृष्ठकटीजानुपार्श्वशूलनिवारणम्।
शीताम्बुना पिबेद्धीमान् सर्वज्वरनिवृत्तये ॥३६॥
सुदर्शनं यथा चक्रं दानवानां विनाशनम्।
तद्वज्ज्वराणां सर्वेषामिदं चूर्णं विनाशनम् ॥३७॥

हरीड़, बहेडा, आमला, हल्दी, दारुहल्दी, छोटी कटकारी (मूलत्वक्), बडी कटेरी की जड की छाल, कचूर, कालीपीपल, मरिच, सोंठ, पीपरामूल, मूर्वा, गिलोय, धमासा, कुटकी, पित्तपापडा, नागरमोथा, त्रायमाण (नागदमनी), नेत्रबाला, नीम की छाल, पोहकरमूल, मुलेठी, कुडा की छाल, अजवायन, इन्द्रजौ, भाडंगी, सहजने के बीज, फिटकरी, वच, दालचीनी, पद्माख, खस, श्वेतचन्दन, अतीस, खरैटी की जड का छिलका, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, वायविडङ्ग, तगर, चीते की जड की छाल, देवदारु, चव्य, पटोलपत्र, जीवक, ऋषभक, लौंग, वशलोचन, श्वेतकमल, काकोली, तेजपत्र, जावित्री, तालीसपत्र—इन सब को समान भाग लेवे और यथाविधि चूर्ण कर लेवे। उपरोक्त औषधों के समस्त चूर्ण से आधा चिरायते का चूर्ण डालकर समस्त चूर्ण को मिला देवे। इस प्रकार बने हुए चूर्ण को सुदर्शन चूर्ण कहते हैं ॥२७—३७॥

गुण—यह चूर्ण तीनों दोषों (वात पित्त कफ) को दूर करता है, (दोषों के वैषम्य भाव को समभाग में लाता है), सम्पूर्ण प्रकार के ज्वरों को दूर करता है। इसमें कोई सन्देह नही। वातिकज्वर, पैत्तिकज्वर, श्लैष्मिकज्वर, वातपैत्तिक, वात-श्लैष्मिक, कफपैत्तिकज्वर, आगन्तुकज्वर, धातुगतज्वर (रसादि धातुओं में पहुचा हुआ ज्वर अथवा ज्वरोत्पादक दोष), विषमज्वर (मौसमी बुखार अथवा 'दोषोऽल्प

हितसम्भूत' इस सम्प्राप्ति से उत्पन्न ज्वर) सन्निपातजज्वर, मानसज्वर इत्यादि सब ज्वरों को नष्ट करता है। तथा शीतपूर्वक नित्य आनेवाला, दूसरे दिन आनेवाला, तीसरे दिन आनेवाला, चौथे दिन आनेवाला ज्वर, मोह (मन की व्याकुलता), तन्द्रा, भ्रम, प्यास, दमा, खासी, पीलापन, हृदय के रोग, कामलारोग इन को नष्ट करता है और त्रिकस्थान, पीठ, कमर, जानु, पसवाडे—इन स्थानों के शूल को नष्ट करता है। शीतल जल के अनुपान से इसका प्रयोग सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करता है। जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का सुदर्शनचक्र दानवों को नष्ट करता है, उसी प्रकार यह सुदर्शनचूर्ण ज्वरों को नाश करता है।

वक्तव्य—इसकी मात्रा एक बार मे ४—६ माशा देनी चाहिये। इसका हिम और फाट भी दिया जाता है। कारण कि यह योग लाभप्रद है। समस्त वैद्य समुदाय इसका अहर्निश प्रयोग करता है। चूर्ण की मात्रा अधिक होने के कारण हिम और फाट विधि से पान करने में सुविधा होती है। हमने इसका टिंचर भी तैयार किया है, वह भी उत्तम लाभ करता है।

विधि—सुदर्शनचूर्ण ५ तोले, रैक्टीफाइट स्प्रिट २५ तोले। दोनों को श्वेतकाच की स्वच्छ शीशी में भरकर डाट लगा देवे और एक मास भर पडा रहने दे। एक दो बार नित्य इसको हिला दिया करे। नियत अवधि के पश्चात् शीशी में से स्वच्छ और तरल पदार्थ को नितारकर दूसरी बोतल में डाल लेवे। बस 'सुदर्शनसार' तैयार है। ज्वरों पर इसका भी अद्भुत लाभ होता है। मात्रा १०—२५ विन्दु तक व्याधि और वयोबल के अनुसार। अत्यधिक एस्प्रीन प्रयोग से जिनका हृदय दुर्बल हो गया हो उन्हें विशेष हितकारक है। चढे हुए ज्वर में सुदर्शनसार ५—५ विन्दु से थोडे २ काल के पश्चात् देने से ज्वर उतरना आरम्भ हो जाता है।

ज्वरे—त्रिफलापिप्पलीचूर्णम्—

कासश्वासज्वरहरा त्रिफला पिप्पलीयुता।
चूर्णिता मधुना लीढा भेदिनी चाग्निबोधिनी ॥३८॥

हरीतकी छाल, वहेडा की छाल, आमलकी, काली पीपल—प्रत्येक द्रव्य को पृथक् २ कूट पीस और वस्त्र से छान कर समान भाग चूर्ण परस्पर मिला देवे और उचित मात्रा (४—८ माशा) मधु (चतुर्गुण) के साथ मिलाकर चाटने से मल पतला होकर आता है, अग्नि दीप्त होती है और श्वास (दमा), खासी और ज्वर (विषमज्वर) नष्ट होते हैं ॥३८॥

वक्तव्य—ऊपर के कोष्ठक में जिस मात्रा का निर्देश किया गया है उस से विरेचन नहीं होते। विरेचनार्थ अधिक मात्रा देनी पड़ेगी।

कट्फलादिचूर्ण—

कट्फलं मुस्तकं तिक्ता शुण्ठी भृंगी च पौष्करम्।

चूर्णमेषां च मधुना शृङ्गवेररसेन वा ॥३९॥
लिहेज्ज्वरहरं कण्ठ्यं कासश्वासारुचीर्जयेत् ।
वायुं छर्दिं तथा शूलं क्षयं चैव व्यपोहति ॥४०॥

कायफल, नागरमोथा, कुटकी, सोंठ, काकड़ासिंगी, पोहकरमूल—इन छ औषधों के पृथक् २ चूर्ण को समान भाग प्रत्येक चूर्ण परस्पर मिला देवे। इसकी उचित मात्रा (१—३ माशा) अदरख का रस और शहद मिलाकर चाटने से ज्वर नष्ट होता है। एवं यह चूर्ण कण्ठ को हित (कण्ठरोगनाशक), कास, श्वास, अरुचि, वातविकार, वमनरोग, शूल (श्लेष्मजनित), क्षय—इन सबको शांत करता है ॥३९-४०॥

बृहत्कट्फलादिचूर्ण—

कट्फलं पौष्करं शृङ्गी मुस्ता त्रिकटुकं शठी ।
समस्तान्येकशो वाऽपि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥४१॥
आर्द्रकस्वरसक्षौद्रैर्लिह्यात् कफविनाशनम् ।
शूलानिलारुचिच्छर्दिकासश्वासक्षयापहम् ॥४२॥

कायफल, पोहकरमूल, काकडासिंगी, नागरमोथा, कालीपीपल, मरिच, सोंठ, कचूर—इन सब औषधों को मिलाकर चूर्णविधि से चूर्ण करे अथवा पृथक् पृथक् चूर्ण समान मात्रा में लेकर मिला लेवे। इस चूर्ण की उचित मात्रा (१—३ माशा अदरख के रस और मधु मिलाकर चाटने से कफ (वृद्ध) नष्ट होता है और शूल (वातश्लेष्मजनित), वातविकार, अरुचि, वमन, कास, श्वास और क्षयरोग नष्ट होते हैं ॥४१—४२॥

कट्फलादिचूर्ण—

कट्फलं पौष्करं कृष्णा शृङ्गी च मधुना सह ।
कासश्वासज्वरहरः श्रेष्ठो लेहः कफान्तकृत् ॥४३॥

कायफल, पोहकरमूल, कालीपीपल, काकड़ासिंगी—प्रत्येक द्रव्य समान भाग ग्रहण कर यथाविधि कूट पीस कर वस्त्र द्वारा छानकर चूर्ण प्राप्त कर लेवे। उचित मात्रा (१—३ माशा) मधु मिलाकर चाटने से—खासी, दमा, ज्वर और समस्त कफरोग नष्ट होते हैं ॥४३॥

शृङ्गीचूर्ण—

शृङ्गी प्रतिविषा कृष्णा चूर्णिता मधुना लिहेत् ।
शिशोः कासज्वरच्छर्दिशान्त्यै वा केवला विषा ॥४४॥

काकडासिंगी, अतीस (इसकी गांठ श्वेत और कृमि भक्षित न हो, ऐसी लेनी चाहिये), कालीपीपल—प्रत्येक का चूर्ण समान भाग, उचित मात्रा मधु के साथ प्रयोग करने से—बच्चों के (क्षीराशी, क्षीरान्नाशी, अन्नाशी भेदानुसार मात्रा

देवे) खासी, बुखार, वमन (दूध फेंकना) दूर होते हैं। अथवा केवल अतीस का चूर्ण मधु के साथ चटाने से उपरोक्त लाभ होते हैं ॥४४॥

वक्तव्य—यदि केवल अतिविषा का प्रयोग करना हो तो मात्रा के ऊपर पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। कारण कि इस में अत्यल्प मात्रा में विषांश पाया जाता है। बालकों के लिये साधारण मात्रा २-४ रत्ती और युवाओं के लिये ४-८ रत्ती है।

यवक्षारादिचूर्णम्—

यवक्षारविषाशृङ्गीमागधीपौष्करोद्भवम् ।
चूर्णं क्षौद्रयुतं लीढं पञ्च कासाञ्जयेच्छिशोः ॥४५॥

यवक्षार, अतीस, काकडासिंगी, कालीपीपल, पोहकरमूल। प्रत्येक औषध का समान भाग चूर्ण परस्पर मिलाकर मधु के साथ चटाने से बच्चों की सब तरह की खासी दूर होती है (मात्रा २—४ रत्ती, प्रति बार) ॥४५॥

आमातिसारे—(१) शुण्ठ्यादिचूर्णम्—

शुण्ठीप्रतिविषाहिङ्गुमुस्ताकुटजचित्रकैः ।
चूर्णमुष्णाम्बुना पीतमामातीसारनाशनम् ॥४६॥

सोंठ, अतीस, हींग (घृतभृष्ट), नागरमोथा, इन्द्रजौ, चीते की छाल—इन छः औषधों को समान भाग लेकर यथाविधि कूट पीसकर वस्त्रपूत कर लेवे। इस की उचित मात्रा (२—४ माशा) गरम पानी के साथ पान करने से आमातिसार का नाश होता है ॥४६॥

वक्तव्य—चूर्णों में जहा भी हींग का समावेश हो वहा इसे प्रथम घी से भूनकर पृथक् खरल में बारीक पीसकर चूर्ण में मिलानी चाहिये।

(२) हरीतक्यादिचूर्णम्—

हरीतकी प्रतिविषा सिन्धु सौवर्चलं वचा ।
हिङ्गु चेति कृतं चूर्णं पिबेदुष्णेन वारिणा ॥४७॥
आमातीसारशमनं ग्राहि चाग्निप्रबोधनम् ।

हरीड, अतीस, सैन्धानमक, सचरनमक, वच, हींग (घृतभृष्ट)—इन सब को समान भाग ग्रहण कर, यथाविधि चूर्ण निर्माण करे। इस की उचित मात्रा (३—६ माशा) उष्णोदक के साथ पान करने से—आमातिसार (कच्चे दस्त) दूर होता है। एवं यह चूर्ण ग्राही (मलरोधक) और जाठराग्नि को दीप्त करता है ॥४७॥

वक्तव्य—इस योग के गुणों में 'ग्राही' शब्द आता है। ऊपर हरीतकी भी विद्यमान है। परस्पर दो विरुद्ध गुण युगपत् घटित होने में सन्देहवश कई वैद्य इसे बिना हरीतकी के बनाने के पक्ष में हैं। वैद्यों के दूसरे पक्ष के निर्णय में सम्भव है वही हेतु हो जो ऊपर दिया गया है। इस का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि यह योग आमातिसार के लिये प्रयुक्त होता है। इस रोग में आम (अपक्व रस)

अधिक बढ़ जाता है और जलीय धातु उसको पतला करके गुदा मार्ग से बारम्बार अल्प परिमाण में निःसारित करता हुआ अग्नि को मन्द कर देता है। ऐसी परिस्थिति में हरीतकी अपने रेचक स्वभाव से, अल्पमात्रा में बार २ निकलने वाले अपक्व मल को एक दो बार में बलात् निकाल देता है और अवशिष्ट मल का अपक्व भाग जाठराग्नि की प्रदीप्ति से धारण होता है। अत हरीतकी के बिना यह केवल ग्राही होगा। केवल ग्राही औषध आमातिसार में दी नहीं जाती।

अथ पक्वातिसारे लघुगङ्गाधरचूर्णम्—

मुस्तमिन्द्रयवं बिल्वं लोध्रं मोचरसं तथा ॥४८॥
धातकीं चूर्णयेत्तक्रगुडाभ्यां पाययेत् सुधीः।
सर्वातीसारशमनं निरुणद्धि प्रवाहिकाम् ॥४९॥
लघुगङ्गाधरं नाम चूर्णं संग्राहकं परम्।

नागरमोथा, इन्द्रजौं, बेलगिरी, पठानीलोध, मोचरस (शाल्मली निर्यास), धाय के फूल—इन समस्त औषधों को समान भाग लेकर यथाविधि चूर्ण बना लेवे। गुड मिले हुए तक्र (मट्ठे) के साथ इस चूर्ण की उचित मात्रा (२—४ माशा) पान करने से सब अतिसार (पक्वातिसार में देवे) नष्ट होते हैं। एवं यह लघुगङ्गाधर नाम वाला चूर्ण प्रवाहिका (पेचिश, मरोड़) को रोकता है, एवं सग्राहक (काबिज, मलरोधक) है।

वक्तव्य—तक्र द्रव पदार्थ होने से चूर्ण की एक मात्रा से चतुर्गुण और गुड चूर्णापेक्षा द्विगुण होगा।

बृहद्गङ्गाधरचूर्णम्—

मुस्तारलुकशुण्ठीभिर्धातकीलोध्रवालकैः ॥५०॥
बिल्वमोचरसाभ्यां च पाठेन्द्रयववत्सकैः।
आम्रबीजं प्रतिविषा लज्जालुरिति चूर्णितम् ॥५१॥
क्षौद्रतण्डुलपानीयैः पीतैर्याति प्रवाहिका।
सर्वातिसारग्रहणी प्रशमं याति वेगतः ॥५२॥
वृद्धगङ्गाधरं चूर्णं सरिद्वेगस्य रोधकम्।

नागरमोथा, श्योनाकत्वक्, सोंठ, धाय के फूल, पठानीलोध, सुगन्धवाला, वेलगिरी, मोचरस (शाल्मली निर्यास), पाठा, इन्द्रजौ, कुडा की छाल, आम की गुठली के भीतर की मज्जा, अतीस, लाजवती—इन समस्त औषधों (सब नूतन और ग्राह्यगुणविशिष्ट हों) को समान भाग लेकर चूर्ण करे। इसकी उचित मात्रा (२—४ माशा) चावलों के धोवन (मात्रापेक्षा चतुर्गुण) में मधु मिलाकर सेवन करने से प्रवाहिका (पेचिश), सर्व अतिसार, संग्रहणी आदि रोग शीघ्र शात होते हैं। यह वृद्धगङ्गाधर नाम वाला चूर्ण नदीवेगोपम अतिसार को भी रोक देता है॥५०-५२॥

अजमोदादिचूर्णम्—

अजमोदा मोचरसं सशृङ्गवेरं सधातकीकुसुमम्।
गोदधिमन्थितयुक्तं गङ्गामपि वाहिनीं रुन्ध्यात् ॥५३॥

अजमोदा, मोचरस (शाल्मली निर्यास), सोंठ, धाय के फूल—प्रत्येक द्रव्य समान भाग कूट पीसकर चूर्ण को वस्त्रपूत कर लेवे। इसकी उचित मात्रा (३—६ माशा) गोदधि (तक्र अथवा मथित, तक्रभेद) से पान करने से गङ्गा के वेग के समान प्रवृत्त होनेवाला अतिसार रोग नष्ट होता है ॥५३॥

मरीचादिचूर्ण सग्रहणी पर—

तक्रेण यः पिबेन्नित्यं चूर्णं मरिचसम्भवम्।
चित्रसौवर्चलोपेतं ग्रहणी तस्य नश्यति।
उदरप्लीहमन्दाग्निगुल्मार्शोनाशनं भवेत् ॥५४॥

चित्रकचूर्ण और सौवर्चललवण (कालानमक) मिले हुए तक्र (मट्ठे) के साथ मरिचचूर्ण (१—२ माशा) नित्य सेवन करने से—सग्रहणी रोग (आमानुबन्धी) निश्चय से नष्ट होता है और उदररोग (विषमाग्निजन्य) प्लीहावृद्धि, मन्दाग्नि, (गुल्म गोला) और बवासीर का नाश होता है ॥५४॥

कपित्थाष्टकचूर्णम्—

अष्टौ भागाः कपित्थस्य षड्भागा शर्करा मता।
दाडिमं तिन्तिडीकं च श्रीफलं धातकी तथा ॥५५॥
अजमोदा पिप्पली च प्रत्येकं स्युस्त्रिभागिकाः।
मरिचं जीरकं धान्यं ग्रन्थिकं वालकं तथा ॥५६॥
सौवर्चलं यवानी च चातुर्जातं सचित्रकम्।
नागरं चैकभागाः स्युः प्रत्येकं सूक्ष्मचूर्णितम् ॥५७॥
कपित्थाष्टकसंज्ञं स्याच्चूर्णमेतद्गलामयान्।
अतीसारं क्षयं गुल्मं ग्रहणीं च व्यपोहति ॥५८॥

कपित्थ (कैंथ) का गूदा ८ भाग (८ तोला), मिशरी ६ भाग (६ तोला), अनारदाना, तिंतीडक (समाकदाना), वेलगिरी, धाय के फूल, अजमोदा, कालीपीपल, प्रत्येक ३-३ भाग (३-३ तोला), कालीमरिच, कृष्णजीरक, धनिया, पीपरामूल, सुगधवाला, कालानमक, अजवायन, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेसर, चित्रकमूलत्वक्, सोंठ, प्रत्येक एक २ भाग (१-१तोला), यथाभाग प्रत्येकद्रव्य का वस्त्रपूतचूर्ण लेकर परस्पर सब को मिला देवे। यह 'कपित्थाष्टक' नाम वाला चूर्ण सेवन करने से गलरोग, अतिसार, क्षय, वायगोला और सग्रणी रोग नष्ट होते हैं ॥५५—५८॥

वक्तव्य—(१) कपित्थ के लिये बहुत सा मतभेद है। कई वैद्य पर्वतो पर होने वाले कैथ वृक्ष के फल को ग्रहण करते हैं। परन्तु असल कपित्थ इस समय मालाबार से मंगाया जाता है। यह गोल सा फल होता है। अन्दर से बेलगिरि की तरह गूदा निकलता है, वही ग्राह्य है। गूदा सूखा लेना चाहिये। (२) रोगानुसार इसकी मात्रा में कुछ वैषम्य कर लिया जाता है। यथा—अतिसारादि के लिये २-४ माशा, अन्यरोगार्थ १-३ माशा उचित अनुपान से प्रयोग करे।

पिप्पल्यादिचूर्णम्—

पिप्पली बृहती व्याघ्री यवक्षारकलिङ्गकाः ।
चित्रकं सारिवा पाठा शठी लवणपञ्चकम् ॥५६॥
तच्चूर्णं पाययेद् दध्ना सुरयोष्णाम्बुनाऽपि वा ।
मारुतग्रहणीदोपशमनं परमं हितम् ॥६०॥

कालीपीपल, बड़ी कटेरी की जड की छाल, छोटी कटेरी की जड़ की छाल, जौंखार, इन्द्रजौं, चीते की छाल, सारिवा (सरिवन), पाठा, कचूर, सैंधव, सौवर्चल, विड, सामुद्र और रोमकांत लवण। प्रत्येक समान भाग ग्रहण कर चूर्ण करे। इसको दही (तक्र), मद्य, उष्णोदक आदि से उचित मात्रा (३-६ माशा) अनुसार सेवन करने से वात जनित संग्रहणी रोग नष्ट होता है ॥५६—६०॥

दाडिमाष्टकचूर्णम्—

दाडिमी द्विपला ग्राह्या खण्डा चाष्टपलापि वा ।
त्रिगन्धस्य पलं चैकं त्रिकटु स्यात् पलत्रयम् ॥६१॥
एतदेकीकृतं सर्वं चूर्णं स्याद् दाडिमाष्टकम् ।
रुचिकृद्दीपनं कण्ठ्यं ग्राहि कास ज्वरापहम् ॥६२॥

अनारदाने का चूर्ण दो पल (८ तोले), मिशरी आठ पल (३२ तोले), दालचीनी, छोटी इलायची के बीज, तेजपत्र, एकपल (४ तोला पिसा हुआ प्रत्येक का मिश्रित चूर्ण ४ तोला), कालीपीपल, मरिच, सोंठ, प्रत्येक एक २ पल (४-४ तोला) पृथक् २ चूर्णीभूत औषधों को यथाभाग लेकर मिला लेवे। यह दाडिमाष्टक चूर्ण रुचिवर्धक, अग्निदीपक, गलरोग नाशक तथा ग्राही होता है, एवं खांसी और ज्वर को दूर करता है ॥६१-६२॥

बृहद्दाडिमाष्टकम् अतिसारादौ—

दाडिमस्य पलान्यष्टौ शर्करायाः पलाष्टकम् ।
पिप्पली पिप्पलीमूलं यवानी मरिचं तथा ॥६३॥
धान्यकं जीरकं शुण्ठी प्रत्येकं पलसंमितम् ।

कर्षमात्रा तुगाक्षीरी त्वक्पत्रैलाश्च केशरम् ॥६४॥
प्रत्येकं कोलमात्राः स्युस्तच्चूर्णं दाडिमाष्टकम् ।
अतीसारं क्षयं गुल्मं ग्रहणीं च गलग्रहम् ॥६५॥
मन्दाग्निं पीनसं कासं चूर्णमेतद्व्यपोहति ।

अनारदाने का चूर्ण ८ पल (३२ तोला), मिशरी (चूर्णित) ८ पल, काली पीपल का चूर्ण १ पल (४ तोला), पीपरामूल का चूर्ण १ पल, यमानी का चूर्ण १ पल कालीमरिच का चूर्ण १ पल, धनियां का चूर्ण १ पल, कृष्णजीरक का चूर्ण १ पल, सोंठ का चूर्ण १ पल, वंशलोचन का चूर्ण १ तोला, दालचीनी तेजपत्र इलायची नागकेशर—प्रत्येक ३ तोला ।

इस प्रकार प्रस्तुत हुए चूर्ण को वृहद्दाडिमाष्टक चूर्ण कहते हैं। उचित मात्रानुसार प्रयोग करने से—अतिसार, क्षय, गोला, संग्रहणी, कंठरोग, मन्दाग्नि पुराना जुकाम, खांसी—इन सब रोगों को यह दूर करता है ॥६३—६५॥

अथ अरोचकार्दौ तालीसादिचूर्णम्—

तालीसं मरिचं शुण्ठी पिप्पली वंशलोचना ॥६६॥
एकाद्वित्रिचतुःपञ्चकर्षैर्भागान् प्रकल्पयेत् ।
एलात्वचोस्तु कर्षार्धं प्रत्येकं भागमावहेत् ॥६७॥
द्वात्रिंशत्कर्षतुलिता प्रदेया शर्करा बुधैः ।
तालीसाद्यमिदं चूर्णं रोचनं पाचनं स्मृतम् ॥६८॥
कासश्वासज्वरहरं छर्द्यतीसारनाशनम् ।
शोषाध्मानहरं प्लीहग्रहणीपाण्डुरोगजित् ॥६९॥

तालीसपत्र, मरिच, सोंठ, कालीपीपल, वंशलोचन—ये पांचों औषधें क्रमपूर्वक बढ़ाकर लेवे । यथा—तालीसपत्र १ तोला, मरिच २ तोला, सोंठ ३ तोला, पिप्पली ४ तोला वंशलोचन ५ तोला. छोटी इलायची के बीज का चूर्ण ६ माशा, दालचीनी का चूर्ण ६ माशा । सब को मिलाकर एकत्रित करे और ३२ तोला खाण्ड इसमें मिला देवे—इसको तालीसादि चूर्ण कहते हैं । इसको उष्णोदक या मधु से १—३ माशा तक सेवन करने से भोजनेच्छा उत्पन्न होती है, आमरस (श्लेष्मा) का पाक होता है तथा—खांसी दमा, ज्वर, वमन, अतिसार शोष, अफारा, प्लीहावृद्धि (बच्चों की) संग्रहणी और पाण्डु (पीलापन) रोग नष्ट होते हैं ॥६६—६९॥

लवंगादिचूर्णम्—

लवङ्गं शुद्धकर्पूरमेलात्वङ्नागकेशरम् ।

जातीफलमुशीरं च नागरं कृष्णजीरकम् ॥७०॥
कृष्णागरुस्तुगाक्षीरी मांसी नीलोत्पलं कणा ।
चन्दनं तगरं बालं कङ्कोलं चेति चूर्णयेत् ॥७१॥
समभागानि सर्वाणि सर्वेभ्योऽर्धा सिता भवेत् ।
लवङ्गाद्यमिदं चूर्णं राजार्हं वह्निदीपनम् ॥७२॥
रोचनं तर्पणं वृष्यं त्रिदोषघ्नं बलप्रदम् ।
हृद्रोगं कण्ठरोगं च कासं हिक्कां च पीनसम् ॥७३॥
यक्ष्माणं तमकं श्वासमतीसारमुरःक्षतम् ।
प्रमेहारुचिगुल्मादीन् ग्रहणीमपि नाशयेत् ॥७४॥

लौंग, कर्पूर, सूक्ष्मैला, दालचीनी, नागकेशर, जायफल, खस, सोंठ, काला जीरा, अगर, वशलोचन, जटामासी, नीलोफर, कालीपीपल, श्वेतचन्दन, तगर, सुगन्धबाला, शीतलचीनी—यह समस्त औषधें स्वच्छ और उत्तम समान भाग लेनी हैं। यथाविधि बनाये हुए चूर्ण में चूर्णापेक्षा आधी मिशरी पीसकर मिला देवे। इस प्रस्तुत औषध को लवगादि चूर्ण कहते हैं। यह राजाओं के योग्य औषध है (सुगन्धित एवं बहुगुणकारक होने से)। इसको उचित मात्रानुसार (१—३ माशा) उष्णोदक, मधु या दोषानुसार अनुपानों द्वारा सेवन करने से—जाठराग्नि दीप्त होती है, भोजनेच्छा की वृद्धि होती है, तर्पण (रसादि धातुओं को तृप्त करता है), वृष्य (वीर्यवर्धक), बलप्रद, (ओजोवर्धक) है। एव हृद्रोग (हृत्प्रकम्पन), गले के रोग, खांसी, हिचकी, पुराना जुकाम, राजयक्ष्मा, दमा, अतीसार, उर क्षत, प्रमेह, अरुचि, वायगोला और संग्रहणी रोग नष्ट होते हैं ॥७०—७४॥

वक्तव्य—यह प्रसिद्ध योग है। यक्ष्मा और कासादि में नित्य व्यवहार होता है। बच्चों के दांत निकलने के समस्त रोगों में विशेष उपयोगी है। इन्हें इनकी आयु के अनुसार मात्रा देनी चाहिये। कई वैद्य इसके शर्करामान में आक्षेप करते हैं कि शर्करामान परिभाषा के अनुसार द्विगुण होना चाहिये। परन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि परिभाषा अनुक्तमान के लिये है। ग्रन्थकार यदि किसी योग में परिभाषा से भिन्न कोई वस्तु न्यूनाधिक देनी चाहता है तो मूल पाठ में उसके विशेष मान का उल्लेख स्पष्ट लिख देता है, जैसे यहा है। एवं अन्य ग्रन्थों में भी ऐसा ही नियम इस योग के प्रति व्यवहृत होता है। अत आक्षेप का स्थान नहीं है। इस योग में चूर्ण तैयार होने पर पीछे से कर्पूर पीसकर मिलावे।

अथ महदण्यादौ जातीफलादिचूर्णम्—

जातीफललवङ्गैलापत्रत्वङ्नागकेशरैः ।
कर्पूरचन्दनतिलैस्त्वक्क्षीरीतगरामलैः ॥७५॥

२६४] शार्ङ्गधर सहिता ।

तालीसपिप्पलीपथ्यास्थूलजीरकचित्रकैः ।
शुण्ठीविडंगमरिचैः समभागैर्विचूर्णितैः ॥७६॥
यावन्त्येतानि सर्वाणि कुर्याद्भङ्गां च तावतीम् ।
सर्वचूर्णसमा देया शर्करा च भिषग्वरैः ॥७७॥
कर्षमात्रं ततः खादेन्मधुना प्लावितं सुधीः ।
अस्य प्रभावाद् ग्रहणी कासश्वासारुचिक्षयाः ॥७८॥
वातश्लेष्मप्रतिश्यायाः प्रशमं यान्ति वेगतः ।

जायफल, लौंग, छोटी इलायची, तेजपत्र, दालचीनी, नागकेसर, कर्पूर, श्वेतचन्दन, तिल (छिलका रहित), वशलोचन, तगर, आमले, तालीस पत्र, काली पीपल, हरीड, कालाजीरा, चीते की छाल, सोंठ, वायविडग, मरिच । यह सब समान भाग ग्रहण कर यथाविधि निर्मित चूर्ण मान के बराबर भाग का चूर्ण (भाग धोकर शुद्ध की जाती है पुन उसे कूटकर चूर्ण बनाकर थोडे से घी के साथ मृदु भर्जन कर लिया जाता है) मिला देवे और भाग मिले हुए समग्र चूर्ण के समान भाग मिशरी पीसकर मिला देवे । इस चूर्ण की १ कर्ष (१ तोला) की मात्रा मधु के साथ मिलाकर खावे (१ तोले चूर्ण में ३ माशा भाग का अश होगा। रोगी का वयोबल देखकर उसके सहन करने योग्य मात्रा निश्चित करे) इसके प्रभाव से—सग्रहणी, खासी, दमा, अरुचि, क्षय, वातकफ के विकार, प्रतिश्याय प्रभृति रोग शीघ्र शात होते हैं । (साधारण मात्रा १—३ माशा) ॥७५—७८॥

अथ अरुच्यादौ महाखाण्डवचूर्णम्—

मरिचं नागपुष्पाणि तालीसं लवणानि च ॥७९॥
प्रत्येकमेकभागाः स्युः पिप्पलीमूलचित्रकैः ।
त्वक्कणा तिन्तिडीकं च जीरकं च द्विभागिकम् ॥८०॥
धान्याम्लवेतसौ विश्वं भद्रैला बदराणि च ।
अजमोदा जलधरः प्रत्येकं स्युस्त्रिभागिकाः ॥८१॥
सर्वौषधिचतुर्थांशं दाडिमस्य फलं भवेत् ।
द्रव्येभ्यो निखिलेभ्यश्च सिता देयार्धमात्रया ॥८२॥
महाखाण्डवसंज्ञं स्याच्चूर्णमेतत्सुरोचनम् ।
अग्निदीप्तिकरं हृद्यं कासातीसारनाशनम् ॥८३॥
हृद्रोगकण्ठजठरमुखरोगप्रणाशनम् ।
विषूचिकां तथाध्मानमर्शोगुल्मकृमीनपि ॥८४॥

छर्दिं पञ्चविधां श्वासं चूर्णमेतद्व्यपोहति ।

कालीमिरच, नागकेसर, तालीसपत्र, सैंधवलवण, सौवर्चललवण, विड-लवण, सामुद्रलवण, रोमकांत लवण—प्रत्येक एक २ भाग (१-१ तोला), दालचीनी, कालीपीपल, तितिडीक (समाकदाना), कालाजीरा—यह प्रत्येक दो दो भाग (२-२ तोला), धनियां, अम्लवेत (गलगल का रस), सोंठ, बडी इलायची का चूर्ण, वेर (खट्टे बेरों का चूर्ण), अजमोद, नागरमोथा, यह प्रत्येक तीन २ भाग (३-३ तोला। इस प्रकार सम्रहीत चूर्ण मान (जो ३७ तोला है) से चतुर्थभाग (लगभग १० तोला) अनारदाने का चूर्ण डाले और अनारदाने सहित समस्त चूर्ण मान में (जो ४७ तोला होता है) २३½ तोला बारीक पीसी हुई मिशरी मिला देवे। इस विधान से निर्माण किये हुए इस चूर्ण को 'महाखाण्डव' चूर्ण कहते हैं। यह अत्यंत स्वादिष्ट और रुचिकारक है। इसके प्रयोग से पाचकाग्नि दीप्त होती है। यह हृदय को हितकर है। एवं खांसी, अतीसार, हृद्रोग, कण्ठरोग, मुखरोग, विसूचिका (हैजा), अफारा, बवासीर, गोले का रोग, कृमि, (पेट के कीड़े), पाच प्रकार के वमन रोग और श्वास (दमा)—यह सब निरंतर अभ्यास से दूर होते हैं ॥ ७६—८४ ॥

वक्तव्य—इसका प्रयोग अनुपान विशेष से भी किया जाता है। अथवा थोडा २ मुख में डालकर जिह्वा के तरलद्रव से घोलकर भी नीचे उतारा जाता है। २४ घंटा में एक तोला तक देना चाहिये।

अथ उदरादौ नारायणचूर्णम्—

चित्रकं त्रिफला व्योषं जीरकं हपुषा वचा ॥८५॥
यमानी पिप्पलीमूल शतपुष्पाऽजगन्धिका ।
अजमोदा शठी धान्यं विडङ्गं स्थूलजीरकम् ॥८६॥
हेमाह्वा पौष्करं मूलं क्षारौ लवणपञ्चकम् ।
कुष्ठं चेति समांशानि विशाला स्याद् द्विभागिका ॥८७॥
त्रिवृत्त्रिभागा विज्ञेया दन्त्या भागत्रयं भवेत् ।
चतुर्भागा शातला स्यात् सर्वाण्येकत्र चूर्णयेत् ॥८८॥
पाचनस्नेहनाद्यैश्च स्निग्धकोष्ठस्य रोगिणः ।
दद्याच्चूर्णं विरेकाय सर्वरोगप्रणाशनम् ॥८९॥
हृद्रोगे पाण्डुरोगे च कासे श्वासे भगन्दरे ।
मन्देऽग्नौ च ज्वरे कुष्ठे ग्रहण्यां च गलग्रहे ॥९०॥
दद्याद्युक्तानुपानेन तथाऽऽध्माने सुरादिभिः ।

गुल्मे बदरनीरेण विड्भेदे दधिमस्तुना ॥६१॥
उष्णाम्बुभिरजीर्णे च वृक्षाम्लैः परिकर्तिषु ।
उष्ट्रीदुग्धेनोदरेषु तथा तक्रेण वा गवाम् ॥६२॥
प्रसन्नया वातरोगे दाडिमाम्बुभिरर्शसि ।
द्विविधे च विषे दद्याद् घृतेन विषनाशनम् ॥६३॥
चूर्णं नारायणं नाम दुष्टरोगगणापहम् ।

चीते की छाल, हरीड, वहेडा, आमला, कालीपीपल, मरिच, सोंठ, काला॰ जीरा, हपुषा (हाउवेर), वच, अजवायन, पिप्पलीमूल, मीठी सौंफ, अजवायन के बीज, अजमोद, कचूर, धनियां, कलौंजी (श्वेतजीरक), वायविडग, चोक, पोहकर मूल, यवक्षार, सज्जीखार, सैन्धवलवण, सौवर्चललवण, विडलवण, सामुद्र लवण, रोमकलवण, कूठ । उपरोक्त प्रत्येक औषध का चूर्ण समान भाग लेवे । (प्रत्येक १—१ तोला), निसोत चूर्ण तीन भाग (३ तोला), दन्तीमूलचूर्ण तीन॰ भाग (जमालगोटे की जड का चूर्ण ३ तोला), शातला (पीले दूध की थोहर, अभाव में डडाथोहर की जड की छाल ४ तोला) ४ भाग । सब औषधों को उपरोक्त मान के अनुसार लेकर मिला लेवे । यह चूर्ण पाचन–दोष पाचन, अपक्व दोषों को पकाने वाली औषधा स पकाये गये हैं दोष वात पित कफ जिस रोगी के, एवं स्नेहन. चिकने पदार्थों से स्निग्ध-चिकना किया गया है उदर जिसका, उसरोगी को विरेचनार्थ (दस्त लाने के लिये) यह चूर्ण देना चाहिये । यह सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करता है । एव हृद्रोग, पाण्डुरोग, खासी, दमा, भगंदर, मन्दाग्नि, ज्वर, कुष्ठ, सग्रहणीरोग और कण्ठरोगों में इसे युक्त (योग्य) अनुपान(उष्णोदक) से देवे । तथ आध्मान (अफारा) रोग में सुरा (मद्य) आदि आसवारिष्टादि के साथ देवे । गुल्म रोगनाश करने के लिये इस चूर्ण को खट्टे बेरों के जल से देवे । विड्भेद (वार॰ शौच आने में) रोग में दही के जल से देवे । अजीर्ण (अपचन) रोग में गरम पानी से देवे । परिकर्तिका (वातकोप से गुदा में कैंची से काटने की सी पीडा होती है, में वृक्षाम्ल (इमली के क्वाथ) से देवे । उदररोग (जलोदर) में ऊटनी के दूध के साथ देवे। अथवा गौ के तक्र (मट्ठे) से देवे । वातरोगों (प्रसाद भूतात्मक वायु से उत्पन्न रोगों) मे प्रसन्ना (वराडी) के साथ देवे । बवासीर (वातार्श) में पके हुए अनार के दानों के रस से देवे । स्थावर और जगम दोनों प्रकार के विष जनित रोगों को नष्ट करने के लिये गौ के घृत से देवे । यह नारायण चूर्ण (अनुपान और प्रयोग भेद से) दुष्ट (पुराने अथवा दु खदायी) रोगों के समूहों को नष्ट करता है ॥८५—९३॥

वक्तव्य—यह चूर्ण प्रत्येक वैद्य को अपने यहा तैयार रखना चाहिये । यह अत्यन्त लाभप्रद प्रसिद्ध हुआ है । मात्रा—२-४ माशा । विरेचक मात्रा—१ कर्ष ।

हपुषाद्यं चूर्णम्—

हपुषा त्रिफला चैव त्रायमाणा च पिप्पली ॥९४॥
हेमक्षीरी त्रिवृच्चैव शातला कटुका वचा ।
नीलिनी सैन्धवं कृष्णं लवणं चेति चूर्णयेत् ॥९५॥
उष्णोदकेन मूत्रेण दाडिमत्रिफलारसैः ।
तथा मांसरसेनापि यथायोग्यं पिबेन्नरः ॥९६॥
अजीर्णे प्लीह्नि गुल्मेषु शोफार्शोविषमाग्निषु ।
हलीमकामलापाण्डुकुष्ठाध्मानोदरेष्वपि ॥९७॥

हाऊबेर, हरड़, बहेडा, आमला, त्रायमाणा (नागदमनी), कालीपीपल, चोक, निसोत, शातला (पीले दूध की थोहर का फल), कुटकी, वच, नीलिनी (शरपुंखा), सैन्धानमक, कालानमक—प्रत्येक औषध समान भाग ग्रहण कर यथाविधि चूर्ण प्रस्तुत करे। उचित मात्रानुसार (३—६ माशा) गरम जल, गोमूत्र, अनारदाने का रस (परिपक्व अनार से प्राप्त) त्रिफलाक्वाथ और मांसरस (पक्षियों के मांस का रस) इत्यादि अनुपानों में से व्याधि के योग्य अनुपान से इसका प्रयोग करे। इससे अजीर्ण (बदहजमी), प्लीहावृद्धि, गुल्मरोग, सूजन, बवासीर, विषमाग्नि (जो अग्नि भोजन को कभी पकावे और कभी न पकावे), हलीमक (पाण्डुरोग की तीसरी अवस्था), कामला, पाण्डु, कुष्ठ, अफारा (पेट फूलना) और अन्य उदररोग नष्ट होते हैं ॥९४—९७॥

अथ पञ्चसमचूर्णम्—

शुण्ठी हरीतकी कृष्णा त्रिवृत् सौवर्चलं तथा ॥९८॥
समभागानि सर्वाणि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
ज्ञेयं पञ्चसमं चूर्णमेतच्छूलहरं परम् ॥९९॥
आध्मानजठरार्शोघ्नमामवातहरं स्मृतम् ।

सोंठ का चूर्ण, हरीतकी का चूर्ण, कालीपीपल का चूर्ण, निसोत का चूर्ण, काले नमक का चूर्ण—इन पांचों का समानभाग सूक्ष्म चूर्ण कर लेवे। इसे पञ्चसम (अथवा पञ्चसकार) चूर्ण कहते हैं। इसको योग्य अनुपान के साथ (३—६ माशा) सेवन करने से शूल, आध्मान (पेट का फूलना), उदररोग, बवासीर (बादी की) और आमवात (गंठिया) आदि रोग नष्ट होते हैं ॥९८—९९॥

वक्तव्य—इसको प्रायः वैद्य लोग सुखविरेचनार्थ प्रयोग करते हैं। रात्रि को सोते समय उष्णोदक या दूध से इसकी ७—८ माशे की मात्रा भक्षण करने से प्रातः शौच खुलकर आता है। कई बार इसकी शक्तिवृद्धि के लिये पिप्पली के

स्थान पर अथवा अतिरिक्त स्वर्णपत्री (सनाय) का चूर्ण दिया जाता है। इसमें इस योग में विरेचकशक्ति बहुत बढ़ जाती है। स्वर्णपत्री मिश्रित चूर्ण एक तोला की मात्रा से चार पांच दस्त ले आता है।

नागचचूर्णम्—

कर्षमात्रा भवेत् कृष्णा त्रिवृता स्यात् पलोन्मिता ॥१००॥
खण्डात् पलं च विज्ञेयं चूर्णमेकत्र कारयेत्।
कर्षोन्मितं लिहेदेतत् क्षौद्रेणाध्माननाशनम् ॥१०१॥
गाढविट्कोदरकफान् पित्तं शूलं च नाशयेत्।

कालीपीपल का चूर्ण १ तोला निसोत का चूर्ण ४ तोला. खांड ४ तोला—सब को मिलाकर एकत्र कर लेवे। इस चूर्ण को १ कर्ष (१ तोला) मात्रा से मधु (चतुर्गुण) के साथ मिलाकर चाटने से आध्मान (पेट का अफारा) और तज्जन्य उदरदोष नष्ट होते हैं। इसके प्रभाव से मल पतला हो जाता है। उदररोग कफजनित रोग एवं पित्तजशूल नष्ट होते हैं ॥१००—१०१॥

वक्तव्य—नागचचूर्ण अत्यन्त हितकर औषध है। तत्कालोद्भव उदरशूल और वातश्लेष्म सम्बन्धी उदरविकारों पर इसको बहुत बार प्रयत्न किया है। वृक्कशूल (दर्दगुर्दा) के वेगकाल में इसे उष्णोदक से १ तोला मात्रा देने से तत्काल लाभ होता है।

यकृत्प्लीहशूलादौ—नवरात्रितयाद्य चूर्णम्—

लवणत्रितयं क्षारौ शतपुष्पाद्वयं वचा ॥१०२॥
अजमोदाऽजगन्धा च हपुषा जीरकद्वयम्।
मरिचं पिप्पलीमूलं पिप्पली गजपिप्पली ॥१०३॥
हिङ्गु च हिङ्गुपत्री च शठी पाठोपकुञ्चिका।
शुण्ठीचित्रकचव्यानि विडङ्गं चाम्लवेतसम् ॥१०४॥
दाडिमं तिन्तिडीकं च त्रिवृद्दन्ती शतावरी।
इन्द्रवारुणिका भार्ङ्गी देवदारु यवानिका ॥१०५॥
कुस्तुम्बुरुस्तुम्बुरूणि पौष्करं बदराणि च।
शिवा चेति समांशानां चूर्णमेकत्र कारयेत् ॥१०६॥
भावयेदार्द्रकरसैर्बीजपूररसैस्तथा।
तत्पिबेत् सर्पिषा जीर्णमद्येनोष्णोदकेन वा ॥१०७॥
कोलाम्भसा वा तक्रेण दुग्धेनोष्ट्रेण मस्तुना।
यकृत्प्लीहकटीशूलगुदकुक्षिहृदामयान् ॥१०८॥

अर्शोविष्टम्भमन्दाग्निगुल्माष्ठीलोदराणि च ।
हिक्काध्मानश्वासकासाञ्जयेदेतान्न संशयः ॥१०६॥
एतैरेवौषधैः सम्यग्घृतं वा साधयेत्सुधीः ।

सैन्धवलवण, काला नमक, विडनमक, जवाखार, सज्जीखार, मीठी सौंफ, सोये के बीज, वच, अजमोद, अजगन्धा (वन अजवायन), हाऊबेर, काला जीरा, सफेद जीरा, कालीमिरच, पीपलामूल, कालीपीपल, गजपीपल, हीग (घृतभृष्ट), हिंगुपत्री[1], कचूर, पाठा (जलजमनी), उपकुंचिका (छोटी इलायची या जीरक भेद-कालीजीरी), सोंठ, चीते की छाल, चव्य, वायविडंग, अम्लवेत (गलगल का रस), अनारदाना, इमली, निसोत, दन्तीमूल, शतावरी, तुम्मे की जड, भाडंगी, देव-दारु, अजवायन, धनियां, तुम्बरु (नेपाली धनियां अथवा तेजवल वृक्ष के बीज), पोहकरमूल, वेर (खट्टे), हरीतकी । उपरोक्त सब औषधें स्वच्छ और शुद्ध समान भाग लेवे । यथारीत्या कूट पीसकर वस्त्रपूत चूर्ण बना लेवे और समस्त चूर्ण को एक बडे पत्थर के खरल में डाल कर ऊपर से अदरक का रस इतना डाले जितने में समग्र चूर्ण प्लावित (तरवतर) हो जाये । इसे घोट कर शुष्क कर लेना चाहिये । इसी प्रकार विजोरा निम्बू के रस से (अथवा निम्बू के रस से) एक भावना देकर सुखा लेवे । उत्तम चूर्ण तय्यार होने पर उचित मात्रा (३—६ माशा तक) गोघृत से, पुराने मद्य से, गरम जल से, बदरफल के क्वाथ से, तक्र से, ऊँटनी के दूध से, मस्तु (दही का पानी जो स्वच्छ नील पीताभ होता है) से प्रयोग करे । इससे—जिगर और प्लीहा (तिल्ली) के रोग नष्ट होते हैं । कमर दर्द, गुदशूल, कुक्षिशूल, हृदय के विकार, बवासीर, विष्टम्भ (कबजी), मंदाग्नि, वायगोला, अष्ठीला (पुरीषान्त्र में प्रकुपित वायु), उदर रोग, हिचकी, अफारा, दमा, खासी आदि समस्त रोग नष्ट होते हैं । अथवा ऊपर के योग के द्रव्यों से यथाविधि घृत सिद्ध करके प्रयोग करे, उस से भी उपरोक्त लाभ होते हैं ॥१०२—१०६॥

वक्तव्य—घृत साधन विधि—घृत १ सेर । योगोक्त समस्त द्रव्य (मिश्रित १ पाव) पीस कर डाले । जल ४ सेर । मन्दाग्नि से पाक करे । थोडा सा जलीयाश अवशिष्ट रहने पर अदरक का रस चार सेर और बीजपूर रस अथवा नीम्बू का रस ४ सेर डाल कर मन्दाग्नि से शनै शनै पाक करे । जब पाक शेष हो तब उतार कर छान लेवे । इस की मात्रा १—२ तोला तक व्याधि-व्याधित के अनुकूल अनुपान से प्रयोग करे । स्नेहसाधन की विशेष विधि इसी खंड के नवम अध्याय में देखो ।

---

१ हिंगुपत्री—यह एक छोटा सा क्षुप होता है । इसका लशुन सदृश नाल (डण्डी) होता है । उस नाल को छीलने से पत्राकार शुष्क पत्र से निकलते हैं । कुल्लू पहाड़ और उसके ऊपर बहुत होता है । पर्वतीय भाषा में इसे 'फरण' कहते हैं ।

तुम्बुरादिचूर्णम्—

तुम्बरूणि त्रिलवणं यवानी पुष्कराह्वयम् ॥११०॥
यवक्षाराभयाहिङ्गुविडङ्गानि समानि च ।
त्रिवृत्त्रिभागा विज्ञेया सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥१११॥
पिबेदुष्णेन तोयेन यवक्वाथेन वा पिबेत् ।
जयेत् सर्वाणि शूलानि गुल्माध्मानोदराणि च ॥११२॥

तुम्बरू (नेपाली धनियां अथवा तेजवल वृक्ष के बीज), त्रिलवण (सैन्धव लवण, कालालवण, विडलवण) अजवायन, पोहकरमूल. जवाखार. हरीतकी. वायविडङ्ग—ये सब समान भाग और निसोत का चूर्ण तीन भाग (एकभागापेक्ष) मिलाकर यथाविधि चूर्ण बनाकर उचित मात्रा (३—६ माशा) उष्णोदक अथवा यवान्न के क्वाथ के साथ पान करने से सब प्रकार के उदरशूल, गुल्मरोग आध्मान तथा उदररोग (मदाग्नि कोष्ठबद्धता आदि) नष्ट होते हैं ॥११०—११२॥

अथ गुल्मादौ चित्रकाद्य चूर्णम्—

चित्रकं नागरं हिङ्गु पिप्पली पिप्पलीजटा ।
चव्याजमोदा मरिचं प्रत्येकं कर्षसंमितम् ॥११३॥
स्वर्जिका च यवक्षारः सिन्धुसौवर्चलं विडम् ।
सामुद्रकं रोमकं च कोलमात्राणि कारयेत् ॥११४॥
एकीकृत्याखिलं चूर्णं भावयेन्मातुलुङ्गजैः ।
रसैर्दाडिमजैर्वापि शोषयेदातपेन च ॥११५॥
एतच्चूर्णं जयेद् गुल्मं ग्रहणीमामजां रुजम् ।
अग्निं च कुरुते दीप्तं रुचिकृत्कफनाशनम् ॥११६॥

चीते की छाल, सोंठ, हींग (घृतभृष्ट), कालीपीपल, पीपलामूल. चव्य. अजमोद, कालीमरिच—प्रत्येक औषध का चूर्ण १—१ तोला और सज्जीखार, जौखार. सैन्धानमक कालानमक, विडनमक सामुद्रनमक, रोमकनमक (सांभर नमक) प्रत्येक चूर्ण एक २ कोल (६—६ माशा)—इन सब वस्तुओं के चूर्ण को परस्पर मिलाकर इकट्ठा कर लेवे और मातुलुङ्ग (बिजोरानिम्बू) रस तथा अनार दाना के स्वरस से एक २ भावना देकर मर्दनानन्तर धूप में सुखा लेवे । इसकी उचित मात्रा (३—६ माशा) गुल्मरोग, सग्रहणी, आम (अपक्व आहार रसजदोष) पीडा एवं कफ—इन सब को दूर करती है। इसके प्रयोग से जठराग्नि दीप्त होती है और भोजन रुचि बढ़ती है ॥११३—११६॥

अथ मन्दाग्न्यादौ वडवानलचूर्णम्—

सैन्धवं पिप्पलीमूलं पिप्पली चव्यचित्रकम् ।

शुण्ठी हरीतकी चेति क्रमवृद्ध्या विचूर्णयेत् ॥११७॥
वड़वानलनामैतच्चूर्णं स्यादग्निदीपनम् ।

सैंधानमक १ तोला, पिप्पलामूल २ तोला, कालीपीपल ३ तोला, चव्य ४ तोला, चित्रक के मूल की छाल ५ तोला, सोंठ ६ तोला, हरीतकी ७ तोला। वस्त्रपूत क्रमवर्द्धित भागानुसार बनाया हुआ यह वडवानल नाम वाला चूर्ण पाचकाग्नि को दीप्त (तीक्ष्ण) करता है। इसको ३—६ माशा तक उष्णोदक या मद्य से पान करे ॥११७॥

अथ आमवातशोथादौ—अजमोदादिचूर्णम्—

अजमोदा विडङ्गानि सैन्धवं देवदारु च ॥११८॥
चित्रकः पिप्पलीमूलं शतपुष्पा च पिप्पली ।
मरिचं चेति कर्षांशं प्रत्येकं कारयेद् बुधः ॥११९॥
कर्षास्तु पञ्च पथ्याया दश स्युर्वृद्धदारुकात् ।
नागराच्च दशैव स्युः सर्वाण्येकत्र कारयेत् ॥१२०॥
पिबेत् कोष्णजलेनैव चूर्णं श्वयथुनाशनम् ।
आमवातरुजं हन्ति सन्धिपीडां च गृध्रसीम् ॥१२१॥
कटिपृष्ठगुदस्थां च जङ्घयोश्च रुजां जयेत् ।
तूनीप्रतूनीविश्वाचीकफवातामयाञ्जयेत् ॥१२२॥
समेन वा गुडेनास्य वटकान्कारयेद्भिषक् ।

अजमोद चूर्ण, वायविडंग चूर्ण, सैन्धानमक चूर्ण, देवदारु चूर्ण, चित्रक-मूलत्वक् चूर्ण, पिप्पलीमूल चूर्ण, मीठी सौंफ चूर्ण, कालीपीपल चूर्ण, कालीमिरच चूर्ण। सब एक एक तोला। हरीतकीत्वक् चूर्ण पाच तोला, बिधारे के बीजों का चू० दश तो०, सोंठ का चू० दश तो०—इन सब औषधों के चूर्णों को उक्तमाना-नुसार ग्रहण करके यथाविधि मिला लेवे। पुन उचित मात्रा (३—६ माशा) द्वारा उष्णजल से प्रयोग करे। इससे सूजन, आमवात (गंठिया की दर्दें) सन्धि पीड़ा (जोडों की दर्दें), गृध्रसी (रींगण वाय), कटी (कमर) पीठ हड्डी की दर्द, गुदशूल, दोनों जांघों की पीडा, तूनी और प्रतूनी (पुरीषान्त्रशूल), विश्वाची (इस रोग में बाहु अकर्मण्य हो जाता है), तथा कफ और वायु के विकार से होने वाले रोग नष्ट होते हैं। अथवा (वटक कल्पनानुसार-इसका वर्णन अगले अध्याय में होगा) समानभाग उक्त चूर्ण में गुड़ मिलाकर वटी बनाकर प्रयोग करे तब भी उपरोक्त गुण होते हैं ॥११८—१२२॥

अथ शुण्ठ्यादिचूर्णम्—

शुण्ठी सौवर्चलं हिङ्गु दाडिमं चाम्लवेतसम् ॥१२३॥

चूर्णमुष्णाम्बुना पेयं श्वासहृद्रोगशान्तये ।

सोंठ, कालानमक, हीग (घृतभृष्ट), अनारदाने का चूर्ण, अम्लवेत (गलगल का रस चूर्ण में मिला कर सुखा लेवे)—इन सब औषधों के वस्त्रपूत चूर्ण को समान भाग ग्रहण करके मिला लेवे । उष्णोदक के साथ इस चूर्ण की उचित मात्रा (२—४ माशा) प्रयोग करने से श्वास (दमा, इसका प्रयोग दमे के दौरे पर भी होता है) और हृद्रोग (हृदय का भारीपन अथवा वायु जनित हृदय की व्याकुलता) शान्त होते हैं ॥१२३॥

हिंग्वादिचूर्णं शूलादौ—

हिङ्गु पाठाऽभया धान्यं दाडिमं चित्रकः शठी ॥१२४॥
अजमोदा त्रिकटुकं हपुषा चाम्लवेतसम् ।
अजगन्धा तिन्तिडीकं जीरकं पौष्करं वचा ॥१२५॥
चव्यं क्षारद्वयं पञ्च लवणानीति चूर्णयेत् ।
प्राग्भोजनस्य मध्ये वा चूर्णमेतत्प्रयोजयेत् ॥१२६॥
पिबेद्वा जीर्णमद्येन तक्रेणोष्णोदकेन वा ।
गुल्मे वातकफोद्भूते विड्ग्रहेऽष्ठीलिकासु च ॥१२७॥
हृद्बस्तिपार्श्वशूलेषु शूले च गुदयोनिजे ।
मूत्रकृच्छ्रे तथानाहे पाण्डुरोगेऽरुचौ तथा ॥१२८॥
हिक्कायां यकृति प्लीह्नि श्वासकासे गलग्रहे ।
ग्रहण्यर्शोविकारेषु चूर्णमेतत्प्रशस्यते ॥१२९॥
भावितं मातुलुङ्गस्य बहुशः स्वरसेन वा ।
कुर्याच्च गुटिकाः बह्वीर्वातश्लेष्मामयापहाः ॥१३०॥

हीग (घृतभृष्ट), पाठा (पाढ, जलजमनी), हरीतकी त्वक्, धनिया, अनारदाना, चीते की छाल, कचूर, अजमोद, त्रिकटु (काली मिरच, काली पीपल, सोंठ), हाउबेर, अम्लवेत (गलगल का रस), अजगन्धा (वन अजवायन), इमली का गूदा, जीरा (काला), पोहकरमूल, वच, चव्य, जवाखार, सज्जीखार, पञ्चलवण (सैन्धानमक, कालानमक, विडनमक, समुद्रनमक, साभरनमक)—इन सब औषधों के पृथक् २ चूर्ण को समान मात्रा में लेकर एकत्र कर लेवे । इसकी रोगानुसार उचित मात्रा (६ माशा से एक तोला तक) भोजन के आदि अथवा मध्य में प्रयोग करे । अथवा इस चूर्ण को जीर्णमद्य (पुरानी वराडी) के साथ अथवा तक्र के साथ अथवा उष्णोदक के साथ प्रयोग करने से वातकफ से उत्पन्न गुल्मरोग, विड्ग्रह (मलावरोध), अष्ठीलिका (मलान्त्र

का वात प्रकोप), हृदय, वस्ति (मूत्राशय), पसवाडे, गुदा और योनि (अपत्यपथ और गर्भाशय) आदि स्थानों पर उत्पन्न होने वाले शूल (वायु जनित पीडायें) नष्ट होते हैं। एवं मूत्रकृच्छ्र (मूत्र का कष्ट से आना), आनाह (पेट का फूलना), पाण्डुरोग, अरुचि (भोजनेच्छा का अभाव), हिचकी, यकृतरोग (जिगर के रोग), प्लीहारोग (तिल्ली), दमा, खासी, गलग्रह (वातश्लेष्म प्रकोप से गले का जकडा सा होना), संग्रहणी, बवासीर—इन उपरोक्त समस्त रोगों में यह अत्यन्त हितकर है। अथवा इस योग के समस्त चूर्ण को मातुलुङ्ग (बिजोरा निम्बू के रस से बहुत सी भावनायें देकर भली प्रकार पीसकर गोलियां बना लेवे। यह गोलिया वातश्लेष्मोद्भूत समस्त विकारों के लिये हितकर हैं ॥१२४—१३०॥

वक्तव्य—(१) हिंगु के लिये "भुनी हींग" का निर्देश प्राय भाषा पुस्तकों में रहता है। इस अर्थ को पूरा करने के लिये प्राय लोग हीग को थोड़ी सी रूई में लपेट कर थोड़े काल के लिये अग्नि में छोड़ देते हैं। परंतु यह विधि शास्त्रानुमोदित नही। अत हींग को सर्वदा घी में भूनकर प्रयोग करना उचित है।

(२) इस चूर्ण के प्रयोग के लिए भोजन से पूर्व और भोजन के मध्य-आधा भोजन कर लेने पर यह दो विशेषकाल स्थिर किये गये हैं। भोजन से पूर्व का अभिप्राय भोजन के प्रारम्भिक चार पाच ग्रासों से है। वृद्ध वैद्यों के व्यवहारानुसार १ तोला चूर्ण और १ तोला गोघृत मिलाकर आरंभ के दो चार ग्रासों के साथ भक्षण करे। यह व्यवस्था आमाशयिक वातशान्ति तथा नाभि के नीचे कटी जंघा आदि में होने वाले रोगों की शांति के लिये की जाती है। एवं भोजन के मध्य में औषध प्रयोग नाभि से ऊपर यकृत, प्लीहा, हृद्रोग, गल, कास, श्वासादि में प्रयुक्त होती है।

(३) औषधार्थ सर्वदा जीर्णमद्य ग्रहण करना शास्त्रानुमोदित है। यथा—

"नवं मद्यमभिष्यन्दि गुरुदोषकर परम्।
जीर्णं च सर्वदोषघ्नं लघुत्व च कफापहम्॥"

(४) भोजन के आदि और मध्य में जो औषध मात्रा प्रयोग हो, वह साधारण मात्रा की अपेक्षा से द्विगुण हो। कारण कि अल्पमात्रा भोजन से आच्छादित होने से हीनगुण कारक रहती है। इसकी साधारण मात्रा ३—६ माशा उचित अनुपान से प्रयोग करे।

(५) ऊपर मातुलुंग रस से बहुभावना का निर्देश है। बहु शब्द से प्राय सात भावना का ग्रहण किया जाता है।

(६) भावना के पश्चात् गोलियों को भली प्रकार धूप में सुखाकर बोतल में रखना चाहिये। अन्यथा अत्यल्प आर्द्रता रहने से बोतल के अन्दर की गोलियों के ऊपर लवणांश कण रूप में बाहर निकल आता है और गोलियां हीनवीर्य हो जाती हैं।

दूसरा हिंग्वादि चूर्ण—

हिङ्गूग्रगन्धाविडविश्वकृष्णाकुष्ठाभयाचित्रकयावशूकम् ।
पिबेत् ससौवर्चलपुष्कराह्वयं हिमाम्भसा शूलहृदामयघ्नम् ॥१३१॥

हींग (घृतभृष्ट), वच, विडनमक, सोंठ, कालीपीपल, कूठ, हरीड़ का छिलका, चीते की जड़ की छाल, जवाखार, काला नमक, पोहकरमूल—इन सब औषधों के पृथक् २ चूर्ण को समान मात्रा में इकट्ठा करे। शीतल जल से इस की उचित मात्रा (३—६ माशा) के प्रयोग से शूल (उदरशूल) और हृदयरोग (हृदय में वातश्लेष्मिक विकार) दूर होते हैं ॥१३१॥

अथ यमानीखाण्डवचूर्णमरोचकादौ—

यवानी दाडिमं शुण्ठी तिन्तिडीकाम्लवेतसौ ।
बदराम्लं च कुर्वीत चतुःशाणमितानि च ॥१३२॥
सार्धद्विशाणं मरिचं पिप्पली दशशाणिका ।
त्वक्सौवर्चलधान्याकं जीरकं द्विद्विशाणकम् ॥१३३॥
चतुःषष्टिमितैः शाणैः शर्करामत्र योजयेत् ।
चूर्णितं सर्वमेकत्र यवानीखाण्डवाभिधम् ॥१३४॥
चूर्णं जयेत् पाण्डुरोगं हृद्रोगं ग्रहणीं ज्वरम् ।
छर्दिशोषातिसारांश्च प्लीहानाहविबन्धनम् ॥१३५॥
अरुचिं शूलमन्दाग्निमर्शोजिह्वागलामयान् ।

अजवायन का चूर्ण १ तो०, अनारदाने का चू० १ तो०, सोंठ का चू० १ तो०, इमली का गूदा १ तो०, अम्लवेत (गलगल) का रस १ तो०, खट्टे बेरों का चू० १ तो०, कालीमिर्च का चू० ७॥ माशे, कालीपीपल का चू० २॥ तो०, दालचीनी का चू० ६ माशा, कालानमक पीसा हुआ ६ माशा, धनिया का चू० ६ माशा, काले जीरे का चू० ६ माशा, मिशरी का चू० १६ तो०—उपरोक्त सब औषधों को यथोक्तमान के अनुसार लेकर मिला लेवे। इसको यमानी खाण्डव कहते हैं। इसकी उचित मात्रा (३—६ माशा) योग्य अनुपान (जल, तक्र अथवा आवश्यकतानुसार क्वाथादि) द्वारा प्रयोग करने से पाण्डुरोग, हृद्रोग (रसदोष जन्य गुरुता), सग्रहणी (आमानुबन्धी), ज्वर, वमन, शोष (रसादि धातुओं की उचित मात्रा के अभाव से शरीर का सूखना), अतीसार (अजीर्णजन्य), प्लीहावृद्धि, पेट का फूलना, विबन्ध (वायु की विकृति से होने वाली साधारण रुकावट), अरुचि (भोजनेच्छा का अभाव), शूल, मन्दाग्नि, ववासीर, जिह्वा (जिह्वा की रोक्षता और विरसता) तथा कण्ठ के रोगों को दूर करता है ॥१३२—१३५॥

१—प्लीहम् ।

वक्तव्य—यह योग अत्यन्त लाभकारक है और बडा स्वादिष्ट पाचन है। बड़े २ भेषजद्वेषी भी इसे बड़े चाव से खाते हैं। इस योग में इमली और अम्लवेत हैं। इमली को पानी में घोलकर चूर्ण में मिलाना है। अम्लवेत का रस ही डाल देना है। दोनों द्रव पदार्थ देकर चूर्ण सुखा लिया जाता है। योगोक्त मान के अनुसार अम्लांश स्वादप्रद नही होता। इसको अधिक स्वादिष्ट बनाने के लिये हम निम्बु रस की एक दो भावनायें दे लेते हैं। इस से वड़ा स्वादिष्ट और गुणाढ्य चूर्ण बनता है। स्मरण रहे कि जिन चूर्णो में खांड और भावना दोनों हों, उन्हें पश्चात् अगर चूर्ण रूप में प्रस्तुत करने की इच्छा हो तो खाड को पृथक् रखकर प्रथम चूर्ण को अम्लादि से भावना देकर सुखा लिया जाता है। इस प्रकार सुशुष्क चूर्ण में पश्चात् खांड को मिलाया जाता है। अन्यथा खांड के साथ अम्लादि की भावना देने से चूर्ण के स्थान पर अवलेह् प्राप्त होगा।

अथ कासक्षयरक्तपित्तादौ सितोपलादिचूर्णम्—

सितोपला षोडश स्यादष्टौ स्याद्वंशरोचना ॥१३६॥
पिप्पली स्याच्चतुष्कर्षा स्यादेला च द्विकार्षिकी।
एकः कर्षस्त्वचः कार्यश्चूर्णयेत्सर्वमेकतः ॥१३७॥
सितोपलादिकं चूर्णं मधुसर्पिर्युतं लिहेत्।
श्वासकासक्षयहरं हस्तपादाङ्गदाहजित् ॥१३८॥
मन्दाग्निं सुप्तजिह्वत्वं पार्श्वशूलमरोचकम्।
ज्वरमूर्ध्वगतं रक्तं पित्तमाशु व्यपोहति ॥१३९॥

सितोपला चूर्ण (कूजा मिशरी) १६ तोले, वंशलोचन चू० ८ तो०, काली पींपल का चू० ४ तो०, वड़ी इलायची का चू० २ तो०, दालचीनी का चू० १ तोला। सब को यथामान लेकर परस्पर मिला लेवे। इसको सितोपलादि चूर्ण कहते कहते हैं। इसको मधु और घी के साथ मिला कर प्रयोग किया जाता है। इसके प्रयोग से श्वास (दमा), कास (खांसी), क्षय (धातुक्षय), हाथ और पाओं की जलन, मन्दाग्नि, सुप्तजिह्वत्व (कफ की अधिकता और दुष्टि के कारण जिह्वा की रसज्ञान शक्ति की दुर्बलता), पसवाड़े का दर्द, अरुचि (भोजन की इच्छा का न होना), ज्वर, ऊर्ध्वगतरक्तपित्त (इसमें नासा, मुख, नेत्र आदि मार्गों से रक्त निकलता है। इसको नकसीर भी कहते हैं)-यह सब रोग तुरन्त दूर होते हैं॥१३६-१३९॥

वक्तव्य—सितोपलादि चूर्ण आयुर्वेद का प्रसिद्ध योग है। सर्वत्र वैद्यों द्वारा व्यवहृत होता है। शुष्ककास और यक्ष्मा तथा निमोनिया की खासी में विशेष लाभप्रद है। इसकी मात्रा एक से तीन मासा है। इसकी एक मासा की मात्रा में घृत ३ मासा और मधु ६ मासे लिया जाता है। नूतन

प्रतिश्याय को दूर करने के लिये इसकी एक एक मासे की मात्रा ३—३ घटा के पश्चात् उष्णोदक से देने से आश्चर्यकारक गुण होता है।

अथ ग्रहणीगुल्मादौ—लवणभास्करचूर्णम्—

सामुद्रलवणं कार्यमष्टकर्षमितं बुधैः।
पञ्च सौवर्चलं ग्राह्यं विडं सैन्धवधान्यके ॥१४०॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं कृष्णजीरकपत्रकम्।
नागकेशरतालीसमम्लवेतसकं तथा ॥१४१॥
द्विकर्षमात्राण्येतानि प्रत्येकं कारयेद् बुधः।
मरिचं जीरकं विश्वमेकैकं कर्षमात्रकम् ॥१४२॥
दाडिमं स्याच्चतुष्कर्षं त्वगेला चार्धकार्षिकी।
एतच्चूर्णीकृतं सर्वं लवणं भास्कराभिधम् ॥१४३॥
शाणप्रमाणं देयं तु मस्तुतक्रसुरासवैः।
वातश्लेष्मभवं गुल्मं प्लीहानमुदरं क्षयम् ॥१४४॥
अर्शांसि ग्रहणीं कुष्ठं विबन्धं च भगन्दरम्।
शोफं शूलं श्वासकासावामदोषं च हृद्रुजम् ॥१४५॥
मन्दाग्निं नाशयेदेतद् दीपनं पाचनं परम्।
सर्वलोकहितार्थाय भास्करेणोदितं पुरा ॥१४६॥

समुद्र नमक चू० ८ तोला. काला नमक चू० ५ तो०, विडनमक चू० २ तो०, सैन्धानमक चू० २ तो, धनिया चू० २ तो०, काली पीपल का चू० २ तो०, पीपला मूल का चू० २ तो० काला जीरा का चू० २ तो०, तेजपत्र का चू० २ तो०, नाग केसर का चू० २ तो०, तालीस पत्र का चू० २ तो०, गलगल का रस २ तो०, काली मिरच का चू० १ तो०, श्वेत जीरा का चू० १ तो०, सोंठ का चू० १ तो०, अनार-दाने का चू० ४ तो०, दालचीनी का चू० ६ मासे, छोटी इलायची का चू० ६ मासे—उपरोक्त सब औषधों के चूर्णों को यथामान ले (पत्थर के खरल में डालकर ऊपर से विजौरा निम्बू के रस से यथाक्रम सात भावनायें देकर यथानियम पीसकर सुखा लेवे)। इसको लवणभास्कर चूर्ण कहते हैं। इसकी ३ मासे की मात्रा मस्तु (दही के नीचे रहने वाला स्वच्छ नीलाभ जल), तक्र सुरा और आसव (अग्निवर्धक लोहासव कुमारी आसवादि) के साथ प्रयोग करने से—वात और कफ से उत्पन्न वाय गोला तथा प्लीहावृद्धि, उदररोग, क्षय, बवासीर, संग्रहणी, कुष्ठ (रक्त-विकार), विबन्ध (पुरीषात्रीय वातवैगुण्य) भगंदर, (गुदा और वृषण के मध्य के प्रदेश 'सीवनी' में होने वाला व्रण), सूजन, शूल (उदरशूल), दमा (अजीर्णजन्य),

१—बीजपूररसेनैव भावितं सप्तवारकम्। इत्यपि मतान्तरम्।

कास, आमदोष (आहार का अपक्वरस जो अंतड़ियों में शोषित होकर शूल और आध्मानादि को उत्पन्न करता है), हृदय की पीड़ा (अपक्व रसज निस्तोद), मन्दाग्नि— इन सब रोगों को नष्ट करती है। तथा यह चूर्ण अग्नि को दीपन और आमपाचन करने वाली औषधों में परमोत्तम है तथा संसारी जीवों के कल्याण के लिये प्राचीन काल में यह चूर्ण भास्कर (आचार्य) ने कहा है ॥१४०—१४६॥

अथ एलादिचूर्णम्—

एलाप्रियङ्गुमुस्तानि कोलमज्जा च पिप्पली।
श्रीचन्दनं तथा लाजा लवङ्गं नागकेशरम् ॥१४७॥
एतच्चूर्णीकृतं सर्वं सिताक्षौद्रयुतं लिहेत्।
वातपित्तकफोद्भूतां छर्दिं हन्त्यतिवेगतः ॥१४८॥

छोटी इलायची का चू०, प्रियंगु का चू०, नागरमोथा का चू०, बेर की गुठली की मज्जा का चू०, कालीपीपल का चू०, श्वेतचन्दन का चू०, लाजा (भृष्ट-धान्योद्भव) का चू०, लौंग का चू०, नागकेसर का चू०—इन सबको समान भाग लेकर एकत्र कर लेवे। इस चूर्ण को (२–४ माशा तक) मिशरी और शहद मिलाकर चाटने से वायु और पित्त से उत्पन्न होनेवाली छर्दि (कय) शीघ्र दूर होती है ॥१४८॥

वक्तव्य—इस में मिशरी चूर्ण के समान और मधु चाटने योग्य मिलावे।

अथ व्याघ्रीचूर्णम्—

व्याघ्रीजीरकधात्रीणां चूर्णं मधुयुतं लिहेत्।
ऊर्ध्ववातमहाश्वासतमकैर्मुच्यते क्षणात् ॥१४९॥

छोटी कंटकारी की जड़ की छाल का चूर्ण, कृष्ण जीरक चूर्ण, आमले का चूर्ण—इन तीनों को समान भाग लेकर मधु (२ तोला) मिलाकर (६ माशा की मात्रा से) चाटने से ऊर्ध्ववात, महाश्वास, तमकश्वास इन सब से शीघ्र मुक्त होता है ॥१४९॥

अथ कुष्ठादौ पञ्चनिम्बचूर्णम्—

मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वचं निम्बात् समाहरेत्।
सूक्ष्मचूर्णमिदं कुर्यात् पलैः पञ्चदशोन्मितम् ॥१५०॥
लोहभस्महरीतक्यौ चक्रमर्दकचित्रकौ।
भल्लातकं विडङ्गानि शर्करामलकं निशा ॥१५१॥
पिप्पली मरिचं शुण्ठी बाकुची कृतमालकः।
गोक्षुरश्च पलोन्मानमेकैकं कारयेद् बुधः ॥१५२॥
सर्वमेकीकृतं चूर्णं भृङ्गराजेन भावयेत्।
अष्टभागावशिष्टेन खदिरासनवारिणा ॥१५३॥

भावयित्वा च संशोष्य कर्षमात्रं ततः पिबेत् ।
खदिरासनतोयेन सर्पिषा पयसाथवा ॥१५४॥
मासेन सर्वकुष्ठानि विनिहन्ति रसायनम् ।
पञ्चनिम्बामिदं चूर्णं सर्वरोगप्रणाशनम् ॥१५५॥

निम्बमूल (नीम के वृक्ष की जड की छाल), निम्बपत्र, निम्बफल (निम्बोली), निम्बपुष्प (नींम के फूल), निम्बत्वक् (नीम के तने की छाल)—नीम के यह पाच अग समय २ पर ग्रहण करे। सब की मिलित मात्रा पद्रह पल—१२ छटाक, (प्रत्येक अङ्ग तीन २ पल—१२-१२ तोले)—सबको यथारीत्या सुखाकर वस्त्रपूत चूर्ण कर लेवे। पुन इस चूर्ण में लोहभस्म (उत्तम लोहे की वारितर भस्म), हरीतकीचू०, पमाड के वीजों का चू०, चित्रक मूलत्वक् चू०, शुद्धभल्लातकचू०, वायविडङ्ग चू०, खाड, आमले का चू०, हलदी का चू०, कालीपीपल का चू०, काली मिरच का चू०, सोंठ का चू०, बावची का चू०, अमलतास का गूदा, गोखरू का चू०—यह प्रत्येक चूर्ण एक २ पल (४—४ तो०), नीम के पञ्चाङ्ग का चूर्ण भी १५ पल है और इन उपरोक्त औषधों का मिलित चूर्ण भी १५ पल होता है। इस समस्त ३० पल चूर्ण को लोहे के खरल में डालकर भाङ्गरे के रस से तथा खदिर के अष्टभागावशिष्ट क्वाथ से एव खदिरासन (खदिरभेद-पीतसार) के क्वाथ से यथाक्रम भावना देकर सुखा लेवे। इस को १ तोलाभर की मात्रा से खदिरक्वाथ असनक्वाथ, गोघृत अथवा दूध (यथावश्यकता, व्याधि अनुसार अनुपान निश्चय करे) के साथ एक मास पर्यंत पान करने से सम्पूर्ण (१८ प्रकार के) कुष्ठ नष्ट होते हैं। यह पञ्चनिम्बचूर्ण रसायन के गुण करता है तथा सम्पूर्ण रोगों को दूर करता है ॥१५०—१५५॥

वक्तव्य—(१) पुष्पकाले च पुष्पाणि फलकाले फलानि च ।
संचूर्ण्य पिचुमर्दस्य त्वङ्मूलानि दलानि च ॥

अर्थात् निम्ब के पाचों अङ्ग यथासमय ग्रहण करे।

(२) निम्बमूल के स्थान पर मूलान्तर्गत काष्ठ के ग्रहण का आदेश भी अन्यत्र मिलता है। यथा—

काले त्वग्दलसारवीजकुसुमैर्निम्बस्य तुल्याशकै ॥

(३) इस में भावना देने योग्य क्वाथ के क्वाथ्य की मात्रा का निर्देश नहीं किया गया। वह इस प्रकार है। यथा—

भाव्यद्रव्यसमं क्वाथ्यं क्वाथ्यावारि चतुर्गुणम् ।

इस परिभाषा के अनुसार भाव्य द्रव्य १॥ सेर के लिये १॥ सेर ही खदिरत्वक् ग्रहण करनी है। इस में चतुर्गुण (६ सेर, द्रवद्वैगुण्य से १२ सेर जल डाल कर, १॥ सेर क्वाथ शेष रखे) जल से पकाकर अष्टभागावशिष्ट क्वाथ से भावना देवे। इसी प्रकार असन का क्वाथ बनाकर एक भावना देकर सुखा लेवे।

अथ वाजिकरणे—शतावरीचूर्णम्—

शतावरी गोक्षुरश्च बीजं च कपिकच्छुजम् ।
गाङ्गेरुकी चातिबला बीजमिक्षुरकोद्भवम् ॥१५६॥
चूर्णितं सर्वमेकत्र गोदुग्धेन पिबेन्निशि ।
न तृप्तिं याति नारीभिर्नरश्चूर्णप्रभावतः ॥१५७॥

शतावरी, गोखरू, कौंचबीज, गागेरुकी (नागबला, पीले फूल की खरैंटी- इसे गुडसकरी भी कहते हैं) की जड की छाल, अतिबला (कंघी) के बीज (इस को ढिहया भी कहते हैं), इक्षुर (तालमखाना)—इन सब को उत्तमरीत्या ग्रहण करके पृथक् पृथक् चूर्ण कर लेवे और प्रत्येक चूर्ण समान भाग लेकर इकट्ठा करे और यथामात्रा (६ मासा से १ तोला तक) गोदूध के साथ रात्रि को (नित्य) सेवन करे। इसके प्रभाव से पुरुष बहुत सी स्त्रियों के साथ भोग करने पर भी तृप्त (लिङ्ग शैथिल्य) नही होता।

वक्तव्य—जन साधारण की बहुत सी संख्या ऐसी है जो वाजिकर योगों के लिये लालायित रहती है और बिना किसी की व्यवस्था के स्वत देख भाल कर औषध आरम्भ कर दी जाती है। ऐसी अवस्था में कामलोलुपी जन अपने आप को औषध की दया पर छोड़ देते हैं चाहे वह लाभ करे या हानि, यह उस की इच्छा और व्यर्थ औषधों को बदनाम करते हैं। यह योग अत्यंत लाभप्रद है। परन्तु है स्वस्थ पुरुष के लिये। स्वस्थावस्था में इस योग का निरन्तर सेवन करने से नि सन्देह साधक शिथिलता के द्वार तक नही जाता। परन्तु दु ख है इस बात का कि लोग नपुंसकता अथवा तत्तुल्य अवस्था में इसका प्रयोग करके निराशा को अपने ऊपर विजय प्राप्त करने का समय देते हैं। इसके प्रयोग का उत्तम विधान यह है कि उक्त चूर्ण २ तोला, दूध ३ पाव—दोनों को पात्र में डालकर मन्दाग्नि से पाक करे। जब खीर की तरह गाढ़ा हो जाये तब मिशरी मिला कर भक्षण करे। पुन क्षुधा हो तो अन्न खावे अन्यथा यह पर्याप्त है। इस प्रकार स्वस्थ पुरुष एक मास तक इस योग का प्रयोग करने पर फिर इसके चमत्कार देखने और दिखाने का सौभाग्य प्राप्त करता है। तब यह योग ठीक इसी अर्थ में चरितार्थ होगा। यथा—

'न तृप्तिं याति नारीभिर्नरश्चूर्णप्रभावतः'।

अन्य अश्वगन्धादिचूर्ण—

अश्वगन्धा दशपला तन्मात्रो वृद्धदारुकः ।
चूर्णीकृत्योभयं विद्वान् घृतभाण्डे निधापयेत् ॥१५८॥
कर्षैकं पयसा पीत्वा नारीभिर्नैव तृप्यति ।
अगत्वा प्रमदां भूयाद्वलीपलितवर्जितः ॥१५९॥

असगंध (नागौरी) का चूर्ण दश पल (½ सेर), विधारे की जड का चूर्ण दशपल (आधा सेर)। दोनों को एकत्र करके घी के उत्तम चिकने और स्वच्छ पात्र में डालकर रखे। पुनः यथासमय (प्रातः सायं) एक कर्ष (१ तोला) की मात्रा से गोदुग्ध के साथ सेवन करने से पुरुष स्त्री सम्भोग में तृप्त (शिथिल) नहीं होता। यदि इससे उत्पन्न बल को स्त्री सम्भोग में नष्ट न किया जाये तो वली (वृद्धावस्था के कारण शरीर पर पडने वाली झुर्रियां), पलित (केशों की श्वेतता) नष्ट होते हैं।

अन्य मुसलीचूर्णम्—

मुसलीकन्दचूर्णं तु गुडूचीसत्त्वसंयुतम् ।
वानरीगोक्षुराभ्यां च शाल्मलीशर्करामलैः ॥१६०॥
आलोड्य घृतदुग्धेन पाययेत्कामवर्धनम् ।

श्वेत मूसली, गिलोय का सत, कौंच के बीज, गोखरू, सिम्बल की मूसली, खाड, आमले का चूर्ण। प्रत्येक औषध के चूर्ण को पृथक् पृथक् समान भाग लेवे। इनकी १ तोले की मात्रा गोदूध में घृत डालकर सेवन करने से कामवृद्धि होती है।

अथ पाण्डुरोगादौ—नवायसचूर्णम्— ✓

चित्रकं त्रिफला मुस्तं विडङ्गं त्र्यूषणानि च ॥१६१॥
समभागानि सर्वाणि नव भागा हतायसः ।
एतदेकीकृतं चूर्णं मधुसर्पिर्युतं लिहेत् ॥१६२॥
गोमूत्रमथवा तक्रमनुपाने प्रशस्यते ।
पाण्डुरोगं जयत्युग्रं त्रिदोषं च भगन्दरम् ॥१६३॥
शोथकुष्ठोदरार्शांसि मन्दाग्निमरुचिं क्रिमीन् ।

चीते की छाल, त्रिफला (हरीड़, बहेड़ा, आमले की छाल), नागकेसर, वायविडंग, त्र्यूषण (कालीपीपल, कालीमिरच, सोंठ)—इन नवसंख्यक औषधों का यथाविधि प्राप्त वस्त्रपूत चूर्ण (१—१ तोला) और नवतोलक परिमित उत्तम लोहभस्म, सबको मिलाकर एकत्र करे। इसकी उचित मात्रा (२—४ रत्ती तक) मधु और घृत (दोनों असमान मात्रा में) मिला कर चाटे और ऊपर से गोमूत्र (४ तोला) अथवा तक्र अनुपानार्थ पान करे। इसके प्रयोग से—उत्कट पाण्डुरोग त्रिदोष (वातपित्त कफ की विकृति), भगंदर, शोथ (औपद्रविक सूजन), कुष्ठ, उदर-रोग, बवासीर, मन्दाग्नि, अरुचि और उदर के कीड़े नष्ट होते हैं।

अथ स्तम्भनार्थे—आकारकरभादिचूर्णम्—

आकारकरभः शुण्ठी कङ्कोलं कुङ्कुमं कणा ॥१६४॥
जातीफलं लवङ्गं च चन्दनं चेति कार्षिकान् ।

चूर्णानि मानतः कुर्यादहिफेनं पलोन्मितम् ।
सर्वमेकीकृतं सूक्ष्मं माषैकं मधुना लिहेत् ॥१६५॥
शुक्रस्तम्भकरं चूर्णं पुंसामानन्दकारकम् ।
नारीणां प्रीतिजननं सेवेत निशि कामुकः ॥१६६॥

अकरकरा, सोंठ, शीतलचीनी, केशर, कालीपीपल, जायफल, लौंग, श्वेत-चन्दन—इन सब औषधों को पृथक् पृथक् कूट पीस कर वस्त्रपूत चूर्ण करे और प्रत्येक एक एक कर्ष (१—१ तोला) लेवे । अहिफेन (अफीम) १ पल (४ तोले), सब को मिलाकर सूक्ष्म चूर्ण बना लेवे और एक माशा की मात्रा से मधु मिलाकर रात्रि समय चाटे । इससे शुक्र (वीर्य) स्तम्भन होता है और पुरुषों को आनन्द-दायक (वीर्य की अच्युति से प्राप्त होने वाला आनन्द) है । एवं स्त्रियों में प्रीति (स्त्रीगमनेच्छा) उत्पन्न होती है ।

वक्तव्य—इसकी एक माशा की मात्रा में अहिफेन लगभग २ रती आता है । यद्यपि एक माशा की मात्रा से यह प्रयुक्त होता है तथापि वर्तमान के पुरुषों के वयोबल को विचार कर प्रयोग करना श्रेयस्कर होगा । यह योग उत्तम स्तम्भक है । इसी को पलंगतोड कहते हैं । इस योग में अहिफेन अपक डालने से अधिक लाभ होता है । बाजारी अफीम डालना हो तो उसे अदरख के रस में या पानी में घोलकर और वस्त्र द्वारा छानकर डालना चाहिये । वाजिकरण तीन प्रकार का होता है ।

यथा—शुक्रवृद्धिकरं किञ्चित् किञ्चित् शुक्रप्रवर्तनम् ।
च्युतिवृद्धिकर किञ्चित् त्रिविधं वृष्यमुच्यते ॥

अन्य ग्रन्थों में ऐसे योगों में समान अफीम भी दिया जाता है । यथा—

जातीफलार्ककरहाटलवंगशुण्ठीकंकोलकुंकुमकणा हरिचन्दनानि ।
एतैः समानमहिफेनमनेन तुल्यां सितां निधाय मधुना वटकं विदध्यात् ॥
माषद्वयोन्मितममु निशि भक्षयित्वा मिष्टं पयस्तदनु माहिषमाशु पीत्वा ।
कुर्वन्तु कामुकजना न तु विन्दुपातं चेतांसि तानि चकितानि कलावतीनाम् ॥

अफीम समान देने पर भी मात्रा का तारतम्य शुभ लाभदायक होता है । स्वस्थ पुरुषों को यह योग केवल आवश्यकता पडने पर कभी कभी सेवन करना चाहिये । निरन्तर सेवन करना हानिप्रद होगा । जिनका शुक्रधातु जलवत् हो उन्हें २—४ रत्ती की मात्रा से थोडे काल तक निरन्तर सेवन करना लाभदायक होगा ।

मञ्जन—

नकुलत्वग्भवं चूर्णं घर्षयेद्दन्तपङ्क्तिषु ।
वज्रादपि दृढीभूता दन्ताः स्युश्चपला ध्रुवम् ॥१६७॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-
संहितायां चिकित्सास्थाने चूर्णकल्पना नाम
षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

मौलसिरी के वृक्ष की छाल के चूर्ण को दन्तावली पर मर्दन करने से हिलते हुए दांत वज्र (हीरा) से भी अधिक दृढ (कठिन, मजबूत) हो जाते हैं ।

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायां शार्ङ्गधर-
संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकायां भाषाटीकायां मध्यमखण्डे
चूर्णकल्पना नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

गुटिकादिकल्पना—

वटिकाश्चाथ कथ्यन्ते तन्नाम गुटिका वटी ।
मोदको वटिका पिण्डी गुडो वर्तिस्तथोच्यते ॥१॥

वटिका बनाने का विधान कहते हैं। गुटिका, वटी, मोदक, वटिका, पिण्डी, गुड और वर्ति अथवा गुड़वर्ति ये वटिका के पर्याय शब्द (दूसरे नाम) हैं ॥१॥

अग्निसाध्यगुटिकानिर्माणविधि —

लेहवत् साध्यते वह्नौ गुडो वा शर्करा तथा ।
गुग्गुलुर्वा क्षिपेत्तत्र चूर्णं तन्निर्मिता वटी ॥२॥

गुड, गूगल अथवा खांड जिस से भी गोली बनानी हो उसको अग्नि पर पकाकर (जल डालकर पकावे) उचित अवस्था आने पर चूर्णादि को डालकर, लेहवत् पके हुए गुड़, खाड अथवा गूगल मिश्रित चूर्ण की छोटी २ (अथवा यथामान) गोलिया बना लेवे। इन को ही उक्त गुटिका, वटी आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है ॥२॥

वक्तव्य—(१) आयुर्वेद ने औषध सेवन करनेवालों की सुविधा के लिये औषधों को अनेक रूपों में परिणत किया है। यद्यपि गोलियों के और भी अनेक प्रकार हैं जिनका आगे वर्णन होगा, परन्तु इस अध्याय में प्राय. उन गोलियों का समावेश है जिनकी मात्रा अधिक और वानस्पतिक भागों पर निर्भर है। इस विधान से चूर्ण का कलेवर मधुरांशावशिष्ट गुडादि से प्लुत होकर मधुर स्वाद वाला होने से रोगी को भक्षण करने में सुविधा होती है। (२) उक्त विधान में चूर्ण, गूगल तथा शर्करादि का गुटिकार्थ मान पृथक् २ निर्देश किया गया है। अत उसे इस प्रकार जानना चाहिये। गुड़, शर्करा तथा गूगल तीन पदार्थ गुटिकार्थ नियत किये गये हैं जिनसे अग्नि की सहायता से गुटिका बनाई जाती हैं। यथा—गुड़ से यदि गुटिका बनानी हो तब चूर्ण से प्राय द्विगुण मान में गुड लिया

३१४] शाङ्र्गधर संहिता ।

जाता है । कल्पनार्थ—प्रथम गुड़ १ सेर लेकर उसे आधा सेर पानी में घोल देवे । गुड घुलने पर उसे वस्त्र द्वारा छान ले और स्वच्छ कटाह (कडाही) में डालकर मन्दाग्नि से पाक करे । पकते २ जव गुड का जलीयाश सूखने लगे तव उस में से एक दो विन्दु उठाकर अगूठा और अगुली के मध्य में रखकर उसी प्रकार देखे जिस प्रकार हलवाई लोग चासनी को देखते हैं । पक्व चासनी होने पर उसे उतार लेवे और उस में गुड़ के मान से आधा चूर्ण डालकर हिला मिला देवे । यह आशु कठिन हो जाने वाला लेह सा होगा । इसकी तुरन्त ही गोलिया वना लेनी चाहियें अन्यथा शीतल होने पर यह कठिन हो जाता है जिससे गोली वनाने में असुविधा होती है । शर्करा से यदि वनानी हो तो शर्करा का मान चूर्णापेक्षा चतुर्गुण होता है । शेप विधि वही है जो गुड़ में वताई गई है । गूगल—से यदि वनानी हो तो गूगल भी थोडी सी विषमता के साथ प्राय समान ही लिया जाता है । प्रथम शुद्ध गूगल को कूट कर दूध, जल अथवा निर्दिष्ट क्वाथादि के जल में घोल लिया जाता है । द्रव पदार्थ और गूगल दोनों को कलईदार वर्तन में डालकर मन्दाग्नि से पाक करे जव गूगल द्रव पदार्थ में घुल जावे तो चूर्ण डालकर अत्यन्त मन्द आच से पकाता रहे । जब गुटिका वनाने योग्य पाक हो जाए तव उतार कर यथाविधि गोलिया वना लेवे ।

अग्निरहित वटिकानिर्माणविधि —

कुर्यादवह्निसिद्धेन क्वचिद् गुग्गुलुना वटीम् ।
द्रवेण मधुना वापि गुटिकां कारयेद् बुधः ॥३॥

अग्नि की सहायता के बिना भी गुग्गुलु, द्रवपदार्थ (जल, स्वरसादि) अथवा मधु से बुद्धिमान् वैद्य वटिका की कल्पना करते हैं ।

वक्तव्य—(१) गूगल को अग्नि द्वारा न पकाकर जो वटिका वनाई जाती हैं वह पाकापेक्षा मृदु और शीघ्र घुलनशील होती हैं । इस विधि के लिये प्रथम शुद्ध गूगल को कूटकर गरम दूध में भिगो दिया जाता है । पुन उसे मर्दन करने से जव स्थूलाश विलीन हो जाये तब थोडा २ चूर्ण मिलाते जाना चाहिये । समग्र चूर्ण मिल जाने पर मूसल के साथ थोडा २ घृत लगाकर कूटा जाता है । सुकुट्टित होने पर यथामान गोली वना लेवे अथवा पिण्डाकृति रख लेवे । (२) द्रवपदार्थ—जल, दूध, स्वरस, क्वाथ आदि द्रवपदार्थों के साथ चूर्ण को मर्दन करने के पश्चात् गुटिका वनाना । (३) मधु—से यदि गुटिका (जैसे एलादिवटी) निर्माण करनी हो तो मधु उतना ही डाला जाता है जिससे गुटिका वन सके । (४) गुड़ और शर्करा से भी इसी प्रकार विना अग्नि की सहायता से वटिका वनाई जाती है । यथा—गुड और शर्करा को स्वच्छ करके उसके साथ चूर्ण मिलाकर दृढरीत्या कूटना और अत्यल्प मात्रा में जल का छींटा देते जाना चाहिये । जव पिण्डाकृति हो जाये तव यथामान गुटिका निर्माण करे ।

गुडशर्करादिमाननिर्णय.—

सिता चतुर्गुणा देया वटीषु द्विगुणो गुडः।
चूर्णाच्चूर्णसमः कार्यो गुग्गुलुर्मधु तत्समम् ॥४॥
द्रवं च द्विगुणं देयं मोदकेषु भिषग्वरैः।

पाकविधि से गुटिका बनाने के लिये खाण्ड चूर्णापेक्षा चतुर्गुण और गुड़ चूर्णापेक्षा द्विगुण तथा गूगल और शहद चूर्ण के समान एवं द्रव पदार्थ (दूध जल क्वाथादि) द्विगुण (इन से मर्दन किया जाता है) मात्रा में देकर मोदकादि का निर्माण करे ॥४॥

मात्रानिर्देश —

कर्षप्रमाणा तन्मात्रा बलं दृष्ट्वा प्रयुज्यताम् ॥५॥

उपरोक्तविधि से सिद्ध गुटिका, वटी, पिण्डी, मोदकादि की मात्रा कर्ष परिमित (एक तोला तक होती) है। उसे रोगी का वयोबल देख कर प्रयोग करे ॥५॥

वक्तव्य—'बलं दृष्ट्वा'—इससे यह अभिप्राय है कि यदि रोगी १ तोला की मात्रा सहन करने योग्य न हो तो उसके लिये सहन करने योग्य मात्रा का निश्चय करे।

अथ अर्शादौ—श्रीबाहुशालो गुडः—

इन्द्रवारुणिका मुस्तं शुण्ठी दन्ती हरीतकी।
त्रिवृच्छठी विडङ्गानि गोक्षुरश्चित्रकस्तथा ॥६॥
तेजोह्वा च द्विकर्षाणि पृथग्द्रव्याणि कारयेत्।
सूरणस्य पलान्यष्टौ वृद्धदारु चतुष्पलम् ॥७॥
चतुष्पलं स्याद्भल्लातः क्वाथयेत्सर्वमेकतः।
जलद्रोणे चतुर्थांशं गृह्णीयात् क्वाथमुत्तमम् ॥८॥
क्वाथ्यद्रव्यात्त्रिगुणितं गुडं क्षिप्त्वा पुनः पचेत्।
सम्यक् पक्वं च विज्ञाय चूर्णमेतत्प्रदापयेत् ॥९॥
चित्रकत्रिवृतादन्तीतेजोह्वाः पलिकाः पृथक्।
पृथक् त्रिपलिकाः कार्या व्योषैलामरिचत्वचः ॥१०॥
निक्षिपेन्मधु शीते च तस्मिन् प्रस्थप्रमाणतः।
एवं सिद्धो भवेच्छ्रीमान् बाहुशालगुडः शुभः ॥११॥
जयेदर्शांसि सर्वाणि गुल्मं वातोदरं तथा।
आमवातप्रतिश्यायग्रहणीक्षयपीनसान् ॥१२॥
हलीमकं पाण्डुरोगं प्रमेहं च रसायनम्।

इन्द्रायण की जड, नागरमोथा, सोंठ, जमालगोटे की जड, हरीतकी त्वक्, निसोत, कचूर, वायविडग, गोखरू, चीते की जड की छाल, तेजवल, प्रत्येक का चूर्ण २—२ तोला। सूरण (जिमिकन्द शुष्क) ३२ तोला, विधारा कुट्टित १६ तोला, शुद्ध भल्लातक (मिलावा) कुट्टित १६ तोला, जल १ द्रोण (द्रोण का मान मागध परिभाषा के अनुसार ऽ१२॥४ तोला होता है। परंतु व्यवहार में १ द्रोण, १६ सेर लिया जाता है) डालकर क्वाथविधि से क्वाथ का पाक करे। जब चतुर्थांश शेष रहे तब उतार कर क्वाथ्य को मर्दन करके वस्त्र द्वारा छान लेवे। इस छने हुए क्वाथ को शुद्ध पात्र में डाल दे। पुन क्वाथ्य द्रव्यों के मान से (क्वाथ्य द्रव्यों का मान ऽ१-१ तो०, एक सेर एक छटाक एक तोला है) त्रिगुण (तीन सेर तीन छटाक तीन तोला ऽ३≡३ तो०) गुड डाल कर मन्द अग्नि द्वारा शनै शनै पाक करे। जब पाक घन प्रतीत हो तब उसे अग्नि पर से उतार कर नीचे लिखी औषधों के वस्त्रपूत चूर्ण को डालकर परस्पर मिला देवे। चित्रक, निसोत, जमालगोटे की जड, तेजवल—यह प्रत्येक एक एक पल (४—४ तोले) और कालीपीपल का चूर्ण, कालीमिरच का चूर्ण, सोंठ का चूर्ण, छोटी इलायची का चूर्ण, आमले का चूर्ण और दालचीनी का चूर्ण, प्रत्येक तीन तीन पल (१२—१२ तोले)। (इस प्रकार समस्त प्रक्षेप्य चूर्ण का मान १ सेर ८ तोला होता है) पुन इस सिद्धौषध के किञ्चित् शीतल होने पर इसमें मधु (शहद) एक प्रस्थ (व्यावहारिक मान १ सेर) डाल देवे। इस प्रकार यह सुन्दर गुणों वाला श्रीवाहुशाल गुड प्रस्तुत होता है। इसके प्रयोग करने से सब प्रकार के अर्श (ववासीर), गुल्म (गोला) रोग, वातजनित उदररोग, आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ भेद), जुकाम एव अत्यत वृद्धिंगत क्षयरोग, पीनसरोग (नासारोग), हलीमकरोग, पाण्डुरोग, प्रमेह रोग—इन सब का नाश होता है। एव यह रसायन है अर्थात वृद्धावस्था और कायिक रोगों को दूर करता है।

वक्तव्य—घृततैलगुडादींश्च नैकाहादवतारयेत्।
　　प्रकुर्वन्त्युषिता ह्येते विशेषाद्गुणसञ्चयम्॥

इसकी मात्रा एक तोला से आरम्भ करे। अनुपानार्थ उष्णोदक, तक्र अथवा आवश्यकता के अनुसार क्वाथादि का प्रयोग करे। यह अत्यत लाभ करने वाला और सर्वत्र वृद्धवैद्यों द्वारा व्यवहार में आने वाला प्रसिद्ध वाहुशाल गुड है। अर्श रोग पर इसका विशेष प्रभाव है। इसके कर्ष और पलादि मान को व्यवहारानुसार सवाया कर लेवे।

अथ कासादौ मरिचादिगुटिका—

मरिचं कर्षमात्रं स्यात् पिप्पली कर्षसंमिता ॥१३॥
अर्धकर्षो यवक्षारः कर्षयुग्मं च दाडिमम्।

१—इसका पाक एक दिन में ही समाप्त न कर के दो तीन दिन में समाप्त करे।

एतच्चूर्णीकृतं युञ्ज्यादष्टकर्षगुडेन हि ॥१४॥
शाणप्रमाणां गुटिकां कृत्वा वक्त्रे विधारयेत्।
अस्याः प्रभावात् सर्वेऽपि कासा यान्त्येव संक्षयम् ॥१५॥

कालीमिरच का चूर्ण १ तोला, काली पीपल का चूर्ण १ तोला, जवाखार ६ माशा, अनारदाने का चूर्ण २ तोला, गुड़ ८ तोला—सबको मिलाकर गोली बनावे। एक २ शाण (३—३ माशा) की गोली मुख में धारण करके चूसते रहने से इसके प्रभाव से सब प्रकार के कास (खांसी) नष्ट होते हैं ॥१३—१५॥

वक्तव्य—इसका निर्माण दो प्रकार से होता है। यथा—प्रथम तो पाक विधि से, दूसरा गुड़ और योग के चूर्ण को भली प्रकार कूटकर, आवश्यकतानुसार इसमें जल का छींटा दिया जाता है। परस्पर मिल जाने पर ३—३ माशा की गोली बना लेवे। यह वातिक कास में विशेष लाभ करती हैं।

गुड़वटिका—

गुडशुण्ठीशिवामुस्तैर्गुटिकां धारयेन्मुखे।
श्वासकासेषु सर्वेषु केवलं वा बिभीतकम् ॥१६॥

गुड़, सोंठ का चूर्ण, हरीतकीचूर्ण और नागरमोथा का चूर्ण—यथाविधि गुटिका बनाकर श्वास (दमा), कास (खांसी) रोग में मुख में धारण करके रस चूसने से लाभ होता है। अथवा केवल बहेड़े की छाल को ही मुख में रखकर रस चूसने से श्वासकास में लाभ होता है ॥१६॥

वक्तव्य—गुडादि गुटिका में तीनों औषधों के चूर्ण से गुड़ मान द्विगुण होगा। इसको अग्निपाक द्वारा सिद्ध करके प्रयोग करे।

अथ तृष्णादौ आमलक्यादिगुटिका—

आमलं कमलं कुष्ठं लाजाश्च वटरोहकम्।
एतच्चूर्णस्य मधुना गुटिकां धारयेन्मुखे ॥१७॥
तृष्णां प्रवृद्धां हन्त्येषा मुखशोषं च दारुणम्।

आमलकी चूर्ण, कमलफूल का चूर्ण, कूठ, लाजा (धान की खील) और वड़ के अंकुर—इन सब का वस्त्रपूत चूर्ण लेकर शहद में गुटिका निर्माण करे। इस गुटिका को मुख में धारण करके रस चूसने से प्रबल प्यास और भयंकर मुख शोष नष्ट होता है ॥१७॥

अथ त्रिदोषे सञ्जीवनीवटी—

विडङ्गं नागरं कृष्णा पथ्यामलबिभीतकम् ॥१८॥
वचा गुडूची भल्लातं सविषं चात्र योजयेत्।
एतानि समभागानि गोमूत्रेणैव पेषयेत् ॥१९॥

गुञ्जाभा गुटिका कार्या दद्यादार्द्रकजै रसैः ।
एकामजीर्णगुल्मेषु द्वे विषूच्यां प्रदापयेत् ॥२०॥
तिस्रश्च सर्पदष्टे तु चतस्रः सान्निपातिके ।
वटी सञ्जीवनी नाम्ना संजीवयति मानवम् ॥२१॥

वायविडङ्ग, सोंठ, कालीपीपल, हरीड, बहेडा, आमला, वच, गिलोय, शुद्धभल्लातक, शुद्ध मीठा तेलिया—सब औषधों को यथाविधि कूट पीसकर वस्त्रपूत चूर्ण समान मात्रा में ग्रहण करके गोमूत्र से पीसकर एक २ रत्ती की गोली बना लेवे और अदरख के रस से एक गोली अजीर्णरोग (कुपचन) और गुल्मरोग में तथा दो गोली विसूची (हैजा रोग) में तथा तीन गोली सर्पदंशवाले को तथा चार गोली सन्निपात के रोगी को देवे । यह सजीवनी वटी मनुष्यों को मुमूर्षावस्था से जीवित करती है ॥१८—२१॥

वक्तव्य—'अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभाव' । सजीवनीवटी में भल्लातक और विष का प्रयोग हुआ है। शास्त्र सिद्धान्तानुसार यह औषधो में शुद्ध प्रयोग करने चाहिए । शोधनविधान के लिये इसी खण्ड का ११वा अध्याय देखें ।

विधि—इस योग में प्रथम शुद्धभल्लातक तथा शुद्धवत्सनाभ को यथामात्रा लेकर गोमूत्र द्वारा पृथक् खरल में पीसा जाता है । जब पीसते २ दोनों के कण नष्ट हो जायें और झाग सी आने लगे तब शेष औषधों के चूर्ण को इसमें मिला दिया जाता है । पुन गोमूत्र द्वारा दृढ पेषण किया जाता है । गुटिका निर्माण की अवस्था आने पर एक २ रत्ती की गोली बना लेवे ।

अथ पीनसादौ व्योषादिगुटिका—

व्योषाम्लवेतसं चव्यं तालीसं चित्रकं तथा ।
जीरकं तिन्तिडीकं च प्रत्येकं कर्षभागिकम् ॥२२॥
त्रिसुगन्धं त्रिशाणं स्याद् गुडः स्यात् कर्षविंशतिः ।
व्योषादिगुटिका सामपीनसश्वासकासजित् ॥२३॥
रुचिस्वरकरा ख्याता प्रतिश्यायप्रणाशिनी ।

व्योष (काली पीपल, काली मिरच, सोंठ), चव्य, तालीसपत्र, चीते की छाल, जीरा (काला), इमली, प्रत्येक एक २ कर्ष (१—१ तोला) और तेजपत्र, छोटी इलायची, दालचीनी, प्रत्येक एक २ शाण (३-३ माशा) । सम और विषम मान में ग्रहण करने योग्य समस्त औषधों का पृथक् २ वस्त्रपूत चूर्ण मान निर्देशानुसार ग्रहण करे और गुड (पुराना) १ पावभर मिलाकर (उसे यथाविधि जल में घोल कर चासनी बनावे । चूर्ण डालकर गोली निर्माण करे) २—२ मासे की गुटिका बना डाले और इसे भी मुख में धारण कर चूसने से

आम (दुर्बलाग्नि से अंतड़ियों में शोषित हुआ आहार रस), पीनस (जुकाम, नजला), दमा, खासी, अरुचि, प्रतिश्याय—इनका नाश होता है तथा स्वर (कण्ठ की शब्द वाहिनिया) शुद्ध होता है ॥२२—२३॥

गुडचतुष्टययोग—

आमेषु सगुडां शुण्ठीमजीर्णे गुडपिप्पलीम् ॥२४॥
कृच्छ्रे जीरगुडं दद्यादर्शःसु सगुडाभयाम् ।

इस उक्त श्लोक में चार योगों का वर्णन है । यथा—आम (जिस अवशिष्ट आहार रस को जठराग्नि नही पचाती वह अंतडियों में घनावस्था में संचित होता रहता है । इसे आँ कहते हैं) रोग में सोंठ का चूर्ण (२ मासे), गुड (पुराना ६ मासे) । एक योग । अजीर्ण (भोजन का उचित पाक न होना) रोग में काली पीपल का चूर्ण १ मासा, गुड़ पुराना ३ मासा । यह दूसरा योग । कृच्छ्र (मूत्रकृच्छ्र, मूत्र का कष्ट से आना) में श्वेतजीरकचूर्ण ३ मासा, गुड़ पुराना ६ मासा । यह तीसरा योग । अर्श (ववासीर दोनों प्रकार की, खूनी और बादी) रोग में हरीतकीचूर्ण ३ मासे, गुड पुराना ६ मासे । यह चतुर्थ योग । अनुपानार्थ—अर्श में तक्र भी दिया जाता है । अन्यथा कोष्णजल परमोपयोगी है ॥२४॥

अथ अर्शादी वृद्धदारुमोदक —

वृद्धदारुकभल्लातशुण्ठीचूर्णेन योजितः ॥२५॥
मोदकः सगुडो हन्यात् षड्विधार्शःकृतां रुजम् ।

विधारे का चूर्ण, शुद्धभिलावा और सोंठ का चूर्ण—इन तीनों को समान भाग ग्रहण कर द्विगुण गुड़ में यथाविधि मोदक (गुटिका) निर्माण करे (३—३ मासा की) । इसको अवस्था अनुसार अनुपान द्वारा प्रयोग करने से छ. प्रकार की ववासीर से होनेवाली पीड़ायें दूर होती हैं ॥२५॥

वक्तव्य—भल्लातकों में स्नेह होने के कारण इनका चूर्ण वस्त्रपूत नही होता । अत इन्हें पृथक् खरल में डालकर जलयोग से पेषण करके पुन' शुष्क करके प्रयोग में व्यवहार करे ।

अथ अर्शादौ लघुसूरणवटक —

शुष्कसूरणचूर्णस्य भागान् द्वात्रिंशदाहरेत् ॥२६॥
भागान् षोडश चित्रस्य शुण्ठ्या भागचतुष्टयम् ।
द्वौ भागौ मरिचस्यापि सर्वाण्येकत्र कारयेत् ॥२७॥
गुडेन पिण्डिकां कुर्यादर्शसां नाशनीं पराम् ।

सुखाए हुए जिमीकन्द का चूर्ण ३२ तो०, चीते की जड़ के छाल का चूर्ण १६ तोले, सोंठ का चूर्ण ४ तोले, कालीमिरच का चूर्ण २ तोले—सब को यथा-मान लेकर इकट्ठा कर लेवे । इसका मिलित मान ऽ।।=४ तोला है । पुनः गुड़

(पुराना, यह चूर्ण से द्विगुण ऽ१।–३ तोले) की चासनी पकाकर यथाविधि पिण्डिकाए (गोलिया) निर्माण करे ॥२६—२७॥

वक्तव्य—बाजार में शुष्क सूरण प्राप्त नहीं होते । अत यह कार्य भी वैद्य को स्वय करना पड़ता है । प्रथम क्लिन्नादि (सडा, गला) दोष से रहित सूरण को शुद्धजल से प्रक्षालन करे और उसे सूखने देवे । उपरि जल शुष्क होने पर अपने हाथों पर तैल मर्दन कर ले और यथाविधि ऊपर की त्वक् छीलकर जिर्माकन्द के पतले २ छिलके उतारकर धूप में डालकर सुखावे और सूखने पर चूर्ण कर लेवे । यही प्रयोज्य है ।

अथ बृहत्सूरणवटका —

सूरणो वृद्धदारुश्च भागैः षोडशभिः पृथक् ॥२८॥
मुशलीचित्रकौ ज्ञेयावष्टभागमितौ पृथक् ।
शिवा विभीतकी धात्री विडङ्गं नागरं कणा ॥२९॥
भल्लातः पिप्पलीमूलं तालीसं च पृथक् पृथक् ।
चतुर्भागप्रमाणानि त्वगेला मरिचं तथा ॥३०॥
द्विभागमात्राणि पृथक् ततस्त्वेकत्र चूर्णयेत् ।
द्विगुणेन गुडेनाथ वटकान् कारयेद् बुधः ॥३१॥
प्रबलाग्निकरा एते तथार्शोनाशनाः पराः ।
ग्रहणीं वातकफजां श्वासं कासं क्षयामयम् ॥३२॥
प्लीहानं श्लीपदं शोथं हिक्कां मेहं भगन्दरम् ।
निहन्युः पलितं वृष्यास्तथा मेध्या रसायनाः ॥३३॥

जिर्माकन्द १६ तोले, विधारा १६ तोले, मूसली ८ तोले, चित्रक मूलत्वक् ८ तोले, हरीतकी ४ तोले, विभीतक ४ तोले, आमला ४ तोले, वायविडङ्ग ४ तोले, सोंठ ४ तोले कालीपीपल ४ तोले, शुद्ध भिलावा ४ तोले, पीपरामूल ४ तोले, तालीसपत्र ४ तोले, दालचीनी २ तोले, इलायची छोटी २ तोले, कालीमिरच २ तोले । उपरोक्त समस्त औषधों का वस्त्रपूत चूर्ण ग्रहण करे और चूर्णमान (१ सेर २ छ०) से द्विगुण गुड़ (२ सेर ४ छ०, पुराना) ग्रहण करके यथाविधि शुभपाकानन्तर छोटे २ वटक ३—३ मासा के बना लेवे । इनको यथामात्रा ६ माशा से १ तोला तक उचित अनुपान (तक्र, उष्णोदक) द्वारा प्रयोग करने से यह अत्यन्त अग्निवृद्धि करते हैं । बवासीर, कफ और वायु के विकार से होनेवाली सग्रहणी, दमा, खासी, क्षयरोग, प्लीहावृद्धि, श्लीपदरोग, सूजन, हिचकी, प्रमेह, भगन्दर और पलित (केशों की श्वेतता) रोग नष्ट होते हैं । एवं यह वृष्य (वीर्यवर्धक), मेध्य (बुद्धिवर्धक) और रसायन है ।

अथ कामलादौ मण्डूरवटका —

त्रिफला त्र्यूषणं चव्यं पिप्पलीमूलचित्रकौ।
दारु माक्षिकधातुश्च दार्वी मुस्तं विडङ्गकम् ॥३४॥
प्रत्येकं कर्षमात्राणि सर्वद्विगुणितं तथा।
मण्डूरं चूर्णयेच्छुद्धं गोमूत्रेऽष्टगुणे क्षिपेत् ॥३५॥
पक्त्वा च वटकान् कृत्वा दद्यात्तक्रानुपानतः।
कामलापाण्डुमेहार्शःशोथकुष्ठकफामयान् ॥३६॥
ऊरुस्तम्भमजीर्णं च प्लीहानं नाशयेदपि।

त्रिफला (हरीतकी त्वक्, विभीतक त्वक्, आमलकी), त्र्यूषण (कालीपीपल, कालीमिरच, सोंठ), चव्य, पीपलामूल, चीते की छाल, देवदारु, स्वर्णमाक्षिक (भस्म), दारुहलदी, नागरमोथा, वायविडंग—इन सबका यथाविधि प्राप्त वस्त्रपूत चूर्ण १।१ तोला ग्रहण करे (यह १४ तोले हैं)। इन सब से द्विगुण शुद्ध मण्डूर (लोहमल-इसकी भस्म लेनी है, २८ तोले) और समस्त मान (मण्डूर सहित चूर्ण मान) से अष्ट गुण (आठगुना, चार सेर १६ तोले) गोमूत्र लेकर यथाविधि पाक करे और गुटिका बनावे। तक्र के साथ इसका प्रयोग करने से कामला रोग, पाण्डुरोग, प्रमेह, बवासीर, सूजन, कुष्ठ, कफ जनित रोग, ऊरुस्तम्भ, अजीर्ण और प्लीहावृद्धि नष्ट होती है ॥३४—३६॥

वक्तव्य—मंडूर शोधन—

गोमूत्रैस्त्रिफला क्वाथ्या तत्क्वाथे सेचयेच्छनैः।
लौहकिट्टं सुसंतप्तं यावज्जीर्यति तत्स्वयम्।
तच्चूर्णं जायते पेष्यं मण्डूरोऽयं प्रयोजयेत्।

और मारण—

दग्ध्वाक्षकाष्ठैर्मलमायसं तु गोमूत्रनिर्वापितमष्टवारान्।
विचूर्ण्य लीढं मधुना चिरेण कुम्भाह्वयं पाण्डुगदं निहन्ति ॥

मात्रा—रोगी का वयोबल देखकर योग्य मात्रा की कल्पना करे। साधारणतया ३ माशा से ६ माशा तक मात्रा व्यवहार में लाई जाती है। जिन रोगियों को कोष्ठबद्धता हो उन्हें इसके प्रयोग से प्रथम विरेचक औषध का प्रयोग करके इसका सेवन करना हितकर होगा।

अथ धातुगतज्वरे पिप्पलीमोदक —

क्षौद्राद् द्विगुणितं सर्पिर्घृताद् द्विगुणपिप्पली ॥३७॥
सिता द्विगुणिता तस्याः क्षीरं देयं चतुर्गुणम्।
चातुर्जातं क्षौद्रतुल्यं पक्त्वा कुर्याच्च मोदकान् ॥३८॥

धातुस्थांश्च ज्वरान् सर्वान् श्वासं कासं च पाण्डुताम् ।
धातुक्षयं वह्निमान्द्यं पिप्पलीमोदको जयेत् ॥३६॥

क्षौद्र (शहद) एक भाग, घृत दो भाग और घृत से द्विगुण कालीपीपल का चूर्ण और पिप्पली चूर्ण से द्विगुण मिशरी तथा मिशरी से चौगुना दूध (गौ का) तथा दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेशर—इन का चूर्ण पृथक् २ शहद के समान लेवे । सबको यथाविधि पाक करे । घन होने पर मोदक (वटिका) निर्माण करे । इनके प्रयोग से धातुगतज्वर (रस रक्तादि धातुओं में आश्रित), श्वास, कास, पाण्डुरोग, धातुक्षय (मन्दाग्नि अथवा अनुलोम क्षय के कारण से होने वाला धातुक्षय) तथा पाचकाग्नि की मन्दता नष्ट होती है ॥३७–३६॥

वक्तव्य—विधि—पिप्पली चूर्ण को प्रथम घृत में मिलाकर परिपाकार्थ निर्धारित दुग्धपात्र में छोडकर मन्दाग्नि से पाक करे पुन घनपाक आने पर मिशरी का चूर्ण डालकर मिलावे । सम्यक् मिश्रण होने पर उतार ले और चातुर्जात तथा मधु मिलाकर वटी बनावे । मात्रा ६ माशा से १ तोला, दूध के साथ देवे ।

अथ प्रमेहादौ चन्द्रप्रभावटी—

चन्द्रप्रभां वचां मुस्तं भूनिम्बामृतदारुकम् ।
हरिद्रातिविषा दार्वी पिप्पलीमूलचित्रकौ ॥४०॥
धान्यकं त्रिफला चव्यं विडङ्गं गजपिप्पली ।
व्योपं माक्षिकधातुश्च द्वौ क्षारौ लवणत्रयम् ॥४१॥
एतानि शाणमात्राणि प्रत्येकं कारयेद् बुधः ।
त्रिवृद्दन्ती पत्रकं च त्वगेला वंशरोचना ॥४२॥
प्रत्येकं कर्षमात्राणि कुर्यादेतानि बुद्धिमान् ।
द्विकर्षं हतलोहं स्याच्चतुष्कर्षा सिता भवेत् ॥४३॥
शिलाजत्वष्टकर्षं स्यादष्टौ कर्षाश्च गुग्गुलोः ।
एभिरेकत्र संचूर्णैः कर्तव्या गुटिका शुभा ॥४४॥
चन्द्रप्रभेति विख्याता सर्वरोगप्रणाशिनी ।
प्रमेहान् विंशतिं कृच्छ्रं मूत्राघातं तथाश्मरीम् ॥४५॥
विबन्धानाहशूलानि मेहनं ग्रन्थिमर्बुदम् ।
अण्डवृद्धिं तथा पाण्डुं कामलां च हलीमकम् ॥४६॥
अन्त्रवृद्धिं कटीशूलं कासं श्वासं विचर्चिकाम् ।
कुष्ठान्यर्शांसि कण्डूं च प्लीहोदरभगन्दरम् ॥४७॥

दन्तरोग नेत्ररोगं स्त्रीणामार्तवजां रुजम् ।
पुंसां शुक्रगतान् दोषान् मन्दाग्निमरुचिं तथा ॥४८॥
वायुं पित्तं कफं हन्याद्बल्या वृष्या रसायनी ।
चन्द्रप्रभायां कर्षस्तु चतुःशाणो विधीयते ॥४६॥

चन्द्रप्रभा (बाकुची), वच, नागरमोथा, चिरायता, गिलोय, देवदारु, हल्दी, अतीस, दारुहल्दी(त्वक्), पीपलामूल, चीते की छाल, धनिया, त्रिफला (हरीतकी, बहेड़ा, आमला), चव्य, वायविडंग, गजपीपल, व्योष (काली मिरच, काली पीपल, सोंठ), स्वर्णमाक्षिक (भस्म), यवक्षार, सज्जीखार, लवणत्रय (सैन्धव, सौवर्चल, विड)—इन (उपरोक्त २७ औषधें) प्रत्येक औषधों का वस्त्रपूत चूर्ण पृथक् २ एक एक शाण (३ । ३ माशा लेवे, (समग्र मान ६ तोला ९ माशे) और निसोत का चूर्ण, दन्तीमूल चूर्ण, तेजपत्र चूर्ण, दालचीनी चूर्ण, छोटी इलायची का चूर्ण, तवाशीर का चूर्ण, पृथक् पृथक् एक एक कर्ष (१ । १ तोला) लेवे । तथा लोह भस्म दो कर्ष (२ तोला), शुद्ध शिलाजीत ८ कर्ष (८ तोला), शुद्धगूगल ८ कर्ष (८ तोला) लेवे । सब को इकट्ठा कर कूट पीस कर गोली बना लेवे । इसको चन्द्रप्रभा-वटी कहते हैं । यह सम्पूर्ण रोगों को नाश करने में प्रसिद्ध है (अर्थात् पूर्वकाल से प्रयुक्त होती आ रही है) इसको ४–८ रत्ती योग्य अनुपान के साथ प्रयोग करने से बीस प्रकार के प्रमेह रोग, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, पथरी, विबन्ध, आनाह, शूल, प्रमेहपिटिका, ग्रन्थिरोग, अर्बुद (रसौली), अन्त्रवृद्धि (हरनिया), कमरदर्द, श्वास, कास, विचर्चिका (त्वक्रोग), अण्डवृद्धि (अण्डकोष की वृद्धि), पाण्डुरोग, हलीमक, कुष्ठरोग, बवासीर, खाज, प्लीहावृद्धि, भगन्दर, दन्तरोग, नेत्ररोग, स्त्रियों के ऋतु-सम्बन्धी रोग, पुरुषों के वीर्यगत दोष (रोग), मन्दाग्नि, अरुचि एवं वातपित्त तथा कफ की न्यूनाधिकता को नष्ट करती है । बलप्रद तथा वृष्य (वीर्यवर्धक) एवं रसा-यन है । चन्द्रप्रभावटी के मान में कर्ष चार शाण का लिया जाता है ॥४०-४६॥

वक्तव्य—(१) चन्द्रप्रभा के योग में चन्द्रप्रभा शब्द पर कई विचार हैं किसी टीकाकार ने चन्द्रप्रभा से 'कचूर' का ग्रहण किया है । किसी ने 'कर्पूर' का ग्रहण किया है । किसी ने 'शतावरी' का ग्रहण किया है । परन्तु ऊपर के नाम अनुमानत स्थिर किये गये प्रतीत होते हैं कारण कि प्रमाण का अभाव है । चन्द्र-प्रभा शब्द से बाकुची ग्रहण निघण्टु सम्मत है । यथा—'शशिलेखा कृष्णप्रभा' (भाव प्र०) यह बाकुची के नाम हैं । चन्द्रशकला, चन्द्रिका, चन्द्ररेखा (कैयदेव-निघण्टु) । एवं इसके गुण भी प्रमेहघ्न हैं । यथा—

'हन्ति कुष्ठकृमिश्वासकासमेहज्वरारुचीः ।' (कैयदे०)
'रूक्षा हृद्या श्वासकुष्ठमेहज्वरकृमिप्रणुत् ।' (भावप्र०)

अत. गुण और नाम साम्यता से चन्द्रप्रभा करके बाकुची का ही ग्रहण श्रेष्ठ है ।

(२) लोह का शोधन मारण तथा शिलाजीत और गूगल का शोधन इसी खंड के ११वें अध्याय में होगा। (३) विधि—प्रथम शुद्ध गूगल को एक पाव उष्ण गोदूध में भिगो दिया जाता है। पुन उसे सम्यक् मर्दन किया जाता है। जब गूगल के कण दूध में विलीन हो जायें तब इसमें स्वर्ण माक्षिक, लोह, शिलाजीत और मिशरी मिला कर मर्दन किया जाता है। जब यह औषधें परस्पर मिल जायें तो अवशिष्ट चूर्णौषधों को डालकर कूटना आरम्भ किया जाता है। पुन गोली बनने योग्य होने पर ४—४ रती की गोली बना लेवे। मात्रा—१—२ गोली तक। अनुपान—प्राय रोगभेदानुसार होता है। अधिकतर कोष्णजल, दूध, अर्कसौंफ प्रयोग में आता है।

अथ गुल्मादी काङ्कायनगुटिका—

यवानी जीरकं धान्यं मरिचं गिरिकर्णिका।
अजमोदोपकुञ्ची च चतुःशाणाः पृथक् पृथक् ॥५०॥
हिङ्गु षट्शाणिक कार्यं क्षारौ लवणपञ्चकम्।
त्रिवृच्चाष्टमितैः शाणैः प्रत्येकं कल्पयेत्सुधीः ॥५१॥
दन्ती शठी पौष्करं च विडङ्गं दाडिमं शिवा।
चित्रोऽम्लवेतसः शुण्ठी शाणैः षोडशभिः पृथक् ॥५२॥
बीजपूररसेनैषां गुटिकां कारयेद् बुधः।
घृतेन पयसा मद्यैरम्लैरुष्णोदकेन वा ॥५३॥
पिबेत् काङ्कायनप्रोक्तां गुटिकां गुल्मनाशिनीम्।
मद्येन वातिकं गुल्मं गोक्षीरेण च पैत्तिकम् ॥५४॥
मूत्रेण कफगुल्मं च दशमूलैस्त्रिदोषजम्।
उष्ट्रीदुग्धेन नारीणां रक्तगुल्मं निवारयेत् ॥५५॥
हृद्रोगं ग्रहणीं शूलं क्रिमीनर्शांसि नाशयेत्।

अजवायन, जीरा (सफेद), धनिया, कालीमिरच, गिरिकर्णिका (आस्फोता, गणियारी, इन्स्फन्द), अजमोद, उपकुञ्ची (कालाजीरा)। यह प्रत्येक चार २ शाण (१। १तोला) लेवे और हींग (घृतभृष्ट) छ शाण (१॥तोला) लेवे। एवं—जवाखार, सज्जीखार, लवण पञ्चक (सैन्धव, सौवर्चल, विड सामुद्र, साभर), निसोत—यह सब आठ२ शाण (२।२तोला) लेवे। तथा—दन्ती मूल (जमालगोटे की जड़), कचूर, पोहकरमूल, वायविडंग, अनारदाना, हरीड़, चित्रकमूलत्वक्, अम्लवेत (गलगल का रस), सोंठ—यह प्रत्येक सोलह २ शाण (४।४ तोले) लेवे। उपरोक्त समस्त औषधों का वस्त्रपूत चूर्ण यथामान ग्रहण करे बिजोरा निम्बू के रस से (भावना विधि से) पीस कर (३। ३ मासे की) गोली बना लेवे। इनको घृत, दूध,

मद्य, निम्बुरस, अथवा कोष्णजल के अनुपान से प्रयोग करे। यह काङ्कायन ऋषि द्वारा कथित काङ्कायन गुटिका गुल्मरोग (यह पांच स्थानों पर और पांच प्रकार का होता है) को नष्ट करती है। इसे वायु जनित गुल्म रोग में मद्य के साथ प्रयोग करे, पित्तजनित गुल्म रोग में गोदूध के साथ पान करे, कफ जनित गुल्म रोग में गोमूत्र के साथ पिलावे, त्रिदोषज (सन्निपात के) गुल्म रोग में दशमूल क्वाथ से सेवन करे, एव स्त्रियों के रक्तगुल्म (गर्भाशय में रक्त संचय होने से होता है) में ऊँटनी के दूध के साथ प्रयोग करने से रक्तगुल्म नष्ट होता है और हृद्रोग, संग्रहणी, शूल (उदर और कटी), कृमी (पेट के कीड़े) और बवासीर इसके प्रयोग से दूर होते हैं ॥५०—५५॥

अथ योगराजगुग्गुलुर्वातरोगे—

नागरं पिप्पलीमूलं पिप्पली चव्यचित्रकौ ॥५६॥
भृष्टं हिंग्वजमोदा च सर्षपो जीरकद्वयम् ।
रेणुकेन्द्रयवाः पाठा विडङ्गं गजपिप्पली ॥५७॥
कटुकातिपा भार्ङ्गी वचा मूर्वा च भागतः ।
प्रत्येकं शाणिकानि स्युर्द्रव्याणीमानि विंशतिः ॥५८॥
द्रव्येभ्यः सकलेभ्यश्च त्रिफला द्विगुणा भवेत् ।
एभिश्चूर्णीकृतैः सर्वैः समो देयश्च गुग्गुलुः ॥५९॥
(वङ्गं रौप्यं च नागं च लोहसारं तथाभ्रकम् ।
मण्डूरं रससिन्दूरं प्रत्येकं पलसंमितम् ॥६०॥
गुडपाकसमं कृत्वा इमं दद्याद्यथोचितम् ।)
एकपिण्डं ततः कृत्वा धारयेद् घृतभाजने ॥६१॥
गुटिकाः शाणमात्रास्तु कृत्वा ग्राह्या यथोचिताः ।
गुग्गुलुर्योगराजोऽयं त्रिदोषघ्नो रसायनः ॥६२॥
मैथुनाहारपानानां त्यागो नैवात्र विद्यते ।
सर्वान् वातामयान्कुष्ठानर्शांसि ग्रहणीगदम् ॥६३॥
प्रमेहं वातरक्तं च नाभिशूलं भगन्दरम् ।
उदावर्तं क्षयं गुल्ममपस्मारमुरोग्रहम् ॥६४॥
मन्दाग्निश्वासकासांश्च नाशयेदरुचिं तथा ।
रेतोदोषहरः पुंसां रजोदोषहरः स्त्रियाम् ॥६५॥
पुंसामपत्यजनको वन्ध्यानां गर्भदस्तथा ।

रास्नादिक्काथसंयुक्तो विविधं हन्ति मारुतम् ॥६६॥
काकोल्यादिशृतात्पित्तं कफमारग्वधादिना ।
दार्वीशृतेन मेहांश्च गोमूत्रेण च पाण्डुताम् ॥६७॥
मेदोवृद्धिं च मधुना कुष्ठं निम्बशृतेन वा ।
छिन्नाक्काथेन वातास्र शोथं शूलं कणाशृतात् ॥६८॥
पाटलाक्काथसहितो विषं मूषकजं जयेत् ।
त्रिफलाक्काथसहितो नेत्रार्तिं हन्ति दारुणाम् ॥६९॥
पुनर्नवादिक्काथेन हन्यात्सर्वोदराण्यपि ।

सोंठ, कालीपीपल, चव्य, पीपलामूल, चित्रकमूलत्वक्, भृष्टहिंगु (घी से भूनी हुई हींग), अजमोद, सरसों, कालाजीरा, श्वेतजीरा, रेणुका, इन्द्रजौं, पाठा, वायविडङ्ग, गजपीपल, कौड, अतीस, भाङ्गी, वच, मूर्वा—उपरोक्त वीस औषधों का यथाविधि प्राप्त वस्त्रपूत चूर्ण पृथक् २ एक २ शाण (३ । ३ माशा) लेवे और त्रिफला (हरीड, वहेडा, आमला) का वस्त्रपूत चूर्ण द्विगुण (उपरोक्त २० शाण—५ तोले, से द्विगुण १० तोला) मान का ग्रहण करे और उपरोक्त मिश्रित समस्त चूर्णमान के वरावर शुद्धगूगल ३ छटाक ग्रहण करे। तथा वङ्गभस्म, चादीभस्म, सीसाभस्म, फौलादभस्म, अभ्रकभस्म, मण्डूरभस्म, रससिंदूर (सुपिष्ट)—प्रत्येक एक २ पल लेवे और गूगल को यथाविधि गुड़पाकसम (द्रवावस्था में परिणत करके) वनाकर ऊपर की सब औषधों को यथानियम डालकर कूटना आरम्भ करे। जब एक पिण्ड सा वन जाये तब स्निग्धपात्र में स्थापन करे। इसकी शाणमात्र (३ माशा) की गोली वनावे। इसे योगराजगूगल कहते हैं। यह तीनों दोषों (वात, पित्त, कफ) के प्रकोप को नष्ट करता है और रसायन है। इसके प्रयोग में सम्भोग, स्नान, पान आदि का कोई प्रतिवन्ध नहीं है। यह सम्पूर्ण वातरोगों को, कुष्ठ, ववासीर, सग्रहणी, प्रमेह, वातरक्त (नुकरस, गौट), नाभिशूल, भगन्दर, उदावर्त (वेगसरोधज वातप्रकोप), क्षय, गुल्म, अपस्मार, उरोग्रह, मन्दाग्नि, दमा, खासी, अरुचि, पुरुषों के वीर्यदोष, स्त्रियों के मासिकधर्म के रोग—इन सव को दूर करता है। इसके प्रभाव से पुरुष का वीर्य सन्तान उत्पन्न करने योग्य होता है। तथा जिन स्त्रियों के गर्भ नही रहता उन्हें गर्भधारण करने योग्य वनाता है। इस के प्रधान अनुपान इस प्रकार हैं। यथा—रास्नादिक्काथ (इसी खण्ड के २य अध्याय में कथित) सम्पूर्ण वातजनित रोगों के लिये, काकोल्यादिगण (सुश्रुतोक्त)के क्वाथ से सम्पूर्ण पित्तज रोगों को दूर करता है। आरग्वधादिगण (सुश्रुतोक्त के क्वाथ से यह कफजनित रोगों को शांत करता है। दार्वी (दारुहल्दी) के क्वाथ से यह प्रमेह को दूर करता है। गोमूत्र द्वारा प्रयोग किया हुआ यह पाण्डुरोग को दूर करता है। शहद के साथ सेवन किया हुआ यह मेदोवृद्धि (मोटापन) रोग को

दूर करता है। निम्बत्वक् के क्वाथ से प्रयुक्त किया हुआ यह कुष्ठरोग को दूर करता है। गिलोय के क्वाथ से सेवन किया हुआ यह वातरक्त को दूर करता है। कालीपीपल के क्वाथ से सेवन किया हुआ सूजन और शूलरोग को दूर करता है। पाटला (पाडल) त्वक् के कषाय से सेवन किया हुआ यह मूषकविष जनितरोगों को नष्ट करता है। त्रिफला के कषाय से सेवन किया हुआ यह भयंकर दु'ख देने वाली नेत्रपीडा को नष्ट करता है। पुनर्नवा (इटसिट, साठी) मूल के क्वाथ से सेवन किया हुआ यह सम्पूर्ण (अष्टविध) उदररोगों को शात करता है।

वक्तव्य—योगराज गूगल आयुर्वेद का प्रसिद्ध योग है। इन्द्रशक्ति सदृश प्रभावोत्पादक भी है। परन्तु प्रतीत होता है कि इसके योग में वैद्यवर शार्ङ्गधर ने भस्मों का समावेश नही किया। यह कृति उत्तरार्द्ध के किसी वैद्य की है। यद्यपि भस्म प्रयोग में विशेष क्षति नही है परन्तु शास्त्रीय योग में गडबड़ाध्याय करना उचित नही। इस गोलमाल से शार्ङ्गधरीय परिभाषा में बडा विप्लव आता है। यथा—ग्रन्थकार की पद्धति और इच्छा इस बात को प्रकट करती है कि वह योगराज गूगल के समस्त योग में वीस औषधें डाल रहे हैं। इन वीस के समान त्रिफला है और सबके समान गूगल है। यही ठीक योग है। यदि ग्रन्थकार का अभिप्राय भस्मों सहित गूगल बनाने का होता तो वह यहा अपनी पूर्व निर्मित परिभाषा 'चूर्णान्चूर्णसम कार्यो गुग्गुलुर्मधु तत्समम्' का उल्लङ्घन कभी न करते। ऐसी अवस्था में भस्मों सहित चूर्ण मान के समान गूगल लिया जाता। प्राय प्रत्येक गूगल वाले योग में गूगल चूर्ण के समान होता है। यहां १५ तोले चूर्ण है और १५ तोले गूगल है यह तो परिभाषा के अनुसार है। परन्तु सन्निवेशित भस्मों का ही मान २८ तोले है। इस हिसाब से ४३ तोले चूर्ण द्रव्य में १५ तोला गूगल शास्त्रीय पद्धति के सर्वथा प्रतिकूल है। योगराज की शास्त्र निर्दिष्ट मात्रा के अनुसार भी निर्दिष्ट मात्रा की भस्मों का प्रयोग स्तुत्य नही। क्योंकि चूर्ण और गूगल का मिलित मान ३० तोला है और केवल भस्मों का मान २८ तोला, लगभग बराबर ही हुआ। ऐसी अवस्था में १ शाण—३ मासा की मात्रा में १॥ मासा मिलित भस्में आएंगी। १॥ मासा भस्मों की मात्रा अत्यधिक है। अत भस्म प्रयोग पश्चात् की कृति नि सन्देह है।

विधि'—इस योग को वैद्य चन्द्रप्रभा की तरह बनाते हैं। दूसरी विधि यह है कि प्रथम गूगल को घृत के साथ मर्दन करके द्रवावस्था में कर लिया जाता है। तदनन्तर मिलित औषधों का चूर्ण डालकर घृत के योग से शिला पर अथवा पत्थर के उदूखल में निर्घात (चोटें) लगाये जाते हैं। सिक्थ की तरह पिण्डाकृति प्राप्त होने पर तैयार समझा जाता है। भली प्रकार कूटने के उद्देश्य से ही इसमें एक लाख निर्घात (चोट) लगाने की जनश्रुति चली आ रही है। उत्तम कूटने और पर्याप्त घृत मिलाने से यह पुन. शुष्क नही होता सिक्थाकृति ही रहता है। यदि

इसे लोहखरल में अथवा लोह मुद्गर से कूटा जाये तो इसका वर्ण कृष्ण हो जाता है। अन्यथा कृष्ण नहीं होगा। भस्म रहित योगराज की मात्रा १—२ मासा तक प्रयोग होती है। भस्मों सहित की मात्रा ४—८ रत्ती तक। भस्म रहित को केवल योगराज और भस्ममिश्रित को महायोगराज या वृहद्योगराज कहते हैं। इसमें क्वाथ अथवा गोमूत्रादि का ग्रहण परिभाषा के अनुसार करना चाहिये।

मूषक विष के लक्षण—

जायन्ते ग्रन्थय. शोफाः कर्णिका मण्डलानि च ।
पिडकोपचयाश्चोग्रा विसर्पा किटिभानि च ॥
पर्वभेदो रुजस्तीव्रा ज्वरो मूर्च्छा च दारुणा ।
दौर्बल्यमरुचि· श्वासो वेपथुर्लोमहर्षणम् ॥

ग्रन्थकार ने इस योग के गुणों पर मुग्ध होकर इसके सेवन काल में खान-पान और मैथुनादि का प्रतिबन्ध दूर कर दिया है परन्तु आरोग्य शास्त्र पर चलने वालों को नीचे लिखी बातें भूल न जाना चाहिये। यथा—

नाराम्लरसयूषार्क दोषधात्वबलोचितम् ।
बुभुक्षितो मात्रपानमद्याद् गुग्गुलुसेवक ॥

मैथुनेऽपि—

सेवेत कामत· कामं तृप्तो वाजीकृतैर्हिमैः ।
त्र्यहाद्वसन्तशरदो पक्षाद् वृष्टिनिदाघयो· ॥
प्रकामं च निषेवेत मैथुनं शिशिरागमे ।
शीते रात्रौ दिवा ग्रीष्मे प्रावृद्वर्जितवर्षणे ॥
वसन्ते च दिवा रात्रौ ना स्मरेत् शरदि स्मरम् ॥ इति ॥

अथ वातरक्तादौ—कैशोरगुग्गुलु —

त्रिफलायास्त्रयः प्रस्थाः प्रस्थैका चामृता भवेत् ॥७०॥
संकुट्य लोहपात्रेण सार्धद्रोणाम्बुना पचेत् ।
जलमर्धमृतं ज्ञात्वा गृह्णीयाद्वस्त्रगालितम् ॥७१॥
ततः क्वाथे क्षिपेच्छुद्धं गुग्गुलुं प्रस्थसंमितम् ।
पुनः पचेदयःपात्रे दर्व्या संघर्षयेन्मुहुः ॥७२॥
सान्द्रीभूतं च तं ज्ञात्वा गुडपाकसमाकृतिम् ।
चूर्णीकृत्य ततस्तत्र द्रव्याणीमानि निक्षिपेत् ॥७३॥
त्रिफला द्विपला ज्ञेया गुडूची पलिका मता ।
षडक्षं त्र्यूषणं प्रोक्तं विडङ्गानां पलार्धकम् ॥७४॥
दन्ती कर्षमिता कार्या त्रिवृत्कर्षमिता स्मृता ।

ततः पिण्डीकृतं सर्वं घृतपात्रे विनिक्षिपेत् ॥७५॥
गुटिकाः शाणिकाः कार्या युञ्ज्याद्दोषाद्यपेक्षया ।
अनुपाने भिषग्दद्यात् कोष्णं नीरं पयोऽथवा ॥७६॥
मञ्जिष्ठादिसृतं वापि युक्तियुक्तमतः परम् ।
जयेत् सर्वाणि कुष्ठानि वातरक्तं त्रिदोषजम् ॥७७॥
सर्वव्रणांश्च गुल्मांश्च प्रमेहपिडिकास्तथा ।
प्रमेहोदरमन्दाग्निकासश्वयथुपाण्डुजान् ॥७८॥
हन्ति सर्वामयान् नित्यमुपयुक्तो रसायनः ।
कैशोरकाभिधानोऽयं गुग्गुलुः कान्तिकारकः ॥७९॥
वासादिना नेत्रगदान् गुल्मादीन् वरुणादिना ।
क्काथेन खदिरस्यापि व्रणकुष्ठानि नाशयेत् ॥८०॥
अम्लं तीक्ष्णमजीर्णं च व्यवायं श्रममातपम् ।
मद्यं रोषं त्यजेत् सम्यक् गुणार्थी पुरसेवकः ॥८१॥

त्रिफला (हरीड़, बहेड़ा, आमला) प्रत्येक एक प्रस्थ, (मागध परिभाषा के अनुसार १२ छ० ४ तोला, व्यावहारिक १ सेर), गुडूची (आर्द्र) एक प्रस्थ (१ सेर)—इन चारों औषधों को भली प्रकार कूट कर एक द्रोण (३२ सेर) जल में लोहपात्र द्वारा पाक करे। जब आधा पानी शेष रहे तब उतार कर यथाविधि वस्त्र द्वारा छान लेवे। इस वस्त्रपूत क्काथ को पुन शुद्धलोह पात्र में डाले और इसमें एक प्रस्थ (१ सेर) शुद्ध गूगल डाल कर मन्दाग्नि से पाक करे और दर्वी (कड़छी) के साथ गूगल को हिलाता और घोटता रहे। जब गूगल क्काथ में मिल कर घन हो जाये तब इस गुड़पाकाकृति (गन्ने के रस को गुड़ बनाने के लिये जिस अवस्था तक घन किया जाता है, वहा तक पकावे) घोल में—त्रिफला (हरीड, बहेडा, आमला) आधा २ पल (२।२ तोला प्रत्येक), गुडूची १ पल (४ तोला, कई वैद्य इसमें गुडूची सत्व १ पल डालने की अनुमति देते हैं, यह श्रेष्ठ है), त्र्यूषण (कालीपीपल, कालीमिरच, सोंठ) छ कर्ष (प्रत्येक २ तोला), वायविडंग २ तोला, दन्तीमूल १ तोला (शुद्ध दन्ती बीज देने से अधिक लाभ होता है), निसोत १ तोला। सब का वस्त्रपूत चूर्ण यथामान लेकर मिला देवे। पिण्डीभूत होने पर स्निग्धपात्र में स्थापन करे। इसकी एक शाण (३ मासे) परिमाण गुटिका निर्माण कर दोषानुसार उचित मात्रा से प्रयोग करे। अनुपानार्थ—कोष्ण जल, दूध, मञ्जिष्ठादि क्काथ अथवा युक्तियुक्त उचित अनुपान व्यवहार करे। इसके प्रयोग से सर्व प्रकार के कुष्ठ रोग, त्रिदोषज वातरक्त, व्रण (फोड़े, फुंसी), गम्भीर

आदि), गुल्म रोग, प्रमेह पिडिका प्रमेह, उदर रोग, मन्दाग्नि, कास, सूजन, पाण्डुरोग आदि २ सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं। इसके निरन्तर सेवन से यह रसायन के गुण देता है। यह कैशोर गुग्गलु कांति (आरोग्य जनित प्रभा) कारक है। इसके विशेष अनुपान रोग भेद से—वासादि क्वाथ से—नेत्र रोगों को नष्ट करता है। वरुणादि क्वाथ से—गुल्मरोग को नाश करता है। खादिरादि क्वाथ से—व्रण और कुष्ट तथा रक्त विकार को नष्ट करता है। इसके प्रयोग काल में—खटाई, तीखी चीजें, अजीर्ण में भोजन, मैथुन, परिश्रम (अधिक), धूप सेवन (अधिक), मद्यपान क्रोध—इन सब को त्याग देवे। इनके प्रयोग से औषध का प्रभाव क्षीण वीर्य हो जाता है ॥७०-८१॥

वक्तव्य—(१) 'यथादोषाद्यपेक्षया' इससे शाण मात्रा की सर्वत्राभिव्याप्ति का निषेध होता है। यथा—कफ रोग में—एक निष्क, पित्त रोग में दो निष्क और वायु रोग में तीन निष्क मात्रा देवे। अथवा कोष्ठ भेद के अनुसार—

चत्वारो माषका हीने मध्ये त्वष्टौ च माषकाः।
श्रेष्ठे द्वादशका प्रोक्ता कोष्ठं विज्ञाय तत् त्रिधा ॥

ऋतु भेद से अनुपान—

प्रावृट्काले च ग्रीष्मे च घृतयुक्त प्रदापयेत्।
शरत्काले वसन्ते च दापयेत् त्रिफलायुतम् ॥
हेमन्ते शिशिरे चैव गोमूत्रेण समायुतम्।

अथ भगन्दरादौ त्रिफलागुग्गुलु—

त्रिपलं त्रिफलाचूर्णं कृष्णाचूर्णं पलोन्मितम्।
गुग्गुलुः पाञ्चपलिकं चोदयेत्सर्वमेकतः ॥८२॥
ततस्तु गुटिकां कृत्वा प्रयुञ्ज्याद्वह्न्यपेक्षया।
भगन्दरं गुल्मशोथावर्शांसि च विनाशयेत् ॥८३॥

त्रिफला तीन पल (हरड़, बहेड़ा, आमला प्रत्येक ४।४ तोला), काली पीपल का चूर्ण ४ तोला, शुद्ध गूगल ५ पल (२० तोला) यथाविधि घृतादि मिलाकर सब को इकट्ठा करके कूट लेवे। पाचक अग्नि और दोषादि को देखकर उचित मात्रा १—३ माशा योग्य अनुपान द्वारा प्रयोग करने से भगन्दर (सीवनी और गुदा के इतस्तत होने वाला व्रण) गुल्म, सूजन, बवासीर, यह रोग नष्ट होते हैं ॥८२—८३॥

अथ प्रमेहादौ गोक्षुरादिगुग्गुलु—

अष्टाविंशतिसंख्यानि पलान्यानीय गोक्षुरात्।
विपचेत् षड्गुणे नीरे क्वाथो ग्राह्योऽर्धशेषितः ॥८४॥
ततः पुनः पचेत्तत्र पुटं सप्तपलं क्षिपेत्।
गुडपाकसमाकारं ज्ञात्वा तत्र विनिक्षिपेत् ॥८५॥

त्रिकटु त्रिफला मुस्तं चूर्णितं पलसप्तकम्।
ततः पिण्डीकृतस्यास्य गुटिकामुपयोजयेत् ॥८६॥
हन्यात् प्रमेहं कृच्छ्रं च प्रदरं मूत्रघातकम्।
वातास्रं वातरोगांश्च शुक्रदोषं तथाऽश्मरीम् ॥८७॥

गोखरू (पञ्चाङ्ग) २८ पल लेकर भली प्रकार कूट लेवे। पुन. छ गुने पानी में आधा शेष रहने तक पकावे। इस अर्धावशिष्ट क्वाथ को शुद्ध पात्र में डालकर और सात पल शुद्ध गूगल मिलाकर गुड़पाकाकृति पर्यन्त पाक करे। पुन त्रिकटु, त्रिफला, मुस्तक (नागरमोथा)—इन सात द्रव्यों का चूर्ण पृथक् २ एक २ पल लेकर गूगल में मिला देवे। पिण्डीभूत होने पर (उचित मान की) गुटिका बना लेवे। उचित अनुपान से प्रयुक्त किया हुआ यह गूगल प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, प्रदर, मूत्राघात, वातरक्त, शुक्रदोष, पथरी और वायु के रोगों को नष्ट करता है ॥८४—८७॥

वक्तव्य—यह उष्णवात के लिये उत्तम औषध है। सुजाक में भी इसका उत्तम प्रभाव देखा गया है। मात्रा—१—२ मासा, अनुपान—उष्णोदक या बकरी का दूध अथवा गोदूध है।

अथ कुष्ठादौ त्रिफलादिमोदकः—

त्रिफलाष्टपला कार्या भल्लातं च चतुष्पलम्।
बाकुची पञ्चपलिका विडङ्गानां चतुष्पलम् ॥८८॥
हतलोहं त्रिवृच्चैव गुग्गुलुश्च शिलाजतु।
एकैकं पलमात्रं स्यात्पलार्धं पौष्करं भवेत् ॥८९॥
चित्रकस्य पलार्धं स्याद् द्विशाणं मरिचं भवेत्।
नागरं पिप्पली मुस्ता त्वगेलापत्रकुङ्कुमम् ॥९०॥
शाणोन्मितं स्यादेकैकं चूर्णयेत्सर्वमेकतः।
ततस्तत्प्रक्षिपेच्चूर्णं पक्वखण्डे च तत्समे ॥९१॥
मोदकान् पलिकान् कृत्वा प्रयुञ्जीत यथोचितान्।
हन्युः सर्वाणि कुष्ठानि त्रिदोषप्रभवामयान् ॥९२॥
भगन्दरप्लीहगुल्मान् जिह्वातालुगलामयान्।
शिरोऽक्षिभ्रूगतान् रोगान् हन्यात्पृष्ठगतानपि ॥९३॥
प्राग्भोजनस्य देयं स्यादधःकायस्थिते गदे।
भेषजं मध्यभक्ते च रोगे जठरसंस्थिते ॥९४॥
भोजनस्योपरि ग्राह्यमूर्ध्वजत्रुगदेषु च।

त्रिफलाचूर्ण आठ पल (हरड़, वहेड़ा, आमला मिलित ३२ तोले), शुद्ध भिलावे चार पल (१६ तोले), बावचीचूर्ण पाच पल (२० तोला), वायविडङ्गचूर्ण चार पल (१६ तोले), लोहभस्म, निसोत का चूर्ण, शुद्धगूगल, शिलाजीत—यह चारों एक २ पल (४ । ४ तोले) और पोहकरमूल का चूर्ण २ तोले, चीते की जड़ की छाल का चूर्ण २ तोले, मरिचचूर्ण २ शाण (६ मासे), सोंठ, कालीपीपल, नागरमोथा, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, केशर—इनका प्रत्येक का चूर्ण एक २ शाण (३ । ३ मासे)—उपरोक्त समस्त औषधों के चूर्णभार के समानभाग मिशरी की चास पकाकर पक्व चासनी में उपरोक्त चूर्ण डाल कर चार २ तोले के मोदक वना लेवे और उचित मात्रा से प्रयोग करने से सर्व प्रकार के कुष्ठरोग, वात पित्त कफ से होनेवाले रोग, भगन्दर, प्लीहावृद्धि, गुल्मरोग, जिह्वा, तालु और गले के रोग, शिर आख भौंह के रोग तथा पीठ के रोग नष्ट होते हैं । अध काय (कमर से पाओं तक) के रोगों में भोजन के प्रथम (प्रारम्भिक ग्रासों के साथ) और उदररोगों में भोजन के मध्य में तथा ऊर्ध्वजत्रु (ग्रीवा से ऊपर के) रोगों में भोजन के अन्त में इसका प्रयोग करे ॥८८—९४॥

अथ गण्डमालादौ—काञ्चनारगुग्गुलु —

काञ्चनारत्त्वचो ग्राह्यं पलानां दशकं बुधैः ॥९५॥
त्रिफला षट्पला कार्या त्रिकटु स्यात् पलत्रयम् ।
पलैकं वरुणं कुर्यादेलात्वक्पत्रकं तथा ॥९६॥
एकैकं कर्षमात्रं स्यात् सर्वाण्येकत्र चूर्णयेत् ।
यावच्चूर्णमिदं सर्वं तावन्मात्रस्तु गुग्गुलुः ॥९७॥
संकुट्य सर्वमेकत्र पिण्डं कृत्वा च धारयेत् ।
गुटिकाः शाणिकाः कार्याः प्रातर्ग्राह्या यथोचितम् ॥९८॥
गण्डमालां जयत्युग्रामपचीमर्बुदानि च ।
ग्रन्थीन् व्रणांश्च गुल्मांश्च कुष्ठानि च भगन्दरम् ॥९९॥
प्रदेयश्चानुपानार्थं क्वाथो मुण्डतिकाभवः ।
क्वाथः खदिरसारस्य पथ्याक्काथोष्णकं जलम् ॥१००॥

कचनार की छाल का चूर्ण दश पल (½ सेर), त्रिफला छ पल (हरीड़, वहेडा, आमला प्रत्येक का चूर्ण ८ । ८ तोला, मिलित २४ तोले), त्रिकटु का चूर्ण तीन पल (कालीपीपल, कालीमिरच, सोंठ प्रत्येक ४ । ४ तोला, मिलित ३ पल), वरुण (वरना) वृक्ष की छाल का चूर्ण एक पल (४ तोले) और छोटी इलायची का चूर्ण, दालचीनी का चूर्ण, तेजपत्र का चूर्ण पृथक् २ एक २ कर्ष (१ । १ तोला)—सबको मिलाकर इकट्ठा करे और इस समग्र चूर्ण मान (१ सेर, ३ तोला) के समान

(१ सेर ३ तोला) शुद्ध गूगल डालकर (घृतयोग से) भली प्रकार कूटकर गोला बना लेवे। इसे स्निग्ध भाण्ड में स्थापन करे और एक २ शाण की गोलियां बनाकर उचित मात्राद्वारा प्रयोग करे। इससे अत्यंत उग्र (भयंकर) गण्डमाला (हंजीरें), अपची-रोग, अर्बुदरोग, ग्रन्थिरोग (शरीर की गाठों का अथवा नाड़ियों का फूल जाना), गुल्मरोग, व्रण, कुष्ठ, भगन्दर आदि सब नष्ट होते हैं। इसके ऊपर अनुपानार्थ—गोरखमुण्डी का क्काथ अथवा खदिरसार (निर्यास) का क्काथ, हरीतकी का क्काथ अथवा उष्णोदक प्रयोग करना चाहिये ॥९५—१००॥

वक्तव्य—गण्डमाला और अपचीरोग के लिये यह कांचनार गूगल अन्यर्थ औषध है। यदि श्लेष्म प्रकोप अधिक हो तो इसको वरुण त्वक् और शुण्ठी के क्काथ से प्रयोग करे। निरंतर पथ्याशी होकर इस का ४० दिन प्रयोग करने से ज्वर रहित समस्त गण्डमाला और अपची आदि नि सन्देह दूर होती हैं।

अथ माषकादिमोदक पुष्टौ—

निस्तुषं माषचूर्णं स्यात् तथा गोधूमसम्भवम्।
निस्तुषं यवचूर्णं च शालितण्डुलजं तथा ॥१०१॥
सूक्ष्मं च पिप्पलीचूर्णं पलिकान्युपकल्पयेत्।
एतदेकीकृतं सर्वं भर्जयेद्गोघृतेन च ॥१०२॥
अर्धमात्रेण सर्वेभ्यस्ततः खण्डं समं क्षिपेत्।
जलं च द्विगुणं दत्त्वा पाचयेच्च शनैः शनैः ॥१०३॥
ततः पक्वं समुद्धृत्य वृत्तान् कुर्वीत मोदकान्।
भुक्त्वा सायं पलैकं च पिबेत् क्षीरं चतुर्गुणम् ॥१०४॥
वर्जनीयौ विशेषेण क्षाराम्लौ द्वौ रसावपि।
कृत्वैवं रमयेन्नारीर्बह्वीर्न क्षीयते नरः ॥१०५॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधरसंहितायां चिकित्सास्थाने वटककल्पना नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

निस्तुष (छिलका रहित धोई हुई) माष की दाल का चूर्ण, छिलके रहित गेहूं का चूर्ण, छिलके रहित जौं का चूर्ण, शालि चावलों का चूर्ण (साठी के चावल), कालीपीपल का चूर्ण—सब का सूक्ष्म चूर्ण पृथक् २ एक २ पल (४। ४ तोला) लेकर समस्त चूर्ण मान के (समान) गोघृत कड़ाही में डालकर मृदुभर्जन करे (जल न जाये ऐसा भूने) और सब पदार्थों के मान से दोगुना मिशरी लेकर उससे द्विगुण जल मिश्रित कर के सब को यथाविधि शनै २ पाक करे। उचित पाक

होने पर नीचे उतारे और ४ । ४ तोले के मोदक (लड्डू) बनावे । सायंकाल एक मोदक भक्षण करे और ऊपर से १६ तोले दूध पीवे । इसके प्रयोग काल में खारी और खट्टी वस्तुओं का परित्याग कर देवे । इस प्रकार करने से पुरुष बहुत सी स्त्रियों के साथ सम्भोग करने से भी क्षीण बल नहीं होता ॥१०१—१०५॥

वक्तव्य—इस मोदक को बनाने के लिये व्यावहारिक नियम इस प्रकार है—प्रथम माषादि पदार्थों के चूर्ण को घृत के साथ आरक्ताभ भर्जन किया जाता है। पुन इस में चतुर्गुण गो दूध डालकर पकाया जाता है। जब हलुवे के सदृश पाक हो तब उतार ले और यथामान मिशरी का चूर्ण डालकर परस्पर मिला देवे और मोदक तैयार कर लेवे। अथवा—जल के साथ मिशरी की चासनी पकाकर परिपक्व चासनी में भर्जित चूर्ण डालकर मिला देवे और तत्काल मोदक बना डाले। स्वस्थ पुरुषों को चिरकाल तक सेवन करने से लाभ अवश्य होता है।

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायां शार्ङ्गधर
संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकायां भाषाटीकायां मध्यमखण्डे
'हिमकल्पना' नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

अवलेहकल्पना—

क्वाथादीनां पुनः पाकाद्घनत्वं सा रसक्रिया ।
सोऽवलेहश्च लेहः स्यात्तन्मात्रा स्यात्पलोन्मिता ॥१॥

किसी द्रव्य के यथाविधि प्राप्त किये हुए क्वाथ को पुनः पकाकर घन (गाढा) कर लेने को रसक्रिया, अवलेह और लेह कहते हैं । इसी प्रकार स्वरस, हिम, फाण्टादि की भी रसक्रिया बनाई जाती है । इसकी मात्रा एक पल (४ तोला) की है ॥१॥

वक्तव्य—इस प्रकार परिसाधित अवलेह की शास्त्रीय मात्रा १ पल की है। परन्तु वर्तमान में कोई भी मनुष्य इतनी मात्रा को सहन नहीं कर सकता । अतः रोगी का वयोबल विचार कर १—३ मासा तक प्रयोग करनी चाहिये । जिन अवलेहों में शर्करा तथा अन्य औषधें होती हैं वर्तमान में उनकी भी मात्रा ४ तोला व्यवहार में नहीं आती । यह शास्त्रीय वाक्य मार्ग निर्देशार्थ समझना चाहिये । उदाहरणार्थ—अहिफेन, रसाञ्जन आदि भी इसी प्रकार अवलेह विधि परिसाधित पदार्थ हैं। क्या इनकी भी मात्रा १ पल ही हो ?। मात्रा का निर्णय सर्वदा व्याधि और औषध के बलाबल के अनुसार चिकित्सक के आधीन होता है ।

अनुक्तमान अवलेहों में सितादि का परिमाण—

सिता चतुर्गुणा कार्या चूर्णाच्च द्विगुणो गुडः ।
द्रवं चतुर्गुणं दद्यादिति सर्वत्र निश्चयः ॥२॥

यदि किसी औषध के चूर्ण का खाड या मिशरी से अवलेह साधन करना हो तो चूर्ण की अपेक्षा से मिशरी चतुर्गुण लेवे । यदि गुड के द्वारा सिद्ध करना हो तो गुड चूर्ण मान के सम परिमाण में लेवे और गुड़ अथवा चूर्ण को पकाने के लिये द्रव पदार्थ (जल, क्षीर, क्वाथ) चूर्णापेक्षा चतुर्गुण ग्रहण करने चाहियें। अवलेह पाकार्थ ऐसा निश्चय सर्वत्र (अपने तंत्र और परतंत्र में) सिद्ध है ॥२॥

अवलेह पाक के लक्षण—

सुपक्वे तन्तुमत्त्वं स्यादवलेहोऽप्सु मज्जति ।
खरत्वं पीडिते मुद्रागन्धवर्णरसोद्भवः ॥३॥

उत्तम विधि से पाचित अवलेह में ततुमत्त्व (जब अवलेह पकने पर आता है तब चलाने वाली कडछी से चिपका हुआ अवलेह तात बाधकर नीचे गिरता है। इसको ततुमत्त्व कहते हैं) होता है और पक्व अवलेह का थोडा भाग जल में डालें तो डूब जाता है। उस परिपक्व अवलेह के स्वल्प भाग को अगूठे और तर्जनी अंगुली के मध्य में रखकर पीड़ित किया (दबाया) जाये तो उस में खरत्व (स्पर्श बोधत्व) और मुद्रा पन (निम्नत्व जिसमें दबाने से कुछ गढा पढ़ जाये) हो एव जिसमें गन्ध (सुपक्वता तथा निज द्रव्यों की गन्ध), वर्ण (उत्तम, प्राकृतिक और मनोहर) और रस (उत्तम स्वाद तथा तद्गत औषधों के रस) की प्राप्ति हो उसे सुपक्व अवलेह कहते हैं ॥३॥

वक्तव्य—१—तोयपूर्णे यदा पात्रे क्षिप्तो न स्रवते गुड· ।
क्षिप्तस्तु निश्चलस्तिष्ठेत् पतितस्तु न शीर्यते ॥
एष पाको गुडादीनां सर्वेषां परिकीर्तित· ।
२—पीडिते तु यदाङ्गुल्या निम्नता तत्र जायते ॥

अवलेह के अनुपान—

दुग्धमिक्षुरसो यूषः पञ्चमूलीकषायजम् ।
वासाक्वाथो यथायोग्यमनुपानं प्रशस्यते ॥४॥

साधारणतया दूध, ईख का रस, यूष, पञ्चमूलक्वाथ, वासा क्वाथ आदि को यथोचित मात्रा (एक से ४ तोला) तक अनुपान रूप में प्रयोग करे ॥४॥

वक्तव्य—ऊपर की अनुपान व्यवस्था सर्वत्र अनिवार्य नहीं। यह केवल अनुक्त स्थानों के लिये है। दूध—इसमें भी आवश्यकतानुसार गाय, भैंस, ऊँटनी आदि का लिया जाता है। इक्षुरस—इसके ग्रहण से सब प्रकार के गन्ने तथा इक्षु-विकार गुड शर्करादि लिये जा सकते हैं। यूष—व्याधिविहित द्रव्यों से परिसाधित यूष व्यवहार करे। पञ्चमूल—इसमें भी लघु और बृहत् भेद से दोनों का क्वाथ आवश्यकतानुसार ग्रहण होता है। वासाक्वाथ—आदि से वासाक्वाथ, कटकारीक्वाथ, गुडूचीक्वाथ आदि २ यथाविधि परिसाधित लिये जाते हैं। अनुपान—का उद्देश्य सर्वथा यह होता है कि जिस दोष या रोग के प्रति जो औषध व्यवहार की जा रही हो उसी दोष अथवा रोग को नष्ट करनेवाले क्वाथ अथवा अन्य द्रव पदार्थ प्रयोग किये जावें। जिन से औषध-शक्ति का प्रभाव तीव्र हो और निरापद् विधि से औषध गले के नीचे पहुच सके तथा उदर में उदरीय रसों से शीघ्र मिलकर अपना प्रभाव तुरन्त उत्पन्न करे।

अथ हिक्काश्वासकासादौ कण्टकार्यवलेह —

कण्टकारीतुलां नीरद्रोणे पक्त्वा कषायकम् ।
पादशेषं गृहीत्वा च तस्मिंश्चूर्णानि दापयेत् ॥५॥
पृथक्पलानि चैतानि गुडूचीचव्यचित्रकाः ।
मुस्तं कर्कटशृङ्गी च त्र्यूषणं धन्वयासकः ॥६॥
भार्ङ्गी रास्ना शठी चैव शर्करा पलविंशतिः ।
प्रत्येकं च पलान्यष्टौ प्रदद्याद् घृततैलयोः ॥७॥
पक्त्वा लेहत्वमानीय शीते मधुपलाष्टकम् ।
चतुष्पलं तुगाक्षीर्याः पिप्पलीनां चतुष्पलम् ॥८॥
क्षिप्त्वा निदध्यात्सुदृढे मृण्मये भाजने शुभे ।
लेहोऽयं हन्ति हिक्कार्तिश्वासकासानशेषतः ॥९॥

सुकुट्टित कटकारी (छोटी कटकारी का पञ्चाङ्ग) एक तुला (५ सेर), पाकार्थ जल एक द्रोण (३२ सेर), यथाविधि पकाकर पादशेष चौथा भाग जल अवशिष्ट रहने पर वस्त्रद्वारा छान लेवे। पुन इस कंटकारी क्वाथ को कलईदार पात्र में डाल देवे। गिलोय का चूर्ण एक पल, चित्रकमूलत्वक् चूर्ण एक पल, चव्य का चूर्ण एक पल, नागरमोथा का चूर्ण एक पल, काकडासिगी का चूर्ण एक पल, त्र्यूषण (कालीपीपल, कालीमिरच, सोंठ—प्रत्येक चार तोले) चूर्ण तीन पल, धमासे का चूर्ण एक पल, भाडङ्गी का चूर्ण एक पल, रास्ना का चूर्ण एक पल, कचूर का चूर्ण एक पल—उपरोक्त समस्त औषधों का चूर्ण क्वाथ में डालकर ऊपर से वीस पल (१ सेर) मिशरी तथा घृत और तिल तैल आठ २ पल (मिलित १२ छटाक ४ तोला) डाल देवे और शनै २ मन्दाग्नि से पाक करे। जब पूर्वोक्त लेहसिद्धि के लक्षण प्राप्त हों तब पात्र को नीचे उतार लेवे। ठडा होने पर सिद्ध अवलेह में आठ पल (३२ तोला) मधु और वंशलोचन चूर्ण १६ तोले, कालीपीपल का चूर्ण १६ तोले प्रक्षेपरूप में डालकर परस्पर सब को मिलाकर उत्तम और सुदृढ तथा चिकने मिट्टी के पात्र में सिद्धौषध को स्थापन करे। यह कटकारी अवलेह हिचकी, श्वास और सम्पूर्ण प्रकार के कासरोग को नष्ट करता है ॥५—९॥

वक्तव्य—विधि—सर्व प्रथम कण्टकारी के क्वाथ को वस्त्रपूत करके रख लेवे। तदनंतर शुद्ध कलईदार वर्त्तन चूल्हे पर रखकर उसमें तैल डालकर गरम करे। जब तैल में धूम्रोद्गम हो तब इस तैल में घृत डाल देवे। घृत के विलीन होने पर इसे चूल्हे पर से उतार लेवे। पुन शीतल होने पर इस में उपरोक्त वस्त्रपूत क्वाथ और गुडूची आदि का चूर्ण डालकर मंद २ अग्नि से पाक करे। पाक शेष होने पर इस में शर्करा डालकर मिलावे और नीचे उतार कर शीतल होने पर, मधु और

वशलोचनादि द्रव्य डालकर एकीभूत करके रख लेवे । इस योग में तैल डाला गया है । तैल का स्फुट निर्णय नही दिया गया । परिभाषा के अनुसार 'तैलेऽनुक्ते तिलोद्भवम्' का ग्रहण होता है । परतु अनुभवी वैद्य इस योग में कटु तैल प्रयोग करने के पक्ष में हैं । यथा—

कासे श्वासे च हिक्कायां कटुतैलं प्रयोजयेत् ।

एव इस नियम का व्यवहार भी होता है । यथा—

गुडं कटुकतैलेन मिश्रयित्वा समं लिहेत् ।
त्रिसप्ताहप्रयोगेण श्वासं निर्मूलतो जयेत् ॥

एक यह व्यावहारिक नियम दूसरे—

व्याधेरयुक्तं यद् द्रव्यं गणोक्तमपि तत्त्यजेत् ।

अत कटुतैल का व्यवहार अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । यह उक्त रोगों के लिये नि सन्देह अचूक औषध है । मात्रा—६ माशा से १ तोला तक उचित अनुपान से प्रयुक्त होती है ।

अथ क्षयर्क्षीणादौ च्यवनप्राश —

पाटलाऽरणिकाश्मर्यबिल्वारलुकगोक्षुराः ।
पर्ण्यौ बृहत्यौ पिप्पल्यः शृङ्गी द्राक्षामृताभयाः ॥१०॥
बला भ्यूम्यामली वासा ऋद्धिर्जीवन्तिका शठी ।
जीवकर्षभकौ मुस्तं पौष्करं काकनासिका ॥११॥
मुद्गपर्णी माषपर्णी विदारी च पुनर्नवा ।
काकोल्यौ कमलं मेदे सूक्ष्मैलागरुचन्दनम् ॥१२॥
एकैकं पलसंमानं स्थूलचूर्णितमौषधम् ।
एकीकृत्य बृहत्पात्रे पञ्चामलशतानि च ॥१३॥
पचेद् द्रोणजले क्षिप्त्वा ग्राह्यमष्टांशशेषितम् ।
ततस्तु तान्यामलानि निष्कुलीकृत्य वाससा ॥१४॥
दृढहस्तेन संमर्द्य क्षिप्त्वा तत्र ततो घृतम् ।
पलसप्तमितं तानि किंचिद्भृष्ट्वाल्पवह्निना ॥१५॥
ततस्तत्र क्षिपेत्क्वाथं खण्डं चार्धतुलोन्मितम् ।
लेहवत् साधयित्वा च चूर्णानीमानि दापयेत् ॥१६॥
पिप्पली द्विपला ज्ञेया तुगाक्षीरी चतुष्पला ।
प्रत्येकं च त्रिशाणं स्यात् त्वगेलापत्रकेशरम् ॥१७॥

ततस्त्वेकीकृते तस्मिन् क्षिपेत् क्षौद्रं च षट्पलम् ।
इत्येतच्च्यवनप्रोक्तं च्यवनप्राशसंज्ञकम् ॥१८॥
लेहं वह्निबलं दृष्ट्वा खादेत् क्षीणो रसायनम् ।
बालवृद्धक्षतक्षीणा नारीक्षीणाश्च शोषिणः ॥१६॥
हृद्रोगिणः स्वरक्षीणा ये नरास्तेषु युज्यते ।
कासं श्वासं पिपासां च वातास्रमुरसो ग्रहम् ॥२०॥
वातं पित्तं शुक्रदोषं मूत्रदोषं च नाशयेत् ।
मेधां स्मृतिं स्त्रीषु हर्षं कान्तिं वर्णं प्रसन्नताम् ॥२१॥
अस्य प्रयोगादाप्नोति नरो[1] जीर्णविवर्जितः ।

पाटला (पाढल) की छाल, अरनी की छाल, काश्मरी (गम्भारी) की छाल, विल्व (बेल) की छाल, अरलु (श्योनाक) की छाल, गोखरू, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेरी, वडी कटेरी, कालीपीपल, काकडासिगी, किशमिश, गिलोय, हरीड़, खरैटी की जड, भूम्यामल की (भुँई आमला), अडूसे की छाल, ऋद्धि, जीवंती, कचूर, जीवक, ऋषभक, नागरमोथा, पोहकरमूल, काकनासा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, विदारीकन्द, पुनर्नवा (इटसिट) मूल, काकोली, क्षीरकाकोली, कमलपुष्प, मेदा, महामेदा, छोटी इलायची, अगरु (अगर), श्वेतचन्दन—ये उपरोक्त समस्त औषधें उत्तम स्वच्छ और नूतन हों। सबको पृथक् २ एक २ पल (४।४ तोला) लेवे। इन सबको काथ बनाने योग्य कूट लेवे और एक वडे पात्र (कलईदार वडे पतीले) में डालकर ऊपर से एक द्रोणजल (द्रव द्वैगुण्य परिभाषा से ३२ सेर) डाल देवे और एक स्वच्छ वस्त्र में सुपरिपक उत्तम ५०० आमले पोटल्याकार बांधकर काथ्य द्रव्य के साथ डाल देवे और शनै २ पाक करे। जब अष्टमांश काथ शेष रहे उस समय उसे अग्नि के ऊपर से उतार कर अग्नियोग से गले हुए आमलों की पोटली को उठा लेवे और काथ को यथाविधि स्वच्छ वस्त्र से छानकर पृथक् शुद्ध पात्र में रख देवे। पुन आमलों को अगुलियों से पीडन करके उनके अन्दर की गुठलियों को निकाल कर दूर कर देवे और स्विन्न आमलों के अवशिष्ट भाग को (काष्ठ निर्मित पात्र में मर्दन करके कलल सदृश बना डाले) स्वच्छ वस्त्र द्वारा (मर्दन, घर्षण विधि से) छान लेवे। एक शुद्धपात्र में सात पल (२८ तोला) घृत डालकर गरम करे और वस्त्र द्वारा छनी हुई आमलों की पीठी को तप्त घृत में छोड देवे और यथाविधि इसको भून लेवे। उचित भर्जन होने पर एतदर्थ पूर्वनिर्मित सुरक्षित रखे हुए काथ

१—नरोऽजीर्णविवर्जित । इत्यपि पाठ । असमीचीनमिदम्। नरो जीर्णविवर्जित इति नरोऽस्य सेवी पुरुष जीर्णविवर्जित जरारहितो भवतीत्यर्थ । रसायनत्वात्। यदुक्त चरके—'अस्य प्रयोगाच्च्यवन सुवृद्धोऽभूत्पुनर्युवा' इति ।

में आधा तुला (२॥ सेर) मिशरी डालकर भर्जित आमलों के पात्र में छोडकर, मन्दाग्नि से पाक करे। जब उचित पाक सिद्ध हो तब उतार लेवे और उसमें— कालीपीपल का चूर्ण २ पल (आठ तोला), वशलोचन चूर्ण ४ पल, दालचीनी चूर्ण १ तोला, छोटी इलायची का चूर्ण १ तोला, तेजपत्र का चूर्ण १ तोला, नागकेशर का चूर्ण १ तोला। सबको एकत्र मिश्रित करके अवतारित लेह पात्र में छोडकर भली प्रकार मिला देवे और शीतल हो जाने पर उत्तम (विश्वस्त) मधु (शहद) छ पल (२४ तोला) मिला देवे। इस प्रकार च्यवनऋषि द्वारा (अथवा च्यवन ऋषि के लिये) कथित च्यवनप्राश संज्ञा वाला यह अवलेह पाचकाग्नि के बल को देखकर क्षीण (रसादि धातु सूख गये हैं जिसके ऐसे) मनुष्य को सेवन करना चाहिये। यह रसायन है। बालकों वृद्धों और क्षतक्षीण, स्त्रीक्षीण (अधिक मैथुन से) हुए एव शोषियों के अगों को पुष्ट करता है। तथा हृदय के रोगियों को एव जिनका स्वर क्षीण हो गया हो उनको यह प्रयोग कराना चाहिये। इसके प्रयोग से खासी, श्वासरोग, प्यास, वातरक्त, उरोगत रोग समूह, वायु जनित विकार, पित्त जनित विकार, शुक्रदोष (वीर्यगतरोग) और मूत्र विकार नष्ट हो जाते हैं। इसके रसायनिक प्रभाव—मेधा (धारणाशक्ति), स्मृति (स्मरणशक्ति), स्त्रियों में हर्ष-प्रेम (रति शक्ति की वृद्धि का चिन्ह), कान्ति (शरीर का चमकीलापन), उज्वलवर्ण, प्रसन्नता (स्वास्थ्य का प्रसाद)। यह सब सद्गुण इसके सेवन से प्राप्त होते हैं। तथा मनुष्य जीर्ण, वृद्धावस्था से रहित हो जाता है ॥१०—२१॥

वक्तव्य—वैद्यवर शार्ङ्गधर ने अपने ग्रन्थ में च्यवनप्राश के पाठ में केवल घृत प्रदान किया है परन्तु चरक तथा अन्य पुस्तकों में तैल और घृत दोनों दिए गये हैं। शेष योग ठीक है। एव व्यावहारिक शैली में घृत और तैल दोनों का ग्रहण निरन्तर होता है। अत दोनो का ग्रहण युक्तिसंगत है। क्योंकि केवल २४ तोला घृत से आमलों की पिष्टि का सम्यक् भर्जन तथा समग्र अवलेह का स्निग्धता-युक्त होना कठिन है। जैसे अन्य लेहादि के तीन पाक होते हैं उसी प्रकार इस अवलेह के भी तीन पाक हैं। यथा—मृदु, मध्य और खर। मृदुपाक—यह पाक पतला होता है। इस में जलीयाश अधिक रहने से यह २—३ मास में खराब हो जाता है। एवं निर्वीर्य होता है। मध्यपाक—पक्क अवलेह एक वर्ष तक वर्ण और स्वाद में एक रस रहता है। इसमें कोई विकृति नहीं आती। खरपाक—अवलेह असावधानी से दग्ध होने के कारण खरपाक कहलाता है। इसमें दग्ध पदार्थ की सी जलान आती है गन्ध भी दग्ध सी आती है। यह दग्ध होने के कारण त्याज्य है। च्यवनप्राशावलेह को चिरस्थायी रखने के लिये आमलक पिष्टी के भूनने पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि पिष्टिका का भर्जन अपक्व है तो अवलेह निश्चय से स्वल्पकाल में बिगड जायेगा। पिष्टिका के उत्तम भर्जित होने की यह परीक्षा है—भर्जित होती हुई पिष्टिका कडछी के

उलटा (अधोमुख) कर देने से जब भर्जित पदार्थ अनुबन्ध रहित अध पतित हो जाये तब सम्यक् भर्जन माना जाता है। इसी प्रकार की भर्जित पिष्टिका से निर्मित अवलेह चिरस्थायी और गुणाढ्य होता है। बहुत बार यह प्रश्न किया जाता है कि इस योग में आमलों की सख्या से काम लिया गया है मान से नही। यह प्रश्न व्यर्थ सा है। क्योकि केवल इसी योग में सख्या से काम नही लिया गया प्रत्युत शास्त्रकारों ने अन्य औपधो में भी ऐसा ही नियम दर्शाया है। यथा— अगस्त्य हरीतकी अवलेह में 'हरीतकीशत भद्र' तथा भल्लातकगुड में 'भल्लातक-सहस्रे द्वे' इति। ऐसे निर्णयों से यही प्रतीत होता है कि योगकर्ता को जितने मान के आमलों की आवश्यकता थी उसे उसने सख्या में निर्दिष्ट कर दिया। यह प्रथा व्यवहार और शैली की सूचक है। यदि मान ही आवश्यक हो तो इस प्रकार है—आर्द्र आमले को १ कोल परिमित (६ माशा) माना जाता है। अत ५०० आमलों का परिमाण ३ सेर होगा। यदि अत्यावश्यकता के कारण शुष्क आमलों से च्यवनप्राश प्रस्तुत करना हो तो शुष्क आमलकी चूर्ण १॥ सेर ग्रहण करना चाहिये। परन्तु यह आपद्धर्म है। उत्तम औपध आर्द्र से ही बनेगी। मात्रा—वर्तमान में इसकी मात्रा १—२ तोला व्यवहार में आती है। अनुपानार्थ—दूध व्यवहृत होता है।

रक्तपित्तादौ कूष्माण्डावलेह —

निष्कुलीकृत्य कूष्माण्डखण्डान् पलशतं पचेत् ॥२२॥
निक्षिप्य द्विगुणं नीरमर्धशिष्टं च गृह्यते।
तानि कूष्माण्डखण्डानि पीडयेद् दृढवाससा ॥२३॥
आतपे शोषयेत् किंचिच्छूलाग्रैर्बहुशो व्यधेत्।
क्षिप्त्वा ताम्रकटाहे च दद्यादष्टपलं घृतम् ॥२४॥
तेन किंचिद्भर्जयित्वा पूर्वोक्तं तज्जलं क्षिपेत्।
खण्डात्पलशतं दत्त्वा सर्वमेकत्र पाचयेत् ॥२५॥
सुपक्के पिप्पली शुण्ठी जीरकं द्विपलं पृथक्।
पृथक्पलार्धं धान्याकं पत्रैला मरिचं त्वचम् ॥२६॥
चूर्णीकृत्य क्षिपेत्तत्र घृतार्धं क्षौद्रमावहेत्।
खादेदग्निबलं दृष्ट्वा रक्तपित्ती क्षयी ज्वरी ॥२७॥
शोषतृष्णाभ्रमच्छर्दिश्वासकासक्षतातुरः।
कूष्माण्डकावलेहोऽयं बालवृद्धेषु युज्यते ॥२८॥
उरःसन्धानकृद्वृष्यो बृंहणो बलकृन्मतः।

प्रथम सुपरिपक्क पेठा (जिस की हलवाई मिठाई बनाते हैं) लेकर उसका निष्कुलीकरण करे अर्थात् चाकू से भली प्रकार छीलकर तदन्तर्गत शिराजाल

(गूदा) और बीज प्रभृति निरर्थक भाग को दूर करे और पेठे को छोटे २ खण्डो (टुकडो) में विभक्त कर डाले। कूष्माण्ड खण्डों का मान १०० पल (५ सेर) हो, इनको मिट्टी के पात्र में डालकर ऊपर से स्वच्छ जल दश सेर डालकर पकावे। जब जल आधा शेष रहे (अथवा कूष्माण्ड खण्ड को अगुली से पीडन करने से उस में गढा पड जाये) तब उतार ले। कूष्माण्ड के टुकडों को स्वच्छ वस्त्र में डालकर यथाविधि निष्पीडन करके (उनका जल ग्रहण करे) धूप में उन्हें थोड़ा शुष्क सा कर लेवे। पुन कूष्माण्ड खण्डों को शूलाग्र (तीक्ष्ण मुख वाले 'काटे' अथवा 'रुव्वणु' अथवा अत्तार लोग जिससे मुरव्बे की हरडों को वीन्धते हैं) से यथावश्यक वींधे और ताम्रमय वृहत्पात्र में आठ पल घृत डालकर इन कूष्माण्ड खण्डों को आवश्यकता के अनुसार भून लेवे। सम्यक् भर्जन हो जाने पर १०० पल (५ सेर) मिशरी पूर्वोक्त अर्धावशिष्ट स्विन्न कूष्माण्ड खडों से प्राप्त जल में मिलाकर दोनों का लेह होने तक पाक करे। सुपक होने पर इसे उतार ले और कालीपीपल, सोठ, काला जीरा प्रत्येक का वस्त्रपूत चूर्ण आठ २ तोले डाले। तथा—धनिया, तेजपत्र, छोटी इलायची, कालीमिरच, दालचीनी प्रत्येक का वस्त्रपूत चूर्ण २ । २ तोला मिलावे और सिद्ध अवलेह के शीतल हो जाने पर इसमें उत्तम शहद चार पल (१६ तोले) मिलाकर उचित पात्र में स्थापन करे। अग्नि वल को विचार कर इसका प्रयोग कराने से रक्त-पित्त, क्षय, ज्वर, शोष, तृषा (प्यास), भ्रम, वमन, श्वास, कास—यह सब रोग नष्ट होते हैं। एव यह कूष्माण्डकावलेह बालकों और वृद्धों को प्रयोग करने से उनके शरीर को पुष्ट और नीरोग बनाता है। क्योंकि यह सौम्य और धातु पोषक है। तथा उर क्षत निवारक एवं वृष्य, वृहण और वलप्रद है ।।२२—२८।।

वक्तव्य—सर्वदा औषधार्थ पुष्ट तथा कठिन और पुराना पेठा लेना चाहिये। यथा—"वृन्ताक कोमल पथ्य कूष्माण्ड कोमल विषम्"। प्रथम कूष्माण्ड को छीलकर और शिराजालादि से पृथक् करके उसके खडों को 'धियाकस' कर लिया जाता है। इस विधि से यह सुन्दर तन्तुओं वाला वन जाता है और उत्तम स्वादिष्ट बनता है। शेष विधान ऊपर का ठीक है। मात्रा—यथावश्यक, रोगी के अनुसार। स्वस्थ मनुष्य इसे ५—१० तोला तक नित्य सेवन कर सकता है।

अर्शोरोगे खण्डसूरणावलेह —

युक्त्या कूष्माण्डखण्डस्य सूरणं विपचेत्सुधीः ।।२६।।
अर्शसां मूढवातानां मन्दाग्नीनां च युज्यते ।

उपरोक्त कूष्माण्डावलेह की युक्ति (विधि) के अनुसार सूरण (जिमीकद) खण्डो को यथाविधि पाक करे और सव पदार्थ यथामान और यथाविधान डालकर लेह साधन करे। यह सूरणादि अवलेह ववासीर, मूढवात और मन्दाग्नि वाले रोगियों को मात्रानुसार प्रयोग करने से लाभदायक है ।।२६।।

अगस्त्यहरातकी अवलेह—

हरीतकीशतं भद्रं यवानामाढकं तथा ।।३०।।

पलानि दशमूलस्य विंशतिं च नियोजयेत् ।
चित्रकः पिप्पलीमूलमपामार्गः शठी तथा ॥३१॥
कपिकच्छूः शङ्खपुष्पी भार्ङ्गी च गजपिप्पली ।
बला पुष्करमूलं च पृथक् द्विपलमात्रया ॥३२॥
पचेत्पञ्चाढके नीरे यवैः स्विन्नैः शृतं नयेत् ।
तच्चाभयाशतं दद्यात्क्वाथे तस्मिन् विचक्षणः ॥३३॥
सर्पिस्तैलाष्टपलकं क्षिपेद् गुडतुलां तथा ।
पक्त्वा लेहत्वमानीय सिद्धे शीते पृथक् पृथक् ॥३४॥
क्षौद्रं च पिप्पलीचूर्णं दद्यात्कुडवमात्रया ।
हरीतकीद्वयं खादेत्तेन लेहेन नित्यशः ॥३५॥
क्षयं कासं ज्वरं श्वासं हिक्कार्शोऽरुचिपीनसान् ।
ग्रहणीं नाशयेदेष वलीपलितनाशनः ॥३६॥
बलवर्णकरः पुंसामवलेहो रसायनम् ।
विहितोऽगस्त्यमुनिना सर्वरोगप्रणाशनः ॥३७॥

एक सौ (१००) हरडों को स्वच्छ वस्त्र खंड में बाध कर पोटली बना लेवे । एव उत्तम और सुपरिष्कृत जौं १ आढक (४ सेर), दूसरे वस्त्र खण्ड में बाध कर इनकी भी पोटली बना लेवे । (दोनों पोटलिया ढीली ढीली बांधे जिससे अन्त स्थित पदार्थों को अपनी कायवृद्धि का आकाश मिल सके) पुन दशमूल (विल्वछाल, अरणी छाल, श्योनाक छाल, गम्भारी छाल, पाढल छाल, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, बडी कटेरी, छोटीकटेरी तथा गोखरू) २० पल—१ सेर (प्रत्येक द्रव्य २।२ पल, आठ आठ तोला) । चित्रक छाल, पीपलामूल, अपामार्ग (पुठकंडा—ओंगा—चिरचिरा), कचूर, कौंच के बीज, शङ्खपुष्पी, भाडगी, गजपीपल, खरेटी की जड, पोहकरमूल । प्रत्येक २ । २ पल, आठ आठ तोला । दशमूल के साथ इन औषधों को क्वाथ बनाने योग्य कूट कर पात्र में डाल देवे । ऊपर से पाच आढक जल (२० सेर द्रव द्वैगुण्य से द्विगुण ४० सेर) और दोनों पोटलियों को भी इसी क्वाथ पात्र में छोड देवे और मन्दाग्नि से पाक करे । जब दोनों पदार्थ (हरडें और यव) सुस्विन्न हो जायें और जल पादावशेष रहे तब पात्र को चूल्हे पर से नीचे उतार लेवे और पोटलियों को निकाल कर क्वाथ को स्वच्छ वस्त्र से छान लेवे और पृथक् पात्र में रख लेवे । पुन. एक शुद्ध पात्र में घृत और तिलतैल आठ आठ पल डाले । दोनों के सुतप्त होने पर सुस्विन्न हरडों को पोटली से निकाल कर इसमें डाले और आवश्यकता के अनुसार भून लेवे और उक्त क्वाथ में एक तुला (५ सेर) गुड आलोडित करके वस्त्र से छान कर भूनी हुई हरड़ो में डालकर यथाविधि लेह प्रस्तुत होने

तक पाक करे। लेह के सिद्ध और शीतल हो जाने पर इसमें मधु और कालीपीपल का चूर्ण एक एक कुडव, आठ आठ पल—३२—३२ तोला डालकर भली प्रकार मिला देवे। इसमें से दो हरड़ें प्रतिदिन इस लेह के साथ सेवन करने से क्षय, कास, श्वास, हिचकी, ववासीर, अरुचि, पीनस और सग्रहणी रोग नष्ट होते हैं, वली और पलित (वृद्धावस्था के उपहार) का नाश होता है और इसका सेवन मनुष्यों को वल तथा वर्ण प्रदान करता है। एव यह रसायन है। यह अगस्त्य मुनि द्वारा कथित अगस्त्य हरीतकी अवलेह समस्त रोगों को नष्ट करता है ॥३०-३७॥

वक्तव्य—(१) ग्राह्यहरीतकी के लक्षण—

नवा स्निग्धा घना वृत्ता गुर्वी क्षिप्ता तथाऽम्भसि ।
निमज्जेद्या प्रशस्तत्वाद् गुणकृत् सा प्रकीर्तिता ॥

(२) 'हरीतकीद्वय खादेत्तेन लेहेन नित्यश' इस वाक्य से २ हरड़ें खाने का नियम तो कर दिया परन्तु लेह का परिमाण निर्दिष्ट नही है। अत इस प्रकार के योगों में यह व्यवस्था है। यथा—भार्गीगुड में—

भक्षयेद्भयामेका लेहस्यार्धपल लिहेत् ।

एव यहा दो हरड़ों के साथ १ पल लेह चाटना चाहिये अथवा व्याधि-व्याधित के बलाबल के अनुसार।

(३) इस योग में—

क्षौद्र च पिप्पलीचूर्ण दद्यात्कुडवमात्रया ।

यहा कुडव का अर्थ मागध परिभापा के अनुसार १६ तोले है। परन्तु टीकाकार ३२ तोला लेते हैं। उसका आधार इस प्रकार है—

कुडवेऽपि क्वचिद् द्वित्वं यथा दन्ती घृते स्मृतम् ।
सर्पि खण्डजलक्षौद्रतैलक्षीरासवादिषु ॥
अष्टौ पलानि कुडव ।

अत यही मान्य है।

(४) स्विन्न हरड़ों को भूनने के लिये घृतपात्र में डालने से प्रथम उसी रीति से वींध लेना चाहिये जिस रीति से कूष्माण्डावलेह में कूष्माण्ड खण्डों को वींधा था। ऐसा सम्प्रदाय है।

(५) इस योग में 'पचेत्पञ्चाढके नीरे' यह पाठ है। यदि १०० हरीड २०० तोला (प्रत्येक २ तोला की) हों तव व्यावहारिक मान २॥ सेर होता है और यव ४ सेर हैं। एवं अन्य क्वाथ्य द्रव्यों का मान २ सेर है। समस्त मान ८॥ सेर हुआ। ८॥ सेर पदार्थ को पकाने के लिये २० सेर पानी कम है। क्योंकि इसी पानी मे से यवों और हरड़ों ने स्विन्न (गलना) होना है तथा क्वाथ्य का सार भाग क्वाथ मे आना है। क्वाथ परिभापा के लघु नियम के अनुसार भी जल चतुर्गुण होना चाहिये था। परन्तु यह २॥ गुणा होता है। अत इस योग मे अष्टगुण जल डालकर अष्टावशेप रखना उचित होगा। यथा—

क्वाथ्यद्रव्यस्य बाहुल्यादुदकं स्वल्पमेव चेत् ।
सम्यक् पाकं न मुञ्चन्ति हीनवीर्यं तु केवलम् ॥ (वृद्धसुश्रुत०)

एतदर्थ अधिक जल का ग्रहण उचित प्रतीत होता है ।

कुटजावलेह —

कुटजत्वक्तुलां द्रोणे जलस्य विपचेत् सुधीः ।
कषायं पादशेषं च गृह्णीयाद्वस्त्रगालितम् ॥३८॥
त्रिंशत्पलं गुडस्यात्र दत्त्वा च विपचेत्पुनः ।
सान्द्रत्वमागतं दृष्ट्वा चूर्णानीमानि दापयेत् ॥३९॥
रसाञ्जनं मोचरसं त्रिकटु त्रिफलां तथा ।
लज्जालुं चित्रकं पाठां बिल्वमिन्द्रयवं त्वचाम्[1] ॥४०॥
भल्लातकं प्रतिविषां विडङ्गानि च बालकम् ।
प्रत्येकं पलसंमानं घृतस्य कुडवं तथा ॥४१॥
सिद्धशीते ततो दद्यान्मधुनः कुडवं तथा ।
जयेदेषोऽवलेहस्तु सर्वाण्यर्शांसि वेगतः ॥४२॥
दुर्नामप्रभवान् रोगानतीसारमरोचकम् ।
ग्रहणीं पाण्डुरोगं च रक्तपित्तं च कामलाम् ॥४३॥
अम्लपित्तं तथा शोथं कार्श्यं चैव प्रवाहिकाम् ।
अनुपाने प्रयोक्तव्यमाजं तक्रं पयो दधि ॥४४॥
घृतं जलं वा जीर्णे च पथ्यभोजी भवेन्नरः ।

कुट्टित कुटजत्वक् (कूड़े की छाल) एक तुला (१०० पल—५ सेर), जल एक द्रोण (द्रव द्वैगुण्य से २ द्रोण ३२ सेर)। दोनों को क्वाथ विधि से पकाकर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ रख लेवे। इस क्वाथ को वस्त्रपूत करके शुद्ध पात्र में डाले। इसमें गुड ३० पल परिमित डालकर शनै. २ पाक करे। जब पाक लेहाकृति हो तब इसमें—रसौंत, मोचरस (शाल्मली निर्यास), त्रिकटु (कालीपीपल, कालीमिरच, सोंठ), त्रिफला (हरीड़, बहेड़ा, आमला), लाजवती, चित्रकमूलत्वक्, पाठा, बेलगिरी, इन्द्रजौं, दालचीनी, शुद्ध भिलावा, अतीस, वायविडग, सुगन्धबाला—प्रत्येक का एक एक पल वस्त्रपूत चूर्ण डाल दे। एवं एक कुडव घृत भी डाल दे और दर्वी से भली प्रकार मिलाकर पात्र को चूल्हे पर से नीचे उतार ले। सिद्ध लेह के शीतल होने पर इसमें एक कुडव शुद्ध मधु (शहद) मिलाकर उचित पात्र में रख लेवे। यह अवलेह वात जनित, पित्तजनित, कफ जनित तथा सन्निपातज और रक्तजनित बवासीर एवं बवासीर से सम्बन्ध रखकर उत्पन्न होने वाले रोगों को तथा अतीसार रोग, अरुचि, संग्रणी रोग, पाण्डुरोग, रक्तपित्त, कामला, अम्ल-

१—'वचाम्' इति पाठ ।

पित्त, सूजन, दुबलापन, प्रवाहिका (मरोड़) इत्यादि सब रोगों को नष्ट करता है। इस लेह को बकरी के तक्र, बकरी के दूध, बकरी के दही और जल से (रोगी के दोषों को विचार कर कोई सा अनुपान स्थिर करे) प्रयोग कर और औषध के जीर्ण होने (पचने) पर पथ्य (व्याधि विहित) भोजन करे ॥३८-४४॥

वक्तव्य—इस की मात्रा ६ माशा से १ तोला तक आवश्यकतानुसार व्यवहार करे। भक्षित औषध के जीर्ण होने पर अन्न अथवा आधारक पथ्य ग्रहण करना चाहिये। यथा—

औषधशेषे भुक्तं पीतं च तथौषधं सशेषेऽन्ने ।
न करोति गदोपशमं प्रकोपयत्यन्यरोगांश्च ॥

कुटजाष्टकावलेह—

कुटजत्वक्तुलामार्द्रां द्रोणनीरे विपाचयेत् ॥४५॥
पादशेषं शृतं नीत्वा चूर्णान्येतानि दापयेत् ।
लज्जालुर्धातकी बिल्वं पाठा मोचरसस्तथा ॥४६॥
मुस्तं प्रतिविषा चैव प्रत्येकं स्यात्पलं पलम् ।
ततस्तु विपचेद् भूयो यावद्दर्वीप्रलेपनम् ॥४७॥
जलेन छागदुग्धेन पीतो मण्डेन वा जयेत् ।
सर्वातिसारान् घोरांस्तु नानावर्णान् सवेदनान् ॥४८॥
असृग्दरं समस्तं च सर्वार्शांसि प्रवाहिकाम् ।

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-
संहितायां मध्यमखण्डेऽवलेहकल्पना
नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

कूडे की गीली छाल ५ सेर यथाविधि कूट कर १ द्रोण (द्रव द्वैगुण्य से ३२ सेर) जल में क्वाथ पाक करे। जब चौथाई भाग जल शेष रहे तब उसे उतार कर यथाविधि स्वच्छ वस्त्र से छान लेवे। पुनः इस क्वाथ को शुद्ध पात्र में डाल ऊपर से लाजवन्ती, धाय के फूल, बेलगिरी, पाठा, मोचरस, नागरमोथा, अतीस। प्रत्येक द्रव्य का वस्त्रपूत चूर्ण एक एक पल परिमित डाल कर पाक करे। जब लेह कडछी से चिपकने लगे तब उतार ले। इस अवलेह को यथामात्रा ½—१ तोला तक बकरी के दूध से अथवा माड से प्रयोग करे। यह सम्पूर्ण और भयकर तथा अनेक वर्ण वाले अतिसारों को, चारों प्रकार के प्रदररोग को, सब प्रकार के बवासीर को तथा प्रवाहिका (मरोड–पेचिश) रोग को नष्ट करता है ॥४५—४८॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायां शार्ङ्गधर-
संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकायां भाषाटीकायां मध्यमखण्डे
चूर्णकल्पना नाम अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

घृततैलकल्पना—

कल्काच्चतुर्गुणीकृत्य घृतं वा तैलमेव वा ।
चतुर्गुणे द्रवे साध्यं तस्य मात्रा पलोन्मिता ॥१॥

घृत अथवा तैल जिस भी स्नेह को कल्क अथवा द्रव द्वारा पकाना (संस्कृत करना) हो उसे कल्क से चतुर्गुण लिया जाता है। एव द्रव पदार्थ (जल, क्वाथादि) स्नेह मान से चतुर्गुण लिया जाता है। यथाविधि (आगे वर्णित) पाकविधान से सिद्ध घृत अथवा तैल की मात्रा १ पल परिमित होती है ॥१॥

वक्तव्य—(१) स्नेह साधन विधान में यह साधारण परिभाषा है और अनुक्तमान निर्देश में प्रयुक्त होती है। यथा—

स्नेहभेषजतोयानां प्रमाणं यत्र नेरितम् ।
तत्रेयं विधिरास्थेयो निर्दिष्टे तत्तदेव तु ॥
अनुक्ते द्रवकार्ये तु सर्वत्र सलिलं मतम् ।
कल्कक्काथावनिर्देशे गणात्तस्मात्प्रयोजयेत् ॥ (सु० चि०)

(२) 'तस्य मात्रा पलोन्मिता' अर्थात् उक्त रीति से सिद्ध स्नेह की मात्रा पल परिमाण है। विरेचनादि किसी विशेष कार्य के लिये तो पल परिमित मात्रा व्यवहार में आ सकती है परन्तु वर्तमान के निर्बल और क्षीणकाय मनुष्यों के लिये यह अत्यधिक है। अत. ½—१ तोला तक संस्कृत घृतादि की मात्रा पर्याप्त है। प्राय. औषध सस्कृत घृतादि को दूध के साथ दिया जाता है। एवं शर्करा तथा मुद्गयूष से भी प्रयोग किया जा सकता है। (३) प्राय घृत तैलादि को सिद्ध करने से प्रथम उसको मूर्च्छित अथवा शोधन कर लिया जाता है परन्तु आचार्य ने साम्प्रदायिक परम्परा को लक्ष्य में रखकर उसका निर्देश नहीं किया। अत. उसका उल्लेख यहां ग्रन्थान्तर से किया जाता है। यथा—

घृतमूर्च्छन विधि—

पथ्याधात्रीविभीतैर्जलधररजनीमातुलुङ्गद्रवैश्च

द्रव्यैरेतै समस्तैं पलकपरिमितैर्मन्दमन्दानलेन ।
आज्यप्रस्थं विफेनं परिचपलगत मूर्च्छयेद्वैद्यराज-
स्तस्मादामोपदोप हरति च सकल वीर्यवत्सौख्यदायि ॥

अर्थात् मूर्च्छा करणार्थ—उत्तम गोघृत १ सेर । कल्कद्रव्य—हरीड वहेडा, आमला, नागरमोथा, हलदी, विजोरानिम्बु का रस । प्रत्येक एक २ पल परिमित कुट्टित करके डाले और पाकार्थ जल ४ सेर । सवको इकठ्ठा करके पात्र में डाले और मन्द २ अग्नि से पाक करे । जव थोडा सा जल अवशिष्ट रहे तव उतार कर घृत को पृथक् कर लेवे । इस प्रकार मूर्च्छन करने से घृत का आमदोप दूर होकर घृत अधिक वलदायक, चिरस्थायी और सुखकर होता है ।

तिलतैल मूर्च्छन विधि—

तैल कृत्वा कटाहे दृढतरविमले मन्दमन्दानले तत्
पक्वं निष्फेनभाव गतमिह हि यदा शैत्यभावं समेत्य ।
मञ्जिष्ठारात्रिलोध्रैर्जलधरनलिकैः सामलैः साद्रपथ्यैः
सूचीपुष्पाङ्घ्रिनीरैरुपहितमाथितैस्तैलगन्धं जहाति ॥

अन्यच—तैलस्येन्दुकलाशिकेन विकसा ग्राह्या तु मूर्च्छाविधौ
ये चान्ये त्रिफलापयोदरजनीह्रीवेरलोध्रान्विता ।
सूचीपुष्पवटावरोहनलिकास्तस्याथ पादांशिका
पाच्यास्तैलजगन्धदोपहृतये कल्कीकृतास्तद्विदैः ॥

मूर्च्छापाकार्थ—तिलतैल १ सेर । मजीठ ५ तोला । अन्य द्रव्य प्रत्येक २—२ तोला । पाकार्थ जल ४ सेर ।

(४) आगे चलकर कई स्नेह पाकों में परिभापा वैपम्य होगा जिसका स्थान २ पर उचित निर्देश किया जायगा । इससे शास्त्रकारों का अभिप्राय 'लकीर के फकीर' होने का नहीं, प्रत्युत विशाल हृदय से वस्तु साधन का है । इसलिये परिभापा वैपम्य से 'वावावाक्य प्रमाण' के अनुयायियों को घवराना उचित नहीं । सिद्धान्त यह है कि जहा जैसी आवश्यकता हो वहां वैसा ही व्यवहार करे ।

(५) विधि—तैल को खुले मुख वाले वडे पतीले (कलईदार) में डालकर उष्ण करे । जव तैल फेन रहित हो जावे तव पतीले को नीचे उतार कर ठडा होने दे । जव शीतल हो जाये तव मजीठ, हरड, वहेडा, आमला, नागरमोथा, हलदी, सुगधवाला, लोध्र, सूचीपुष्प (केवडे के फूल), वटप्ररोह (अकुर), नलिका (रतजोत)—सवको यथामान ग्रहण करके यथाविधि कल्क वना लेवे । यह कल्क शीतिभूत तैल में डाले और ४ सेर जल डालकर शनै २ पाक करे । पुन वहुत थोडा जल रहने पर वस्त्रद्वारा छान लेवे । इसी प्रकार मूर्च्छित किया हुआ तैल सर्वत्र तैल साधन में प्रयोग करना चाहिये । जिनके यहा अधिक व्यवहार हो उन्हें प्रथम से ही इसी प्रकार तैल मूर्च्छित कर लेना चाहिये ।

स्नेह साधनार्थ क्वाथ परिभाषा—

निक्षिप्य क्वाथयेत्तोयं क्वाथ्यद्रव्याच्चतुर्गुणम् ।
पादशिष्टं गृहीत्वा च स्नेहं तेनैव साधयेत् ॥२॥

क्वाथ्य द्रव्य से चौगुना पानी डालकर (क्वाथ्य द्रव्य को कूटकर यथाविधि) पकावे । जब चतुर्थांश जल शेष रहे तब (उसे छानकर) उससे स्नेह पाक करे ॥२॥

वक्तव्य—उदाहरणार्थ—क्वाथ्य औषध १ सेर । जल ४ सेर । अवशिष्ट क्वाथ १ सेर । साध्य स्नेह १ पाव ।

द्रव्य भेद से क्वाथार्थ जल निर्णय—

चतुर्गुणं मृदुद्रव्ये कठिनेऽष्टगुणं जलम् ।
तथा च मध्यमे द्रव्ये दद्यादष्टगुणं पयः ॥३॥
अत्यन्तकठिने द्रव्ये नीरं षोडशिकं मतम् ।

मृदु द्रव्य को क्वथित करने के लिये द्रव्य मान से चतुर्गुण जल देकर चौथा भाग शेष रखे । कठिन द्रव्य क्वथित करने के लिये आठ गुना जल डाले । तथा मध्यम द्रव्य के क्वाथ करने के लिये भी आठ गुना पानी डाले । एवं अत्यन्त कठिन द्रव्यों में १६ गुना पानी डाले ॥३॥

वक्तव्य—मृदुद्रव्य—गुडूची, कटुकी, शतावरी, वासा, आमलकी आदि । चतुर्गुण साध्य । कठिन-मध्यद्रव्य—दशमूल, निम्बत्वक्, लोध्र, भारङ्गी आदि । अष्टगुण साध्य । यथा—

मृद्वादिक्वाथ्यसंघाते मानानुक्ते चिकित्सकाः ।
मध्यस्योभयभागित्वादिच्छन्त्यष्टगुणं जलम् ॥

अत्यन्तकठिन—देवदारु, पद्मकाठ, दारुहरिद्रा आदि । षोडशगुण साध्य । अवशिष्ट जल प्रत्येक में चतुर्थांश रहेगा ।

मतान्तर परिमाण—

कर्षादितः पलं यावत्क्षिपेत् षोडशिकं जलम् ॥४॥
तदूर्ध्वं कुडवं यावद्भवेदष्टगुणं पयः ।
प्रस्थादितः क्षिपेन्नीरं खारीं यावच्चतुर्गुणम् ॥५॥

एक कर्ष से एक पल परिमित क्वाथ्य में १६ गुना जल देकर पाक करे । एवं पल परिमाण से ऊपर कुडव परिमाण तक क्वाथ्य में आठ गुना जल देकर पाक करे । तथा प्रस्थ परिमाण से खारी पर्यन्त परिमाण क्वाथ्य में चतुर्गुण जल डाल कर क्वाथ करे ॥४—५॥

वक्तव्य—प्रतीत होता है कि आचार्य ने मतान्तर दर्शाने के लिये यह परिभाषा दी है और यह इसी अर्थ में समझनी चाहिये । अन्यथा अपने तंत्र में विरोध आता है ।

स्नेह के भिन्न २ पाकों में भिन्न २ परिभाषा—

अम्बुक्वाथरसैर्यत्र पृथक् स्नेहस्य साधनम् ।
कल्कस्यांशं तत्र दद्याच्चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ॥६॥

जल, क्वाथ अथवा रस (सद्योद्धृत) से यदि स्नेह साधन करना हो तो कल्क का भाग यथाक्रम चतुर्थ, षष्ठ और अष्टम भाग स्नेह की अपेक्षा से देना चाहिये ॥६॥

वक्तव्य—देखिये, पूर्व निर्धारित परिभाषा का आचार्य परिवर्तन कर रहे हैं। परन्तु यह भी अनुक्तमान के लिये है। अर्थात् यदि केवल जल से कल्क का पाक करना हो तो कल्क स्नेह से चौथाई लिया जाता है। यदि क्वाथ और कल्क से करना हो तो कल्क द्रव्य, स्नेह से छठा भाग लेना चाहिये। यदि रस (तत्कालाकृष्ट) से करना हो तो रसीय द्रव्य अथवा अन्य द्रव्य का कल्क स्नेह से अष्टमांश लिया जाता है। यह क्यों ? ग्रन्थग्रहण करने वाले कह देंगे कि यहां परिभाषा वैषम्य है परन्तु सारग्राही इसे परिभाषा वैषम्य नहीं कहेंगे। कारण कि—जल की अपेक्षा क्वाथ में द्रव्य भाग अधिक है जो जलीयांश सूखने पर स्नेह में कल्क रूप में रह जाता है। अतः चतुर्थांश मात्रा से कल्क भाग की वृद्धि न हो इसी लिये यह नियम निर्धारण किया गया है। एवं क्वाथ की अपेक्षा से स्वरस में कल्कांश अधिक है। उसके लिये कल्क अष्टमांश स्थिर किया है जिससे स्वरसान्तर्गत द्रव्य भाग स्वरस का जल सूखने पर स्नेह में मिल जाने से भी कल्क का स्नेह चतुर्थांशत्व नियम स्थिर ही रहेगा।

दुग्धादिपाकपरिभाषा—

दुग्धे दध्नि रसे तक्रे कल्को देयोऽष्टमांशकः ।
कल्कस्य सम्यक्पाकार्थं तोयमत्र चतुर्गुणम् ॥७॥

यदि केवल दूध, केवल दही, केवल मांसरस, स्वरस अथवा केवल तक्र (मट्ठे) द्वारा स्नेहपाक करना विधेय हो, तो कल्कद्रव्य स्नेहापेक्षा अष्टमांश (आठवां हिस्सा) दिया जाता है। एवं इस प्रकार के पाक में कल्क को भली प्रकार पकाने के लिये स्नेह से चतुर्गुण जल दिया जाता है ॥७॥

वक्तव्य—यद्यपि इस प्रकार के पाक में दुग्ध स्वरसादि द्रव पदार्थ विद्यमान रहते हैं तथापि कल्क, दही, तक्र प्रभृति के सार को ग्रहण करने के लिए जल की अत्यन्त आवश्यकता है। जब किसी पदार्थ का सार ग्रहण करने की आवश्यकता हो तब बिना जल की सहायता के वह प्राप्त नहीं हो सकता। जल पदार्थ को भिगोकर ढीला कर देता है और अग्नियोग से द्रव्य का सत्वांश अपने में आकर्षण कर लेता है और स्वयं स्नेह में विलीन होकर स्नेह को रोगनाशन में समर्थ बनाता है।

अन्यतन्त्रेऽपि—

स्वरसक्षीरमाङ्गल्यैः पाको यत्रेरित क्वचित् ।
जलं चतुर्गुणं तत्र वीर्याधानार्थमावपेत् ॥

न मुञ्चति रसं द्रव्यं क्षीरादिभिरुपस्कृतम् ।
सम्यक् पाको न जायेत तस्मात्तोय चतुर्गुणम् ॥

इससे भी आचार्यके उक्त वाक्यकी पुष्टि होती है प्रत्युत इसमें केवल दुग्ध, दही आदिसे साध्य स्नेहमें भी चतुर्गुण जल डालनेकी आज्ञा है ।

क्षीरे द्विरात्रं स्वरसे त्रिरात्रं तक्रारनालादिषु पञ्चरात्रम् ।
स्नेहं पचेद्वैद्यवर. प्रयत्नादित्याहुरेके भिषजः प्रवीणाः ॥
द्वादशाहन्तु मूलानां वल्लीनां क्रममेव च ।
एकाह व्रीहिमासानां पाक कुर्याद्विचक्षणः ॥ (वै०परि०प्रदीप०)

अर्थात् दूध के साथ दो दिन, स्वरस के साथ तीन दिन, तक्र (छाछ), आरनाल (कांजी) आदिके साथ पाच दिन, मूल तथा त्वक् एवं लतादि के काथ के साथ बारह दिन और व्रीहि आदि धान्य एवं मांस के क्वाथ के साथ एकदिन में ही घृत तैलादि स्नेहों का पाक कर लेना चाहिये । प्रत्येक द्रव पदार्थ में इस प्रकार पाक करने की अनुमति आचार्यों की है। एवं स्नेह को गुणाढ्य बनाने के लिये उपरोक्त विधि अत्युपयोगी है ।

अत्र द्रवान्तरानुक्तौ क्षीरमेव चतुर्गुणम् ।
द्रवान्तरेण योगे हि क्षीरं स्नेहसमं भवेत् ॥

यदि केवल दूध ही एकमात्र द्रवपदार्थ स्नेहसाधन में व्यवहृत किया गया हो तो दूध स्नेहापेक्ष चतुर्गुण लेना । एवं अन्य द्रव पदार्थोंकी उपस्थितिमें दूध स्नेहके समान ग्रहण किया जाता है ।

पञ्चाधिक द्रवव्यवस्था—

द्रवाणि यत्र स्नेहेषु पञ्चादीनि भवन्ति हि ।
तत्र स्नेहसमान्याहुर्यथापूर्वं चतुर्गुणम् ॥८॥

यदि घृत तैलादिको कही पांच द्रव पदार्थो (दूध, रस, तक्र, गोमूत्र, क्वाथ)से सिद्ध करनेका विधान हो वहां प्रत्येक द्रव पदार्थ स्नेहमानके समान ग्रहण करके पाक करे और जहा पाचसे द्रव पदार्थ कम हों (अर्थात् दो, तीन, चार तक) वहा यथापूर्व (पूर्वस्थित परिभाषानुसार) प्रत्येक द्रव पदार्थ चतुर्गुण ग्रहण करके स्नेह पाक करे॥८॥

वक्तव्य—(१) इस श्लोक के वर्णित नियम में मतभेद विद्यमान है । कई आचार्य और टीकाकार इसका यही अर्थ करते हैं और पुष्ट प्रमाण भी देते, हैं । परन्तु कई आचार्य, ग्रन्थकार और टीकाकार यह कहते हैं कि स्नेह में यदि पांच द्रव हों तो प्रत्येक द्रव पदार्थ स्नेहमान के समान लेवे । यदि २, ३, ४, हों तो सब का मिलित परिमाण स्नेह से चतुर्गुण हो । यह सिद्धान्त का झगडा है । परन्तु वहुपक्ष ऊपर के अर्थ से सहमत है । यदुक्तं जैज्जटे—

एकद्वित्रिद्रवैर्द्रव्यै. कुर्यात् स्नेहाच्चतुर्गुणम् ।
क्षीरं स्नेहसमं दद्यात् चतुर्भिश्च चतुर्गुणम् ॥

'स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रव' यह स्नेहसाधन में आचार्य प्रतिपादित साधारण नियम है । जिस स्थान पर एक द्रव साध्य स्नेह का विधान हो वहां यह परिभाषा संशय छेदक होगी । परन्तु जहां क्वाथ, कांजी, क्षारोदक, गोमूत्रादि द्रव बिना परिमाण कहे हों वहां संशय उत्पन्न हो जाता है कि यहां चतुर्गुणत्व कैसे ग्रहण हो ? इसके लिये 'विनिगमनाविरहादविशेषम्' अर्थात् जहां विशेष कोई गमक न हो वहां पर अविशेष से कार्य लिया जाता है । अत 'स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रव' सिद्धान्त ठीक है । (२) यदि यह मान भी लें कि चार से न्यून संख्यक द्रव पदार्थ स्नेह-साधनार्थ व्यवहृत हों तो मिले हुए चतुर्गुण लेवे । ऐसा करने से स्नेहों की पाक संख्या में भी दोष आता है कारण कि जितने द्रव हों उनका पृथक् पृथक् पाक विधेय होता है और मिलित पाक में पृथक्त्व नष्ट हो जाता है । एवं समान मान के द्रव के साथ स्नेह पाक 'स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रव' के अनुसार ठीक नहीं । अत प्रत्येक चतुर्गुण आवश्यक है । (३) उपरोक्त नियमों का पालन सर्वदा अनुक्त मानार्थ है । आचार्य जिस स्नेह को जिस प्रकार पकाना चाहते हैं वैसा नियम साथ में लिख देते हैं । यथा—

(१) तैलं दशगुणे सिद्धे भृङ्गराजरसे शुभे । (सु० चि०)

यहां रस ही दशगुण लिया गया है ।

(२) षड्गुणेन च तक्रेण सिद्धं तैलं ज्वरान्तकृत् । (सु० चि०)

यहां तक्र ही छः गुणा लिया गया है ।

(३) धात्रीफलरसै सम्यग्द्विगुणै· साधितं हवि ।

(४) द्विक्षीरं विपचेत्सर्पिर्मालतीकुसुमै· सह । (सु० चि०)

यहां द्विगुण से ही काम चला लिया जाता है ।

पूर्व परिभाषानुसार 'चतुर्गुण द्रव से न्यून द्रव में स्नेह सिद्ध नहीं होता' यह नियम भी निर्मूल सा ही रहा । एवं पञ्च प्रभृति में समान का भी व्यर्थ हो जाता है । अत परिभाषा रक्षार्थ 'स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रव' यह ठीक है । कई यह कहते हैं कि—

तैलस्यार्धप्रमाणेन दद्यादिक्षुरसं बुध ।

तथा मांसरसं चार्धं दत्त्वा स्नेहं विपाचयेत् ॥ (गोपुर रक्षित०)

यह सब से विलक्षण ही परिभाषा है ।

अन्यच्च—सकृन्मांसौषधिरस मूत्रसौवीरकादिकम् ।

स्नेहतुल्यं दधि क्षीरं जलं चैव चतुर्गुणम् ॥ (रहस्य दर्पण)

अत इस विवाद का निर्णय यही है कि जहां जैसा मान निर्दिष्ट है वहां वैसा ही करना और अनुक्त मान में वही परिभाषा प्रयोग करनी जो साधारण रूपेण व्यवस्थित की गई है ।

१ शतपाक बला तैलादि के विधान में भी क्या एक ही बार समस्त द्रव दिया जायेगा ? । नहीं, यहां प्रत्येक बार में चतुर्गुण द्रव देना होगा ।

केवल द्रव्यपाकविधान—

द्रव्येण केवलेनैव स्नेहपाको भवेद्यदि।
तत्राम्बुपिष्टः कल्कः स्याज्जलं चात्र चतुर्गुणम् ॥ ९ ॥

यदि स्नेहपाक केवल द्रव्य—एक औषध विशेष द्वारा सिद्ध करना हो तो निर्दिष्ट औषध को कल्करूप में परिणत करके स्नेहमान से चतुर्थांश लेवे और स्नेहमान से चतुर्गुण जल डालकर सिद्ध करे ॥ ९ ॥

केवल क्वाथपाकविधान—

क्वाथेन केवलेनैव पाको यत्रेरितः क्वचित्।
क्वाथ्यद्रव्यस्य कल्कोऽपि तत्र स्नेहे प्रयुज्यते ॥१०॥

यदि केवल क्वाथ से ही स्नेहपाक करना विधेय हो तब उस स्नेह में क्वाथ्य द्रव्य का कल्क भी दिया जाता है ॥१०॥

वक्तव्य—(१) ऐसी स्थिति में स्नेह के दो पाक होते हैं। प्रथम—स्नेहापेक्ष चतुर्गुण क्वाथ से, दूसरा स्नेह मान से षष्ठांश कल्क से। कल्क पाकार्थ चतुर्गुण जल दिया जाता है। यदुक्तम्—

अम्बुक्वाथरसैर्यत्र पृथक् स्नेहस्य साधनम्।
कल्कस्यांश तत्र दद्याच्चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ॥

(२) १ सेर स्नेह साधनार्थ चतुर्गुण क्वाथ प्राप्ति के लिये क्वाथ्य द्रव्य कितना हो ? यह प्रश्न जटिल है। इसके लिये ऐसी कोई भी परिभाषा निर्धारित नहीं है जो सर्वदा अक्षुण्ण रहे। कारण कि क्वाथ्य द्रव्य के मृदु, मध्य और तीक्ष्णवीर्य स्वभाव आदि का तारतम्य अवश्य रहेगा। इसी कारण स्थिररूपेण इसका दोषशून्य कोई नियम नही बन सकता। साधारण परिभाषा जो इस सन्देह को दूर करती है नीचे लिखी जाती है। उसमें मृद्वादि द्रव्यगत गुणों का विचार वैद्य को स्वयं करना उचित होगा। एवंविध मृद्वादि गुणयुक्त द्रव्यों से सिद्ध स्नेह की मात्रा का न्यूनाधिक्य चिकित्सक के विचारानुकूल होगा।

क्वाथार्थ क्वाथ्य परिभाषा—इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने किसी विशेष परिभाषा का विधान स्थिर नही किया। अर्थात् शास्त्र में ऐसी आज्ञा स्पष्ट रूप से देखने में नहीं आती कि अनिर्दिष्ट स्नेह साधन में स्नेह और क्वाथ्य द्रव्य कितना २ हो। जिन स्नेहों का शास्त्र ने उल्लेख किया है उनमें उन्होंने प्राय सब वस्तुओं का परिमाण लिख दिया है। अत. नूतन अथवा स्वकपोलकल्पित स्नेह साधनार्थ द्रव्य के गुण प्रकर्ष को देखकर ही क्वाथार्थ द्रव्य का मान स्थिर करे। निर्दिष्ट स्नेहों में भी कई स्थानों पर १ प्रस्थ स्नेह साधनार्थ २। २ और ४। ४ सेर द्रव्यों का ही क्वाथ बना लिया गया है। कही २ क्वाथ्य द्रव्य तुला मान से भी ऊपर हो जाता है। जैसे अश्वगधादि घृत में। अत अनुक्तमान में साधारणतया साध्य स्नेहमान से द्विगुण क्वाथ्य लिया जाना चाहिये।

कल्कहीन स्नेहपाक—

कल्कहीनस्तु यः स्नेहः स साध्यः केवले द्रवे ।

जिन स्नेहो में कल्करहित पकाने की विधि हो उनको केवल द्रव पदार्थ से सिद्ध करे । द्रव पदार्थ काथादि स्नेहापेक्षा चतुर्गुण हों ।

पुष्पकल्क से स्नेहसाधन—

पुष्पकल्कस्तु यः स्नेहस्तत्र तोयं चतुर्गुणम् ॥११॥

स्नेहे स्नेहाष्टमांशश्च पुष्पकल्कः प्रयुज्यते ।

जो स्नेह पुष्पकल्क साध्य हों उन में स्नेहापेक्षा जल चतुर्गुण ग्रहण करे और स्नेहमान से अष्टमाश (आठवा भाग) पुष्पकल्क प्रदान करके सिद्ध करे ॥११॥

वक्तव्य—नागकेशर, कुङ्कुम, लवङ्ग, दमनफल, सुरपुष्प, चम्पकपुष्प, उत्पल, पुण्डरीकपुष्प, केतकी, जातीकुसुम इत्यादि पुष्पों का ग्रहण पुष्पकल्कार्थ होता है । कई आचार्य यह कहते हैं कि—

गन्धनिर्यासपुष्पाणां सिद्धशीतेऽवतारिते ।
प्रक्षेपो गन्धवृद्ध्यर्थं यत्र कल्क तु तद्विदु ॥

स्नेहसिद्धि की परीक्षा—

वर्तिवत्स्नेहकल्कः स्याद्यदाङ्गुल्या विमर्दितः ॥१२॥

शब्दहीनोऽग्निनिक्षिप्तः स्नेहः सिद्धो भवेत् तदा ।

स्नेहान्तर्गत कल्क को उठाकर अगुलियों से मर्दन करने पर यदि स्नेह कल्क वत्ती के समान लम्बायमान हो जाये तथा कल्क का स्वल्प भाग अग्नि में डालने से शब्द न करे तो स्नेह का ठीक पाक हुआ जानना ॥१२॥

वक्तव्य—कल्क और द्रव पदार्थों से युक्त स्नेह जब मन्दाग्नि से परिपक्व होता हुआ इस अवस्था तक पहुचे जब उसे कडछी से उठाया जा सके तव स्नेह कल्क को अगुली से मर्दन करके देखा जाता है । एव अग्नि के एक अगारे को चूल्हे से वाहिर निकाल कर उस पर कल्काश डाला जाता है । यदि कल्क में जलीयाश होगा तव अगारे पर कल्काश के पडते ही 'चटचट' शब्दोद्गम होगा । यदि जलीयाश समाप्त है तो अगारे पर पडा हुआ कल्काश नि शब्द रहेगा । यही सम्यक् पाक का लक्षण है । इसी अवस्था पर उस स्नेह को कल्क से पृथक् किया जाता है ।

घृत और तैलपाक में भिन्न भिन्न परीक्षा—

यदा फेनोद्गमस्तैले फेनशान्तिश्च सर्पिषि ॥१३॥

गन्धवर्णरसोत्पत्तिः स्नेहः सिद्धस्तदा भवेत् ।

अर्थात् जब तैल का शेष पाक निकट होता है तव उस में झाग अधिक उठती है । एव जब घृत का शेष पाक समीप होता है तव घृत में झाग की समाप्ति हो जाती है । एव गन्ध, वर्ण और रस की स्नेह में प्राप्ति होती है । जब ऐसे

लक्षण प्रकट हो तब स्नेह सिद्ध जानना चाहिये ॥१३॥

वक्तव्य—जब तैल में ऊपर के लक्षण प्रकट हों तब तैलपात्र को नीचे उतार ले और हाथ के सहन करने योग्य ठंडा होने पर उसे वस्त्रद्वारा छान लेवे । एवं शेष पक्व कल्क को थोड़ा २ वस्त्र में डालकर निष्पीडन कर लेवे और सिद्ध तैल को उचित पात्र में डालकर रख लेवे । जब घृत के पाक में उपरोक्त लक्षण प्रकट हों तब उसे भी उसी प्रकार उतार कर नीचे रख लेवे और तुरन्त ही स्वच्छ वस्त्र से घृत को छान लेवे । अन्यथा घृत ठंडा हो जाने के कारण प्राप्त करना दुष्कर हो जायेगा । अवशिष्ट घृत कल्क को पूर्ववत् वस्त्रद्वारा निष्पीडन कर लेवे ।

स्नेहपाक के प्रकार—

स्नेहपाकस्त्रिधा प्रोक्तो मृदुर्मध्यः खरस्तथा ॥१४॥

मृदु, मध्य और खर भेद से स्नेहपाक तीन प्रकार का होता है ॥१४॥

मृदुपाकस्नेह के लक्षण—

ईषत्सरसकल्कस्तु स्नेहपाको मृदुर्भवेत् ।

जिस स्नेह कल्क में किंचित् जलीयांश रहे (और उसे अग्नि पर डालने से साधारण सा 'चटचट' शब्दोद्गम हो), उसे मृदुपाक कहते हैं ।

मध्यपाकस्नेह के लक्षण—

मध्यपाकस्य सिद्धिश्च कल्के नीरसकोमले ॥१५॥

जिस स्नेहकल्क को अगारे पर डालने से शब्दोद्गम न हो तथा कल्क कोमल हो एवं दो अंगुलियों के मध्य में रखकर वर्तित करने से जिस की बत्ती बन जाये उसे मध्यपाक कहते हैं ॥१५॥

खरपाकस्नेह के लक्षण—

ईषत्कठिनकल्कश्च स्नेहपाको भवेत्खरः ।

जब स्नेहकल्क अगुलियों से विमर्दन करने में कठिन और खर स्पर्श वाला प्रतीत हो तब उसे खरपाक कहते हैं ।

दग्धपाकस्नेह के लक्षण—

तदूर्ध्वं दग्धपाकः स्याद्दाहकृन्निष्प्रयोजनः ॥१६॥

यदि स्नेह को खर पाक से और ऊपर पाक किया जाये तब स्नेहान्तर्गत कल्क जलरहित होने के कारण जल जाता है और रग रूप में पीसे हुए कोयले के सदृश हो जाता है । ऐसे पाक को दग्धपाक कहते हैं । इसके प्रयोग से दाह उत्पन्न होता है । एव यह नष्ट वीर्यत्वेन निरर्थक और निष्प्रयोजन होता है ।

आमपाकस्नेह के गुण —

आमपाकश्च निर्वीर्यो वह्निमान्द्यकरो गुरुः ।
नस्यार्थं स्यान्मृदुः पाको मध्यमः सर्वकर्मसु ॥१७॥

अभ्यङ्गार्थं खरः प्रोक्तो युञ्ज्यादेवं यथोचितम् ।

आमपाक (उचित पाक से रहित) स्नेह वीर्यरहित होता है। कारण कि उस को हीनपाक के कारण औषधों का पूर्णबल प्राप्त नहीं होता। एवं यदि आमपाक पक्वस्नेह को पान किया जावे तो जाठराग्नि को मन्द करता है तथा गुरुपाकी होता है। मृदुपाक पक्वस्नेह सौम्य होने के कारण नस्य कर्म में प्रयुक्त होता है तथा मध्यपाक से परिपक्व स्नेह सम्पूर्ण कर्मों—पान-नस्य-मर्दनादि में हित होता है। एवं खरपाक पक्वस्नेह केवल अभ्यङ्ग (मर्दन) कर्म में प्रयुक्त होता है। अतः आवश्यकतानुसार इन स्नेहों का उचित भेदानुसार प्रयोग करे ॥१७॥

घृतादिसाधन में कालनिर्देश—

घृततैलगुडादींश्च साधयेन्नैकवासरे ॥१८॥
प्रकुर्वन्त्युषिता ह्येते विशेषाद् गुणसंचयम् ।

घृत, तैल, गुड़ादि (अभिसाध्य) औषधों का एक ही दिन में पाक न करे। इन्हें उषित (बासी) करने से इन में गुणवृद्धि होती है ॥१८॥

वक्तव्य—घृत तैलादि में जो २ द्रव पदार्थ दिये गये हों उन्हें शनैः २ पर्युषित करते हुए पकाने से द्रव पदार्थों का गुणकारी अंश भली प्रकार स्नेह में प्रविष्ट हो जाता है। अत्यधिक अग्नि देकर शीघ्रातिशीघ्र जलीय भाग को शुष्क करके स्नेहादि को निर्माण करने से निःसन्देह गुण हानि होती है। कारण कि द्रवान्तर्गत जिस प्रभाव को स्नेह में आकर्षण अथवा उससे स्नेह को संस्कृत करना है वह तो अत्यग्नि से नष्ट हो जाता है। अतः द्रव्य गुण नष्ट होने से कदापि स्नेह में प्रविष्ट नहीं हो सकता। अतएव स्नेहादि पाक में उक्त आचार्याज्ञा एवं साम्प्रदायिक व्यवहार को कदापि न भूलना चाहिये। गुड पाक, लेह तथा अन्य मोदकादि के निर्माण में भी यही नियम सर्वत्र व्यवहृत करने से साध्यौषध सुन्दर सुपरिपक्व तथा गुणाढ्य तैयार होती है* ।

क्षीरषट्पलघृतम्—

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ॥१९॥
ससैन्धवैश्च पलिकैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
क्षीरं चतुर्गुणं दत्त्वा तद्घृतं प्लीहनाशनम् ॥२०॥
विषमज्वरमन्दाग्निहरं रुचिकरं परम् ।

कालीपीपल, पीपलामूल, चव्य, चीते की छाल, सोंठ, सैन्धानमक। प्रत्येक एक २ पल (४।४ तोला)। यथाविधि शिलापेषण द्वारा कल्क बना लेवे। पाकार्थ—गोघृत १ प्रस्थ (६४ तोला, परन्तु व्यावहारिक १ सेर), गोदूध ४ सेर, जल ४

* इसका विशेष विवरण इसी अध्याय के सातवें श्लोक के वक्तव्य में देखो।

सेर। यथाविधि पाक करे और सिद्ध घृत को स्वच्छ वस्त्र से छान कर ग्रहण करे। इसके प्रयोग से—प्लीहावृद्धि औरविषमज्वर, मन्दाग्नि रोग नष्ट होते हैं और रुचि (भोजनेच्छा) बढती है ॥१६—२०॥

वक्तव्य—प्रथम घृत को यथाविधि मूर्च्छित करने के बाद चतुर्गुण दूध से पाक करना एवं किंचित् दुग्धावशेष रहने पर कल्क डालना और कल्क पाकार्थ चतुर्गुण जल डालकर पाक करे। सिद्ध पाक के लक्षण प्राप्त होने पर उक्तरीत्या ग्रहण करे। मात्रा—साधारणतया ½—१ तोला व्यवहार किया जाता है। अनुपानार्थ—दूध, मुद्गयूष अथवा त्रिफला पिप्पली कषाय दिया जाता है। स्नेह साधन में प्रस्थ का व्यावहारिक मान जहा १ सेर लिया जाता है वहा पल ५ तोले का ग्रहण करना चाहिये। और कर्ष १। तोले का।

चाङ्गेरीघृतम्—

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥२१॥
श्वदंष्ट्रा नागरं धान्यं पाठा बिल्वं यवानिका।
द्रव्यैश्च पलिकैरेतैश्चतुःषष्टिपलं घृतम् ॥२२॥
घृताच्चतुर्गुणं दद्याच्चाङ्गेरीस्वरसं बुधः।
तथा चतुर्गुणं दत्त्वा दधि सर्पिर्विपाचयेत् ॥२३॥
शनैः शनैर्विपक्वव्यं चाङ्गेरीघृतमुत्तमम्।
तद्घृतं कफवातघ्नं ग्रहण्यर्शोविकारनुत् ॥२४॥
हन्त्यानाहं गुदभ्रंशं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम्।

कालीपीपल, पीपलामूल, चीते की छाल, हस्तिपिप्पली (गजपीपल, परन्तु व्यवहार में चव्य प्रयोग होती है), गोखरू, सोंठ, धनिया, पाठा, बेलगिरी, अजवायन। प्रत्येक एक २ पल (५-५ तोले)। यथाविधि कल्क बना लेवे। पाकार्थ—गव्य-घृत—६४ पल (३ सेर १६ तोला, व्यवहार में ४ सेर), चाङ्गेरी रस घृत से चतुर्गुण (१६ सेर), एवं दधि घृत से चतुर्गुण (१६ सेर)। (पाकार्थ—जल १६ सेर) यथाविधि सब को मिलाकर शनै. २ मन्दाग्नि से पाक करे। सिद्ध होने पर यथाविधि ग्रहण करे प्रयोग—यह चांगेरीघृत कफ और वातविकार तथा सग्रहणी, बवासीर, आनाह, गुदभ्रंश (गुदा का शौच काल में बाहिर निकल आना), मूत्रकृच्छ्र और प्रवाहिका रोग को शान्त करता है ॥२१—२४॥

वक्तव्य—पिछली जो परिभाषाएं कही गई हैं वह अनुक्तमान के लिये ही हैं। अन्यथा यहा आचार्य स्वयं क्यों साधारण परिभाषा का उल्लंघन करते। मात्रा—½—१ तोला तक। अनुपान—दूध वा मुद्गयूष।

अथ अतिसारादौ मसूरघृतम्—

मसूराणां पलशतं नीरद्रोणे विपाचयेत् ॥२५॥

पादशेषं शृतं नीत्वा दत्त्वा बिल्वपलाष्टकम् ।
घृतप्रस्थं पचेत्तेन सर्वातीसारनाशनम् ॥२६॥
ग्रहणीं भिन्नविट्कं च नाशयेच्च प्रवाहिकाम् ।

मसूर (अन्न विशेष, सबूत लेवे) १०० पल (१ तुला, ५ सेर)। मसूर पाकार्थ—जल १ द्रोण (१६ सेर)। क्काथ विधि से पकाकर ४ सेर जल शेष रखकर वस्त्र से छान लेवे। पुन एक प्रस्थ (१ सेर) घृत ग्रहण करके शुद्ध पात्र में डाले और मूर्च्छन विधि से मूर्च्छन करके इस मसूर क्काथ में डालकर आठ पल बेलगिरी का कल्क डाले और यथाविधि पकावे। (पाक शेष होने पर उतार कर स्वच्छ वस्त्र से छान लेवे) इस घृत की उपयुक्त मात्रा ½—१ तोला प्रयोग करने से यह सम्पूर्ण अतिसारों को, सग्रहणीरोग को, भिन्न विट्क (पतली और टूटकर मल आने की अवस्था) को और प्रवाहिकारोग को नष्ट करता है। (इसके अनुपान में मसूर का यूष व्यवहार में लाना उचित है) ॥२५—२६॥

वक्तव्य—अतिसार की किस अवस्था में घृत प्रयोग कराना चाहिये। यथा—

सशूलं क्षीणवर्चा यो दीप्ताग्निरतिसार्यते ।
स पिबेद्दीपनैर्युक्तं सर्पि संग्राहकै सह ॥ (सु० उत्तरतन्त्र ४० अ०)

अर्थात् अतिसार वाले के जब मल क्षीण और शूल हो और अग्नि दीप्त हो तो दीपन और संग्राही द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान करे।

अथ कामदेवघृत रक्तपित्तार्दो—

अश्वगन्धा तुलैका स्यात् तदर्धो गोक्षुरः स्मृतः ॥२७॥
बलाऽमृता शालपर्णी विदारी च शतावरी ।
अश्वत्थस्य च शुङ्गानि पद्मबीजं पुनर्नवा ॥२८॥
काश्मर्याश्च फलं चैव माषबीजं तथैव च ।
पृथग्दशपलान्भागान् चतुर्द्रोणेऽम्भसि पचेत् ।
द्रोणशेषे रसे तस्मिन् पचेच्चैव घृताढकम् ॥२९॥
मृद्वीका पद्मकं कुष्ठं पिप्पली रक्तचंदनम् ।
पत्रकं नागपुष्पं च आत्मगुप्ताफलं तथा ॥३०॥
नीलोत्पलं सारिवे द्वे जीवनीयो गणस्तथा ।
पृथक्कर्षसमा भागा शर्करायाः पलद्वयम् ॥३१॥
रसश्च पौण्ड्रकेक्षूणामाढकैकं समाहरेत् ।
चतुर्गुणेन पयसा घृताढकं विपाचयेत् ॥३२॥
घृतमेतन्निहन्त्याशु रक्तपित्तमुरःक्षतम् ।

हलीमकं पाण्डुरोगं वर्णभेदं स्वरक्षयम् ॥३३॥
मूत्रकृच्छ्रमुरोदाहं पार्श्वशूलं च नाशयेत् ।
एतत्सर्पिः प्रयोक्तव्यं बह्वन्तःपुरवासिनाम् ॥३४॥
स्त्रीणां चैवाप्रजातानां दुर्बलानां च देहिनाम् ।
श्रेष्ठं बलकरं वर्ण्यं हृद्यं पुष्टिरसायनम् ॥३५॥
ओजस्तेजस्करं हृद्यमायुष्यं प्राणवर्धनम् ।
संवर्धयाति शुक्रस्य पुरुषं दुर्बलेन्द्रियम् ॥३६॥
सर्वरोगविनिर्मुक्तो पयःसिक्तो यथा द्रुमः ।
कामदेव इति ख्यातं सर्पिरुक्तं महागुणम् ॥३७॥

असगन्ध १०० पल (१ तुला, ५ सेर), गोखरू ५० पल (२॥ सेर), शतावरी १० पल (आधा सेर), विदारीकन्द १० पल, शालपर्णी १० पल, खरैटी की जड़ १० पल, गुडूची १० पल, पीपल के अङ्कुर १० पल, कमलडोडे १० पल, पुनर्नवा (इटसिट) १० पल, गम्भारी के फल १० पल तथा उड़द १० पल। सब द्रव्यों को यथामान लेकर भली प्रकार कूटकर ४ द्रोण (द्रव द्वैगुण्य से ८ द्रोण, १२८ सेर) जल डालकर चतुर्थांशावशेष तक पाक करे। यथाविधि प्राप्त क्वाथ को स्वच्छ वस्त्र से छानकर इस क्वाथ से ४ सेर घृत का पाक करे। शनैः २ पाक होने पर जब नाम मात्र का जल अवशिष्ट रहे तब कल्कार्थ—किशमिश, पद्माख, कूठ, कालीपीपल, लालचन्दन, तेजपत्र, नागकेशर, कौंचबीज, नीलोफर, कृष्ण-सारिवा-श्वेतसारिवा (अनन्तमूल और श्यामा लता), जीवनीय गण[1] (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलेठी) प्रत्येक एक २ कर्ष परिमित। यथाविधि पीसकर कल्क रूप में परिणत करे और पौण्ड्रक (पोंडा) नामवाले गन्ने का रस ४ आढक (१६सेर) परिमित तथा गव्यदुग्ध ४ आढक (१६ सेर) परिमित डालकर यथाविधि पाक करे। जब उत्तम पाक हो तब उतारकर स्वच्छ वस्त्र से यथाविधि छाने और दो पल परिमित मिशरी पीसकर इसमें मिला देवे। इस प्रकार सिद्ध हुआ यह घृत प्रयोग करने से शीघ्र ही रक्तपित्त, उरःक्षत, हलीमक, पाण्डुरोग, वर्णभेद (कुरूपता अथवा स्वरभेद), स्वरक्षय, मूत्रकृच्छ्ररोग, उरोदाह, पार्श्वशूल आदि रोगों को नष्ट करता है। यह उत्तम घृत बहुत स्त्री भोगने की इच्छा वालों को तथा सतान रहित स्त्रियो को तथा दुर्बल शरीर धारियों को सेवन करना श्रेष्ठ है। इसके प्रयोग से बल में वृद्धि होती है। वर्ण उज्वल होता है। हृदय हितकारक, पुष्टि कारक एवं उत्तम

१—जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यौ माषपर्णिका ।
जीवन्ती मधु यष्टी च जीवनीयो गणः स्मृतः ॥

रसायन है। यह ओजोवर्धक, तेजस्कर, हृद्रोगनाशक, आयुवर्धक तथा प्राणवर्धक (बलकारक) है। एवं दुर्बलेन्द्रिय पुरुषों के शुक्र की निरन्तर वृद्धि करता है। इस घृत के प्रयोग से रोगग्रस्त मनुष्य सम्पूर्ण रोगों से मुक्त हो जाता है और जिस प्रकार निरन्तर जल सिंचन से वृक्ष उत्तमरीत्या फूलते फलते हैं उसी प्रकार मनुष्य सर्वांगपुष्टि प्राप्त करते हैं। यह कामदेव नाम वाला घृत अत्यन्त गुणकारक है ॥३३—३७॥

वक्तव्य—मात्रा—½—१ तोला तक धारोष्ण अथवा कथित दूध से प्रयोग करे। इसमें भी व्यवहार की सुविधा के लिये प्रस्थ को सेर और आढक को चार सेर लिया गया है इसलिये कर्षादि अन्य मान को सवाया कर लेवे।

पानीयकल्याणक घृतम् अपस्मारादौ—

त्रिफला द्वे निशे कौन्ती सारिवे द्वे प्रियङ्गुका।
शालिपर्णी पृष्ठपर्णी देवदार्व्येलवालुकम् ॥३८॥
नतं विशाला दन्ती च दाडिमं नागकेशरम्।
नीलोत्पलैला मञ्जिष्ठा विडङ्गं कुष्ठपद्मकम् ॥३९॥
जातिपुष्प चन्दनं च तालीसं बृहती तथा।
एतैः कर्षसमैः कल्कैर्जलं दत्त्वा चतुर्गुणम् ॥४०॥
घृतप्रस्थं पचेद्धीमानपस्मारे ज्वरे क्षये।
उन्मादे वातरक्ते च कासे मन्दानले तथा ॥४१॥
प्रतिश्याये कटीशूले तृतीयकचतुर्थके।
मूत्रकृच्छ्रे विसर्पे च कण्डूपाण्ड्वामये तथा ॥४२॥
विषघ्ने प्रमेहेषु सर्वथैवोपयुज्यते।
वन्ध्यानां पुत्रदं भूतयक्षरक्षोहरं परम् ॥४३॥

यह केवल कल्क साध्य घृत है। पाकार्थ—गव्यघृत १ प्रस्थ (१ सेर)। कल्कार्थ—त्रिफला (हरीतकी बहेड़ा, आमला), हल्दी, दारुहल्दी, रेणुका, प्रियंगु, अनन्तमूल श्यामलता, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, देवदारु, एलवालुक (गन्ध द्रव्य), नत (तगर), विशाला (इन्द्रायण मूल), जमालगोटे की जड़, अनारदाना, नागकेशर नीलाकमल, छोटी इलायची, मजीठ, वायविडंग, कूठ, पद्माख, चमेली के फूल (आर्द्र) श्वेतचन्दन, तालीसपत्र, बड़ी कंटकारी—प्रत्येक एक एक कर्ष परिमित (सवा सवा तोला) औषधों का शिला पेषण से कल्क बनावे और उपरोक्त घृत को यथाविधि मूर्च्छन करके कल्क के साथ पात्र में डालकर ४ प्रस्थ स्वच्छ जल डालकर यथाविधि पाक करे। पूर्ण पक होने पर स्वच्छ वस्त्र से छान

लेवे। इसके प्रयोग से—अपस्मार, ज्वर (पुराण), क्षयरोग, उन्माद, वातरक्त, खांसी, मन्दाग्नि, प्रतिश्याय, कटीशूल, तृतीयक ज्वर, चातुर्थक ज्वर, मूत्रकृच्छ्र, विसर्प, खाज, पाण्डुरोग, स्थावर-जङ्गम-विष, प्रमेह आदि सब रोग नष्ट होते हैं। यह वन्ध्या स्त्रियों को पुत्र प्रदान करता है। एवं विध यक्ष,—राक्षसादि ग्रह वाधा नष्ट होती हैं।

वातरक्तरोगे—गुडूचीघृतम्—

अमृताक्वाथकल्काभ्यां सक्षीरं विपचेद् घृतम्।
वातरक्तं निहन्त्याशु कुष्ठं जयति दुस्तरम् ॥४४॥

पाकार्थ—गव्यघृत १ सेर। क्वाथार्थ आर्द्र गुडूची २ सेर। क्वाथ पाकार्थ जल १६ सेर। अवशिष्ट क्वाथ पादांश ४ सेर। गुडूची को भली प्रकार कूट कर क्वाथ विधि से क्वाथ करे। यथाविधि मूर्च्छित घृत में क्वाथ ४ सेर, गोदूध १ सेर, कल्कार्थ शिलापिष्ट गुडूची १ पाव और जल ४ सेर एक पात्र में मिला कर उत्तम विधि से पाक करे। यह घृत वातरक्त और भयकर कुष्ठ रोग को दूर करता है ॥४४॥

वक्तव्य—साम्प्रदायिक व्यवहारानुसार इसके तीन पाक होते हैं। यथा—प्रथम पाक—क्वाथ से, द्वितीय पाक—दूध से, तृतीय पाक—कल्क और चतुर्गुण जल से। मात्रा—१—२ तोला तक। अनुपान पिप्पली प्रक्षेपान्वित गुडूची क्वाथ।

महातिक्तघृतम्—

सप्तच्छदः प्रतिविषा शम्याकः कटुरोहिणी।
पाठामुस्तमुशीरं च त्रिफला पर्पटस्तथा ॥४५॥
पटोलनिम्बमाञ्जिष्ठाः पिप्पली पद्मकं शठी।
चन्दनं धन्वयासश्च विशाले द्वे निशे तथा ॥४६॥
गुडूची सारिवे द्वे च मूर्वा वासा शतावरी।
त्रायन्तीन्द्रयवा यष्टी भूनिम्बश्चाक्षभागिकाः ॥४७॥
घृतं चतुर्गुणं दद्याद्घृतादामलकीरसः।
द्विगुणः सर्पिषश्चात्र जलमष्टगुणं भवेत् ॥४८॥
तत्सिद्धं पाययेत्सर्पिर्वातरक्तेषु सर्वथा।
कुष्ठानि रक्तपित्तं च रक्तार्शांसि च पाण्डुताम् ॥४९॥
हृद्रोगगुल्मवीसर्पप्रदरं गण्डमालिकाम्।
क्षुद्ररोगान् ज्वरांश्चैव महातिक्तमिदं जयेत् ॥५०॥

कल्कार्थ—सप्तपर्णत्वक् (सतोना वृक्ष की छाल), अतीस, अमलतास की फली का गूदा, कटुरोहिणी (कौड़), पाठा, नागरमोथा, खस, त्रिफला (हरीड,

बहेड़ा, आमला), पित्तपापडा, पटोलपत्र, नीम की छाल, मंजीठ, कालीपीपल, पद्माख, कचूर, श्वेतचन्दन, धमासा, इन्द्रायण लघु, इन्द्रायण बृहत्, हलदी, दारुहलदी, गिलोय, अनन्तमूल, श्यामालता, मूर्वा, अडूसे की जड़ की छाल, शतावरी, त्रायमाणा, इन्द्रयव, मुलेठी और चिरायता। प्रत्येक अक्षभागिक (एक २ तोला परिमित) लेकर यथाविधि कल्क करे। इस ३३ तोला ऽ।≈३ तोला कल्क को चतुर्गुण ऽ१॥=२ तो०, एक सेर १० छटाक २ तोला, गव्यघृत और घृतापेक्ष द्विगुण आमले का रस एव घृतापेक्षा अष्टगुण जल के साथ पाक करे। पाक शेष पर स्वच्छ वस्त्र से छान लेवे। इसके प्रयोग से वातरक्त, कुष्ठ, रक्तपित्त, खूनीबवासीर, पाण्डुरोग, हृद्रोग, गुल्मरोग, विसर्परोग, प्रदररोग, गण्डमाला, क्षुद्ररोग (न्यच्छ, व्यंग, मुख दूषिका प्रभृति), ज्वर (विषमज्वर) आदि २ रोग नष्ट होते हैं। यह महातिक्त नाम वाला घृत समस्त रोगों को नाश करता है। मात्रा—१—२ तोला तक। अनुपान—पिप्पली चूर्ण प्रक्षेपान्वित गुडूची क्वाथ ॥४५—५०॥

व्रणपामाकुष्ठादौ कासीसाद्य घृतम् (आदित्य पाक)—

कासीसं द्वे निशे मुस्तं हरितालं मनःशिलाम्।
कम्पिल्लकं गन्धकं च विडङ्गं गुग्गुलुं तथा ॥५१॥
सिक्थकं मरिचं कुष्ठं तुत्थकं गौरसर्षपान्।
रसाञ्जनं च सिन्दूरं श्रीवासा रक्तचन्दनम् ॥५२॥
इरिमेदं निम्बपत्रं करञ्जं सारिवां वचाम्।
मञ्जिष्ठां मधुकं मांसीं शिरीषं लोध्रपद्मकम् ॥५३॥
हरीतकीं प्रपुन्नाटं चूर्णयेत् कार्षिकान् पृथक्।
ततश्च चूर्णमालोड्य त्रिंशत्पलमिते घृते ॥५४॥
स्थापयेत्ताम्रपात्रे च घर्मे सप्तदिनानि च।
अस्याभ्यङ्गेन कुष्ठानि दद्रुपामाविचर्चिकाः ॥५५॥
शूकदोषा विसर्पाश्च विस्फोटा वातरक्तजाः।
शिरःस्फोटोपदंशाश्च नाडीदुष्टव्रणानि च ॥५६॥
शोथो भगन्दरश्चैव लूताः शाम्यन्ति देहिनाम्।
शोधनं रोपणं चैव सवर्णकरणं घृतम् ॥५७॥

कासीस (काहीसवज्ज), हलदी, दारुहलदी, नागरमोथा, हरिताल (शुद्ध), मनसिल, कमीला, आमलेसार, गंधक शुद्ध, वायविडंग, भैंसियागूगल, मोम (देसी), कालीमिरच, कूठ, नीलाथोथा, सफेद सरसों, रसौत, सिन्धूर (ललाटभूषण), गन्दा विरोजा लालचन्दन, विट्खदिर छाल, नीम के पत्ते, करञ्जबीज, अनन्तमूल, वच,

मजीठ, मुलेठी, जटामांसी (वालछड़), सिरस की छाल, पठानीलोध, पद्माख, हरीतकी, प्रपुन्नाट (चक्रमर्द-पमाड के वीज)। प्रत्येक औषध एक २ कर्ष (१। १ तोला)। यथाविधि वस्त्रपूत चूर्ण करके इस समग्र चूर्ण को ३० पल परिमित गोघृत के साथ ताम्रपात्र में डालकर आलोडन (भली प्रकार मर्दन करके एकीभूत) करे और पात्र को सात दिन तक धूप में रख देवे। इसके अभ्यङ्ग से कुष्ठरोग, दाद (आरम्भिक), पामा, विचर्चिका, शूक दोष (सविष शूकों के प्रयोग से मूत्रेन्द्रिय पर होने वाले रोग), विसर्प, वातरक्त के विस्फोट, शिरःस्फोट (अरूंषिका अथवा अन्य फोडे), उपदंशजव्रण, नाड़ीव्रण (नासूर), दुष्टव्रण, शोथ, भगन्दर, लूता (कीट विशेष जन्य शोथ-व्रण) आदि २ सब नष्ट होते हैं। एवं यह घृत प्रलेपित किया हुआ व्रणों को शोधन और शुद्ध व्रणों को रोपण करता है (भर देता है) तथा व्रण (अथवा रक्त दोष से) विवर्ण हुए स्थान को त्वक् समान वर्ण वाला बना देता है ॥५१—५७॥

कई वैद्य इस योग के कल्क को अग्नि द्वारा सिद्ध करने के पक्ष में हैं। परन्तु आचार्य का अभिप्राय उनसे सहमत नहीं। कारण कि योग में—

ततश्च चूर्णमालोड्य त्रिंशत्पलमिते घृते।
स्थापयेत्ताम्रपात्रे च घर्मे सप्तदिनानि च ॥

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह घृत मर्दनार्थ और प्रलेप (मरहम) के लिये निर्माण किया गया है। अतः इसका प्रयोग शास्त्ररीति के अनुसार ही श्रेष्ठ है। टीका में जिन औषध नामों पर अङ्क दिये गये हैं उनसे भिन्न समस्त औषधों का चूर्ण अत्यन्त सूक्ष्म बनाया जाता है। शेष अङ्क विवरण इस प्रकार है—

(१) हरतालवर्किया लेकर खरल में पीसे। पुनः उस सुपिष्ट हरिताल चूर्ण में थोडा सा जल डालकर निश्चन्द्र होने तक पीसकर सुखाकर डाले। (२) मनःशिला को भी हरिताल की रीति से पीसकर प्रयोग करे। (३) कमीला—बाजारी कमीले में कमीले के वृक्ष की डोडियों का चूर्ण भी साथ होता है। अतः इसे उत्तम वस्त्र से छानकर तौल कर लेवे। (४) आमलासार गन्धक—इसे भी हरितालवत् पीसकर प्रयोग करे। (५) गूगल—स्वच्छ गूगल को खरल में डालकर पानी के साथ पीसे। जब सब गूगल पिसकर लेहीभूत सा हो जावे तव इसमें अन्य औषधों के चूर्ण को डालकर रगडने से जलीयांश चूर्ण में मिलकर गूगल भी अदृश्य हो जाता है (६) इसको ग्राह्यघृत में से २—४ तोला घृत के साथ पिघलाकर घृत में मिलावे। (७) नीलाथोथा—इसे भी हरिताल के विधान से पीसकर मिलावे। (८) रसौंत—इसको गूगल की विधि से पीसकर मिलावे। (९) गन्दाविरोजा—इस योग के लिये शुष्क विरोजा ग्रहण होता है और वस्त्रपूत करके प्रयोग में आता है।

विधिः—विहित औषधों को निर्दिष्ट विधि के अनुसार तैयार करके शेष औषधों के वस्त्रपूत चूर्ण के साथ मिला देवे और ताम्रपात्र में ३० पल (१॥ सेर) घृत के साथ एकीभूत होने पर्यन्त आलोडन किया जाता है। पुनः पात्रमुख को

स्वच्छ वस्त्र से बाधकर सात दिन तक तीव्र धूप में रखे । मध्य में इसे प्रतिदिन आलोडन करना होता है । इस प्रकार सूर्याग्नि से सिद्ध यह कासीसादि घृत प्रस्तुत होता है । इसे काचपात्र में स्थापन करके यथाआज्ञा और यथामति प्रयोग करे । यह अत्यन्त लाभदायक औषध तैयार होती है ।

व्रणरोगे जात्यादिघृतम्—

जातीनिम्बपटोलाश्च द्वे निशे कटुकी तथा ।
मञ्जिष्ठा मधुकं सिक्थं करञ्जोशीरसारिवाः ॥५८॥
तुत्थं च विपचेत्सम्यक्कल्कैरेभिर्घृतं बुधः ।
अस्य लेपात्प्ररोहन्ति सूक्ष्मनाडीव्रणा अपि ॥५९॥
मर्माश्रिताः क्लेदिनश्च गम्भीराः सरुजो व्रणाः ।

चमेली के पत्र, नीम के पत्र, पडोल के पत्र, हलदी, दारुहलदी, कुटकी, मजीठ, मुलहठी, सिक्थ (मोम देसी), करञ्जपत्र, खस, अनन्तमूल, नीलाथोथा—प्रत्येक औषध समान भाग लेकर कल्क करे और कल्क से चतुर्गुण घृत और घृत से चतुर्गुण जल देकर यथाविधि सिद्ध होने पर्यन्त पाक करे (और स्वच्छ काच पात्र में भर लेवे) । इस जात्यादिघृत के लेप करने से सूक्ष्म मुखवाले नाडीव्रण (नासूर) शीघ्र भर जाते हैं । मर्मस्थानों पर उत्पन्न हुए व्रण तथा स्रावशील व्रण, गम्भीरव्रण तथा अधिक पीडावाले व्रण नष्ट होते हैं ॥५८—५९॥

वक्तव्य—जात्यादि घृत का एक दिन में पाक समाप्त न करे । शनै २ २—३ दिन में शेष पाक करे । यह उपदंशज व्रण, विसर्प तथा वृषण कच्छू रोग में विशेष लाभ करता है । यदि फिरंग प्रकोप हो तो जात्यादिघृत की एक तोला परिमित मात्रा में १ रत्ती सुधानिधि अथवा रसकर्पूर (आयुर्वेदीय विधि से प्रस्तुत) को अत्यन्त सूक्ष्म पीसकर मिला देवे और व्रण को त्रिफला जल से शुद्ध करके मरहम की तरह प्रयोग करने से तुरन्त लाभ होता है । पूयरक्त, एवं जिन की नाक से दुर्गन्ध आती हो अथवा नासा में जलन वा व्रण हो गये हों तो इस घृत से नस्य लेना भी लाभ करता है । नाभिपाक—जिन दीराशी बच्चों की नाभि अथवा गुदा पक जाती है उन स्थानों पर इसका पिचु धारण किया जाता है ।

—उदररोगे बिन्दुघृतम् (विरेचक)—

चित्रकः शङ्खिनी पथ्या काम्पिल्लस्त्रिवृतायुगम् ॥६०॥
वृद्धदारुश्च शम्याको दन्ती दन्तीफलं तथा ।
कोशातकी देवदाली नीलिनी गिरिकर्णिका ॥६१॥
सातला पिप्पलीमूलं विडङ्गं कटुकी तथा ।
हेमक्षीरी च विपचेत् कल्कैरेभिः पिचून्मितैः ॥६२॥

घृतप्रस्थं स्नुहीक्षीरे षट्पले तु पलद्वये ।
अर्कक्षीरस्य मतिमांस्तत्सिद्धं गुल्मकुष्ठनुत् ॥६३॥
हन्ति शूलमुदावर्तं शोथाध्मानं भगन्दरम् ।
शमयत्युदराण्यष्टौ निपीतं बिन्दुसंख्यया ॥६४॥
गोदुग्धेनोष्ट्रदुग्धेन कौलत्थेन शृतेन वा ।
उष्णोदकेन वा पीत्वा बिन्दुवेगैर्विरेचयेत् ॥६५॥
एतद्बिन्दुघृतं नाम नाभिलेपाद्विरेचयेत् ।

पाकार्थ—गव्य घृत १ प्रस्थ (१ सेर)। कल्क द्रव्य—चीते की छाल, शंखपुष्पी, हरीतकी, कमीला, श्वेत निसोथ, काली निसोथ, विधारा बीज, अमलतास की फली का गूदा, जमालगोटे की जड़ की छाल, जमालगोटा, कडवी तोरी का गूदा, नीलिनी की जड, श्वेत अपराजिता, सातला (पीत पुष्पा थोहर का रस), पीपलामूल, वायविडग, कुटकी, चोक। प्रत्येक एक २ कर्ष परिमित (सवा २ तोला)। यथाविधि कल्क रूप में परिणत करे। डडाथोहर का दूध छ पल (२४+६=३० तोला), अर्कक्षीर (आक का दूध) २ पल (८+२=१०तोला)। प्रत्येक वस्तु को यथाविधान मिश्रण करके(चतुर्गुण जल डालकर) पकावे। घृत सिद्ध होने पर स्वच्छ वस्त्र से छान लेवे। इसके सेवन करने से गुल्मरोग, कुष्ठरोग, शूल (उदर), उदावर्त, सूजन, आध्मान (पेट का फूलना), भगंदर, आठ प्रकार के उदररोग यह नष्ट होते हैं। अनुपानार्थ—गोदुग्ध, ऊटनी का दूध, कुलत्थयूष अथवा उष्णोदक प्रयोग करे। इस घृत के जितने बिन्दु सेवन किये जाएं उतने ही विरेचन (दस्त) होते हैं। यह बिन्दुघृत नाभि पर मर्दन करने से भी विरेचन करता है ॥६०—६५॥

वक्तव्य—(१) व्यवहार में आक और थोहर का दूध प्रत्येक ६—६ पल लिया जाता है।

(२) स्नुह्यर्कपयसोरत्र पाकार्थमुपपत्तितः ।
चतुर्गुणं जलं देयं पाकार्थः बिन्दुसर्पिषि ॥

सम्प्रदाय-व्यवहार से।

(३) इसकी मात्रा के लिये बिन्दु निर्देश किया गया है। बिन्दु के लक्षण यह हैं—'बिन्दु स्यात्तर्जनीपर्वद्वयमग्नोद्धतोमित'। (४) वृद्धवैद्योपदेशानुसार इसकी मात्रा ६ माशा से १ तोला तक है (विरेचनार्थ)। (५) नाभि पर इसका पिचु बनाकर धारण करे और ऊपर से एरण्ड पत्र पिचु पर रखकर इष्टिका स्वेद देने से विरेचन होता है। परन्तु इसका यह प्रभाव मृदु कोष्ठ पर होता है।

अथ नेत्ररोगे त्रिफलाघृतम्—

त्रिफलाया रसप्रस्थं प्रस्थं वासारसोद्भवम् ॥६६॥

भृङ्गराजरसप्रस्थं प्रस्थमाजं पयः स्मृतम् ।
दत्त्वा तत्र घृतप्रस्थं कल्कैः कर्षमितैः पृथक् ॥६७॥
त्रिफला पिप्पली द्राक्षा चन्दनं सैन्धवं बला ।
काकोली क्षीरकाकोली मेदा मरिचनागरम् ॥६८॥
शर्करा पुण्डरीकं च कमलं च पुनर्नवा ।
निशायुग्मं च मधुकं सर्वैरेभिर्विपाचयेत् ॥६९॥
नक्तान्ध्यं नकुलान्ध्यं च कण्डूं पिल्लं तथैव च ।
नेत्रस्रावं च पटलं तिमिरं चाजकं जयेत् ॥७०॥
अन्येऽपि प्रशमं यान्ति नेत्ररोगाः सुदारुणाः ।
त्रैफलं घृतमेतद्धि पाने नस्यादिषूचितम् ॥७१॥

पाकार्थ—गव्यघृत १ प्रस्थ (१ सेर), त्रिफला रस १ प्रस्थ (स्वरसाभाव में त्रिफला—मिलित तीनों द्रव्य २ प्रस्थ, क्वाथ साधनार्थ—जल ८ प्रस्थ । अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ १ प्रस्थ), अडूसे का रस १ प्रस्थ, भागरे का रस १ प्रस्थ, बकरी का दूध १ प्रस्थ । कल्कार्थ द्रव्य—हरड, बहेडा, आमलां, काली पीपल, किशमिश, श्वेतचन्दन, सैन्धानमक, खरैटी की जड़, काकोली, क्षीर काकोली, मेदा (अभाव में शतावरी), कालीमिरच, सोंठ, खांड, श्वेत कमल, रक्त कमल, पुनर्नवा (इट-सिट), हलदी, दारु हलदी, मुलेठी । प्रत्येक एक २ कर्ष (१ । १तोला) परिमित । यथाविधि कल्क बनाकर डाले और घृत, स्वरसादि तथा घृतापेक्ष चतुर्गुण जल देकर यथाविधि पाक करे । उत्तम पाक हो जाने पर यथाविधि वस्त्र से छानकर (काच पात्र में) ग्रहण करे । इसके सेवन करने से—रतौंधा, नकुलान्ध्य (दिन में अनेक प्रकाशमान पदार्थों को देखना), नेत्रकी खाज, पिल्ल (कुकरे), नेत्र का जल-स्राव पटलरोग, तिमिररोग, काच (मोतियाविन्द) रोग नष्ट होते हैं । एवं नेत्र-भाग के तथा शिरोगत अनेक भयकर रोग (शिराहर्ष, शिरोत्पात, अन्यतोवात आदि २) नष्ट होते हैं । यह त्रिफला घृत पान करने और नस्यादि कर्म में भी प्रयोग किया जाता है ॥६६—७१॥

मात्रा—½—१ तोला । अनुपानार्थ—शृतोष्ण गोदूध वा बकरी का दूध देवे ।

अथ व्रणे गौराद्य घृतम्—

द्वे हरिद्रे स्थिरा मूर्वा सारिवा चन्दनद्वयम् ।
मधुपर्णी च मधुकपद्मकेशरपद्मकैः ॥७२॥
उत्पलोशीरमेदाभिस्त्रिफलापञ्चवल्कलैः ।
कल्कैः कर्षमितैरेतैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥७३॥

विसर्पलूताविस्फोटविषकीटव्रणापहम् ।
गौराद्यमिति विख्यातं सर्पिर्विषहरं परम् ॥७४॥

पाकार्थ—गव्यघृत १ प्रस्थ । कल्कार्थ द्रव्य—हलदी, दारु हलदी, शालपर्णी, मूर्वा, अनन्तमूल, लालचन्दन, श्वेतचन्दन, मधुपर्णी (माषपर्णी), मुलेठी, कमलकेशर, पद्माख, नील कमल, खस, मेदा (अभाव में शतावरी मूल), हरड, बहेडा, आमला, पञ्चवल्कल (वट (वरगद) की छाल, गूलर की छाल, पीपल की छल, पारीस पीपल की छाल तथा वेतस की छाल)। प्रत्येक एक २ कर्ष (सवा २ तोला) परिमित। यथाविधि कल्क बनाकर मूर्च्छित घृत में डाले और कल्क पाकार्थ चतुर्गुण जल मिलाकर यथाविधि शनै. २ पाक करे। उत्तम पाक होने पर वस्त्रद्वारा छानकर ग्रहण करे। इसके प्रयोग करने से विसर्परोग, लूता (सविष कीटज व्रण शोथ), विस्फोट, सविप कीटोद्भव व्रण नष्ट होते हैं। यह गौराद्य घृत समस्त विष वाधा को नष्ट करता है ॥७२—७४॥

वक्तव्य—गौराद्यघृत—अन्त और बाह्य उभयात्मक प्रयोग होता है। पान करने से रुधिर विकार और विष जनित प्रभाव नष्ट होते हैं। व्रणशोथ, विसर्प आदि में इसका बाह्य प्रयोग करना उचित होता है। मात्रा—पानार्थ साधारण रक्त विकारादि के लिये १ तोला तक। एव भयंकर विष वाधा अथवा तत्काल आशु प्राण घातक विष प्रभाव को नष्ट करने के लिये वयोबल ऋतु आदि के तारतम्य के अनुसार ५—१० तोला तक भी व्यवहार में आता है। इसका ऐसा तीव्र प्रयोग प्राय सर्प विष दमनार्थ किया जाता है। अनुपान—गुडूची क्वाथ, तुलसीरस, यथाक्रम।

अथ शिरोरोगादौ मयूरघृतम्—

बलामधुकरास्नाभिर्दशमूलफलात्रिकैः ।
पृथग्द्विपलिकैरेभिर्द्रोणनीरेण पाचयेत् ॥७५॥
मयूरं पत्तपित्तान्त्रयकृत्पादास्यवर्जितम् ।
पादशेषं शृतं नीत्वा क्षीरं दत्त्वा च तत्समम् ॥७६॥
घृतप्रस्थं पचेत्सम्यग्जीवनीयैः पिचून्मितैः ।
तत्सिद्धं शिरसः पीडां मन्याग्रीवाग्रहं तथा ॥७७॥
अर्दितं कर्णनासाक्षिजिह्वागलरुजो जयेत् ।
पाने नस्ये तथाऽभ्यङ्गे कर्णपूरेषु युज्यते ॥७८॥
हेमन्तकालशिशिरवसन्तेषु च शस्यते ।

पाकार्थ—गव्यघृत १ प्रस्थ। क्वथनीय द्रव्य—बला, मुलेठी, रास्ना, दशमूल (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, बडी कटेरी, छोटी कटेरी, गोखरू, अरनी, पाटला, श्योनाक,

गम्भारी, विल्व—सब की छाल), हरीड, बहेडा, आमला । प्रत्येक द्रव्य २ । २ पल (१०।१०तोला, मिलित ८२ सेर)।पख, पित्ता, अतडियें, यकृत, पैर और चोंच से वर्जित मयूर (मोर) मास ८२ सेर । क्वाथ साधनार्थ—जल ३२ सेर । अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ ४ सेर । कल्कद्रव—जीवनीयगण (काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवती तथा मुलेठी)—यह दश औषध प्रत्येक एक २ पिचु परिमित (सवा २ तोला) । गव्यदुग्ध ४ सेर । यथाविधि घृत पाक करके स्वच्छ वस्त्र से छानकर काच पात्र में ग्रहण करे । इसके सेवन करने से शिर की पीडा, मन्या तथा ग्रीवाग्रह, अर्दित (लकवा) रोग तथा कर्ण, नासा, आख, जिह्वा, गला—इन सबके रोग नष्ट होते हैं । एवं यह मयूरादि घृत-पीने में, नस्य कर्म में, मालिश में, कर्ण पूरणादि में सब प्रकार से प्रयुक्त होता है । इसका प्रयोग (सर्वथा और सर्वदा) हेमन्त ऋतु, शिशिर ऋतु और वसन्त ऋतु में हितकर होता है ।

वक्तव्य—(१)दशमूल की औषधों को भली प्रकार कूटना होता है । (२) मोर के मास को सुकुट्टित (कीमा) बनाकर ग्रहण करना । (३) घृत को यथाविधि मूर्च्छन करके प्रथम क्वाथ से पाक करे । तत्पश्चात् दूध से । (४) अन्तिम पाक कल्क की औषधों से चतुर्गुण (४ सेर) जल डालकर फेन शान्ति तक पाक करे । (५) इसको विशेप रीत्या शिशिरादि ऋतुओं में सेवन का विधान है। अन्य ऋतुओं में सेवन किया हुआ यह दोपकर होता है । यथा—

हेमन्तकाले शिशिरे च सेव्यं वसन्तकाले च मयूरसर्पिः ।
उष्णाद्विदाही विषभक्षणाच्च वर्षाशरद्ग्रीष्ममुखेष्वपथ्यम् ॥
आहारजातं हि विहङ्गमस्य कीटाश्च सर्पाश्च सरीसृपाश्च ।
पिपीलिकामत्कुणमक्षिकाश्च तेनोष्णकालेष्वहितो मयूरः ॥
तथैव काले जलदाभिरामे विसृज्य शुक्रं च बलं च बर्ही ।
कृशत्वमायात्यतिदीनभावात् शरन्मुखे तेन विवर्जनीयम् ॥(आ०दी०)

(६) इसमें दूध को स्नेह के समान ग्रहण करने के पक्ष में भी कई सम्मतिया हैं । परन्तु मासीय उष्णता को शात रखने के लिये दूध को स्नेह मानाच्चतुर्गुण ग्रहण करना भी बहुसम्मत है और युक्तिसगत भी है। मात्रा—३—६ मासा (पान मात्रा)। अनुपान—गोदूध । शिरोरोग एव ऊर्ध्वजत्रु रोगों को चमत्कारपूर्वक दूर करता है ।

अथ वन्ध्यादोषे फलघृतम्—

त्रिफला मधुकं कुष्ठं द्वे निशे कटुरोहिणी ॥७९॥
विडङ्गं पिप्पली मुस्ता विशाला कट्फलं वचा ।
द्वे मेदे द्वे च काकोल्यौ सारिवे द्वे प्रियङ्गुका ॥८०॥
शतपुष्पा हिङ्गु रास्ना चन्दनं रक्तचन्दनम् ।

जातीपुष्पं तुगाक्षीरी कमलं शर्करा तथा ॥८१॥
अजमोदा च दन्ती च कल्कैरेतैश्च कार्षिकैः ।
जीवद्वत्सैकवर्णाया घृतप्रस्थं च गोः क्षिपेत् ॥८२॥
चतुर्गुणेन पयसा पचेदारण्यगोमयैः ।
सुतिथौ पुष्यनक्षत्रे मृद्भाण्डे ताम्रजे तथा ॥८३॥
ततः पिबेच्छुभदिने नारी वा पुरुषोऽथवा ।
एतत्सर्पिर्नरः पीत्वा स्त्रीषु नित्यं वृषायते ॥८४॥
पुत्रानुत्पादयेद्धीमान् वन्ध्यापि लभते सुतम् ।
अनायुषं या जनयेद्या च सूता पुनः स्थिता ॥८५॥
पुत्रं प्राप्नोति सा नारी बुद्धिमन्तं शतायुषम् ।
एतत्फलघृतं नाम भारद्वाजेन भाषितम् ॥८६॥
अनुक्तं लक्ष्मणामूलं क्षिपेत्तत्र चिकित्सकः ।

जिस गौ के शरीर का शुद्ध एक वर्ण हो तथा जिसका बचा जीवित हो, ऐसी गौ का पाकार्थ—विशुद्ध और उत्तम घृत १ प्रस्थ । कल्कार्थ कल्कद्रव्य—हरड, बहेडा, आमला, मुलहठी, कूठ, हलदी, दारुहलदी, कुटकी, वायविडङ्ग, कालीपीपल, नागरमोथा, इन्द्रायण की जड, कायफल, वच, मेदा, महामेदा (अभाव में शतावरी), काकोली, क्षीरकाकोली, अनन्तमूल, श्यामालता, प्रियगु, मीठी सौंफ, हींग, रास्ना, श्वेतचन्दन, लालचन्दन, चमेली के फूल, वंशलोचन, कमलपुष्प, खांड, अजमोद (जगली अजवायन, इसके बारीक दाने होते हैं), दन्तीमूल (जमालगोटे की जड़) । प्रत्येक एक २ कर्ष परिमित । यथाविधि कल्करूप में परिणत करके नियमानुसार प्रयोग करे । गोदूध ४ प्रस्थ (यह भी एक वर्ण और जीवितवत्सा का ग्रहण करे) । प्रथम घृत का मूर्च्छन संस्कार करे, तत्पश्चात् दुग्धपाक । (एव यदि शतावरी रस डालना हो तो दुग्धपाकानन्तर रसपाक करे) अन्तिमपाक कल्क से सिद्ध करे । इस कल्कपाक में ४ प्रस्थ जल डालकर पकावे । इस प्रकार यथाविधि घृत सिद्ध करके स्वच्छ वस्त्र से छानकर शुद्ध और शुचि मिट्टी अथवा ताम्र रचित पात्र में स्थापन करे । इसके पाक में जङ्गली उपलों की अग्नि प्रयोग करे । इस घृत को शुभ तिथि और पुष्य नक्षत्र तथा शुभ दिन से स्त्री वा पुरुष पान करें । इस घृत के सेवन से पुरुषों को स्त्रीसहवास के समय अतिप्रबल वृषता-

---

१ इस योग में चक्रदत्त ने उपरोक्त वस्तुसंग्रह से भिन्न शतावरी रस घृत से चतुर्गुण दिया है । यथा—

'शतावरीरसक्षीर घृताद्देयं चतुर्गुणम्' । यह उचित है ।

(बैल के सदृश सम्भोगक्षमता) प्राप्त होती है। स्त्रियां बुद्धिमान् पुत्रों को उत्पन्न करती हैं। वन्ध्या स्त्री भी पुत्रवती हो जाती है। जो स्त्रियां अनायु किंवा अल्प आयुवाली संतान को उत्पन्न करती हैं तथा जो कन्याओं को ही उत्पन्न करती हैं, वह भी सौ वर्ष की आयुवाले बुद्धिमान् पुत्र को प्राप्त करती हैं। यह फलघृत भारद्वाज ऋषि द्वारा कहा गया है। इस घृत में गुणवृद्ध्यर्थ अनुभवी चिकित्सक लक्ष्मणा-मूल को न कहने पर भी उसे डाल देते हैं ॥७६—८६॥

वक्तव्य—(१) जंगली उपलों की अग्नि से आचार्य का अभिप्राय मीठी २ आंच से है। उपलों की अग्नि से घृत दग्ध होने का लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। इसका पाक अत्यन्त सावधानी और मन्द आंच से किया जाता है। (२) लक्ष्मणामूल कल्क में दिया जाता है। यह प्रसिद्ध गर्भकारक औषध है। इस घृत में इसका प्रयोग अवश्य होना चाहिये। इसे श्वेतपुष्पा कटकारी कहते हैं। (३) लक्ष्मणा के लक्षण—

पुत्रकाकाररक्ताल्पबिन्दुभिर्लाञ्छिता सदा।
लक्ष्मणा पुत्रजननी वस्तगन्धाकृतिर्भवेत् ॥
शरत्काले भवति सा फलपुष्पाऽन्विता सदा।
गृह्णीयात्पुष्पमूलार्के हस्तार्के चाभिमन्त्र्य च ॥

(४) मात्रा साधारणतया आधा तोला से एक तोला तक। अनुपानार्थ—एक वर्ण और जीवितवत्सा गौ का श्रृतोष्ण दूध। (५) पथ्य—इसके प्रयोगकाल में विदाही, अत्युष्ण, गुरुपाकी, विष्टम्भी भोजन न करे। पत्रशाक तथा कन्द भक्षण भी न करे। सहवास सर्वथा परिहेय है। स्त्री चतुर्थ दिवस के स्नान के पश्चात सर्वप्रथम पतिहस्त से इसका ग्रहण करे।

अथ विषमज्वरादौ पञ्चतिक्तक घृतम्—

वृषनिम्बामृताव्याघ्रीपटोलानां शृतेन च ॥८७॥
कल्केन पक्वं सर्पिस्तु निहन्याद्विषमज्वरान् ।
पाण्डुं कुष्ठं विसर्पं च कृमीनर्शांसि नाशयेत् ॥८८॥

पाकार्थ—गव्यघृत १ सेर। क्वाथ्यद्रव्य—अडूसे की छाल, नीम की छाल, गिलोय, छोटी कटेरी, पटोलपत्र। मिलित २ सेर। क्वाथार्थ जल १६ सेर। अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ ४ सेर। कल्कद्रव्य—वासा मूलत्वक्, निम्बत्वक्, गुडूची, छोटी कटेरी, पटोलपत्र, मिलित १ पाव। कल्क पाकार्थ जल ४ सेर। यथाविधि प्रथम क्वाथपाक—पुनः कल्कपाक द्वारा सिद्ध किये हुए इस घृत को स्वच्छ वस्त्र से छान लेवे। इसके सेवन करने से विषमज्वर, पाण्डुरोग, कुष्ठ, विसर्प, क्रिमी और बवासीर—यह सब नष्ट होते हैं ॥ ८७—८८॥

वक्तव्य—मात्रा—½—१ तोला। अनुपान—गुडूची क्वाथ अथवा दूध।

अथ योनिरोगे लघुफलघृतम्—

त्रिफलां द्वे सहचरे गुडूचीं सपुनर्नवाम् ।

शुकनासां हरिद्रे द्वे रास्नां मेदां शतावरीम् ॥८९॥
कल्कीकृत्य घृतप्रस्थं पचेत्क्षीरे चतुर्गुणे ।
तात्सिद्धं पाययेन्नारीं योनिशूलनिपीडिताम् ॥९०॥
पीडिता चलिता या च निःसृता विवृता च या ।
पित्तयोनिश्च विभ्रान्ता षण्ढयोनिश्च या स्मृता ॥९१॥
प्रपद्यन्ते हि ताः स्थानं गर्भं गृह्णन्ति चासकृत् ।
एतत्फलघृतं नाम योनिदोषहरं परम् ॥९२॥

पाकार्थ—गव्यघृत १ प्रस्थ (१ सेर)। गोदूध ४ प्रस्थ (४ सेर)। कल्कद्रव्य—हरड़, बहेड़ा, आमला, सफेद फूल का कटसरैया, पियाबांसा, गिलोय, पुनर्नवा (इटसिट, गदा पुन्ना), शुकनासा (एक प्रकार का वटवृक्ष अथवा शूकशिम्बी), हलदी, दारुहलदी, रास्ना, मेदा, शतावरी—यह सब मिलित घृत से चतुर्थांश (१ पाव)। पाकार्थ जल ४ सेर। यथाविधि घृतपाक करे और स्वच्छ वस्त्र से छानकर उचित पात्र में रख ले। इस घृत के सेवन से योनिशूल दूर हो जाता है और पिण्डित (संकुचित, सूचिवक्त्रा), चलिता (स्वस्थानच्युता), निःसृता (बाहर आई हुई), विकृता (अन्तर्गता-पश्चाद्गता वा), विवृता (विस्तृता-फैली हुई), पित्तयोनि (पित्तला), विभ्रान्ता (स्थान-भ्रष्टा) तथा षण्ढयोनि (जो सन्तान उत्पन्न न करे)—इन रोगों से युक्त योनियाँ रोग मुक्त होकर अपने २ स्थान पर चली जाती हैं और उन में बार २ गर्भ धारण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह फलघृत सम्पूर्ण और उग्र योनिरोगों को नष्ट करने के लिये उत्तम औषध है ॥८९—९२॥

वक्तव्य—आयुर्वेद में योनिरोगों से अभिप्राय गर्भाशयगत रोगों से है। इस में जिन २ रोगों का नाम आया है वह प्राय गर्भाशय से सम्बन्धित हैं। मात्रा—१ तोला। अनुपानार्थ—दूध। तीव्र व्यथा से प्रवृत्त होने वाले रज. स्राव के लिये अचूक औषध है।

अथ तैलसाधनविधाने लाक्षादितैलम् —

लाक्षाढकं क्वाथयित्वा जलस्य चतुराढकैः ।
चतुर्थांशं शृतं नीत्वा तैलप्रस्थे विनिक्षिपेत् ॥९३॥
मस्त्वाढकं च गोदध्नस्तत्रैव विनियोजयेत् ।
शतपुष्पामश्वगन्धां हरिद्रां देवदारु च ॥९४॥
कटुकीं रेणुकां मूर्वां कुष्ठं च मधुयष्टिकाम् ।
चन्दनं मुस्तकं रास्नां पृथक्कर्षप्रमाणतः ॥९५॥

चूर्णयेत्तत्र निक्षिप्य साधयेन्मृदुवह्निना।
अस्याभ्यङ्गात्प्रशाम्यन्ति सर्वेऽपि विषमज्वराः ॥९६॥
कासश्वासप्रतिश्यायत्रिकपृष्ठग्रहास्तथा।
वातं पित्तमपस्मारमुन्मादं यक्षराक्षसान् ॥९७॥
कण्डूं शूलं च दौर्गन्ध्यं गात्राणां स्फुरणं जयेत्।
पुष्टगर्भा भवेदस्य गर्भिण्यभ्यङ्गतो भृशम् ॥९८॥

पाकार्थ—तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। क्वाथार्थ—लाख वेर या पीपल की ४ सेर। लाक्षाक्वथनार्थ जल १६ सेर। लाक्षा का वस्त्रपूत अवशिष्ट क्वाथ ४ सेर। गोदधिमस्तु (गौ के दही का पानी) ४ सेर। कल्कद्रव्य—मीठी सौंफ, असगन्ध, हलदी, देवदारु, कुटकी, रेणुका, मूर्वा, कूठ, मुलेठी, श्वेतचन्दन, नागरमोथा, रास्ना—प्रत्येक एक २ कर्प (सवा २ तोला) परिमित। यथाविधि कल्क बना लेवे और चतुर्गुण जलडाल कर यथाविधि तैल साधन कर लेवे। इसके अभ्यंग (मालिश) से सम्पूर्ण प्रकार के विषमज्वर नष्ट होते हैं। एव खासी, दमा, प्रतिश्याय (नस्य से प्रयोग करे), कमर और पीठ का ग्रह (जकडना), वात विकार, पित्त विकार, अपस्मार (मृगी), उन्माद (पागलपन), यक्ष-राक्षस-बाधा, खाज, शूल, दुर्गन्ध (स्वेद दौर्गन्ध्य), अंगों का स्फुरण (फडकना)—यह सब रोग नष्ट होते हैं तथा गर्भिणी के शरीर पर इस का अभ्यग करने से गर्भगत बालक के अङ्ग पुष्ट होते हैं ॥९३—९८॥

वक्तव्य—विधि—इस तैल को प्रथम लाक्षारस मे पाक करे। तदनन्तर मस्तु से पाक करे। तत्पश्चात् कल्कद्रव्य और जल से अन्तिम पाक करे। पूर्ण पाक होने पर इसे स्वच्छ वस्त्र से छान कर उचित पात्रों में ग्रहण करे। वर्त्तमान में इसका अभ्यङ्ग प्रयोग—यक्ष्मा, शोष और पुराण ज्वर में एव कृश रोगियों के अग पोषणार्थ होता है।

अङ्गारतैलम्—

मूर्वा लाक्षा हरिद्रे द्वे माञ्जिष्ठा सेन्द्रवारुणी।
बृहती सैन्धवं कुष्ठं रास्ना मांसी शतावरी ॥९९॥
आरनालाढके तत्र तैलप्रस्थं विपाचयेत्।
तैलमङ्गारकं नाम सर्वज्वरविमोचनम् ॥१००॥

पाकार्थ—तिल तैल १ प्रस्थ। काजी ४ प्रस्थ। कल्क द्रव्य—मूर्वा, हलदी, दारु हलदी, मजीठ, इन्द्रायण, बड़ी कटेरी, सैन्धानमक, कूठ, रास्ना, जटामासी और शतावरी। प्रत्येक २।२ तोला। इनका यथाविधि कल्क करे और चतुर्गुण जल के साथ सब पदार्थ मिलाकर स्नेह पाक विधान से पाक करे। पूर्णपाक होने पर स्वच्छ वस्त्र से छान लेवे। यह अगार तैल (मर्दन करने से) सम्पूर्ण विषम ज्वरों को नष्ट करता है ॥९९—१००॥

अथ नारायणतैलम्—

अश्वगन्धां बलां बिल्वं पाटलां बृहतीद्वयम् ।
श्वदंष्ट्रातिबला निम्बं श्योनाकं च पुनर्नवा ॥१०१॥
प्रसारिणीमग्निमन्थं कुर्याद्दशपलं पृथक् ।
चतुर्द्रोणे जले पक्त्वा पादशेषं शृतं नयेत् ॥१०२॥
तैलाढकेन संयोज्य शतावर्या रसाढकम् ।
क्षिपेत्तत्र च गोक्षीरं तैलात्तस्माच्चतुर्गुणम् ॥१०३॥
शनैर्विपाचयेदेभिः कल्कैर्द्विपलिकैः पृथक् ।
कुष्ठैला चन्दनबला मांसी शैलेयसैन्धवैः ॥१०४॥
अश्वगन्धावचारास्नाशतपुष्पेन्द्रदारुभिः ।
पर्णीचतुष्टयेनैव तगरेण च साधयेत् ॥१०५॥
तत्तैलं नावनेऽभ्यङ्गे पाने बस्तौ च योजयेत् ।
पक्षाघातं हनुस्तम्भं मन्यास्तम्भं गलग्रहम् ॥१०६॥
खञ्जत्वं बाधिरत्वं च गतिभङ्गं कटिग्रहम् ।
गात्रशोषेन्द्रियध्वंसावसृक्शुक्रज्वरक्षयान् ॥१०७॥
अन्त्रवृद्धिं कुरण्डं च दन्तरोगं शिरोग्रहम् ।
पार्श्वशूलं च पाङ्गुल्यं बुद्धिहानिं च गृध्रसीम् ॥१०८॥
अन्यांश्च विषमान्वाताञ्जयेत्सर्वाङ्गसंश्रयान् ।
अस्य प्रभावाद्वन्ध्यापि नारी पुत्रं प्रसूयते ॥१०९॥
मर्त्यो गजो वा तुरगस्तैलादस्मात्सुखी भवेत् ।
यथा नारायणो देवो दुष्टदैत्यविनाशनः ॥११०॥
तथैव वातरोगाणां नाशनं तैलमुत्तमम् ।

पाकार्थ—तिल तैल ४ प्रस्थ (४ सेर)। क्वाथार्थ औषधें—असगन्ध, खरैटी की जड़, बेल की छाल, पाटला की छाल, बडी कटेरी, छोटी कटेरी, गोखरू, अतिबला (कघी), नीम की छाल, श्योनाक (टेंटू) की छाल, पुनर्नवामूल, प्रसारिणी (आर्द्र, मूलपत्र शाखा सहित), अरनी की छाल—प्रत्येक दश २ पल (आधा आधा सेर)। क्वाथ साधनार्थ स्वच्छ जल ४ द्रोण (१२८ सेर, द्रव द्वैगुण्य से द्विगुण)। अवशिष्ट वस्त्र-पूत क्वाथ १६ सेर। शतावरी रस ४ सेर। गोदूध १६ सेर। कल्कद्रव्य—कूठ, छोटी इलायची, श्वेतचन्दन, बलामूल (खरैटी की जड), जटामासी, शैलेय (शिलापुष्प), सैंधा

नमक, असगन्ध, वच, रास्ना, मीठी सौंफ, देवदारु, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, तगर—प्रत्येक औषध आठ २ तोला ग्रहण कर शिला पेषण से कल्क रूप में परिणत कर लेवे । उक्त समस्त वस्तु समुदाय को यथाविधि तैल साधन विधान स पाक करे। पूर्ण पाक होने पर स्वच्छ वस्त्र से छान कर काच पात्रों में भर कर रख देवे । इसका प्रयोग (कायिक रोगों को दूर करने के लिये) नावन (नस्य) द्वारा, अभ्यङ्ग (मालिश) द्वारा, पान द्वारा तथा वस्ति कर्म द्वारा व्यवहार में लावे । इसके प्रभाव से पक्षाघात, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, गलग्रह, खल्ली (वाऊंडे), वहिरापन, गतिभग (आङ्गिक व्यापार का नाश), कटिग्रह (कमरदर्द), गात्रशोप (वात प्रकोप से किसी शरीरावयव का सूख जाना), इन्द्रियध्वंस (कर्मेन्द्रियों की संज्ञा अथवा कार्य नाश), रक्तगत वातप्रकोप, शुक्रगत वातविकार, पुराण ज्वर, क्षय (शोप), अन्त्रवृद्धि (हरनिया), कुरण्ड (व्रध्न), दन्तरोग (शीताद आदि), शिरोग्रह, पार्श्व शूल, पाङ्गुल्य (लगडापन), मूर्खपना, गृध्रसी (रींगणवाय), एवं इसी प्रकार अन्य विषम गति रखने वाले वातविकार तथा सर्वाङ्गीण वातप्रकोप नष्ट होते हैं। इसके सेवन और प्रभाव से वन्ध्या स्त्री वन्ध्यात्व दोष से मुक्त होकर पुत्र को उत्पन्न करती है। इसका प्रभाव न सिर्फ मनुष्यों पर ही प्रभाव करता है प्रत्युत हाथी और घोडों पर भी इस का वैसा ही प्रभाव होता है । हाथी और घोडे भी इसके प्रभाव से रोग मुक्त होकर सुखी होते हैं । अर्थात् इनके शरीरों में होने वाले वातरोग नष्ट होते हैं । जिस प्रकार विष्णु भगवान् दुष्ट (दुःखप्रद) दैत्यों का नाश करते हैं उसी प्रकार यह उत्तम तल समस्त वातरोगों को नष्ट करता है ॥१०१—११०॥

वक्तव्य—इसके चार पाक किये जाते हैं। प्रथम पाक—यथाविधि प्राप्त किये हुए क्वाथ से । दूसरा पाक—यथाविधि प्राप्त किये शतावरी रस से । तीसरा पाक—गोदूध से । चौथा पाक—कल्क और स्नेहापेक्ष चतुर्गुण जल से । परिपाक लक्षण पूर्वोक्त। इसे सुगन्धित करने के लिये इसका सुगन्ध पाक पूर्वाचार्यों ने और कहा है । वह इस प्रकार है—

समङ्गानखकक्कोलनलिकाजातिकोषकम् ।
त्वक्कुन्दुरुष्ककर्पूरतुरुष्कश्रीनिवासकम् ॥
स्पृक्का कुङ्कुमकस्तूरी दद्यादत्रावतारिते ।

अर्थात् मंजीठ, नखी (यह नखाकृति गन्धप्रधान द्रव्य है), शीतलचीनी, नलिका (रत्नजोत), जावित्री, दारचीनी, कुन्दरु (लोहबाण), कर्पूर, तुरुष्क (सिल्हकनिर्यास अथवा पुष्प), लवंग, स्पृक्का, केशर, कस्तूरी । प्रत्येक पदार्थ समान। इन सब का कुट्टित चूर्ण तैल से षोडशांश हो ।

विधि—गन्ध द्रव्यों के चूर्ण को स्वच्छ वस्त्र में बाँधकर पोटली बना लेवे और सिद्ध तैल को स्वच्छ पात्र में भरकर पोटली को उस में डाल दे । पुन. इस पात्र का मुख ढककर चूल्हे पर रख देवे । तैल को केवल उष्णमात्र करना है ।

एक बार उष्ण करके इसे १० दिन तक पडा रहने दे । पश्चात् पोटली निष्पीडन करके तैल को बोतलों में भर लेवे । इससे यह अत्यन्त सुगन्धित और गुणाढ्य हो जाता है ।

अथ कम्परोगे वारुणीतैलम्—

वारुण्या औत्तरं मूलं कुट्टितं तु पलत्रयम् ॥१११॥
पलद्वादशकं तैलं चणं वह्नौ विपाचितम् ।
निष्कत्रयं भक्तयुक्तं सेवेतास्माद्विनश्यति ॥११२॥
हस्तकम्पः शिरःकम्पः कम्पो मन्याशिराभवः ।

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल १२ पल (४८ तोला)। कल्कार्थ—सुकुट्टित इन्द्रायण की जड़ ३ पल (१२ तोले) । दोनों को मिलाकर किंचित्काल अग्निद्वारा पकावे । उचित पाक होने पर स्वच्छ वस्त्र से छान लेवे । तीन निष्क (६ माशा) की मात्रा से भक्त (साठी के पुराने चावलों के भात) से सेवन करने से हस्तकम्प (हाथ का कांपना), शिर कम्प (शिर का हिलते रहना) तथा ग्रीवा की शिराओं का कापना नष्ट होता है ॥१११—११२॥

वक्तव्य—चिकित्सक लोग उक्त तैल का व्यवहार करते हैं और उक्त रोगों में यह तैल लाभ करता है । इसके अतिरिक्त पुराने उपदंश अथवा फिरङ्ग के शरीरान्तर्गत विष को नष्ट करता है । विधि—तैल के साथ इन्द्रवारुणी को लाल होने पर्यन्त पकाया जाता है । इस पाक में जल प्रयोग नही होता । पाक में पूर्ण सावधान रहने की आवश्यकता है, कल्क दग्ध न हो जाये ।

अथ बलाद्य तैलम्—

बलामूलकषायेण दशमूलश्रृतेन च ॥११३॥
कुलत्थयवकोलानां क्वाथेन पयसा तथा ।
अष्टाष्टभागयुक्तेन भागमेकं च तैलतः ॥११४॥
गणेन जीवनीयेन शतावर्येन्द्रदारुणा ।
मञ्जिष्ठाकुष्ठशैलेयतगरागरुसैन्धवैः ॥११५॥
वचापुनर्नवामांसीसारिवाद्वयपत्रकैः ।
शतपुष्पाश्वगन्धाभ्यामेलया च विपाचयेत् ॥११६॥
गर्भार्थिनीनां नारीणां नराणां क्षीणरेतसाम् ।
व्यायामक्षीणगात्राणां सूतिकानां च युज्यते ॥११७॥
राजयोग्यमिदं तैलं सुखिनां च विशेषतः ।
बलातैलमिति ख्यातं सर्ववातामयापहम् ॥११८॥

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल ४ सेर। क्वाथ्यद्रव्य—(१) खरैटी की जड़ ८ सेर। इसके क्वाथ के लिये पानी १२८ सेर। अवशिष्ट वस्त्रपूत बलाक्वाथ ३२ सेर। (२) दशमूल (शालपर्णी. पृष्टपर्णी. छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी. गोखरू. अरनी की छाल बिल्व की छाल गम्भारी की छाल श्योनाक की छाल. पाटल की छाल) मिलित ८ सेर क्वाथ साधनार्थ जल १२८ सेर शेष वस्त्रपूत दशमूलक्वाथ ३२ सेर। (३) जौ कोल (शुष्क बदरीफल) कुलथी (अन्न)। मिलित ८ सेर। इनके क्वाथ साधनार्थ जल १२८ सेर. शेष वस्त्रपूत यवादि का क्वाथ ३२ सेर। गव्यदुग्ध ३२ सेर। कल्कद्रव्य—जीवनीयगण (काकोली. क्षीरकाकोली. जीवक, ऋषभक. मेदा महामेदा मुलेठी जीवन्ती मुद्गपर्णी. माषपर्णी). शतावरी. देवदारु मजीठ कूठ शैलेय (गिलापुष्प) तगर अगरु सैन्धव. वचा पुनर्नवा. जटामासी. अनन्तमूल श्यामालता. तेजपत्र मीठी सौंफ असगन्ध इलायची छोटी। उपरोक्त समस्त औषधें मिलित २ सेर। कल्कपाकार्थ जल ३२ सेर। सम्प्रदायविधि से इस तैल का उचित पाक करे। पूर्ण पाक हो जाने पर स्वच्छ वस्त्र से छानकर इस के योग्य उचित पात्रों में रख देवे। गर्भ प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाली स्त्रियों को तथा क्षीणरेतस (जिन का वीर्य दुर्बल हो गया हो) पुरुषों को एवं अधिक व्यायाम से जिनका शरीर दुर्बल हो गया हो और जो स्त्रियां प्रसूत की व्याधियों से पीडित हों उनके लिये इस बलातैल का प्रयोग अतीव लाभदायक है। यह तैल राजाओं के योग्य अथवा राजा के सदृश ऐश्वर्यशाली जनों को तथा सुखी (धनाढ्य अथवा सुकुमार) मनुष्यों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। एवं यह बलातैल सम्पूर्ण वातरोगों को नष्ट करता है ॥११३—११८॥

वक्तव्य—इस तैल के साधन में द्रव द्वैगुण्य परिभाषा का मान ग्रहण करे। इस योग से प्रयोज्य तैल का यथाविधि मूर्च्छा पाक करे। तदनन्तर प्रथम पाक—बलामूल कषाय से करे। दूसरा पाक—दशमूल के क्वाथ से करे। तीसरा पाक—यवादि के क्वाथ से करे। चौथा पाक—गोदुग्ध से करे। पांचवा पाक—कल्क और ३२ सेर जल डालकर करे। इस प्रकार पांच पाकों द्वारा यह निष्पन्न होता है। इस का प्रयोग पीने में तथा मर्दन. पिचुधारण. बस्ति, पूरण. सिंचन आदि अनेक विधानों में होता है। वाग्भट्ट तथा अन्य ग्रन्थकारों ने सूतिका रोगों के लिये इसे प्रचुरता से प्रयोग किया है। कई इस तैल के दशपाक करके इसे 'दशपाक' बलातैल कहते हैं। उनके मत में दशपाक इस प्रकार होते हैं—

(१) बलाकषाय। (२) दशमूलक्वाथ। (३) कुलत्थ। (४) कोलकषाय। (५) जौ का कषाय। (६) दूध से। (७) जीवनीय क्वाथ से। (८) शतावरी रस से। (९) देवदारु कषाय से। (१०) कल्क से।

अथ प्रसारिणीतैलम्—

प्रसारिणीपलशतं जलद्रोणे विपाचयेत् ।

पादशिष्टः शृतो ग्राह्यस्तैलं दधि च तत्समम् ॥११९॥
काञ्जिकं च समं तैलात्क्षीरं तैलाच्चतुर्गुणम् ।
तैलात्तथाष्टमांशेन सर्वकल्कानि योजयेत् ॥१२०॥
मधुकं पिप्पलीमूलं चित्रकः सैन्धवं वचा ।
प्रसारिणी देवदारु रास्ना च गजपिप्पली ॥१२१॥
भल्लातः शतपुष्पा च मांसी चैभिर्विपाचयेत् ।
एतत्तैलं वरं पक्कं वातश्लेष्मामयाञ्जयेत् ॥१२२॥
कौब्जं पङ्गुत्वखञ्जत्वे गृध्रसीमर्दितं तथा ।
हनुपृष्ठशिरोग्रीवाकटिस्तम्भं च नाशयेत् ॥१२३॥
अन्यांश्च विषमान् वातान् सर्वानाशु व्यपोहति ।

प्रसारिणी (हरित-मूल, पत्र, शाखा सहित) ५ सेर । क्वाथार्थ जल ३२ सेर। अवशिष्ट वस्त्रपूत प्रसारिणी क्वाथ ४ सेर । पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल ४ सेर। दधि ४ सेर । कांजी ४ सेर । गोदूध १६ सेर । कल्क द्रव्य—मुलेठी, पिप्पली मूल, चीते की छाल, सैन्धानमक, वच, प्रसारिणी, देवदारु, रास्ना, गजपीपल, भिलावा, मीठी सौंफ, जटामांसी। समस्त मिलित द्रव्य तैल से अष्टमाश (आधा सेर) । यथाविधि परिसाधित तैल को स्वच्छ वस्त्र से छानकर योग्य पात्र में रख लेवे । इसके प्रयोग से वातकफ के विकार नष्ट होते हैं। कुबड़ापन, लगडापन, खंज, गृध्रसी, अर्दित (लक़वा), हनु, पृष्ठ, शिर, ग्रीवा, कमर,-इनस्थानों का स्तम्भ (जकडना अथवा पीडादि वातविकार) नाश होतेहैं । एवं अन्य विषम (कभी हों कभी न हों) वात विकार शीघ्र दूर होते हैं ॥११९—१२३॥

अथ माषादितैलम्—

माषा यवातसी क्षुद्रा मर्कटी च कुरण्टकः ॥१२४॥
गोकण्टष्टुण्टुकश्चैषां कुर्यात्सप्तपलं पृथक् ।
चतुर्गुणाम्बुना पक्त्वा पादशेषं शृतं नयेत् ॥१२५॥
कार्पासास्थीनि बदरं शणबीजं कुलत्थकम् ।
पृथक् चतुर्दशपलं चतुर्गुणजले पचेत् ॥१२६॥
चतुर्थांशावशिष्टं च गृह्णीयात्क्वाथमुत्तमम् ।
प्रस्थैकं छागमांसस्य चतुःषष्टिपले जले ॥१२७॥
निक्षिप्य पाचयेद्धीमान् पादशेषं शृतं नयेत् ।
तैलप्रस्थे ततः सर्वान् क्वाथानेतान् विनिक्षिपेत् ॥१२८॥

कल्कैरेभिश्च विपचेदमृताकुष्ठनागरैः ।
रास्नापुनर्नवैरण्डैः पिप्पल्या शतपुष्पया ॥१२६॥
बलाप्रसारिणीभ्यां च मांस्या कटुकया तथा ।
पृथगर्धपलैरेतैः साधयेन्मृदुवह्निना ॥१३०॥
हन्यात्तैलमिदं शीघ्रं ग्रीवास्तम्भापबाहुकौ ।
अर्धाङ्गशोषमाक्षेपमूरुस्तम्भापतानकौ ॥१३१॥
शाखाकम्पं शिरःकम्पं विश्वाचीमर्दितं तथा ।
माषादिकमिदं तैलं सर्ववातविकारनुत् ॥१३२॥

पाकार्थ—विशुद्ध तिल तैल १ प्रस्थ (१ सेर)। क्वथनीय द्रव्य—(१) माष (उडद), जौं (अन्न), अलसी, छोटी कटेरी, कौंच कीजड़, कुरटक (पियावांसा), गोखरू टुण्टुक (श्योनाक मूल की छाल)। प्रत्येक सात ७ पल (मिलित ५६ पल—२ सेर १२ छ० ४ तोला)। काथार्थ—जल क्वथनीय द्रव्यों से चतुर्गुण (११ सेर १६ तोले सम्प्रदायानुसार, १५ सेर डाले)। अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ ४ सेर। (२) बिनोले बेर (शुष्क), शणबीज, कुलथी। प्रत्येक १४।१४ पल (मिलित २ सेर १२ छ० ४ तोले)। पाकार्थ—जल १५ सेर। अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ ४ सेर। बकरे का मास १ प्रस्थ (१ सेर)। मास पाकार्थ जल ६४ पल (३ सेर १६ तोले। सम्प्रदाय व्यवहारानुसार ८ सेर)। अवशिष्ट मास क्वाथ १ सेर। कल्कद्रव्य—गिलोय, कूठ, सोंठ, रास्ना, पुनर्नवा, एरण्ड मूलत्वक्, काली पीपल, मीठी सौंफ, खरैटी की जड, प्रसारिणी, जटामासी, कुटकी। प्रत्येक आधा २ पल (२॥-२॥ तोला)। यथाविधि मन्दाग्नि से परिसाधित तैल स्वच्छ वस्त्र से छानकर उचित पात्र में स्थापन करे। इसके प्रयोग से—ग्रीवास्तम्भ, अपबाहुक, अर्धांग (फालिज), शोष (यक्ष्मा अथवा शरीर के आधे भाग का सूखना), आक्षेप, ऊरुस्तम्भ, अपतानक, बाहुकम्प, शिरोकम्प, विश्वाची, अर्दित आदि रोग शीघ्र नष्ट होते हैं। तथा यह माषादि तैल वायु जनित समस्त विकारों को नष्ट करता है ॥१२४—१३२॥

वक्तव्य—ऊपर जिन औषध द्रव्यों का पृथक् २ पाक किया है उन्हें प्रथम क्वाथ बनाने योग्य कूट लेना चाहिये। तथा कल्क की औषधों को यथाविधि शिला द्वारा पीस लेना। इनके भी पृथक् २ उसी प्रकार पाक होंगे जिस प्रकार पीछे बला तैल में पाक किये गये हैं। यह माषादि तैल समस्त वातरोगों पर रामबाण के सदृश लाभ करता है।

अथ वानव्याधौ शतावरीतैलम्—

शतावरी बलायुग्मं पर्ण्यौ गन्धर्वहस्तकः ।
अश्वगन्धा श्वदंष्ट्रश्च बिल्वः काशः कुरण्टकः ॥१३३॥

एतान् सार्धपलान्भागान् कल्पयेच्च विपाचयेत् ।
चतुर्गुणेन नीरेण पादशेषं शृतं नयेत् ॥१३४॥
नियोज्य तैलप्रस्थे च क्षीरप्रस्थं विनिक्षिपेत् ।
शतावरीरसप्रस्थं जलप्रस्थं च योजयेत् ॥१३५॥
शतावरीदेवदारुमांसीतगरचन्दनम् ।
शतपुष्पा बला कुष्ठमेला शैलेयमुत्पलम् ॥१३६॥
ऋद्धिर्मेदा च मधुकं काकोली जीवकस्तथा ।
एषां कर्षसमैः कल्कैस्तैलं गोमयवह्निना ॥१३७॥
पचेत्तन्मूर्धतैलेन नरः स्त्रीषु वृषायते ।
नारी च लभते पुत्रं योनिशूलं च नश्यति ॥१३८॥
अङ्गशूलं शिरःशूलं कामलां पाण्डुतां गरम् ।
गृध्रसीप्लीहशोषांश्च मेहान्दण्डापतानकम् ॥१३९॥
सदाहं वातरक्तं च वातपित्तगदार्दितम् ।
असृग्दरं तथाध्मानं रक्तपित्तं च नश्यति ॥१४०॥
शतावरीतैलमिदं कृष्णात्रेयेण भाषितम् ।
ॐ नारायण्यै स्वाहा ॥
उत्तराभिमुखो भूत्वा खनेत्खदिरशंकुना ॥१४१॥
ॐ सर्वव्याधिनाशिन्यै स्वाहा । इत्युत्पाटनमन्त्रः ।
ॐ कुमारजीविन्यै स्वाहा । इति पानमन्त्रः ।

पाकसाधनार्थ—विशुद्ध तिल तैल १ प्रस्थ (१सेर)। क्वथनीय द्रव्य—शतावरी, खरैटी की जड़, गंगेरन, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, एरण्डमूलत्वक्, असगन्ध, गोखरू, विल्वमूलत्वक्, कांस की जड़, पियाबांसा। प्रत्येक डेढ २ पल (६—६ तोला, मिलित ६६ तोला—१३ छ० १ तोला, (सम्प्रदायानुसार १ सेर लेवे) यथाविधि कूटकर क्वाथ पाकार्थ जल ४ सेर (द्रवद्वैगुण्य परिभाषा से ८ सेर)। अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ १ प्रस्थ (१सेर)। गोदूध १ प्रस्थ। शतावरी का रस १ प्रस्थ। (रस के अभाव में क्वाथार्थ शतावरी १ सेर, जल ८ सेर, अवशिष्ट शतावरी क्वाथ १ प्रस्थ (१ सेर)। कल्कद्रव्य—शतावर, देवदारु, जटामासी, तगर, श्वेतचन्दन, मीठी सौंफ, खरैटी की जड, कूठ, छोटी इलायची, शैलेय (शिलापुष्प, छैलछलीरा), कमलपुष्प, ऋद्धि,

१ 'साधनीये' इत्यपि पाठ ।

मेदा, मुलहठी, काकोली, जीवक। प्रत्येक द्रव्य पृथक् २ एक २ कर्ष परिमित (सवा २ तोला) लेवे और यथाविधि कल्करूप में परिणत करे। कल्कपाकार्थ जल ४ प्रस्थ (४ सेर)। स्नेहसाधन पद्धति के अनुसार उपलों की आंच से यथाविधि परिसाधित तैल को उचित पात्र में स्थापन करे। इस उत्तम तैल के प्रयोग से पुरुष सदैव स्त्रियों में (सम्भोग समय) वृषभता का परिचय देता है। एव इसके सेवन से स्त्री पुत्रवती होती है। तथा योनिशूल (प्राय. रजोदर्शन से प्रथम होनेवाली असह्य वेदना), शरीर के अङ्गों की पीडा, शिरोव्यथा, कामला-रोग, पाण्डुभाव, गर (संयोगज विषप्रभाव), गृध्रसी, प्लीहावृद्धि, शोप (अङ्गों का सूख जाना), प्रमेह, दण्डापतानक, दाहयुक्त वातरक्त, वातविकार, पित्तजनित रोग, स्त्रियों का प्रदररोग, आध्मान, रक्तपित्त आदि समस्त रोग दूर होते हैं। यह शतावरी तैल कृष्णात्रेय-पुनर्वसु द्वारा कहा गया है।

विशेष सूचना—इस तैल में क्वाथ और कल्कार्थ शतावरी का ग्रहण खैर की लकडी से वनाये हुए, अग्रभाग से तीक्ष्ण और दीर्घाकार दण्ड से करे अर्थात् लौहादि से निर्मित शस्त्र से न करे। उत्तराभिमुख (उत्तर दिशा की ओर मुख करके) खदिरनिर्मित शस्त्र से पृथ्वी को उखाडता हुआ 'ॐ नारायण्यै स्वाहा' यह मन्त्र पढ़ता रहे। और जव शतावरीमूल को उखाड़ने के लिये हाथ पसारे तव—ॐ सर्वव्याधिनाशिन्यै स्वाहा' इस मन्त्र का जाप करे। जव सिद्धतैल पान करने का समय हो तव—'ॐ कुमारजीविन्यै स्वाहा' इस मंत्र का जाप करे ॥१३३—१४१॥

वक्तव्य—(१) औषध ग्रहण में अन्य नियम—

गृह्णीयात्तानि सुमनाः शुचि प्रात' सुवासरे ।
आदित्यसंमुखो मौनी नमस्कृत्य शिव हृदि ॥
साधारणधराद्रव्यं गृह्णीयादुत्तराश्रितम् ।

(२) इस में भी प्रत्येक पाक पृथक् २ करना है।

अर्शोदौ कासीसाद्य तैलम्—

कासीसं लाङ्गली कुष्ठं शुण्ठी कृष्णा च सैन्धवम् ।
मनःशिलाश्वमारश्च विडङ्गं चित्रको द्रुमः ॥१४२॥
दन्ती कोषातकीबीजं हेमाह्वा हरितालकम् ।
कल्कैः कर्षमितैरेतैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥१४३॥
स्नुह्यर्कपयसी दद्यात्पृथग्द्विपलसंमिते ।
चतुर्गुणं गवां मूत्रं दत्त्वा सम्यक् प्रसाधयेत् ॥१४४॥
कथितं खरनादेन तैलमर्शोविनाशनम् ।
क्षारवत्पातयत्येतदर्शांस्यभ्यङ्गतो भृशम् ॥१४५॥

वलीर्न दूषयत्येतत्क्षारकर्मकरं स्मृतम् ।

साधनार्थ—विशुद्ध तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। थूहर का दूध ८ तोला (ऽ=)। आक का दूध ८ तोला (ऽ=)। गोमूत्र ४ प्रस्थ (४ सेर)। कल्कद्रव्य—हीराकसीस, लाङ्गली (कलिहारि), कूठ, सोंठ, कालीपीपल, सैंधानमक, मैनसिल, कनेर की छाल, वायविडङ्ग, चीते की जड की छाल, कूडे की छाल, जमालगोटे की जड, कडवी तोरी के वीज, चोक, बरकिया हरताल—प्रत्येक एक २ कर्ष (सवा सवा तो०) परिमित। यथाविधि शिलापेषण से कल्क बनाकर चतुर्गुण जल से पाक करे। यह खरनादाचार्य द्वारा आविष्कृत कासीसादि तैल अर्शरोग को नष्ट करने के लिये अत्यन्त उपयोगी औषध है। इसका अर्शाङ्कुरों पर अभ्यङ्ग क्षार के सदृश शीघ्र ही मस्सों को नाश कर देता है। परन्तु क्षारकर्म करता हुआ भी यह तैल वलियों (गुदा के अन्दर की प्रवाहिणी-विसर्जिनी-ग्राहिणी) को किसी प्रकार की हानि नही पहुचाता ॥१४२—१४५॥

वक्तव्य—बवासीर के लिये यह सिद्ध योग है। इसको २—३ मास निरन्तर मस्सो पर मसलते रहने से मस्से शनै २ सूख जाते हैं। यदि किसी सुकुमार रोगी को यह सहन न हो सके तब इसमें थोडा तिलतैल मिलाकर इसकी शक्ति को निर्बल बनाकर प्रयोग करना श्रेष्ठ होता है।

अथ वातरक्तरोगे पिण्डतैलम्—

मञ्जिष्ठासारिवासर्जयष्टीसिक्थैः पलोन्मितैः ॥१४६॥
पिण्डाख्यं साधयेत्तैलमभ्यङ्गात् वातरक्तनुत् ।

पाकार्थ—तिलतैल १ प्रस्थ (१सेर)। कल्कद्रव्य-मजीठ, सारिवा (श्यामालता), राल, मुलेठी, मोम देशी। प्रत्येक एक २ पल चार २ तोला, (मिलित १ पाव)। पाकार्थ—जल ४ प्रस्थ। ४ सेर यथाविधि परिसाधित तैल के अभ्यङ्ग (मालिश) से वातरक्त रोग दूर होता है ॥१४६॥

वक्तव्य—(१) इस तैल के पाकान्त में कल्क का वह रूप नहीं होता जो अन्य स्नेहों के पाक शेष में होता है। कारण कि इसमें मोम और राल के होने से इसका कल्क पिण्डाकृति हो जाता है। इसीलिये इसे पिण्डतैल कहते हैं। यह वातरक्त के लिये उत्तम औषध है। (२) कई आचार्य इसमें तिल तैल के स्थान पर एरण्ड तैल का ग्रहण करते हैं। साथ में दूध भी डालते हैं। यथा—

सारिवासर्जयष्ट्यह्वा मधूच्छिष्टैः पयोन्वितैः ।
सिद्धमेरण्डजं तैलं वातरक्तरुजापहम् ॥

यह भी व्यवहार में आता है। वातरक्त रोग के आरम्भ में जब हाथ वा पैर आदि में चीरे पड जाते हैं तब इसका मर्दन अतिशय लाभदायक होता है।

अथ अर्कतैलम्—

अर्कपत्ररसे पक्वं हरिद्राकल्कसंयुतम् ॥१४७॥

नाशयेत्सार्षपं तैलं पामां कच्छूं विचर्चिकाम् ।

पाकार्थ—सरसों का तेल (कड़वा तैल—यह ठीक विचार कर लेना चाहिये। बाजार में सरसों के तैल के स्थान पर तोरीया अथवा अन्य बीजों का तैल प्राप्त होता है जो औषध कार्य में निरर्थक होता है) १ प्रस्थ (१ सेर)। आक के पत्तों का रस ४ प्रस्थ (४ सेर)। कल्कार्थ—हलदी का शिला पेषित कल्क १ पाव। पाचनार्थ—जल ४ प्रस्थ (४ सेर)। यथाविधि परिस्रावित तैल को स्वच्छ वस्त्र से छानकर प्रयोग करने से—पामा कच्छूरोग और विचर्चिका (क्षुद्रकुष्ट) नष्ट होते हैं ॥१४७॥

अथ मरिचादितैलम्—

मरिचं हरितालं च त्रिवृतं रक्तचन्दनम् ॥१४८॥
मुस्तं मनःशिला मांसी द्वे निशे देवदारु च ।
विशाला करवीरं च कुष्ठमर्कपयस्तथा ॥१४९॥
तथैव गोमयरसं कुर्यात्कर्षमितान्पृथक् ।
विषं चार्धपलं देयं प्रस्थं च कटुतैलकम् ॥१५०॥
गोमूत्रं द्विगुणं दद्याज्जलं च द्विगुणं भवेत् ।
मरिचाद्यमिदं तैलं सिद्धं कुष्ठव्रणापहम् ॥१५१॥
जयेत्कुष्ठानि सर्वाणि पुण्डरीकं विचर्चिकाम् ।
पामां श्वित्राणि रक्तं च कण्डूं कच्छूं प्रणाशयेत् ॥१५२॥

पाकार्थ—कड़वा तैल १ प्रस्थ (१ सेर)। गोमूत्र २ प्रस्थ (२ सेर)। कल्कद्रव्य—कालीमिरच. वरकिया हरताल. निशोत. लालचन्दन नागरमोथा. मैनसिल. जटामांसी. हलदी. दारुहलदी. देवदारु, इन्द्रायण की जड़, कनेर की जड़ की छाल, कूट. आक का दूध. गोबर का रस। प्रत्येक एक २ कर्ष परिमित (एक २ तोला, मिलित २० तोला)। मीठा तेलिया दो कर्ष (२॥ तोला) परिमित। पाकार्थ—जल २ प्रस्थ (२ सेर)। यथाविधि परिस्रावित तैल को स्वच्छ वस्त्र से छानकर प्रयोग करने से—कुष्ठ. व्रण तथा सम्पूर्ण प्रकार के (क्षुद्र और महान) कुष्ठरोग पुण्डरीक विचर्चिका पामा. श्वित्र (फुलवहरी). रक्त (मण्डल चकत्ते) कण्डू और कच्छूरोग को नाश करता है ॥१४८-१५२॥

वक्तव्य—प्रथम मूर्च्छित तैल को गोमूत्र से पाक करे। तत्पश्चात् समस्त कल्कीय पदार्थों को शिलाद्वारा भली प्रकार पीसकर द्विगुण जल से पकावे। साधारण स्नेह साधन विधान तथा द्रव द्वैगुण्य परिभाषा से यहां जल ४ प्रस्थ लिया जा सकता है। परन्तु आचार्य का अभिप्राय ऐसा नहीं। कारण कि द्विगुणनिर्देश पूर्व परिभाषाओं को बाधित कर देता है। एवं द्रव चातुर्गुण्य को पूर्ण करने के लिये गो मूत्र भी द्विगुण विद्यमान है।

कटुतैल के मूर्च्छन द्रव्य यह हैं—

वयस्थारजनीमुस्तबिल्वदाडिमकेशरैः ।

कृष्णजीरकह्रीबेरनालिकैः सबिभीतकैः ॥
एतैः समांशैः प्रस्थं च कर्षमात्रं प्रयोजयेत् ।
अरुणा द्विपलं तत्र तोयं चाढकसम्मितम् ॥
कटुतैलं पचेत्तेन चामदोषहरं परम् ।

अथ त्रिफलादितैलम्—

त्रिफलारिष्टभूनिम्बं द्वे निशे रक्तचन्दनम् ।
एतैः सिद्धमरूंषीणां तैलमभ्यञ्जने हितम् ॥१५३॥

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। कल्कार्थ—हरीड, बहेडा, आमला, चिरायता, नीम की छाल, हलदी, दारुहलदी, लालचन्दन । प्रत्येक २॥ तोला—मिलित १ पाव । पाकार्थ जल ४ प्रस्थ (४ सेर)। यथाविधि तैल पकाकर शिर पर अभ्यङ्ग करने से सिर में होनेवाली छोटी २ फुन्सियां नष्ट होती हैं ॥१५३॥

अथ निम्बबीजतैल पलिते—

भावयेन्निम्बबीजानि भृङ्गराजरसेन हि ।
तथासनस्य तोयेन तत्तैलं हन्ति नस्यतः ॥१५४॥
अकालपलितं सद्यः पुंसां दुग्धान्नभोजिनाम् ।

नीम के बीजों का छिलका उतारकर निस्तुष निम्बफलों की मज्जा को भृङ्गराज (भागरा) के रस से (२१ बार) भावना देवे और धूप में सुखा लेवे । पुन असन (बीजसार-विजयसार-खदिर जातीय) के क्वाथ से (२१ बार) भावना देवे । शुष्क होने पर इन बीजों को तैलनिष्पीडन यन्त्रद्वारा निचोड़कर तैल प्राप्त करे । इस प्रकार प्राप्त तैल को नस्यद्वारा प्रयुक्त करने से अकालपलित (असमय में बालों का श्वेत होना) रोग दूर होता है । इसका प्रयोग करनेवालों को केवल दूध भात खाना विधेय है ॥१५४॥

वक्तव्य—इसके साधन में इस बात पर पूर्ण ध्यान रखने की आवश्यकता है कि बीजो की भावना में भृङ्गराज और असनक्वाथ उतना ही प्रतिदिन दिया जाये जो दिनभर की धूप से सूख जावे । अन्यथा अधिक क्वाथ या रस डालने से निम्बबीज सड जायेंगे और अभीष्ट लाभ नही करेंगे । इस क्रिया को ग्रीष्म ऋतु में आरम्भ करे । इस ऋतु में सूर्यातप प्रखर होता है ।

यष्टीमधुकतैलम्—

यष्टीमधुकक्षीराभ्यां नवधात्रीफलैः शृतम् ॥१५५॥
तैलं नस्यकृतं कुर्यात्केशान्श्मश्रूणि सङ्घशः ।

पाकार्थ—तिलतैल १ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ, आमलों का रस ४ प्रस्थ । कल्कार्थ—

१—'क्षाराभ्यां' इत्यपि पाठ ।

मुलहठी का चूर्ण (कल्करूप में)। पाकार्थ—जल ४ प्रस्थ। यथाविधि परिसाधित तैल ं प्रभाव से शिर, दाढ़ी और मूंछ आदि स्थानों के वाल घने और सुन्दर होजाते हैं॥१५५

अथ करञ्जतैलम् इन्द्रलुप्ते—

करञ्जश्चित्रको जाती करवीरश्च पाचितम् ॥१५६॥
तैलमेभिर्द्रुतं हन्यादभ्यङ्गादिन्द्रलुप्तकम् ।

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। कल्कार्थ—करञ्ज (करंजुआ के प वा फल), चीते की जड की छाल (वा पत्ते), कनेर (लाल कनेर के पत्ते), चमेली ं पत्ते। मिलित १ पाव। तैलपाकार्थ जल ४ प्रस्थ (४सेर)। यथाविधि परिसाधित तैल क स्वच्छवस्त्र द्वारा छानकर अभ्यङ्ग (मालिश) करने से इन्द्रलुप्तरोग नष्ट होता है॥१५६

वक्तव्य—(१) दाढी अथवा मूछों के वालों का झड जाना इन्द्रलु कहलाता है। इसको वालझड अथवा वालखोरा भी कहते हैं। (२) अथव जमालगोटे के वीज की गिरी को जल में घिसकर वालखोरे के स्थान पर लग देना चाहिये। एक दो वार के प्रयोग से लेपवाले स्थान पर छाला पड जाता है उस में से जल को सूई चुभोकर निकाल दे और ऊपर से माखन लगा देने ं निश्चय ही यह रोग नष्ट होता है।

अथ केशकल्पार्थं नीलिकाद्य तैलम्—

नीलिका केतकीकन्दं भृङ्गराजः कुरण्टकः ॥१५७॥
तथार्जुनस्य पुष्पाणि वीजकात्कुसुमान्यपि ।
कृष्णास्तिलाश्च तगरं समूलं कमलं तथा ॥१५८॥
अयोरजः प्रियङ्गुश्च दाडिमत्वग्गुडूचिका ।
त्रिफला पद्मपङ्कश्च कल्कैरेभिः पृथक् पृथक् ॥१५९॥
कर्षमात्रैः पचेत्तैलं त्रिफलाक्काथसंयुतम् ।
भृङ्गराजरसेनैव सिद्धं केशस्थिरीकृतम् ॥१६०॥
अकालपलितं हन्ति दारुणं चोपजिह्विकाम् ।

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल १ प्रस्थ(१ सेर)। त्रिफला का क्वाथ ४ सेर। क्वाथार्थ— हरड, वहेडा, आमला (कुटा हुआ) २ सेर। क्वाथपाकार्थ—जल १६ सेर। अवशिष्ट वस्त्रपूत त्रिफला क्वाथ ४ सेर। भृङ्गराज का रस ४ सेर। कल्कद्रव्य—नील के पत्ते, केतकीकन्द, भागरा के पत्ते, कुरण्टक (कटसरैया-पियावासा) के पत्ते, अर्जुन वृक्ष के फूल, विजयसार, चमेली के फूल, काले तिल, तगर, मेंं, कमलपुष्प, लोह चूर्ण, अनार का छिलका, गिलोय, हरड, वहेडा, आमला, पद्मपङ्क (कमल की जड का कीचड़)। प्रत्येक एक २ कर्ष परिमित (मिलित १ पाव)। पाकार्थ—जल ४ प्रस्थ। यथाविधि क्रमश पाक करे और पूर्ण पाक होने पर सिद्धतैल को स्वच्छ वस्त्र से

छानकर उत्तम पात्र में भरकर रख देवे। इसके मर्दन करने से अकालपलित (समय से प्रथम अथवा अल्पायु में ही केशों का श्वेत होना) नष्ट होता है। दारुण (शिरोरोग) एव उपजिह्विका (जिह्वा के अग्रभाग पर शोथ) आदि रोग भी नष्ट होते हैं। कंघी करते समय अथवा हाथ लगाते ही बालो के गिर जाने अथवा झड जाने के रोग को यह अवश्य दूर करता है। केशस्थिरीकरण के लिये यह उत्तम महौषध है ॥१५७—१६०॥

वक्तव्य—केशस्थिरीकरणार्थ एवं पलितनाशार्थ इसका मर्दन रात्रि के समय करना चाहिये। केशों की मूल भित्ति तक तैल पहुचा देना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से अवश्य लाभ होता है।

अथ भृङ्गराजतैलम्—

भृङ्गराजरसेनैव लोहकिट्टं फलत्रिकम् ॥१६१॥
सारिवां च पचेत्कल्कैस्तैलं दारुणनाशनम्।
अकालपलितं कण्डूमिन्द्रलुप्तं च नाशयेत् ॥१६२॥

पाकार्थ—तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। भृङ्गराज रस ४ प्रस्थ (४सेर)। कल्कार्थ-मण्डूर (चूर्णित), हरड, बहेडा, आमला, श्यामालता। प्रत्येक एक २ पल। मिलित १ पाव। कल्क पाकार्थ—जल ४ प्रस्थ (४सेर)। यथाविधि नियमानुसार तैल साधन करे। सिद्ध तैल के मर्दनाभ्यास से दारुण, अकाल पलित, कण्डू (खाज), इन्द्रलुप्त-यह सब रोग नष्ट होते हैं।

वक्तव्य—यत्र तत्र टीका में जिन रोगों के नाम ही दे दिये गये हैं, उन सब का विस्तार प्रथम खण्ड के सातवें अध्याय में देखें।

अथ मुखदन्तरोगादौ इरिमेदाद्य तैलम्—

इरिमेदत्वचं क्षुण्णां पचेच्छतपलोन्मिताम्।
जलद्रोणे ततः क्वाथं गृह्णीयात्पादशेषितम् ॥१६३॥
तैलस्यार्धाढकं दत्त्वा कल्कैः कर्षमितैः पचेत्।
इरिमेदलवङ्गाभ्यां गैरिकागरुपद्मकैः ॥१६४॥
मञ्जिष्ठालोध्रमधुकैर्लाक्षान्यग्रोधमुस्तकैः।
त्वग्जातीफलकर्पूरकङ्कोलखदिरैस्तथा ॥१६५॥
पतङ्गधातकीपुष्पसूक्ष्मैलानागकेशरैः।
कट्फलेन च संसिद्धं तैलं मुखरुजं जयेत् ॥१६६॥
प्रदुष्टमांसं पलितं शीर्णदन्तं च सौषिरम्।
श्यावदन्तं प्रहर्षं च विद्रधिं क्रिमिदन्तकम् ॥१६७॥
दन्तस्फुरणदौर्गन्ध्यं जिह्वाताल्वोष्ठजां रुजम्।

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल आधा आढक २ प्रस्थ (२ सेर)। काथार्थ—इरिमेद (विट् खदिर—दुर्गन्धि खदिर, फुल्लाही) त्वक् १०० पल (५ सेर)। इरिमेदत्वक् को भली प्रकार कूटकर १ द्रोण (३२ सेर) जल डालकर काथ करे। पादावशिष्ट वस्त्रपूत काथ ४ प्रस्थ (४ सेर)। कल्कद्रव्य—इरिमेदत्वक्, लौंग, गेरुमिट्टी, अगर, पद्माख, मजीठ, पठानी लोध, मुलेठी, पीपल की लाख, न्यग्रोध (वट की छाल), नागरमोथा, दालचीनी, जायफल, कर्पूर, शीतलचीनी, खैर वृक्ष की छाल, पतग (कुचन्दन), धाय के फूल, छोटी इलायची, नागकेशर, कायफल। प्रत्येक एक २ कर्ष परिमित (सवा२ तोला)। कल्क के समस्त द्रव्यों का यथाविधि कल्क बनाकर आठ सेर जल डालकर पाक करे। पाकशेष पर सिद्ध तैल को स्वच्छ वस्त्र से छानकर बोतलों में भर देवे। इसके प्रयोग से समस्त मुखरोग दूर होते हैं। तथा प्रदुष्ट मास (मसूढों अथवा अन्त कपोल भाग का गला सड़ा मास अर्थात मुखपाक), पलित (असामयिक केश श्वेतत्व), शीर्णदन्त (दातों का हिलना), सौषिर (दन्तरोग), श्यावदन्तत्व (दातो का काला होना), दन्तहर्ष (पानी अथवा वायु का दातों को लगना), विद्रधी (शोथ), कृमिदन्त (कीट भक्षितदन्त), दन्तस्फुरण (दातों की सुरसुराहट), मुख की दुर्गन्ध और जिह्वा तालु तथा ओठों के रोग नष्ट होते हैं ॥१६३—१६७॥

वक्तव्य—लाक्षा के स्थान पर लाक्षा का रस डालना चाहिये। कर्पूर कल्क में न डालकर जब तैल सिद्ध हो तब थोडे से तैल में कर्पूर को पीसकर समस्त तैल में मिलावे। इसका प्रयोग—गडूष, पिचु अथवा मर्दन विधान से किया जाता है।

अथ नाडीव्रणे जात्यादितैलम्—

जातीनिम्बपटोलानां नक्तमालस्य पल्लवाः ॥१६८॥
सिक्थं समधुकं कुष्ठं द्वे निशे कटुरोहिणी।
मञ्जिष्ठा पद्मकं लोध्रमभया नीलमुत्पलम् ॥१६९॥
तुत्थकं सारिवा बीजं नक्तमालस्य दापयेत्।
एतानि समभागानि पिष्ट्वा तैलं विपाचयेत् ॥१७०॥
नाडीव्रणे समुत्पन्ने स्फोटके कच्छुरोगिषु।
सद्यःशस्त्रप्रहारेषु दग्धविद्धेषु चैव हि ॥१७१॥
नखदन्तक्षते देहे व्रणे दुष्टे प्रशस्यते।

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। कल्कद्रव्य—चमेली के पत्र, नीम के पत्र, पडोल के पत्र, करञ्जुए के पत्र, मोम (देसी), मुलेठी, कूठ, हलदी, दारुहलदी, कुटकी, मजीठ, पद्माख पठानीलोध, हरड, नीलोफर, नीलाथोथा, श्यामालता, करञ्जबीज। प्रत्येक सम भाग। मिलित १ पाव। सब को पीसकर कल्करूप में परिणत करे और ४ प्रस्थ जल डालकर यथाविधि पाक करे। जब तैल मात्र शेष रहे

तब स्वच्छ वस्त्र से छानकर उपयोग में लावे। इसके प्रयोग से—नाडीव्रण (नासूर), स्फोटक व्रण, कच्छुरोग, शस्त्रकृत् सद्य. व्रण, अग्निदग्धव्रण तथा विद्धव्रण एव नख दन्तादि से उत्पन्न होने वाले घाव एवं शारीरिक दुष्ट व्रण शांत होते हैं। यह जात्यादि तैल उपदेशीय व्रणशीत करने में अति प्रशस्त है ॥१६८—१७१॥

कर्णशूले हिंग्वादितैलम्—

हिङ्गुतुम्बुरुशुण्ठीभिः कटुतैलं विपाचयेत् ।
तस्य पूरणमात्रेण कर्णशूलं प्रणश्यति ॥१७२॥

पाकार्थ—सरसों का तैल १ सेर। कल्कार्थ—हींग, तुम्बरु (तेज बल के बीज), सोंठ। मिलित १ पाव। पाकार्थ—जल ४ सेर। विधिपूर्वक परिसाधित तैल वस्त्रशत करके कर्ण पूरण करने से तत्काल कान की पीड़ा दूर होती है ॥१७२॥

अथ वाधिर्ये बिल्वादितैलम् -

बालबिल्वानि गोमूत्रे पिष्ट्वा तैलं विपाचयेत् ॥१७३॥
साजक्षीरं च नीरं च बाधिर्यं हन्ति पूरणात् ।

पाकार्थ—तिलतैल १ प्रस्थ। गोमूत्र ४ प्रस्थ। दूध ४ प्रस्थ। कल्कार्थ—बाल-बिल्व-बिल्वशिलाटू—कच्चे बेल की गिरी १ पाव। यथाविधि परिसाधित तैल को स्वच्छ वस्त्र से छानकर कर्ण पूरण करे। इससे बहिरापन नष्ट होता है ॥१७३॥

वक्तव्य—विधि—प्रथम मूर्च्छित तैल को गोमूत्र से पाक करे। फिर बकरी के दूध से पकावे। पुन. बिल्वशलाटू को गोमूत्र से पीसकर तैल में डाले और ४ प्रस्थ जल से अन्तिम पाक सिद्ध करे। ग्रन्थान्तर में इस बिल्व तैल के पाक में जल नही दिया गया परन्तु ग्रन्थकर्ता ने सम्यक् पाकार्थ जल प्रदान किया है। यथा—

फलं बिल्वस्य मूत्रेण पिष्ट्वा तैलं विपाचयेत् ।
सक्षीरं तस्य विपचेद्बाधिर्ये कर्णपूरणम् ॥

तैल पाक में जल देना आवश्यक है क्योंकि बिना जल के स्नेह पाक ठीक नही होता और कल्क भी बिना जल के स्वरस नहीं छोडता।

अथ कर्णरोगे क्षारतैलम् —

बालमूलकशुङ्गानां क्षारः क्षारयुगं तथा ॥१७४॥
लवणानि च पञ्चैव हिङ्गु शिग्रु महौषधम् ।
देवदारु वचा कुष्ठं शतपुष्पा रसाञ्जनम् ॥१७५॥
ग्रन्थिकं भद्रमुस्तं च कल्कैः कर्षमितैः पृथक् ।
तैलप्रस्थं च विपचेत् कदलीबीजपूरयोः ॥१७६॥
रसाभ्यां मधुसूक्तेन चातुर्गुण्यमितेन च ।
पूयस्रावं कर्णनादं शूलं बधिरतां कृमीन् ॥१७७॥
अन्यांश्च कर्णजान् रोगान् मुखरोगांश्च नाशयेत् ।

पाकार्थ—विशुद्ध तिल (कटु) तैल १ प्रस्थ (१ सेर), कदली (केले के स्तम्भ) का रस ४ सेर, विजौरा निम्बु का रस ४ सेर, मधुशुक्त (शहद से बना सिरका) ४ सेर। कल्कद्रव्य—कच्ची मूलियों को सुखाकर दग्ध करे और यथाविधि उनका चार ग्रहण करे। इस प्रकार प्राप्त किया हुआ मूलकक्षार, यवक्षार, सज्जीखार, पचलवण (सैन्धानमक, कालानमक, साभर नमक, सामुद्रलवण, विडलवण), हीग, मोहाजने की छाल, सोंठ, देवदारु, वच, कूठ, मीठी सौंफ, रसौंत, पीपलामूल, नागरमोथा। प्रत्येक एक २ कर्प (सवा २ तोला) परिमित। कल्क पाकार्थ जल ४ प्रस्थ (४ सेर)। यथाविधि तैल सिद्ध करे और स्वच्छ वस्त्र से छानकर उचित पात्र में भर लेवे। इस तैल को कानों में डालने से—पूयस्राव (कान से पीप का वहना), कर्णनाद (कान में अनेक प्रकार के शब्दों का सुनाई देना), कान की पीडा, बहिरापन, कान के कीडे, एव कान में होने वाले अन्यरोग तथा मुखगत रोगों को नाश करता है ।।१७४—१७७।।

वक्तव्य—इस तैल को यथाविधि मन्द अग्नि से सिद्ध करे। प्रथम पाक कदली रस से, द्वितीय पाक बीजपूर के रस से, तृतीय पाक मधुशुक्त से और चतुर्थ पाक कल्क का, चतुर्गुण जल से करे। यह अत्यत गुणदायक महौषध है। बाधिर्य, कर्णस्राव और कर्णशूल के लिये अत्यत हितकारक है।

मधुशुक्तनिर्माण—

जम्बीराणां फलरसः प्रस्थैकः कुडवोन्मितम् ।।१७८।।
माक्षिकं तत्र दातव्यं पलैका पिप्पली स्मृता।
एतदेकीकृतं सर्वं मृद्भाण्डे च निधापयेत् ।।१७९।।
यवाम्भो मधुसंयुक्तं शृङ्गवेरगुडान्वितम्।
धान्यराशिस्थितं मास मधुशुक्तमुदाहृतम् ।।१८०।।

जम्बीरी (निम्बू अथवा गलगल का भी लिया जा सकता है) का रस १ प्रस्थ। शहद १ कुडव (१६ तोले)। पिप्पली चूर्ण ४ तोले। सबको मिलाकर मिट्टी के भाण्डे में डालकर मुख बद करके (१ मास पर्यंत) धान्य की राशि (ढेर) में गाड देवे। एक मास के पश्चात् कार्य में प्रयोग करे। इसको मधुशुक्त कहते हैं। शेष दूसरे और तीसरे अको में दिये गये मधुशुक्त के पदार्थों में विषमता है। इससे प्रतीत होता है कि स्वेच्छापूर्वक कोई सा बना लेवे। (साधारण गुडशुक्त भी लिया जा सकता है) ।।१७८—१८०।।

वक्तव्य—मतान्तर से मधुशुक्त विधान—

जम्बीरस्य फलरसं पिप्पलीमूलसंयुतम्।
मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत् ॥
मासेन तज्जातरस मधुशुक्तमुदाहृतम् ॥ (चक्र०)

१—'त्रिरात्रिस्थ' इत्यपि पाठ । तन्न मनोहरम्।

अथ पीनसरोगे पाठाद्य तैलम्—

पाठा द्वे च निशे मूर्वापिप्पलीजातिपल्लवैः ।
दन्त्या च तलं संसिद्धं नस्यं स्याद् दुष्टपीनसे ॥१८१॥

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। कल्कद्रव्य—पाठा की जड, हलदी, दारुहलदी, मूर्वा, कालीपीपल, चमेली के पत्र, दन्ती (जमालगोटे की जड)। मिलित १ पाव। कल्कपाकार्थ—जल ४ प्रस्थ (४ सेर)। यथाविधि समस्त वस्तु समुदाय को एकत्र करके स्वच्छ पात्र में तैल पाक करे। इस तैल को नस्य द्वारा प्रयुक्त करने से दुष्ट पीनस (पुराना बिगडा हुआ जुकाम) रोग नष्ट होता है ॥१८१॥

अथ व्याघ्रीतैल पीनसे—

व्याघ्रीदन्तीवचाशिग्रुतुलसीव्योषसैन्धवैः ।
कफस्य पाचनं तैलं पूतिनासोदकापहम् ॥१८२॥

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। कल्कद्रव्य—छोटी कटेरी की जड, जमालगोटे की जड, वच, सोहाजने की छाल, तुलसीपत्र, कालीपीपल, कालीमिरच, सोंठ, सैंधानमक। मिलित १ पाव। कल्कपाकार्थ—जल ४ प्रस्थ (४ सेर)। यथाविधि परिसाधित तैल को स्वच्छ वस्त्र से छानकर बोतल में भरकर रख देवे। यह तैल नस्य द्वारा प्रयुक्त होने पर कफ को पचाता (शिरस्थित श्लेष्मा को दमन करता) है। एवं पूतिनस्यरोग (नाक से दुर्गंध का आना) तथा उससे होने वाले नासास्राव को दूर करता है ॥१५२॥

अथ कुष्ठाद्य तैल छिक्कायाम्—

कुष्ठं बिल्वकणाशुण्ठीद्राक्षाकल्ककषायवत् ।
साधितं तैलमाज्यं वा नस्यात्क्षवथुनाशनम् ॥०८३॥

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। क्वाथार्थ—कूठ, बिल्वत्वक्, कालीपीपल, सोंठ, किशमिश। मिलित २ सेर। क्वाथपाकार्थ—जल १६ सेर। शेष वस्त्रपूत क्वाथ ४ सेर। कल्कद्रव्य—कूठ, बिल्वत्वक्, पिप्पली, शुण्ठी, द्राक्षा। मिलित १ पाव। कल्क साधनार्थ—जल ४ सेर। यथाविधि तैल सिद्ध करे। अथवा इसी विधिसूत्र से घृत सिद्ध करे। इसका नस्यद्वारा प्रयोग क्षवथु (छीको की अधिकता के) रोग को नष्ट करता है ॥१८३॥

गृहधूमतैलम्—

गृहधूमकणादारुक्षारनक्ताह्वसैन्धवैः ।
सिद्धं शिखरिबीजैश्च तैलं नासार्शसां हितम् ॥१८४॥

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। कल्कद्रव्य—घर का धूम, काली पीपल, देवदारु, जौखार, करंजबीज, सैंधानमक, पुठकण्डा के बीज। मिलित १ पाव।

जल ४ प्रस्थ (४ सेर)। कल्क द्रव्यों को पीसकर यथाविधि तैल पाक करे। सिद्ध तैल की नस्य लेने से नाक की ववासीर नष्ट होती है ॥१८४॥

अथ कुष्ठादी वज्रतैलम्—

वज्रीक्षीरं रविक्षीरं द्रवं धत्तूरचित्रजम् ।
महिषी विड्भवं द्रावं सर्वांशं तिलतैलकम् ॥१८५॥
पचेत्तैलावशेषं च गोमूत्रेऽथ चतुर्गुणे ।
तैलावशेषं पक्त्वा च तत्तैलं प्रस्थमात्रकम् ॥१८६॥
गन्धकाग्निशिलातालं विडङ्गातिविषाविषम् ।
तिक्तकोपातकीकुष्ठवचामांसीकटुत्रयम् ॥१८७॥
पीतदारु च यष्ट्याह्वं स्वर्जिकाक्षारजीरकम् ।
देवदारु च कर्षांशं चूर्णं तैले विनिक्षिपेत् ॥१८८॥
वज्रतैलमिदं ख्यातमभ्यङ्गात्सर्वकुष्ठनुत् ।

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। द्रव पाकार्थ—थोहर का दूध १ प्रस्थ (१ सेर), आक का दूध १ प्रस्थ (१ सेर), धतूरे के पत्तों का रस १ प्रस्थ (१ सेर), चीते के आर्द्र पत्रों का रस १ प्रस्थ (१ सेर), भैंस के गोवर का रस १ प्रस्थ (१ सेर)—इन पाच द्रव पदार्थों को एकत्र करके इनसे मिलित पाक करे पुन गोमूत्र ४ सेर डालकर पाक करे। जव तैल मात्र शेप रहे तव इस सिद्ध तैल को यथाविधि स्वच्छ वस्त्र से छाने और इस वस्त्रपूत तैल में प्रक्षेपार्थ—आमलासार गन्धक, मिलावा, मैनसिल, वरकिया हरताल, वायविडङ्ग, अतीस, मीठाविप, कडवी तोरी का गूदा, कूठ, वचा, जटामासी, कालीपीपल, कालीमिरच, सोंठ, दारुहलदी, मुलहठी, सज्जीखार, श्वेतजीरा, देवदारु—प्रत्येक का एक २ कर्ष परिमित (सवा २ तोला) वस्त्रपूत चूर्ण तैल में मिला देवे। यह वज्रतैल अभ्यङ्ग मात्र से सम्पूर्ण कुष्ठों को नाश करता है ॥१८५—१८६॥

वक्तव्य—इसके प्रक्षेप्य द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म हों। इस समस्त चूर्ण को खरल में डालकर ऊपर से थोडा सा सिद्ध तैल डालकर मर्दन करे। जव चिकण सा लेह वन जाये तव सिद्ध तैल में भली प्रकार मिला देवे। इसका कल्क पाक नहीं होता।

अथ करवीरादितैलम्—

करवीरशिखादन्तीत्रिवृत्कोशातकीफलम् ॥१८९॥
रम्भाक्षारोदके तैलं प्रशस्तं लोमशातनम् ।

पाकार्थ—विशुद्ध तिलतैल १ प्रस्थ (१ सेर)। कल्कार्थ—कनेर की जड की छाल, चीते की छाल, जमालगोटे की जड, निशोत, कडवी तोरी का गूदा। मिलित १ पाव। कल्कपाकार्थ—जल ४ प्रस्थ (४ सेर)। कदलीकाण्ड के क्षार का

पानी ४ प्रस्थ (४ सेर) । यथाविधि परिसाधित तैल को स्वच्छ वस्त्र से छानकर प्रयोग करे । यह बाल उडाने के लिये प्रशस्त है ॥१६०॥

अथ चन्दनादितैलम्—

चन्दनाम्बुनखैर्याम्यं यष्टीशैलेयपद्मकम् । ॥१६०॥
मञ्जिष्ठा सरलं दारु सेव्यैलं पूतिकेसरम् ।
पत्रकैलं मुरा मांसी कङ्कोलं वनिताम्बुदम् ॥१६१॥
हरिद्रा सारिवा तिक्ता लवङ्गागरुकुङ्कुमम् ।
त्वग्रेणुनलिका चेति तैलं मस्तुचतुर्गुणम् ॥१६२॥
लाक्षारससमं सिद्धं ग्रहघ्नं बलवर्धनम् ।
अपस्मारज्वरोन्मादकृत्यालक्ष्मीविनाशनम् ॥१६३॥
आयुःपुष्टिकरं चैव वशीकरणमुत्तमम् ।
विशेषात्क्षयरोगघ्नं रक्तपित्तहरं परम् ॥१६४॥

पाकार्थ—विशुद्ध तिल तैल ४ सेर, मस्तु (दधिजल) १६ सेर, लाक्षारस (अथवा क्वाथ) ४ सेर । कल्क द्रव्य—श्वेत चन्दन, सुगन्ध बाला, नखी (गन्धद्रव्य—यह नखाकृति होता है), याम्य (रक्तचन्दन), मुलेठी, शिलापुष्प, पद्माख, मजीठ, सरल (सागोन वृक्ष की छाल अथवा पुष्प), देवदारु, खस, एलदाणा, पूतिकेसर, (गन्धमार्जारी), तेजपत्र, छोटी इलायची, मुरा (गन्धद्रव्य), जटामांसी, प्रियंगु, नागरमोथा, हलदी, श्यामालता, तिक्ता (लताकस्तूरी), लौंग, अगरु, केशर, दालचीनी, रेणुका, नलिका (रत्नजोत) । मिलित १ सेर । कल्कपाकार्थ—जल १६ सेर । यथाविधि तैल सिद्ध करे । यह तैल ग्रहदोष (बालकों में ग्रहदोष से उत्पन्न होने वाले रोग) को नष्ट करता है, मर्दन करने से शरीर के बल को बढाता है, अपस्मार, ज्वर, उन्माद, भूतबाधा, अलक्ष्मी—इनका नाश करता है, आयु वृद्धि करता है, शरीर की पुष्टि करता है और उत्तम वशीकरण कारक है । विशेष करके क्षय (शोष) रोग को नष्ट करता है तथा रक्तपित्त को नाश करता है ॥१६१—१६४॥

अथ वचातैलम्—

वचां शठीं हरिद्रे द्वे देवदारुमहौषधी ।
हरीतकीमतिविषामुस्तकेन्द्रयवान्समान् ॥१६५॥
एतान्दशपलान्भागांश्चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ।
चक्रमर्दरसैस्तैलं कटुकं मृदुनाग्निना ॥१६६॥
पादशेषे विनिक्षिप्य सिन्दूरमवतारयेत् ।
एतत्तैलं निहन्त्याशु गण्डमालां सुदारुणाम् ॥१६७॥

पाकार्थ—विशुद्ध कडवा तैल ४ प्रस्थ (४ सेर)। क्वाथार्थ—वच, कचूर, हलदी, दारुहलदी, देवदारु, सोंठ, हरड़, अतीस, नागरमोथा, इन्द्रजौं। प्रत्येक द्रव्य २ पल (आधा २ सेर)। क्वाथ पाकार्थ जल ४ द्रोण (६४ सेर)। अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ १६ सेर। चक्रमर्द (पमाड) के (पञ्चाङ्ग) का रस १६ सेर। क्वाथ और रस दोनों से यथाविधि पाक करे और स्वच्छ वस्त्र से छान लेवे। पुन १ सेर सिन्दूर (नागनिर्मित) इसमें मिलावे। इस तैल के प्रयोग से भयंकर गण्डमाला का नाश होता है ॥१६५—१६७॥

वक्तव्य—प्रथम सिन्दूर (सधूर) को स्वच्छ कडाही में डाले और ऊपर से सिद्ध तैल थोडा सा डालकर घर्षणी से आलोडन करे। जब उत्तमरीत्या सिन्दूर सिद्ध-तैल में मिल जावे तब शेष तैल थोडा २ डालकर मिलाता जावे। इसी प्रकार समस्त तैल सिन्दूर में मिलाकर रखे। यह गण्डमाला और अपची (गण्डमाला की ग्रन्थियों के व्रण) को अवश्य नष्ट करता है। प्रयोग काल में भी तैल और सिन्दूर को हिला मिला कर लगाया करे।

अथ लाङ्गलीतैलम्—

निर्गुण्डीस्वरसे तैलं लाङ्गलीमूलकल्कितम्।
तैलं नस्यान्निहन्त्याशु गण्डमालां सुदारुणाम् ॥१६८॥

पाकार्थ—विशुद्ध कटु तैल १ प्रस्थ (१ सेर)। निर्गुण्डी स्वरस ४ प्रस्थ (४सेर,)। अभाव में क्वाथार्थ—मूलत्वक् पत्रादि ४ सेर। पाकार्थ—जल १६ सेर। अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ ४ सेर। कल्कद्रव्य—लागली (कलिहारी) मूल (कन्दाकृति) १ पाव। पाकार्थ—जल ४ सेर। यथाविधि परिसाधित तैल स्वच्छ वस्त्र से छान लेवे। इसकी नस्य (नाक द्वारा सूघने) से गण्डमाला रोग नष्ट होता है ॥१६८॥

वक्तव्य—यह अत्यत उग्र गुणकारक योग है। इसे नस्य द्वारा प्रयोग करना चाहिये। गण्डमाला की ग्रन्थियों पर इसका प्रलेप भी होता है। अपची की अवस्था में इसका पिचु धारण करना श्रेष्ठ है। परन्तु यह स्मरण रहे कि यदि इसके प्रभाव से कुछ तेजी मालूम हो तो इसका प्रयोग ठहर २ कर रोगी की सहन शक्ति के अनुसार ही करना चाहिये। अत्यन्त दुर्बल रोगियों को कभी २ इसके अधिक अथवा अनियन्त्रित विधि से सेवन के कारण ज्वर हो जाया करता है। ऐसी अवस्था में चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। केवल इतना ही पर्याप्त है कि औषध प्रयोग दो चार दिन के लिये बद कर देवे। ज्वर वाले गण्डमाला के रोगियों को इसका प्रयोग देख भालकर ही करना ठीक होगा।

धत्तूरतैलम्—

धत्तूररसमादाय हयमारान्तिकारसम्।
भृङ्गराजरसश्चैव सारिणी निम्बपत्रकम् ॥१६९॥
शोभाञ्जनश्चित्रकश्च अश्वगन्धा प्रसारिणी।

शिरीषः कुटजोऽनन्ता शाल्मलीनक्तपत्रकम् ॥२००॥
रविप्रियो महानिम्बो डिण्डिघोषा महेरणा ।
बला ज्योतिष्मती चैव श्यामाकश्चक्रमर्दकः ॥२०१॥
एतैस्तु रसमादाय तैलतुल्यं च दीयते ।
देवदारु हरिद्रे द्वे मांसी कुष्ठं सचन्दनम् ॥२०२॥
मरिचं त्रिवृता दन्ती हरितालं मनःशिला ।
कम्पिल्लको गन्धकश्च खदिरः पिप्पली वचा ॥२०३॥
रसाञ्जनं च सिन्दूरं श्रीवासो रक्तचन्दनम् ।
इरिमेदस्तथा तुम्बी मञ्जिष्ठा सिन्धुवारकः ॥२०४॥
करवीरजटा रास्ना विश्वा श्रेष्ठा च पौष्करम् ।
शठी तालीसपत्रं च प्रियङ्गू रेणुका तथा ॥२०५॥
चातुर्जातकमञ्जीरं कङ्कोलं जातिपत्रिका ।
ज्योतिष्मती च पलिका विषस्य द्विपलं भवेत् ॥२०६॥
आढकं कटुतैलस्य गोमूत्रं च चतुर्गुणम् ।
मृत्पात्रे लोहपात्रे च शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥२०७॥
मज्जाश्रितं त्वग्गतं च वातं चास्थिगतं तथा ।
ऊरुग्रहं चाढ्यवातं कृच्छ्रं दण्डापतानकम् ॥२०८॥
कुब्जत्वं चाथ शोथं च पक्षाघातं तथार्दितम् ।
हनुस्तम्भं शिरःकम्पं मूर्च्छितं दृष्टिविभ्रमम् ॥२०९॥
अपस्मारं तथोन्मादं तथा चैवाऽपतन्त्रकम् ।
आक्षेपकं चास्थिभग्नं सन्धिभग्नं च नाशयेत् ॥२१०॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-संहितायां मध्यमखण्डे घृततैलकल्पना नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

पाकार्थ—विशुद्ध कड़वा तैल ४ प्रस्थ (४ सेर)। गोमूत्र १६ सेर। रस पाकार्थ—धत्तूरपत्र रस, कनेर का रस, भागरे का रस, सारिणी (अतिवला) रस, नीम के पत्तों का रस, सोहाजने का रस, चीते का रस, असगन्ध का क्वाथ, प्रसारिणी का रस, सिरस का क्वाथ, कूडे की छाल का क्वाथ, श्वेतसारिवा का रस, सेमल की छा

रस, करञ्जुआ के पत्तों का रस, रविप्रिया (हुलहुल) का रस, महानिम्ब (ड्रेक) छाल का रस, डिण्डिघोष (रक्त एरण्ड) का रस, महेरण (सल्की) का रस, वला क्वाथ, मालकागनी का रस, निशोत का क्वाथ, चक्रमर्द का रस। प्रत्येक रस अथवा क्वाथ तैल के समान भाग ग्रहण करके पृथक् २ पाक करे। कल्कद्रव्य—देवदारु, हलदी दारुहलदी, जटामासी कूठ, श्वेतचन्दन कालीमिरच, निशोत, जमालगोटे की जड, वरकिया हरताल, मैनसिल, कमीला आमलासार गन्धक, खैर की छाल, काली पीपल, वच, रसौत, सिन्दूर, सरलनिर्यास (गन्दा विरोजा), लालचन्दन, इरिमेद (विट् खदिरत्वक्) तुम्बी, मजीठ, सम्हालू कनेर की जड़, रास्ना, सोंठ, श्रेष्ठा (स्थल कमल), पोहकरमूल, कचूर, तालीसपत्र, प्रियगु, रेणुका, चातुर्जातक (दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेशर), तुलसी, शीतल चीनी, जावित्री, मालकागनी के वीज। प्रत्येक एक २ पल (५।५ तोला)। मीठा तेलिया २ पल (दश तोला)। इस योग के समस्त पदार्थो का यथाविधि मन्दाग्नि द्वारा मिट्टी अथवा लोह निर्मित पात्र में पाक करे। उचित पाक हो जाने पर स्वच्छ वस्त्र से छानकर उत्तम पात्रों में भरकर रख लेवे। इसके प्रयोग करने से मज्जा धातु के आश्रित होकर आरम्भ होने वाले वात विकार, त्वक् गत वातरोग, अस्थि स्थित वातदोष तथा ऊरुग्रह, आमवात, मूत्रकृच्छ्र, दण्डापतानक, कुबड़ापन, शोथ (सूजन), पक्षाघात, अर्दित, हनुस्तम्भ, शिर का कांपना, मूर्च्छारोग, दृष्टिभ्रम अपस्मार, उन्माद अपतंत्रक आक्षेपक अस्थि और सन्धि भग आदि सब रोग नष्ट होते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि यह तैल व्यय और परिश्रम साध्य है और इसीलिये इसका प्रचार वाहुल्य नही है। परन्तु इसके द्रव्यों के विचार से इस निश्चय में लेशमात्र भी सन्देह नहीं रहता कि इसका प्रयोग अवश्य वात कुलों को विध्वस करने में अप्रतिहतवीर्य सिद्ध होगा। योग्य चिकित्सक इसका प्रयोग—पान, धारण, मर्दन, नस्य, पूरण एव पिचु स्रोतादि अनेक विधानों से कर सकते हैं।

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायां शार्ङ्गधर-
संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकायां भाषाटीकायां द्वितीयखण्डे
स्नेहकल्पना नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

अथ दशमोऽध्यायः ।

आसवारिष्टादिसन्धानकल्पना—

आसवारिष्टसञ्ज्ञा—

द्रवेषु चिरकालस्थं द्रव्यं यत्सन्धितं भवेत् ।
आसवारिष्टभेदैस्तु प्रोच्यते भेषजोचितम् ॥१॥

जल अथवा क्वाथादि द्रव पदार्थों में किसी द्रव्य (प्रक्षेप्य चूर्ण गुडादि) को चिरकाल तक (आवश्यक अथवा नियत समय तक) एक घट में डालकर सन्धित (बन्द) कर देने से जो उचित (रोगानुसार अथवा उत्तम) भेषज (औषध) तैयार होती है, उसे आसव और अरिष्ट कहते हैं ॥१॥

वक्तव्य—आसव और अरिष्ट में केवल काल्पनिक भेद प्रतीत होता है। वस्तुत आसव और अरिष्ट एकार्थबोधक शब्द हैं। प्रस्तुत आसव जिस शक्ति से चिरस्थायी रहता है उसी शक्ति से अरिष्ट भी चिरस्थायी होता है। उदाहरणार्थ—यदि कुष्ठ अथवा अश्वगन्धादि से तैयार किया हुआ अरिष्ट वातनाशक और शक्तिवर्धक हो सकता है तो इन्ही द्रव्यों से बना हुआ आसव भी उक्त शक्ति से वञ्चित नही होगा। अत पूर्वाचार्यो ने भक्षणीय और गुणकारी औषधों की अनेकात्मक कल्पना के लिये क्षेत्र विस्तृत कर दिया है। यथा—

सुरामन्थाऽऽसवारिष्टाल्लेहांश्चूर्णान्यस्कृती. ।
सहस्रशोऽपि कुर्वीत बीजेनाऽनेन बुद्धिमान् ॥ (सु०चि०)।

एवविध कुशल चिकित्सक रोगनाशक औषधों को अनेक विधानों से तैयार करके प्रयोग कर सकता है। अत आसव और अरिष्ट का भेद भी इसी दृष्टि कोण से किया गया है। भगवान् चरक आसव का लक्षण इस प्रकार करते हैं—'एपामासवानामासुतत्वादासवसञ्ज्ञा' । अथवा 'आसूयते तोयकार्यं क्रियते यस्मिन् स आसव' एवं पुञ् अभिषवे स्वादि से 'ऋदोरप्' प्रत्यय करने से आसव शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् सन्धान करके द्रव्यस्थ सार को पृथक् करने (चुवा लेने या स्रावित) कर लेने को आसव कहते हैं। अत 'आसुतत्वादासव' यही ठीक है। अरिष्ट—'न रिष्यत इत्यरिष्टम्' अर्थात् विकृति रहित और न सडने वाले पदार्थ को अरिष्ट कहते हैं। सन्धित आसव को चुवा लेने से जो पदार्थ प्राप्त होता है। उसका नाम वर्तमान में 'मद्यसार' (Alcohal) है । और यही मद्यसार अरिष्ट में विद्यमान रहने से अरिष्ट को बिगडने नही देता। अत आसव और अरिष्ट एक शक्ति के दो रूपों के भिन्न और कुछ नही हैं। हाँ, यह हो सकता है कि आसव छोटा भाई है और अरिष्ट बडा भाई है।

आसवारिष्टयोर्भेद —

यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः ।
अरिष्टः क्वाथसिद्धः स्यात्तयोर्मानं पलोन्मितम् ॥२॥

औषध और जल आदि पदार्थों को बिना पकाए जो मद्य (मद्यांश युक्त शीतरस) सिद्ध किया (बनाया) जाता है, उसे 'आसव' कहते हैं । और औषधों का क्वाथ बनाकर तथा क्वाथ से जो मद्यांशयुक्त (प्रवाही) पदार्थ बनाया जाता है, उसे 'अरिष्ट' कहते हैं ॥२॥

वक्तव्य—आसव और अरिष्ट के उपरोक्त लक्षण श्रीशार्ङ्गधराचार्य ने अपने मन्तव्यानुसार स्थिर किये हैं । किन्तु आयुर्वेद के मान्य आचार्य आसव और अरिष्ट के उक्त लक्षणों से सहमत नहीं हैं । यथा—

आसवाऽरिष्टयोर्यत्र न गुणो लभ्यते यदा ।
एकद्वित्रिश्रृतं कृत्वा दापयेद् गुणवृद्धये ॥ (गोपुर र०)

अर्थात् सन्धानीय आसवारिष्ट में जहा सम्यक् गुणोदय न हो वहा एक दो और तीन वार तक (एक वस्तु या एक गण जिसका आसवारिष्ट बनाना हो) वार २ क्वाथ करके गुण वृद्धि के लिये प्रयोग में लावे ।

अन्यच्च—अष्टावशेषितं कृत्वा गुडं क्वाथसमं क्षिपेत् ।
गुडं क्वाथ्यौषधसमं जलं चापि चतुर्गुणम् ॥
आसवारिष्टमद्येषु । (वृद्ध सु०) ।

उक्त परिभाषा वचनों में आसव और अरिष्ट में भेद बुद्धि से काम नहीं लिया गया । और इसी साम्यवाद का परिचय आयुर्वेद के मान्य आचार्यों ने अपने २ ग्रन्थों में स्पष्ट रीत्या दिया है । यथा—

क्वाथ्यद्रव्य घटसमं जलं दशघटं क्षिपेत् ।
निक्वाथ्य पादशेष तु गुडं सार्धघटं न्यसेत् ॥
विमृद्य सन्धितं यच्च तच्चासवमीरितम् । (वृद्धसुश्रुत)

अर्थात् क्वाथ्यद्रव्य १ घट (१ द्रोण), जल १० घट (१० द्रोण)। अवशिष्ट क्वाथ पादावशेष (२॥ द्रोण) । गुड सार्ध घट (१॥ द्रोण) । इस प्रकार सिद्ध सधान को आसव कहते हैं । शार्ङ्गधर की परिभाषा के अनुसार यह 'अरिष्ट' की श्रेणी में आवेगा । आसवारिष्ट में भेद बुद्धि के उदाहरण—लोध्रासव—समस्त द्रव्यों मे ३२ गुणा जल देकर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ में प्रक्षेप रहित सन्धान सिद्ध पदार्थ को आसव के नाम से लिखा गया है । (चर० चि० अ० ६०) ।

---

१ 'जलोन्मितम्' इत्यपि पाठ । तद्यथा—

शुद्धक्वाथ पिबेत्प्रात सोपदश पलद्वयम ।
मध्याह्ने द्विगुण तच्च स्निग्धाहारेण पाययेत् ॥

मूलासव—१४ गुने जल को चतुर्थांशावशिष्ट रखकर सप्रक्षेप सन्धान को आसव कहा है। (चरक० चि० अ० १५)। दुरालभासव—११ गुने जल को पादावशेप करके सप्रक्षेप पदार्थ को आसव माना गया है। (च० चि० अ० १५)। शर्करासव—अष्टगुण जल को पादावशेप, प्रक्षेप रहित सन्धान सिद्ध द्रव को आसव माना गया है। (चर० चि० अ० १४)। गौडासव—पाच गुने जल में क्वाथ्य पकाकर पादावशेप कपाय, प्रक्षेप रहित सिद्ध पदार्थ को आसव स्वीकार किया गया है। (सु० सू० अ० ४४)। मधूकासव—चतुर्गुण जल का तृतीयाश अवशिष्ट क्वाथ एव प्रक्षेप रहित सिद्ध संधान को आसव का नाम दिया गया है। (च० चि० अ० १५)। अत ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि पूर्वाचार्यो ने आसव का निर्माण क्षेत्र सकुचित स्थिर नही किया। अरिष्ट—अरिष्ट के लिये भी पूर्वाचार्यो का यही मत है। यथा—मध्वरिष्ट—समस्त द्रव्यों से पाच गुना जल डालकर पाक रहित सन्धान को मध्वरिष्ट माना गया है। (च० चि० अ० १५)। पूतीकारिष्ट—द्रव्यापेक्षा आधे से कुछ ऊपर जल डालकर पाकरहित सिद्ध सन्धान को अरिष्ट माना गया है। (सु० चि० अ० १०)। अष्टशतारिष्ट—तृतीयाश जल के साथ पाकरहित सिद्ध सन्धान को अरिष्ट स्वीकार किया गया है। (च० चि० अ० १२)। धात्र्यरिष्ट—केवल आमलकी रस से सन्धान सिद्ध पदार्थ को ही अरिष्ट मान लिया गया है। (चर० चि० अ० १६)। अत ऊपर के उद्धरणों से अरिष्ट का निर्माण क्षेत्र भी सुविशाल है। अत यह सिद्ध है कि पूर्वाचार्य आसवारिष्ट निर्माण पर विशेष (पक्कापक्क का) प्रतिबन्धन स्थिर करने के पक्ष में नही हैं।

अनुक्तमान अरिष्टादि में मानव्यवस्था—

अनुक्तमानारिष्टेपु द्रवद्रोणे तुलां गुडम्।
क्षौद्रं क्षिपेद् गुडादर्धं प्रक्षेपं दशमांशिकम् ॥३॥

जिन आसवारिष्टों में शास्त्रकारों ने आसवारिष्ट में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यो का मान निर्देश न किया हो वहा एक द्रोण (शार्ङ्गधरीय परिभाषा के अनुसार १२ सेर, १२ छ०, ४ तोला, परन्तु व्यावहारिक द्रोण १६ सेर लिया जाता है) द्रव पदार्थ में १ तुला (५ सेर) गुड तथा गुड से आधा (२॥ सेर) शहद और गुड का १/१० भाग प्रक्षेप डालकर सिद्ध करे ॥३॥

वक्तव्य—गुडादि के मान में आचार्यों का भिन्न मत इस प्रकार है—

अरिष्टेपु च सर्वेपु द्रोणे पलशत गुडम्।
चिरस्थायिष्वरिष्टेषु द्विगुणं गुडमावपेत् ॥
क्षौद्रं क्षिपेद् गुडादर्द्धं पक्षेपस्तु दशांशिकः। (गोपुर रक्षित)।

अन्यच्च—क्वाथ्यद्रव्यस्य हि समं क्वाथं नीत्वा तु धारयेत्।
पात्रे मृण्मयके भूमौ निखाते तु गुडं न्यसेत् ॥
क्वाथादर्धं ततो द्रव्यं प्रदेय चाष्टमांशिकम्।

क्षौद्रं क्षिपेद् गुडादर्धं शर्करा च तथा न्यसेत् ॥
कर्कन्धूमूलप्रभृतीन् गुडतुल्यं प्रदापयेत् ।
धातकीकुसुमं देयं क्षौद्रशर्करयोर्द्विकम् ॥
सम्यक् पक्वं ततो ज्ञात्वा न्यसेद्यन्त्रे प्रसाधयेत् । (दीपि०) ।

आसवारिष्टों की अनुक्तमाना परिभाषा भेद से प्रतीत होता है कि पृथक् २ परिमाणों द्वारा दिये गये जलादिक से भी इनको प्रस्तुत किया जा सकता है । अत जहा जैसी आवश्यकता हो, वैद्य अपनी बुद्धि से कल्पना करे । यह उक्त मानभेद अनुक्त मानावस्था में प्रयुक्त होता है । प्राय आसवारिष्टों में मान प्रथमत, ही निर्दिष्ट रहता है ।

कथिताकथित भेद से सीधु लक्षण—

ज्ञेयः शीतरसः सीधुरपक्वमधुरद्रवैः ।
सिद्धः पक्वरसः सीधुः संपक्वमधुरद्रवैः ॥४॥

अपक्व मधुरद्रव (ईख-गन्ने के रस) से (सन्धान) सिद्ध द्रव पदार्थ को शीतरस सीधु कहते हैं । और जो मधुर द्रव को पकाकर सन्धान सिद्ध पदार्थ प्राप्त होता है उसे पक्वरस सीधु कहते हैं ॥४॥

सुराप्रसन्नादि मद्यभेदों के लक्षण—

परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः ।
सुरामण्डः प्रसन्ना स्यात्ततः कादम्बरी घना ॥५॥
तदधो जगलो ज्ञेयो मेदको जगलाद्घनः ।
पक्वोसौ हृतसारः स्यात्सुराबीजं च किण्वकम् ॥६॥

एव तण्डुल अथवा कोद्रवादि अन्नों को पकाकर जो सन्धानानन्तर मद्याशयुक्त पदार्थ प्राप्त होता है उसे सुरा कहते हैं । (पार्वतीय प्रदेशों में इसको लुगड़ी और वगनी कहते हैं और यह प्रचुरता से प्रयोग होती है । इस में पर्याप्त मद्याश होता है जो पुजारियों की इच्छा पूर्ण करता है । पक्वरस सीधु, अपक्वरस सीधु तथा सुरा का निर्माण विधान इसके निर्माताओं से ही अवगत होने योग्य है,) । सुरा के ऊपर रहनेवाले मण्ड (अत्यन्त स्वच्छ) भाग को प्रसन्ना कहते हैं । यह मद्य बाहुल्य होती है । सुरा के किञ्चित् घन (गाढे) भाग का नाम कादम्बरी है । कादम्बरी से नीचे रहनेवाले (कुछ घन) भाग को जगल कहते हैं । जगल से भी अधिक सघन (अत्यन्त गाढे-तिलछट) भाग को मेदक कहते हैं । वारुणी यन्त्र द्वारा खींचे हुए मद्य के पश्चात् अवशिष्ट भाग को हृतसार कहते हैं । सुराबीज और किण्व इसके दूसरे नाम हैं ॥५—६॥

वक्तव्य—ऊपर जिन सुरा प्रसन्ना आदि मद्यभेदों का वर्णन किया गया है,

इनका प्रचार वर्तमान में अल्प और गोप्य होने के कारण आपत्तिजनक है। अत विशद वृत्त तद्विद्य अनुभवियों से प्राप्त करे।

वारुणीमाह—

यत्तालखर्जूररसैः सन्धिता सा हि वारुणी।

ताल (ताडवृक्ष के फल) और खर्जूर (छुहारे)—इन फलो के रस को सन्धान करने के पश्चात् जो द्रव पदार्थ प्राप्त होता है, उसे वारुणी कहते हैं।

वक्तव्य—इसे यथाविधि परिसाधित करके वारुणी यन्त्र से खीच लिया जाता है। तब इसे वारुणी कहते हैं। लोकभाषा में इसे 'ताडी' और 'सेन्धी' कहते हैं। यह उत्तम मादक पदार्थ है।

शुक्त—

कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च ॥७॥
यत्र द्रवेऽभिषूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते।

कन्द (सूरणकन्द आलु आदि), मूल (मूली गाजर आदि), फल (करमर्द, रम्भा, बेंगन, सेव, नासपाती आदि) तथा आदि शब्द से पुष्प, पत्र, नाल आदि। एव स्नेह (कड़वा तैल), लवण (सैंधा नमक) तथा चकार से हलदी, मिर्च, मिसाला, राई आदि पदार्थ सजल घट में डालकर सन्धित करने से जो अम्लरस विशिष्ट पदार्थ प्रस्तुत होता है उसे शुक्त कहते हैं ॥७॥

वक्तव्य—इस शुक्त का व्यवहार गृहस्थों में अधिक है। यह अत्यन्त स्वादु और रुचिवर्धक पदार्थ बनता है। इसको कांजी कहते हैं।

चुक्र—

विनष्टमम्लतां यातं मद्यं वा मधुरद्रवः ॥८॥
विनष्टः सन्धितो यस्तु तच्चुक्रमभिधीयते।

मद्यांश विनष्ट होने के कारण मद्य चुक्र में परिणत हो जाता है। इसको चुक्र (सिरका) कहते हैं। एव मधुरद्रव (गन्ने का रस, शर्करोदक अथवा गुड़ोदक) घडे में डालकर सन्धित करने के पश्चात् जब उसका माधुर्य नष्ट हो और अम्लत्व प्राप्त हो, तब उसे चुक्र कहते हैं ॥८॥

वक्तव्य—बहुधा लोग शुक्त को सिरका मान लेते हैं। परन्तु आयुर्वेद उस अम्लांशविशिष्ट पदार्थ को शुक्त कहता है, जिसका लौकिक नाम काजी है। सिरका भिन्न पदार्थ है, जिसको आयुर्वेद चुक्र के नाम से सम्बोधित करता है। सिरका निर्माण—गुड़ अथवा अन्य शर्करादि मधुर पदार्थ जिसका भी सिरका बनाना हो उसे ५ सेर लेकर २० सेर स्वच्छ मीठे जल में घोल देवे। इस मधुर द्रव को घडे में डालकर उसका मुख यथाविधि बंद कर देवे। और घड़े को स्वच्छ शुष्क और उष्ण स्थान पर स्थिर कर देवे। १०—१५ दिन के पश्चात् मुखमुद्रा-

भेदन करके देखे। द्रव पूर्णरीत्या अम्लत्व में परिणत हो गया हो तो स्वच्छ वस्त्र से छानकर चीनी के पात्र या बोतलों में भर देवे और प्रति सप्ताह इसको बार २ छानता रहे। इस प्रकार दो तीन मास में अत्युत्तम सिरका तयार होगा जो कभी विकृत न होगा। सिरके के सन्धान के लिये दिनमर्यादा इस प्रकार है—

घनात्यये तथा ग्रीष्मे सन्धानं षड्दिनैर्भवेत् ।
हेमन्ते शिशिरे स्थाप्यं भिषजा दिग्दिनावधि ॥
प्रावृड्वसन्ते सन्धानं भवेदष्टदिनेन वै ॥ (वृद्धसु०)

यदि घट को उचित स्थान पर रखा जावे तो यह दिनमर्यादा ठीक रहती है।

गुडशुक्त—

गुडाम्बुना सतैलेन कन्दमूलफलैस्तथा ॥९॥
सन्धितं चाम्लतां यातं गुडशुक्तं तदुच्यते ।

गुड, जल, तैल, कन्द, मूल, फल एवं माषपिष्टी निर्मित 'भल्ले' अथवा चणक वटक आदि डालकर सन्धित करने से अम्लत्व उत्पन्न हो गया है जिस में, ऐसे तरल पदार्थ को गुडशुक्त कहते हैं। यह भी काजी का ही भेद है। इस में गुड अधिक है अत यह अधिक स्वादु और दस्तावर हो जाता है। कोष्ठबद्धता को दूर करता है। इसको पर्वतीय भाषा में 'ल्हास' कहते हैं ॥९॥

इक्षुशुक्त—

एवमेवेक्षुशुक्तं स्यान्मृद्वीकासंभवं तथा ॥१०॥

गुड शुक्त की विधि के अनुसार गन्ने के रस तथा किशमिश को यथानियम सन्धित करने से इक्षुशुक्त तथा मृद्वीकाशुक्त प्रस्तुत करे ॥१०॥

तुषाम्बु विधान—

तुषाम्बु सन्धितं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः ।

अपक्व यवों को कूटकर जल के साथ यथानियम सन्धित करने से जो पदार्थ प्राप्त होता है, उसे तुषाम्बु कहते हैं।

वक्तव्य—इसमें भी अम्लांश उत्पन्न हो जाता है। एवं यह उपरसादि के शोधन कार्य में व्यवहार होता है।

सौवीर विधान—

यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं सन्धितं भवेत् ॥११॥

सुपरिपक्व यवों का छिलका उतार कर तथा कूटकर जल के साथ यथानियम सन्धित करने से प्राप्त होने वाले पदार्थ को सौवीर कहते हैं। यह भी औषध कार्य में प्रयुक्त होता है ॥११॥

काञ्जिक विधान—

कुल्माषधान्यमण्डादि सन्धितं काञ्जिकं विदुः ।

कुल्माष (रुआँ), धान्य (चावल) आदि से यथाविधि प्राप्त मण्ड (माड) को सन्धित करने से प्राप्त होने वाला पदार्थ काजी कहलाता है ।

वक्तव्य—आयुर्वेद में धातूपधातु रसोपरसादि के शोधनार्थ जिस कांजी का निर्देश पाया जाता है वह यही काजी है । इसी को आरनाल कहते हैं । इसको इस विधान से सिद्ध करे—रक्तशाली १ सेर । जल १६ सेर । दोनों को एक पात्र में पकावे । जब भात सिद्ध हो तब उसको स्वच्छ मृत्पात्र में डालकर यथाविधि सन्धित करके दश बारह दिन पड़ा रहने दे । पुन अम्लाश आने पर स्वच्छ वस्त्र से छान कर बोतलों में भर लेवे । यह उपरोक्त कार्यो में व्यवहार होने योग्य उत्तम काजी है । अथवा इस विधि से बनावे—

तुलामितं षष्टिकतण्डुल च प्रगृह्य चाग्नि विधिवद्विधाय ।
द्रोणेऽम्भसि क्षिप्तमथ त्रियामास्वनप्तरक्षेत् पिहितं प्रयत्नात्॥
ततस्तु कल्कं सकलं निरस्येत् तत्काञ्जिक कथ्यत आरनालम् ।

सण्डाकी विधान—

सण्डाकी सन्धिता ज्ञेया मूलकैः सर्षपादिभिः ॥१२॥

कुतरी हुई मूली, सर्षप शाक, हलदी, हीग, लवण, मिर्च, मिसाला, राई आदि पदार्थ और आवश्यकतानुसार जल डालकर सन्धानानन्तर प्राप्त पदार्थ को सडाकी कहते हैं । यह भी शुक्त का ही भेद है ॥१२॥

वक्तव्य—आसवारिष्ट सन्धानविधि—आसव और अरिष्ट को सम्यक् रीत्या प्रस्तुत करने के लिये नीचे लिखे विधान अत्यन्त आवश्यक हैं । इनके अनुसार बनाए हुए आसव और अरिष्ट कभी विकृत न होंगे । १ जलादि द्रव पदार्थ । २ क्वाथ्य । ३ क्वाथ । ४ प्रक्षेप । ५ गुड शर्करादि । ६ पात्रनिर्देश । ७ स्थाननिर्देश । ८ घोलविधि । ९ किण्वदान । १० ऋतु । ११ दिनमर्यादा । १२ उत्सेचन काल और क्रिया । १३ पक्वापक्वविज्ञान । १४ गन्धद्रव्य दान । १५ बोतलों में भरना । १६ सुवर्ण मिश्रण । १७ लोहादि धातु मिश्रण । १८ मद्योत्पादक औषधें । १९ द्राक्षा । २० कर्पूर, केशर, कस्तूरी । उपरोक्त प्रकरणों को यथाक्रम विस्तृत किया जाता है ।

१—जलादि द्रव पदार्थ—आसव निर्माण कार्य के लिये जो जल ग्रहण करना हो वह ऐसे जलाशय का न हो जिसमें पत्ते आदि सडे हों या क्षारयुक्त अथवा दुर्गन्धयुक्त हो । प्रत्युत जल स्वच्छ, मधुर और क्रिमि रहित तथा निज रसरूप और गन्धादि से युक्त हो ।

२—क्वाथ्य—क्वाथ्य द्रव्य उत्तम नवीन और त्याज्य दोषों से रहित हों । यथाविधि कूटकर प्रयोग करे ।

३—क्वाथ—अरिष्ट के क्वाथार्थ जल का साधारण नियम तृतीय श्लोक की टीका में दे दिया गया है । परन्तु शास्त्रीय निर्देशों के अनुसार इसका कोई स्थिर नियम

नहीं है। यथा—पुनर्नवाद्यरिष्ट—इसके द्रव्यों को ३२ गुने पानी में अर्धावशिष्ट काथ किया गया है। (चर० चि० अ० १२)।

अभयारिष्ट—इसके क्वाथ्य द्रव्यों का २५ गुने पानी में चतुर्थांशावशिष्ट रखा गया है। (चर० चि० १४ अ०)।

अभयारिष्ट—इसके काथ्य द्रव्य २१ गुने जल में पकाकर पादावशेष ग्रहण किया गया है। (सु०चि०अ० ६)।

दन्त्यरिष्ट—इसके क्वाथ्य द्रव्यों को १६ गुने पानी में पकाकर चौथाई भाग शेष काथ को ग्रहण किया गया है। (सु० चि० १४ अ०)।

फलारिष्ट—इसके क्वाथ्य को केवल १२॥ गुने जल में ही पकाकर चतुर्थ भागावशेष ग्रहण किया गया है। (च० चि० १४ अ०)।

दन्त्यरिष्ट—इसके क्वाथ्य को १० गुने पानी में औटाकर चतुर्थांशावशिष्ट लिया गया है। (सु० चि ६ अ०)।

गण्डीराद्यरिष्ट—इसके क्वाथ्य को अष्टगुण जल से ही पकाकर त्रिभागावशेष ग्रहण कर लिया गया है। (च० चि० १२ अ०)।

वीजकाद्यरिष्ट—इसके द्रव्यों को पांच गुने जल में पकाकर चतुर्भागावशेष ग्रहण किया है। (च० चि० १६ अ०)।

इत्यादि उद्धरणों से स्पष्ट है कि काथ पाकार्थ जल की मात्रा का कोई स्थिर नियम नहीं। जिस कोटि के द्रव्यों को पकाना हो उन में उतना ही जल डाले जितने में कथित होकर द्रव्य अपने सार को जल में छोड़ सकें।

यदुक्तम्—क्वाथ्यद्रव्यस्य वाहुल्यादुदकं स्वल्पमेव चेत्।
सम्यक् पाक न मुञ्चन्ति हीनवीर्यन्तु केवलम् ॥

४—प्रक्षेप्य द्रव्य—वह होते हैं जो पीछे से दिये जाते हैं। इन को ग्रहण करते समय इनकी स्थिति पर विचार कर लेना चाहिये। यह सव नूतन और त्याज्य दोषों से मुक्त होने चाहियें। अरिष्टादि में प्रयुक्त होने वाले प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण वस्त्रपूत हो। जव आसवीय घोल आसवीय घट में डाल दिया जाये तत्पश्चात् प्रक्षेप्य द्रव्य घोल में मिलाये जाते हैं।

५—गुड और शर्करा तथा मधु आदि पदार्थ यथामान ग्रहण करके आसवोपयोगी जल में तथा अरिष्ट के काथ में सव से प्रथम घोल देने चाहियें। गुड उत्तम और सिलावे से रहित हो। शर्करा पाषाणादि संकर दोष से मुक्त होनी चाहिये। मधु सर्वथा शुद्ध और असली ग्रहण करना चाहिये। क्रित्रिम मधु डालने से निःसन्देह आसव अरिष्ट खट्टे हो जाते हैं। कारण कि क्रित्रिम मधु में अम्लांश होता है।

६—पात्रनिर्देश—आसव और अरिष्ट वनाने के लिये पूर्वाचार्यों ने मृत्पात्र ग्रहण किया है। परन्तु वर्तमान में इस कार्य के लिये चीनी और लकडी के पात्र भी व्यवहृत होते हैं। पात्र जो भी हो स्वच्छ हो। नूतन अथवा घृत भाजन हों।

यदि मृत्पात्र नूतन हो तो उसे प्रथम धातकीपुष्प और लोध्र पीसकर उसके अंतराल में पतला २ लेप कर लेना चाहिये। लेप सूखने के पश्चात् अगरु, चन्दन, कर्पूर, मांसी, गुग्गुलु आदि पदार्थो से धूपित कर लेवे। इस प्रकार का सुसंस्कृत पात्र आसवारिष्ट के लिये उपयोगी होता है। यदि घट पुराना अथवा प्रथम बार के बनाये हुए आसवादि का हो तो उसे इस प्रकार शुद्ध करे। प्रथम घट को चूल्हे पर रखकर जल से भर देवे और उसमें १ सेर बिना बुझा चूना डालकर पानी में घोल देवे पुन उसे अग्नि द्वारा पकावे। चार घंटा के बाद घट को उतार कर स्वच्छ जल से शुद्ध कर लेवे जिस से क्षाराश सर्वथा नष्ट हो जाये। यह विधि उन घटों को शुद्ध करने के लिये है जिन में अम्लाश की सम्भावना हो। अन्यथा सर्जरस का चूर्ण ऽ- और मैथिलेटिड स्प्रिट ऽ।= दोनों को मिलाकर अत्यल्प उष्ण करे। दोनों पदार्थो के एकीभूत होने पर पिचु द्वारा घट पोच देवे। इस क्रिया से घटस्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्र बन्द हो जाते हैं। इनके बन्द होने से घटस्थ जल बाहर भी नही आता और घट में वात प्रवेश भी नही होता। एव घट की ऊष्मा ठीक परिमाण में रहती है जिस से आसवारिष्ट के बिगडने का सन्देह नहीं रहता। आसवारिष्ट का ठीक बनने अथवा बिगडने का बहुत बड़ा भाग पात्र के आश्रय है। इस लिये पात्र की ठीक २ देख भाल परमावश्यक है।

७—स्थाननिर्देश—इस सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद है। कई यह कहते हैं कि आसवारिष्ट के घट को पृथ्वी में गाड़कर तैयार करना चाहिये। कई यह कहते हैं कि पृथ्वी के ऊपर रखकर ही बना लेना चाहिये। दोनों विधान ठीक हैं। दोनों से बन सकता है। आवश्यकता केवल उचित ऊष्मा पहुचाने में है। यदि गीली जमीन में आसवीय घट को रखकर बनाया जायेगा तो दोनों विधियों में बिगड़ जायेगा। इसके लिये पृथ्वी शुष्क एव आर्द्रता से सर्वथा रहित हो। ऐसे स्थान पर ४ हाथ गहरा और २॥ हाथ चौडा गढ़ा खोदकर दो चार दिन उसे खुला छोड दे और बाद में आधा गढा भूसा से भर दे और घड़े को भूसे पर स्थिर कर देवे। घड़े में डालने योग्य द्रव्यों को यथानियम डालकर उसके मुख पर मिट्टी का ढकना देकर मिट्टी से मुख बंद कर दे और घडे के गले से एक लेवल बाध दे। उस पर योग का नाम और तिथि लिख देवे। यदि पृथ्वी पर रखकर बनाना हो तो आर्द्रता से रहित शुष्क स्थान जहा स्वच्छ वायु और सूर्य्यातप उचित प्राप्त हो सके ऐसे स्थान को स्थिर करे। ऐसे स्थान पर घट के नीचे थोडा सा भूसा रखकर उसके ऊपर घट को स्थिररीत्या स्थापन करे और घडे के बाह्यभाग को कम्बल या बोरियों से आच्छादित कर दे। इस प्रकार स्थानविचार से आसव स्थानिक दोषों से मुक्त होकर नियमित समय पर तैयार हो जाता है।

८—घोल विधि—आसव का जल और अरिष्ट का क्वाथ निर्दिष्ट मात्रा में ग्रहण करके एक स्वच्छ पात्र में डाले और ऊपर से शुभ लक्षणोंयुक्त गुड, मधु,

शर्करादि पदार्थ यथामान उस में मिलावे और शनै. २ हाथ से आलोडन करे। जब गुडादि पदार्थ जल स्वरूप हो जाएं तब आसवीय घट के मुख पर स्वच्छ वस्त्र बांधकर उस में डालता जाए अथवा दूसरे पात्र में छानकर घट में भरे। घोल डालने के पश्चात् प्रक्षेप्य चूर्ण घडे में डाले और सन्धिमुद्रा कर देवे।

९—किण्वदान—आसवारिष्टों के तलस्थ शुष्कीभूत पदार्थ को किण्व कहते हैं। यदि किसी आसव या अरिष्ट में प्रचुर मद्योद्गम अथवा उसे शीघ्र तैयार करना हो तो उसमें प्रति घट १ सेर शुष्क किण्व दिया जाता है।

१०—ऋतु—आसवारिष्ट बनाने के लिये सब से उत्तम ग्रीष्म ऋतु मानी जाती है। अन्य ऋतुओं में भी बन जाता है परन्तु ग्रीष्म ऋतु में उत्तम और शीघ्र बनता है। जब आसवारिष्ट घट में डाल दिया जाता है तब उष्ण ऋतु में ३—७ दिन और शीत ऋतु में ७—१५—२० दिनों के भीतर घट के अन्दर एक प्रकार का रासायनिक परिवर्तन आरम्भ हो जाता है। यही रासायनिक परिवर्तन घटस्थ घोल को आसवादि में परिणत कर देता है। उष्णकाल में यह परिवर्तन उत्पत्तिकाल से ७ दिन और शीतकाल में उत्पत्तिकाल से १५ दिन तक रहता है।

११—दिनमर्यादा—शास्त्रीय आज्ञानुसार आसवारिष्ट की दिन मर्यादा प्राय एक मास नियत है। परन्तु अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि दिन मर्यादा प्रत्येक ऋतु में भिन्न २ होती है। दिनमर्यादा की नियत स्थिति पर—घोल, स्थान, देश, ऋतु, काल और पात्र का पूर्ण प्रभाव होता है। प्राय देखा गया है कि इस देश में आसवारिष्ट उष्ण ऋतु में १४—१५ दिन में तैयार हो जाते हैं और शीतऋतु में लगभग एक मास अथवा इस से भी अधिक समय लेते हैं। अत प्रत्येक ऋतु में एक मास की प्रतीक्षा करते रहने से अनिष्ट की सम्भावना भी हो सकती है। अतएव ऋतु के अनुसार सावधान रहना शुभावह होगा।

१२—उत्सेचन क्रिया (Fermentation)—इसका आरम्भ उसी समय से हो जाता है जब रासायनिक परिवर्तन प्रारम्भ होता है। जैसे २ यह क्रिया होती जाती है उसी प्रकार कार्बोनिक गैस (Carbonic Acid gas) की घट में उत्पत्ति हो जाती है। इसी उत्सेचन क्रिया से आसवीय घोल मद्य में परिणत होने योग्य होता है। आसव के ठीक समय पर बनने या बिगडने का यही उपयुक्त काल है। उत्सेचन काल में यदि असावधानता के कारण अनुपयुक्त शैत्य स्पर्श हो जाये तो पुनरपि उत्सेचन के लिये द्विगुण त्रिगुण समय अधिक व्यय होता है। जब गैस की उत्पत्ति विदित हो उसी समय सन्धिलेप में एक सूक्ष्म सा छिद्र कर देवे जिससे आवश्यकता से अधिक गैस के वाष्प इस मार्ग से निकलते रहें। इसकी अधिक मात्रा यदि इसी में रहे तो आसव अम्ल होकर शुक्त में परिणत हो जाता है। इस गैस की विद्यमानता जानने के लिये घट के साथ कान लगाकर अन्दर होने वाले शब्द को सुने। इसके उत्पत्तिकाल में कान लगाते ही

शब्द प्रतीति होती है। अथवा घट के मुख को खोलकर एक दियासलाई जलाकर उसके मुख पर लेजाकर जलती हुई दिया सलाई को अन्दर की ओर झुकावे। अगर दियासलाई बुझ (शात हो) जावे तो समझना चाहिये कि अभी कार्वोनिक एसिड गैस समाप्त नही हुई। ऐसी अवस्था में पुन घटमुख को मृदावलिप्त कर देवे। दूसरी वार पुन ऐसी ही परीक्षा करे। जव दिया सलाई न बुझ तव गैस की नि शेपता सिद्ध होती है। यह परीक्षा होने पर भी एक सप्ताह तक घट मुख को वद ही रखना चाहिये। ऐसा करने से आसव में मद्याश की वृद्धि अधिक मात्रा में होती है। परंतु यह स्मरण रहे कि सिद्धि परीक्षा के पश्चात् ७ दिन घट मुख को वन्द करना शीत ऋतु में विधेय है। उष्ण काल में ३।४ दिन पर्याप्त हैं। सात दिन से अधिक पडा रहने से प्राय शुक्त हो जाता है।

१३—पक्वापक्वविज्ञान—जव उत्सेचन क्रिया हो रही हो और कार्वोनिक गैस की विद्यमानता हो तव तक आसव अपक्व समझा जाता है। इसकी अविद्य-मानावस्था में परिपक्व समझा जाता है। परिपक्व आसवारिष्ट गन्धवर्णादि में उत्तम और स्वच्छ होते हैं।

१४—गन्धार्थ प्रक्षेप—यदि आसव अथवा अरिष्ट को सुगन्धित वनाना हो तव उसमें गन्ध द्रव्य उत्सेचन क्रिया की समाप्ति पर डाल देने चाहियें। संजी-वनी सुरा आदि को सुगन्धित करने के लिये भी यही विधान कार्य में लाया गया है। इस अवस्था में गन्धार्थ प्रयुक्त होने वाले द्रव्य—लौंग, इलायची, दालचीनी, केशर आदि हुआ करते हैं। केशर को आसवीय घोल के जल में पीसकर डालना होता है।

१५—वोतलों में भरना—जव पूर्वोक्त समस्त परीक्षाओं में आसव उत्तीर्ण हो जावे तव आसव या अरिष्ट स्वच्छ, प्रवाही, स्वादिष्ट तथा मद्य गन्ध युक्त एव तद्गत द्रव्यों के स्वाद से युक्त होता है। आसवादि को वोतलों में भरने के लिये यह उपयुक्त काल है। विधि इस प्रकार है—स्वच्छ पात्र में स्वच्छ वोतल रखकर उसके मुख पर पीक (Fnal) रखे और उस पर स्वच्छ कपडा रखकर आसव को शनै २ निकाल कर डालता जावे। इससे भिन्न समस्त आसव को किसी वडे पात्र में छानकर वोतलो में भरने की विधि प्रशस्त नही। कारण कि ऐसा करने से आसवान्तर्गत मद्याश का वहुत सा भाग वायु में विलीन हो जाने से आसव हीन-वीर्य हो जाता है। एव भरी हुई वोतलों को तत्काल डाट लगा देने आवश्यक है और डाटों के ऊपर मोम अथवा लाख लगा देवे। इससे आसव में वायु का सञ्चार नही होता। जो आसव वोतलो में पडे हुए खट्टे हो जाते हैं उनमें यही कारण होता है। वोतलें भरने के समय इस वात पर पूर्ण ध्यान रखने की आवश्यकता है कि वोतल में आसव का स्वच्छ भाग ही पहुंचने पावे। यदि कुछ घन भाग वोतल में पहुंच जावे तो उसे दूसरे तीसरे दिन नीचे बैठ जाने पर वोतल में से आसव

के स्वच्छ भाग को ऊपर से यथाविधि निथार लेवे । यदि भूल से किंचित् मात्र भी गाढा भाग आसव के नीचे बैठा रहेगा तब बोतल में पडा रहने पर भी आसव शुक्त में परिणत हो जायेगा । आसव को अत्यन्त स्वच्छ और दर्शनीय बनाने के लिये (Flteatr) विधि से फिलटर कर लेवे । परन्तु इस विधि में भी पोतन यत्र को स्वच्छ काच खण्ड से आच्छादित करना होता है ।

१६—स्वर्ण मिश्रण—सारस्वतारिष्ट में स्वर्ण पत्र दिये गये हैं । परन्तु जब अरिष्ट सिद्ध होता है तब अरिष्ट के जगल में स्वर्णपत्र यथावत् पाये जाते हैं । इनमें कोई परिवर्तन नहीं आता । अत ऐसी दशा में यह भी सम्भावना नहीं कि स्वर्ण से होने वाले लाभ अरिष्ट को प्राप्त हुए हैं । अत स्वर्ण इस विधि से मिलाना अधिक श्रेयकर होगा । यथाहि—

विशोधितं पावकभागिक तु स्वर्ण तु सत्काचशरावसंस्थम् ।
सुराप्रदीप विनिधाय चाथ मन्दानलेनेह पचेद्रसज्ञ ॥
शनै. शनै. सन्ततमल्पमल्पं तुर्य्यांशसोराम्लकमिश्रितं तु ।
क्षिपेद्विशुद्ध लवणाम्लमाराद्यावत् सुवर्णं द्रवतामुपैति ॥
द्रुत सुवर्णन्तु विलोक्य शुद्ध दिग्भागिक सिन्धुभवं क्षिपेच्च ।
नारङ्गरङ्गं तु जले विशुष्क सुवर्णपूर्व लवणं हरेद्व ॥ (रसतर०)

इस सुवर्ण लवण अर्थात् जल में विलीन होने वाली स्वर्णभस्म का आविष्कार जगन्मान्य परम श्रद्धेय गुरुवर्य श्री कविराज नरेन्द्रनाथ मित्र महोदय ने अपनी रसतरङ्गिणी नामक पुस्तक में दिया है । इस प्रकार सिद्ध स्वर्ण शारीरिक यत्रों में तुरत मिलकर सद्य प्रभावोत्पादक होता है । अत जब अरिष्ट अथवा आसव बोतलों में भर दिये जावें तब यथामान सुवर्णभस्म को लेकर अरिष्टादि में घोलकर यथाभाग सब बोतलों में मिला देवे । इस प्रकार स्वर्ण का पूर्ण लाभ आसवादि में प्रविष्ट हो सकता है ।

१७—लौहादि मिश्रण—लोहासव, कुमारी आसव आदि अनेक आसवों में लोह डालने का शास्त्रीय निर्देश रहता है । एतदर्थ सर्वदा उत्तम लोह से सिद्ध भस्म ग्रहण करे । मण्डूर अथवा लोह चूर्ण अपक्व ग्रहण करना हितकर नहीं । अपक्व लोह चूर्ण स्वर्ण पत्रों के अनुसार तल भाग में प्राप्त हो जाता है । अत आसवादि में लोहभस्म या अन्य धातुभस्म आदि डालने का प्रकृत मार्ग यह है आसवारिष्ट के द्रव्यों पर विचार करके यह निर्णय कर लेना चाहिये कि कौन धातु भस्म किस द्रव्य विशेष के साथ विलीन होती है । यथा—लोहासव में लोह को विलीन करने के लिये त्रिफला विद्यमान है । हरीतकी के अभ्यन्तर टेनिक एसिड (Tannic acid) मौजूद है । इसमें लोह को विलीन करने की शक्ति रहती है । सर्व प्रथम एक पात्र में लोह और त्रिफला चूर्ण जल के साथ मिलाकर डाल दे । दो

१—सारस्वतारिष्ट भैषज्यरत्नावल्युक्त रसायनाधिकार ।

चार दिन पडा रहने से लोहभस्म त्रिफला में मिल जायगी । पुन इस लोहसार को आसवीय घट में डालकर शेप द्रव्य यथाविधान मिला लेवे । इसी प्रकार अन्य समस्याओं में स्पष्टीकरण कर लेवे ।

१८—मद्योत्पादक—आसव और अरिष्ट में मद्य को उत्पन्न करने वाले द्रव्य यह हैं—धातकी पुष्प, गुड, द्राक्षा, शर्करा, ऊष्मा आदि खर्जूर और वब्बूलत्वक् तथा अलकोहली यीष्ट (Yeast) भी इस काम के लिये प्रयुक्त होते हैं ।

१९—द्राक्षा—को जल से प्रक्षालन करके स्वच्छ करे और बीज रहित करके शिलाद्वारा पेपण कर लेवे । द्राक्षा की सम्यक् पिष्टी को आसव के घोल के साथ घोल देवे । इसी प्रकार अरिष्ट में ।

२०—कर्पूरादि—कर्पूर, केशर और कस्तूरी का जिन आसवादि में विधान हो उनके लिये कर्पूर को थोडे से मद्यसार में विलीन करके यथाभाग सब बोतलों में डाल देवे । इसी प्रकार कस्तूरी आसव के द्रव से पीस लेवे और थोडा सा मद्यसार इस में मिलाकर यथाभाग इस मिश्रण को बोतलो में मिला देवे । यह संक्षेप से आसवारिष्ट सन्धान विधि का वर्णन किया गया है ।

अथ आसवा —उशीरासव —

उशीरं वालकं पद्मं काश्मीरी नीलमुत्पलम् ।
प्रियङ्गुं पद्मकं लोध्रं मञ्जिष्ठां धन्वयासकम् ॥१३॥
पाठां किराततिक्तं च न्यग्रोधोदुम्बरं शठीम् ।
पर्पटं पुण्डरीकं च पटोलं काञ्चनारकम् ॥१४॥
जम्बूशाल्मलिनिर्यासं प्रत्येकं पलसंमितान् ।
भागान् सुचूर्णितान् कृत्वा द्राक्षायाः पलविंशतिम् ॥१५॥
धातकीं षोडशपलां जलद्रोणद्वये क्षिपेत् ।
शर्करायास्तुलां दत्त्वा क्षौद्रस्यैकतुलां तथा ॥१६॥
मासैकं स्थापयेद्भाण्डे मांसीमरिचधूपिते ।
उशीरासव इत्येष रक्तपित्तविनाशनः ॥ १७ ॥
पाण्डुकुष्ठप्रमेहार्शःकृमिशोथहरस्तथा ।

आसवार्थ—स्वच्छ और मधुर जल २ द्रोण (३२ सेर), शर्करा १ तुला (५ सेर), मधु १ तुला (५ सेर), द्राक्षा (मुनक्का) २० पल (१ सेर) । प्रक्षेपार्थ—धाय के फूल १६ पल (६४ तोला, सम्प्रदायानुसार १ सेर), खस, सुगधबाला, कमलपुष्प, गम्भारी की छाल, नीलोफर, प्रियगु, पद्माख, पठानीलोध, मजीठ, धमासा, पाठा, चिरायता, न्यग्रोध (वट्त्वक्), उदुम्बर वृक्ष की छाल, कचूर, पित्त-पापडा, श्वेतकमल, पटोलपत्र, कचनार की छाल, जामुन वृक्ष की छाल, सेमल

की गोंद । प्रत्येक एक २ पल (५ । ५ तोला) । जटामासी और मरिच से धूपित भाण्ड (आसवार्थ प्रस्तुत किये हुए घट) में यथाविधि प्रत्येक पदार्थ को मिलावे । घट के मुख को वन्द करके एक मास तक पडा रहने, देवे । नियत समय के पश्चात् स्वच्छ वस्त्र से यथाविधि छानकर वोतलों में भर लेवे । यह उशीरासव—रक्तपित्त, पाण्डु, कुष्ठ (रक्तविकार), प्रमेह, ववासीर, क्रिमि रोग तथा सूजन को नष्ट करता है ॥१३-१७॥

वक्तव्य—प्रथम द्राक्षा को स्वच्छ जल से प्रक्षालन करके शिलाद्वारा पेषण करे और आसवीय जल में मधु और शर्करा के साथ घोल देवे । घोल प्रस्तुत होने पर घडे में डाले और प्रक्षेप्य द्रव्यों का उत्तम चूर्ण डालकर मुखमुद्रा करे । इसकी शेष आवश्यक विधि आसवारिष्ट सन्धान विधि में देखकर व्यवहार में लावे । मात्रा—½ से १ तोला तक । विधि—आसवारिष्टों को चिकित्सक निराहार भी देते हैं और आहार के पश्चात् भी । यह योजना रोगी के रोगानुसार होती है । प्राय आसवारिष्ट समान भाग शुद्ध जल से प्रयुक्त होते हैं ।

कुमारी आसव—

सुपक्वरससंशुद्धं कुमार्याः पत्रमाहरेत् ॥१८॥
यत्नेन रसमादाय पात्रे पाषाणमृन्मये ।
द्रोणे गुडतुलां दत्त्वा घृतभाण्डे निधापयेत् ॥१९॥
माक्षिकं पक्वलोहं च तस्मिन्नर्धतुलां क्षिपेत् ।
कटुत्रिकं लवङ्गं च चातुर्जातकमेव च ॥२०॥
चित्रकं पिप्पलीमूलं विडङ्गं गजपिप्पली ।
चविकं हपुषा धान्यं क्रमुकं कटुरोहिणी ॥२१॥
मुस्ता फलत्रिकं रास्ना देवदारु निशाद्वयम् ।
मूर्वा मधुरसा दन्ती मूलं पुष्करसम्भवम् ॥२२॥
बला चातिवला चैव कपिकच्छुस्त्रिकण्टकम् ।
शतपुष्पा हिङ्गुपत्री आकल्लकमुटिङ्गणम् ॥२३॥
पुनर्नवाद्वयं लोध्रं धातुमाक्षिकमेव च ।
एषां चार्धपलं दत्त्वा धातक्यास्तु पलाष्टकम् ॥२४॥
पलं चार्धपलं चैव पलद्वयमुदाहृतम् ।
वपुर्वयःप्रमाणेन बलवर्णाग्निदीपनम् ॥२५॥
बृंहणं रोचनं वृष्यं पक्तिशूलनिवारणम् ।
अष्टावुदरजान् रोगान् क्षयमुग्रं च नाशयेत् ॥२६॥

विंशतिं मेहजान् रोगानुदावर्तमपस्मृतिम् ।
मूत्रकृच्छ्रमपस्मारं शुक्रदोषं तथाश्मरीम् ॥२७॥
कृमिजं रक्तपित्तं च नाशयेत्तु न संशयः ।

आसवार्थ—परिपक्व घीकुआर के पत्तों का रस (जल) १ सेर), मधु और पक्व लोह (भस्म) आधा तुला (मिलित २॥ प्रक्षेपार्थ—काली पीपल, काली मिरच, सोंठ, लौंग, दालचीनी, छोटी तेजपत्र, नागकेशर, चीते की जड की छाल, पीपलामूल, वा चव्य, हाऊबेर, धनिया, सुपारी, कुटकी, नागरमोथा, हरीड, रास्ना, देवदारु, हलदी, दारुहलदी, मूर्वा, मुलेठी, जमालगोटे की मूल, खरैटी, कंघी, कौंच के वीज, गोखरू, मीठी सौंफ, हिंगुपत्री (यह प्रान्त से आती है। इसके पत्तों में हीग की गध होती है। पर्वतीय भाषा इसे 'फरण' कहते हैं), अकरकरा, उटगण वीज, श्वेत साठी की जड, लाल साठी की जड, लोध, स्वर्णमाक्षिक भस्म। प्रत्येक आधा २ पल (२॥-२॥ तो०)। धाय के फूल ८ पल (३२ तोले, सम्प्रदायानुसार आध सेर)। मधु रस में घोल देवे। पुन. यथानियम समस्त औपधों को घृत भाण्ड में डालकर सन्धान विधि के अनुसार शेष क्रिया करे। जब आसव सिद्ध हो तब स्वच्छ वस्त्र से छानकर बोतलों में भर देवे। इसको आयु और शरीर के बलाबल को विचारकर आधा पल (२ तोला) अथवा एक पल (४ तोले) की मात्रा से व्यवहार करे। इसके सेवन से—शारीरिक वल, वर्ण और जठराग्नि की वृद्धि होती है। यह बृंहण (मास वर्धक), रुचिकारक, वृष्य (वीर्यवर्धक) है। एवं परिणामशूल, आठों प्रकार के उदर रोग, तीव्र क्षय रोग, २० प्रकार के प्रमेहरोग, उदावर्त, अपस्मृति (स्मृतिनाश), मूत्रकृच्छ्र, मिरगी, शुक्रदोप (शुक्रमेह और शुक्र के कुणपादि दोष), अश्मरी (पथरी), क्रिमिजनित (ज्वर, विवर्णता, शूल, हृद्रोग प्रभृति) रोग, रक्तपित्त आदि सब रोग दूर होते हैं। इसमें सन्देह नही ॥१८—२७॥

वक्तव्य—परिपक कुमारी पत्रों से रस निकालने के लिये दो विधिया प्रयुक्त होती हैं। यथा—१—सुप्रक्षालित कुमारी पत्रों के ऊपर से कंटक और हरितत्वक् शनै २ दूर करके अभ्यन्तर का गूदा ग्रहण करना। पुन' इसे मर्दन करके वस्त्रपूत किया जाता है। २—विधि में सुप्रक्षालित परिपक पत्रों को किसी बड़े पात्र में डाल दे और पात्र मुख को आच्छादित कर देवे। पात्र को चूल्हे पर रख कर अग्नि जलावे। पत्रों के सस्वेदित और क्लिन्न होने पर हाथ से अथवा वस्त्र खड में डालकर निचोड़ लेवे। दोनों विधियों में मृत्पात्र अथवा पाषाणनिर्मित पात्र का निर्देश है। परन्तु कलईदार वर्त्तन भी व्यवहार में आते हैं। प्रथमापेक्षा दूसरी विधि से स्वरस प्राप्त करना सरल है। इस प्रकार से प्राप्त स्वरस को आस-

वार्थ में प्रयुक्त करे । शेष विवरण आसवारिष्ट सन्धान विधि में देखें । मात्रा—१—२ तोला तक समान भाग जल से, भोजन के प्रथम और पश्चात् दोनों समय प्रयुक्त होता है । यह अत्यन्त हितकर योग है । इसके अन्दर ११ सेर लोह भस्म दी गई है । उसका अधिकांश भाग आसव के भाण्ड के अधोभाग में रहता है । उसे आसव छान लेने के पश्चात् नीचे के जगल को सुखा लेवे । भली प्रकार सूख जाने पर उसे किसी पात्र में डाल कर जगल की शुष्क राशि पर अग्नि के अंगारे रख देवे । वनस्पतियों का भाग दग्ध होने पर भस्म को स्वच्छ जल से प्रक्षालन करे । नीचे से लोह भस्म प्राप्त कर लेवे । इस भस्म को त्रिफलादि से ५—७ पुट देकर उत्तम बना लेवे । कुमारीआसव का एक योग गदनिग्रहकार ने भी अपने ग्रन्थ में दिया है । वह योग भी अत्युत्तम है । उसमें लोह नहीं दिया गया । लोह के स्थान पर अनेक औषधों का क्वाथ देकर सिद्ध किया गया है और उसे भी आसव संज्ञा दी गई है । उसमें ४१ सेर मिलित क्वाथ और रस में ४ तुला गुड तथा २ तुला धातकी पुष्प दिये गये हैं । इस योग में गदनिग्रहकार ने आसवारिष्ट की विलक्षण परिभाषा को वैद्यों के सामने उपस्थित किया है ।

पिप्पल्यासव—

पिप्पली मरिचं चव्यं हरिद्रा चित्रको घनः ॥२८॥
विडङ्गं क्रमुको लोध्रः पाठा धात्र्येलवालुकम् ।
उशीरं चन्दनं कुष्ठं लवङ्गं तगरं तथा ॥२९॥
मांसी त्वगेलापत्रं च प्रियङ्गुर्नागकेशरम् ।
एषामर्धपलान् भागान् सूक्ष्मचूर्णीकृताञ्शुभान् ॥३०॥
जलद्रोणद्वये क्षिप्त्वा दद्याद् गुडतुलात्रयम् ।
पलानि दश धातक्या द्राक्षा षष्टिपला भवेत् ॥३१॥
एतान्येकत्र संयोज्य मृद्भाण्डे च विनिक्षिपेत् ।
ज्ञात्वा गतरसं तस्य पाययेदग्न्यपेक्षया ॥३२॥
क्षयं गुल्मोदरं कार्श्यं ग्रहणीं पाण्डुतां गदम् ।
अर्शांसि नाशयेच्छीघ्रं पिप्पल्याद्यासवस्त्वयम् ॥३३॥

आसवार्थ—स्वच्छजल २ द्रोण (३२ सेर), गुड़ ३ तुला (१५ सेर), द्राक्षा ६० पल (३ सेर) । प्रक्षेपार्थ—धातकी पुष्प दश पल (ऽ॥=), काली पीपल, काली मिरच, चव्य, हलदी, चीते की छाल, नागरमोथा, वायविडंग, सुपारी, पठानी लोध, पाठा, आमले, एलवालुक (सुगन्धि द्रव्य), खस, श्वेत चन्दन, कूठ, लौंग, तगर, जटामासी, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, प्रियंगु, नागकेशर । प्रत्येक आधा २ पल (२॥-२॥ तोला) । प्रक्षेप रूप में देने वाले द्रव्यों का यथाविधान

उत्तम चूर्ण बना लेवे। विधि —आसव योग्य मिट्टी का भांडा लेकर उसे उचित स्थान पर रक्खे और दो द्रोण जल में १५ सेर गुड़ को घोल कर भाण्डे में डाल देवे। पुन. द्राक्षा को प्रक्षालन और बीज रहित करके शिला पर उत्तमरीत्या पीसकर घड़े में मिला देवे। तत्पश्चात् प्रक्षेपार्थ प्रस्तुत समस्त चूर्ण को घड़े में डालकर स्वच्छ हाथ से अभ्यन्तर के वस्तुसमुदाय को आलोडन करे और घट मुख पर दूसरा पात्र रखकर यथानियम सन्धिलेप करे। एक मास अथवा न्यूनाधिक समय पर जब परिपक्व हो तब यथानियम छान कर बोतलों में भर लेवे। इसको अग्निबल के अनुसार पान करने से—क्षय रोग, गुल्मरोग, उदरविकार, कृशता, संग्रहणी रोग, पाण्डुरोग, ववासीर प्रभृति रोगों को यह पिप्पली आसव शीघ्र नष्ट करता है॥२८—३३॥

वक्तव्य—अवशिष्ट आवश्यक वातें आसवारिष्ट सन्धान विधि में देखें। मात्रा—१—२ तोला। समान भाग जल मिलाकर देवे। गुल्म और संग्रहणी के लिये भोजन से पूर्व और अवशिष्ट रोगों में भोजनोत्तर प्रयोग करे। जीर्णज्वर तथा मन्दाग्नि में यह अत्युपयोगी है।

लोहासव —

लोहचूर्णं त्रिकटुकं त्रिफला च यवानिकाम्।
विडङ्गं मुस्तकं चित्रं चतुःसंख्यापलं पृथक्॥३४॥
धातकीकुसुमानां तु प्रक्षिपेत्पलविंशतिम्।
चूर्णीकृत्य ततः क्षौद्रं चतुःषष्टिपलं क्षिपेत्॥३५॥
दद्याद् गुडतुलां तत्र जलद्रोणद्वयं तथा।
घृतभाण्डे विनिक्षिप्य निदध्यान्मासमात्रकम्॥३६॥
लोहासवममुं मर्त्यः पिबेद्वह्निकरं परम्।
पाण्डुश्वयथुगुल्मानि जठराण्यर्शसां रुजम्॥३७॥
कुष्ठं प्लीहामयं कण्डूं कासं श्वासं भगन्दरम्।
अरोचकं च ग्रहणीं हृद्रोगं च विनाशयेत्॥३८॥

आसवार्थ—स्वच्छ जल २ द्रोण (३२ सेर), गुड १ तुला (५ सेर), मधु ६४ पल (३। सेर)। प्रक्षेपार्थ—लोह भस्म १६ तोले, काली पीपल १६ तो०, काली मिरच १६ तो०, सोंठ १६ तो०, हरड़ का छिलका १६ तो०, वहेडे का छिलका १६ तो०, आमला (अस्थिरहित) १६ तो०, अजवायन १६ तो०, वायविडग १६ तो०, नागरमोथा १६ तो०, चित्रक मूलत्वक् १६ तो०, धाय के फूल २० पल (१ सेर)। कूटने योग्य वस्तुओं को भली प्रकार कूटकर उत्तम चूर्ण बना लेवे। विधि — घृत भाण्ड (अथवा आसवोपयोगी घट) में यथाविधि गुड और मधु के घोल को डाल देवे और ऊपर से प्रक्षेप डालकर यथानियस मुख मुद्रा कर देवे और एक

मास तक पडा रहने देकर परिपक्व होने की प्रतीक्षा करे । जब आसव सब परीक्षाओं से मुक्त होकर उत्तम रीत्या जातरस हो तब स्वच्छ वस्त्र से छानकर बोतलों में भर कर बन्द कर देवे । इसके प्रयोग से—जठराग्नि की वृद्धि होती है तथा पाण्डुरोग, सूजन, गुल्म (गोला) रोग, उदररोग, बवासीर, कुष्ट (रक्तविकार), प्लीहा वृद्धि (यकृद्वृद्धि भी), कण्डू (खाज), खासी, दमा, भगदर रोग, अरुचि, संग्रहणी रोग एव हृद्रोग नष्ट होते हैं ॥३४—३८॥

वक्तव्य—पाण्डुरोग में जब कोष्ठबद्धता हो तब कोष्ट शुद्ध करके इसका प्रयोग करे । यह यकृत् और प्लीहा वृद्धि के लिये उत्तम औषध है, अरुचि और आमानुबन्धी सग्रहणी में अतिप्रशस्त है । ज्वर वेग में जब अधिक वमन हों तब इसको अर्क सौंफ के साथ प्रयोग करने से आश्चर्य कारक गुण होता है । मात्रा—१—२ तोला, अर्क सौंफ के साथ प्रयोग करे । निराहार और आहार के पश्चात् दोनों अवस्थाओं में नि शङ्कतया प्रयोग किया जा सकता है ।

मृद्वीकासव (मृद्वीकारिष्ट)—

मृद्वीकायाः पलशतं चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ।
द्रोणशेषे सुशीते च पूते तस्मिन्प्रदापयेत् ॥३९॥
तुले द्वे क्षौद्रखण्डाभ्यां धातक्याः प्रस्थमेव च ।
कङ्कोलकं लवङ्गं च फलं जात्यास्तथव च ॥४०॥
पलांशकं च मरिचत्वगेलापत्रकेसराः ।
पिप्पली चित्रकं चव्यं पिप्पलीमूलरेणुके ॥४१॥
घृतभाण्डे विनिक्षिप्य चन्दनागरुधूपिते ।
कर्पूरवासितो ह्येष ग्रहण्या दीपनः परः ॥४२॥
अर्शसां नाशने श्रेष्ठ उदावर्तस्य गुल्मनुत् ।
जठरक्रिमिकुष्ठानि व्रणानि विविधानि च ॥४३॥
अक्षिरोगशिरोरोगगलरोगांश्च नाशयेत् ।

काथ्य—मुनक्का १०० पल (५ सेर) । पाकार्थ—स्वच्छ जल ४ द्रोण (६४ सेर, अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ १ द्रोण, १६ सेर), मधु १ तुला (५ सेर), खाड १ तुला (५ सेर) । प्रक्षेपार्थ—धाय के फूल १ प्रस्थ (१ सेर), शीतल चीनी, लौंग, जायफल, कालीमिरच, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेशर, कालीपीपल, चीते की जड़ की छाल, चव्य, पीपलामूल, रेणुका । प्रत्येक एक २ पल (५।५ तोला) । विधि—घृत भाण्ड को चन्दन और अगरु से धूपित करके यथास्थान स्थापित करे और उसमें वस्त्रपूत द्राक्षा के कषाय में शहद और खाड को घोलकर डाले तथा ऊपर से प्रक्षेप का चूर्ण डालकर यथाविधि मुख मुद्रा करे और जातरस होने

पर बोतलों में स्वच्छ वस्त्र द्वारा छानकर भर देवे । इसको कर्पूर से सुगन्धित करके प्रयोग करने से ग्रहणी (ग्रहणी कला में रहने वाली अग्नि) दीप्त होती है तथा बवासीर को नष्ट करने में यह श्रेष्ठ है । एवं उदावर्त, गुल्म, उदर के क्रिमि, कुष्ठ, अनेक प्रकार के व्रण, आख के रोग, शिर के रोग और गलाश्रित रोग नष्ट होते हैं ॥३६—४३॥

वक्तव्य—(१) शार्ङ्गधर संहिता के प्राचीन टीकाकार वैद्यवर आढमल्ल इस मृद्वीकासव को प्रक्षिप्त मानते हैं । इसी कारण उन्होंने इसकी टीका नहीं की । सम्भव है इसका कारण यह हो कि संहिता प्रतिपादित आसव के लक्षणों से इसका निर्माण नही होता । क्योंकि आसव में अपक्व जल दिया जाता है और इसमें क्वाथ ग्रहण किया गया है । अपने निर्धारित नियम को पालन करने के लिये बहुत अंशों तक ऊपर की युक्ति का आश्रय लिया जा सकता है । परन्तु पूर्वोद्धृत उद्धरणो से आर्ष नियम में विशेष परिवर्तन उपस्थित नही होता । (२) इसमें चार द्रोण जल डालकर १ द्रोण शेष रखकर १० सेर मधुशर्करा दिये गये हैं । १६ सेर जल में १० सेर मधुरांश विलीन होने से घोल अधिक गाढा हो जाता है तथा प्रक्षेप्य चूर्ण और घट भी जल शोषण करता है । अत उक्त जल में प्रस्तुत होने पर इसका स्वरूप फाणिताकृति होता है । प्राय वैद्य लोग इसमें द्रव द्वैगुण्य परिभाषा का आश्रय लेकर ८ द्रोण जल का २ द्रोण ३२ सेर शेष रखते हैं । इस विधान से यह उत्तम बनता है । कोई दोष इसमें नही आता । एव इसे और अधिक उत्तमोत्तम बनाने के लिये इसमें जल अथवा क्वाथादि के स्थान पर ताजे अंगूरों का रस डालकर बना लेने से सोना और सुगन्ध वाली कहावत चरितार्थ होती है । मात्रा—१—४ तोला तक वयोबल के अनुसार समान भाग जल मिलाकर पान करे । क्षीराशी बच्चों को १—३ मासा तक देवे । इसको क्षीण धातु, क्षीणरक्त, क्षीणहृदय, क्षीणविचार मनुष्यों को अवश्य पान करना चाहिये । यह अत्यन्त स्वादु, पौष्टिक, जठराग्निवर्धक तथा आह्लादकारक है ।

अथ अरिष्टा । कुटजारिष्ट ज्वरादौ—

तुलां कुटजमूलस्य मृद्वीकार्धतुलां तथा ॥४४॥
मधूकपुष्पकाश्मर्यौ भागान्दशपलोन्मितान् ।
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा क्वाथे द्रोणावशेषिते ॥४५॥
धातक्या विंशतिपलं गुडस्य च तुलां क्षिपेत् ।
मासमात्रं स्थितो भाण्डे कुटजारिष्टसंज्ञितः ॥४६॥
ज्वरान्प्रशमयेत्सर्वान्कुर्यात्तीक्ष्णं धनञ्जयम् ।

कुटजारिष्टार्थ—काथ्य—कुटजमूलत्वक् (कुडे की जड की छाल) १ तुला (५ सेर), मुनक्का २॥ सेर, मधूकपुष्प (महुए के फूल) दश पल (½ सेर), गम्भारी की छाल दश पल (½ सेर) । पाकार्थ—जल ४ द्रोण (६४ सेर) । अवशिष्ट वस्त्रपूत

क्वाथ १ द्रोण (१६ सेर)। प्रक्षेपार्थ—धाय के फूल २० पल (१ सेर), गुड़ १ तुला (५ सेर)। विधि —कुटजत्वक् को क्वाथ योग्य कूट लेवे। द्राक्षा को सुप्रक्षालित करके पृथक् कूट लेवे । शेष द्रव्यों को यथाविधान कूट कर यथाविधि पादावशेष क्वाथ प्राप्त करे और उसमें गुड घोलकर अरिष्टार्थ प्रस्तुत किये हुए घट में डाल देवे । ऊपर से धाय के फूल डालकर यथाविधि मुखमुद्रा करके एक मास तक पडा रहने दे (आसवारिष्ट सन्धान विधि के अनुसार देख भाल करता रहे)। जातरस होने पर यथाविधि स्वच्छ वस्त्र से छानकर बोतलों में भर देवे । इसके प्रयोग से समस्त प्रकार के ज्वर नष्ट होते हैं और जठराग्नि दीप्त होती है ॥४४—४६॥

वक्तव्य—इसका प्रयोग पुराण ज्वर तथा पक्वातिसार एवं संग्रहणी आदि में अतिशय हितकारक है । मात्रा—१—२ तोला तक वयोबल के अनुसार। अविच्छेदी ज्वर में इसे समान भाग जल से ६।६ मासा की मात्रा से प्रति घंटा घंटा बाद देने से ज्वर उतर भी जाता है ।

अथ विद्रध्यादौ विडङ्गाद्यरिष्ट —

विडङ्गं ग्रन्थिकं रास्ना कुटजत्वक्फलानि च ॥४७॥
पाठैलवालुकं धात्री भागान्पञ्चपलान् पृथक् ।
अष्टद्रोणेऽम्भसः पक्त्वा कुर्याद् द्रोणावशेषितम् ॥४८॥
पूते शीते क्षिपेत्तत्र क्षौद्रं पलशतत्रयम् ।
धातकीं विंशतिपलां त्रिजातं द्विपलं तथा ॥४९॥
प्रियङ्गुकाञ्चनाराणां सलोध्राणां पलं पलम् ।
व्योषस्य च पलान्यष्टौ चूर्णीकृत्य प्रदापयेत् ॥५०॥
घृतभाण्डे विनिक्षिप्य मासमेकं निधापयेत् ।
ततः पिबेद्यथार्हं तु जयेद्विद्रधिमुत्थितम् ॥५१॥
ऊरुस्तम्भाश्मरीमेहान्प्रत्यष्ठीलाभगन्दरान् ।
गण्डमालां हनुस्तम्भं विडङ्गारिष्टसंज्ञितः ॥५२॥

विडङ्गारिष्टार्थ—क्वाथ्य द्रव्य—वायविडंग, पीपलामूल, रास्ना, कूडे की छाल, इन्द्र जौं, पाठा, एलवालुक, आमले, प्रत्येक ५ । ५ पल (एक २ पाव) । पाकार्थ—स्वच्छ जल ८ द्रोण (१२८ सेर) । यथाविधि परिसाधित अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ १ द्रोण (१६ सेर) । मधु ३०० पल (१५ सेर) । प्रक्षेपार्थ—धाय के फूल २० पल (१ सेर), दालचीनी, इलायची छोटी, तेजपत्र । प्रत्येक २ । २ पल । प्रियगु, कचनार की छाल, लोध । प्रत्येक १ । १ पल । कालीमिरच, कालीपीपल, सोंठ (मिलित आठ पल, ३२ तोले) । विधि —घृत भाण्ड (अथवा अरिष्टोपयोगी घट) में यथाविधि क्वाथ के साथ मधु घोलकर डाले और शेष प्रक्षेप्य द्रव्यों को डालकर

मुख मुद्रा कर देवे। एक मास (अथवा ऋतु अनुसार न्यूनाधिक समय) तक पड़ा रहने देवे। पुन जातरस होने पर स्वच्छ वस्त्र से छान कर बोतलों में भर कर बोतलों के मुख पर मोम अथवा लाक्षा से लेपकर देवे। इसको योग्य मात्रा से प्रयोग करने से उत्थित (व्याप्त लक्षणों वाली) विद्रधी (बाह्य अथवा आभ्यन्तरिक शोथ) नष्ट होती है। एव ऊरुस्तम्भ, अश्मरी, प्रमेह, प्रत्यष्ठीला, भगन्दर, गण्डमाला और हनुस्तम्भ रोग नष्ट होते हैं ॥४७—५२॥

वक्तव्य—(१) अन्तर्विद्रधी के लिये यह उत्तम औषध है। मात्रा—१—२ तोला समान भाग जल से सेवन करे। (२) इसमें प्राय मधु जल के समान दिया गया है अत यह अत्यन्त गाढ़ा तैयार होगा। यहा द्रव द्वैगुण्य परिभाषा का आश्रय लेने से अरिष्ट उत्तम बनेगा।

अथ प्रमेहादौ देवदार्व्याद्यरिष्ट —

तुलार्धं देवदारोः स्याद्वासा च पलविंशतिः ।
माञ्जिष्ठेन्द्रयवा दन्ती तगरं रजनीद्वयम् ॥५३॥
रास्ना कृमिघ्नं मुस्तं च शिरीषं खदिरार्जुनौ ।
भागान्दशपलान्दद्याद्यवान्या वत्सकस्य च ॥५४॥
चन्दनस्य गुडूच्याश्च रोहिण्याश्चित्रकस्य च ।
भागानष्टपलानेतानष्टद्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥५५॥
द्रोणशेषे कषाये च पूते शीते प्रदापयेत् ।
धातक्याः षोडशपलं माक्षिकस्य तुलात्रयम् ॥५६॥
व्योषस्य द्विपलं दद्यात्त्रिजातस्य चतुष्पलम् ।
चतुष्पलं प्रियङ्गोश्च द्विपलं नागकेशरम् ॥५७॥
सर्वाण्येतानि संचूर्ण्य घृतभाण्डे निधापयेत् ।
मासादूर्ध्वं पिबेदेनं प्रमेहं हन्ति दुर्जयम् ॥५८॥
वातरोगान्ग्रहण्यर्शोमूत्रकृच्छ्राणि नाशयेत् ।
देवदार्वादिकोऽरिष्टः कण्डूकुष्ठविनाशनः ॥५९॥

क्वाथ्य द्रव्य—देवदारु (काष्ठ) आधा तुला (२॥ सेर), वासा मूलत्वक् २० पल (१ सेर), मंजीठ, इन्द्रजौं, जमालगोटे की जड, तगर, हलदी, दारुहलदी, रास्ना, वायविडंग, नागरमोथा, सिरस की छाल, खैर की छाल, अर्जुनवृक्ष की छाल। प्रत्येक दश २ पल (आधा २ सेर)। अजवायन, कुडे की छाल, श्वेतचन्दन, गिलोय, कुटकी, चीते की छाल। प्रत्येक आठ २ पल (३२।३२ तोला)। क्वाथ

१—'दद्रुकुष्ठनिवारण' इत्यपि पाठ ।

पाकार्थ—स्वच्छ जल ८ द्रोण (१२८ सेर)। अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ १ द्रोण (१६ सेर)। मधु ३ तुला (१५ सेर)। प्रक्षेपार्थ—धाय के फूल १६ पल (१२ छ० ४ तोला), काली पीपल, काली मिरच, सोंठ—(मिलित दो पल), दालचीनी, छोटी इलायची, तेज पत्र ४ पल (मिलित), प्रियगु ४ पल, नागकेशर २ पल। सबको यथाविधि कूट कर चूर्ण बनावे। विधि—घृतभाण्ड (अथवा आसवोपयोगी घट) में मधु मिला कर क्वाथ डाले और अवशिष्ट प्रक्षेप देकर यथाविधि मुख मुद्रा करे। एक मास अथवा (न्यूनाधिक दिनों में) जब जातरस हो तब इस का यथाविधि प्रयोग करने से दुर्जय प्रमेह रोग नष्ट होता है। वातरोग, सग्रहणी रोग, बवासीर, मूत्रकृच्छ्र, कण्डू और कुष्ठ रोग को यह देवदार्व्याद्यरिष्ट नष्ट करता है।

वक्तव्य—(१) उक्त योग में १२ सेर क्वाथ्य है और १२८ सेर जल है। यह लगभग १० गुना होता है। अवशिष्ट एक द्रोण क्वाथ में १५ सेर मधु डालने से यह फाणिताकृति तैयार होगा। अत द्रव द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार २५६ सेर जल डाल कर ३२ सेर शेष रखकर १५ सेर मधु डालना उचित होगा। अन्यथा इसका वस्त्रपूत करना असम्भव है। (२) इस समय जो देवदारु मिल रहा है वह असली देवदारु नहीं प्रत्युत दयार और कैल की लकडी का बुरादा मिलता है। असली देवदारु इससे भिन्न वस्तु है। मात्रा—२ तोला समान भाग जल मिलाकर। यह प्रमेह रोग की उत्कृष्ट औषध है। रक्तविकारशान्त्यर्थ इसका २—४ तोला तक प्रयोग करे। प्रमेह और कुष्ठनाशार्थ इसे निराहार और शेष रोगों के लिये भोजनोत्तर सेवन करे।

अथ कुष्ठादौ खदिरारिष्ट—

खदिरस्य तुलार्धं तु देवदारु च तत्समम्।
बाकुची द्वादशपला दार्वी स्यात्पलविंशतिः ॥६०॥
त्रिफला विंशतिपला ह्यष्टद्रोणेऽम्भसः पचेत्।
कषाये द्रोणशेषे च पूते शीते विनिक्षिपेत् ॥६१॥
तुलाद्वयं माक्षिकस्य तुलैका शर्करा मता।
धातक्या विंशतिपलं कङ्कोलं नागकेशरम् ॥६२॥
जातीफलं लवङ्गैलात्वक्पत्राणि पृथक्पृथक्।
पलोन्मितानि कृष्णाया दद्यात्पलचतुष्टयम् ॥६३॥
घृतभाण्डे विनिक्षिप्य मासादूर्ध्वं पिबेन्नरः।
महाकुष्ठानि हृद्रोगं पाण्डुरोगार्बुदे तथा ॥६४॥

गुल्मं ग्रन्थि क्रमीन्कासं श्वासं प्लीहोदरं जयेत् ।
एष वै खदिरारिष्टः सर्वकुष्ठनिवारणः ॥६५॥

खदिरारिष्ट—क्वाथ्य द्रव्य —खैर वृक्ष की छाल आधा तुला (२॥ सेर), देवदारु २॥ सेर, बाकुची (बावची बीज) १२ पल (४८ तोले), दारुहलदी २० पल (१ सेर), हरीड, बहेड़ा, आमला २० पल (मिलित)। क्काथ पाकार्थ—जल ८ द्रोण (१२८ सेर)। अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ १ द्रोण (१६ सेर)। प्रक्षेपार्थ द्रव्य—मधु २ तुला (१० सेर), खाड १ तुला (५ सेर), धाय के फूल २० पल (१ सेर), शीतल चीनी, नागकेशर, जायफल, लौंग, छोटी इलायची। प्रत्येक एक २ पल (४। ४ तोला)। काली पीपल ४ पल (१६ तोले)। प्रक्षेप्य काष्ठौषधियों को यथाविधि कूटकर चूर्ण करे। विधि —क्वाथ्य औषधों को क्वाथ करने योग्य कूटकर उत्तम पात्र में आठ द्रोण जल से पकावे। जब अष्टमांश शेष रहे तब उतार कर छाने और शीतीभूत होने पर मधु और शर्करा मिलाकर घृतभाण्ड (अथवा अरिष्टोपयोगी घट) में डाले। ऊपर से शेष प्रक्षेप्य चूर्णों को डालकर नियमानुसार मुखमुद्रा करके एक मास (अथवा ऋतु के अनुसार न्यूनाधिक समय) के पश्चात् जातरस होने पर स्वच्छ वस्त्र से छानकर बोतलों में भर देवे। इसके प्रयोग से महाकुष्ठ (विशेष वर्णन पूर्व खण्ड के सातवें अध्याय में देखें), हृद्रोग, पाण्डुरोग, अर्बुद, वायगोला, ग्रन्थिरोग, उदरक्रिमि, कास, श्वास, प्लीहावृद्धि तथा अन्य सब प्रकार के कुष्ठ नष्ट होते हैं।

वक्तव्य—यह कुष्ठरोग एवं रक्तजनित विकारों पर उत्तम लाभ करता है। एतदर्थ इसका प्रयोग भोजन से पूर्व करे। मात्रा—व्याधि का बलाबल देखकर २—४ तोला तक जल के साथ करे। अन्य रोगों में १—२ तोला भोजनोत्तर देवे। इस में द्रव द्वैगुण्य परिभाषा का प्रयोग कर लेवे।

अथ क्षयकासादौ बब्बूलारिष्ट —

तुलाद्वयं तु बब्बूल्याश्चतुर्द्रोणे जले पचेत् ।
द्रोणशेषे रसे शीते गुडस्य च तुलां क्षिपेत् ॥६६॥
धातकीं षोडशपलां कृष्णां च द्विपलां तथा ।
जातीफलानि कङ्कोलमेलात्वक्पत्रकेशरम् ॥६७॥
लवङ्गं मरिचं चैव पलिकान्युपकल्पयेत् ।
मासं भाण्डे स्थितस्त्वेष बब्बूलारिष्टको जयेत् ॥६८॥
क्षयं कुष्ठमतीसारं प्रमेहश्वासकासकम् ।

बब्बूलारिष्ट—क्वाथ्य द्रव्य—कीकर की छाल २ तुला (१० सेर)। पाकार्थ जल ४ द्रोण (६४ सेर)। अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ १ द्रोण (१६ सेर)। गुड १

तुला (५ सेर)। प्रक्षेपार्थ—धाय के फूल १६ पल (१२ छ० ४ तो०), काली पीपल का चूर्ण २ पल (८ तोला), जायफल, शीतलचीनी, छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपत्र, नाग केशर, लौंग, कालीमिरच। प्रत्येक १। १ पल। विधि —यथाविधि परिस्रावित १ द्रोण बब्बूल क्वाथ में १ तुला परिमित गुड घोल कर अरिष्टोपयोगी घट में डालकर ऊपर से शेष प्रक्षेप्य द्रव्य डालकर १ मास (ऋतु के अनुसार जातरस होने) तक मुखमुद्रा लगाकर बंद रखे। पुन यथाविधि बोतलों में भर लेवे इस के प्रयोग से क्षयरोग, कुष्ट, अतीसार, प्रमेह, श्वास और कास नष्ट होते हैं ॥६६-६८॥

वक्तव्य - यह अनुलोमक्षय के लिये उपयोगी है। जब कर्षण चिकित्सा की आवश्यकता हो तब इसका प्रयोग करे। मात्रा—१—२ तोला, समान भाग जल से। भोजन के पूर्व और पश्चात् दोनो समय प्रयोग करे। प्रबल कास रोग में ६। ६ मासा की मात्रा से प्रति २। २ घंटा के पीछे देवे।

अथ पुष्पाद्य द्राक्षारिष्ट —

द्राक्षातुलार्धं द्विद्रोणे जलस्य विपचेत्सुधीः ॥६९॥
पादशेषे कषाये च पूते शीते विनिक्षिपेत् ।
गुडस्य द्वितुलां तत्र त्वगेलापत्रकेशरम् ॥७०॥
प्रियङ्गुर्मरिचं कृष्णा विडङ्गं चेति चूर्णयेत् ।
पृथक्पलोन्मितैर्भागैस्ततो भाण्डे निधापयेत् ॥७१॥
समन्ततो घट्टयित्वा पिबेज्जातरसं ततः ।
उरःक्षतं क्षयं हन्ति कासश्वासगलामयान् ॥७२॥
द्राक्षारिष्टाह्वयः प्रोक्तो बलकृन्मलशोधनः ।

द्राक्षारिष्ट—क्वाथ्य द्रव्य—मुनक्का (काला) २॥ सेर। क्वाथार्थ—जल २ द्रोण (३२ सेर)। अवशिष्ट वस्त्रपूत क्वाथ ८ सेर। गुड २ तुला (१० सेर)। प्रक्षेपार्थ—दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नाग केशर, प्रियगु, कालीमिरच, कालीपीपल, वायविडग। प्रत्येक एक २ पल (४—४ तोला)। विधि —द्राक्षा को प्रक्षालन करके शिला पर पेषण करे और दो द्रोण जल मे क्वाथ करके पादावशेष रख लेवे। इस क्वाथ में गुड घोलकर अरिष्टोपयोगी घट में डालकर ऊपर से प्रक्षेप द्रव्य डालकर भली प्रकार आलोडन करे और यथाविधि मुखमुद्रा देकर जातरस (सिद्ध) होने की प्रतीक्षा करे। इसके सेवन से—उर क्षत, कास, श्वास और गल-रोग नष्ट होते हैं। यह द्राक्षारिष्ट बलवर्धक तथा मलशोधक (कोष्ठबद्धतानाशक) है।

वक्तव्य—८ सेर जल में १० सेर गुड़ का उत्तम घोल अथवा ऐसा घोल होना कठिन है जिससे घोल, मद्य में परिणत हो सके। एतदर्थ यहा द्रव द्वैगुण्य परिभाषा का आश्रय ग्रहण करना हितकर होता है। अन्यथा यह अत्यन्त गाढ़ा

लेह्य पदार्थ प्रस्तुत होता है। इसके प्रक्षेप में अनुक्त होने पर भी धातकी पुष्प ½ सेर देने चाहिएं। मात्रा—बलवर्धनार्थ—१—४ तोला एक बार में प्रयोग करे। जल के साथ अथवा जल रहित। अन्य रोगों में इसे ½—१ तोला प्रति दो दो तीन तीन घटा बाद जल से अथवा बिना जल देवे। यह अत्यन्त स्वादु और हितकर औषध है।

अथ प्लीहगुल्मोदरादौ रोहितकारिष्ट —

रोहीतकतुलामेकां चतुर्द्रोणे जले पचेत् ॥७३॥
पादशेषे रसे शीते पूते पलशतद्वयम् ।
दद्याद् गुडस्य धातक्याः पलषोडशिका मता ॥७४॥
पञ्चकोलं त्रिजातं च त्रिफला च विनिक्षिपेत् ।
चूर्णयित्वा पलांशेन ततो भाण्डे निधापयेत् ॥७५॥
मासादूर्ध्वं च पिबतां गुदजा यान्ति संक्षयम् ।
ग्रहणीपाण्डुहृद्रोगप्लीहगुल्मोदराणि च ॥७६॥
कुष्ठशोफारुचिहरो रोहितारिष्टसंज्ञितः ।

रोहीतकारिष्ट—क्वाथार्थ—रोहीडे की छाल १ तुला (५ सेर)। क्वाथ पाकार्थ—जल ४ द्रोण (६४ सेर)। अवशिष्ट वस्त्रपूतक्वाथ १ द्रोण। यथाविधि परिसाधित क्वाथ के शीतल होने पर २०० पल गुड (१० सेर) डालकर मिलावे और इसे अरिष्टोपयोगी घट में डाल देवे। प्रक्षेपार्थ—धाय के फूल १६ पल (६४ तोले), पञ्चकोल (कालीपीपल, पीपलामूल, चव्य, चीते की छाल, सोंठ), त्रिजात (दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र), त्रिफला (हरीड, बहेडा, आमला) प्रत्येक द्रव्य १। १ पल। यथाविधि कूटकर चूर्ण करे। सबको मिलाकर एक मास (अथवा ऋतु के अनुसार न्यूनाधिक) तक पडा रहने देवे। सुपरिपक्व होने पर यथानियम वस्त्रद्वारा छानकर बोतलों में भर लेवे। इसके प्रयोग से बवासीर रोग, संग्रहणी विकार, पाण्डुरोग, हृद्रोग, प्लीहावृद्धि, गुल्मरोग, उदररोग, कुष्ठ (रक्तविकार), सूजन, अरुचि आदि सब रोग नष्ट होते हैं ॥७३—७६॥

वक्तव्य—इस योग में भी द्रवद्वैगुण्य परिभाषा का आश्रय लेना पडता है। क्योंकि १६ सेर क्वाथ में १० सेर गुड अधिक है। रोहीतकारिष्ट प्राय प्लीहा और यकृत वृद्धि पर व्यवहार होता है। जीर्णज्वर तथा मन्दाग्नि एवं पाण्डुरोग पर इसका उत्तम प्रभाव होता है। एतदर्थ इसकी एक बार की मात्रा १—२ तोला है और भोजन के पूर्व व्यवहार करना चाहिये। अन्य रोगों में भोजन के उपरान्त ½ घण्टा के बाद जल से प्रयोग करे।

अथ वातरोगादौ दशमूलाद्यरिष्ट —

पर्ण्यौ बृहत्यौ गोकण्टो बिल्वोऽग्निमन्थकोऽरलुः ॥७७॥

पाटला काश्मरी चेति दशमूलमिहोच्यते ।
दशमूलानि कुर्वीत भागैः पञ्चपलैः पृथक् ॥७८॥
पञ्चविंशत्पलं कुर्याच्चित्रकं पौष्करं तथा ।
कुर्याद्विंशत्पलं लोध्रं गुडूची तत्समा भवेत् ॥७६॥
पलैः षोडशभिर्धात्री रविसंख्यैर्दुरालभा ।
खदिरो बीजसारश्च पथ्या चेति पृथक्पलैः ॥८०॥
अष्टभिर्गणितैः कुष्ठं मञ्जिष्ठा देवदारु च ।
विडङ्गं मधुकं भार्ङ्गी कपित्थोऽक्षः पुनर्नवा ॥८१॥
चव्यं मांसी प्रियङ्गुश्च सारिवा कृष्णजीरकम् ।
त्रिवृता रेणुकं रास्ना पिप्पली क्रमुकः शठी ॥८२॥
हरिद्रा शतपुष्पा च पद्मकं नागकेशरम् ।
मुस्तमिन्द्रयवः शृङ्गी जीवकर्षभकौ तथा ॥८३॥
मेदा चान्या महामेदा काकोल्यौ ऋद्धिवृद्धिके ।
कुर्यात्पृथग्द्विपलिकान्पचेदष्टगुणे जले ॥८४॥
चतुर्थांश शृतं नीत्वा मृद्भाण्डे संनिधापयेत् ।
ततः षष्टिपलां द्राक्षां पचेन्नीरे चतुर्गुणे ॥८५॥
त्रिपादशेषं शीतं च पूर्वक्काथे शृतं क्षिपेत् ।
द्वात्रिंशत्पलिकं क्षौद्रं दद्याद् गुडचतुःशतम् ॥८६॥
त्रिंशत्पलानि धातक्याः कङ्कोलं जलचन्दनम् ।
जातीफलं लवङ्गं च त्वगेलापत्रकेशरम् ॥८७॥
पिप्पली चेति संचूर्ण्य भागैर्द्विपलिकैः पृथक् ।
शाणमात्रां च कस्तूरीं सर्वमेकत्र निक्षिपेत् ॥८८॥
भूमौ निखातयेद्भाण्डं ततो जातरसं पिबेत् ।
कतकस्य फलं क्षिप्त्वा रसं निर्मलतां नयेत् ॥८६॥
ग्रहणीमरुचिं श्वासं कासं गुल्मं भगन्दरम् ।
वातव्याधिं क्षयं छर्दिं पाण्डुरोगं च कामलाम् ॥६०॥
कुष्ठान्यर्शांसि मेहांश्च मन्दाग्निमुदराणि च ।
शर्करामश्मरीं मूत्रकृच्छ्रं धातुक्षयं जयेत् ॥६१॥

कृशानां पुष्टिजननो वन्ध्यानां गर्भदः परः ।
अरिष्टो दशमूलाख्यस्तेजःशुक्रबलप्रदः ॥६२॥

इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां
शार्ङ्गधरसंहितायां मध्यमखण्डे आसवारिष्टकल्पना
नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

दशमूलाद्यरिष्ट—क्वाथार्थ—दशमूल (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, गोखरू, वेल की छाल, अरनी की छाल, श्योनाक की छाल, पाढल की छाल, गम्भारी की छाल)। प्रत्येक ५। ५ पल (१ । १ पाव)। चीते की जड की छाल २५ पल (१। सेर), पोहकर मूल २५ पल (१। सेर), पठानी लोध २० पल (१ सेर), गिलोय २० पल (१ सेर), आमले १६ पल (१२ छटांक ४ तोले), धमासा १२ पल (४८ तोले), खैर की छाल, विजयसार (खून साऊसा), हरीतकी छाल। प्रत्येक आठ ८ पल (३२ । ३२ तोला)। कूठ, मंजीठ, देवदारु, वायविडग, मुलेठी, भारगी, कपित्थ (फल), बहेडा, साठी की जड, चव्य, जटामासी, प्रियगु, सारिवा (श्यामालता), कालाजीरा निशोत, रेणुका, रास्ना, कालीपीपल, सुपारी, कचूर, हलदी, मीठी सौंफ, पद्माख, नागकेशर नागरमोथा, इन्द्रजौं, सोंठ, जीवक-ऋषभक (अभाव में विदारीकन्द द्विगुण), मेदा-महामेदा (अभाव में शतावरी द्विगुण), काकोली, क्षीर काकोली, ऋद्धि-वृद्धि (अभाव में वाराहीकन्द द्विगुण)। प्रत्येक दो २ पल (आठ ८ तोला)। क्वाथार्थ—विशुद्ध जल क्वाथ्यापेक्षा अष्टगुण (उपरोक्त सम्पूर्ण क्वाथ्य १३ से ८ तोला होता है, इसका अष्टगुण १०५ सेर अर्थात् दो मन २५ सेर जल) जल डालकर यथाविधि क्वथित करके पादावशेष (३१ सेर) क्वाथ प्राप्त करे। इसे छानकर अलग रख लेवे। द्राक्षा (मुनक्का) ६० पल (३ सेर), जल से प्रक्षालन करके शिलोपरि पेषण करे और १२ सेर जल डालकर पकावे। जब चतुर्थांश क्वाथ जीर्ण हो जावे तब ६ सेर द्राक्षा का क्वाथ उपरोक्त दशमूलादि के क्वाथ में डाल देवे। मधु ३२ पल (१ सेर, ६ छटाक, ३ तोला), गुड़ ४०० पल (२० सेर)। मधु और गुड को यथाविधि क्वाथ में घोल देवे। प्रक्षेपार्थ—धाय के फूल ३० पल (१॥ सेर), शीतल चीनी, सुगन्धवाला, श्वेतचन्दन, जायफल, लौंग, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेशर, कालीपीपल। प्रत्येक दो २ पल (आठ ८ तोला)। कस्तूरी उत्तम १ शाण (३ मासे)। प्रक्षेपण विधि आसवारिष्ट सन्धान विधि में देखें। विधि —अरिष्टोपयोगी उत्तम घट को कर्पूरचन्दनादि से सुगन्धित करे। भूमि में घट स्थापन करने योग्य गढा खोद कर यथाविधि उसमें घट स्थापन करे और ऊपर से क्वाथ तथा अन्य प्रक्षेपादि यथाविधि डालकर मुखमुद्रा कर देवे। एक मास तक (अथवा ऋतु अनुसार न्यूनाधिक समय में) जातरस होने पर निर्मल करने के लिये

इसमें कत्तक फल (घिसकर) देवें। निर्मल होने पर वोतलों में भर लेवे। इसके प्रयोग से सग्रहणीरोग, अरुचि, दमा, खासी, गुल्म, भगन्दर, वातव्याधि, क्षय, वमन, पाण्डुरोग, कामलारोग, कुष्ठ, बवासीर, प्रमेह, मन्दाग्नि, उदररोग, शर्करा, पथरी, मूत्रकृच्छ्र तथा रसादि धातुओं का क्षय दूर होता है। कृशों के अगों को पुष्ट करता है, वन्ध्या स्त्रियों को सन्तान देता है। एव जते (कान्ति), शुक्र (वीर्य) और वलदायक है ॥७७—८२॥

वक्तव्य—यह अति गुणकारक औषध है। वर्तमान में प्राय कृशता दूर करने में प्रयुक्त होती है। योपापस्मार (हिस्टीरिया) तथा अन्य वातजनित रोगों पर रामबाण है। नवप्रसूता के वल वर्धनार्थ तथा वातकोप की शान्ति के लिये इसे अवश्य प्रयोग करना चाहिये। मात्रा—रोगशान्त्यर्थ १—२ तोला, जल से। वलवर्धनार्थ—२—४ तोला। भोजन के पूर्व और पश्चात् दोनों समय दी जा सकती है। बच्चों की काली खासी में ३। ३ मासा की मात्रा में दी जाती है।

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायां शार्ङ्गधर
संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकाया मध्यम-
खण्डे दशमोऽध्याय ॥१०॥

———

एकादशाऽध्यायः ।

धातुओं के नाम—

स्वर्णताराराताम्राणि नागवङ्गौ च तीक्ष्णकम् ।
धातवः सप्त विज्ञेयास्ततस्तान् शोधयेद् बुधः ॥१॥

स्वर्ण (सोना), तार (चान्दी), आर (पीतल), ताम्र (ताम्बा), नाग (सीसा), ङ्ग (कलई), तीक्ष्ण (फौलाद)—यह सात धातु कहलाते हैं। बुद्धिमान् वैद्य यत्न से न का शोधन करे ॥१॥

वक्तव्य—धातुओं की सख्या नियति में विवाद है। कई सात मानते हैं गैर कई आठ मानते हैं। यथा—

स्वर्णं तारं ताम्रनागं रङ्गकान्तं च तीक्ष्णकम् ।
मुण्डान्तमष्टधा लोहं कांस्यारं घोषक त्रिधा ॥
उपलोहं समाख्यातं ।

उक्त धातु समुदाय को 'लोह' नाम से पुकारा जाता है। रसरत्नसमुच्चयकार गातुओं की स्थिति को इस प्रकार मानते हैं। यथा—

'शुद्धं लोहं कनकरजतं भानुलोहाश्मसारम्
पूतीलोहं द्वितयमुदितं नागवंगाभिधानम् ।
मिश्रं लोहं त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्त्तम्'

इस प्रकार समग्र लोहों की सख्या नव होती है। 'लुह' धातु से लोह शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ खीचना है। समग्र धातुए भी पृथ्वी के अन्दर से खीची जाती हैं, इसलिये लोह कहलाती हैं। अथवा धातु भस्म प्रयोग शरीर के अन्दर से रोगो को आकर्षण करके नष्टभ्रष्ट कर देता है, इसलिये भी 'लोह' उपयुक्त नाम है। आगे वर्णित शोधन विधियों से समग्र धातुदोष नष्ट होते हैं। जिन अन्वेषकों ने धातुओं की उपयोगिता शारीरिक व्याधियों के लिये ढूढ निकाली थी। उन्ही अन्वेषकों अथवा रसायन वेत्ताओं को धात्वन्तर्गत उन दोषों का भी पूर्ण ज्ञान हो गया था जो शरीर के अन्दर पहुंच कर किसी प्रकार की विकृति को उत्पन्न कर सकते थे। आयुर्वेद में धातु शोधन इसी दृष्टिकोण से स्थिर किया गया है।

धातुशोधन विधि—

स्वर्णताराराताम्रायःपत्राण्यग्नौ प्रतापयेत् ।
निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे च काञ्जिके ॥२॥

गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये च त्रिधा त्रिधा ।
एवं स्वर्णादिलोहानां विशुद्धिः सम्प्रजायते ॥३॥

सोना, चांदी, पीतल, तांवा और लोहा—इनके (जिस धातु की शुद्धि करनी हो उसके) पत्र (कटकवेधी) वनवाकर अङ्गारों की अग्नि में तप्त करे (आरक्त वर्ण पर्यन्त) और यथाक्रम तिल तैल, मठ्ठा, कांजी, गोमूत्र, कुलथी का काढ़ा—इन में ३।३ वार वुझाता जावे । इस प्रकार स्वर्णादि धातुओं की शुद्धि (शोधन, दोष शान्ति) होती है ॥२—३॥

नागवङ्गशोधन—

नागवङ्गौ प्रतप्तौ च गालितौ तौ निषेचयेत् ।
त्रिधा त्रिधा विशुद्धिः स्याद्रविदुग्धेन च त्रिधा ॥४॥

नाग और वग दोनों को पृथक् २ तपा २ कर अथवा पिघला २ कर पूर्वोक्त तैल तक्रादि में अथवा आक के दूध में तीन २ वार वुझा देने से शुद्धि होती है ॥४॥

वक्तव्य—नाग और वग दोनो द्रुतद्रावी धातु हैं । इन्हें यदि पिघलाकर वुझाना हो तो प्रथम एक हाँडी मिट्टी की लेवे । उसके मुख पर ऐसा ढक्कन (प्याला) देवे जो ठीक वैठ जावे । इस प्याले के मध्यभाग में छोटी दुअन्नी भर एक छिद्र करे । हाँडी में द्रव पदार्थ डालकर ऊपर से प्याला रख देवे । यदि प्याले की सन्धियों में छिद्रादि हों तो वस्त्र खण्ड से पूरण करे । पुन नाग अथवा वग को लोह की कड़छी में पिघला कर शनै २ छिद्र मार्ग से डालता जावे । इस प्रकार व्यवहार करने से निरापद शोधन होगा । अन्यथा पिघली हुई वगादि धातु जल पर पडते ही भयंकर शब्द के साथ पात्र भेदन करके इतस्तत विखर जायेगी । एव जलीय वाष्प से तिरस्कृत किये हुए वगादि के कण यदि मुखादि पर पड़ जायें तो आघात पहुचाते हैं । अत पूर्ण सावधान हो कर यह कार्य करना ठीक होता है । परतु यह उपरोक्त वन्धन तैल के लिये नहीं हैं । प्रत्येक द्रव पदार्थ धातुमान से द्विगुण लेवे और इसको तृतीयाश डालकर प्रति वार नूतन देता जावे इस प्रकार उत्तम शोधन होता है ।

स्वर्ण शोधन की आवश्यकता—

सौख्यं वीर्य्यं वलं हन्ति नानारोगान् करोति च ।
अशुद्धममृतं स्वर्णं तस्माच्छुद्धं तु मारयेत् ॥ (रसेन्द्र०) ।

ग्राह्य स्वर्ण के लक्षण—

दाहे रक्तं सितं छेदे निषेके कुङ्कुमप्रभम् ।
तारं शुल्वोज्झितं स्निग्धं कोमलं गुरुहेमसत् ॥ (भावप्र०)

स्वर्ण का पृथक् शोधन—

कर्षप्रमाणं तु सुवर्णपत्रं शरावरुद्धं पटुधातुयुक्तम् ।
अङ्गारसंस्थं प्रहरार्धमानं ध्मातेन तत्स्यान्ननु पूर्णवर्णम् ॥ (र०स०)

अर्थात् कंटकवेधी स्वर्णपत्रों के नीचे ऊपर सैन्धव और स्वर्ण गेरू को देकर शराव सम्पुट में बन्द करके अगारों की तीव्र अग्नि में २ घंटा पर्यन्त आध्मापित करे और शीतल होने पर पूर्णवर्ण (दोषरहित) स्वर्णपत्रों को काजी से धोकर ग्रहण करे।

अथ स्वर्णमारणम्—

स्वर्णाच्च द्विगुणं सूतमम्लेन सह मर्दयेत् ।
तद्गोलकसमं गन्धं निदध्यादधरोत्तरम् ॥५॥
गोलकं च ततो रुन्ध्याच्छरावदृढसम्पुटे ।
त्रिंशद्वनोपलैर्दद्यात्पुटान्येवं चतुर्दश ॥६॥
निरुत्थं जायते भस्म गन्धो देयः पुनः पुनः ।

भस्मार्थ—स्वर्ण (के कण्टकवेधी पत्र) १ तोला, शुद्ध पारद २ तोले, शुद्ध गन्धक ३ तोले।

विधि—सोने के कण्टकवेधी पत्रों को कैंची से कर्त्तन करके तण्डुलाकृति कर डाले। पश्चात् इन स्वर्णखण्डों को दृढ़ और चिकने खरल में डालकर द्विगुण पारद के साथ घोंटता जावे। जब स्वर्ण निःशेषतया पारद में लीन हो जाय तब इस स्वर्णपिष्टी को गोलाकार कर लेवे। पुनः गन्धक को सूक्ष्म पीसकर आधा गन्धक एक छोटी मिट्टी की प्याली में (स्थण्डिलाकृति) बिछा देवे। इस गन्धक पर स्वर्णपिष्टी को रखकर ऊपर से अवशिष्ट आधा गन्धक पीठी के ऊपर इस रीति से बिछावे कि समस्त पीठी आच्छादित हो जाये। पुनः प्याली के मुख पर दूसरी प्याली देकर सन्धिलेप करके कपड मिट्टी करे और सुखा लेवे। इस सम्पुट को ३० जंगली उपलों की आंच देवे। इस उपरोक्त विधि से १४ बार पुट देवे और प्रति पुट में गन्धक और पारद भी पूर्ववत् दिया करे। इस प्रकार स्वर्ण की निरुत्थ (पुनरुज्जीवन रहित) भस्म होती है ॥५—६॥

वक्तव्य—(१)-स्वर्णपिष्टिका तैयार होने पर इसको निम्बूरस और लवण से प्रचालन करना साम्प्रदायिक व्यवस्था है। इस से भस्म उज्ज्वल और शीघ्र होती है। क्योंकि अम्ल और क्षार पदार्थों के मर्दन से पारद तीक्ष्ण और प्रबुद्ध होता है। (२) आयुर्वेदीय 'निरुत्थ' शब्द ने वर्तमान में एक गोरखधँदा सा उपस्थित कर दिया है। निरुत्थ शब्द का अर्थ यह लिया जाता है कि कोई भी धातुभस्म निरुत्थ संज्ञा प्राप्त करने पर फिर दोबारा जीवित (अपने असली रूप को प्राप्त) नहीं होती। इस अंश तक तो निरुत्थ शब्द का अर्थ युक्तिसंगत हो सकता है। परन्तु जब निरुत्थ के साथ यह विशेषण लगा दिये जाते हैं कि वह किसी भी विधि से अथवा निरुत्थीकरणार्थ प्रयुक्त किये गये द्रव्यों को छोडकर अन्य किसी भी द्रव्यसमुदाय से अथवा न्यूनाधिक कितनी ही अग्निमात्रा से भी निरुत्थ धातु पुनः सुत्थ भाव

को प्राप्त नहीं हो सकती, तब गडवडाध्याय उपस्थित होता है। ऊपर के विशेषणों के साथ निरुत्थ का व्यापक अर्थ ग्रहण करना आयुर्वेदीय विज्ञान पर कलङ्क होगा। शास्त्रकारों ने जहा निरुत्थ शब्द प्रयोग किया है वहा यह नियम स्थिर नहीं किया कि यह निरुत्थत्व अजरामर है। भक्त शिरोमणि प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु (हरनाकुश) ने अपनी मृत्यु जीतने के लिये क्या कोई त्रुटि शेष रक्खी थी? परन्तु अजरामरत्व उसे भी प्राप्त नही हुआ। अत यह निर्विवाद सिद्ध है कि शास्त्रकारों ने निरुत्थीकरणार्थ जिन द्रव्यों का ग्रहण किया है और जिस विधि तथा जितनी अग्निमात्रा परीक्षार्थ निर्धारण की है, उस से निरुत्थ रहने पर निरुत्थ शब्द सार्थक होगा। उससे भिन्न विधि और भिन्न अग्निमान, निरुत्थत्व नष्ट करने में बाधक नहीं है। रसरत्नसमुच्चयकार स्वर्ण को पाच प्रकार का मानते हैं—

प्राकृतं सहज वह्निसम्भवं खनिसम्भवम् ।
रसेन्द्रवेधसञ्जातं स्वर्णं पञ्चविधं मतम् ॥

स्वर्ण के गुण—

स्निग्धं मेध्य विषगदहरं बृंहणं वृष्यमग्र्यं
यक्ष्मोन्मादप्रशमनपर देहरोगप्रमाथि ।
मेधावु[illegible] पतिसुखकरं सर्वदोषामयघ्नं
रुच्य द[illegible] निरुजं स्वादुपाकं सुवर्णम् ॥ (रसर० समु०)

स्वर्ण [illegible]

समारभ्याष्टमाद् भागाद् रक्तिकाया भिषग्वर ।
योजयेत्तुर्यभागान्तं मृते स्वर्णं तु कालवित् ॥

स्वर्ण भस्म के विशेष गुण—

मृतं सुवर्णं शिशिर वय.स्थापनमुत्तमम् ।
स्मृतिप्रदं परञ्चैव त्रिदोषज्वरनाशनम् ॥
शिरोदेशे प्रवृद्धान्तु रक्तसञ्चरणक्रियाम् ।
आत्माघाताभिलाषा च प्रावल्येन समुत्थिताम् ॥
हृत्कम्पनप्रशमनं मुष्कशोथप्रणाशनम् ।
अस्थिशोषहर चैव मूर्च्छायपरिकृन्तनम् ॥
कास श्वासप्रशमन परमोजोविवर्द्धनम् ।
अतिसारग्रहणीकापाण्ड्वामयनिषूदनम् ॥ (रस तरंगि०)

मात्रा—⅛ रत्ती से ¼ रत्ती तक प्रयोग करे। अनुपान—मधु, मलाई, मास्वन अथवा दोषानुसार अनुपान कल्पना करे। प्रयोज्य स्वर्णभस्म की परीक्षा—जिस में चन्द्रिकायें (स्वर्ण की चमक) न हों तथा मृदु, कोमल और हलकी हो वह सेव्य है।

स्वर्ण मारण की दूसरी विधि —

काञ्चने गालिते नागं षोडशांशेन निक्षिपेत् ॥७॥

चूर्णयित्वा तथाम्लेन घृष्ट्वा कृत्वा च गोलकम् ।
गोलकेन समं गन्धं दत्त्वा चैवाधरोत्तरम् ॥८॥
शरावसम्पुटे धृत्वा पुटेत् त्रिंशद्वनोपलैः ।
एवं सप्तपुटैर्हेम निरुत्थं भस्म जायते ॥९॥

स्वर्ण मारणार्थ—शुद्ध स्वर्ण १६ मासे, शुद्ध नाग (सीसा १ मासा, शुद्ध गन्धक १७ मासे ।

विधि—सुदृढ मूपा में स्वर्ण डालकर यथाविधि अंगारों की अग्नि द्वारा स्वर्ण को पिघलावे । जब स्वर्ण पिघलकर जलवत् हो तब उसमें १ मासा नाग डालकर मिलावे और मूपा को अगारों से बाहिर निकालकर स्वच्छ खरल में उलट देवे और तत्काल घर्षण आरम्भ करे । चूर्णीभूत होने पर निम्बू रस से मर्दन करे (जब तक मर्दित निम्बु जल कृष्णाभ होता रहे) । पुन स्वच्छ जल से प्रक्षालन करे और चूर्ण को इकठ्ठा करके गुटिकाकृति कर डाले । तदनन्तर छोटी प्याली के अन्दर आधा गन्धक पीसकर डाले और गंधक पिष्टी रखकर ऊपर से शेष डाले । दूसरी प्याली से बन्द करके उचित कपड मिट्टी करके सुखा लेवे । पुन ३० जंगली उपलों की अग्नि छोटे से गढ़े में देवे । शीतल होने पर निकाल लेवे । इस विधान से सात वार स्वर्ण को पुटित करने से स्वर्ण की निरुत्थ भस्म होती है ॥७—९

स्वर्ण भस्म की तीसरी विधि —

काञ्चनाररसैर्घृष्ट्वा समसूतकगन्धयोः ।
कज्जल्या हेमपत्राणि लेपयेत्सममात्रया ॥१०॥
काञ्चनारत्वचः कल्को मूपायुग्मं प्रकल्पयेत् ।
धृत्वा तत्सम्पुटे गोलं मृण्मूपासम्पुटे पचेत् ॥११॥
निधाय संधिरोधं च कृत्वा संशोष्य कोकिलैः ।
वह्निं खरतरं कुर्यादेवं दद्यात्पुटत्रयम् ॥१२॥
निरुत्थं जायते भस्म सर्वकार्येषु योजयेत् ।

मारणार्थ—शुद्ध स्वर्ण पत्र (१ तोला), शुद्ध पारद (१ तोला), शुद्ध गन्धक (१ तोला) ।

विधि —पारद और गन्धक की यथाविधि कज्जली करे । इस कज्जली को कचनार वृक्ष की त्वचा के रस में घोटकर कीचड सा बनावे और स्वर्ण पत्रों पर लेप करके सुखा लेवे । पुन कचनार के छिलके को बारीक पीसकर इसकी दो मूपा (कुठालिया) बनावे । एक में कज्जली लिप्त स्वर्णपत्र रखकर दूसरी मूपा से ढक कर काचनार के कल्क से ही सन्धिरोध कर देवे । पुन इस गोलक को मिट्टी की दो प्यालियों में बन्द करके कपड मिट्टी से लीप देवे । जलते हुए अङ्गारो की तीव्र अग्नि में रख

कर इसका पाक करे। इस प्रकार तीन वार पुट देने से स्वर्ण की निरुत्थ भस्म होती है ॥१०—१२॥

अन्य विधि —

काञ्चनारप्रकारेण लाङ्गली हन्ति काञ्चनम् ॥१३॥
ज्वालामुखी यथा हन्यात्तथा हन्ति मनःशिला ।

काचनार की विधि से लागली (कलिहारी मूल) तथा ज्वालामुखी (बिच्छुआ घास, इसे 'आग' भी कहते हैं) एवं मन शिला प्रयोग करने से भी स्वर्ण भस्म हो जाती है ॥१३॥

स्वर्ण मारण की पाचवीं विधि —

शिलासिन्दूरयोश्चूर्णं समयोरर्कदुग्धकैः ॥१४॥
सप्तैव भावना दद्याच्छोषयेच्च पुनः पुनः ।
ततस्तु गालिते हेम्नि कल्कोऽयं दीयते समः ॥१५॥
पुनर्धमेदतितरां यथा कल्को विलीयते ।
एवं वेलात्रयं दद्यात्कल्कं हेममृतिर्भवेत् ॥१६॥

मारणार्थ—शुद्ध स्वर्ण १ तोला, शुद्ध मैनसिल १॥ तोला, शुद्ध सिन्दूर (नागरेणु) १॥ तोला। भावनार्थ अर्क दुग्ध।

विधि —मन शिला और सिन्दूर को स्वच्छ खरल में डालकर आक के दूध में खरल करे और सुखा लेवे। इस प्रकार सात वार भावना (भावना का परिमाण उतना ही होता है जितने में भाव्य द्रव्य भली प्रकार पतला हो सके) देकर सुखा लेवे। पुन स्वर्ण को कुठाली में रखकर अङ्गाराग्नि पर पिघलावे। जब स्वर्ण पिघल जावे तो सप्त भावना भावित मन शिला सिन्दूर का चूर्ण १ तोला परिमित कुठाली में डालकर धौंकनी से तीव्र प्रधमन करे, जिससे प्रक्षेप्य चूर्ण विलीन हो जावे। इस प्रकार एक २ तोला चूर्ण दो वार पुन देकर उसी प्रकार प्रधमन करता जावे। इस विधान से भी स्वर्ण की उत्तम भस्म होती है ॥१४—१६॥

स्वर्ण भस्म की छठी विधि —

पारावतमलैर्लिम्पेदथवा कुक्कुटोद्भवैः ।
हेमपत्राणि तेषां च प्रदद्यादन्तरान्तरम् ॥१७॥
गन्धचूर्णं समं धृत्वा शरावयुगसम्पुटे ।
प्रदद्यात्कुक्कुटपुटं पञ्चभिर्गोमयोपलैः ॥१८॥
एवं नवपुटान्दद्याद्दशमं च महापुटम् ।
त्रिंशद्वनोपलैर्देयं जायते हेमभस्मकम् ॥१९॥

सुवर्णं च भवेत्स्वादु तिक्तं स्निग्धं हिमं गुरु ।
बुद्धिविद्यास्मृतिकरं विषहारि रसायनम् ॥२०॥

कवूतर अथवा कुक्कड (मुर्गा) की विष्ठा को पीसकर स्वर्णपत्रों पर लेप कर के सुखा लेवे । पुन समान भाग गन्धक के चूर्ण को लेपित स्वर्ण पत्रों के नीचे ऊपर देकर सम्पुट बना लेवे । इस सम्पुट को पाच वन उपलों की अग्नि से कुक्कुट पुट द्वारा पाक करे । इस प्रकार नौ (६) पुट देवे और इसी विधि से दशवा पुट ३० वन उपलों से देवे । इस प्रकार स्वर्ण भस्म वन जाती है ।

स्वर्णभस्म के गुण—स्वर्ण भस्म पाक में स्वादु (मधुरपाकी) है । रस में तिक्त (किञ्चित् कषायाम्ल), स्निग्ध (रूक्षतानिवारक), हिम (शीतल), गुरु (पाक और मात्रा में भारी) है । बुद्धि, विद्या और स्मृतिशक्ति की वृद्धि करती है । विषहारि (चिरकालीन कायिक विष प्रभाव को नष्ट करती है) तथा रसायन (रोगों के आघात प्रत्याघात से तथा वार्द्धक्य से शरीर की रक्षा करती) है ।

वक्तव्य—इस विधि में पाच उपलों से अभिप्राय यह है कि यदि १ तोला स्वर्ण हो तो उसे ½ सेर उपलों की आच देवे और अन्तिम पुट १ सेर उपलों से देवे । अन्यथा अधिक अग्नि देने से स्वर्ण पिघलकर पिण्डाकृति मिलेगा । धातु भस्म सेवन सम्वन्ध में एक किम्वदन्ती यह सुनी जाती है कि ४० वर्ष से प्रथम किसी धातुभस्म का प्रयोग करना श्रेयस्कर नही । शास्त्रावलोकन तथा धातुओं के गुण दोष पर विचार किया जावे तो उक्त कहावत एकदम निराधार प्रमाणित होती है । कारण कि प्राचीन ऋषियों ने नवजात शिशु के उदर में सर्व प्रथम स्वर्ण भस्म में ब्राह्मीरस और मधु मिलाकर भेजने की आज्ञा दी है । यथा—

'अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्ताब्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्णमङ्गुल्यानामिकया लेहयेत्' ।

(सुश्रुत० शारीर० दशम अ०)

इसी वेदविहित विधि का भग्नावशेष वर्तमान में भी पाया जाता है । यथा—वालक के उत्पन्न होते ही उसकी जिह्वा पर स्वर्णशलाका से 'ॐ' लिखा जाता है । सुश्रुतीय विधि से स्वर्णप्रयोग होने पर यावज्जीवन हृदयावरोध (हार्ट फेल) नही होगा । हृद्य अथवा हृदय बलवर्धक औषध स्वर्ण के समान दूसरी नही है । इसी कारण सर्व प्रथम हृदय को शक्तिशाली बनाने के लिये ऋषियों ने स्वर्णप्रयोग किया है । इसी प्रकार अन्य धातुएं भी महान् उपकार करती हैं । अत ऐसी उपयोगी औषधों के लिये ४० वर्ष की शर्त लगाना भारी भूल है । ४० वर्ष की मर्यादा नियत करने के कारणों पर यदि विचार किया जाये तो विदित होगा कि कभी पूर्वकाल में जनता ऐसा निश्चय करने के लिये वाध्य हो गई हो । कारण कि काष्ठौषधीय चिकित्सा के मध्यकाल में जब रसचिकित्सकों ने अपने २ अनुभवों और अन्वेषणों से जनता की रुचि इतनी अधिक मात्रा में अपनी ओर आकर्षित

कर ली हो जिस से वनस्पति चिकित्सा और आतुर जनसमुदाय चातकवत् उनकी ओर देखता रहा हो। ऐसी दशा में स्वभावतः ही सम व्यवसायियों में स्पर्द्धा हुआ करती है। अतः ऐसी स्पर्द्धा से प्रेरित होकर, आश्चर्य नहीं कि उन लोगों ने भी धात्वादि से चिकित्सा का आडम्बर रचना आरम्भ कर दिया हो, जिनका उद्देश धात्वादि के गुण दोषों को न जानते हुए भी उनकी प्रख्याति से द्रव्योपार्जन करना था। ऐसे धनलोलुपियों की प्रवृत्ति निःसन्देह प्राणघातक सिद्ध हुई होगी। परन्तु पूर्ण वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त रस धात्वादि ने जनता के हृदयों पर इतना प्रभाव अवश्य प्राप्त कर लिया था कि अज्ञानियों द्वारा प्राणघात होने पर भी जनता ने इस मार्ग का सर्वथा त्याग न करके ४० वर्ष की नियति स्थिर कर दी।

रजतमारणविधि —

भागैकं तालकं मर्द्यं जम्बेनाम्लेन केनचित् ।
तेन भागत्रयं तारपत्राणि परिलेपयेत् ॥२१॥
धृत्वा मूषापुटे रुद्ध्वा पुटेत् त्रिंशद्वनोपलैः ।
समुद्धृत्य पुनस्तालं दत्त्वा रुद्ध्वा पुटे पचेत् ॥२२॥
एवं चतुर्दशपुटैस्तारं भस्म प्रजायते ।

मारणार्थ—शोधित चादी के पत्र ३ तोला, शुद्ध हरिताल १ तोला, जम्बीरी रस।

विधि —हरिताल को जम्बीरी अथवा निम्बु आदि किसी भी अम्लरस से पीसकर चादी के पत्रों पर लेप कर देवे। लेप शुष्क होने पर मिट्टी की छोटी २ प्यालियों में बन्द करके यथाविधि ३० वन उपलों से पुट देवे। इस प्रकार १४ पुट देने से तार (चादी) की भस्म होती है ॥२१—२२॥

वक्तव्य—चादी भी अधिक अग्नि से पिघलकर कठोर हो जाती है अतः अग्निपरिमाण ठीक निर्धारण करे। यह कृष्णवर्ण की रेखानुप्रवेशी भस्म बनती है।

रजत मारण की दूसरी विधि —

स्नुहीक्षीरेण संपिष्टं माक्षिकं तेन लेपयेत् ॥२३॥
तालकस्य प्रकारेण तारपत्राणि बुद्धिमान् ।
पुटेच्चतुर्दशपुटैस्तारं भस्म प्रजायते ॥२४॥

शुद्ध स्वर्ण माक्षिक १ तोला को थूहर के दूध में पीस कर, शुद्ध चादी के ३ तोला पत्रों पर लीप देवे। पुनः मूषा (प्यालियों) में रखकर (३ सेर) उपलों की अग्नि में पुट प्रदान करे। इस प्रकार १४ पुट देने से चादी भस्म हो जाती है ॥२३–२४॥

वक्तव्य— अशुद्ध चाँदी के दोष —

आयुः शुक्रं बलं हन्ति तापविड्बन्धरोगकृत् ।
अशुद्धं न मृतं तारं शुद्धं मार्यमतोऽन्यथा ॥ (रसर० समु०)

अप्रशस्त चांदी के लक्षण—

दाहे रक्तं च पीतं च कृष्णं रूक्षं लघु स्फुटम् ।
स्थूलाङ्गं कर्कशाङ्गं च रजतं त्याज्यमष्टधा ॥ (रसर० समु०)

प्रशस्त और ग्राह्य चादी के लक्षण—

घनं स्वच्छं गुरु स्निग्धं दाहे च्छेदे सितं मृदु ।
शङ्खाभं मसृणं स्फोटरहितं रजतं शुभम् ॥ (रसर० समु०)

चादी का विशेष शोधन—

तारं त्रिवारं निक्षिप्तं तैले ज्योतिष्मतीभवे । (रसर०)

अथवा—रजतं दोषनिर्मुक्तं किं वा क्षाराम्लपाचितम् । (रसेंद्रसा०)

चादी के गुण—

रौप्यं विपाकमधुरं तुवराम्लसारं
शीतं सरं परमलेखनकं च रुच्यम् ।
स्निग्धं च वातकफजिज्जठराग्निदीपि
बल्यं परं स्थिरवयस्करणं च मेध्यम् ॥ (रसर०)

मात्रा—रक्तिकायास्तुरीयांशाद्रक्तिकैकमितं परम् ।
मृतं तारं नियुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया ॥ (रस तरङ्गिणी)

¼ रत्ती से १ रत्ती पर्यन्त बल, काल तथा दोषादि के अनुसार सूक्ष्मैला चूर्ण और मधु से प्रयोग करे ।

पीतल भस्म विधि—

अर्कक्षीरेण संपिष्टो गन्धकस्तेन लेपयेत् ।
समेनारस्य पत्राणि शुद्धान्यम्लद्रवैर्मुहुः ॥२५॥
ततो मूषापुटे धृत्वा पुटेद्गजपुटेन च ।
एवं पुटद्वयेनैव भस्मारं भवति ध्रुवम् ॥२६॥
आरवत्कांस्यमप्येवं भस्मतां याति निश्चितम् ।

मारणार्थ—जम्बीरी रस से (तपा २ कर २१ वार बुझाये हुए) शुद्ध पीतल के बारीक पत्र (१ छटाक), शुद्ध गन्धक (१ छटांक), अर्कक्षीर (१ छटांक) ।

विधि—शुद्ध गन्धक को आक के दूध में पीसकर पीतल के पत्रों पर लेप कर के सुखा लेवे । पुन मूपा सम्पुट (मिट्टी की दो छोटी प्यालियों) में रखकर मृदावलिप्त करके यथाविधि गजपुट की अग्नि से पाक करे । इस प्रकार दो पुट देने से पीतल निश्चय से भस्म हो जाती है । इसी विधान से कासे के पत्रों को पुट देने से कासा भी निःसन्देह भस्म हो जाता है ॥२५—२६॥

वक्तव्य—रीतिका और काकतुण्डी—इन भेदों से पीतल दो प्रकार की होती है । इसके पत्रों को लाल करके कांजी में बुझा देने से यदि वर्ण में ताम्राभ

हों तो उसे रीतिका कहते हैं । यदि पत्रों का वर्ण कृष्ण हो जाये तो उसे काक-तुण्डी कहते हैं । मारणार्थ रीतिका का ग्रहण होता है ।

रीतिका के गुण—

रीतिस्तिक्तरसा सूक्ष्मजन्तुघ्नी सास्रपित्तनुत् ।
कृमिकुष्ठहरा योगात्सोष्णवीर्या च शीतला ॥ (रसर०) ।

प्रशस्त पीतल के लक्षण—

गुर्वी मृद्वी च पीताभा सारांगी ताडनक्षमा ।
सुस्निग्धा मसृणाङ्गी च रीतिरेतादृशी शुभा ॥

अग्राह्य पीतल के लक्षण—

पाण्डुपाती खरा रूक्षा बर्बरी ताडनाक्षमा ।
पूतिगन्धा तथा लघ्वी रीतिर्नेष्टा रसादिषु ॥ (रसरत्न०) ।

पीतल का विशेष शोधन—

तप्त्वा क्षिप्त्वा च निर्गुण्डीरसे श्यामा रजोन्विते ।
पञ्चवारेण संशुद्धिं रीतिरायाति निश्चितम् ॥ (रसर०) ।
मात्रा—१ रत्ती । अनुपान—मधु अथवा रोगानुसार ।

कांस्य शोधन—

तप्तं कांस्यं गवां मूत्रे वापितं परिशुद्ध्यति ।

कांस्य के गुण—

कांस्यं लघु च तिक्तोष्णं लेखनं दृक् प्रसादनम् ।
कृमिकुष्ठहर वातपित्तघ्न दीपन हितम् ।
मात्रा—अनुपान—१ रत्ती । अनुपान—मधु ।

ताम्रपित्तल कांस्यादि का मारण—

अर्कक्षीरवदाजं स्यात्क्षीरानिर्गुण्डिका तथा ॥२७॥
ताम्ररीतिध्वनिवधे समगन्धकयोगतः ।

ताम्र, पीतल अथवा ध्वनि (कांसा) जिस का भी मारण विधेय हो उस पत्रों पर समान भाग शुद्ध गन्धक को बकरी के दूध अथवा सम्हालू के रस में पीस कर लेप करके सुखा लेवे और यथाविधि पुट योग से मारण करे । इस प्रकार उक्त तीनों धातुओं की भस्म हो जाती है ।

अथ ताम्रमारणमाह—

सूक्ष्माणि ताम्रपत्राणि कृत्वा संस्वेदयेद् बुधः ।
वासरत्रयमम्लेन ततः खल्वे विनिक्षिपेत् ॥२८॥
पादांशं सूतकं दत्त्वा याममम्लेन मर्दयेत् ।
तत उद्धृत्य पत्राणि लेपयेद् द्विगुणेन च ॥२९॥

गन्धकेनाम्लघृष्टेन तस्य कुर्याच्च गोलकम् ।
ततः पिष्ट्वा च मीनाक्षीं चाङ्गेरीं वा पुनर्नवाम् ॥३०॥
तत्कल्केन बहिर्गोलं लेपयेदङ्गुलोन्मितम् ।
धृत्वा तद्गोलकं भाण्डे शरावेण च रोधयेत् ॥३१॥
वालुकाभिः प्रपूर्याथ विभूतिलवणाम्बुभिः ।
दत्त्वा भाण्डमुखे मुद्रां ततश्चुल्यां विपाचयेत् ॥३२॥
क्रमवृद्धाग्निना सम्यग्यावद्यामचतुष्टयम् ।
स्वाङ्गशीतलमुद्धृत्य मर्दयेत्सूरणद्रवैः ॥३३॥
दिनैकं गोलकं कुर्यादर्धगन्धेन लेपयेत् ।
सघृतेन ततो मूषां पुटे गजपुटे पचेत् ॥३४॥
स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य मृतं ताम्रं शुभं भवेत् ।
वान्ति भ्रान्ति क्लमं मूर्च्छां न करोति कदाचन ॥३५॥

ताम्बे के पतले पत्रों को तीन दिन तक जम्बीरी के रस में (दोला यंत्र विधि से) स्वेदित करे। पुन प्रक्षालन करके सुखा लेवे और शुद्ध ताम्र पत्रों को कैंची से तण्डुलाकृति काटकर चतुर्थांश (ताम्रमान से) शुद्ध पारद डालकर खरल में घोटे। जब पारद ताम्र पत्रों के ऊपर चढ जाये तब जम्बीरी के रस से एक प्रहर पर्यंत मर्दन करे और पुन ताम्र मान से द्विगुण शुद्ध गन्धक खरल में घोटकर अम्ल रस मे मर्दन करे। इस कर्दमाकृति गन्धक में पारद मिश्रित ताम्र खण्ड डालकर गोला बना लेवे। पुन मछेच्छी, चांगेरी (खट्टी बूटी) अथवा इटसिट के पत्रों को पीसकर गन्धक लिप्त गोले पर एक २ अगुल मोटा लेप कर देवे और इस गोले को उत्तम मिट्टी की हाण्डी में रखकर गोले को मिट्टी के शराव से ढक देवे। हाण्डी और शराव की सन्धि पर उपलों की राख और लवण को जल में मिला कर लगा देवे। पुन हाण्डी के अवशिष्ट भाग में वालू (रेत) भर देवे और भाण्डमुख (हांडी के मुख) को शराव से बन्द करके पूर्ववत् सन्धि रोध करके भाण्ड को चूल्हे पर रखकर चार प्रहर की क्रमाग्नि (मन्द, मध्य और तीव्र) से पाक करे। अग्निदान के पश्चात् जब यंत्र स्वांग शीतल हो तब उसमें से यथाविधि ताम्र का गोला निकाल कर (कल्क के भाग को पृथक् करके) खरल में मर्दन करे और जिमीकंद के रस से दिन भर घोटकर गोला बना लेवे। पुन. गोले से आधे परिमाण का शुद्ध गन्धक पीसे और इस पिष्ट गन्धक में गोघृत मिलाकर गोले पर लेप कर देवे। पुनः इस गोले को यथाविधि शरावों में बन्द करके गजपुट की आच से पकावे। स्वांग शीतल होने पर निकाले और पीस लेवे। यह उत्तम ताम्रभस्म होगी और वान्ति (वमन),

भ्रान्ति (भ्रम), क्लम (जी मिचलाना), मूर्च्छा (बेहोशी) आदि ८ दोषों से रहित होती है ॥२८—३५॥

वक्तव्य—(१) ताम्र को तीव्र विषलक्षण प्रकट करने वाला माना गया है। यथा—

न विषं विषमित्याहुस्ताम्रञ्च विषमुच्यते।
एको दोषो विषे त्वष्टौ दोषास्ताम्रे प्रकीर्तिताः॥
भ्रमो मूर्च्छा विदाहश्च उत्क्लेदशोषवान्तयः।
अरुचिश्चित्तसन्तापः एते दोषा विषोपमाः॥ (रसेन्द्र०)

(२) ताम्र म्लेच्छ और नेपाल जाति भेद से दो प्रकार का होता है। नेपाल देश की खानों से उत्पन्न होने वाला नेपाली ताम्बा कहलाता है। यह उत्तम होता है। इससे भिन्न स्थानों की खानों से उत्पन्न हुआ ताम्र म्लेच्छ (मलिन) कहलाता है। यह पूर्वापेक्षा निकृष्ट माना जाता है।

परीक्षा— म्लेच्छ ताम्र के लक्षण—

सितकृष्णारुणच्छायमतिवामि कठोरकम्।
क्षालितं च पुनः कृष्णमेतन्म्लेच्छकताम्रकम्॥

नेपाली ताम्र के लक्षण—

सुस्निग्धं मृदुलं शोणं घनघातक्षमं गुरु।
निर्विकारं गुणश्रेष्ठं ताम्रं नेपालमुच्यते॥

त्याज्य ताम्र के लक्षण—

पाण्डुरं कृष्णशोणं च लघु स्फुटनसंयुतम्।
रूक्षाङ्गं सदलं ताम्रं नेष्यते रसकर्मणि॥ (रसर०)

अशुद्ध ताम्र के अवगुण—

अशुद्धं ताम्रमायुघ्नं कान्तिवीर्यबलापहम्।
वान्तिमूर्च्छाभ्रमोत्क्लेदं कुष्ठं शूलं करोति तत्॥ (रसर०)

ताम्र का विशेष शोधन—

गोमूत्रेण पचेद्यामं ताम्रपत्रं दृढाग्निना।
शुद्ध्यते नात्र सन्देहो मारणं चाप्यथोच्यते॥ (रसर०)

मारण करने से प्रथम ताम्र पत्रों को अवश्य गोमूत्र द्वारा शुद्ध कर लेना चाहिये। यदि ऊपर के लक्षणों के अनुकूल ताम्र वर्तमान में प्राप्त करना हो तो विद्युत कार्य में व्यवहार होने वाली ताम्र की तारें ग्रहण कर लेनी चाहियें। यह ताम्र की तारें मारण के लिये उपयुक्त होती हैं।

ताम्र का अन्य विधि से मारण—

जम्बीररससम्पिष्टं रसगन्धककलेपितम्।
शुल्वपत्रं शरावस्थं त्रिपुटैर्याति पञ्चताम्॥ (रसर०)

अर्थात सुशोधित ताम्रपत्रों पर समान भाग कज्जली को जम्बीरी रस में

घोटकर लेपित करे और साधारण पुटाग्नि से पुट देवे। इस प्रकार तीन पुट देने से ताम्र की उत्तम भस्म होती है।

(३) पञ्चामृतीकरण—ताम्र के भस्मीभूत होने पर भी इस की वान्त्यादि दोषों को उत्पन्न करने की शक्ति क्षीण नहीं होती। इस दोष से ताम्रभस्म को मुक्त करने के लिये पञ्चामृत (दूध, दही, मधु, शर्करा और घृत) के साथ मर्दन करके ३—४ पुटें देने से यह दोष सर्वथा नष्ट हो जाता है। पञ्चामृत का प्रत्येक पदार्थ सम और मिलित ताम्र के समान होते हैं।

परीक्षा—थोडी सी ताम्रभस्म को दही पर डालकर देखें। यदि दही के ऊपर हरित अथवा नीलिमा मिश्रित रेखाओं का उदय हो तो समझना चाहिये कि अभी ताम्रभस्म में दोष शेष है। ऐसी अवस्था में पुन पञ्चामृत से पुट देने चाहियें। अथवा थोडी सी ताम्रभस्म को जिह्वा पर डालकर रसज्ञान करे। यदि जिह्वा में कषाय रस का अनुभव हो तो सदोष भस्म माननी होगी। जब जिह्वा में किसी प्रकार का रस प्रतीत न हो तब उत्तम और प्रयोज्य भस्म बनती है।

ताम्रभस्म के गुण—

श्वास कासं क्षयं पाण्डुं अग्निमान्द्यमरोचकम्।
गुल्मप्लीहयकृन्मूर्च्छाशूल च पक्तिसंज्ञकम्॥
दोषत्रयसमुद्भूतानामयाञ्जयति ध्रुवम्।
रोगानुपानसहितं जयेद्धातुगतं ज्वरम्॥ (रसर०)

मात्रा—आधी रत्ती से एक रत्ती तक।

अनुपान—

पिप्पलीं मधुना सार्धं सर्वरोगेषु योजयेत्। (रसर०

प्राय. ऊपर के प्रत्येक रोग में इसको कालीपिप्पली का चूर्ण २ रत्ती ताम्र-भस्म ½—१ रत्ती मधु के साथ मिलाकर चाटे।

ताम्रभस्म के विशिष्ट गुण—

मृतन्तु ताम्र शमयत्यवश्य शाखाश्रित कोष्ठसमाश्रितवा।
जत्रूर्ध्वगञ्चापि मलाभिधान पित्त कफञ्चापि पर प्रवृद्धम्॥ (रसर०)

अर्थात् उत्तम विधि से भस्म किया हुआ ताम्र शाखा, कोष्ठ तथा शिरोभाग में प्रकुपित हुए मलभूतात्मक पित्त और कफ एवं इनके रोगों को अवश्य नष्ट करता है।

नागमारणविधि –

अश्वत्थचिञ्चात्वक्चूर्णं चतुर्थांशेन निक्षिपेत्।
मृत्पात्रे द्राविते नागे लोहदर्व्या प्रचालयेत्॥३६॥
यामैकेन भवेद्भस्म तत्तुल्यां च मनःशिलाम्।
काञ्जिकेन द्वयं पिष्ट्वा पचेद् दृढपुटेन च॥३७॥

स्वाङ्गशीतं पुनः पिष्ट्वा शिलया काञ्जिकेन च।
पुनः पुटेच्छरावाभ्यामेवं षष्टिपुटैर्मृतिः ॥३८॥

मारणार्थ—शुद्ध नाग (सीसा) १ पाव। मारक द्रव्य—पीपल के वृक्ष की छाल का चूर्ण नाग से चतुर्थांश (ऽ=), इमली के वृक्ष की छाल का चूर्ण नाग से चतुर्थांश (ऽ=), शुद्ध मैनसिल नाग के समान एक पाव।

विधि—शुद्ध नाग को मृत्पात्र में (अथवा लोहे की कड़ाही में) डालकर नीचे अग्नि जलावे। जब नाग पिघल जावे तब अश्वत्थ और इमली का मिश्रित चूर्ण (१—१ तोला) की चुटकी डालकर लोह घर्षणी से मर्दन करे। इसी प्रकार शनैः २ चूर्ण डालने और मर्दन करने से नाग भस्मीभूत हो जाता है। नाग भस्म होने पर कड़ाही को नीचे उतार कर उसमें से समग्र भस्म को उठाकर खरल में डाले और नाग भस्म के समान मान में शुद्ध मनःशिला का चूर्ण डालकर काजी के साथ मर्दन करे और टिकिया बनाकर सुखा लेवे। पुनः शराव सम्पुट में यथाविधि बन्द करके पुटाग्नि से पाक करे। इस प्रकार बारम्बार मनःशिला के योग से काजी के द्वारा मर्दन करके यथाविधि ६० पुट देने से नाग की उत्तम भस्म होती है ॥३६—३७॥

ताम्बूलीरससंपिष्टशिलालेपात्पुनः पुनः।
द्वात्रिंशद्भिः पुटैर्नागो निरुत्थो याति भस्मताम् ॥३९॥

पान के पत्ते के रस से मैनसिल को पीसकर नाग पत्रों पर लेप करे और पुट विधि से पाक करे। इस प्रकार ३२ पुट देने से सीसे की निरुत्थ भस्म होती है ॥३९॥

वक्तव्य—(१) पाव नाग को २-३ सेर उपलों की अग्नि पर्याप्त है। अन्यथा यह पिघल जाया करेगा।

(२) नाग मारण के अनेक विधान हैं और अनेक वर्णों की इसकी भस्में बनती हैं। परन्तु भक्षण कार्यार्थ तथा रसायनार्थ सर्वदा और सर्वथा मनःशिला से मारित नाग का ग्रहण श्रेयस्कर होता है। अन्यथा नाग का 'नागदोष' (लेडपोआईजन) नष्ट नहीं होता। इस दोष का प्रभाव सीधा यकृत पर होता है जिस से यकृत सकुचित अथवा कभी २ बढ़ जाता है इसका यह दोष मनःशिला से ही नष्ट होता है।

(३) नागशोधन—पूर्वोक्त तैल तक्रादि में इसका समुचित शोधन हो जाता है।

नाग के अवगुण—

शुद्धिपाकविहीनं तु सीसकं परिशीलितम्।
गुल्मं प्रमेहमानाहं श्वयथुं च भगन्दरम् ॥
वह्निमान्द्यं त्वसशोथं वाह्रोर्निश्चेष्टतां तथा।
शूलं क्षयादिकान् रोगान् जनयत्यविकल्पतः ॥ (रस तरंगि०)

नाग के गुण—

अत्युष्णं शीसकं स्निग्धं तिक्तं वातकफापहम् ।
प्रमेहतोयदोषघ्नं दीपनं चामवातनुत् ॥ (रसर०) ।

मात्रा—१ रत्ती । अनुपान—मधु, माखन, दूध ।

वङ्ग मारण विधान—

मृत्पात्रे द्राविते वङ्गे चिञ्चाश्वत्थत्वचो रजः ।
क्षिप्त्वा क्षिप्त्वा चतुर्थांशमयोदर्व्या प्रचालयेत् ॥४०॥
ततो द्वियाममात्रेण वङ्गभस्म प्रजायते ।
अथ भस्मसमं तालं क्षिप्त्वाम्लेन प्रमर्दयेत् ॥४१॥
ततो गजपुटे पक्त्वा पुनरम्लेन मर्दयेत् ।
तालेन दशमांशेन याममेकं ततः पुटेत् ॥४२॥
एवं दशपुटैः पक्वो वङ्गस्तु म्रियते ध्रुवम् ।

सुशोधित वंग को मृत्पात्र (मिट्टी की नांद अथवा लोहे की कड़ाही) में डालकर पिघलावे । जब वग पिघल जाये तब इमली और पीपल वृक्ष के छाल की चतुर्थांश (वग परिमाण से) परिमाण से चुटकी डालकर लोह दर्वी से मर्दन करता जावे । इस प्रकार दो प्रहर (८ घंटा) मर्दन करने से वङ्गभस्म हो जाती है । पुन. इस भस्म को कड़ाही से उठाकर खरल में डाले और वङ्गभस्म के सम परिमाण का शुद्ध हरिताल (वर्किया) डालकर मर्दन करे और निम्बूरस अथवा काजी से घोटकर टिकिया बनाकर यथाविधि सम्पुट बनाकर गजपुट की अग्नि से पाक करे । इसी प्रकार दशपुट देवे और प्रतिपुट में शुद्ध हरिताल वङ्ग से दशमाश डालता रहे । केवल प्रथम बार के पुट में हरिताल वङ्ग के समान दिया जायेगा । अन्य दश पुटों में प्रति बार वङ्गमान मे दशाश ग्रहण करके पूर्ववत यथाविधि पुट प्रदान करे ॥४०—४२॥

वक्तव्य—(१) अश्वत्थ त्वगादि से वङ्ग को घर्षण करते समय कड़ाही के नीचे ऐसी तीव्र आच होनी चाहिये जिस से कड़ाही का तलभाग पूर्ण रक्तवर्ण का हो सके । अन्यथा स्वल्पाग्नि में डाला हुआ चूर्ण पूर्णतया भस्म न होता हुआ कोयला बनकर वङ्ग के रूप और मान में विकृति उत्पन्न कर देगा । एव प्रतिपुट में मर्दन दृढतर होना आवश्यक है ।

(२) मिश्रक और खुरक भेद से वङ्ग भी दो प्रकार का है । यथा—

मिश्रकं खुरकं चेति द्विविधं वङ्गमुच्यते ।
खुरकं तु गुणैः श्रेष्ठं मिश्रकं न रसे हितम् ॥ १ ॥

लक्षण—

चपलं मृदुलं स्निग्धं द्रुतद्रावञ्च गौरवम् ।

नि शब्द खुरवङ्गं स्यात् मिश्रकं श्यामशुभ्रकम् ॥ २ ॥

(३) वंगभस्म की मात्रा और अनुपान—

गुञ्जामात्रं प्रदातव्य वङ्गभस्म सुमरितम् ॥ ३ ॥
अनुपानं प्रवक्ष्यामि यथाव्याध्यनुपानत. ।
धात्रीस्वरससयुक्तं प्रमेहं हन्ति दुस्तरम् ॥ ४ ॥
शतावरीरसेनैव मूत्रकृच्छ्रविनाशनम् ।
वहुमूत्रहरं तत्तु पारिभद्ररसेन तु ॥ ५ ॥
रजनीचूर्णमधुक धात्रीफलरसेन तु ।
चतुःप्रकारं प्रदरं नाशयेन्नात्र संशय ॥ ६ ॥
पञ्चतिक्तकषायेण पाययेत्सर्वकुष्ठनुत् ।
शर्करामधुसंयुक्तं कूष्माण्डस्य रसेन तु ॥ ७ ॥
रक्तपित्तक्षयं कास श्वासं हन्ति सुदुस्तरम् ।
कण्टकारीरसेनैव पातव्यं पञ्चकासजित् ॥ ८ ॥

(४) वङ्गभस्म वीर्य दोषों पर अत्यधिक लाभ करती है। इसकी भस्म के अन्य अनेक विधान हैं, उन में से केवल एक विधान जिस में साक्षात् स्वर्णप्रभ वङ्गभस्म प्रस्तुत होती है उस स्वर्णवङ्ग विधान को दिग्दर्शनार्थ यहा लिखा जाता है। यथा—

स्वर्णवङ्ग निर्माण प्रकार—

कर्षत्रयमितं वङ्गं दर्व्या न्यस्यानले न्यसेत् ।
विद्रुते तत्समं सूतं द्रुत तत्र विनिक्षिपेत् ॥ १ ॥
द्रुतं निक्षिप्य खल्वे च पेषयेदतियत्नत ।
अम्लेन केनचिद्वापि सह सम्मर्दयेत्तत ॥ २ ॥
विमर्द्य सैन्धवं दत्त्वा वहुशः क्षालयेत्तत ।
विशुद्ध गन्धकं चाथ दद्यादीश्वरसम्मितम् ॥ ३ ॥
चूलिकालवणं चैव वलितुल्यं विनिक्षिपेत् ।
सम्पेष्य चातियत्नेन श्लक्ष्णचूर्णं तु कारयेत् ॥ ४ ॥
सवस्त्रमृत्तिकां लिप्तकाचकुप्यां ततो न्यसेत् ।
यत्नतः सिकतायन्त्रे चतुर्यामं पचेत्तत. ॥ ५ ॥
निर्धूमे जायमाने च काचकूपीमुखे भिषक् ।
सन्दंशेन गृहीत्वाथ कूपीं भूमौ तु विन्यसेत् ॥ ६ ॥
काचकूपीं विभिद्याथ कूपिकातलसंस्थितम् ।
स्वर्णवर्णं स्वर्णवङ्गं भिषग्यत्न. समाहरेत् ॥ ७ ॥ (रसतरङ्गिणी)

इस उपरोक्त विधि से उत्तम स्वर्णाभ वङ्गभस्म प्राप्त होती है। इसकी मात्रा १—२ रत्ती तक है। अनुपान सूक्ष्मैला चूर्ण २ रत्ती और मधु ३ मासा मिलाकर चाटने से वङ्ग के उत्कृष्ट गुण प्राप्त होते हैं।

अथ लोह मारणमाह

शुद्धं लोहभवं चूर्णं पातालगरुडीरसैः ॥४३॥
मर्दयित्वा पुटेद्वह्नौ दद्यादेवं पुटत्रयम् ।
पुटत्रयं कुमार्या च कुठारच्छिन्निकारसैः ॥४४॥
पुटषट्कं ततो दद्यादेवं तीक्ष्णमृतिर्भवेत् ।

यथाविधि परिशोधित लोह चूर्ण को पाताल गरुडी के रस में मर्दन करके, यथाविधान तीन पुट देवे । इसी प्रकार तीन पुट घृत कुमारी के स्वरस से पीसकर देवे तथा कुठारच्छिन्ना रस (वनतुलसी अथवा जामुन वृक्ष की छाल के रस से) और कुलत्थी के काढे से यथाविधि मर्दन विधान से ३ । ३ पुट देवे । इस प्रकार १२ पुट देने से तीक्ष्ण (फौलाद) लोह की भस्म हो जाती है ॥४३—४४॥

वक्तव्य—(१) पाताल गरुडी एक वनस्पति है । इसके पत्र पान के आकार के होते हैं । वर्षा ऋतु में पत्र आते हैं और शरद के अंत में पत्र समाप्ति हो जाती है । इसकी लता के नीचे बहुत दूर खोदने पर शकरकन्दी के आकार का सुदृढ, पिच्छिल और श्वेतकन्द प्राप्त होता है । इसी का स्वरस लोह मारणार्थ ग्रहण होता है । इसको छिलहिंट और महामूला भी कहते हैं । इसके दो चार पुटों में ही लोहे का समस्त काठिन्य दूर होकर पेषण योग्य हो जाता है । प्रत्येक पुट में पेषण सुदृढ़ होना परमावश्यक है । यहां पुट की अग्नि मात्रा यदि एक पाव लोह हो तो १०—१२ सेर वन उपल पर्याप्त हैं ।

विधि —प्रत्येक स्वरस में लोह को मर्दन करके चक्रिका (टिकिया) बनाकर सुखा लेवे और शराव सम्पुट में बन्द करके यथाविधि कपड मिट्टी कर के पुटाग्नि मे पाक किया करे ।

(२) लोहशोधन की आवश्यकता—

अशुद्धलोहं न हित्त निषेवणादायुर्बलं कान्तिविनाशि निश्चितम् ।
हृदि प्रपीडां तनुते ह्यपाटव रुजं करोत्येव विशोध्य मारयेत् ॥

लोह शोधन की विधि —

तप्तानि सर्वलोहानि कदलीमूलवारिणि ।
सप्तधा त्वभिषिक्तानि शुद्धिमायान्त्यनुत्तमाम् ॥

दूसरी विधिः—

क्वाथ्यमष्टगुणे तोये त्रिफला षोडशं पलम् ।
तत्काथे पादशेषे तु लोहस्य पलपञ्चकम् ॥
कृत्वा पत्राणि तप्तानि सप्तवारं निषेचयेत् ।
एवं प्रलीयते धातुर्गिरिजो लोहसम्भवः ॥

लोह अत्यत कठिनाङ्ग धातु है । प्रथम इसके पत्र करा लेवे और उक्त विधि

स परिसाधित त्रिफला क्वाथ में, अग्नि द्वारा रक्त वर्ण किये हुए लोह पत्रों को इसमें बुझाता जावे। इस प्रकार २१ वार करने से लोह पत्र त्वरित होकर चूर्णाकृति, निर्वाप्य पात्र में प्राप्त होंगे। उसे ग्रहण कर स्वच्छ जल से मारक द्रव्यों के स्वरस से घोटकर पुट दान आरम्भ करे। इस प्रकार नियत समय आने पर लोह की उत्तम भस्म प्राप्त होती है, जो वर्ण में रक्त अथवा रक्तकृष्ण एवं जामुन फल के वर्ण की होती है।

(३) साधारणतया आयुर्वेद ने समस्त लोहों को तीन जातियों विभक्त किया है। यथा—

मुण्डं तीक्ष्णं च कान्तं च त्रिप्रकारमयः स्मृतम्।

मुण्ड जाति का लोहा पुन तीन प्रकार का है। यथा—मृदु, कुण्ठ और कडार। मुण्ड में मृदु जाति का ठीक है। इसी प्रकार तीक्ष्ण (फौलाद) के छ भेद हैं। यथा—खरलोह, सारलोह, हन्नाललोह, तारावर्तलोह, वाजिरलोह, काललोह। यह सब उत्तम लोह होते हैं परन्तु वाजिर और काल लोह फौलादी लोहों में सब से उत्तम होते हैं।

कान्त समग्र लोहों का राजा है। इसके अन्दर का प्राणतत्त्व (ओक्सीजन) शरीर का महोपकार करता है। कान्त भी अपने गुण भेद से पाच प्रकार का है। यथा—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक, द्रावक और रोमकान्त। इनमें भी द्रावक और रोमकान्त अत्युत्कृष्ट हैं। कर्षक मध्यम है और शेष अल्पशक्ति होने के कारण हीन-वीर्य होते हैं। कात का प्रत्येक नाम उसके लक्षणों का बोधक है।

(४) मुण्ड जाति के लोह की परीक्षा—यद्यपि प्रत्येक जाति के लोह के लक्षण शास्त्र में सुविस्तृत वर्णित हैं। परन्तु एक सुगम परीक्षा यहा दी जाती है। जिस लोह खण्ड को साण पर घिसने से यदि उसमें से निकलने वाली चिनगारिया पृथु, वेगरहित और श्वेताभ हों तो वह लोह मुण्ड जाति का होता है। इसका उपयोग कृषिकार्योपयोगी शस्त्र, लोह-खल्वादि तथा पात्रादि निर्माण में होता है।

तीक्ष्ण लोह की परीक्षा—इसी प्रकार यदि साण पर सुनिशित होता हुआ लोह खण्ड यदि रक्त पीताभ सूक्ष्म और दीप्तिमान् चिनगारियों को छोडता है तो उसको तीक्ष्ण लोहकहते हैं। यह यंत्र शस्त्र तथा औषध कार्य में व्यवहृत होता है।

कात की परीक्षा—एव यदि लोह खण्ड से रक्तवर्ण, अतिसूक्ष्म, अत्यत दीप्तियुक्त, चचल, सुदूर प्रसरणशील तथा वेगवान् चिनगारिया प्राप्त हों तो उसे कात लोह कहते हैं। यह अल्पमात्रा में प्राप्त होने से औषध कार्य मे काम आता है।

(५) लोहभस्म के गुण—

लोहं दीपनमुत्तमं क्षयहरं कुष्ठामयध्वंसनं
गुल्मप्लीहविधूननं क्रिमिहरं पाण्ड्वामयघ्नं परम्।
मेदोमेहनिबर्हणं गरहरं दुर्नामरोगांतकृत्
छर्दिश्वासहरं त्वलं बहुगिरा योगेन नानार्तिनुत्॥ (रसतरंगिणी)

अपि च—

पुरातनमतीसारं गण्डमालां नवोत्थिताम्।
रजोरोधं वृक्कशोथं हृद्रोग विषमज्वरम्॥
यौवनारम्भकालीनयोषित्पाण्ड्वामयं तथा।
आमपक्वाशयगतक्षतजासृक्स्रुतिं जयेत्॥
वातसस्थानदौर्बल्यं बहूत्थानसमुत्थितम्।
अचिरादेव नियतं मृतलोहं विनाशयेत्॥ (रसतरं०)

विशिष्ट गुण—

शाखाश्रितं कोष्ठसमाश्रितं वा पित्तं प्रवृद्धं तु मलाविधेयम्।
मृतं तु लोहं शमयेन्नितान्तं यथा समीरः खलु मेघवृन्दम्॥ (रसतर०)

भक्षण मात्रा—

(६) आरभ्य गुञ्जपादांशात् गुञ्जाद्वितयसंमितम्।
मृतं लोहं प्रयुञ्जीत प्राणाचार्यः प्रयत्नतः॥ (रसत०)

(७) लोह दिव्य शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण आयुर्वेदज्ञों ने इसे तीन कार्यों के लिये प्रयुक्त किया है। यथा—(१) रोगनाशार्थ २) वाजिकरणार्थ (३) रसायनार्थ। प्रत्येक कार्यार्थ इसे भिन्न २ विधियों और भिन्न सख्यात्मक पुटो द्वारा सिद्ध किया गया है। यथा—

पुट निर्देश—

दशादिशतपर्यन्तो गदे पुटविधिर्मतः
वाजीकर्मणि विज्ञेयो दशादिशतपञ्चकः।
दशादिस्तु सहस्रान्त पुटो देयो रसायने॥ लोहपद्धति)

अथवा—तावदेव पुटेल्लोहं यावच्चूर्णीकृतं जले।
निस्तरगे लघुत्वेन समुत्तराति हसवत्॥ (रसेन्द्र०)

उत्तम लोह भस्म बनाने के लिये भानुपाक, स्थालीपाक और पुटपाक—इन तीन विधियों का आश्रय ग्रहण करना उत्तम होता है। लोह के ऐसे २ विधान शास्त्रों में वर्णित हैं जो दीर्घकालिक नपुसक को अवश्य पुरुष बना देते हैं। इसी प्रकार अन्य कार्यों के लिये भी शास्त्राज्ञानुसार इसके मारक गणों का प्रयोग हितकर होगा। मारणार्थ सर्वदा तीक्ष्ण (फौलाद) लोह ग्रहण करे। घटिया लोह से उत्तम लाभ की आशा आकाश पुष्प के भिन्न और कुछ नहीं है।

(८) पुटाग्नि के विशेष नियम—लोह अथवा अभ्रकादि किसी भी पदार्थ को जब गुण वृद्ध्यर्थ पुट देने की आवश्यकता हो तब इस नियम का पालन आवश्यक है। ऐसी अवस्था में भस्म को किसी एक वनस्पति या गणविशेष के रस अथवा क्वाथ से घोटकर यथाविधि चक्रिका बनाकर संशुष्क करके शराव सम्पुट में बन्द कर देवे और एक हाथ गहरा और एक ही हाथभर चौड़ा गढ़ा पृथ्वी में

खोदकर उस गढे को आधे परिमाण तक उपलों से भर देवे और इन पर सम्पुट रखकर दो चार अङ्गारे अग्नि के भी रख देवे । पुन गढे के अवशिष्ट भाग को उपलों से भर देवे । इस प्रकार स्वाङ्ग शीतल होने पर्यन्त औषध-सम्पुट को गढे में पड़ा रहने दे । स्वाङ्गशीतल होने पर सम्पुट भेदन करके औषध को यथापूर्व पुन दृढ पेषण करे और पुटाग्नि देता जाये ।

लोहमारण की दूसरी विधि —

क्षिपेद्धौ दशमांशेन दरदं तीक्ष्णचूर्णतः ॥४५॥
मर्दयेत्कन्यकाद्रावैर्यामयुग्मं ततः पुटेत् ।
एवं सप्तपुटैर्मृत्युं लोहचूर्णमवाप्नुयात् ॥४६॥
रसैः कुठारच्छिन्नायाः पातालगरुडीरसैः ।
स्तन्येन चार्कदुग्धेन तीक्ष्णस्यैवं मृतिर्भवेत् ॥४७॥

मारणार्थ—विशुद्ध लोहचूर्ण १ पाव । शुद्ध हिंगुल २ तोला ।

विधि—हिंगुल को घीकुआर के रस से घोटे और लोहचूर्ण डालकर ८ घटा मर्दन करे । चक्रिका बनाने की अवस्था आने पर चक्रिका बनाकर सुखा लेवे और शराव सम्पुट में बन्द करके पूर्वोक्तरीत्या पुटविधि से पुट देवे । इस प्रकार ७ पुट देने से लोहभस्म हो जाता है । अथवा (लोहचूर्ण से दशमाश हिंगुल देकर कुमारी के स्थान पर) कुठारच्छिन्ना तथा पातालगरुडी के रस से तथा स्त्रीदुग्ध और आक के दूध में हिंगुल योग से लोह को यथाविधि पुटें देने से तीक्ष्ण (फौलाद) लोह-भस्म हो जाता है ॥४५—४७॥

अग्निरहित लोहमारण की तीसरी विधि —

सूतकाद् द्विगुणं गन्धं दत्त्वा कुर्याच्च कज्जलीम् ।
द्वयोः समं लोहचूर्णं मर्दयेत् कन्यकाद्रवैः ॥४८॥
यामयुग्मं ततः पिण्डं कृत्वा ताम्रस्य पात्रके ।
घर्मे धृत्वा ऋबूकस्य पत्रैराच्छादयेद् बुधः ॥४९॥
यामार्धेनोष्णतां भूयाद्धान्यराशौ न्यसेत्ततः ।
दत्त्वोपरि शरावं तु त्रिदिनान्ते समुद्धरेत् ॥५०॥
पिष्ट्वा च गालयेद्वस्त्रादेवं वारितरं भवेत् ।
एवं सर्वाणि लोहानि स्वर्णादीन्यपि मारयेत् ॥५१॥

मारणार्थ—विशुद्ध तीक्ष्ण लोहचूर्ण १५ तोले । शुद्ध पारद ५ तोले । शुद्ध गन्धक १० तोले ।

१—'क्षिपेत्तु द्वादशांशेन' इत्यपि पाठ ।

विधि—प्रथम पारद और गन्धक की उत्तम कज्जली करे और इस कज्जली में लोहचूर्ण डालकर घीकुआर के रस से दो याम (८ घंटा) निरन्तर मर्दन करे। जब मर्दनीय पदार्थ घन हो जाये तब उसका पिण्ड (गोला) बनाकर इस गोले को स्वच्छ ताम्रपात्र में रखकर एरण्डपत्रों से आच्छादित कर देवे और इस पात्र को ४ घंटा तक तीव्र धूप में स्थापित करे। जब यह पात्र गरम हो जाये तब मिट्टी के शराव से ढककर धान्यराशि (अनाज के ढेर) में रख देवे और तीन दिन तक पड़ा रहने देवे। तीन दिन के पश्चात् निकाल कर पेषण करके वस्त्रद्वारा छान लेवे। इस प्रकार लोह वारितर हो जाता है। (यह कृष्णवर्ण की भस्म होगी) एवं अन्य स्वर्णादि धातुओं का भी इसी प्रकार मारण करे ॥४८—५१॥

एक ही विधान से समस्त धातुओं की भस्मविधि—

शिलागन्धार्कदुग्धाक्ताः स्वर्णाद्याः सर्वधातवः ।
म्रियन्ते द्वादशपुटैः सत्यं गुरुवचो यथा ॥५२॥

शुद्ध मैनसिल और शुद्ध गन्धक दोनों को आक के दूध में घोटकर स्वर्णादि धातुओं के पत्रों पर लेप करके यथाविधि १२ (अथवा न्यूनाधिक) पुट देने से निश्चय ही सब धातुओं की भस्म हो जाती है। यह विधान गुरुवचन के समान सत्य सिद्ध है। अथवा इस विधान में जैसा गुरुवचन (गुरु-निर्देशक की जैसी आज्ञा) हो उस के अनुसार व्यवहार करने से समग्र धातुएं मनःशिला गन्धक और अर्कदुग्ध से ही भस्म हो जाती हैं। (वर्ण भिन्न २ होंगे) ॥५२॥

वक्तव्य— लोह का निरुत्थीकरण—

इत्येवं सर्वलोहानां कर्त्तव्यं स्यान्निरुत्थितम् ।
घृतमधुगुञ्जाटकणैः समं लोहभस्म मर्दयेच्च विचक्षणः ।
धमेद्वह्नौ पुनर्लोहं तदा योज्यं रसायने ॥ (रसेन्द्र०)

लोहसेवन में त्याज्य पदार्थ—

कूष्माण्डं तिलतैलं च रसोनं राजिकां तथा ।
मद्यमम्लरसं चैव त्यजेल्लोहस्य सेवकः ॥

उपधातुशोधन और मारण। उपधातुओं की गणना—

माक्षिकं तुत्थकाभ्रौ च नीलाञ्जनशिलालकाः ।
रसकश्चेति विज्ञेया एते सप्तोपधातवः ॥५३॥

सोनामाखी, नीलाथोथा, अभ्रक, कालासुरमा, मैनसिल, हरताल (वर्किया), खपरिया—यह सात उपधातु होते हैं ॥५३॥

वक्तव्य—उपधातुओं की संख्यास्थिति और नाम निर्देश में शास्त्रीय मत-भेद है। उक्त सातों उपधातुओं में बहुत नाम ऐसे हैं जो अन्य पुस्तकों में रस, उपरस और महारसों में पढ़े गये हैं। अतः इनका स्पष्टीकरण देखने के लिये रस-

रत्न समुच्चय को देखना उचित होगा । यहा उक्तोपधातुओं का ही वर्णन होगा ।

स्वर्णमाक्षिक शोधन—

माक्षिकस्य त्रयो भागा भागैकं सैन्धवस्य च ।
मातुलुङ्गद्रवैर्वाथ जम्बीरोत्थद्रवैः पचेत् ॥५४॥
चालयेल्लोहजे पात्रे यावत्पात्रं तु लोहितम् ।
भवेत्ततस्तु संशुद्धि स्वर्णमाक्षिकमृच्छति ॥५५॥

मारणार्थ—सोनामाखी ३ छटाक । सैन्धा नमक १ छटाक ।

विधि —सोनामाखी (उत्तम और पाषाण रहित) को लोह के खरल में डालकर दृढ़ मर्दन करे और उसमें सैन्धव तथा विजोरानिम्बु का रस अथवा जम्बीरी का रस डालकर अत्यन्त सूक्ष्म होने पर्यन्त मर्दन करे । पुन सशुष्क होने पर इस सोनामाखी के चूर्ण को लोहे की कड़ाही में डालकर चूल्हे पर रक्खे और नीचे तीव्र अग्नि जलावे तथा लोह की घर्षणी से चालन करे । यह प्रक्रिया तव तक जारी रक्खे जव तक कडाही का तल भाग रक्तवर्ण का हो जावे । इस प्रकार सोनामाखी का सशोधन और मारण होता है ॥५४—५५॥

वक्तव्य—कड़ाही शुद्ध और उत्तम हो । जव जम्बीरी का रस पूर्णतया सूख जावे तव कडाही में डालकर अग्नि द्वारा पाक करने से स्वर्णमाक्षिक की रक्त वर्ण की भस्म होगी । अन्यथा कृष्णवर्ण की भस्म प्राप्त होगी ।

(२) अग्नि तीव्र होने से उचित भस्म वनती है । मन्दाग्नि से समुचित भस्म नहीं यनती । घर्षण करते समय इसमें से गन्धक की गन्ध आया करती है जो प्रतिश्याय उत्पन्न कर देती है । इस वाधा से वचने के लिये इसे आवरण रहित स्थान अथवा हवादार मकान में वनाना चाहिये । कड़ाही का तल भाग रक्तवर्ण होने पर घर्षित पदार्थ (स्वर्णमाक्षिक) नीलकृष्ण वर्ण का आलोकित होता है । परन्तु शीतल होने पर इसमें रक्तवर्णता आजाती है । इस रक्तवर्ण भस्म को ग्रहण करके चीनीदार पात्र में डाल देवे और ऊपर से स्वच्छ जल डालकर आलोडन करे और स्वल्प काल के लिये उसे अडोल छोड़ देवे । इससे स्वर्णमाक्षिक भस्म नीचे स्थिर हो जायेगी और ऊपर लवण मिश्रित जल रहेगा । इस जल को युक्ति द्वारा अथवा सूत्रवर्तिका द्वारा आकर्षण करे । इस प्रकार भस्मान्तर्गत लवणाश को दूर कर देवे । शुष्क होने पर वस्त्र से छान कर सर्वत्र प्रयोग करे । इसकी मात्रा १—२ रत्ती तक है ।

(३) सोनामखी खान से प्राप्त होने वाली वस्तु है । प्रकृति की रसायन शाला में यह लोह, गन्धक और अत्यल्प भाग ताम्र से निर्माण की जाती है । भस्म विधान मे इसका गन्धकाश नष्ट हो जाता है और अवशिष्ट लोह और ताम्राश भस्मीभूत प्राप्त होता है ।

(४) ग्राह्य स्वर्ण माक्षिक के लक्षण—

भङ्गे सुवर्णसंकाशो मनाक् कृष्णच्छविर्बहिः।
वृहद्वर्ण इति ख्यातो माक्षिकः श्रेष्ठ उच्यते ॥(रसेन्द्र०)

अशुद्ध माक्षिक के दोष—

मन्दाग्निं बलहानिं च व्रण विष्टम्भगात्ररुक्।
कुरुते माक्षिको मृत्युमशुद्धो नात्र संशयः॥ (रसेन्द्र०)

स्वर्ण माक्षिक के गुण—

माक्षीकधातुः सकलामयघ्नः प्रायो रसेन्द्रस्य परं हि वृष्यः।
दुर्मेललोहद्वयमेलनश्च गुणोत्तर. सर्वरसायनाग्र्यः॥ (रसरत्न०)

अपिच—माक्षिक तिक्तमधुरं मेहार्श.क्रिमिकुष्ठनुत्।
कफपित्तहरं बल्य योगवाहि रसायनम्॥

विशिष्ट गुण—

कांचनारत्वचोत्थेन क्वाथेन परिशीलितम्।
ताप्यमन्तःप्रविष्टान्तु बहिः कुर्यान्मसूरिकाम्॥(रसतरंगिणी)

स्वर्णमाक्षिक मारण विधि —

कुलत्थस्य कषायेण घृष्ट्वा तैलेन वा पुटेत्।
तक्रेण वाजमूत्रेण म्रियते स्वर्णमाक्षिकम् ॥५६॥

कुलथी के काढ़े में अथवा तैल (एरण्ड तैल) में अथवा तक्र (मट्ठा) में अथवा बकरी के मूत्र में पृथक् २ पीसकर पुट देने से भी सोनामाखी की भस्म होती है ॥५६॥

वक्तव्य—विधि.—किसी भी द्रव के साथ स्वर्ण माखी को दृढ मर्दन करके टिकिया बना लेवे और शराव सम्पुट में बद कर देवे। यदि एक पाव सोना माखी हो तो ४-५ सेर उपलों की अग्नि से पुट देवे। अधिक अग्नि से यह कठोर हो जाती है। इस प्रकार पुट देने से इसकी भस्म कृष्ण वर्ण की होगी। यदि शराव के ऊपर छोटा सा छिद्र कर लिया जावे तब भस्म का वर्ण रक्तता लिये होगा।

विमल (रूपामाखी) का शोधन—

कर्कोटीमेषशृङ्ग्युत्थैर्द्रवैर्जम्बीरजैर्दिनम्।
भावयेदातपे तीव्रे विमला शुद्ध्यति ध्रुवम् ॥५७॥

बाभककोडा, मेढासिगी अथवा जम्बीरी के रस में भावना देकर तीव्र धूप में सुखा लेवे। इस प्रकार से रूपामाखी का शोधन होता है ॥५७॥

वक्तव्य—विधि—(१) पाषाणरहित रूपामाखी के खण्डों को चूर्णित करके स्वच्छ खरल में घोटकर बाभ ककोडा अथवा अन्य किसी के रस से दृढ मर्दन करे। भावनार्थ स्वरस की मात्रा भाव्य द्रव्य के परिप्लुत होने तक की होती है।

पुन धूप में सुखाकर स्वर्णमाक्षिक के विधान से मारण करे।

(२) इसमें स्वर्ण माक्षिक की अपेक्षा पत्थर अधिक होते हैं। यह श्वेतवर्ण प्रधान और मलिनाकृति युक्त होती है। इसमें स्वर्णमाक्षी की अपेक्षा गुण अल्प होते हैं। यथा—

पाषाणबहलः प्रोक्तस्ताराख्योऽल्पगुणात्मक'। (रसरत्न०)

रूपामाखी के ३ भेद—

विमलस्त्रिविध प्रोक्तो हेमाद्यास्तारपूर्वकः।
तृतीय· कांस्यविमलस्तत्तत्कान्त्या च लक्ष्यते॥ (रसरत्न०)

१—हेम विमल—लगभग सोनामाखी के सदृश पीत वर्ण युक्त होती है। परन्तु निष्प्रभ होती है।

२—तार विमल—यह श्वेतवर्ण और श्वेताभा होती है।

३—कांस्य विमल—यह कांसे की सी आकृति तथा रूक्ष एव शीघ्र स्फुटनशील होती है। इन तीनों म तारविमल ही ठीक रूपामाखी है।

तुत्थशोधन—

विष्ठया मर्दयेत्तुत्थं मार्जारककपोतयोः।
दशांशं टङ्कणं दत्त्वा पचेन्मृदुपुटेन तु ॥५८॥
पुटं दध्ना पुटं क्षौद्रैर्देयं तुत्थविशुद्धये।

शोधनार्थ—उत्तम तुत्थ (नीलाथोथा) ५ तोला। बिल्ली और कबूतर की विष्ठा (पुरीष) ५ तोला। टंकण (कच्चा सुहागा) ६ माशे।

विधि·—प्रथम तुत्थ और बिल्ली तथा कबूतर की समान भाग विष्ठा (यथा हि तन्त्रान्तरे—'ओतोर्विष्ठासम तुत्थ सक्षौद्रटंकणान्वितम्। त्रिधा सुपुटितं शुद्धवान्ति-भ्रान्तिविवर्जितम्') को स्वच्छ खरल में डालकर मर्दन करे। सम्यक् मर्दनानन्तर सुहागा यथामान डालकर मर्दन करे। (द्रवार्थ इस में थोड़ा सा निम्बूरस डालकर) और टिकिया बनाकर शराव सम्पुट में यथाविधि बन्द करके (कुक्कुट) पुट में पाक करे। पुन एक पुट दही के साथ तथा एक पुट मधु के साथ मर्दन करके देने से तुत्थ शुद्ध हो जाता है। इस विधि से कृष्णधूसर वर्ण की भस्म सी प्राप्त होगी। यही शुद्ध तुत्थ है ॥५८॥

वक्तव्य—तुत्थ वर्तमान में कृत्रिम विधि से बना हुआ प्राप्त होता है। रासायनिक विधि द्वारा ताम्र से इसका निर्माण किया जाता है। अशुद्ध तुत्थ का प्रयोग ताम्र के दुर्गुणों को उत्पन्न करता है। इसके उत्तम शोधन की परीक्षा भी वान्ति भ्रान्ति आदि दोषों से रहित होना है।

ग्राह्यतुत्थ के लक्षण—

शिखिकण्ठसमच्छायं गुरु स्निग्धं महोज्ज्वलम्।
तुत्थकं शस्यते विज्ञैरन्यद्धीनगुणं मतम्॥ (रसतर०)

तुत्थ के गुण—

निःशेषदोषविषहृद्गदशूलमूलकुष्ठाम्लपैत्तिकविबन्धहरं परं च।
रासायनं वमनरेककरं गरघ्नं श्वित्रापहं गदितमत्र मयूरतुत्थम्॥ (रसर०)

तुत्थ के स्थान पर ताम्रभस्म प्रयुक्त की जा सकती है। तुत्थ की मात्रा—ताम्रवत् प्रयुक्त होती है। व्रणप्रक्षालनार्थ तुत्थद्रव—शुद्धतुत्थ ५ रत्ती, विशुद्ध जल ५ तोला में घोल कर इस द्रव से व्रणादि का प्रक्षालन करना हितावह होता है। व्रणलेखन और शोधनार्थ तुत्थ अत्युत्तम वस्तु है।

अभ्रकशोधन—

कृष्णाभ्रकं धमेद्वह्नौ ततः क्षीरे विनिक्षिपेत् ॥५९॥
भिन्नपत्रं तु तत्कृत्वा तण्डुलीयाम्लयोर्द्रवैः।
भावयेदष्टयामं तदेवं शुद्ध्यति चाभ्रकम् ॥६०॥

कृष्णाभ्रक (वज्राभ्रक-काला अभ्रक) के खण्डों को प्रज्वलित अङ्गारों में रखकर गरम करे। जब अभ्रखण्ड रक्तवर्ण के हो जायें तब संदश से एक २ खण्ड को ग्रहण करके क्षीर (गोदूध) में डाल देवे। हाडी में उतना ही दूध डाले जितने में अभ्रक के खण्ड डूब सकें। एतदर्थ चतुर्गुण दूध पर्याप्त है। दूध की हाडी में से अभ्रखण्डों को निकाल कर स्वच्छ जल से प्रक्षालन करे। अभ्रदल सचय को हाथ से भिन्न (पृथक् २) करे। पाषाणादि से रहित करके खरल में डाल कर चौलाई और खटी बूटी के रस से आप्लुतान्त भावना देवे। उक्त रसों में अभ्रक को ८ प्रहर डूबा रहने दे। पश्चात् जल से प्रक्षालन करके सुखा लेवे। इस प्रकार अभ्रक शुद्ध हो जाता है ॥५९-६०॥

वक्तव्य—१-अभ्रक प्रकृति की निर्माणशाला में विपुल राशि में प्रस्तुत होता है और अनेक स्थानों पर पर्वतों के रूप में तथा पृथ्वी के ऊपर भी प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था का अभ्रक ग्राह्य नही होता। कारण कि वह प्राकृतिक समुचित उत्ताप प्राप्त करने से प्रथम ही भूम्यावरण से बाहिर आ जाता है। अत' वह अपक्व होने के कारण त्याज्य होता है। यह खानों से प्राप्त किया जाता है और खान से इसके बडे २ प्रस्तर प्राप्त होते हैं, जो स्वच्छ और पारदर्शक होते हैं। २—अभ्रक की अनेक जातिया हैं। यह कृष्ण श्वेत, रक्त और पीतभेद से ४ प्रकार का माना जाता है। यह ससत्त्व और नि'सत्त्व दोनों प्रकार का होता है।

अभ्रक प्राप्त करने की विधि —

राजहस्तादधस्ताद्यत्समानीतं घनं खनेः।
भवेत्तदुक्तफलदं निःसत्त्वं निष्फलं परम् ॥ रसर०)

ग्राह्य अभ्रक के लक्षण—

स्निग्धं पृथुदलं वर्णसंयुक्तं भारतोऽधिकम्।
सुखान्निर्मोच्यपत्रं च तदभ्रं शस्तमीरितम्॥ (रसर०)

वज्राभ्रक के लक्षण—

सुप्रशस्तं कठोराङ्गं गुरुकज्जलसन्निभम्।
यन्न शब्दायते वह्नौ नैवोच्छूनं भवेदपि।
सद्राकरसमुद्भूतं वज्रेति प्रथितं घनम्॥ (रसेन्द्र०)

अभ्रक की श्वेत, पीत और रक्त जातियों को औषधार्थ ग्रहण नहीं कि गया, कारण कि यह दोपल होते हैं। वज्राभ्रक की भी चार जातिया हैं। उनमें भ उपरोक्त केवल वज्र जाति के अभ्रक का ग्रहण है। यथा—

पिनाकं दर्दुरं नाग वज्रञ्चेति चतुर्विधम्।

पिनाक के लक्षण—

पिनाकं पावकोत्तप्तं विमुञ्चति दलोच्चयम्।
तत्सेवितं मलं बद्ध्वा मारयत्येव निश्चितम्।

दर्दुर के लक्षण—

उत्प्लुत्योत्प्लुत्य मंडूकं ध्मातं पतति चाभ्रकम्।
तत्कुर्यादश्मरीरोगमसाध्यं शस्त्रतोऽन्यथा।

नागाभ्र के लक्षण—

नागाभ्रं नागवत्कुर्याद् ध्वानं पावकसंस्थितम्।
तद् भुक्तं कुरुते कुष्ठं मण्डलाख्यं न संशयः।

वज्राभ्रक के लक्षण—

वज्राभ्र वह्निसंतप्तं विमुक्तोऽशेषवैकृतम्।
देहलोहकरं तच्च सर्वरोगहरं परम्॥ (रसरत्न०)

अत वज्रेतर समस्त अभ्रक दोपल होने के कारण सर्वथा त्याज्य हैं।

(२) अशुद्धाभ्रक के दोष—

अशुद्धाभ्रं निहन्त्यायुर्वर्द्धयेन्मारुतं कफम्।
अहतात् छादयेद्गात्रं मन्दाग्निक्रिमिवर्द्धनम्॥ (रसेन्द्र०)

चन्द्रिका युक्त अभ्रक भस्म सेवन का निषेध—

निश्चन्द्रकं मृतं व्योम सेव्यं सर्वगदेषु च।
सेवितं चन्द्रसंयुक्तं मेहं मन्दानलं चरेत्॥
यैरुक्तं युक्तिनिर्मुक्तैः पत्राभ्रकरसायनम्।
तैर्दिष्टं कालकूटस्य विषं जीवनहेतवे। (रसरत्न०)

अभ्रक भस्म में अभ्रक की सूक्ष्माति सूक्ष्म चन्द्रिकायें (चमक) नष्ट होने में विलम्ब लेती हैं। प्राय अनभ्यासी वैद्य सर्वतो भावेन चन्द्रिकाओं के नष्ट न होने पर ही रक्तता प्राप्त होने पर अभ्रक को भस्मीभूत मान लेते हैं। ऐसे अनभ्यासियों को रसरत्नसमुच्चय कार वाग्भटाचार्य ने बुरी तरह कोसा है। वह कहते हैं जो युक्ति-शून्य (मूढ) चन्द्रिकाओं युक्त अभ्रक को रसायन (भक्षणार्थ) कहते हैं, वह मानो

जीवन रक्षार्थ कालकूट विष सेवन की आज्ञा देते हैं। अतः यह स्पष्ट सिद्ध है कि रोग नाशार्थ अथवा रसायनार्थ जो अभ्रक भस्म बनाई हो वह सर्वथा चन्द्रिकाओं से रहित उत्तम भस्म होनी चाहिये।

अभ्रकभस्मविधि —

कृत्वा धान्याभ्रकं तत्तु शोषयित्वाथ मर्दयेत्।
अर्कक्षीरैर्दिनं खल्वे चक्राकारं तु कारयेत् ॥६१॥
वेष्टयेदर्कपत्रैश्च सम्यग्गजपुटे पचेत्।
पुनर्मर्द्यं पुनः पाच्यं सप्तवारं प्रयत्नतः ॥६२॥
ततो वटजटाक्वाथैस्तद्वद् देयं पुटत्रयम्।
म्रियते नात्र सन्देहः सर्वरोगेषु योजयेत् ॥६३॥

धान्याभ्रक को सुखाकर आक के दूध के साथ एक दिन खरल में मर्दन करे और सम्यक् मर्दनानन्तर चक्राकार (टिकियां) बना लेवे। टिकियों के सूखने पर एक २ टिकिया एक २ आक के पत्ते में लपेट कर सूत्र से बाध देवे। पुन सम्पुट में यथाविधि बन्द करके गजपुट की अग्नि से पकावे। इस विधि के अनुसार सात पुट देवे। पुन. वटजटा के क्वाथ से मर्दन करके यथाविधि तीन पुट देवे। इस प्रकार अभ्रक की उत्तम भस्म होती है। इसे सम्पूर्ण रोगों में (मात्रानुसार) प्रयोग करे।

अभ्रक का अमृती करण—

तुल्यं घृतं मृताभ्रेण लोहपात्रे विपाचयेत्।
घृते जीर्णे तदभ्रं तु सर्वयोगेषु योजयेत् ॥६४॥

अभ्रक भस्म के समान भाग गोघृत मिला कर उत्तम लोहे की कडाही में डाल कर नीचे अग्नि जलावे और लोह घर्षणी से चलाता जावे। जब घृत जीर्ण (समाप्त) होजाये तब अभ्रक भस्म को ग्रहण करके समस्त योगों में प्रयोग करे॥६४॥

अभ्रक भस्म क गुण—

मृतं त्वभ्रं हरेन्मृत्युं जरापलितनाशनम्।
अनुपानैश्च संयुक्तं तत्तद्रोगहरं परम् ॥६५॥

भस्मीभूत हुआ अभ्रक मृत्यु, वृद्धावस्था, केशों की श्वेतता को नष्ट करता है तथा अभ्रक भस्म को रोगों के अनुसार अनुपान से प्रयोग किया जावे तब यह सम्पूण रोगों को नष्ट करती है॥६५॥

वक्तव्य— धान्याभ्रकविधि —

चूर्णाभ्रं शालिसंयुक्तं वस्त्रबद्धं हि कांजिके।
निर्यातं मर्दनाद्वस्त्राद्धान्याभ्रमिति कथ्यते॥ (रसर०)

विधि —१ सेर वज्राभ्रक के छोटे २ खण्ड बनाकर १ पाव धानों के साथ

वोरी के टुकडे में वाधकर इस अभ्रपोटली को ३ दिन तक काजी के पात्र में भिगो देवे। जव क्लिन्नता उत्पन्न हो तव पोटली को लोहपात्र में रखकर हाथों से मर्दन करे। वोरी के छिद्रों से जो अभ्रक कण निर्गत हों वह धान्याभ्रक के नाम से पुकारे जाते हैं। यह विधि प्राय अभ्रक से पत्थर दूर करने के लिये प्रयुक्त होती है। इस विधि से पाषाण भाग पोटली में रह जाता है और अभ्रकांश वाहर निकल आता है। इसी प्रकार प्राप्त किये हुए अभ्रक को भस्मार्थ और शोधनार्थ प्रयुक्त करना उचित होता है। अन्यथा अभ्रकान्तर्गत पाषाण भाग अभ्रक में ही रहता है। यदि अभ्रक सर्वथा पाषाण रहित हो तो दूसरी विधियों से शुद्ध कर लेना भी अनुचित नहीं है।

अभ्रकभस्म के गुण—

गौरीतेज परममृतं वातपित्तक्षयघ्नम्
प्रज्ञावोधि प्रशमितरुजं वृष्यमायुष्यमग्र्यम्।
वल्यं स्निग्धं रुचिदमकफं दीपनं शीतवीर्यं
तत्तद्योगै सकलगदहृद्व्योमसूतेन्द्रवन्धि॥ (रसरत्न०)

अभ्रकभस्म की मात्रा—१—२ रत्ती तक है। इसे भी लोह की तरह दोषनाशक गणविशेष की औषधों से पुट देने से गुणाढ्य वनाया जा सकता है। पुराने चिकित्सक इसे पुराणज्वर नाशार्थ और वाजिकरण शक्तिवृद्धयर्थ अधिक प्रयुक्त करते हैं।

अभ्रक मारण की अन्य विधि —

शुद्धं धान्याभ्रकं मुस्तशुण्ठीषड्भागयोजितम्।
मर्दयेत्काञ्जिकेनैव दिनं चित्रकजै रसैः॥६६॥
ततो गजपुटं दद्यात्तस्मादुद्धृत्य मर्दयेत्।
त्रिफलावारिणा तद्वत्पुटेदेवं पुटैस्त्रिभिः॥६७॥
वलागोमूत्रमुसलीतुलसीसूरणद्रवैः।
मर्दितं पुटितं वह्नौ त्रिस्त्रिवेलं व्रजेन्मृतिम्॥६८॥

धान्याभ्रक विधि से प्राप्त किया हुआ शुद्ध अभ्रक ६ छटाक, नागरमोथा और सोंठ का वस्त्रपूत चूर्ण १। १ छटाक मिलाकर एक दिन पर्यन्त काजी के साथ मर्दन करे और पुन एक दिन पर्यन्त चीते के स्वरस अथवा क्वाथ से मर्दन करके टिकिया वनावे। जव टिकिया सूख जावें तव यथाविधि शराव सम्पुट में वन्द कर उसे कपड़ मिट्टी करके यथाविधि गजपुट (अभ्रक के लिये तीव्र आच की आवश्यकता है। अन्यथा भस्म में उचित रक्तवर्ण प्राप्त नहीं होगा) की अग्नि से पाक करे। पुन इसे सम्पुट से निकाल कर त्रिफला के काढे से मर्दन करे। इसी क्रमानुसार त्रिफला से तीन पुटें देवे। तत्पश्चात् यथाक्रम खरैटी के क्वाथ से

गोमूत्र से, मुसली (श्वेत) के क्वाथ से, तुलसी के रस से तथा जिमीकन्द के रस से मर्दन और शोषण विध्यनुसार तीन २ पुटें देने से अभ्रक की उत्तम भस्म हो जाती है ॥६६—६८॥

अभ्रक सत्त्वपातन—

धान्याभ्रकस्य भागैकं द्वौ भागौ टङ्कणस्य च।
पिष्ट्वा तदन्धमूषायां रुद्ध्वा तीव्राग्निना पचेत् ॥६९॥
स्वभावं शीतलं चूर्णं सर्वरोगेषु योजयेत्।

धान्याभ्रक विधि से परिशोधित अभ्रक चूर्ण १भाग, टङ्कण (कच्चा सुहागा) २ भाग।

विधि—अभ्रक और सौभाग्य को खरल में डालकर उत्तम मर्दन करे। जब दोनों वस्तु परस्पर मिल जायें तब इन्हें शराव सम्पुट में बन्द करके उत्तमरीत्या कपड़मिट्टी कर देवे और गजपुट की तीव्र अग्नि द्वारा पाक करे। शीतल होने पर सम्पुट को निकाल कर अभ्रक सत्त्व ग्रहण करे। इसे सम्पूर्ण योगों में प्रयुक्त करे।

वक्तव्य—इस क्रिया के लिये वही अभ्रक ग्रहण होता है जिस में सत्त्व हो। केवल वज्राभ्रक में ही सत्त्व होता है, अन्यों में नहीं होता। इस मारण विधान से पुट के पश्चात् शराव के तलभाग में अभ्रक कृष्णकाच के समान पिघला हुआ निश्चन्द्र प्राप्त होगा। यही सत्त्व है। पेषण करने पर इसका वर्ण काच चूर्ण के समान होता है। यह भस्म अत्यन्त शीतल होती है। टाईफाइड ज्वर के वेग को कम करने में बड़ी उपयोगी है। मात्रा १–२ रत्ती पर्यन्त।

नीलाञ्जन शोधन—

नीलाञ्जनं चूर्णयित्वा जम्बीरद्रवभावितम् ॥७०॥
दिनैकमातपे शुद्धं भवेत्कार्येषु योजयेत्।

नीलांजन (काला सुरमा) को खरल में पीसकर जम्बीरी के रस से एक-दिन मर्दन करके धूप में सुखावे। इस प्रकार काला सुरमा शुद्ध हो जाता है। यही सुशोधित सुरमा समस्त औषधों में प्रयुक्त करना चाहिये।

वक्तव्य—सौवीरांजन, रसाजन, स्रोतोंजन, पुष्पाञ्जन और नीलाञ्जन—इन भेदों से यह पाच प्रकार का होता है। इन सब में नाग और पारद के अंश पाये जाते हैं। एवं न्यूनाधिक मूल कारण के अनुसार ही लाभ भी करते हैं।

नीलाञ्जन के गुण—

नीलाञ्जनं गुरु स्निग्धं नेत्र्यं दोषत्रयापहम्।
रसायनं सुवर्णघ्नं लोहमार्दवकारकम् ॥ (रसरत्न०)

नीलांजन का व्यवहार स्वर्ण की चमक दूर करने में अधिक होता है।

गैरिक-कासीसादि का शोधन—

एवं गैरिककासीसटङ्कणानि वराटिका ॥७१॥

तौरी शङ्खं च कङ्कुष्ठं शुद्धिमायाति निश्चितम् ।

उपरोक्त नीलांजन के शोधन विधान से गेरी, कासीस (काही सवज), टकण (सुहागा), वराटिका (कौडिया), तौरी (स्फुटिका), शङ्ख, कङ्कुष्ठ (रेवद उशारा) आदि ९ द्रव्यों का शोधन करे। उपरोक्त सव द्रव्यों का शोधन नीलांजन शोधन विधि से हो जाता है ॥७१॥

वक्तव्य—गेरी पर्वतीय खानों से प्राप्त होने वाली मृत्तिका विशेप का नाम है। इसके पृथक्करण करने से लोहांश की प्राप्ति होती है । अत लोह के प्राकृतिक रूपों में एक रूप गेरी भी है। गेरी दो प्रकार की होती है। यथा—

पापाणगैरिकं चैक द्वितीयं स्वर्णगैरिकम् । (रसर०)

पापाण गेरी के लक्षण—

पाषाणगैरिकं प्रोक्तं कठिनं ताम्रवर्णकम् ।

स्वर्ण गेरी के लक्षण—

अत्यन्तशोणितं स्निग्धं मसृणं स्वर्णगैरिकम् । (रसरत्नस०)

गैरिक का अन्यशोधन—

गैरिकं तु गवां दुग्धैर्भावितं शुद्धिमृच्छति ।

गैरिक के गुण—

स्वादु स्निग्धं हिमं नेत्र्य कपाय रक्तपित्तनुत् ।
हिध्मावमिविषघ्नं च रक्तघ्न स्वर्णगैरिकम् ॥

शुद्ध गैरिक की मात्रा ४—८ रत्ती है ।

कासीस विवरण—कासीस दो प्रकार की होती है—वालु कासीस और पुष्पकासीस ।

१—वालु कासीस को चूर्ण कासीस और काहीसुर्ख भी कहते हैं। यह तीव्र वामक होती है ।

२—पुष्प कासीस हरिद्वर्ण की होती है इसे काहीसवज कहते हैं। आयुर्वेदीय व्यवहार में पुष्पकासीस प्रयुक्त होती है। इसे क्रित्रिम विधि से भी वनाते हैं। (निर्माण प्रकार रसतरगिणी में देखो।)

कासीस का अन्य शोधन—

सकृद्भृङ्गाम्बुना स्विन्नं कासीसं निर्मलं भवेत् ।

पुष्पकासीस के गुण—

पुष्पादिकासीसमतिप्रशस्तं सोष्णं कषायाम्लमतीव नेत्र्यम् ।
विषानिलश्लेष्मगदव्रणघ्नं श्वित्रक्षयघ्नं कचरञ्जनं च ॥ (रसर०)

मात्रा—१—२ रत्ती ।

टकण विवरण—भारत में अनेक स्थानों पर टकण प्राप्त होता है। यह मृत्तिका से प्राप्त किया जाता है ।

टंकण का विशेष शोधन—

सुचूर्णितं टंकणं तु खलु पञ्चपलोन्मितम्।
समुज्ज्वलोदरे क्षुद्रकटाहे विन्यसेत् ततः ॥
चुल्लिकायां निधायाथ पचेद् दर्व्या प्रचालयन्।
सुपुष्पितं नष्टनीरं शुद्धिमायाति टंकणम् ॥ (रसतरंगिणी)

टंकण के गुण—

टंकणः कटुरुष्णश्च रूक्षस्तीक्ष्णश्च सारकः।
कफविश्लेषणो हृद्यो वातामयनिषूदनः ॥
कासश्वासहरः कामं स्थावरादिविषापहा।
अग्निदीप्तिकरश्चापि भृशमाध्माननाशनः ॥
स्त्रीपुष्पजननो बल्यो विविधव्रणनाशनः।
पित्तकृच्च समाख्यातो मूढगर्भप्रवर्तकः ॥ (रसतरंगिणी)

यथाविधि परिशोधित सौभाग्य की मात्रा २—४ रत्ती प्रयुक्त होती है।

वराटिका का विवरण—यह समुद्र से प्राप्त होने वाला पदार्थ है। इसके अनेक प्रकार हैं। आयुर्वेद में व्यवहार होने वाली कौडियों के यह लक्षण हैं—

पीताभा ग्रन्थिला पृष्ठे दीर्घवृन्ता वराटिका।
रसवैद्यैर्विनिर्दिष्टा सा चराचरसंज्ञिका ॥
सार्धनिष्कभरा श्रेष्ठा निष्कभारा च मध्यमा।
पादोननिष्कभारा च कनिष्ठा परिकीर्तिता ॥

वराटिका का विशेष शोधन—

वराटाः काञ्जिके स्विन्ना यामाच्छुद्धिमवाप्नुयुः।

वराटिका के गुण—

परिणामादिशूलघ्नी ग्रहणीक्षयनाशिनी।
कटूष्णा दीपनी वृष्या नेत्र्या वातकफापहा ॥
रसेन्द्रजारणे शस्ता विडद्रव्येषु शस्यते।

अन्यच्च—तदन्ये तु राटाः स्युर्गुरवः श्लेष्मपित्तलाः।

अन्य बृहदाकार वाली कौडियां औषधोपयोगी नही होतीं। वह श्लेष्म और पित्तकारक होने से त्याज्य हैं। मात्रा—२—४ रत्ती।

तौरी (फटकरी)—

सौराष्ट्र्यश्मनि संभूता मृत्स्ना सा तुवरी मता।
वस्त्रमारंजयेद्यासौ मंजिष्ठारागबंधिनी ॥

फटकरी के दो भेद—

फटकी फुल्लिका चेति द्वितीया परिकीर्तिता।

फटकरी का शोधन—

तुवरी कांजिके क्षिप्ता त्रिदिनाच्छुद्धिमृच्छति।

स्फुटिका के गुण—

काची कषाया कटुकाम्लकण्ठ्या केश्या व्रणघ्नी विषनाशिनी च ।
श्वित्रापहा नेत्रहिता त्रिदोषशान्तिप्रदा पारदजारणी च ॥

एव उपरोक्त टकण शोधन विधान से स्फुटिका को शुद्ध करे और
द्वारा भस्म करके प्रयोग करे । मात्रा—१—२ रत्ती ।

शख—यह भी समुद्र से प्राप्त होता है । लघु, दीर्घ, महा आदि भेद
अनेक प्रकार का होता है । विशेषकर उदर सम्बन्धी रोगो पर व्यवहार होता
इसको गजपुट की आच से भस्म करके प्रयुक्त किया जाता है । मात्रा २—४ रत्ती

ककुष्ठ विवरण—ककुष्ठ को वहुधा मुर्दासग माना जाता है । परन्तु क
मुदासग से सर्वथा भिन्न वस्तु है । मुर्दासग नाग की उपधातु है । परञ्च कंकुष्ठ निय
जाति का पदार्थ है । कंकुष्ठ रेचक पदार्थ है और मुर्दासग ग्राही पदार्थ है । इन
परस्पर ऐक्य किसी भी अश में नही होता । इस भ्रममूलक ज्ञान की प्रवृत्ति
और कहा से आरम्भ हुई ? इसका इतिहास अन्धकार के आवरण में छिपा हु
है । किञ्च इसमें लेशमात्र भी सन्देह नही कि उक्त दोनों पदार्थ सर्वथा भिन्न

कंकुष्ठ की उत्पत्ति—

हिमवत्पादशिखरे कंकुष्ठमुपजायते ।

ककुष्ठ दो प्रकार का होता है—

तत्रैक नलिकाख्यं हि तदन्यद्रेणुकं मतम् ।

ग्राह्य कंकुष्ठ के लक्षण—

पीतप्रभं गुरु स्निग्ध श्रेष्ठ कंकुष्ठमादिमम् ।

त्याज्य कंकुष्ठ के लक्षण—

श्यामपीतं लघु त्यक्तसत्त्वं नेष्टं हि रेणुकम् ।

कंकुष्ठ का शोधन—

ककुष्ठ शुद्धिमायाति त्रिधा शुण्ठ्यम्बुभावितम् ।

ककुष्ठ के गुण—

कंकुष्ठ तिक्तकटुक वीर्योष्ण चातिरेचनम् ।
व्रणोदावर्तशूलार्तिगुल्मप्लीहगुदार्तिजित् ॥

मात्रा—½—१ रत्ती ।

कंकुष्ठ विष नाशार्थ—

बर्बूरीमूलिकाक्काथो जीरसौभाग्यकं समम् ।
कंकुष्ठविषनाशाय भूयो भूय पिबेन्नरः ॥ (रसरत्न०)

ककुष्ठ की अनिश्चितता में और भी अनेक किम्वदन्तिया हैं । परन्तु असली
ककुष्ठ वही है जिसे वर्तमान में 'रेवन्दे उशारा' के नाम से पुकारा जाता है ।

अथ मन शिला शोधनम्—

पचेत्त्र्यहमजामूत्रैर्दोलायन्त्रे मनःशिलाम् ॥७२॥
भावयेत्सप्तधा पित्तैरजायाः शुद्धिमृच्छति ।

शोधनार्थ—(उत्तम और पाषाण रहित) मैनसिल को वस्त्रखण्ड में बाधकर पोटली बना लेवे। इस पोटली को बकरी के मूत्र से पूर्ण हांडी में दोलायन्त्र विधि से पचावे। पुन. खरल में मर्दन करके बकरी के पित्ता से सात भावनाएँ देवे और धूप में सुखा लेवे। इस प्रकार मैनसिल शुद्ध हो जाती है ॥७२॥

वक्तव्य—दोलायंत्र द्वारा मन शिला के पचाने का उचित विधान यह है—

सुदृढे कदलीपत्रे वस्त्रखण्डे चतुर्गुणे ।
तन्मध्ये तान् विनिक्षिप्य बध्नीयाच्च सुपोटलीम् ॥
क्षाराम्लमूत्रवर्गेण स्वेदयेच्च दिनत्रयम् ।
तथा स्वेदः प्रकर्तव्यो मज्जयेत्पोटली यथा ॥
भवेन्न च तलस्पर्शी भाण्डस्यापि कदाचन ।

अर्थात् मैनसिल के छोटे २ टुकड़े करके उन टुकड़ों को सुदृढ केले के पत्ते में बाध देवे। पुन चौतहे वस्त्रखण्ड में पत्रवेष्टित पिण्ड को रखकर पोटली ना लेवे और पोटली मूत्र में सर्वदा डूवी रहे तथा पोटली को भाण्डतलस्पर्शी न होने देवे। इस प्रकार तीन दिन पाक करे। इसके शोधनार्थ क्षारद्रव, अम्लद्रव और मूत्रादि का प्रयोग भी होता है।

दोलायन्त्र के लक्षण—

द्रवद्रव्येण भाण्डस्य पूरितार्धोदकस्य च
मुखस्योभयतो द्वारद्वय कृत्वा प्रयत्नतः ॥
तयोस्तु निक्षिपेद्दण्डं तन्मध्ये रसपोटलीम् ।
बद्ध्वा तु स्वेदयेदेतद्दोलायन्त्रमिति स्मृतम् ॥ (रसरत्नसमु०)

उक्त दोला यंत्र से दो कार्य लिये जाते हैं।

१ पचाना—इस विधान में सूत्रबद्ध पोटली को द्रव पूरित भाण्ड के द्रव में डुबो दिया जाता है। इस अवस्था में पोटली भाण्डतल से ४ अगुल ऊची रहती है।

२ स्वेदन—इस स्वेदन कार्य के लिये औषध पोटली द्रव पदार्थ से २ अगुल ऊची रहती है। जिससे जलीय वाष्प पोटली को स्पर्श करते रहें।

हरिताल शोधन—

तालकं कणशः कृत्वा सचूर्णं काञ्जिके क्षिपेत् ॥७३॥
दोलायन्त्रेण यामैकं ततः कूष्माण्डजैर्द्रवैः ।
तिलतैले पचेद्यामं यामं च त्रिफलाजलैः ॥७४॥
एवं यन्त्रे चतुर्यामं पाच्यं शुद्ध्यति तालकम् ।

शोधनार्थ—हरिताल (वर्किया) यथामान (१ पाव) ग्रहण करके उसके दल सचय को चाकू से पृथक् २ करके कण रूप में कर लेवे । पुन. इस कण समुदाय को पोटली में सचूर्ण (अनबुझ चूना १ छटाक) वाध देवे और इस पोटली को काजी से पूर्ण पात्र में दोला यत्र विधि से १ प्रहर (४ घटा) पर्यंत पचावे । (दोला यत्र विधि ५०३ पृ० पर देखो ।) इसी प्रकार उस पोटली को कूष्माण्ड (पेठा-जिस की हलवाई मिठाई वनाते हैं) रस से दोला यत्र विधि से १ प्रहर पचावे । एव १ प्रहर तिल तैल में पचावे तथा इसी प्रकार १ प्रहर त्रिफला के रस से पचावे । पुन पोटली से हरिताल को निकाल कर स्वच्छ जल से प्रक्षालन करे और धूप में सुखा लेवे । इस प्रकार हरिताल शुद्ध हो जाता है ।

वक्तव्य—(१) काजी कूष्माण्ड और त्रिफला के जल में पचाने के लिये हरिताल को पर्याप्त आच में पकाया जाता है । परन्तु तिल तैल में पचाने के लिये अग्नि मात्रा नाममात्र की होगी । कारण कि हरिताल जल में विलीन नही होता । परञ्च तैल में यह विलीन हो जाता है । अत. तैल के अत्युष्ण होते ही हरिताल पिघल जायेगा और पोटली खाली हो जायेगी । इसलिये इसमें तैल उतना ही गरम होना आवश्यक है जितने में हरिताल के पिघलने का सन्देह न हो । (२) हरिताल दो प्रकार का होता है—एक वशपत्राख्य (वर्किया) और दूसरा पिण्ड हरिताल । पिण्ड हरिताल को प्राय रगसाजी के काम में व्यवहार में लाते हैं । यह भी प्रकृति की निर्माण शाला में पृथ्वी के अन्दर ही उचित ऊष्मा प्राप्त करके सखिया और गन्धक से निर्माण होता है । एव कृत्रिम भी वनाया जाता है ।

(३) अशुद्ध हरिताल के दोष—

अशुद्धतालमायुघ्नं कफमारुतमेहकृत् ।
तापस्फोटाङ्गसङ्कोचं कुरुते तेन शोधयेत् ॥ (रसरत्न०)

हरिताल के गुण—

पत्रतालं त्रिदोषघ्नं कुष्टरोगहरं परम् ।
वातरक्तप्रशमनं परमेतद्रसायनम् ॥ (रसतरगिणी)

शुद्ध हरिताल की मात्रा १ रत्ती तक है । हरिताल को व्याधिनाशार्थ प्रयोग करने के लिये शास्त्र में भस्म सत्त्वपातनादि अनेक विधान दिये गये हैं । भस्म और सत्त्व की मात्रा ⅛ रत्ती होगी ।

रसक (खर्पर) शोधन—

नृमूत्रे वाथ गोमूत्रे सप्ताहं रसकं पचेत् ॥७५॥
दोलायन्त्रेण शुद्धिः स्यात्ततः कार्येषु योजयेत् ।

नरमूत्र और गोमूत्र में दोलायन्त्र विधान से पोटली वाधकर ७ । ७ दिन पाक करे । इस प्रकार खर्पर शुद्ध हो जाता है ॥७५॥

वक्तव्य—वर्तमान में खपर के नाम पर भयकर कोलाहल है । कोई इसे

'संगवसरी' कहते हैं। कोई 'तुत्थ भेद' कहते हैं। कोई वङ्गसेनोक्त 'खर्पराख्य रसायन' को ही खर्पर कहते हैं। ऊपर इसके जितने नाम दिये गये हैं उन नामों से असली खर्पर प्राप्त नहीं हो सकता। वास्तव में खर्पर यशद की उपधातु है। खर्पर से जो सत्त्व प्राप्त होता है वह ठीक यशदाकृति होता है।

उत्तम खर्पर की परीक्षा—

मूषामुखोपरि न्यस्य खर्परं प्रधमेत्ततः।
खर्परे प्रद्रुते ज्वाला भवेन्नीला सिता यदि॥ (रसरत्न०)

खर्पर की परीक्षा के लिये खर्पर को मूषा में रख कर अंगाराग्नि से प्रध्मापित करे। यदि उसमें से नील वर्ण तथा श्वेत वर्ण की ज्वाला उद्गत हो तो उत्तम खर्पर मान लेना चाहिये। यशद की ज्वाला में भी यही वर्ण प्रतिभासित होते हैं।

धातु सत्त्व पातनविधान—

लाक्षामीनपयश्छागं टङ्कणं मृगशृङ्गकम् ॥७६॥
पिण्याकं सर्षपाः शिग्रुगुञ्जोर्णागुडसैन्धवाः।
यवास्तिक्ता घृतं क्षौद्रं यथालाभं विचूर्णयेत् ॥७७॥
एभिर्विमिश्रिताः सर्वे धातवो गाढवह्निना।
मूषाध्माताः प्रजायन्ते मुक्तसत्त्वा न संशयः ॥७८॥

लाख (बेर अथवा अश्वत्थनिर्यास), मछली, बकरी का दूध, सुहागा कच्चा, हिरन का सीग, पिण्याक (तिलों की खल), सरसों, सोहांजने के बीज, गुञ्जा (घूंघची), ऊर्णा (ऊन-मेषरोम), गुड़, सैन्धानमक, जौं, कटुकी (अथवा यवतिक्ता, सर्पाक्षी), घृत, शहद—इनको समस्त अथवा व्यस्त (यथालाभ) ग्रहण करके यथाविधि धातुओं (जिस का सत्त्वपात करना हो) से मिश्रित करके मूषा में डालकर प्रज्वलित तीव्र अगाराग्नि से प्रध्मापित करने से धातुओं से सत्त्व प्राप्त हो जाता है ॥७६-७८॥

वक्तव्य—इस विधान से धातूपधातु एवं उपरसादि का सत्त्व प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु सत्त्वपातन विधि एक बार गुरु द्वारा सीख लेनी चाहिये। इस कार्य में पद २ पर कठिनाइयों का सामना करना पडता है। केवल लिखने मात्र से इस विधान का पूर्ण ज्ञान होना अत्यन्त कठिन समस्या है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के सत्त्वार्थ अग्निमान भिन्न होता है। ग्रहणमार्ग तथा सत्त्ववर्ण भी भिन्न २ होता है। अत. प्रत्यक्ष अनुभव के बिना इस कार्य में सफल होना असम्भव है। प्रत्येक पदार्थ के सत्त्वपातनार्थ भिन्न भिन्न उपादानों से निर्मित मूषाओं का ग्रहण होता है। इन का विस्तार रसरत्नसमुच्चय में देखो। उपरोक्त सत्त्वपातक द्रव्य मिलित सत्त्वाकर्षक धातु से ½ भाग और सौभाग्य धातु की अपेक्षा चतुर्थांश ग्रहण करने का नियम है।

वज्र (हीरक) शोधन—

कुलत्थकोद्रवक्वाथैर्दोलायन्त्रे विपाचयेत् ।
व्याघ्रीकन्दगतं वज्रं त्रिदिनं शुद्धिमृच्छति ॥७९॥

कुलत्थी (अन्नविशेष) के कषाय में तथा कोद्रव (धान्यविशेष-कोदों धान) के क्वाथ में दोलायन्त्र विधि से ३ । ३ दिन पाक करे। तत्पश्चात् व्याघ्री (कण्टकारी मूल अथवा गुहरीकन्द) को पीसकर इसके कल्क में वज्रकणों को बाधकर पोटली बनावे । उस पोटली को कुलत्थ और कोद्रव क्वाथ से पूरित भाड में दोलायन्त्र के विधान से तीन २ दिन पचावे । इस प्रकार वज्र शुद्ध हो जाता है ॥७९॥

वज्रशोधन की दूसरी विधि—

तप्तं तप्तं तु तद्वज्रं खरमूत्रैर्निषेचयेत् ।
पुनस्तप्यं पुनः सेच्यमेवं कुर्यात्त्रिसप्तधा ॥८०॥

अथवा गधे के मूत्र में २१ बार तपा २ कर वज्र को बुझा देने से भी वज्र शुद्ध हो जाता है ॥८०॥

वक्तव्य—हीरा खानों से प्राप्त होता है। इस का उपादान कोयला स्थिर किया जाता है । इसी आधार पर वर्तमान में यह कृत्रिम भी तैयार होता है । आयुर्वेद में इसका बड़ा वर्णन है । इसकी कई जातिया और कई भेद हैं। नर नारी और नपुसक भेद से यह ३ प्रकार का माना गया है । वर्णभेद से ४ प्रकार का है ।

ग्राह्य हीरक के लक्षण—

अष्टास्त्र वाष्टफलकं षट्कोणमतिभासुरम् ।
अर्बुदेन्द्रधनुर्वारितर पुवज्रमुच्यते ॥

अशुद्ध वज्र के दोष—

पार्श्वपीडां पाण्डुरोग हृल्लासं दाहसन्ततिम् ।
रोगानीकं गुरुत्वं च धत्ते वज्रमशोधितम् ॥

वज्र के गुण—

आयुःप्रद झटिति सद्गुणदं च वृष्य दोषत्रयप्रशमनं सकलामयघ्नम् ।
सूतेन्द्रबन्धवधसद्गुणकृत्प्रदीप्तं मृत्युञ्जयं तदमृतोपममेव वज्रम् ॥

वज्रमारणमाह—

मत्कुणैस्तालकं पिष्ट्वा यावद्भवति गोलकम् ।
तद्गोले निहितं वज्रं तद्गोलं वह्निना धमेत् ॥८१॥
सिञ्चयेदश्वमूत्रेण तद्गोले च क्षिपेत्पुनः ।
रुद्ध्वा ध्मात पुनः सेच्यमेवं कुर्यात् त्रिसप्तधा ॥८२॥
एवं च म्रियते वज्रं चूर्णं सर्वत्र योजयेत् ।

हरिताल (वर्किया) को मत्कुणों (खटमलों) के साथ पीसकर गोला बना लेवे। वज्रखण्ड को इस गोले के मध्य में रखकर मूषा में स्थापित करके अगारों की अग्नि से प्रध्मापित करे। अत्युष्ण होने पर इसे घोडे के मूत्र में बुझावे। इसी प्रकार मत्कुणपिष्ट तालक का लेप करे और उत्तप्त होने पर अश्वमूत्र में बुझाता जावे। इस प्रकार २१ बार करने से वज्र भस्म हो जाता है। इस भस्मीभूत वज्र के चूर्ण को प्रयोज्य स्थानों पर प्रयोग करे ॥८१—८२॥

वक्तव्य—वज्र का मारण सहज कार्य नही। अनभ्यासी साधक इसकी सफलता में उद्विग्न हो जाते हैं।

वज्रमारण की दूसरी विधि —

> हिङ्गुसैन्धवसंयुक्ते क्वाथे कौलत्थजे क्षिपेत् ॥८३॥
> तप्तं तप्तं पुनर्वज्रं भूयाच्चूर्णं त्रिसप्तधा ।

कुलथी के क्वाथ को मृत्पात्र में डाले और इस क्वाथ में हीग और सैन्धा नमक डाल देवे। पुन वज्र को तपा२ कर बार २ इस में बुझा देने से भी वज्र चूर्णीभूत हो जाता है ॥ ८३ ॥

वज्रमारण की तीसरी विधि —

> मण्डूकं कांस्यजे पात्रे निगृह्य स्थापयेत्सुधीः ॥८४॥
> स भीतो मूत्रयेत्तत्र तन्मूत्रे वज्रमावपेत् ।
> तप्तं तप्तं च बहुधा वज्रस्यैवं मृतिर्भवेत् ॥८५॥

मेंढक को कांसी के पात्र में रक्खे। जब वह भय के कारण मूते तब उस मूत्र में हीरे को तपा २ कर अनेक बार (२१ बार) बुझावे। इस प्रकार भी वज्र मृत होता है ॥८४—८५॥

मात्रा—हीरक भस्म की मात्रा $\frac{1}{?}$—$\frac{1}{१६}$ तक देनी चाहिये।

वैक्रान्त का शोधन मारण—

> वैक्रान्तं वज्रवच्छोध्यं नीलं वा लोहितं तथा ।
> हयमूत्रेण तत्सेच्यं तप्तं तप्तं द्विसप्तधा ॥८६॥
> ततस्तु मेषशृङ्गयुक्त पञ्चाङ्गे गोलके क्षिपेत् ।
> पुटेन्मूषापुटे रुद्ध्वा कुर्यादेवं च सप्तधा ॥८७॥
> वैक्रान्तं भस्मतां याति वज्रस्थाने नियोजयेत् ।

वैक्रांत नील वर्ण का हो अथवा लोहित वर्ण का, उसे पूर्वोक्त वज्रशोधन विधि से शुद्ध करे। अथवा वैक्रांत को तपा २ कर १४ बार घोडे के मूत्र में बुझा कर शुद्ध कर लेवे। पुन मेढासिगी (अथवा उत्तरवारुणी) के पचांग को पीसकर इस कल्क में वैक्रांत को रखकर गोला बनावे और गोले को मूषा में रखकर पुट

द्वारा अग्नि देवे। इस प्रकार सात वार पुट देने से वैक्रात की भस्म हो जाती है इसे वज्र के स्थान पर (अभाव में) प्रयोग में लावें ।।८६—८७।।

वक्तव्य—आयुर्वेदीय सन्दिग्ध द्रव्यों में वैक्रांत भी एक द्रव्य है। इसके ना से भी वर्तमान में अनेक पदार्थ प्राप्त हो रहे हैं। वैक्रात क्या वस्तु है? इसका अ ठीक निर्णय नहीं हुआ। पूर्वाचार्यों ने वैक्रात को हीरे के स्थान पर प्रयोग किया है अत हीरे का सादृश्य अवश्य है। 'वैक्रान्त दग्धहीरकं' ऐसा भी पाठ प्राप्त हो है। इस से प्रतीत होता है कि अपक हीरक जो प्रकृति की निर्माण शाला समुचित समय और उत्ताप प्राप्त नहीं कर सका वही भ्रष्टोदेश्य पदार्थ 'वैक्रान् के नाम से विख्यात होता है। इसी कारण इसे हीरक का प्रतिनिधित्व प्राप्त है वर्तमान में 'बिल्लौर' जातीय पाषाण वैक्रांत के नाम से ग्रहण करने की ध्वा उत्थित हो रही है। परतु इस की वास्तविकता में सन्देह है। कारण कि 'बिल्लौ और वैक्रात में गुणसाम्य नहीं। वैक्रांत के प्रतिनिधित्व में दूसरा पदार्थ 'तुरमल या 'टुरमली' उपस्थित किया जाता है। पदार्थ विश्लेषण वेत्ताओं की धारणा है f 'तुरमली' में हीरक के गुणों की साम्यता उपलब्ध होती है। अत वैक्रात के स्था पर तुरमली का उपयोग युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

वैक्रान्त का नामकरण—

विक्रन्तयति लोहानि तेन वैक्रान्तकः स्मृतः।

वैक्रान्त की परीक्षा—

अष्टास्रश्चाष्टफलकः षट्कोणो मसृणो गुरुः।
शुद्धमिश्रितवर्णैश्च युक्तो वैक्रान्त उच्यते ॥

वैक्रान्त का अष्टविधत्व—

श्वेतो रक्तश्च पीतश्च नील. पारावतच्छविः।
श्यामलः कृष्णवर्णश्च कर्बूरश्चाष्टधा हि स. ॥

'बिल्लौर' में इतने प्रकार नहीं होते।

वैक्रान्त के गुण—

आयुःप्रदश्च बलवर्णकरोऽतिवृष्य प्रज्ञाप्रद. सकलदोषगदापहारी।
दीप्ताग्निकृत्पवि समानगुणस्तरस्वी वैक्रान्तक. खलु वपुर्बललोहकारी ॥
रसायनेषु सर्वेषु पूर्वगण्यः प्रतापवान्।
वज्रस्थाने नियोक्तव्यो वैक्रान्त. सर्वदोषहा ॥

मात्रा—½—१ रत्ती तक है।

अवशिष्ट रत्नों का शोधन मारण—

स्वेदयेद्दोलिकायन्त्रे जयन्त्याः स्वरसेन च ।।८८।।
मणिमुक्ताप्रवालानां यामैकं शोधनं भवेत्।
कुमार्यास्तण्डुलीयेन स्तन्येन च निषेचयेत् ।।८९।।

प्रत्येकं सप्तवेलं च तप्ततप्तानि कृत्स्नशः।
मौक्तिकानि प्रवालानि तथा रत्नान्यशेषतः ॥६०॥
त्त्वणाद्विविधवर्णानि म्रियन्ते नात्र संशयः।
उक्तमाक्षिकवन्मुक्ताः प्रवालानि च मारयेत् ॥६१॥
वज्रवत्सर्वरत्नानि शोधयेन्मारयेत्तथा।

मणि (सूर्यकांत, चन्द्रकात, माणिक्य, पुष्पराग, नीलम, वैडूर्य आदि २), मुक्ता (मोती–आठों प्रकार के), प्रवाल (विद्रुम, मूगा, साख) आदि। मणियों और रत्नों को (पोटली में बाधकर) जयंती के स्वरस में दोलायन्त्र विधि से एक २ प्रहर (४।४ घंटा) पर्यंत स्वेदित करने से शोधन हो जाता है। उपरोक्त मणि-रत्नों को स्वेदित करने के पश्चात् मूषा में रखकर उत्तप्त करे और यथाक्रम घीकुआर के रस में, चौलाई के रस में तथा स्त्री के दूध में सात २ बार बुझाता जावे। इस विधान से मुक्ता, प्रवाल तथा अन्य सम्पूर्ण रत्नों की अपने २ वर्णानुसार अनेक वर्णात्मक भस्म (शोधन) हो जाती है। इसमें संशय नहीं। एवं स्वर्ण माक्षिक को भस्म करने के लिये जिस विधि का अवलम्बन किया गया है उसी रीति से मोती और मूंगे का मारण करे तथा हीरे के शोधन मारण विधान के अनुसार अन्य रत्नों का शोधन मारण करे ॥ ८८—६१ ॥

वक्तव्य— मणियों के नाम—

वैक्रान्तः सूर्यकान्तश्च हीरकं मौक्तिकं मणिः।
चन्द्रकान्तस्तथा चैव राजावर्तश्च सप्तमः॥
गरुडोद्गारकश्चैव ज्ञातव्या मणयस्त्वमी ॥ (रसरत्न०)

ग्राह्य मणियों के लक्षण—

सर्वे भानुनिभा दीप्ता दोषाः पटलवर्जिताः।
निर्जैर्वर्णैः समायुक्ता उत्कृष्टा रसकर्मणि ॥ (रसरत्न समु०)

प्रसङ्गत ग्राह्य और त्याज्यों के लक्षण—मोतियों की आठ जातियां—

मेघानामथ शङ्खानां वराहस्य च दन्तिनः।
मीनजं वंशजं चैव फणिजं शुक्तिजं तथा॥
अष्टौ मुक्ताफलान्येव सदा जारणकर्मणि।
गुणयुक्तानि गृह्यन्ते दोषयुक्तानि वर्जयेत् ॥

ग्राह्य मुक्ता के लक्षण—

ह्लादि श्वेतं लघु स्निग्धं रश्मिवन्निर्मलं महत्।
ख्यातं तोयप्रभं वृत्तं मौक्तिकं नवधा शुभम्।

त्याज्य मोतियों के लक्षण—

रूक्षाङ्गं निर्जलं श्यावं ताम्राभं लवणोपमम्।

अर्धशुभ्रं च विकटं ग्रन्थिकं मौक्तिकं त्यजेत्॥

मुक्ता के गुण—

कफपित्तक्षयध्वंसि कासश्वासाग्निमान्द्यनुत्।
पुष्टिदं वृष्यमायुष्यं दाहघ्नं मौक्तिकं मतम्॥ (रसरत्न०)
जीर्णज्वरप्रशमनं त्वस्थिदन्तविवर्धनम्।
हृद्यं मेहहरं मेध्यं दन्तोद्भेदज्वरापहम्॥ (रसतरङ्गिणी)

ग्राह्य प्रवाल—

पक्वबिम्बफलच्छायं वृत्तायतमवक्रकम्।
स्निग्धमव्रणकं स्थूलं प्रवालं सप्तधा शुभम्॥ (रसरत्न०)

त्याज्य प्रवाल—

पाण्डुरं धूसरं सूक्ष्मं सव्रणं कण्डरान्वितम्।
निर्भारं शुभ्रवर्णं च प्रवालं नेष्यतेऽष्टधा॥

प्रवाल के गुण—

क्षयपित्तास्रकासघ्नं दीपनं पाचनं लघु।
विषभूतादिशमनं विद्रुमं नेत्ररोगनुत्॥

वर्तमान में जो सांख मिलती हैं वह कृत्रिम भी बनाई जाती हैं। कृत्रिम की भस्म का स्वाद चूने के सदृश होता है। मात्रा—१ रत्ती।

पद्मराग (लाल)—

निर्धूमं ज्वलदङ्गारमिन्द्रगोपसमप्रभम्।
गुञ्जारागप्रतीकाशं माणिक्यं रसकर्मणि॥

त्याज्य पद्मराग—

रन्ध्रकार्कश्यमालिन्यरौक्ष्याऽवैशद्यसंयुतम्।
चिपिटं लघुवक्त्रं च माणिक्यं दुष्टमष्टधा॥

माणिक्य (पद्मराग) के गुण—

माणिक्यं दीपनं वृष्यं कफवातक्षयार्तिनुत्।
भूतवेतालपापघ्नं कर्मजव्याधिनाशनम्॥

मात्रा—भस्मीभूत आधी रत्ती से एक रत्ती तक।

तार्क्ष्य (पन्ना)—

हरिद्वर्णं गुरु स्निग्धं स्फुटद्रश्मिचयं शुभम्।
मसृणं भासुरं तार्क्ष्यं गाङ्गं सप्तगुणं मतम्॥

त्याज्य तार्क्ष्य—

कपिशं कर्कशं नीलं पाण्डु कृष्णमलाघवम्।
चिपिटं विकटं कृष्णं रूक्षं तार्क्ष्यं न शस्यते॥

तार्क्ष्य के गुण—

ज्वरच्छर्दिविषश्वाससन्निपाताग्निमान्द्यनुत् ।
दुर्नामपाण्डुशोफघ्नं तार्क्ष्यमोजोविवर्धनम् ॥

मात्रा—भस्मीभूत की आधी रत्ती से एक रत्ती तक ।

पुष्पराग (पुखराज)—

पुष्परागं गुरु स्निग्धं स्वच्छं स्थूलं समं मृदु ।
कर्णिकारप्रसूनाभं मसृणं शुभमष्टधा ॥

त्याज्य पुष्पराग—

निष्प्रभं कर्कशं रूक्षं पीतश्यामं नतोन्नतम् ।
कपिशं कपिलं पाण्डु पुष्परागं परित्यजेत् ॥

पुष्पराग के गुण—

पुष्परागं विषच्छर्दिकफवाताग्निमान्द्यनुत् ।
दाहकुष्ठास्रशमनं दीपनं पाचनं लघु ॥

मात्रा—भस्मीभूत की आधी रत्ती से एक रत्ती तक ।

नीलमणि (नीलम)—

जलनीलेन्द्रनीलं च शक्रनीलं तयोर्वरम् ।

यह जलनील और इन्द्रनील भेद से दो प्रकार की होती है । दोनों में इन्द्रनील जाति की नीलम उत्तम होती है ।

जल नीलम के लक्षण—

श्वैत्यगर्भितनीलाभं लघु तज्जलनीलकम् ।

इन्द्र नीलम के लक्षण—

कार्ष्ण्यगर्भितनीलाभं सभारं शक्रनीलकम् ।

शुभ नीलम के लक्षण—

एकच्छायं गुरु स्निग्धं स्वच्छं पिण्डितविग्रहम् ।
मृदु मध्योल्लसज्ज्योतिः सप्तधा नीलमुत्तमम् ॥

त्याज्य नीलम के लक्षण—

कोमलं विहितं रूक्ष्यं निर्भारं रक्तगन्धि च ।
चिपिटाभं ससूक्ष्मं च जलनीलं हि सप्तधा ॥

नीलम के गुण—

श्वासकासहरं वृष्यं त्रिदोषघ्नं सुदीपनम् ।
विषमज्वरदुर्नामपापघ्नं नीलमुत्तमम् ॥

गोमेदमणिः (लसुनिया)—

गोमेदः समरागत्वाद्गोमेदं रत्नमुच्यते ।
सुस्वच्छगोजलच्छायं स्वच्छं स्निग्धं समं गुरु ॥
निर्दलं मसृणं दीप्तं गोमेदं शुभमष्टधा ।

त्याज्य गोमेद के लक्षण—

विच्छायं लघु रूक्षाङ्गं चिपिटं पटलान्वितम् ।
निष्प्रभं पीतकाचाभं गोमेदं न शुभावहम् ॥

गोमेद मणि के गुण—

गोमेदं कफपित्तघ्नं क्षयपाण्डुक्षयङ्करम् ।
दीपनं पाचनं रुच्यं त्वच्य बुद्धिप्रबोधनम् ॥

वैडूर्य—

वैडूर्यं श्यामशुभ्राभं समं स्वच्छं गुरु स्फुटम् ।
अभ्रशुभ्रोत्तरीयेण गर्भित शुभमीरितम् ॥

त्याज्य वैडूर्य—

श्यामं तोयसमच्छायं चिपिटं लघुकर्कशम् ।
रक्तगर्भोत्तरीयं च वैडूर्यं नैव शस्यते ॥

वैडूर्य के गुण—

वैडूर्यं रक्तपित्तघ्नं प्रज्ञायुर्बलवर्धनम् ।
पित्तप्रधानरोगघ्नं दीपनं मलमोचनम् ॥

सर्वरत्नशुद्धि —

शुद्धयत्यम्लेन माणिक्यं जयन्त्या मौक्तिकं तथा ।
विद्रुमं क्षारवर्गेण तार्क्ष्यं गोदुग्धकैस्तथा ॥
पुष्परागं च सन्धानैः कुलत्थकाथसंयुतैः ।
तण्डुलीयजलैर्वज्रं नीलं नीलीरसेन च ॥
रोचनाभिश्च गोमेदं वैडूर्यं त्रिफलाजलैः ॥

प्रत्येक रत्न के शोधन और मारण में अग्नि मात्रा का पूरा ध्यान रखना होता है । जहा वज्र और नीलम आदि अत्यधिक अग्नि से भस्म होंगे वहां मुक्ता तथा प्रवाल आदि साधारण अग्नि में भस्म होते हैं । मुक्तामारण में, अधिक तीव्र अग्नि का उपयोग न करे । कारण कि इनके अन्दर से सौम्यगुण तथा 'कैलशियम' तीव्राग्नि से नष्ट हो जाती है और अवशिष्ट चूने का भाग रह जाता है ।

शिलाजतु शोधनविधि —

शिलाजतु समानीय ग्रीष्मतप्तशिलाच्युतम् ॥९२॥
गोदुग्धैस्त्रिफलाकाथैर्भृङ्गद्रावैश्च मर्दयेत् ।
आतपे दिनमेकैकं तच्छुष्कं[१] शुद्धतां व्रजेत् ॥९३॥

ग्रीष्मऋतु की तीव्र आतप के कारण शिला खण्डों से प्रस्रवित हुआ शिलाजतु

१ 'तच्छुद्ध' इत्यपि पाठः । ऐसा पाठ रखने पर—वह शुद्ध शिलाजीत जिसमें पत्थर, काष्ठ, पत्रादि न हों वह शुद्ध हो जाता है ।

ग्रहण करके गौके दूध से तथा त्रिफला के क्वाथ से एवं भृङ्गराज के रस से एक २ दिन भावना देकर तीव्र धूप में सुखा लेवे। इस प्रकार शिलाजीत की शुद्धि होती है ।।६२—६३।।

वक्तव्य— शिलाजीत की उत्पत्ति—

मासि शुक्रे शुचौ चैव शिलासूर्यांशुतापिताः ।
—ं स्वरसं शिलाभ्यः प्रस्रवन्ति हि ॥
विख्यातं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
ः स्वरसं शिलाभ्य· सूर्यप्रतापाज्जतुसंप्रकाशम् ।
असमानगन्धि तदेव रम्य तु शिलाजतु स्यात् ॥

शिलाजतु का प्रकार भेद—

शिलाजतु द्विधा प्रोक्तो गोमूत्राद्यो रसायनः ।
कर्पूरपूर्वकश्चान्यस्तत्राद्यो द्विविधः पुनः ।
ससत्त्वश्चैव निसत्त्वः तयोः पूर्वो गुणाधिकः ॥

स्वर्ण शिलाजतु के लक्षण—

स्वर्णगर्भगिरेर्जातो जपापुष्पनिभो गुरुः ।
स स्वल्पतिक्तः सुस्वादुः परमं तद्रसायनम् ॥

रौप्य शिलाजतु के लक्षण—

रौप्यगर्भगिरेर्जातं मधुर पाण्डुरं गुरु ।

ताम्र शिलाजतु के लक्षण—

ताम्रगर्भगिरेर्जातं नीलवर्णं घनं गुरु ।

शिलाजीत के गुण—

नूनं सज्वरपाण्डुशोफशमनं मेहाग्निमान्द्यापहं
मेदश्छेदकरं च यक्ष्मशमन शूलामयोन्मूलनम् ।
गुल्मप्लीहविनाशन जठरहृच्छूलामयोन्मूलनं
सर्वत्वग्गदनाशनं किमपरं देहे च लोहे हितम् ॥

अन्यच्च—रसोपरससूतेन्द्ररत्नलोहेषु ये गुणाः ।
वसन्ति ते शिलाधातौ जरामृत्युजिगीषया ॥ (रसरत्न समुच्चय)

शिलाजतु के नाम पर धूर्तों ने बडा आडम्बर कर रखा है। घूम फिर कर शिलाजीत बेचन वाले कृत्रिम शिलाजीत दे जाते हैं। जिसमें शिलाजीत का अश भी नही होता। ऊपर जिस शिलाजीत का शोधन कहा गया ह वह शिला-परिस्रुत शुद्ध शिलाजीत है। ऊंचे पर्वतशिखरों से जब इसके बिन्दु नीचे टपकते हैं तब इसके साथ स्थानीय बालुका, पत्थर, घास, फूस आदि लिपट जाते हैं से शिलाजीत को पृथक् करने की विधि नीचे लिखी जाती है। १—त्रिफलाजल से शिलाजीत शोधन करने की दो विधियां प्रचलित हैं त्युत्तम हो जायेगी। २—सूर्यतापी ।

अग्नितापी की विधि —शोधनार्थ शिलाजीत के खण्डों को चूर्णाकृति कर लेवे। एक पात्र में शिलाजीत का चूर्ण और चूर्णापेक्षा चतुर्गुण जल डालकर चूल्हे पर रखकर गरम करे। जब पत्थराश जल में घुल जाये तब पात्र को नीचे उतार लेवे। दूसरे दिन पात्र के ऊपर का स्वच्छ कृष्ण वर्ण का जल अन्य स्वच्छ पात्र में निथार लेवे। इस पात्र को चूल्हे पर रखकर मन्दाग्नि से पाक करे। जब सघन पाक हो तब उतार कर प्रयोग करे। यह अग्नितापी शिलाजीत होगी। परन्तु अग्निपक्व शिलाजीत के गुण नष्ट हो जाते हैं।

शिलाजतु का अन्य शोधन प्रकार (सूर्यतापी विधान)—

मुख्यां शिलाजतुशिलां सूक्ष्मखण्डप्रकल्पिताम् ।
निक्षिप्यात्युष्णपानीये यामैकं स्थापयेत्सुधीः ॥९४॥
मर्दयित्वा ततो नीरं गृह्णीयाद्वस्त्रगालितम् ।
स्थापयित्वा च मृत्पात्रे धारयेदातपे बुधः ॥९५॥
उपरिस्थं घनं यत्स्यात्तत्क्षिपेदन्यपात्रके ।
धारयेदातपे तस्मादुपरिस्थं घनं नयेत् ॥९६॥
एवं पुनः पुनर्नीत्वा द्विमासाभ्यां शिलाजतु ।
भूयात्कार्यक्षमं वह्नौ क्षिप्तं लिङ्गोपमं भवेत् ॥९७॥
निर्धूमं च ततः शुद्धं सर्वकर्मसु योजयेत् ।
अधःस्थितं च यच्छेषं तस्मिन्नीरं विनिक्षिपेत् ॥९८॥
विमर्द्य धारयेद्घर्मे पूर्ववच्चैव तन्नयेत् ।

उत्तम और ग्राह्य लक्षणयुक्त शिलाजीत का पिण्ड लेकर उसे कूटकर चूर्णीभूत करके अत्युष्ण जल में डालकर आलोडन करे और एक प्रहर भर पडा रहने देवे। पुन प्रात्र के उपरिभाग में अवस्थित कृष्णवर्ण के स्वच्छ जल को निथार लेवे। इस जलको स्वच्छ वस्त्र से छानकर शुद्ध (चौडे मुख वाले) मृत्पात्र में डालकर धूप में रख देवे। धूप के प्रभाव से मलाई का सा पदार्थ जो शिलाजतु के ऊपर आता जाये उसे विधिपूर्वक ग्रहण करके अन्य पात्र में सञ्चित करे और इसे भी धूप में रखकर पूर्ववत् इस पर से भी मलाई का भाग उतार लिया करे। इस प्रकार वार २ करने से दो मास में शिलाजीत कार्योपयोगी हो जाती है। अथवा अग्नि के ‍ंगारे पर शिलाजीत का थोड़ा सा भाग रखने से यदि वह धूम रहित लिंगाकार व्यवहारोपयोगी होती है। शिलाजीत प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसके नीचे १ 'तच्छुद्ध पुन, जल डालकर आलोडन करे और उक्तरीत्या, शिलाजीन काष्ठ, पत्रादि न हों वह जब तक प्राप्त होती रहे ॥९४—९८॥

१) इस विधि में शिलाजतु चूर्ण को अत्यन्त उष्ण चतुर्गुण जल

में आलोडन किया जाता है। पात्रस्थ जल खौलने लगे तब उसे चूल्हे से उतार लेवे और शिलाजीत के चूर्ण को डाल देवे।

(२) मृत्पात्र के स्थान पर वर्तमान की चीनी के 'तसले' प्रयोग किये जावें तो अधिक सुविधा रहेगी। कारण इन में शिलाजतु-सम्पर्क बहुत कम होता है।

(३) खुले पात्र को धूप में दो मास रक्खा जावे तो इस में वालु, धूल, तृण तथा मक्षिकाओं के पतन का भय रहता है। अत इस विघ्न से वचने के लिये तसलों पर वस्त्रावरण दे देना उचित होगा अथवा तसले के ऊपर आने योग्य आकार का शीशे का खण्ड बनवा लेना उचित होता है। इस विधि में जलीयांश शीघ्र शोषण होता है। कारण कि तीव्रातप से जल के वाष्प द्रव पदार्थ से उठकर काच खण्ड से चिपक जाते हैं। इन को पृथक् करने के लिये काचखण्ड को उठा कर स्वच्छ वस्त्रखण्ड से पोंछ लिया करे। इस प्रकार सर्वविघ्न वाधाओं से रहित उत्तम और शीघ्र शिलाजीत बनती है और गुणाढ्य होती है। यह क्रिया वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ और भाद्रपद मास में हो सकती है। अन्य मासों की धूप में शक्ति क्षीण होने के कारण असुविधा रहती है। मात्रा—२—४ रत्ती तक।

मण्डूरशोधन मारण—

अक्षाङ्गारैर्धमेत्किट्टं लोहजं तद्गवां जलैः ॥९९॥

सेचयेत्तप्ततप्तं च सप्तवारं पुनः पुनः ।

चूर्णयित्वा ततः क्वाथैर्द्विगुणैस्त्रिफलाभवैः ॥१००॥

आलोड्य भर्जयेद्वह्नौ मण्डूरं जायते वरम् ।

मण्डूर के खण्ड को बहेडे की लकडियों के अङ्गारों में लाल करके गोमूत्र में बुझा देवे। इस प्रकार सात बार वुझावे। पुन इस शुद्ध मण्डूर को लोह खरल में डालकर चूर्णीभूत करे और मण्डूर मान से द्विगुण त्रिफला का क्वाथ डालकर शनै २ दृढ मर्दन करे। सूखने पर इस चूर्ण को लोह की कडाही में डालकर नीचे तीव्र आंच जलावे और घर्षणी से दृढ घर्षण करे। दो प्रहर के घर्षण से मण्डूर की उत्तम भस्म तैयार होती है ॥९९—१००॥

वक्तव्य—(१) यदि अक्षांगार प्राप्त न हो सकें तो खदिरांगार अथवा अन्य कोयले भी प्रयुक्त कर सकते हैं।

(२) प्रथम बार तो मण्डूर को कोयलों की खुली आंच में डाल दिया जा सकता है। परन्तु पश्चात् मण्डूर को लोहे की कडछी में रखकर गरम करना उचित होगा। कारण कि जैसे २ बुझाते जायेंगे वैसे २ ही मण्डूर चूर्ण रूप में परिणत होता जायेगा।

(३) कडाही में घर्षण करने के पश्चात् इस भस्म को वस्त्रपूत करके त्रिफलाजल से मर्दन करके एक बार गजपुट की आंच दे लेवे। इस प्रकार भस्म अत्युत्तम हो जायेगी।

ग्राह्य मण्डूर के लक्षण—

शतोर्ध्वमुत्तमं किट्टं मध्यञ्चाशीतिवार्षिकम् ।
अधमं षष्टिवर्षीयं ततो हीनं विषोपमम् ॥ (रसेन्द्र०)

मण्डूर की उत्पत्ति—

प्रतापितस्य लोहस्य घनाघातच्युतं मलम् ।
कालेन पिण्डतां यातं क्षितौ मण्डूरमुच्यते ॥ (रसतरंगिणी)

शस्त्र अथवा लोहपात्र निर्माणशाला में जहा अधिक मात्रा में लोहकुट्टन होता है वहा लोहदण्ड को कूटते समय उसके ऊपर से सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोहकण उससे पृथक् होते रहते हैं। कालावधि और पृथ्वी का समुचित उत्ताप प्राप्त करके यह लोहकण पुन पिण्डिताकार में परिणत होकर मण्डूर कहलाते हैं। अल्प-वर्षीय मण्डूर में कार्बोनिक भाग अधिक होने से विषप्रभावोत्पादक होता है। भूगर्भान्तर्गत उचित सशोधन द्वारा मण्डूर के अन्दर से १०० वर्ष में कार्बोनिक विष की स्वतः ही समाप्ति हो जाती है। इसीलिये विषरहित मण्डूर को उत्तम और औषधोपयोगी माना गया है।

मण्डूर के गुण—

मण्डूरं सुमृतं वृष्यं शिशिरं रुचिरं परम् ।
दीपनं पित्तशमनं रक्तवृद्धिकरं परम् ॥
पाण्डुप्रमत्तमातंगमदमर्दनकेसरी ।
कामलाकुड्यकुलिशं मण्डूरं तु विशेषत. ॥
शोषप्रशमनं चैव तथा शोफप्रणाशनम् ।
हलीमकं च प्लीहानं मण्डूरं हन्त्यशेषत. ॥ (रसतरगिणी)

मण्डूर की मात्रा—

आरभ्य गुञ्जपादांशाल्लोहमात्राविधानवित् ।
गुञ्जाद्वितयपर्यन्तं मण्डूरं विनियोजयेत् ॥ (रसतरंगिणी)

एव उत्तम मण्डूर भस्म को लोह स्थान पर प्रयुक्त करने की शास्त्राज्ञा है। प्राय जिस जाति के लोह का मण्डूर हो वह उसी लोह के गुण धारण करता है ॥९९—१००॥

क्षार-निर्माण विधान—

क्षारवृक्षस्य काष्ठानि शुष्कान्यग्नौ प्रदीपयेत् ॥१०१॥
नीत्वा तद्भस्म मृत्पात्रे क्षिप्त्वा नीरे चतुर्गुणे ।
विमर्द्य धारयेद्रात्रौ प्रातरच्छं जलं नयेत् ॥१०२॥
तन्नीरं क्वाथयेद्वह्नौ यावत्सर्वं विशुष्यति ।
ततः पात्रात्समुल्लिख्य क्षारो ग्राह्यः सितप्रभः ॥१०३॥

चूर्णाभः प्रतिसार्यः स्यात्पेयः स्यात्क्वाथवत्स्थितः।
इति क्षारद्वयं धीमान्युक्तकार्येषु योजयेत् ॥१०४॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-
संहितायां मध्यमखण्डे धातुशोधनमारणं
नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

जिन वृक्षों से क्षार प्राप्त हो सकता हो उन के काष्ठ (पञ्चाङ्ग) को लेकर सुखावे। भली प्रकार सूख जाने पर उन क्षार वृक्षों के पंचांग को अग्नि लगाकर जला लेवे। पश्चात् भस्म राशि को एकत्रित करके मृत्पात्र (अथवा धातुनिर्मित कलईदार बर्तन) में डाल देवे। ऊपर से भस्म से चतुर्गुण जल डालकर आलोडन करे और एक रात्रि (४ प्रहर अथवा जब तक स्वच्छ जल ऊपर न आ जावे) पर्यत पडा रहने देवे। पुन प्रात. काल भस्म के ऊपर दृश्यमान स्वच्छ जल को ग्रहण करके स्वच्छ पात्र में डालकर अग्निद्वारा पाक करे। जब समस्त जल शुष्क हो तब पात्र के तल और पार्श्वो में सलग्न श्वेतप्रभ क्षार के चूर्ण को खुरच कर ग्रहण कर लेवे। इसको प्रतिसारणीय क्षार कहते हैं। इस से भिन्न यदि क्षार के अन्तिम पाक पर क्षार को चूर्णाकृति न कर के क्वाथ के सदृश प्रवाही रख लिया जावे तब उसको पानीय (पतला) क्षार कहते हैं। इन दो प्रकार के क्षारों को यथायुक्त प्रयोग करे ॥१०१—१०४॥

वक्तव्य—(१) क्षारीय काष्ठों की भस्म ऐसी रीति से सिद्ध करे जिस से भस्म श्वेतवर्ण की प्राप्त हो सके। भस्म में कोयले अधिक न रह सकें।

(२) जलमें घोलने से प्रथम भस्म को छाननी से छान कर प्रयोग करे। इस प्रकार भस्म में कोयले का भाग न रहने से क्षार श्वेताभ होगा अन्यथा कृष्णप्रभ प्राप्त होता है।

(३) प्रात. काल जब जल निथारे तब स्वच्छ वस्त्र से छानकर अन्य पात्र म डाले।

(४) चतुर्गुण जल डालने के पश्चात् कर्दमवत् अवशिष्ट भस्म को जिह्वा पर रखकर स्वाद देख लेवे। यदि उसमें क्षारांश की प्रतीति हो तो और जल डालकर ऊपर की विधि के अनुसार पुन. क्षारोदक को ग्रहण करे।

(५) अन्य सुश्रुतादि ग्रन्थों में भस्म से ६ गुणा जल देकर आलोडन करने का विधान है।

(६) जितना स्वच्छता पर अधिक ध्यान होगा क्षार उतना ही सुन्दर और श्वेत मिलेगा।

(७) क्षारोदक को क्वथित करते समय अग्नि मन्द होनी आवश्यक है। अन्यथा अत्यधिक अग्नि से क्षार के वर्ण में वैषम्य उपस्थित हो जायेगा।

(८) क्षार के पाकान्त में सर्वथा जल शुष्क होने की प्रतीक्षा में पात्र के तल भाग का क्षार दग्ध होकर कृष्णप्रभ मलिन वर्ण का हो जाता है। अत अत्यल्प आर्द्रता रहने पर क्षार पात्र को चूल्हे से नीचे उतार लेवे । पात्र की ऊष्मा से ही अवशिष्ट क्षार का गीलापन शुष्क हो जाता है ।

(९) क्षार सिद्ध कर के तत्काल उसे सर्वथा शुष्क बोतल में डाल कर दृढ मुद्रा कर देवे। अन्यथा वायु द्वारा आकर्पित जलीय वाष्प क्षार से मिलकर शुष्क-क्षार में गीलापन उत्पन्न कर देंगे ।

(१०) क्षार निर्माण ग्रीष्मऋतु में अत्युत्तम होता है । वर्षा ऋतु में कदापि क्षार निर्माण न करे ।

क्षारोपयोगी औषधें—

कुटजपलाशाश्वकर्णपारिभद्रविभीतकारग्वधबिल्वकाऽर्कस्नुह्यपामार्गपाटलानक्तमालवृषकदलीचित्रकपूतीकेन्द्रवृक्षास्फोताश्वमारकसप्तच्छदाग्निमन्थगुञ्जाचतस्रः कोपातकीसमूलपत्रफलशाखा दहेत् ।

प्रतिसारणीय क्षार का प्रयोग—

कुष्ठकिटिभदद्रुमण्डलकिलासभगन्दरार्बुदार्शोदुष्टव्रणनाडीचर्मकीलतिलकालकन्यच्छव्यङ्गमशकबाह्यविद्रधिक्रिमिविषादिषूच्यते । सप्तसु च मुखरोगेषूपजिह्वाऽधिजिह्वोपकुशदन्तवैदर्भेषु तिसृषु च रोहिणीष्वेतेष्वनुशस्त्रविधानमुक्तम् ।

पानीय क्षार का प्रयोग—

पानीयस्तु गुल्मोदरगराग्निशूलाजीर्णानाहशर्कराश्मर्याभ्यन्तरविद्रधि क्रिमिविषार्शःसूपयुज्यते इति ।

क्षारों के गुण—

क्षारास्तीक्ष्णमहोष्णाश्च दाहकर्मकराः परम् ।
गुल्मार्शोग्रहणीप्लीहमूत्रकृच्छ्राश्मरीहराः ॥
क्रिमिघ्नाः पाचनाश्चैव दारणाश्च विसर्पिणः ।
शोधना रोपणाश्चैव मूत्रलाश्च प्रकीर्तिताः ॥

मात्रानिरूपण—

द्विगुञ्जतः समारभ्य रक्तिकाष्टकसंमितान् ।
क्षारास्तु विनियुञ्जीत साधारणतया भिषक् ॥ (रसतरंगिणी)

अनुपान—उष्णोदक, मधु तथा घृत से प्रयोग करे ।

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-
संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकाया द्वितीय-
खण्डे एकादशोऽध्यायः ॥११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

पारदप्रशंसा—

पारदः सर्वरोगाणां जेता पुष्टिकरः स्मृतः ।
सुज्ञेन[1] साधितः कुर्यात्संसिद्धिं देहलोहयोः ॥१॥

पारद सम्पूर्ण रोगों को जीतने वाला है तथा रस रक्तादि धातुओं को पुष्ट (पोपण) करता है। एव रसशास्त्रवेत्ता अनुभवी वैद्य से सिद्ध किया हुआ पारद देह सिद्धि (जराव्याधि विवर्जित) एव लोहसिद्धि (स्वर्णनिर्माण) प्रदान करता है ॥१॥

वक्तव्य—(१) पारद, प्रकृति की निर्माणशाला और भूभाग के अन्तर्निगूढ़ तलभाग में पाया जाता है। इसकी प्राप्ति के लिये सैकडों हाथ गहरे कूप खोदने की आवश्यकता हुआ करती है। इन कूपों में, कूप पार्श्वों से पारद स्रवित होकर सचय होता रहता है, उसे प्राप्त कर लेते हैं। अथवा यदि खान में पारद की अधिकता न हो तब पारदीय खान की मृत्तिका ग्रहण करके यथाविधान (पातना यंत्र स) प्राप्त किया जाता है। यूरोप के बहुत से देशों में इसकी खानें हैं। परन्तु वर्तमान में इटली और अमेरिका में पारद अत्यधिक मात्रा में प्राप्त हो रहा है। केवल पारद के व्यवसाय से ही लाखों रुपये की आय वह देश प्राप्त कर रहे हैं। पारद प्राप्त्यर्थ प्राचीन पुस्तकों में अनेक भारतीय स्थानों के नाम आते हैं। परन्तु ससार के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण संज्ञाओं में परिवर्तन होने से एव साधन हीनता के कारण उन २ स्थानों का सम्यक् परिचय विस्मृत हो गया है। खान से प्राप्त होने के कारण से पारद में अनेक दोप स्वाभाविक रूप से रहते हैं।

पारद के नैसर्गिक दोष—

यथा—नागो वङ्गो मलो वह्निश्चाञ्चल्यं च विषं गिरिः ।
असह्याग्निर्महादोषा निसर्गाः पारदे स्थिताः ॥ (रसेन्द्र०)

पारद दोपजन्य रोग—

व्रणं कुष्ठं तथा जाड्यं दाहं वीर्यस्य नाशनम् ।
मरणं जडतां स्फोटं कुर्वन्त्येते क्रमान्नृणाम् ॥

पारदीय कञ्चुकीदोष—

पर्पटी पाटली भेदी द्रावी मलकरी तथा ।
अन्धकारी तथा ध्वांक्षी विज्ञेया सप्तकञ्चुकाः ॥ (रसेन्द्र०

इन के कारण—

धातवो रससंश्लिष्टा यदा विष्णुपदामृतम् ।

१—'सुदिने' इत्यपि पाठ ।

गृह्णन्ति हि तदा तेषां कश्चिद् भागोऽवशीर्यते ॥
ततश्चूर्णत्वमापन्ना रसमाच्छादयन्ति ते ।
तेनावरणसाम्येन धातवः सूतसंगता ॥
कञ्चुकाख्यां भजन्तीति प्राच्यपाश्चात्यसंमतिः ।
कैश्चिदेते कञ्चुकाख्यो दोषा औपाधिकाः स्मृताः ॥ (रसत०

रसशोधन की आवश्यकता—

नैसर्गिकास्तु ये दोषा ये चान्ये कञ्चुकाह्वयाः ।
तेषां तु परिहाराय सामान्यं शोधनं स्मृतम् ॥
विशुद्धो रसराजस्तु सत्यं पीयूषसोदरः ।
सदोषस्तु रसो वैद्यैर्यमोऽयमपरः स्मृतः ॥
तस्मात्सूतविशुद्ध्यर्थं युक्तः सुपरिचारकैः ।
सर्वामादाय सामग्रीं रसशुद्धिं समाचरेत् ॥ (रसतरङ्गिणी)

पारद की उपयोगिता—

अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसंगतः ।
क्षिप्रमारोग्यदायित्वादौषधेभ्योऽधिको रसः ॥
साध्येषु भेषजं सर्वमीरितं तत्त्ववेदिना ।
असाध्येष्वपि दातव्यो रसोऽतः श्रेष्ठ उच्यते ॥
अन्यत्र—हतो हन्ति जराव्याधिं मूर्च्छितो व्याधिघातकः[1] ।
बद्धः खेचरतां धत्ते कोऽन्यः सूतात्कृपाकरः ॥ (रसेन्द्र०)

(२) पारद की लोहमयी सिद्धि—

रसेन्द्रवेधसंभूतं तद्वेधजमुदाहृतम् ।

देहमयी सिद्धि—

एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते ।
स्थिरदेहेऽभ्यासवशात्प्राप्य ज्ञानं गुणाष्टकोपेतम् ।
प्राप्नोति ब्रह्मपदं न पुनर्भववासजन्मदुःखानि ॥ (रसरत्न०)

पारद के पर्याय—

रसेन्द्रः पारदः सूतो हरजः सूतको रसः ।
बुधैस्तस्येति नामानि ज्ञेयानि रसकर्मसु ॥२॥

रसेन्द्र, पारद, सूत, हरज, सूतक और रस—ये छः नाम बुद्धिमानों (र शास्त्र के वेत्ताओं) ने रसकर्म (औषधों में व्यवहार सुविधार्थ) में प्रयोग किये हैं ॥२

वक्तव्य—रसेन्द्रः—रसेषु रसानां वा इन्द्रः अध्यक्षः रसेन्द्रः ।
पारदः—पारं-सुखं रोगनिर्मुक्तिं ददाति इति पारदः ।

१—'मुकुन्दश्चे'ति गूढार्थदीपिकासम्मत पाठ ।

सूत —सर्वतोमुखी सिद्धि जनयति इति सूत ।

हरज —हरात् शकरात् जायते उत्पद्यते इति हरज , शिववीर्योत्पन्न ।

सूतक —सूत एव सूतक ।

रस —रस्यते आस्वाद्यते जराव्याधिविध्वसार्थिभि जनैः इति रस ।

अथवा—रसनात्सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते ।

जरारुङ्मृत्युनाशाय रस्यते वा रसोऽमृत. ॥

रसोपरसराजत्वाद्रसेन्द्र इति कीर्तितः ।

देहलोहमयीं सिद्धिं सूते सूतस्तत· स्मृतः ॥

रोगपङ्काब्धिमग्नानां पारदानाच्च पारद· ।

सर्वधातुगतं तेजो मिश्रितं यत्र तिष्ठति ॥

तस्मात्समिश्रकः प्रोक्तो नानारूपफलप्रद· ॥ (रसरत्न स०)

लोहों के नाम और सख्या—

ताम्रताराखनागाश्च हेमवङ्गौ च तीक्ष्णकम् ।

कांस्यकं कान्तलोहं च धातवो नव ये स्मृताः ॥३॥

सूर्यादीनां ग्रहाणां ते कथिता नामभिः क्रमात् ।

ताम्बा, चादी, पीतल, सीसा, स्वर्ण, वंग, तीक्ष्ण, कांसा, कातलोह—यह नवसख्यात्मक धातु यथाक्रम सूर्यादि ग्रहों के नाम (से) भी बोधित होती हैं ॥३॥

वक्तव्य—रसादि चिकित्सा शास्त्र में कही किसी धातु का स्पष्ट नाम न पढकर केवल किसी ग्रह का नाम पढ दिया जाता है । वहा तत्तत् नामधेय ग्रह स तत्तत् धातु विशेष का ग्रहण करना चाहिये । जैसे-सूर्य के नाम से ताम्र, चन्द्रमा के नाम से चादी, मगल के नाम से पीतल, बुध के नाम से नाग, बृहस्पति के नाम से स्वर्ण, शुक्र के नाम से वग, शनि के नाम से तीक्ष्ण (फौलाद), राहु के नाम से कासा, केतु के नाम से कातलोह का ग्रहण करे ।

अथ पारदशोधनमाह—

राजीरसोनमूषायां रसं क्षिप्त्वा विबन्धयेत् ॥४॥

वस्त्रेण दोलिकायन्त्रे स्वेदयेत्काञ्जिकैस्त्र्यहम् ।

दिनैकं मर्दयेत्सूतं कुमारीसंभवैर्द्रवैः ॥५॥

तथा चित्रकजैः क्वाथैर्मर्दयेदेकवासरम् ।

काकमाचीरसैस्तद्वद्दिनमेकं च मर्दयेत् ॥६॥

त्रिफलायास्तथा क्वाथ रसो मर्द्यः प्रयत्नतः ।

ततस्तेभ्यः पृथक्कुर्यात्सूतं प्रक्षाल्य काञ्जिकैः ॥७॥

ततः क्षिप्त्वा रसं खल्वे रसादर्धं च सैन्धवम् ।

मर्दयेन्निम्बुकरसैर्दिनमेकमनारतम् ॥८॥
ततो राजी रसोनश्च मुख्यश्च नवसादरः ।
एतै रससमैस्तद्वत्स्ततो मर्द्यस्तुपाम्बुना ॥९॥
ततः संशोध्य चक्राभं कृत्वा लिप्त्वा च हिङ्गुना ।
द्विस्थालीसम्पुटे धृत्वा पूरयेल्लवणेन च ॥१०॥
अधः स्थाल्यां ततो मुद्रां दद्याद्दृढतरां बुधः ।
विशोष्याग्निं विधायाधो निषिञ्चेदम्बुनोपरि ॥११॥
ततस्तु कुर्यात्तीव्राग्निं तदधः प्रहरत्रयम् ।
एवं निपातयेदूर्ध्वं रसो दोषविवर्जितः ॥१२॥
अथोर्ध्वपिठरीमध्ये लग्नो ग्राह्यो रसोत्तमः ।

उक्त शोधन विधान में शार्ङ्गधराचार्य ने पारद के ५ सस्कारों का वर्णन किया है । उन्हें यथाक्रम इस प्रकार जाने—

स्वेदन सस्कार—के लिये राई और लहसन (प्रत्येक पारद के समान) को अत्यत सूक्ष्म पीसकर इस कल्क की २ मूषा वनावें । एक मूषा में पारद डाल कर दूसरी मूषा उसके ऊपर ढक देवे ।'

साम्प्रदायिक व्यवहार—इस पारद गर्भित मूषा को सुदृढ कदली पत्र के 'डोने' में रखकर इसे चौतहे वस्त्र में डालकर पोटली वना लेवे। पुन वस्त्र में बाधकर दोला यंत्र विधि से तीन दिन तक काजी में स्वेदन करे। पुन पारद को इससे पृथक् करके स्वच्छ खरल में डालकर यथाक्रम—कुमारी रस, चीते के क्वाथ, काकमाची (मकोय) के रस और त्रिफला के क्वाथ से एक २ दिन दृढ मर्दन करे और इन मर्दित द्रव्यों से पारद को पृथक् करके काजी (उष्ण की हुई) से प्रक्षालन करके स्वच्छ कर लेवे । पुन मर्दन सस्कारार्थ—उपरोक्त स्वेदित और सुप्रक्षालित पारद को स्वच्छ और सुदृढ लौह अथवा पाषाण निर्मित खरल में डाले और पारद मान से आधा भाग सैंधा नमक डालकर निम्बु के रस से एक दिन (८ प्रहर) निरन्तर दृढ मर्दन करे । पुन मूर्च्छन सस्कारार्थ—राई, लहसन, नौसादर (प्रत्येक) को पारद के समान डालकर तुपाम्बु (काजी) से मर्दन करे । मर्दनानंतर जव पारद और राई आदि टिकिया वनाने योग्य हों तो इनकी (रौप्यमुद्राकृति) टिकिया वनाकर सुखा लेवे । पुन उत्तम हिंगु (पाषाणादि से रहित हींग) को जल में घोटकर इन चक्रिकाओं पर (आधा २ अंगुल स्थूल) लेप कर देवे। लेप के सूखने पर चक्रिकाओं को एक वृहदाकार सुदृढ हाडी में रखकर लवण से भर (ढक) देवे। पुन हाडी के ऊपर दूसरी हाडी को अधोमुखी करके दोनों की सन्धिमुद्रा कर देवे । इस यत्र को चूल्हे पर चढा कर तीन प्रहर की तीव्र अग्नि देवे और

ऊपर वाली हांडी पर चौतहे वस्त्र को गीला करके रख देवे और बार २ इस पर शीतल जल का सिचन करता रहे। पुन यंत्र के स्वागशीत होने पर युक्तिपूर्वक सन्धि भेदन करके ऊपर की हाडी में लगे हुए पारद को ग्रहण कर लेवे। इस प्रकार ऊर्ध्वपातन विधि से प्राप्त किया हुआ पारद दोप रहित (शुद्ध) हो जाता है ॥४—१२॥

वक्तव्य— (१) दोला यंत्र के लक्षण—

द्रवद्रव्येण भाण्डस्य पूरितोऽर्द्धस्य तस्य च।
मुखे तिर्यक्कृते दण्डे रस सूत्रेण लम्बितम्।
तं स्वेदयेन्मध्यगतं दोलायन्त्रमिति स्मृतम्॥

इस प्रकार बनाये हुए यंत्र में पोटली को कांजी से २ अगुल ऊचा रखे और यत्रीय भाण्डमुख को दूसरे पात्र से आच्छादित कर देवे। अन्यथा काजी के वाष्पों के वहिर्गमन से स्वेदन उचित नही होगा।

शोधनार्थ पारदमान—

इस में बहुमत हैं। परन्तु निश्चय यह है कि जितनी आवश्यकता हो उतना शुद्ध कर लेवे। शास्त्रीय व्यवस्था इस प्रकार है—

रसो ग्राह्यः सुनक्षत्रे पलानां शतमात्रकम्।
पञ्चाशत् पञ्चविंशद्वा दशपञ्चैकमेव वा॥
पलार्द्धीनो न कर्तव्यो रससंस्कार उत्तमः।

रसमर्दनविधि —

भवेदेकैकसंस्कारे प्रान्तेपु दृढमर्दनम्।
मर्दितं स्थापयेद्धर्मे यावच्छुष्कतरो भवेत्॥

प्रक्षाल्य द्रव्य—

तक्रेण काञ्जिकेनाथ शुक्लेनोष्णोदकेन वा।
ततः सर्वं समानीय क्षालयेदिति बुद्धिमान्॥
तथा यन्त्रं प्रकुर्वीत यथा न क्षीयते रस'।

(२) यत्र भेदन के पश्चात् जब ऊपर की हाण्डी सीधी की जायगी तब पारद—दृश्यमान पारद के रूप में प्राप्त नही होगा। प्रत्युत हाण्डी के अन्तस्तल तथा इतस्तत बादलों के आकार का धूआ सा चिपटा हुआ दीखेगा। उसको स्वच्छ वस्त्र खण्ड से शनै २ पोंछ कर एकत्र कर लेवे। एकत्र करने की क्रिया से पारदीय वाष्प सचित होकर पारद के रूप में परिणत हो जाते हैं। यह पारद अत्यन्त दीप्तिमान् और स्वच्छ होगा।

(३) औपधार्थ ग्राह्य और त्याज्य पारद के लक्षण—

अन्त' सुनीलो वहिरुज्ज्वलो यो मध्याह्नसूर्यप्रातिमप्रकाशः।
शस्तोऽथ धूम्रः परिपाण्डुरश्च चित्रो न योज्यो रसकर्मसिद्धौ॥

नीलवर्ण पारद का नहीं है प्रत्युत अत्यंत स्वच्छ पारद आकाशीय नील-वर्ण के प्रतिविम्ब को आकर्षित करने के कारण सुनील आलोकित होता है। एवं यदि स्वच्छ पारद को रक्ताभ छत्त के नीचे देखा जाय तो उसके मध्य में रक्तवर्ण प्रतिभासित होता है। धूम्र और पाण्डु आदि वर्ण इसमें वगनागादि धातु मिलने अथवा मिला देने के कारण होते हैं। धूर्त्त लोग विक्रयार्थ ऐसा करते हैं।

(४) रससिद्धों ने पारद के १८ संस्कार (कई २४ तक जाते हैं) नियत किये हैं। यथा—

स्यात्स्वेदनं तदनु मर्दनमूर्च्छनं च उत्थापनं पतनरोधनियामनानि।
सन्दीपनं गगनभक्षणमानमत्र सञ्चारणा तदनु गर्भगता द्रुतिश्च॥
बाह्यद्रुतिः सूतकजारणा स्याद् ग्रासस्तथा सारणकर्म पश्चात्।
संक्रामणं वेधविधिः शरीरे योगस्तथाष्टादशधात्र कर्म॥ (रसर०)

इन उपरोक्त १८ संस्कारों में से ८ संस्कार जराव्याधि विनाशार्थ व्यवहृत होते हैं। शेष १० संस्कार लोह सिद्ध्यर्थ प्रयुक्त होते हैं।

पारद के औषधोपयोगी आठ संस्कार—

स्वेदनं मर्दनं चैव मूर्च्छनोत्थापनं तथा।
पातनं बोधनं चैव नियामनमतः परम्॥
दीपनं चेति संस्कारा सूतस्याष्टौ प्रकीर्त्तिताः। (रसेन्द्र०)

अपनी औषधों को चमत्कृत बनाने के लिये प्रत्येक वैद्य को इन संस्कारों का व्यवहार करना चाहिये। अतः प्रत्येक की विधि नीचे लिखी जाती है। यथा—

१ स्वेदन संस्कार—

राजिकालवणं हिंगु चित्रक व्योषसंयुतम्।
सूतपादमितं सर्वं स्वर्जिकाक्षारसंयुतम्॥
शिग्रुपत्ररसेनैव पिष्ट्वा कुण्डलिका कृतम्।
कुर्याद्भूर्जदले सम्यगथवा कदलीदले॥
सुपक्के च दृढे वाऽपि वस्त्रखण्डे चतुर्गुणे।
रसं मध्ये विनिक्षिप्य वध्नीयात्तु सुपोटलीम्॥
क्षाराम्लमूत्रवर्गेण स्वेदयेच्च दिनत्रयम्।
तथा स्वेदः प्रकर्तव्यो मज्जिता पोटली यथा॥
भवेन्न च तलस्पर्शी भाण्डस्याऽपि कदाचन।

२ मर्दन संस्कार—

युक्तं सूतस्य सर्वस्य तप्तखल्वे विमर्दनम्।
अथवा तीव्रघर्मे च कारयेच्च प्रमर्दनम्॥
गृहधूमेष्टिकाचूर्णं तथा दधिगुडान्वितम्।
लवणासुरिसंयुक्तं क्षिप्त्वा सूतं विमर्दयेत्॥

षोडशांशं प्रतिद्रव्यं सूतमानानि योजयेत् ।
सूतं क्षिप्त्वा सम तेन दिनानि त्रीणि मर्दयेत् ॥
मर्दनाख्यं हि तत्कर्म सूतस्य गुणकृद्भवेत् ।

३ मूर्च्छन संस्कार—

यवाग्रज स्वर्जिका च तथा लवणपञ्चकम् ।
अम्लौषधानि विबुधः प्रक्षिप्य सूतके दृढम् ॥
तावत्सुपेषयेद्यावन्नष्टपिष्टत्वमाप्नुयात् ।
इत्थं सम्मूर्च्छित सूतो विमुञ्चति मलत्रयम् ॥

४ उत्थापन संस्कार—

स्वेदाद्यैर्यद्रसेन्द्रस्य मूर्च्छाव्यापत्तिनाशनम् ।
पुनः स्वरूपकरणं तदुत्थापनमीरितम् ॥
रसेन्द्रं काञ्जिकेनेह याममात्रं विमर्दयेत् ।
सलिलै· क्षालयेत्सम्यगुत्थितो जायते रसः ॥

५ ऊर्ध्वपातन संस्कार—

ताम्रेण पिष्टिकां कृत्वा पातयेदूर्ध्वभाजने ।
वंगनागौ परित्यज्य शुद्धो भवति सूतकः ॥
शुल्वेन पातयेत्पिष्टीं त्रिधोर्ध्व सप्तधा त्वधः ।

६ बोधन संस्कार—

मर्दनादिकयोगेन जातक्लैब्यस्य शूलिनः ।
क्लैब्यापहं तु यत्कर्म बोधनं कथ्यते बुधैः ॥
सैन्धवेनाम्लपिष्टेन रसेन्द्रं कूपिकागतम् ।
गर्त्ते निधाय चोर्ध्वं तु देयो लघुपुटो बुधैः ॥
एवं सम्पुटितः शीघ्रं भृशमाप्यायते रसः ।
जातवीर्यप्रकर्षश्च षण्ढभावं विमुञ्चति ॥

७ नियामन संस्कार—

बोधनाल्लब्धवीर्यस्य रसस्य स्वेदनं हि तत् ।
चापल्यविनिवृत्यर्थं तन्नियामनमीरितम् ॥
रसोनं भृङ्गराजाब्दचिञ्चिकानवसागरैः ।
भृशं संस्वेदित· सूतो नियतं नियतो भवेत् ॥

८ दीपन संस्कार—

काशीसं मरिचं तथैव तुवरी शोभाञ्जनं कांजिकं
सौभाग्यं पटुपंचकञ्च दहनो राजीसमं मेलयेत् ।
निक्षिप्याथ दिनद्वयं बुधवरो दोलाख्ययंत्रे पचेत्
ग्रासार्थी खलु जारणे च चतुरः संजायते पारदः ॥

६ पारदीय नैसर्गिक दोषों का पृथक् २ शोधन—

सोर्णनिशेष्टकाधूमजम्बीराम्बुभिरादिनम् ।
मर्द्दित कांजिकैर्धौतो नागदोष रसस्त्यजेत् ॥
विशालाङ्कोठचूर्णेन वंगदोषं विमुञ्चति ।
राजवृक्षो मलं हन्ति चित्रको वह्निदूषणम् ॥
चाञ्चल्य कृष्णधत्तूर त्रिफला विषनाशिनी ।
कटुत्रयं गिरिं हन्ति असह्याग्निं त्रिकण्टक ॥

विधि —

प्रतिदोषं कलांशेन तत्तच्चूर्णं सकन्यकम् ।
उद्धृत्योष्णारनालेन मृत्पात्रे क्षालयेत्सुधी· ॥
एवं संशोधित· सूत· सप्तकञ्चुकवर्जित· ।

अथ गन्धकशोधनम्—

लोहपात्रे विनिक्षिप्य घृतमग्नौ प्रतापयेत् ॥१३॥
तप्ते घृते तत्समानं क्षिपेद्गन्धकजं रजः ।
विद्रुतं गन्धकं ज्ञात्वा दुग्धमध्ये विनिक्षिपेत् ॥१४॥
एवं गन्धकशुद्धिः स्यात्सर्वकार्येषु योजयेत् ।

लोहपात्र (लोहे की कडछी) में गोघृत डालकर गरम करे। जब घृत गरम हो जावे तब घृत के समान मान का गन्धक (आमलासार) पीसकर उसमें डाल देवे। जब गधक घृत में पिघल जावे तब इसे (गो) दुग्ध पूर्ण पात्र में उलटा देवे। इस प्रकार गन्धक शुद्ध हो जाता है ॥१३—१४॥

वक्तव्य—(१) गन्धक पिघलने के लिये कड़छी के नीचे मन्द आंच हो। अन्यथा गन्धक के वर्ण में कृष्णता आ जाती है। अत्यधिक अग्नि से कभी २ कड़छी में आग पड़ जाती है और गन्धक जलने लग जाता है। ऐसी अवस्था उपस्थित होने पर कडछी को दूसरे स्वच्छ पात्र से ढाप देवे।

(२) इस विधि में प्रयुक्त होनेवाला दूध सर्वथा शीत न हो।

(३) जब घृतविलीन गन्धक दुग्धपूर्ण पात्र में डाला जाये तब उसे थोड़े समय तक उस में पड़ा रहने देवे। गन्धक को दूध से ग्रहण करने के लिये दूध के पात्र में हाथ डालकर गन्धक निकालने का प्रयत्न न करे। कारण कि ऐसा करने से दूध के ऊपर रहनेवाला घृत गन्धक से चिपट जाता है। पुन गन्धक की चिक्कणता सरलता से नष्ट नहीं होती। चिक्कण गन्धक औषधों में घृतांश को छोड़ता है तथा इसी घृतांश के कारण इसकी कज्जली भी ठीक नही बनती। अत इस दोष से गन्धक को सुरक्षित रखने के लिये दुग्ध को बड़े गिलास अथवा 'टिंड' में डाले और निष्कासन काल में प्रथम पात्र को टेढा करके घृत दुग्ध को निकाल

लेवे । पुन गन्धक को उष्णोदक से प्रक्षालन करे और धूप में सुखाकर सवत्र प्रयोग में लावे ।

(४) गन्धक ४ प्रकार का होता है । परन्तु औषध व्यवहार में आमलासार गन्धक ग्रहण किया जाता है ।

(५) अशुद्ध गन्धक के दोष—

अशुद्धगन्धः कुरुते तु तापं कुष्ठं भ्रम पित्तरुजां करोति ।
रूपं वलं वीर्यसुखं निहन्ति तस्मात्सुशुद्धो विनियोजनीयः ॥ (रसे०)

शुद्ध गन्धक के गुण—

गन्धश्चातिरसायनः सुमधुर॰ पाके कटूष्णान्वितः
कण्डूकुष्ठविसर्पदद्रुदलनो दीप्तानलः पाचनः ।
आमोन्मोचनशोषणो विषहर॰ सूतेन्द्रवीर्यप्रदो
प्लीहाध्मानविनाशनः क्रिमिहर॰ सत्त्वात्मक॰ सूतजित् ॥ (रसर०)

(६) मात्रा—२—८ रत्ती ।

गन्धकसेवन में त्याज्य पदार्थ—

क्षाराम्ललवणादीनि कोपादीन् वनितासुखम् ।
द्विदलानि च शाकानि गन्धसेवी न भक्षयेत् ॥ (रसतरङ्गिणी)

अथ हिंगुलशोधनम्—

मेषीक्षीरेण दरदमम्लवर्गैश्च भावितम् ॥१५॥
सप्तवारं प्रयत्नेन शुद्धिमायाति निश्चितम् ।

रूमी शिगरफ को खरल में पीसकर भेड के दूध से सात भावना देवे । पुन॰ अम्लवर्ग (गलगल, जम्बीरी, मातुलुङ्ग और विजोरा के रस से पृथक् २ अथवा मिलित) से सात भावनायें देकर सुखा लेवे । इस प्रकार हिंगुल शुद्ध हो जाता है ।।१५।।

वक्तव्य—१—हिंगुल खनिज पदार्थ है । परन्तु वर्तमान में जो हिंगुल प्राप्त होता है वह कृत्रिम है । पारद और गन्धक से रससिन्दूर विधि से प्रस्तुत किया जाता है ।

हिंगुल के प्राचीन नाम—

दरदस्त्रिविधो ज्ञेयश्चर्मारः शुकतुण्डकः ।
हंसपादस्तृतीयः स्यात् गुणवानुत्तरोत्तरम् ॥
जपाकुसुमसंकाशो हंसपादो महोत्तमः ।
रसायने सर्वलोह मारणे रसरञ्जने ॥ (रसरत्नस०)

अशुद्ध हिंगुल के दोष—

अशुद्धो हिङ्गुलो मोहं प्रमेह चित्तविभ्रमम् ।
आन्ध्यं क्लमं तथा क्लैव्यं कुर्यात्तस्माद्विशोधयेत् ॥

शुद्ध हिंगुल के गुण—

विम्व्याभं हिङ्गुलं दिव्यं रसगन्धकसम्भवम् ।
मेहकुष्ठहरं रुच्यं वल्यं मेधाग्निवर्द्धनम् ॥

हिंगुल का अन्य शोधन—

निम्बूकस्वरसेनेह हिङ्गुलं श्लक्ष्णचूर्णितम् ।
विभावयेत्सप्तवारं क्षालयेद्बहुशोऽम्भसा ॥
ततः संशोधयेद्धर्मे रसतन्त्रविधानवित् ।
एवं संशोधितं रक्तं वीतशङ्कं प्रयोजयेत् ॥ (रसतरङ्गिणी)

मात्रा—१ रत्ती ।

हिङ्गुल से पारद निष्कासन—

निम्बूरसैर्निम्बपत्ररसैर्वा याममात्रकम् ॥१६॥
पिष्ट्वा दरदमूर्ध्वं च पातयेत्सूतशुक्तिवत् ।
ततः शुद्धरसं तस्मान्नीत्वा कार्येषु योजयेत् ॥१७॥

नीम्बू के रस से अथवा नीम के पत्तों के रस से शिंगरफ को एक प्रहर (४ घंटा) मर्दन करके सुखा लेवे । पुनः इसको डमरुयन्त्र विधि से ऊर्ध्व-पातन यन्त्रद्वारा युक्तिपूर्वक ग्रहण करे । इस प्रकार शुद्ध पारद प्राप्त करके यथायोग्य कार्यों में प्रयोग करे ॥१६—१७॥

वक्तव्य—(१) निम्बूरस अथवा नीम के रस से हिंगुल को भली प्रकार मर्दन करके सुखा लेवे । पुनः इस शुष्कीभूत हिंगुल को एक हाण्डी में स्थण्डिलाकृति स्थापन करे । ऊपर से दूसरी हाडी अधोमुखी करके हिंगुल वाली हाण्डी पर जमा देवे । दोनों के मुखों को मृत्तवलिप्त करके चूल्हे पर चढ़ाकर चार प्रहर की अग्नि से पाक करे । यदि हिंगुल ½ सेर हो तो चार प्रहर की अग्नि पर्याप्त है । अग्निदान के समय ऊपर वाली हाण्डी के वाह्यतल प्रदेश पर चौतहा वस्त्र गीला करके रखता रहे । ध्यान रहे कि वस्त्र शुष्क न होने पावे । कारण कि अध अग्नि से पारदीय वाष्प उत्थित होकर ऊपर की ओर गमन करते हैं । यदि शैत्यता का अभाव हो तो ऊपर की हाडी में स्थिरता नहीं पकड़ सकते । ऐसी अवस्था में अत्यावश्यक है कि ऊपर हाडी को पर्याप्त शीतल रक्खा जावे । पूर्ण सावधान रहने से ½ सेर हिंगुल से २५—३० तोले पारद प्राप्त होता है । यंत्र भेदन पर दोनों पात्रों के मध्य में धूम्रप्रभ पारद का प्रस्तर दृष्टिगोचर होगा । इसे स्वच्छ वस्त्र खण्ड से शनैः २ युक्तिपूर्वक ग्रहण कर लेवे ।

(२) इस प्रकार प्राप्त पारद को खरल में डालकर निम्बूरस और सैन्धव के साथ एक दिन मर्दन करके प्रक्षालन करे और जलरहित करके सुखा लेवे ।

(३) हिङ्गुल से पारद प्राप्त करने की सरल विधि —१ पाव रूमी शिंगरफ को चूर्ण करके स्वच्छ वस्त्र में बांध देवे और ऊपर से एक पाव परिमित पुराने

वस्त्र खंड उसके ऊपर लपेट कर कन्दुक सा बना लेवे। यह कन्दुक अधिक कठिन और ढीला न हो। अधिक कठिन में अग्नि प्रवेश नही करती और अत्यधिक ढीला होने पर हिंगुल अपक्व शेष रहता है। पुन. इस कन्दुक को स्वच्छ हांडी में डाल दे और साथ में अग्नि के छोटे छोटे ५—७ अंगारे कदुक के ऊपर और इतस्तत: रख देवे। पुन इसी हाडी के मुख पर चौथाई इंच स्थूल पाषाण खंड (इस कार्य के लिये त्रुटित घड़े की ठीकरिया अधिक उपयुक्त होती हैं) तीन या चार विच्छेद के साथ रखकर दूसरी हाडी का मुख इन पाषाण खंडों पर मिला देवे। इस यंत्र को एकात में पड़ा रहने देवे। प्रात काल ऊपर की हाडी उठा लेवे। इसके उदर और मुख पर लिप्त पारदीय कणों को पूर्ववत् ग्रहण करे। इसी प्रकार नीचे की हाडी से ग्रहण करे। समस्त पारद को एकत्रित करके जल से स्वच्छ करके निम्बु रस और सैन्धव से मर्दन करके रख लेवे। इस प्रकार १ पाव हिंगुल से १६—१७ तोले पारद प्राप्त हो सकता है। यह अत्यन्त सरल और अल्प व्यय साध्य विधान है।

(४) हिंगुल से प्राप्त पारद नागवंगादि दोष तथा कञ्चुकादि से रहित होता है। कारण कि जिस अग्निताप पर पारद का वाष्पीभवन आरम्भ होता है उस उत्ताप पर अन्य किसी भी धातु का वाष्पीभवन नही होता। अत. धातु दोष से सर्वथा मुक्त पारद ही ऊपर की हाडी में सञ्चित होता है। वस्त्रखंडीय विधि में भी पारद सर्वथा दोष रहित होता है। क्योंकि हिंगुल के अन्तर्गत पारद प्रथम ही दोषमुक्तावस्था में रहता है।

पारद में मुख उत्पन्न करने की विधि —

कालकूटो वत्सनाभः शृङ्गकश्च प्रदीपकः।
हालाहलो ब्रह्मपुत्रो हारिद्रः सक्तुकस्तथा ॥१८॥
सौराष्ट्रिक इति प्रोक्ता विषभेदा अमी नव।
अर्कसेहुण्डधत्तूरलाङ्गलीकरवीरकम् ॥१९॥
गुञ्जाहिफेनावित्येताः सप्तोपविषजातयः।
एतैर्विमर्दितः सूतश्छिन्नपक्षः प्रजायते ॥२०॥
मुखं च जायते तस्य धातूंश्च ग्रसते क्षणात्।

पारद को छिन्नपक्ष (गमन शक्ति रहित अग्निस्थायी) करने के लिये तथा इसमें मुखोत्पादनार्थ (ग्रासार्थी बनाने के लिये न्यून से न्यून अष्टसंस्कृत पारद ग्रहण करना चाहिये) कालकूट, वत्सनाभ (मीठा तेलिया), शृङ्गिक, प्रदीपक, हलाहल, ब्रह्मपुत्र, हारिद्रक, सक्तुक तथा सौराष्ट्रिक आदि नव प्रकार के विष एवं—आक (दूध), थोहर (दूध), धत्तूरा (रस), कलिहारी (मूल), कनेर (मूलत्वक्), गुञ्जा (घूंघची), अफीम—यह उपविष हैं। (विषोपविष का प्रत्येक पदार्थ पारद से षोडशांश मान में पारद के साथ मिलाकर सात २ दिन मर्दन करे।) इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य

मे सात २ बार मर्दन करके पुन तप्त काजी से प्रक्षालन करें। इस विधि से पारद में मुख उत्पन्न होकर धातुग्रास करने की शक्ति तथा छिन्नपक्षत्व प्राप्त होता है ॥१८—२०॥

वक्तव्य—वर्तमान में इस कार्यार्थ ग्रहण किये हुए द्रव्यों तथा आचार्यों के अभाव के कारण इस प्रथा का लोप हो गया है। विधि काठिन्य तथा आलस्य भी इसमें कारण हैं। यदि परिश्रम से काम लिया जावे तो यह कार्य असम्भव कार्यों में से नहीं है

नवविषों के लक्षण—कालकूट के लक्षण—

गोस्तनाभफलो गुच्छस्तालपत्रच्छदस्तथा।
तेजसा यस्य दह्यन्ते समीपस्था द्रुमादयः॥
असौ हालाहलो ज्ञेय किष्किन्धाया हिमालये।
दक्षिणाब्धितटे देशे कोङ्कणेऽपि च जायते॥

कालकूट के लक्षण—

निर्यास॰ कालकूटोऽय मुनिभि परिकीर्तित।
सोऽहिच्छत्रे शृङ्गवेरे कोङ्कणे मलये भवेत्॥

शृङ्गि विष के लक्षण—

यस्मिन् गोशृङ्गके बद्धे दुग्धं भवति लोहितम्।
स शृङ्गक इति प्रोक्त द्रव्यतत्त्वविशारदै॥

प्रदीपन के लक्षण—

प्रदीपलोहितो य स्याद्दीप्तिमान् दहनप्रभ॰।
महादाहकर॰ पूर्वै॰ कथित स प्रदीपनः॥

सौराष्ट्रिक के लक्षण—

सुराष्ट्रविषये य॰ स्यात् स सौराष्ट्रिक उच्यते॥

ब्रह्मपुत्र के लक्षण—

वर्णत कपिलो य स्यात् तथा भवति सारकः।
ब्रह्मपुत्र॰ स विज्ञेयो जायते मलयाचले॥

हारिद्रक के लक्षण—

हरिद्रातुल्यमूलो यो हारिद्र॰ स उदाहृत॰।

सक्तुक के लक्षण—

यद् ग्रन्थि सक्तुकेनैव पूर्णमध्य स सक्तुक॰।

वत्सनाभ के लक्षण—

सिन्धुवारदलः पार्श्वे तरुग्रन्थिविवर्जित।
नीलपुष्पकन्दविषो क्षुपो हस्तद्वयोच्छ्रितः॥
वत्सनाभ इति ख्यातो रसतन्त्रविचक्षणैः।
गढपाले च काश्मीरे नेपालादौ प्रजायते॥ (रसतरङ्गिणी)

मुखोत्पादन की दूसरी विधि —

अथवा त्रिकटु त्वारौ राजी लवणपञ्चकम् ॥२१॥
रसोनो नवसारश्च शिग्रुश्चैकत्र चूर्णितैः ।
समांशैः पारदादेतैर्जम्बीरेण द्रवेण वा ॥२२॥
निम्बुतोयैः काञ्जिकैर्वा सोष्णखल्वे विमर्दयेत् ।
अहोरात्रत्रयेण स्याद्रसे धातुचरं मुखम् ॥२३॥

अथवा पारद को धातुग्रासार्थी बनाने के लिए त्रिकटु (कालीपीपल, कालीमिरच, सोंठ), सज्जीखार, जौखार, राई, पचलवण (सैंधव नमक सौवर्चल नमक, विडनमक, साभरलवण, रोमकलवण), लशुन, नौसादर और सोहॉजना। इन सब को पारद के समान (मिलित) ग्रहण करके तप्त खल्व विधान से जम्बीरी नीम्बू अथवा काजी के साथ ३ दिन रात पर्यंत मर्दन करके ग्रहण करे। इस प्रकार पारद में (स्वर्णादि) धातुओं को भक्षण करने वाला मुख (ग्राहक शक्ति) उत्पन्न हो जाता है ॥२१—२३॥

वक्तव्य— (१) तप्तखल्व के लक्षण—

अजाशकृत्तुषाग्नि च भूगर्ते त्रितय क्षिपेन ।
तस्योपरि स्थित खल्व तप्तखल्लमिति स्मृतम् ॥

२—उत्थितमुख पारद के लक्षण—पारद को स्वच्छ मृत्पात्र में डाल दे और पतला स्वर्ण पत्र उसमें डुबो देवे। यदि स्वर्ण पत्र का, पारद में प्रविष्ट हुआ भाग स्वर्ण में लीन हो जाये तब पारद में मुखोत्पन्न हुआ जाने।

मुख उत्पन्न करने की तीसरी विधि —

अथवा बिन्दुलीकीटै रसो मर्द्यस्त्रिवासरम् ।
लवणाम्लैर्मुखं तस्य जायते धातुघस्मरम् ॥२४॥

अथवा वीरबहूटी और लवण पारद के समान डालकर निम्बू रस से ३ दिन तक तप्त खल्व विधि से मर्दन करे और पुनः उष्ण काजी से प्रक्षालन कर लेवे। इस प्रकार से भी पारद में तुरन्त धातुभक्षण शक्ति प्राप्त होती है ॥२४॥

कच्छपयन्त्र से गन्धक जारण विधि —

अथ कच्छपयन्त्रेण गन्धजारणमुच्यते ।
मृत्कुण्डे निक्षिपेत्तोयं तन्मध्ये च शरावकम् ॥२५॥
महत्कुण्डपिधानाभं मध्ये मेखलया युतम् ।
लिप्त्वा च मेखलामध्यं चूर्णेनात्र रसं क्षिपेत् ॥२६॥
रसस्योपरि गन्धस्य रजो दद्यात्समांशकम् ।

दत्त्वोपरि शरावं च भस्ममुद्रां प्रदापयेत् ॥२७॥
तस्योपरि पुटं दद्याच्चतुर्भिर्गोमयोपलैः ।
एवं पुनः पुनर्गन्धं षड्गुणं जारयेद्बुधः ॥२८॥
गन्धे जीर्णे भवेत्सूतस्तीक्ष्णाग्निः सर्वकर्मकृत् ।

कच्छप यन्त्र विधान से गन्धक का जारण इस प्रकार आरम्भ करे—जिस पारद में विषादि मर्दन से मुखोद्गम किया गया है उसे इस कार्य में प्रयोग करे।

विधि —मिट्टी के पात्र में जल भर देवे । इस जल पूर्ण पात्र के ऊपर उसी आकार का स्वल्प मृत्पात्र रख देवे । इस स्वल्प पात्र के ठीक मध्य भाग में (मूषा की मिट्टी से) मेखला (गोल दायरा) बनावे । इस दायरे में चूर्ण (चूना) लेपित करे। पुन इस मेखला के मध्य में पारद (यथामान) डाले और पारद के ऊपर पारद के बराबर शुद्ध गन्धक पीसकर डाल देवे । पुन एक अन्य अल्पाकार शराव से इस मेखला को ढाप देवे । इसकी सन्धि को उपलों की राख और लवण को सुपेषित करके दृढ मुद्रा जमा देवे । पुन इस शराव के चारों ओर गोबर के चार उपले (१ सेर) रखकर आग लगा देवे । इस प्रकार छ वार में छ गुणा गन्धक का जारण करे । इससे पारद की पचन शक्ति तीव्र होती है, भक्षित धातु को जीर्ण कर लेता है और सर्व कार्यों के करने में समर्थ होता है ।

वक्तव्य—इस कार्य के लिये न्यून से न्यून ४ फुट चौडा, कटाह सदृश गोलाकार पात्र लिया जाता है । इसे जल से पूर्ण कर देवे और इसके बीच रखने वाला पात्र इसकी लम्बाई चौड़ाई से चौथाई लम्बा चौडा हो । इस छोटे पात्र में मेखला निर्माण करे । मेखला का व्यास तीन अगुल ऊचा और तीन अगुल चौड़ा हो । मेखला निर्माण में अनुभव की पूर्ण आवश्यकता है। अन्यथा मेखलान्तर्गत पारद स्थिर न रह सकेगा । इस मेखला में पारद और गंधक एक २ छटाक डाल कर एक छोटी सी लोह निर्मित कटोरी जिस की लम्बाई चौडाई ६ अगुल हो, उससे ढक देवे और १ सेर कोयलों की अग्नि से आच देवे ।

रसरत्न समुच्चयोक्त कच्छपयन्त्र—

जलपरिपूर्णपात्रमध्ये दत्त्वा घटखर्परं सुविस्तीर्णम् ।
तदुपरि विडमध्यगतः स्थाप्य सूतः कृत कोष्ठधाम् ॥
लघुलोहकटोरिकया कृतपरमृन्सान्धिलेपयाऽऽच्छाद्य ।
पूर्वोक्तघटखर्परमध्येऽङ्गारै खदिरकोलभवै ॥
स्वेदनतो मर्दनत कच्छपयन्त्रस्थितो रसो जरति ।
अग्निबलेनैव ततो गर्भे द्रवन्ति सर्वसत्त्वानि ॥

इस में जलपात्र लोहमय ग्रहण किया गया है और उसके ऊपर घडे क मध्यभाग (ठीकरा) रक्खा गया है । और उसी प्रकार एक कोष्ठी (मेखला)

इस के मध्य में निर्माण की गई है। चूर्ण के स्थान पर विड द्रव्य (लवण और क्षार) प्रयोग किये गये हैं। और ऊपर से लोह कटोरी से ढांप कर खैर अथवा बेरी की लकडी के कोयलों की आंच दी गई है।

अथ पारदमारणमाह—

धूमसारं रसं तोरीं गन्धकं नवसादरम् ॥२९॥
यामैकं मर्दयेदम्लैर्भागं कृत्वा समांशकम्।
काचकूप्यां विनिक्षिप्य तां च मृद्वस्त्रमुद्रया ॥३०॥
विलिप्य परितो वक्त्रे मुद्रां दत्त्वा च शोषयेत्।
अधःसच्छिद्रपिठरीमध्ये कूपीं निवेशयेत् ॥३१॥
पिठरीं वालुकापूरैर्भृत्वा चाकूपिकागलम्।
निवेश्य चुल्ल्यां तदधः कुर्याद्वह्निं शनैः शनैः ॥३२॥
तस्मादप्यधिकं किञ्चित्पावकं ज्वलयेत्क्रमात्।
एवं द्वादशभिर्यामैर्म्रियते सूतकोत्तमः ॥३३॥
स्फोटयेत्स्वाङ्गशीतं तमूर्ध्वगं गन्धक त्यजेत्।
अधःस्थं मृतसूतं च सर्वकर्मसु योजयेत् ॥३४॥

मारणार्थ—विशुद्ध अथवा संस्कृत पारद (१ पल), गृहधूम, फिटकरी (रक्त), शुद्ध गन्धक, नौसादर—प्रत्येक द्रव्य पारद के बराबर ग्रहण करके एक प्रहर निम्बुरस से मर्दन करे। द्रव्य समुदाय के शुष्कीभूत होने पर कपड-मिट्टी की हुई शीशी में भर देवे और इसके मुख पर दृढ संधिमुद्रा कर देवे। पुन इस शीशी को मिट्टी की उस हाण्डी में यथाविधि स्थापन करे। जिसके नीचे छिद्र किया गया हो तथा जो इस कार्य के लिये तैयार की गई हो। शीशी रख कर ऊपर तक बालू भर देवे। पुन मन्द, मध्य तथा खर, क्रम से १२ प्रहर अग्नि देवे। यन्त्र के स्वाग शीतल होने पर यथाविधि भेदन कर के शीशी के गलप्रदेश में संलग्न गन्धकादि की स्थूल पर्पटी को त्याग करके इस प्रस्तर से नीचे शीशी के गले के साथ चिपके हुए रससिन्दूर को ग्रहण करे। शीशी के तल भाग में स्फटिकादि की भस्म होगी। इस प्रकार मृत (भस्मीभूत) सूत को ग्रहण करके सर्व कार्यों में प्रयोग करे ॥२९—३४॥

पारद मारण की अन्य विधि—

अपामार्गस्य बीजानां मूषायुग्मं प्रकल्पयेत्।
तत्सम्पुटे न्यसेत्सूतं मलयूदुग्धमिश्रितम् ॥३५॥
द्रोणपुष्पीप्रसूनानि विडङ्गमिरिमेदकः।

एतच्चूर्णमधोर्ध्वं च दत्त्वा मुद्रां प्रदीयते ॥३६॥
तं गोलं सन्धयेन्मध्यङ्मूषमृपासम्पुटे सुधीः ।
मुद्रां दत्त्वा शोषयित्वा ततो गजपुटे पचेत् ॥३७॥
एवमेकपुटेनैव जायते भस्म सूतकम् ।

विशुद्ध पारद को मलयू (फल्गु—अंजीर) के दूध मे मर्दन करे । जब सूखकर गोला बनने योग्य हो तब इसको गुटिकाकार करके—अपामार्ग (ओंगा) के बीजों को जल से पीसकर बीजों के लुगदे में पारद की गोली को रखकर गोलाकार बना लेवे । पुन मिट्टी की प्याली में गूमा के फूल, वायविडंग और विट्खदिर के छिलके को पीसकर आधा बिछा देवे । ऊपर से लुगदे वाला गोला रख देवे और अवशिष्ट आधा चूर्ण गोले के ऊपर देकर ढक देवे और दूसरी प्याली ऊपर देकर सन्धिमुद्रा और मृल्लेप करके सम्पुट को सुखा लेवे । पुन इस सम्पुट को गजपुट की अग्नि देवे । स्वाग शीतल होने पर यथाविधि भेदन करके पारद भस्म को प्राप्त करे । इस प्रकार एक ही पुट मे पारद की भस्म हो जाती है ॥३५–३७॥

वक्तव्य—यदि पारद २ तोला हो तो ½ सेर दूध होना आवश्यक है । अपामार्ग के बीज ½ सेर हो । द्रोणपुष्पी आदि का चूर्ण मिलित २ पाव हो । वनोपल ७ सेर होने चाहियें । पुटविधि —पृथ्वी में एक ऐसा गड्ढा निकाले जिसमें १० सेर उपले आ सकें । ऐसे गड्ढे में आधे उपले प्रथम डाल देवे और उक्त सम्पुट को स्थिर करके रख देवे । इसके साथ ही ५—७ अंगारे भी रख देवे । शेष गड्ढे के भाग को अवशिष्ट आधे उपले डालकर पूर्ण करे । स्वाग शीतल होने पर यथाविधि सम्पुट भेदन करके कृष्णवर्ण के चूर्ण को पृथक् करे और बीजों के कृष्णवर्ण के गोले को फोड़कर अन्दर श्वेत अथवा धूसराभ पारद भस्म की गोली निकाल लेवे ।

पारद मारण की तीसरी विधि —

काकोदुम्बरिकादुग्धे रसं किञ्चिद्विमर्दयेत् ॥३८॥
तद्दुग्धघृष्टहिङ्गोश्च मूषायुग्मं प्रकल्पयेत् ॥
लिप्त्वा तत्सम्पुटे सूतं तत्र मुद्रां प्रदापयेत् ॥३९॥
धृत्वा तं गोलकं प्राज्ञो मृण्मूषासम्पुटेऽधिके ।
पचेन्मृदुपुटेनैव सूतको याति भस्मताम् ॥४०॥

विशुद्ध पारद को अजीर के दूध में मर्दन करके गोली बना लेवे और उत्तम हींग को अजीर के दूध में पीसकर दो मूषा बनावे । इन मूषाओं के मध्य में उक्त पारद की गोली को रखकर सन्धिमुद्रा कर देवे । पुन मिट्टी के शरावों में गोलक को रखकर मृदुपुट की आंच से पकावे । इस प्रकार पारद की भस्म हो जाती है ॥३८—४०॥

वक्तव्य—पारद १ तोला, पेषणार्थ दूध ½ पाव, हींग १ पाव, पेषणार्थ यथावश्यक दूध। पाक—मृदुपुट में (३—४ सेर उपले)। मृदुपुट का अर्थ लघु गजपुट लिया जाता है।

मृदुपुट के लक्षण—

तद्यथा—निपुणविहितगर्त्तै षोडशैरङ्गुलैर्यो
मितसकलविभागस्तस्य मध्ये निधाय।
ज्वलनमतिविशुष्कैर्गोमयै पारदस्य
लघुगजपुटमेतत् प्रोक्तमेव मुनीन्द्रैः॥

पारद मारण की चतुर्थ विधि—

नागवल्लीरसैर्घृष्टः कर्कोटीकन्दगर्भितः।
मृण्मूषासम्पुटे पक्त्वा सूतो यात्येव भस्मताम् ॥४१॥

विशुद्ध पारद को स्वच्छ खरल में डालकर पान के पत्तो के स्वरस से मर्दन करके गोली बना लेवे। पुन बाम्फककोडा की जड के कल्क में रखकर शराव सपुट में बद करके पुट देवे। इस प्रकार करने से पारद भस्म हो जाता है ॥४१॥

वक्तव्य—पारद एक तोला। पर्णपत्ररस २० तोला। कर्कोटीमूल १ पाव। पुटार्थ—उपले ३—४ सेर। भस्मीभूत पारद की मात्रा—½ से ¾ रत्ती तक। यथा-योग्य अनुपान से व्यवहार करे।

ज्वरनाशार्थ-ज्वराङ्कुश रस—

खण्डितं मृगशृङ्गं च ज्वालामुख्या रसैः समम्।
रुद्ध्वा भाण्डे पचेच्चुल्यां यामयुग्मं ततो नयेत् ॥४२॥
अष्टांशं त्रिकटुं दद्यान्निष्कमात्रं च भक्षयेत्।
नागवल्लीरसैः सार्धं वातपित्तज्वरापहम् ॥४३॥
अयं ज्वराङ्कुशो नाम रसः सर्वज्वरापहः।
ऐकाहिकं द्व्याहिकं च त्र्याहिकं वा न संशयः ॥४४॥

बारहसिगा को कूट कर ज्वालामुखी के पत्तों के रस से भावना देवे। पुन. भावित मृगशृग को हाडी में डालकर सम्पुट करे और दो प्रहर (८ घटे) की चूल्हे की अग्नि देवे। पुन इस शृग भस्म से अष्टमाश त्रिकटु, (काली पीपल काली मिरच, सोठ, मिलित) चूर्ण मिलाकर बारीक पीस लेवे। इस की एक-निष्क भर की मात्रा पान के पत्तों के रस से मिलाकर प्रयोग करे। इससे वात पित्त ज्वर, एकाहिक, द्व्याहिक, तृतीयक तथा सर्व ज्वर नष्ट होते हैं। यह ज्वराकुश रस सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करता है ॥ ४२—४४ ॥

वक्तव्य—(१)—ज्वालामुखी शब्द के अनेक अर्थ किये जाते हैं। यथा-

कोई कहते हैं ज्वालामुखी चार प्रकार की है—'शुक्ला पीता तथा रक्ता कृष्णा ज्वालामुखी भवेत्'। कोई 'खसनी' नाम की बूटी मानते हैं। कोई भल्लातक को ज्वालामुखी मानते हैं। परन्तु ज्वालामुखी के ठीक लक्षण बिच्छुआ घा" " घटित होते हैं। अत इस योग में इसी का ग्रहण उचित है।

(२)—अन्यत्र भी यह योग मिलता है। यथा—

असकृद्भावित शृङ्ग हारिण कुट्टितं रसैः।
ज्वालामुख्या· पचेद्भाण्डगत तद्भस्म चूर्णयेत्॥

(३)—हरिणशृग पर मल होता है। इसे उष्णोदक से स्वच्छ कर लेना चाहिये। पुन इसको छोटे २ खण्डों में विभक्त करके ज्वालामुखी के रस से ७ भावनायें देवे। पुन' शुष्कीभूत खण्डों को डमरुयन्त्र में रख कर पाक करे। स्वाग शीतल होने पर यन्त्र भेदन करे। इस में कृष्ण वर्ण के शृंग खड प्राप्त होंगे। इनको कूटकर वस्त्रपूत कर लेवे। इस वस्त्रपूत चूर्ण से मिलित त्रिकटु चूर्ण अष्टमाश इसमें मिलावे। यह मलेरिया ज्वर को रोकने के लिये अन्यर्थ औषध है। मात्रा—२-४ रत्ती पर्याप्त है। ज्वर वेग से प्रथम इस प्रकार की ३—४ मात्रा सेवन करावे।

ज्वरारिरस—

पारदं रसकं तालं तुत्थं टङ्कणगन्धके।
सर्वमेतत्समं शुद्धं कारवल्लीरसैर्दिनम् ॥४५॥
मर्दयेल्लेपयेत्तेन ताम्रपात्रोदरं भिषक।
अङ्गुल्यर्धप्रमाणेन ततो रुद्ध्वा च तन्मुखम् ॥४६॥
पचेत्तं वालुकायन्त्रे क्षिप्त्वा धान्यानि तन्मुखे।
यदा स्फुटन्ति धान्यानि तदा सिद्धं विनिर्दिशेत् ॥४७॥
ततो नयेत्स्वाङ्गशीतं ताम्रपात्रोदराद्भिषक्।
रसं ज्वरारिनामानं विचूर्ण्य मरिचैः समम् ॥४८॥
माषैकं पर्णखण्डेन भक्षयेन्नाशयेज्ज्वरम्।
त्रिदिनैर्विषमं तीव्रमेकद्वित्रिचतुर्थकम् ॥४९॥

ज्वरारिरस निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद, खर्पर भस्म, विशुद्ध हरताल (वर्किया), विशुद्ध तुत्थ (नीलाथोथा), सुहागा, शुद्ध गन्धक। प्रत्येक पदार्थ समान भाग लेकर खरल में डालकर यथाविधि करेले के (पत्र) स्वरस से मर्दन करे (३ भावना देवे)। पुन इस कर्दमाभ घन पदार्थ को ताम्बे के कटोरे के अभ्यन्तर आधा २ अगुल परिमाण स्थूल लेप लगा देवे। पुन इस ताम्र पात्र को मिट्टी की सुदृढ हाण्डी में अधोमुख करके औंधा जमा देवे और इसके ऊपर वालुका भरकर हाण्डी

को पूर्ण करे। वालु के ऊपर थोडे से धान्य रख देवे और नीचे तीव्राग्नि देवे। जब धान फूट जायें तब अग्नि बन्द कर देवे। स्वाङ्ग शीतल होने पर यथाविधि ताम्रपात्र के मध्य से सिद्धरस प्राप्त करे और इसके समान काली मिरच का चूर्ण मिलाकर १ मासा की मात्रा से पान के पत्र के साथ सेवन करने से ज्वर को नष्ट करता है। एव तीव्र विषमज्वर, एकाहिक, द्वयाहिक, तृतीयक और चातुर्थक ज्वरो को तीन दिन में नष्ट करता है ॥४५—४६॥

वक्तव्य—(१) विधि —प्रथम पारद और गन्धक दोनों को खरल में घोट-कर उत्तम कज्जली करे। पुन इस कज्जली में शेष द्रव्य डालकर स्वरस से मर्दन करे और इस गाढे २ लेप को विशुद्ध किये हुए ताम्र के कटोरे के उदर में लीप देवे।

(२) ताम्र पात्र और हाडी के सन्धि स्थान को मिट्टी से बन्द कर देवे।

(३) वालु के ऊपर धान्य डालकर उनके ऊपर थोडा सा रेत और डाल दिया जाता है। अन्यथा खुली वायु में कदापि धान्य नही फूटते।

(४) स्वागशीतावस्था में इसे सावधानी से निकालना चाहिये। क्योंकि अग्निताप से पक्व और शुष्क होकर लेपित वस्तु हाण्डी के तल में प्राप्त होती है। इसका वर्ण कृष्ण होगा।

मात्रा—२—४ रत्ती पर्याप्त। अनुपान—पर्णपत्र रस और मधु।

प्रभाव—विसर्गी ज्वर पर होता है। शीतपूर्व ज्वरों के लिये उत्तम औषध है। ज्वर आने के समय से प्रथम २—३ मात्रा प्रयोग करने से उसी दिन अथवा २—३ दिन में ज्वर रुक जाता है। जीर्ण ज्वर पर भी इसका चमत्कृतप्रभाव होता है। जीर्ण ज्वर की शाति के लिये इसे कटुकी और दारुहरिद्रा के क्वाथ से प्रयोग करे। शीत से आने वाले पुनरावर्तक ज्वर में इसे चिरायता, गुडूची और हरीतकी क्वाथ से प्रयोग करे।

अथ शीतज्वरारिरस —

तालकं तुत्थकं ताम्रं रसं गन्धं मनःशिलाम् ।
कर्षं कर्षं प्रयोक्तव्यं मर्दयेत्त्रिफलाम्बुभिः ॥५०॥
गोलं न्यसेत्तस्सम्पुटके पुटं दद्यात्प्रयत्नतः ।
ततो नीत्वार्कदुग्धेन वज्रीदुग्धेन सप्तधा ॥५१॥
क्वाथेन दन्त्याः श्यामायाः भावयेत्सप्तधा पुनः ।
माषमात्रं रसं दिव्यं पञ्चाशन्मरिचैर्युतम् ॥५२॥
गुडगद्याणकं चैव तुलसीदलयुग्मकम् ।
भक्षयेत्त्रिदिनं भक्त्या शीतारिर्दुर्लभः परः ॥५३॥
पथ्यं दुग्धौदनं देयं विषमं शीतपूर्वकम् ।

दाहपूर्वं हरत्याशु तृतीयकचतुर्थकौ ॥५४॥
द्व्याहिकं सततं चैव वैवर्ण्यं च नियच्छति ।

शीतज्वरारिरस-निर्माणार्थ—शुद्ध हरिताल (वर्किया), तुत्थभस्म, ताम्र भस्म, शुद्धपारद, शुद्धगन्धक, शुद्धमैनसिल । प्रत्येक एक २ तोला ।

विधि —पारद और गन्धक की कज्जली कर लेवे तथा हरिताल और मन -शिला को पृथक २ मर्दन करके एक स्वच्छ खरल में मिला देवे । एव समस्त औषधों को डालकर त्रिफला के कषाय से मर्दन करे और गोला बना लेवे । इस गोले को सम्पुट मे बन्द करके (साधारण) पुट देवे । पुन स्वाङ्गशीत होने पर सम्पुट भेदन करके यथाविधि पक्वौषध को ग्रहण करके खरल में डालकर क्रमश —आक के दूध से, थोहर के दूध से, जमाल गोटे की जड के क्वाथ से तथा निशोत के क्वाथ से सात २ भावना देवे और शुष्क होने पर स्वच्छ काच पात्र में रख लेवे । माष मात्र इस दिव्य (सिद्धफलप्रद) रस को ५० काली मिरचो के चूर्ण के साथ मिलाकर, गुड एक गद्याणक ('गद्याणो दशमाषक') और तुलसी के दो पत्तों के साथ तीन दिन सेवन करे । भक्तिपूर्वक (औषध की रोगनाशिनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास करके) सेवन करने से कठिनता से प्राप्त होने वाला यह शीतारि रस, शीत से आने वाले विषमज्वर (मलेरिया बुखार) तथा दाहपूर्वक आने वाले विषम ज्वरों को शीघ्र नष्ट करता है तथा तृतीय (तीसरे दिन आने वाला) ज्वर तथा दूसरे दिन आने वाला ज्वर एव चौथिया और सतत ज्वर को नष्ट करता है । तथा ज्वरादि से होने वाली शरीर की विवर्णता को दूर करता है । इसके प्रयोगकाल में दूध भात का पथ्य देना चाहिये ॥५०—५४॥

वक्तव्य—१—अन्य ग्रन्थों में इस रस में अर्क दुग्धादि से भावना देकर पुन पुट देने का विधान है । यथा—

पश्चाद्दक्षीरविर्द्रीदन्तीश्यामारसेन च ।
संमर्द्य सप्तधा घर्मे शरावपुटकं पचेत् ॥

२—इसकी उक्त मात्रा को गुड में लपेट कर गोली बनावे और तुलसी के पत्तों में लपेट कर खावे ।

३—वर्तमान के लिये इसकी उक्त मात्रा अधिक है । अत १—२ रत्ती का व्यवहार ठीक है । एव तुलसी के पत्रो के ६ माशा से १ तोला स्वरस में ४—८ रत्ती चूर्ण और ३—६ मासा तक गुड का प्रयोग करे ।

४—भावनार्थ—जिस वस्तु अथवा योग को भावना देनी हो उसी के मान के बराबर भावना की वस्तु अथवा मिलित समुदाय को लेकर यथाविधि क्षुण्ण करके चतुर्गुण जल से क्वाथ करे । जब चतुर्थांश शेष रहे तब वस्त्र द्वारा छानकर भावनार्थ प्रयोग करे । यह रस ज्वर रोकने में अत्यत लाभकर है ।

ज्वरघ्नी गुटिका—

भागैकः स्याद्रसाच्छुद्वादेलेयः पिप्पली शिवा ॥५५॥
आकारकरभो गन्धः कटुतैलेन शोधितः ।
फलानि चेन्द्रवारुण्याश्चतुर्भागमिता अमी ॥५६॥
एकत्र मर्दयेच्चूर्णमिन्द्रवारुणिकारसैः ।
माषोन्मितां गुटीं कृत्वा दद्यात्सर्वज्वरे बुधः ॥५७॥
छिन्नारसानुपानेन ज्वरघ्नी गुटिका मता ।

ज्वरघ्नी गुटिका निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद एक भाग (१ तोला), एलुआ मुसब्बर, काली पीपल, हरीतकी, अकरकरा, सरसों के तैल से शुद्ध किया हुआ गन्धक और इन्द्रायण के बीजों का चूर्ण, प्रत्येक-४।४ भाग (४।४ तोला)। भावनार्थ—इन्द्र वारुणी मूल का क्वाथ (क्वाथार्थ इन्द्र वारुणी मूल २५ तोले, पाकार्थ—जल १०० तोला, अवशिष्ट क्वाथ २५ तोले)।

विधि—पारद और गंधक की कज्जली करके शेष औषधों को खरल में डाल कर उक्त क्वाथ से भावना देवे। सुशुष्क होने पर एक मासे की मात्रा से सम्पूर्ण ज्वरों (मलेरिया बुखारों) को नष्ट करने के लिये गुडूची के रस से प्रयोग करे ॥ ५५—५७ ॥

वक्तव्य—यह दिव्यौषध विष्टम्भयुक्त ज्वरों पर तथा प्लीहा वृद्धि युक्त ज्वर पर उत्तम प्रभाव करती है। यह ज्वर को रोकती है तथा मन्द वेगयुक्त ज्वर को उतार भी देती है। मात्रा—२—४ रत्ती। अनुपानार्थ—गुडूची रस १—२ तोला अथवा उष्णोदक। यथा हि—

रसानामनुपानं स्याद् द्विपलं पलमर्धकम् ।
वातपित्तकफप्राये यथायोग्यमनुक्रमात् ॥

अथ क्षयादौ लोकनाथरस—

शुद्धो बुभुक्षितः सूतो भागद्वयमितो भवेत् ॥५८॥
तथा गन्धस्य भागौ द्वौ कुर्यात्कज्जलिकां तयोः ।
सूताच्चतुर्गुणेष्वेव कपर्देषु विनिक्षिपेत् ॥५९॥
भागैकं टङ्कणं दत्त्वा गोक्षीरेण विमर्दयेत् ।
तथा शङ्खस्य खण्डानां भागानष्टौ प्रकल्पयेत् ॥६०॥
क्षिपेत्सर्वं पुटस्यान्तश्चूर्णलिप्तशरावयोः ।
गर्ते हस्तोन्मिते धृत्वा पुटेद्गजपुटेन च ॥६१॥
स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य पिष्ट्वा तत्सर्वमेकतः ।

लोकनाथरसनिर्माणार्थ—शुद्ध (अष्ट संस्कृत) बुभुक्षित (क्षुधातुर-धातु ग्रसन शील) पारद २ भाग (२ तोला)। शुद्ध गन्धक २ भाग (२ तोला)।

विधि —दोनों की यथाविधि कज्जली करे। जब उत्तम कज्जली हो जाये तब पारद से चतुर्गुण (पीली) कौडिया (शुद्ध करके) लेवे। इन के उदर में यथाविधि कज्जली को भर देवे और सौभाग्य (कच्चा) १ तोला को गोदूध में पीसकर कौडियों के मुख पर लीप देवे (जिस से कौडियों के छिद्र बन्द हो जायें) और १६ तोले शंख को शुद्ध कर के इसके टुकड़े ८ तोले कौडियों के साथ शराव सम्पुट में बन्द करके गजपुट की अग्नि से फूंक देवे। सम्पुटार्थ जो शराव (कसोरे) लिये जावें उन्हें प्रथम चूर्ण (चूर्णोदक) से लेप कर लेवे। स्वांग शीतल होने पर यथाविधि सम्पुट को भेदन करके औषध ग्रास करे। इसको पीसकर रख लेवे ॥५६—६२॥

वक्तव्य—शंख को व्यवहार करने की विधि यह है। प्रथम शंख के टुकड़ो को गोदूध मे पीसकर लेप सा बना लेवे। पुन इसको कौडियो पर लपेट कर गोला बना लेवे। इस गोले को सम्पुट में रक्खे। इसमें अधिक अग्नि का प्रयोग नहीं किया जाता एक हाथ गहरे गड्ढे में पुट दिया जाता है। जिसमें लघु गजपुट होता है।

लोकनाथ रस की मात्रा—

षड्गुञ्जामंमितं चूर्णमेकोनत्रिंशदूषणैः ॥६२॥

उक्त प्रकार से सिद्ध किये हुए रस की छः रत्ती मात्रा २९ काली मिरचों के चूर्ण (४—८ रत्ती तक) से प्रयोग करे। (रस की मात्रा भी २—४ रत्ती पर्याप्त है।)

लोकनाथ रस के अनुपान—

घृतेन वातजे दद्यान्नवनीतेन पित्तजे ।
क्षौद्रेण श्लेष्मजे दद्यादतीसारे क्षये तथा ॥६३॥
अरुचौ ग्रहणीरोगे कार्श्ये मन्दानले तथा ।
कासश्वासेषु गुल्मेषु लोकनाथरसो हितः ॥६४॥

इस लोकनाथ रस को वात विकार शांत करने के लिये घृत से तथा पित्तज रोगों को दूर करने के लिये नवनीत (माखन) से प्रयोग करे। एवं कफ के रोगों को नष्ट करने के लिये मधु से प्रयोग करे। यह रस अतीसार क्षयरोग अरुचि संग्रहणी कृशता मन्दाग्नि, खांसी दमा तथा गुल्म रोग को नष्ट करता है॥६३—६४॥

लोकनाथ रसभक्षणविधि —

तस्योपरि घृतान्नं च भुञ्जीत कवलत्रयम् ।
मञ्चे क्षणैकमुत्तानः शयीतानुपधानके ॥६५॥

यथाविधि अनुपान सहित रस भक्षण करके उसके ऊपर घृत सहित भात के तीन ग्रास भक्षण करके तकिये रहित खाट पर क्षणभर सीधा लेटा रहे ॥६५॥

लोकनाथ रस मे पथ्य भोजन —

अनम्लमन्नं सघृतं भुञ्जीत मधुरं दधि ।
प्रायेण जाङ्गलं मांसं प्रदेयं घृतपाचितम् ॥६६॥
सुदुग्धभक्तं दद्याच्च जातेऽग्नौ सान्ध्यभोजने ।
सघृतान्मुद्गवटकान्व्यञ्जनेष्ववचारयेत् ॥६७॥

भोजन अम्लरस रहित हो तथा घृत युक्त अथवा घृतसिद्ध हो । एवं मीठी दही, घृत सिद्ध जाङ्गल जीवों का मास भोजन में व्यवहार करे । इस औषध के सेवन से जठराग्नि के बलवान् होने पर यदि सायकाल भूख लगे तब दूध और भात को खावे तथा घृत परिपक्व मूग की दाल के लड्डू व्यञ्जन विधि से व्यवहार करे ॥६६—६७॥

लोकनाथ रस सेवी के लिये स्नान व्यवस्था —

तिलामलककल्केन स्नापयेत्सर्पिषाऽथवा ।
अभ्यञ्जयेत्सर्पिषा च स्नानं कोष्णोदकेन च ॥६८॥

इसके सेवन से जब मनुष्य स्नान करने योग्य हो तब उसके शरीर पर तिल और आमले के चूर्ण को पीसकर उसमें घृत मिलाकर उबटना करे । पश्चात् मन्दोष्ण जल से स्नान करावे अथवा केवल घृत को शरीर पर मर्दन करके उष्णोदक से स्नान करावे ॥६८॥

लोकनाथ रस में त्याज्य पदार्थ—

क्वचित्तैल न गृह्णीयान्न बिल्वं कारवेल्लकम् ।
वार्ताकं शफरीं चिञ्चां त्यजेद्व्यायाममैथुने ॥६९॥
मद्यं सन्धानकं हिङ्गु शुण्ठी माषान् मसूरकान् ।
कूष्माण्डं राजिकां कोपं काञ्जिकं चैव वर्जयेत् ॥७०॥
त्यजेदयुक्तनिद्रां च कांस्यपात्रे च भोजनम् ।
ककारादियुतं सर्वं त्यजेच्छाकफलादिकम् ॥७१॥
पथ्योऽयं लोकनाथस्तु—

सरसों का तैल, बेल, करेले, बैंगन, मच्छी, इमली, व्यायाम, मैथुन, मद्य, आसवारिष्ट शुक्त आदि, हींग, सोंठ, माष (उडद), मसूर (अन्न), कूष्माण्ड (पेठा), राई, कोप (क्रोध), काजी, अयुक्तनिद्रा (दिवा स्वाप), कासे के पात्र में भोजन करना, ककाराष्टक ('कूष्माण्ड कर्कटी चैव कलिङ्गं कारवेल्लकम । कुसुम्भिका च कर्कोटी कलम्बी काकमाचिका । ककाराष्टकमेतद्धि वर्जयेद्रसभक्षक ॥') तथा शाक (पत्रशाक) और फल—यह सब लोकनाथ रस सेवन करने वाले को त्याग देने चाहियें ॥६९—७१॥

लोकनाथरस सेवनविधि —

—शुभनक्षत्रवासरे ।
पूर्णातिथौ सिते पक्षे जाते चन्द्रबले तथा ॥७२॥
पूजयित्वा लोकनाथं कुमारीं भोजयेत्ततः ।
दानं दत्त्वा द्विघटिकामध्ये ग्राह्यो रसोत्तमः ॥७३॥

इसका प्रयोग ज्योतिष शास्त्रानुसार शुभ नक्षत्र तथा शुभ दिवस में पूर्णा तिथि (पञ्चमी दशमी, पौर्णमासी), शुक्ल पक्ष की पूर्ण चन्द्रबल से युक्त तिथियों में किसी दिन भी जिस दिन रस प्रयोग करना हो उस दिन यथाविधि जगदीश्वर का पूजन करके कुमारी कन्याओं को भोजन करावे और यथाशक्ति दान दक्षिणा देकर यथामात्रा प्रातःकाल इसका सेवन करे ॥७२—७३॥

लोकनाथ रस जनित दाह की शान्ति—

रसाच्चेज्जायते तापस्तदा शर्करया युतम् ।
सत्त्वं गुडूच्या गृह्णीयाद्वंशरोचनया युतम् ॥७४॥
खर्जूरं दाडिमं द्राक्षामिक्षुखण्डानि दापयेत् ।

इस रस के सेवन के पश्चात् (दो घड़ी के मध्य में) यदि शरीर में (असह्य) जलन हो तब मिश्री, गिलोय का सत, वंशलोचन (तबाशीर) को (दूध से) सेवन करावे तथा खर्जूर, (छुहारे) परिपक्व अनार का रस, द्राक्षा, (मुनक्का या अंगूर) तथा गन्ना को चूसना हितकर होता है ॥७४॥

लोकनाथ रस के रोगानुसार अनुपान—

अरुचौ निस्तुषं धान्यं घृतभृष्टं सशर्करम् ॥७५॥
दद्यात्तथा ज्वरे धान्यगुडूचीक्वाथमाहरेत् ।
उशीरवासकक्वाथं दद्यात्समधुशर्करम् ॥७६॥
रक्तपित्ते कफे श्वासे कासे च स्वरसंक्षये ।

यदि लोकनाथ रस अरुचिरोग (भोजनेच्छा का अभाव) विनाशार्थ प्रयुक्त करना हो तो निस्तुष धान्य (धनिया के चावलों) को घृत में भूनकर खाँड मिलाकर प्रयोग करे। इसी प्रकार ज्वर (पुराण विषम ज्वर) को नष्ट करने के लिये धनिया और गुडूची के क्वाथ से प्रयोग करे (मिलित क्वाथ्य—२ तोला, पाकार्थ—जल १६ तोले, अवशिष्ट क्वाथ ४ तोले से पान करे)। एवं यदि लोकनाथ रस को रक्त पित्त, कफ रोग, दमा, खाँसी और स्वर भेद रोग दूर करने के लिये प्रयुक्त करना हो तो उशीर (खस) और वासा मूलत्वक् के क्वाथ में मधु और मिश्री मिलाकर प्रयोग करे ॥७५—७६॥

अग्निभृष्टजयाचूर्णं मधुना निशि दीयते ॥७७॥
निद्रानाशेऽतिसारे च ग्रहण्यां मन्दपावके ।
सौवर्चलाभयाकृष्णाचूर्णमुष्णोदकैः पिबेत् ॥७८॥
शूलेऽजीर्णे तथा कृष्णा मधुयुक्ता ज्वरे हिता ।
प्लीहोदरे वातरक्ते छर्द्यां चैव गुदाङ्कुरे ॥७९॥
नासिकादिषु रक्तेषु रसं दाडिमपुष्पजम् ।
दूर्वायाः स्वरसं नस्ये प्रदद्याच्छर्करायुतम् ॥८०॥
कोलमज्जा कणा बर्हिपत्त्रभस्म सशर्करम् ।
मधुना लेहयेच्छर्दिहिक्काकोपोपशान्तये ॥८१॥
विधिरेष प्रयोज्यस्तु सर्वस्मिन्पोट्टलीरसे ।
मृगाङ्के हेमगर्भे च मौक्तिकाख्येऽपरेषु च ।
इत्ययं लोकनाथाख्यो रसः सर्वरुजो जयेत् ॥८२॥

निद्रानाश (अल्पनिद्रा अथवा निद्रा का अभाव), अतिसार रोग, संग्रहणी रोग तथा मन्दाग्नि को नष्ट करने के लिये रात्रि के समय लोकनाथ रस को अग्निभृष्टजया (भाग के बीजों अथवा पत्रों को तवे पर डाल कर थोडा सा भून लेवे) चूर्ण (१–३ मासा मिलाकर) मधु से प्रयोग करे । शूल (उदरशूल वात जनित) और अजीर्ण रोग को दूर करने के लिये लोकनाथ रस—काला नमक, हरीतकी तथा काली पीपल (समान भाग मिलित २–४ माशा) के चूर्ण को गरम जल से प्रयोग करे । काली पीपल का चूर्ण और मधु मिला कर प्रयोग किया हुआ लोकनाथ ज्वर में हितकर होता है तथा प्लीहा वृद्धि, वात रक्त, कय और बवासीर में भी इसी अनुपान से प्रयोग करे । नासिका से प्रवृत्त होने वाले रक्त (ऊर्ध्व रक्त पित्त) रोग को दूर करने के लिये लोकनाथ रस को अनार के फूलों के रस से प्रयोग करे । दूर्वा (दूब) के रस में मिशरी और लोकनाथ मिलाकर नस्य देने से भी रक्त पित्त नाश होता है । छर्दि (कय) और हिचकी दूर करने के लिये बेर की गुठली की मज्जा, काली पीपल, मोर के पख की भस्म, मिशरी और शहद मिलाकर प्रयोग करे । इसी विधि और पथ्यापथ्य तथा अनुपान विधान से पोटली रस, मृगाक पोटली रस, हेमगर्भ पोटली रस, मौक्तिकाख्य पोटली रस एव अन्य पञ्चरत्न पोटली आदि रसों का प्रयोग करे । यह लोकनाथ रस सम्पूर्ण रोगों को दूर करता है ॥७७—८२॥

वक्तव्य—(१) जागल मास आठ प्रकार का होता है । रोगानुसार जहा जैसी आवश्यकता हो वैसा प्रयोग करे । (२) तैल सर्वथा त्याज्य है । यथा—

मांस यत्तैलसिद्ध तु वीर्योष्णं पित्तकृद् गुरु ।
लघ्वग्निदीपन ग्राह्य रुच्य दृष्टिप्रसादनम् ॥
अनुष्णवीर्यं पित्तघ्न मनोज्ञ घृतसाधितम् ।

(३) स्नान—उष्णाम्बु द्वारा स्नान शिर से नीचे के भाग के लिये विहित है । यथा—

उष्णाम्बुनाध· कायस्य परिषेको बलावह ।
तेनैव चोत्तमाङ्गस्य बलहृत्केशचक्षुषाम् ॥

लघुलोकनाथरस —

वराटभस्म मण्डूरं चूर्णयित्वा घृते पचेत् ।
तत्सम मारिचं चूर्णं नागवल्ल्यां विभावितम् ॥८३॥
तच्चूर्णं मधुना लेह्यमथवा नवनीतकैः ।
माषमात्रं क्षयं हन्ति यामे यामे च भक्षितम् ॥८४॥
लोकनाथरसो ह्येष मण्डलाद्राजयक्ष्मनुत् ।

कौडियों की भस्म, मण्डूर भस्म—इन दोनोंको समान भाग लेकर समान भाग गोघृत में पकावे । जब घृत शोषित हो जाये तब दोनो के बराबर काली मिरच का चूर्ण मिलाकर खरल में डाले और पान के पत्रों के स्वरस से (सात) भावना देकर सुखा लेवे ॥८३—८४॥

अथ मृगाङ्कपोटलीरस —

भूर्जवत्तनुपत्राणि हेम्नः सूक्ष्माणि कारयेत् ॥८५॥
तुल्यानि तानि सूतेन खल्वे क्षिप्त्वा विमर्दयेत् ।
काञ्चनाररसेनैव ज्वालामुख्या रसेन वा ॥८६॥
लाङ्गल्या वा रसैस्तावद्यावद्भवति पिष्टिका ।
ततो हेम्नश्चतुर्थांशं टङ्कणं तत्र निक्षिपेत् ॥८७॥
पिष्टमौक्तिकचूर्णं च हेमाद्द्विगुणमावपेत् ।
तेषु सर्वसमं गन्धं क्षिप्त्वा चैकत्र मर्दयेत् ॥८८॥
तेषां कृत्वा ततो गोलं वासोभिः परिवेष्टयेत् ।
पश्चान्मृदा वेष्टयित्वा शोषयित्वा च धारयेत् ॥८९॥
शरावसम्पुटस्यान्तस्तत्र मुद्रां प्रदापयेत् ।
लवणापूरिते भाण्डे धारयेत्तं च सम्पुटम् ॥९०॥
मुद्रां दत्त्वा शोषयित्वा बहुभिर्गोमयैः पुटेत् ।

ततः शीते समाहृत्य गन्धं सूतसमं क्षिपेत् ॥६१॥
घृष्ट्वा च पूर्ववत्खल्वे पुटेद्गजपुटेन च ।
स्वाङ्गशीतं ततो नीत्वा गुञ्जायुग्मं प्रयोजयेत् ॥६२॥
अष्टभिर्मरिचैर्युक्तः कृष्णात्रययुतोऽथवा ।
विलोक्य देयो दोषादीनेकैका रसरक्तिका ॥६३॥
सर्पिषा मधुना वापि दद्याद्दोषाद्यपेक्षया ।
लोकनाथसमं पथ्यं कुर्यात्स्वस्थमनाः शुचिः ॥६४॥
श्लेष्माणं ग्रहणीं कासं श्वासं क्षयमरोचकम् ।
मृगाङ्कोऽयं रसो हन्यात्कृशत्वं बलहीनताम् ॥६५॥

मृगाङ्क पोटली रस निर्माणार्थ—विशुद्ध सोने के भूर्जपत्र के समान बारीक पत्र बना लेवे (वर्तमान में इस कार्य के लिये 'कुन्दन' ग्रहण कर लेना चाहिये)।

विधि.—जितना स्वर्ण हो उतना ही विशुद्ध पारद लेवे। प्रथम स्वर्ण को कैंची से काटकर तण्डुलाकृति करके खरल में डाले। तदुपरान्त पारद मिलाकर शनै २ मर्दन करता जावे। जब पिष्टिका बन जावे तब इसको कचनार के (त्वक) रस से तथा ज्वालामुखी के रस से तथा कलिहारी के रस से मर्दन करे। जब गोली सी बन जावे तब स्वर्ण से चौथाई भाग सुहागा डाले और स्वर्ण मान से द्विगुण परिमाण डाले तथा समस्त औषध मान के बराबर शुद्ध गन्धक डालकर (पूर्वोक्त वनस्पतियो के रस से) मर्दन करे। पश्चात् इस गोले को शराव सपुट में रखकर सम्पुट को मृद्वस्त्रावलिप्त करके सूखने पर लवणपूरित भाण्ड में यथाविधि बन्द करके गोमयाग्नि से पाक करे। पुन स्वाग शीतल होने पर यथाविधि पक्व औषध ग्रहण करके खरल में पीसे और पारद के बराबर पुन शुद्ध गन्धक डालकर मर्दन करे और पूर्वोक्त वनस्पतियो के रस से मर्दन करे और गजपुट की अग्नि से यथाविधि पाक करे। स्वाग शीतल होने पर पीस लेवे और २ अथवा १ रत्ती की मात्रा से प्रयोग करे। इसके साथ आठ कालीमिर्चों का चूर्ण अथवा तीन कालीपीपलों के चूर्ण को मधु और घृत के साथ दोषो की वृद्धि के अनुसार प्रयोग करे। इसमें अनुपानीय द्रव्य दोषोद्रेक के अनुसार व्यवहार करे। इस मृगाङ्क पोटली में पथ्यापथ्य की व्यवस्था लोकनाथ के सदृश करे। इसके प्रयोग से कफ, सग्रहणीरोग, खासी, श्वास, क्षय, राजयक्ष्मा तथा अरुचि, कृशता और बलहीनता नष्ट होती है ॥८५—६५॥

वक्तव्य—(१) इस योग में स्वर्ण के पत्रों को तब तक काचनारादि के रस से भावित करके पुट देता जाये जब तक स्वर्ण 'पिष्टी' भस्म के रूप में परिणत न हो जाये। अथवा स्वर्ण भस्म को ही उक्त स्वरसों से भावित कर लेवे।

(२) इसकी मात्रा रोगी के बलानुसार ½ अथवा ¼ रत्ती से आरम्भ करे।

(३) यह रस—फुफ्फुसीय यक्ष्मा तथा ज्वर और कास में अधिक हितकर है। प्राय यक्ष्मा की दूसरी अवस्था के लिये अत्युपयोगी औषध है।

हेमगर्भपोटलीरस —

सूतात्पादप्रमाणेन हेम्नः पिष्टं प्रकल्पयेत् ।
तयोः स्याद् द्विगुणो गन्धो मर्दयेत्काञ्चनारकैः ॥९६॥
कृत्वा गोलं क्षिपेन्मूषासम्पुटे मुद्रयेत्ततः ।
पचेद्भूधरयन्त्रेण वासरत्रितयं बुधः ॥९७॥
तत उद्धृत्य तत्सर्वं दद्याद्गन्धं च तत्समम् ।
मर्दयेदार्द्रकरसैश्चित्रकस्वरसेन च ॥९८॥
स्थूलपीतवराटांश्च पूरयेत्तेन युक्तितः ।
एतस्मादौषधात्कुर्यादष्टमांशेन टङ्कणम् ॥९९॥
टङ्कणार्धं विषं दत्त्वा पिष्ट्वा सेहुण्डदुग्धकैः ।
मुद्रयेत्तेन कल्केन वराटानां मुखानि च ॥१००॥
भाण्डे चूर्णप्रलिप्ते च धृत्वा मुद्रां प्रदापयेत् ।
गर्ते हस्तोन्मिते धृत्वा पुटेद्गजपुटेन च ॥१०१॥
स्वाङ्गशीतं रसं ज्ञात्वा प्रदद्याल्लोकनाथवत् ।
पथ्यं मृगाङ्कवज्ज्ञेयं त्रिदिनं लवणं त्यजेत् ॥१०२॥
यदा छर्दिर्भवेत्तस्य दद्याच्छिन्ना शृतं तदा ।
मधुयुक्तं तथा श्लेष्मकोपे दद्याद्गुडार्द्रकम् ॥१०३॥
विरेके भर्जिता भङ्गा प्रदेया दधिसंयुता ।
जयेत्कासं क्षयं श्वासं ग्रहणीमरुचिं तथा ॥१०४॥
अग्निं च कुरुते दीप्तं कफवातं नियच्छति ।
हेमगर्भः परो ज्ञेयो रसः पोट्टलिकाभिधः ॥१०५॥

हेमगर्भ पोटली रस निर्माणार्थ—पारद भस्म १ तोला, स्वर्ण भस्म ३ माशे, विशुद्ध गन्धक २॥ तोला। सबको उत्तम खरल में डालकर कचनार के रस से मर्दन करे। जब गोला बनने योग्य हो तब गोला बनाकर मूषा संपुट में यथाविधि बन्द कर देवे और भूधरयन्त्र की विधि से इस सम्पुट को तीन दिन तक पकावे। पुन पाकानन्तर यथाविधि औषध प्राप्त करके प्राप्य औषध के समान शुद्ध गन्धक डालकर मर्दन करे और अदरक के रस तथा चीते के स्वरस (अभाव में

क्वाथ) से रगड कर सुखा लेवे। शुष्कीभूत इस चूर्ण को पीत वर्ण की उत्तम ग्राह्य कौडियो (कौडियों को शुद्ध कर लेवे) में भर देवे और गन्धकमिश्रित समस्त औषध के मान से अष्टमाश सुहागा (कच्चा) और चतुर्थांश विशुद्ध विप थूहर के दूध में घोटकर कौडियों के मुखपर लेप कर देवे। पुन. चूने से लिपे हुए शराव में इनको भरकर यथाविधि सपुट बनाकर एक हाथ परिमित गहरे गढे में यथा-विधान सम्पुट स्थापित करके विधि के अनुसार पुट देवे। स्वांग शीतल होने पर लोकनाथ रस के विधान से प्रयोग करे। पथ्य की व्यवस्था मृगाङ्कपोटली रस के सदृश करे। विशेष करके ३ दिन लवण को त्याग देवे। यदि इस रस के प्रयोग काल में उलटिया आरम्भ हो जायें तो गुडूची का रस अथवा क्वाथ मधु मिला-कर प्रयोग करने से दूर हो जाती हैं। श्लेष्म प्रकोप दूर करने के लिये इस रस को गुड़ मिले हुए आर्द्रक रस से प्रयोग करे। अतिसार रोग को दूर करने के लिये इस रस को भूनी हुई भांग (पत्र) और दही के साथ प्रयोग करे। एव यह खांसी, क्षय (राजयक्ष्मा), श्वास, सग्रहणी और अरुचि रोग को नष्ट करता है। इसके प्रयोग से अग्नि की दीप्ति होती है, कफ और वात विकार नष्ट होते हैं। इसको हेमगर्भपोटली रस कहते हैं ॥६७—१०६॥

वक्तव्य— भूधरयन्त्र के लक्षण

यथा—वालुकागूढसर्वाङ्गां गर्त्ते मूषां रसान्विताम्।
दीप्तोपलैः संवृणुयाद्यन्त्रं तद्भूधराह्वयम्॥

इस प्रकार भूगर्भस्थित मूपा को निरतर तीन दिन पकावे।

मात्रा—½—१ रत्ती तक। अनुपान—यथोक्त।

प्रभाव—अनुलोम क्षय तथा यक्ष्मा के कास और अतिसार में अत्यन्त हितावह होता है।

द्वितीय हेमगर्भपोटली रस—

रसस्य भागाश्चत्वारस्तावन्तः कनकस्य च।
तयोश्च पिष्टिकां कृत्वा गन्धो द्वादशभागिकः ॥१०६॥
कुर्यात्कज्जलिकां तेषां मुक्तभागाश्च षोडश।
चतुर्विंशच्च शङ्खस्य भागैकं टङ्कणस्य च ॥१०७॥
एकत्र मर्दयेत्सर्वं पक्वनिम्बूकजै रसैः।
कृत्वा तेषां ततो गोलं मूषासम्पुटके न्यसेत् ॥१०८॥
मुद्रां दत्त्वा ततो हस्तमात्रे गर्ते च गोमयैः।
पुटेद्गजपुटेनैव स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत् ॥१०९॥
पिष्ट्वा गुञ्जाचतुर्मानं दद्याद्व्याज्यसंयुतम्।

एकोनत्रिंशदुन्मानमरिचैः सह दीयते ॥११०॥
राजते मृण्मये पात्रे काञ्चने वाऽवलेहयेत् ।
लोकनाथसमं पथ्यं कुर्याच्च स्वस्थमानसः ॥१११॥
कासे श्वासे क्षये वाते कफे ग्रहणिकागदे ।
अतीसारे प्रयोक्तव्या पोट्टली हेमगर्भिका ॥११२॥

पारद भस्म ४ भाग, स्वर्ण भस्म ४ भाग। दोनों को खरल में डालकर (पूर्वोक्त ज्वालामुख्यादि के रस से मर्दन करे) तथा १२ भाग शुद्ध गंधक डालकर कज्जली करे। पुन निम्बूरस से मर्दन करके गोला बनावे और मूषाओं में रखकर यथाविधि एक हाथ गहरे गढे में पुट विधि से पुट देवे। पुन स्वागशीतल होने पर यथाविधि औषध को ग्रहण करके १६ भाग मुक्ता भस्म तथा २४ भाग शंखभस्म मिला कर पीसकर उत्तम पात्र में रख लेवे। यह ४ रत्ती की मात्रा से २६ काली मिरचों के चूर्ण के साथ गोघृत से चांदी मिट्टी अथवा स्वर्णपात्र में मिलाकर चाटने से कास (खासी), दमा, राजयक्ष्मा, वायुविकार कफरोग, संग्रहणीविकार और अतिसारादि रोग नष्ट होते हैं। इस हेमगर्भ पोटली में लोकनाथ रस में कथित पथ्यापथ्य का पालन करे ॥१०६—११२॥

वक्तव्य—इसकी मात्रा—१—२ रत्ती बलाबल के अनुसार प्रयोग करे।

प्रभाव—आन्त्रक्षय तथा फुफ्फुसीय क्षय एव राजयक्ष्मा के प्रवल लक्षणों में प्रयुक्त करने से आशातीत लाभ होता है।

महाज्वराङ्कुश रस—

शुद्धसूतो विषं गन्धः प्रत्येकं शाणसंमिताः ।
धूर्तबीजं त्रिशाणं स्यात्सर्वेभ्यो द्विगुणा भवेत् ॥ ११३ ॥
हेमाह्वा कारयेदेषां सूक्ष्मं चूर्णं प्रयत्नतः ।
देयं जम्बीरमज्जाभिश्चूर्णं गुञ्जाद्वयोन्मितम् ॥ ११४ ॥
आर्द्रकस्वरसैर्वापि ज्वरं हन्ति त्रिदोषजम् ।
ऐकाहिकं द्व्याहिकं वा त्र्याहिकं वा चतुर्थकम् ॥११५॥
विषमं च ज्वरं हन्याद्विख्यातोऽयं ज्वराङ्कुशः ।

महाज्वराङ्कुश रस निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद १ शाण (३ मासा), विशुद्ध विष (मीठा तेलिया ३ मासा), विशुद्ध गन्धक १ शाण (३ मासा), शुद्ध धत्तूर बीज ३ शाण (१ तोला), चोक का चूर्ण ४ तोला। यथाविधि मिलाकर तैयार करे। जम्बीरी के बीजों की मज्जा अथवा अदरक के रस से दो रत्ती परिमाण

१—'माचजे' इत्यपि पाठ ।

की मात्रा से प्रयोग करने से यह सन्निपातिक ज्वर, प्रतिदिन आने वाला ज्वर, दूसरे दिन आने वाला ज्वर तथा तृतीयक और चातुर्थक ज्वर एवं विषम ज्वरों को नष्ट करता है। ज्वरों को नष्ट करने के लिये यह ज्वरांकुश प्रसिद्ध है ॥११३—११५॥

वक्तव्य—विधि.—प्रथम पारद और गधक को एक स्वच्छ खरल में रगड करके उत्तम कज्जली करे। पुन दूसरे खरल में शुद्ध विष और धतूरे के बीजों को निरन्तर पीसकर फेनोद्गमावस्था तक पीसता करे। पुन हेमाह्वा डालकर इसी खरल में कज्जली मिलाकर जल से पीसकर सुखा लेवे। मात्रा १-२ रत्ती ठीक है।

प्रभाव—नित्य आने वाले ज्वर को रोकने के लिये ज्वर के आक्रमण से प्रथम उचित अनुपान से २—३ मात्रा प्रयोग करे। इस से ज्वर नही आता।

अतिसारादौ आनन्दभैरव —

दरदं वत्सनाभं च मरिचं टङ्कणं कणाम् ॥११६॥
चूर्णयेत्समभागेन रसो ह्यानन्दभैरवः।
गुञ्जैकं वा द्विगुञ्जं वा वलं ज्ञात्वा प्रयोजयेत् ॥११७॥
मधुना लेहयेच्चानु कुटजस्य फलं त्वचम्।
चूर्णितं कर्षमात्रं तु त्रिदोषोत्थातिसारजित् ॥११८॥
दध्यन्नं दापयेत्पथ्यं गव्याज्यं तक्रमेव च।
पिपासायां जलं शीतं विजया च हिता निशि ॥११९॥

आनन्द भैरव रस निर्माणार्थ—विशुद्ध शिगरफ, शुद्ध मीठा तेलिया, काली मिरच का चूर्ण, शुद्ध सोहागा, काली पीपल का चूर्ण। प्रत्येक सम भाग ग्रहण करे।

विधि —प्रथम शुद्ध खरल में शिगरफ को पीस लेवे। इस में जल डाल कर तव तक पीसना होता है जब तक इसकी चमक दीखती रहे। पुन दूसरे खरल में मीठे तेलिया को जल से फेनोद्गम पर्यन्त मर्दन करे। तत्पश्चात् अन्य औषधों के वस्त्रपूत चूर्ण को डाल कर जल से (अथवा आर्द्रक रस से) मर्दन कर के १—२ रत्ती की गोलिया वना लेवे। वलावल के अनुसार एक अथवा दो रत्ती की मात्रा से मधु (शहद) मिलाकर चाटे। ऊपर से इन्द्र जौं का चूर्ण और कूडे की छाल का चूर्ण ६। ६ मासा मधु मिलाकर अनुपान करे। इस से तीनो दोषो से उत्पन्न होने वाला अतीसार रोग नष्ट होता है। इसके प्रयोग काल में पथ्य रूप में दही भात अथवा गौ या वकरी के दूध का तक्र ('तक्र पादजलं प्रोक्तम्') प्रयोग करे। तृषा की शांति के लिये शीतल जल देवे तथा रात्रि समय विजया (भाग के पत्तों का) चूर्ण (भूनकर) प्रयोग करे॥ ११६—११९॥

वक्तव्य—यह उत्तम लाभप्रद औषध है। प्राय ग्रामीण वैद्य इस का अधिक व्यवहार करते हैं।

लघु सूचिकाभरण रस—

विषं पलमितं सूतः शाणिकश्चूर्णयेद्द्वयम् ।
तच्चूर्णं सम्पुटे क्षिप्त्वा काचलिप्तशरावयोः ॥१२०॥
मुद्रां दत्त्वा च संशोष्य ततश्चुल्ल्यां निवेशयेत् ।
वह्निं शनैः शनैः कुर्यात्प्रहरद्वयसंख्यया ॥१२१॥
तत उद्घाटयेन्मुद्रामुपरिस्थां शरावकात् ।
संलग्नो यो भवेत्सूतस्तं गृह्णीयाच्छनैः शनैः ॥१२२॥
वायुस्पर्शो यथा न स्यात्तथा कुप्यां निवेशयेत् ।
यावत्सूच्या मुखे लग्नं कुप्या निर्याति भेषजम् ॥१२३॥
तावन्मात्रो रसो देयो मूर्च्छिते सन्निपातिनि ।
क्षुरेण प्रच्छिते मूर्ध्नि तत्राङ्गुल्या च घर्षयेत् ॥१२४॥
रक्तभेषजसम्पर्कान्मूर्च्छितोऽपि हि जीवति ।
तथैव सर्पदष्टस्तु मृतावस्थोऽपि जीवति ॥१२५॥
यदा तापो भवेत्तस्य मधुरं तत्र दीयते ।

लघुसूचिकाभरण रस निर्माणार्थ—शुद्धविष (मीठा तेलिया) १ पल ४ तोले), शुद्ध पारद (बुभुक्षित पारद) १ शाण (३ माशे) ।

विधि —दोनों को स्वच्छ खरल में डालकर (३ दिन) मर्दन करे। पारद के अदृश्य होने पर चूर्णोदक से लीपे हुए कसोरे में डालकर ऊपर से दूसरा चूर्ण-लिप्त कसोरा देकर सन्धि मुद्रा कर देवे और सुखाकर चूल्हे पर रख दो प्रहर की मन्दाग्नि देवे। स्वाङ्ग शीतल होने पर यथाविधि मुद्राभंग करके ऊपर के शराव में चिपके हुए पारद को शनै २ खुरच कर ग्रहण कर लेवे । पारद ग्रहण करने के लिये निर्वात स्थान उचित होता है। इस प्राप्त (धूम्राभ) पारद को सुदृढ़ शीशी म भर देवे। सन्निपात से मूर्च्छित रोगी के शिखास्थान (अथवा तालु प्रदेश) को उस्तरे से पाछ लगाकर व्रण स्थान से किञ्चित् रक्त निकलने पर सूई के अग्र भाग पर जितना रस लग सके उतना उठा कर प्रच्छित स्थान पर रक्खे और अगुली से घर्षण करे। रक्त में औषध प्रविष्ट होते ही मूर्च्छा निवृत्त हो जाती है। सर्पदंश से मूर्च्छित रोगी को भी इसी प्रकार औषध प्रयोग करे। इससे मृत्युमुख में पतित हुआ रोगी सावधान हो जाता है। इसके प्रभाव से यदि ज्वरवेग अधिक प्रतीत हो तो मधुर पदार्थ (फल, शर्करोदकादि) खाने को देना तथा शीत चिकित्सा हिता-वह होती है ॥१२०—१२५॥

अथ सन्निपाते—जलबन्धुरस —

सूतभस्मसमं गन्धं गन्धात्पादं मनःशिला ॥१२६॥
माक्षिकं पिप्पली व्योपं प्रत्येकं शिलया समम् ।
चूर्णयेद्भावयेत्पित्तैर्मत्स्यमायूरसम्भवैः ॥१२७॥
सप्तधा भावयेच्छुष्कं देयं गुञ्जाद्वयं हितम् ।
तालपर्णीरसश्चानु पञ्चकोलभृतोऽथवा ॥१२८॥
जलबन्धुरसो नाम संनिपातं नियच्छति ।
जलयोगश्च कर्तव्यस्तेन वीर्यं भवेद्रसे ॥१२९॥

जलबन्धु रस निर्माणार्थ—पारद भस्म १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, शुद्ध मैनसिल ¼ तोला, स्वर्ण माक्षिक भस्म, कालीपीपल का चूर्ण, व्योप (काली पीपल, काली मिरच, सोंठ)—प्रत्येक मन शिला के समान। सब को यथाविधि पीसकर स्वच्छ खरल में मच्छी और मोर के पित्ता से सात २ भावना देकर सुखा लेवे। तालपर्णी (मुशली श्वेत) अथवा पञ्चकोल (कालीपीपल, पीपलामूल, चव्य, चीते की छाल, सोंठ,) के क्वाथ से (क्वाथ विधि के लिये इसी खड का दूसरा अध्याय देखो) दो रत्ती की मात्रा से व्यवहार करे। इससे सन्निपात ज्वर नष्ट होता है। इसके प्रयोग में शीतल जलपान तथा शिर, आंख और हृदयादि पर शीतजलावसेचन हितकर होता है ॥१२६—१२९॥

वक्तव्य—इसमें मूल पाठ भ्रमात्मक है। 'गन्धात्पाद मन शिला' यही पाठ ग्राह्य है। इसी से ठीक अर्थ संगति होती है। जयपाल का प्रयोग अन्य पुस्तकों में नहीं है। जयपाल रहने से यह तीव्र रेचक होगा। जलयोग से इसके प्रभाव में वृद्धि होती है। मात्रा—१ रत्ती पर्याप्त है। अधिक मात्रा देख भालकर देनी चाहिये।

पञ्चवक्त्ररस—

शुद्धसूतं विषं गन्धं मरिचं टङ्कणं कणाम् ।
मर्दयेद्धूर्त्तजद्रावैर्दिनमेकं च शोषयेत् ॥१३०॥
पञ्चवक्त्रो रसो नाम द्विगुञ्जः सन्निपातजित् ।
अर्कमूलकषायं तु सत्र्यूषमनुपाययेत् ॥१३१॥
युक्तं दध्योदनं पथ्यं जलयोगं च कारयेत् ।
रसेनानेन शाम्यन्ति सक्षौद्रेण कफोद्भवाः ॥१३२॥
मध्वार्द्रकरसं चानु पिबेदग्निविवृद्धये ।
यथेष्टं घृतमांसाशी शक्तो भवति पावकः ॥१३३॥

१ धात्र्या दद्यान्मन शिला' इत्यपि पाठ ।

पञ्चववत्र रस निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद, शुद्ध मीठा तेलिया, शुद्ध गन्धक कालीमिरच का चूर्ण, शुद्ध सोहागा, काली पीपल—यह सब समान भाग लेवे ।

विधि —पारद और गन्धक की कज्जली करे और विष को जल मिलाक फेनोद्गम पर्यन्त मर्दन करे । सब वस्तुओं को एकत्र कर धतूरे के पत्रो के रस में एक दिन मर्दन करके दो २ रत्ती की गोली बनाकर सुखा लेवे । इन में से १ । गोली (मधु मिलाकर चाट लेवे) खाकर ऊपर से आक की जड़ (६ माशा) का क्वा बनाकर त्रिकटु चूर्ण (१ मासा) का प्रक्षेप देकर पान करने से सन्निपातज्वर ना होता है । क्षुधा बोध होने पर दही भात खाने को देवे । ताप वृद्धि होने पर जल योग (जलधारा) का प्रयोग करे । केवल शहद के साथ प्रयोग करने से कफरोग नष्ट होते हैं । जठराग्नि की वृद्धि के लिये इसको अदरख के रस (१ -तोला) और मधु से प्रयोग करे । इसके प्रभाव से जठराग्नि मासघृतादि गुरुपाकी भोजन को पचाने में भी समर्थ होती है ॥१३०—१३३॥

उन्मत्तरस —

रसं गन्धकतुल्यांशं धत्तूरफलजद्रवैः ।
मर्दयेद्दिनमेकं तु तत्तुल्यं त्रिकटु क्षिपेत् ॥१३४॥
उन्मत्ताख्यो रसो नाम्ना नस्ये स्यात्संनिपातजित् ।

उन्मत्त रस निर्माणार्थ—शुद्ध पारद और शुद्ध गधक की कज्जली करवे धत्तूरे के फल के रस से मर्दन करे । शुष्क होने पर कज्जली के बराबर त्रिकटु का वस्त्रपूत चूर्ण इसमे डालकर मिला लेवे । नस्य द्वारा प्रयुक्त हुआ यह उन्मत्ताख्य रस सन्निपात को नष्ट करता है (भक्षणार्थ भी प्रयुक्त होता है) ॥१३४॥

सन्निपातार्दो-अञ्जनरस —

निस्त्वग्जैपालबीजं च दशनिष्कं विचूर्णयेत् ॥१३५॥
मरिचं पिप्पलीं सूत प्रतिनिष्कं विमिश्रयेत् ।
भाव्यो जम्बीरजैर्द्रावैः सप्ताहं संप्रयत्नतः ॥१३६॥
रसोऽयमञ्जने दत्तः संनिपातं विनाशयेत् ।

अञ्जन रस निर्माणार्थ—विशुद्ध जयपालबीज दश निष्क (२॥ तोला), काली मिरच का चूर्ण एक निष्क (३ माशे), काली पीपल का चूर्ण एक निष्क, सूत (रससिंदूर) १ निष्क । सबको स्वच्छ खरल में डालकर जम्बीरी रस से सात दिन पर्यन्त मर्दन करे । (शुष्क होने पर शीशी में डाल लेवे) इसका अञ्जन करने से सन्निपात दूर होता है ॥१३५—१३६॥

वक्तव्य—अञ्जन और नस्य द्वारा व्यवहृत होने वाले रसों का प्रयोग प्राय उस अवस्था में होता है जब त्रिदोष प्रकोप से इन्द्रिय-ज्ञान नाश की अवस्था

उपस्थित हो ऐसे योगो के प्रयोग से चेतनाकेन्द्र मस्तिष्क के ज्ञान अथवा संज्ञा-वाही तन्तुओं में हलचल उत्पन्न होकर संज्ञा स्थिर होती है ।

अथ शूलादौ नाराचरस —

सूतं टङ्कणकं तुल्यं मरिचं सूततुल्यकम् ॥१३७॥
गन्धकं पिप्पलीं शुण्ठी द्वौ द्वौ भागौ विचूर्णयेत् ।
सर्वतुल्यं क्षिपेद्दन्तीबीजं निस्तुषितं भिषक् ॥१३८॥
द्विगुञ्जं रेचनं सिद्धं नाराचोऽयं महारसः ।
आध्मानं मलविष्टम्भानुदावर्तं च नाशयेत् ॥१३९॥

नाराच रस निर्माणार्थ—शुद्ध पारद, सौभाग्य भस्म, कालीमिरच का चूर्ण-एक २ भाग । शुद्ध गन्धक, कालीपीपल का चूर्ण, सोंठ का चूर्ण-२ । २ भाग । समस्त वस्तुमान के बराबर शुद्ध जमाल गोटे का चूर्ण डालकर जल से पेषण करे । यह महानाराच रस २ रत्ती की मात्रा से प्रयुक्त किया हुआ रेचन (दस्त) करता है एव इसके प्रयोग से पेट का फूलना, कबजी तथा उदावर्त (वायु का प्रतिलोम भाव) नष्ट होता है ॥१३७—१३९॥

वक्तव्य—प्रथम पारद गधक की कज्जली करे और पुन अवशिष्ट औषधें मिलाकर मर्दन करे । विरेचनार्थ इसका प्रयोग शर्करोदक से करना चाहिये । यह तीव्र रेचक है ।

इच्छाभेदीरस —

दरदं टङ्कणं शुण्ठी पिप्पली चैककार्षिकाः ।
हेमाह्वा पलमात्रा स्याद्दन्तीबीजं च तत्समम् ॥१४०॥
विचूर्ण्यैकत्र सर्वाणि गोदुग्धेनैव साधयेत् ।
त्रिगुञ्जं रेचनं दद्याद्विष्टम्भाध्मानरोगिषु ॥१४१॥

इच्छाभेदी रस निर्माणार्थ—शुद्ध शिगरफ, शुद्ध सुहागा (अग्निभृष्ट), सोठ का चूर्ण, कालीपीपल का चूर्ण—एक २ भाग (१ । १ तोला), चोक का चूर्ण १ पल (४ तोला), शुद्ध जमालगोटा का चूर्ण ४ तोला । सबको यथाविधि चूर्ण करके परस्पर मर्दन करे और गोदूध से भावना देकर सुखाकर रख लेवे । इसकी ३ रत्ती की मात्रा (१—३ रत्ती), प्रयोग करने से मलविष्टम्भ तथा उदराध्मान आदि रोग नष्ट होते हैं ॥१४०—१४१॥

वक्तव्य—यह रस सुख विरेचनार्थ भी उत्तम है । एक रत्ती की मात्रा से रात्रि में प्रयुक्त किया हुआ यह प्रात शौच खुला सा लाता है । एवं दो से तीन रत्ती तक की मात्रा गोदूध अथवा शर्करोदक से ४—५ दस्त लाती है ।

वसन्तकुसुमाकररस —

द्वौ भागौ हेमभूतेश्च गगनं चापि तत्समम् ।

लोहभस्म त्रयो भागाश्चत्वारो रसभस्मनः ॥१४२॥
वङ्गभस्म त्रिभागं स्यात्सर्वमेकत्र मर्दयेत् ।
प्रवालं मौक्तिकं चैव रससाम्येन दापयेत् ॥१४३॥
भावना गव्यदुग्धेन रसैर्वृष्टवाटरूषकैः ।
हरिद्रावारिणा चैव मोचकन्दरसेन च ॥१४४॥
शतपत्ररसेनापि मालत्याः स्वरसेन च ।
पश्चान्मृगमदश्चन्द्रतुलसीरसभावितः ॥१४५॥
कुसुमाकर इत्येष वसन्तपदपूर्वकः ।
गुञ्जाद्वयं ददीतास्य मधुना सर्वमेहनुत् ॥१४६॥
सिताचन्दनसंयुक्तश्चाम्लपित्तादिरोगजित् ।

वसन्तकुसुमाकर रस निर्माणार्थ—सुमृत स्वर्णभस्म २ भाग (२ तोला), अभ्रक भस्म २ भाग (२ तोला), लोहभस्म ३ भाग (३ तोला), पारद भस्म (रस सिन्दूर), ४ भाग (४ तोला), वगभस्म ३ भाग (३ तोला), प्रवाल (मूगा) भस्म और मोतियों की भस्म, प्रत्येक ४ । ४ तोला । प्रत्येक को पीसकर खरल में मिलावे । भावनार्थ—गोदूध, वासारस, हलदी (कच्ची हलदी का रस), केले के कन्द का रस, गुलाब के फूलों का रस, तुलसी के पत्तों का रस, कपूर तथा कस्तूरी से यथाविधि एक २ भावना देवे । इस प्रकार यह वसन्तकुसुमाकर रस तैयार होता है । इसकी दो रत्ती की मात्रा शहद से प्रयुक्त की हुई सम्पूर्ण प्रकार के प्रमेह रोगों को नष्ट करती है । मिशरी तथा श्वेत चन्दन के अनुपान से यह अम्लपित्तादि रोगों को नष्ट करता है ॥१४२—१४६॥

वक्तव्य—(१) विधि —इसके निर्माणार्थ पत्थर का खरल प्रयोग करे । सर्व प्रथम रससिंदूर को पीसे और पुन अवशिष्ट भस्मों का मिश्रण करे और यथाक्रम भावनार्थ कथित औषधों के रस से १ । १ भावना देवे । (२) इस योग में और अन्य पुस्तकों के योग के द्रव्यों तथा भावनाओं में न्यूनाधिक्य है । अत गुणदायक अन्य औषधों से भी भावना दी जा सकती है । (३) उत्तम विधि से सिद्ध वसत कुसुमाकर रस मधुमेह की अव्यर्थ औषध है । इसकी १ रत्ती मात्रा पर्याप्त है । (४) इसके समग्र उत्तम गुण तभी प्राप्त होंगे जव इसमें प्रत्येक द्रव्य उच्च श्रेणी का होगा । प्राय चिकित्सक वर्ग इसमें कस्तूरी और कर्पूर यथाक्रम ६ माशा और एक तोला व्यवहार करते हैं ।

राजमृगाङ्करस —

सूतभस्म त्रयो भागा भागैकं हेमभस्मकम् ॥१४७॥

मृतताम्रस्य भागैकं शिलागन्धकतालकम् ।
प्रतिभागद्वयं शुद्धमेकीकृत्य विचूर्णयेत् ॥१४८॥
वराटान्पूरयेत्तेन छागीक्षीरेण टङ्कणम् ।
पिष्ट्वा तेन मुखं रुद्ध्वा मृद्भाण्डे तन्निरोधयेत् ॥१४९॥
शुष्कं गजपुटे पक्त्वा चूर्णयेत्स्वाङ्गशीतलम् ।
रसो राजमृगाङ्कोऽयं चतुर्गुञ्जः क्षयापहः ॥१५०॥
दशपिप्पलिकाक्षौद्रैरेकोनात्रिंशदूषणैः ।
सघृतं दापयेत्पथ्यं स्त्रीकोपाग्निश्रमांस्त्यजेत् ॥१५१॥
पथ्यं वा लघुमांसानि राजरोगप्रशान्तये ।

राज मृगाङ्क रस निर्माणार्थ—पारद भस्म ३ भाग, सोने की भस्म १ भाग, ताम्रभस्म १ भाग, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध आमलासार गंधक और शुद्ध हरिताल (बर्किया) दो दो भाग। सब का परस्पर मिश्रण करके स्वच्छ खरल में पीस लेवे। इस सुपिष्ट चूर्ण को कौडियों (पीत और ग्राह्य तथा सुशोधित) में भर देवे। (कपर्दिका वडी २ हों अन्यथा छोटी कौडियों का तोल अधिक हो जाने से औषध गुण रहित हो जाती है) और बकरी के दूध में पिसे हुए सुहागे को कौडियों के मुख पर लीपकर दो कसोरों में बंद करके यथाविधि सम्पुट बना लेवे। शुष्क होने पर गजपुट की अग्नि से फूक कर स्वाग शीतल होने पर औषध को प्राप्त करे और पीसकर रख लेवे। इस प्रकार यह राजमृगाङ्क रस सिद्ध होता है और ४ रत्ती की मात्रा से क्षय रोग को दूर करता है। अनुपान—दश काली पीपलों का चूर्ण और मधु अथवा २९ काली मिरचों का चूर्ण और शहद के साथ मिलाकर चाटे। पथ्य—घृतयुक्त (षष्टिकौदन तथा जाङ्गल जीवों के मांस रस से) सेवन करे। त्याज्य—स्त्री सेवन (मैथुन), क्रोध, अग्नि सेवन और परिश्रम (जिस से शरीर अत्यत थकित हो) त्याग देवे। लघुपाकी (शीघ्र पचने वाले) मास रसों के पथ्य प्रयोग से राजरोग (राजयक्ष्मा) नष्ट होता है ॥१४७—१५१॥

वक्तव्य—(१) इस रस के प्रति भाग को यदि एक २ कर्ष परिमित ग्रहण किया जाय तो समस्त द्रव्य मान ११ तोले होता है। इसको पूर्ण करने के लिये कौडियों का मान १८—२० तोले से अधिक न होना चाहिये। (२) गजपुट की आंच से केवल कौडियों की भस्म प्राप्त होगी। अत यहा लघुगजपुट (१८ अंगुल गर्त्त) की अग्नि पर्याप्त है। इसके उत्तम पाक में औषध मलिनाकृति होती है। अधिक पाक में श्वेत हो जाती है। (३) ४ गुञ्जा—इसकी मात्रा वर्तमान में सहन नही होती ½ से १ रत्ती मात्रा व्यवहार में आती है। (४) मरिच और पीपल के चूर्ण को अनुपान के रूप में २—८ रत्ती तक व्यवहार किया जाता है। (५) यह अनु-

लोम, प्रतिलोम—उभयात्मक क्षय रोग में हितकर है। विशेषकर फुफ्फुसीय यक्ष्मा एवं यक्ष्मा की दूसरी अवस्था में अधिक उपयोगी है।

अथ क्षयश्वासादौ स्वयमग्निरस —

शुद्धं सूतं द्विधा गन्धं कुर्यात्खल्वेन कज्जलीम् ॥१५२॥
तयोः समं तीक्ष्णचूर्णं मर्दयेत्कन्यकाद्रवैः ।
द्वियामान्ते कृतं गोलं ताम्रपात्रे विनिक्षिपेत् ॥१५३॥
आच्छाद्यैरण्डपत्रेण यामार्धेऽत्युष्णता भवेत् ।
धान्यराशौ न्यसेत्पश्चात् अहोरात्रात्समुद्धरेत् ॥१५४॥
सञ्चूर्ण्य गालयेद्वस्त्रे सत्यं वारितरं भवेत् ।
भावयेत्कन्यकाद्रावैः सप्तधा भृङ्गजैस्तथा ॥१५५॥
काकमाचीकुरण्टोत्थद्रवैर्मुण्ड्याः पुनर्नवैः ।
सहदेव्यमृतानीलीनिर्गुण्डीचित्रजैस्तथा ॥१५६॥
सप्तधा तु पृथग्द्रावैर्भाव्यं शोष्यं तथातपे ।
सिद्धयोगो ह्ययं ख्यातः सिद्धानां च मुखागतः ॥१५७॥
अनुभूतो मया सत्यं सर्वरोगगणापहः ।
स्वर्णादीन्मारयेदेवं चूर्णीकृत्य तु लोहवत् ॥१५८॥
त्रिफलामधुसंयुक्तः सर्वरोगेषु योजयेत् ।
त्रिकटुत्रिफलैलाभिर्जातीफललवङ्गकैः ॥१५९॥
नवभागोन्मितैरेतैः समः पूर्वरसो भवेत् ।
संचूर्ण्य लोडयेत्क्षौद्रैर्भक्ष्यं निष्कद्वय द्वयम् ॥१६०॥
स्वयमग्निरसो नाम्ना क्षयकासनिकृन्तनः ।

स्वयमग्निरस निर्माणार्थ—शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग। दोनों की कज्जली करे और कज्जली के बराबर सुशोधित लोह चूर्ण (रेती से रगड कर चूर्णित किया हुआ) डालकर घीकुआर के रस से २ पहर मर्दन करके गोला बनावे और इस गोले को ताम्रपात्र में रखकर एरड के पत्रों से ढक देवे और दो घटा धूप में रक्खे। जब अत्युष्ण हो जावे तब आठ प्रहर धान्य के ढेर में दबा देवे। तत्पश्चात् निकालकर चूर्ण करके वस्त्र द्वारा छान लेवे। पुन इस चूर्ण को खरल में डालकर क्रमश सात २ भावना देवे। कुमारी रस, भागरे का रस, काकमाची मकोय) का रस, कुरट (शाक विशेष) स्वरस, गोरखमुडी स्वरस, पुनर्नवा (इटसिट) स्वरस, सह देवी (वला) स्वरस, गिलोय का रस, नीली (नील क्षुप) स्वरस और

निर्गुण्डी (सम्हालू) स्वरस से यथाविधि भावना देकर सुखा लेवे । रससिद्धों द्वारा कथित यह सिद्ध योग अनुभूत किया गया है । यह सम्पूर्ण रोगसमूहों को नष्ट करता है । तथा स्वर्णादि अन्य धातुओं का लौह विधि से चूर्ण करके इसी विधान से मारण करे । इस सिद्धयोग को त्रिफला चूर्ण और शहद मिलाकर सम्पूर्ण रोगों में व्यवहार करे । त्रिकटु, त्रिफला, बडी इलायची, जायफल, लौंग-इन नौ चीजों का वस्त्रपूत समान चूर्ण, यथाविधि परिसाधित उक्त लोहभस्म में मिलाकर शहद के अनुपान से दो दो निष्क की मात्रा से सेवन करने से यह स्वयमग्नि रस क्षयकास (क्षयज खासी) को दूर करता है ॥१५२—१६०॥

वक्तव्य—इसका विस्तृत विधान इसी खंड के ११ वें अध्याय में आ चुका है । यह उत्तम फलप्रद रस है । यह रसरत्नसमुच्चय का योग है । अनुपान भेद से इसे समस्त रोगों में व्यवहृत किया गया है । वर्त्तमान में इसकी २—४ रत्ती की मात्रा व्यवहार में आती है ।

अमृतार्णवरस —

पारदं गन्धकं शुद्धं मृतलोहं च टङ्कणम् ॥१६१॥
रास्ना विडङ्गत्रिफला देवदारु कटुत्रयम् ।
अमृता पद्मकं क्षौद्रं विश्वं तुल्यांशचूर्णितम् ॥१६२॥
त्रिगुञ्जं सर्वकासार्त्तः सेवयेदमृतार्णवम् ।

अमृतार्णव रस निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद, विशुद्ध गन्धक—दोनों को सम भाग लेकर कज्जली करे । पुन —लोहभस्म, भुना सुहागा, रास्ना का चूर्ण, वायविडग का चूर्ण, हरीतकी चूर्ण, बहेड़े का चूर्ण, आमले का चूर्ण, देवदारु का चूर्ण, काली पीपल का चूर्ण, काली मिरच का चूर्ण, सोंठ का चूर्ण, गिलोय का चूर्ण, पद्माख का चूर्ण—प्रत्येक द्रव्य पारद के सम परिमाण का लेकर खरल में डाल (और जल से पेषण) करके ३ रत्ती की मात्रा से शहद के साथ मिलाकर चाटे । इसके प्रयोग से समस्त कास (खासी) नष्ट होते हैं ॥१६१-१६२॥

वक्तव्य—यह औषध विशेषतया वातकास (काली खांसी-कूकर-खासी-हूपिंग कफ) की उत्तम औषध है । मात्रा—छोटे बच्चों को १ रत्ती मात्रा मधु से मिलाकर देवे और बड़ों को २—४ रत्ती तक व्यवहार करे ।

अथ श्वासे सूर्यावर्तो रस —

सूतार्धो गन्धको मर्द्यो यामैकं कन्यकाद्रवैः ॥१६३॥
द्वयोस्तुल्यं ताम्रपत्रं पूर्वकल्केन लेपयेत् ।

१—सूतोऽर्द्धो गन्धको मर्द्य इति । सूत पारद स च गन्धकपरिमाणादर्धो ग्राह्य इत्यभिप्राय ।

दिनैकं स्थालिकायन्त्रे पक्कमादाय चूर्णयेत् ॥१६४॥
सूर्यावर्तो रसो ह्येष द्विगुञ्जः श्वासजिद्भवेत् ।

सूर्यावर्त रस निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद १ तोला, विशुद्ध गन्धक २ तोला यथाविधि कज्जली करे और कन्यारस से मर्दन करके कीचड सा बना लेवे विशुद्ध ताम्र के ३ तोले कटकवेधी पत्रों पर इस कज्जली का लेप करके सुखा लेवे पुन इन पत्रों को हाडी में रखकर दूसरी हाडी से मुख बन्द करके सन्धिमुद्रा करे और चूल्हे की अग्नि द्वारा एक दिन पाक करे। पश्चात् स्वाग शीतल होने पर पक्कौषध को निकाल कर पीस लेवे और एक से दो रत्ती की मात्रा से दोषानुसार अनुपान द्वारा प्रयोग करने से श्वास (दमा) रोग नष्ट होता है ॥१६३-१६४॥

अथ वातरोगे स्वच्छन्दभैरवो रस —

शुद्धं सूतं मृतं लोहं ताप्यं गन्धकतालके ॥१६५॥
पथ्याग्निमन्थं निर्गुण्डी त्र्यूषणं टङ्कणं विषम् ।
तुल्यांशं मर्दयेत्खल्वे दिनं निर्गुण्डिकाद्रवैः ॥१६६॥
मुण्डीद्रावैर्दिनैकं तु द्विगुञ्ज वटकीकृतम् ।
भक्षयेद्वातरोगार्तो नाम्ना स्वच्छन्दभैरवम् ॥१६७॥
रास्नामृतादेवदारुशुण्ठीवातारिजं शृतम् ।
सगुग्गुलुं पिबेत्कोष्णमनुपानं सुखावहम् ॥१६८॥

स्वच्छन्द भैरव रस निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद, लोह भस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म, शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरिताल (वर्किया), हरीतकी चूर्ण, अग्निमथ (अरनी त्वक्) चूर्ण, सम्हालू की जड की छाल का चूर्ण, त्र्यूषण (कालीपीपल का चूर्ण काली मिरच का चूर्ण, सोंठ का चूर्ण), सुहागा (अग्निभृष्ट), शुद्ध विष (मीठ तेलिया)। प्रत्येक द्रव्य समान भाग ग्रहण करे ।

विधि —प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली करे तत्पश्चात् हरिताल को निश्चन्द्र होने तक पृथक् पीसे । पुन विष को फेनोद्गम पर्यन्त पृथक् मर्दन करके समस्त औषधों को एक खरल में मिलाकर सम्हालू के पत्रों के स्वरस तथा गोरख मुडी के स्वरस अथवा क्वाथ से एक २ दिन मर्दन करके सुखा लेवे । दो २ रत्ती की मात्रा बनावे । इस स्वच्छन्द भैरव रस को वातरोग (गृध्रसी, विश्वाची, सन्धि शूल एव प्रसादात्मक वात विकार) से पीड़ित रोगी नीचे लिखे अनुपान से १—२ रत्ती पर्यत सेवन करे । अनुपान —रास्ना, गिलोय, देवदारू, सोंठ, एरड मूल-त्वक् (यह रास्ना पचक है । इस मिलित क्षुण्ण क्वाथ्य को २ तोला लेकर ३२ तोले जल में क्वथित करके चतुर्थांशावशिष्ट रखकर), गुग्गुलु (शुद्ध) का प्रक्षेप (१—२ माशा) देकर कोष्ण क्वाथ का पान करे । इस से वात जनित रोग शात होते हैं ॥१६५—१६८॥

अथ ग्रहणीरोगे हंसपोटलीरस —

दग्धान्कपर्दिकान् पिष्ट्वा त्र्यूपणं टङ्कणं विषम् ।
गन्धकं शुद्धसूतं च तुल्यं जम्बीरजैर्द्रवैः ॥१६९॥
मर्दयेद्ध्दयेन्माषं मरिचाज्यं लिहेदनु ।
निहन्ति ग्रहणीरोगं पथ्यं तक्रौदनं हितम् ॥१७०॥

हंसपोटली रस निर्माणार्थ—कौडियों की भस्म, त्र्यूषण (पिप्पली, मरिच, सोंठ), भुना सुहागा, शुद्ध विष, शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद—प्रत्येक वस्तु सम भाग लेकर जम्बीरी के रस से एक दिन पर्यन्त मर्दन करे। एक माशा भर की मात्रा से मरिच चूर्ण और घृत के साथ मिलाकर चाटे। इसके प्रयोग से सग्रहणी रोग नष्ट होता है। इसमें पथ्यार्थ—तक्र के साथ भात हित होता है ॥१६९—१७०॥

वक्तव्य—१ विधि—पारद गन्धक की कज्जली कर लेवे और विष को पृथक् फेनोद्गम होने पर्यन्त मर्दन करके समस्त द्रव्यों को परस्पर मिलाकर निम्बु के रस से मर्दन करे। इसकी २—४ रत्ती की मात्रा उक्त अनुपान से प्रयोग करे।

प्रभाव—यह आमानुबन्धी संग्रहणी में हितकर है। इसके प्रयोग से जठराग्नि दीप्त होती है। अग्नि के दीप्त होने से आमसञ्चय रुक जाता है जिस से संग्रहणी रोग में लाभ होता है। वातिक सग्रहणी में भी हितावह है।

अथ अश्मर्या त्रिविक्रमो रस —

मृतं ताम्रमजाक्षीरैः पाच्यं तुल्यैर्गतद्रवम् ।
तत्ताम्रं शुद्धसूतं च गन्धकं च समं समम् ॥१७१॥
निर्गुण्डीस्वरसैर्मर्द्यं तद्गोलं सन्धयेद्दिनम् ।
यामैकं वालुकायन्त्रे पाच्यं भोज्यं द्विगुञ्जकम् ॥१७२॥
बीजपूरकमूलं तु सजलं चानुपाययेत् ।
रसस्त्रिविक्रमो नाम्ना मासैकेनाश्मरीप्रणुत् ॥१७३॥

त्रिविक्रम रस निर्माणार्थ—ताम्र भस्म को समान भाग बकरी के दूध के साथ लोहपात्र में शनै २ पाक करे। जब जलीयाश शुष्क हो जाये तब इसे खरल में डालकर समान भाग शुद्ध पारद से मर्दन करे। पुन ताम्रभस्म के बराबर शुद्ध गन्धक डालकर कज्जली करे। इस कज्जली को सम्हालू के पत्रों के स्वरस से मर्दन करके गोला बनावे। इस गोले को शराव सपुट में यथाविधि बन्द करके वालुका यन्त्र में एक दिन की अग्नि से पाक करे। स्वागशीतल होने पर औषध प्राप्त करके पीसे और २ रत्ती की मात्रा से सेवन करके ऊपर से बिजोरा निम्बु के क् को जल से पीसकर अनुपानार्थ पान करने से यह त्रिविक्रम रस एक मास में पथरी को नष्ट कर देता है ॥१७१—१७३॥

अथ कुष्ठादौ महातालेश्वरो रसः—

तालं ताप्यं शिला सूतं शुद्धं सैन्धवटङ्कणे ।
समांशं चूर्णयेत्खल्वे सूताद्द्विगुणगन्धकम् ॥१७४॥
गन्धतुल्यं मृतं ताम्रं जम्बीरैर्दिनपञ्चकम् ।
मर्द्यं षड्भिः पुटैः पाच्यं भूधरे सम्पुटोदरे ॥१७५॥
पुटे पुटे द्रवैर्मर्द्यं सर्वमेतत्तु षट्पलम् ।
द्विपलं मारितं ताम्रं लोहभस्म चतुष्पलम् ॥१७६॥
जम्बीराम्लेन तत्सर्वं दिनं मर्द्यं पुटेल्लघु ।
त्रिंशदंशं विषं चास्य क्षिप्त्वा सर्वं विचूर्णयेत् ॥१७७॥
माहिषाज्येन संमिश्रं निष्कार्धं भक्षयेत्सदा ।
मध्वाज्यैर्वाकुचीचूर्णं कर्षमात्रं लिहेदनु ॥१७८॥
सर्वकुष्ठानि हन्त्याशु महातालेश्वरो रसः ।

महा तालेश्वर रस निर्माणार्थ—विशुद्ध हरिताल (वर्किया), स्वर्णमाक्षिक भस्म, शुद्ध मैनसिल, विशुद्ध पारद, सैन्धानमक, सुहागा (अग्निभृष्ट)—प्रत्येक समांश भाग। शुद्ध गन्धक पारद से द्विगुण तथा गन्धक के बराबर ताम्र भस्म। पारद गंधक की कज्जली करे और अवशिष्ट औषधों का सम्यक् पेषण करके सबको एकत्रित करे तथा जम्बीरी के स्वरस से ५ दिन पर्यंत मर्दन करे और शराव सम्पुट द्वारा भूधरयन्त्र से पाक कर लेवे। इस प्रकार ६ वार पुन २ जम्बीरी स्वरस से मर्दन करे और पुट देता जावे। तत्पश्चात् इस सिद्ध औषध से छः पल औषध ग्रहण करके उसके साथ—ताम्रभस्म ८ तोला, लोहभस्म १६ तोला, मिलाकर जम्बीरी के स्वरस से एक दिन मर्दन करके लघुपुट में पाक करे। पुन. सम्पुटान्तर्गत औषध को खरल में डालकर पेषण करे और इस समस्त औषध मान से तीसवा भाग मीठे तेलिया का चूर्ण इसमें मिलाकर मर्दन करे और उत्तम पात्र में भरकर रख लेवे। तत्पश्चात् २ माशे की मात्रा से भैंस के घृत में मिलाकर चाटे और ऊपर से एक कर्ष परिमित बाकुची चूर्ण में यथाविधान मधु घृत मिलाकर चाटे। इस विधि से प्रयुक्त किया हुआ यह महातालेश्वर रस सम्पूर्ण (१८ प्रकार के) कुष्ठों को नाश करता है ॥१७४—१७८॥

वक्तव्य—कुष्ठ रोग (रक्त विकृति) के लिये यह उत्तम औषध है। इसका प्रयोग विधान इस प्रकार है।

यथा—मदनेन वमिं कुर्याद्विरेकं पथ्ययाऽपि च ।
शुद्ध संशोधनं कुर्वन्मध्ये मध्ये च भक्षयेत् ॥

अन्यरोगार्थ—सन्निपाते मधूकेन व्योषेण पवने हितः ।
ग्रहणी कामला पाण्डु गुल्मार्शांसि हलीमकम् ॥
क्षयं च शमयत्येष महातालेश्वरो रसः । (रसरत्नसमुच्चये)

(२) इस रस के प्रयोगानंतर प्रति सप्ताह दोषानुसार रक्तशोधक और विरेचक औषधों का क्वाथ पान करना हितकर होता है ।

कुष्ठकुठाररस —

भस्मसूतसमो गन्धो मृतायस्ताम्रगुग्गुलू ॥१७९॥
त्रिफला च महानिम्बश्चित्रकश्च शिलाजतु ।
इत्येतच्चूर्णितं कुर्यात्प्रत्येकं शाणषोडश ॥१८०॥
चतुःषष्टिः करञ्जस्य बीजचूर्णं प्रकल्पयेत् ।
चतुःषष्टिर्मृतं चाभ्रं मध्वाज्याभ्यां विलोडयेत् ॥१८१॥
स्निग्धभाण्डे धृतं खादेद्द्विनिष्कं सर्वकुष्ठनुत् ।
रसः कुष्ठकुठारोऽयं गलत्कुष्ठनिवारणः ॥१८२॥

कुष्ठकुठार रस निर्माणार्थ—पारद भस्म (रससिन्दूर), शुद्ध गन्धक, लोह भस्म, ताम्रभस्म, स्वच्छ गूगल, हरीतकी त्वक् चूर्ण, बहेड़े के त्वक् का चूर्ण, आमले का चूर्ण, महानिम्ब (बकायन के बीज), चित्रकमूल त्वक् चूर्ण, शुद्ध शिलाजीत—प्रत्येक १६ शाण (४ । ४ तोले) । सबको एकत्र करके चूर्ण करे और ६४ शाण (१६ तोले) *करञ्ज बीजों का चूर्ण और कृष्णाभ्रक की उत्तम भस्म ६४ शाण* (१६ तोले) । सबको यथाविधि मिलाकर एकीभूत करके घृत और मधु (विषम परिमाण में) आवश्यकता के अनुसार मिलाकर पिंड सा बना लेवे और चिकने पात्र में स्थापन करे । इस को ६ माशा की मात्रा से नित्य प्रयोग करे । यह कुष्ठ कुठार रस सम्पूर्ण कुष्ठों को नष्ट करता है विशेष करके गलित कुष्ठ को निवारण करता है ॥१७९—१८२॥

वक्तव्य—इसको तैयार करने के ४० दिन पश्चात् सेवन करे । अनुपानार्थ दोषानुसार व्यवस्था प्रयोग में लावे ।

अथ श्वेतकुष्ठादौ उदयादित्यो रस —

शुद्धं सूतं द्विधा गन्धं मर्द्यं कन्याद्रवैर्दिनम् ।
तद्गोलं पिठरीमध्ये ताम्रपात्रेण रोधयेत् ॥१८३॥
सूतकाद्द्विगुणेनैव शुद्धेनाधोमुखेन च ।
पार्श्वे भस्म निधायाथ पात्रोर्ध्वं गोमयं जलम् ॥१८४॥
किञ्चित्किञ्चित्प्रदातव्यं चुल्ल्यां यामद्वयं पचेत् ।

चण्डाग्निना तदुद्धृत्य स्वाङ्गशीतं विचूर्णयेत् ॥१८५॥
काष्ठोदुम्बरिकावह्नित्रिफलाराजवृक्षकम् ।
विडङ्गं वाकुचीबीजं क्वाथयेत्तेन भावयेत् ॥१८६॥
दिनैकमुदयादित्यो रसो देयो द्विगुञ्जकः ।
विचर्चिकां दद्रुकुष्ठं वातरक्तं च नाशयेत् ॥१८७॥
अनुपानं च कर्त्तव्यं वाकुचीफलचूर्णकम् ।
खदिरस्य कषायेण समेन परिपाचितम् ॥१८८॥
त्रिशाणं तद्वा क्षीरैः क्वाथैर्वा त्रैफलैः पिबेत् ।
त्रिदिनान्ते भवेत्स्फोटः सप्ताहाद्वा किलासके ॥१८९॥
नीलीं गुञ्जां च कासीसं धत्तूरं हंसपादिकाम् ।
सूर्यभक्तां च चाङ्गेरीं पिष्ट्वा मूलात्प्रलेपयेत् ॥१९०॥
स्फोटस्थानप्रशान्त्यर्थं सप्तरात्रं पुनः पुनः ।
श्वेतकुष्ठं निहन्त्याशु साध्यासाध्यं न संशयः ॥१९१॥
अपरः श्वित्रलेपोऽपि कथ्यतेऽत्र भिषग्वरैः ।
गुञ्जाफलाग्निचूर्णं च लेपितं श्वेतकुष्ठनुत् ॥१९२॥
शिलापामार्गभस्मापि लिप्तं श्वित्रं विनाशयेत् ।

उदयादित्य रस निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद १ तोला, विशुद्ध गन्धक २ तोला, दोनों की कज्जली करके घीकुआर के रस में दिन भर मर्दन करे । जब गोला बन जाये तब इसको हाडी में रक्खे और गोले को शुद्ध ताम्बे के कटोरे से ढक देवे । पारद से द्विगुण मान का ताम्रपात्र होना चाहिये । हाडी और ताम्रपात्र की सन्धि बन्द करके सन्धि स्थान को भस्म (राख) से ढक देवे । हांडी के मुख पर सीधे मुख का मृत्पात्र रक्खे और सन्धि बन्धन करके पात्र के मध्य में गीला गोबर भर देवे और इस गोबर के ऊपर शीतल जल का सेचन करता रहे । इस यन्त्र को चूल्हे पर रखकर दो पहर की तीव्र अग्नि देवे । पुन यत्र के स्वाग शीतल होने पर यथाविधि यत्र भेदन करके हांडी के मध्य की औषध निकाल लेवे और इसे खरल में डालकर—कठूमर त्वक्, चीते की छाल, त्रिफला (हरीतकी, बहेडा, आमला), अमलतास का गूदा, वायविडंग, बावची के बीज—इन सबका (भावना विधि-जितना भाव्य पदार्थ हो, यह द्रव्य मिलित उतने ही परिमाण के लेकर चतुर्गुण जल देकर चतुर्थांशावशिष्ट) क्वाथ करके भावना देवे और एक दिन भर मर्दन करे । इस प्रकार सम्पन्न हुआ यह उदयादित्य रस दो रत्ती की मात्रा से प्रयुक्त किया हुआ विच-

र्चिका, दाद, कुष्ठ और वातरक्त—इनको नष्ट करता है। अनुपानार्थ—खैर की छाल के (अथवा निर्यास के) क्वाथ में क्वाथ के समान बावची के बीजों का चूर्ण डाल कर मन्दाग्नि से पाक करे। जब यह गाढ़ा हो जावे तब इस लेह में से ३ शाण (६ माशा) लेह को चाट कर ऊपर से गौ का दूध अथवा त्रिफले का क्वाथ पान करे। इस प्रकार तीन दिन सेवन करे। इसके प्रभाव से ४—७वें दिन के भीतर किलास (श्वेत कुष्ठ-फुलबहरी का भेद यह रक्ताभ होता है) कुष्ठ के स्थान पर स्फोट (छाले) उत्पन्न हो जाते हैं (छालों के परिपूर्ण होने पर इन में से जल स्राव करके वक्ष्यमाण औषधों का लेप लगावे) इन स्फोटों पर नीली (वसमा), घूंगची की मज्जा हीरा कासीस, धत्तूर पत्र, हसपदी, हुलहुल, चाङ्गेरी (खट्टी बूटी)—इन सबको समान भाग लेकर इन्ही में से किसी के स्वरस के साथ पीसकर सात दिन तक बार २ लेप करे। इस से स्फोट (छाले) शात हो जाते हैं तथा भयकर श्वेतकुष्ठ (फुलबहरी) नष्ट होता है। अन्यलेप—अथवा शिवत्रकुष्ठ को नाश करने के लिये घूगची के बीजों की मज्जा और चीते के पत्रों को पीसकर लेप करना कार्यसाधक होता है। अथवा मन शिला और ओंगा का क्षार समान भाग मिलाकर (काजी या निम्बू के रस से पीसकर) लेप करने से भी शिवत्रकुष्ठ नष्ट होता है ॥१८३—१९२॥

वक्तव्य—यह महौषध तीव्र प्रभावोत्पादक है। वैद्यभक्त तथा स्थिरप्रज्ञ रोगियों को ही इसका सेवन लाभदायक होगा। यदि समग्र शरीर में श्वेतकुष्ठ हो तब इस का प्रयोग न करे। कारण कि सम्पूर्ण शरीर पर छाले पड जाने से अत्यन्त कष्ट का होना अवश्यम्भावी है।

अथ सर्वेश्वरो रस —

शुद्धं सूतं चतुर्गन्धं पलं यामं विचूर्णयेत् ॥१९३॥
मृतताम्राभ्रलोहानां दरदस्य पलं पलम्।
सुवर्णं रजतं चैव प्रत्येकं दशनिष्ककम् ॥१९४॥
माषैकं मृतवज्रं च तालं शुद्धं पलद्वयम्।
जम्बीर[illegible] रसाभिः स्नुह्यर्कविषमुष्टिभिः ॥१९५॥
मर्द्यं [illegible]वैः प्रत्येकेन दिनं दिनम्।
एवं [illegible]दिनं मर्द्यं तद्गोलं वस्त्रवेष्टितम् ॥१९६॥
वालु[illegible]यन्त्रगं स्वेद्यं त्रिदिनं लघुवह्निना।
[illegible]य चूर्णयेच्छ्लक्ष्णं पलैकं योजयेद्विषम् ॥१९७॥
द्विपलं पिप्पलीचूर्णं मिश्रं सर्वेश्वरो रसः।
द्विगुञ्जो लिह्यते क्षौद्रैः सुप्तिमण्डलकुष्ठनुत् ॥१९८॥

बाकुची देवकाष्ठं च कर्षमात्रं सुचूर्णयेत् ।
लिहेदैरण्डतैलाक्तमनुपानं सुखावहम् ॥१९९॥

सर्वेश्वर रस निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद १ पल (४ तोले), विशुद्ध गन्धक ४ पल (१६ तोले)। दोनों की कज्जली करे। पुन —ताम्रभस्म एक पल, अभ्रकभस्म एक पल, लोहभस्म एक पल, स्वर्णभस्म दश निष्क (२॥ तोले), चांदीभस्म दश निष्क, हीरे की भस्म १ माशा, शुद्ध हरिताल (वर्किया) दो पल (८ तोले)। सब को यथाविधि पीसकर निम्बुरस, धत्तूररस, वासा स्वरस, थोहर का दूध, आक का दूध तथा कुचले के क्वाथ और कनेर की जड के छिलके के क्वाथ से एक २ दिन मर्दन करे। इस प्रकार सात दिन मर्दन करे और अंत में गोला बनावे। इस गोले को (चौतहे) वस्त्र में बांधकर वालुका यंत्र में तीन दिन स्वेदित करे। पुन स्वाग शीतल होने पर औषध को प्राप्त करके खरल में डाले और पीस लेवे। इस सुपिष्ट रस में शुद्ध मीठे तेलिये का चूर्ण ४ तोले तथा कालीपीपल का चूर्ण ८ तोले डालकर परस्पर मिला लेवे। मात्रा—२ गुञ्जा (दो रत्ती)। अनुपान—मधु (शहद)। गुण—सुप्तिकुष्ठ, मण्डल कुष्ठ (चकत्ते) का नाश होता है। अथवा—बाकुची के बीजों का चूर्ण और देवदारु का चूर्ण—दोनों को एक कर्ष (१ तोला) परिमित, एरण्ड तैल (२ तोला) से चाटना। इस अनुपान द्वारा प्रयुक्त करने से भी उक्त रोग नष्ट होते हैं ॥१९३—१९९॥

अथ स्वर्णक्षीरी रस —

हेमाह्वां पञ्चपलिकां क्षिप्त्वा तक्रघटे पचेत् ।
तक्रे जीर्णे समुद्धृत्य पुनः क्षीरघटे पचेत् ॥२००॥
क्षीरे जीर्णे समुद्धृत्य क्षालयित्वा विशोधयेत् ।
तच्चूर्णं पञ्चपलिकं मरिचानां पलद्वयम् ॥२०१॥
पलैकं मूर्च्छितं सूतमेकीकृत्य तु भक्षयेत् ।
निष्कैकं सुप्तिकुष्ठार्तः स्वर्णक्षीरीरसो ह[illegible] [२]०२॥

स्वर्णक्षीरी रस निर्माणार्थ—चोक पांच पल ([illegible] पात्र के [illegible] करता रहे। पाकार्थ—तक्र (मट्ठा, छाछ) एक घट (१६ सेर)। गो दूध १ घट ([illegible] शीतल)।

विधि —उत्तम क्रिमि रहित पीतवर्ण की चोक लेकर उ[illegible] चाकू से खुरच कर स्वच्छ करे। इस प्रकार सुसंस्कृत चोक के खडों को (कूटने [illegible] बिना स्वाभाविक खण्ड प्रयोग करे) तक्र पूर्ण घड़े में डालकर चूल्हे पर रख [illegible]-जितसाग्नि से पाक करे। जब तक्र सूख जावे तब चोक के टुकडों को निका[ल] कर दूसरे दुग्ध पूर्ण घडे में डाल कर उसी तरह पाक करे और पाकान्त में [illegible] स्विन्न और सुशोधित खण्डों को जल से प्रक्षालन करके धूप में सुखा लेवे। इस प्रकार प्राप्त

किये हुए चोक के पांच पल चूर्ण में काली मिरचों का चूर्ण ८ तोला और रस सिन्दूर ४ तोला सूक्ष्म पीस कर सब को परस्पर मिला लेवे। मात्रा—१ नष्क (३ माशा)। गुण—सुप्तिकुष्ठ नाशक (इस में त्वचा का शीतोष्ण तथा सुख दुःख का ज्ञान नष्ट हो जाता है)।

अथ मेहवद्धो रस —

भस्मसूतं मृतं कान्तं मुण्डभस्म शिलाजतु।
शुद्धं ताप्यं शिला व्योपं त्रिफलां कोलबीजकम् ॥२०३॥
कपित्थं रजनीचूर्णं भृङ्गराजेन भावयेत्।
त्रिंशद्वारं विशोष्याथ मधुयुक्तं लिहेत्सदा ॥२०४॥
निष्कमात्रो हरेन्मेहान्मेहबद्धो रसो महान्।
महानिम्बस्य बीजानि पिष्ट्वा पट्सम्मितानि च ॥२०५॥
पलतण्डुलतोयेन घृतनिष्कद्वयेन च।
एकीकृत्य पिवेच्चानु हन्ति मेहं चिरन्तनम् ॥२०६॥

मेहवद्ध रस निर्माणार्थ—पारदभस्म, कान्त लोह भस्म, मुण्डलोह भस्म (यह साधारण लोह होता है। इसके स्थान पर मण्डूर भी व्यवहृत हो सकता है), शिलाजीत (सूर्यतापी), स्वर्णमाक्षिक भस्म त्रिफला (हरीतकी, विभीतक, आमलकी), अङ्कोल (ढेरा के बीज-यह मालाबार में सर्वत्र होता है) बीज, कैथ के फल का गूदा, हलदी—प्रत्येक औषध समभाग ग्रहण करके उत्तम खरल में पीसे और भागरे के स्वरस से ३० भावनायें देकर सुखाकर रख लेवे। मात्रा—१ निष्क (३ माशे)। वर्तमान में ४—८ रत्ती तक प्रयोग करे। साधारण अनुपान—मधु। पुराने प्रमेह को दूर करने के लिये बकायन के ६ बीजों की मज्जा को १ पल तण्डुलोदक से पीसकर ६ माशे गोघृत मिलाकर, मधु सहित रस चाटने के उपरान्त पान करने से चिरकाल से उत्पन्न प्रमेह रोग नष्ट होता है ॥२०३—२०६॥

वक्तव्य—यह रस प्रमेह नाश करने के लिये उत्तम है। प्राय वात पैत्तिक प्रमेहो में व्यवहार होता है। मधुमेह की प्रारम्भिक अवस्था में भी लाभ करता है। भावना तथा तण्डुलोदक की विधि इसी खण्ड के दूसरे अध्याय में देखें।

महावह्निरस.—

चतुःसूतस्य गन्धाष्टौ रजनी त्रिफला शिवा।
प्रत्येकं च द्विभागं स्यात्त्रिवृज्जैपालचित्रकम् ॥२०७॥
प्रत्येकं च त्रिभागं स्यात्त्र्यूषणं दन्तिजीरके।
प्रत्येकमष्टभागं स्यादेकीकृत्य विचूर्णयेत् ॥२०८॥

जयन्तीस्नुक्पयोभृङ्गवह्निवातारितैलकैः ।
प्रत्येकेन क्रमाद्भाव्यं सप्तवारं पृथक् पृथक् ॥२०९॥
महावह्निरसो नाम निष्कमुष्णजलैः पिबेत् ।
विरेचनं भवेत्तेन तक्रभक्तं ससैन्धवम् ॥२१०॥
दिनान्ते दापयेत्पथ्यं वर्जयेच्छीतलं जलम् ।
सर्वोदरहरः प्रोक्तो मूढवातहरः परः ॥२११॥

महावह्नि रस निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद ४ तोला, विशुद्ध गन्धक ८ तोला, हलदी का चूर्ण, हरीड का चूर्ण, बहेडे का चूर्ण, आमले का चूर्ण, काली हरड का चूर्ण—प्रत्येक २—२ तोला। निशोत का चूर्ण, शुद्ध जमालगोटा, चीते की छाल का चूर्ण—प्रत्येक ३—३ तोला। काली मिरच का चूर्ण, काली पीपल का चूर्ण, सोंठ का चूर्ण, जमालगोटे की जड का चूर्ण, काले जीरे का चूर्ण—प्रत्येक ८—८ तोला। प्रथम कज्जली करे और अवशिष्ट वस्तु समुदाय को कज्जली वाले खरल में डाल देवे और क्रम से सात २ भावना देवे। भावनार्थ—जयन्ती स्वरस, थोहर का दूध, भागरे का रस, चीते के पत्रों का रस (अथवा मूलत्वक् क्वाथ), एरण्ड तैल। मात्रा—एक निष्क (३ माशे)। अनुपान—उष्णोदक (गरम जल)। प्रभाव—इसके प्रयोग से विरेचन होते हैं। पथ्य—सैन्धा नमक मिले हुए तक्र के साथ भात देवे। पथ्य का समय—विरेचन हो जाने के पश्चात् सायकाल पथ्य प्रदान करे। परित्याग—शीतल जलपान परित्याग कर देवे। गुण— सम्पूर्ण उदर रोग (जो विरेचन से साध्य होने वाले हों) तथा मूढ वात रोग नष्ट होते हैं ॥२०७—२११॥

वक्तव्य—जयती आदि द्रव्यों की भावना के पश्चात् जब साध्य पदार्थ पूर्ण शुष्क हो जावे तब एरण्ड तैल की भावना देवे। अन्यथा जलीयांश रहने की अवस्था में तैल के मिलाने से औषध हीन वीर्य्य और शीघ्र विकृत हो जाने वाली बनेगी।

अथ गुल्मप्लीहादौ विद्याधरो रस—

गन्धकं तालकं ताप्यं मृतताम्रं मनःशिलाम् ।
शुद्धं सूतं च तुल्यांशं मर्दयेद्भावयेद्दिनम् ॥२१२॥
पिप्पल्यास्तु कषायेण वज्रीक्षीरेण भावयेत् ।
निष्कार्धं भक्षयेत्क्षौद्रैर्गुल्मं प्लीहादिकं जयेत् ॥२१३॥
रसो विद्याधरो नाम गोमूत्रं च पिबेदनु ।

विद्याधर रस निर्माणार्थ—विशुद्ध गन्धक, विशुद्ध हरिताल (वर्किया), स्वर्ण माक्षिक भस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध पारद। प्रत्येक समभाग। थोहर के

दूध से एक दिन मर्दन करे तथा एक दिन काली पीपल के क्वाथ से मर्दन करके सुखा लेवे । मात्रा—½ निष्क (१॥ माशा) मधु से मिलाकर । अनुपान—गोमूत्र (२—४ तोला तक) । गुण—गुल्म (गोला), प्लीहा वृद्धि एवं अन्य उदर रोग नष्ट होते हैं ॥२१२—२१३॥

वक्तव्य—प्रथम पारद गंधक की कज्जली करे । पुन हरिताल और मनःशिला को एक खरल में चन्द्रिका रहित होने पर्यंत पेषण करे । तत्पश्चात् अवशिष्ट औषधों को मिलाकर भावना देवे ।

त्रिनेत्र रस—

टङ्कणं हारिणं शृङ्गं स्वर्णं शुल्वं मृतं रसम् ॥२१४॥
दिनैकमार्द्रकद्रावैर्मर्द्यं रुद्ध्वा पुटे पचेत् ।
त्रिनेत्राख्यरसस्यैकं माषं मध्वाज्यकैर्लिहेत् ॥२१५॥
सैन्धवं जीरकं हिङ्गु मध्वाज्याभ्यां लिहेदनु ।
पक्तिशूलहरः ख्यातो मासमात्रान्न संशयः ॥२१६॥

त्रिनेत्र रस निर्माणार्थ—सुहागा (कच्चा), हिरन का सींग (शुद्ध और चणकाकृति), स्वर्णभस्म, ताम्रभस्म, पारदभस्म । प्रत्येक समभाग । सबको खरल में डालकर पेषण करे और अदरक के स्वरस से एकदिन पर्यन्त मर्दन करके शराव सपुट में बन्द करे और यथानियम सन्धिमुद्रा करके गजपुट की अग्नि से पकावे । स्वागशीतल होने पर यथाविधान सम्पुट को ग्रहण करके औषध को प्राप्त करे और पीसकर रख लेवे । मात्रा—१ माशा (२—रत्ती) । शहद और घृत मिलाकर चाट लेवे । ऊपर से सैन्धव, काला जीरा, भुनी हुई हींग (मिश्रित १ माशा) घृत और मधु से मिलाकर चाटे । एक मास पर्यंत ऐसा करे । गुण—पक्तिशूल (परिणाम शूल) नष्ट होता है ॥२१४—२१६॥

वक्तव्य—परिणाम शूल दोष भेद से तीन प्रकार का है । यथा—वातिक परिणाम शूल—भोजन पच जाने पर होता है । पित्तज परिणाम शूल—भोजन पचने के समय पर होता है । कफज परिणाम शूल—भोजन करने के तत्काल पश्चात् होता है । परिणाम शूल तथा हृच्छूल के लिये यह उत्तम औषध है ।

शूलगज केशरी रस—

शुद्धं सूतं द्विधा गन्धं यामैकं मर्दयेद् दृढम् ।
द्वयोस्तुल्यं शुद्धताम्रं संपुटे तन्निरोधयेत् ॥२१७॥
ऊर्ध्वाधो लवणं दत्त्वा मृद्भाण्डे धारयेद्भिषक् ।
ततो गजपुटे पक्त्वा स्वाङ्गशीत समुद्धरेत् ॥२१८॥
सम्पुटं चूर्णयेत्सूक्ष्मं पर्णखण्डे द्विगुञ्जकम् ।

भक्षयेत्सर्वशूलार्तो हिङ्गु शुण्ठी च जीरकम् ॥२१९॥
वचामरिचजं चूर्णं कर्षमुष्णजलैः पिबेत् ।
असाध्यं नाशयेच्छूलं रसोऽयं गजकेसरी ॥२२०॥

शूलगज केसरी रस निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद १ तोला, विशुद्ध गन्धक २ तोला । दोनों की यथाविधि कज्जली कर लेवे (इस कज्जली को निम्बु के स्वरस से मर्दन करके घनपङ्क सा बनाकर) ३ तोले परिमित शुद्ध ताम्र के पत्रों पर इसका लेप करके एक कटोरे में ३ तोला लवण नीचे रक्खे और इस पर कज्जली लिप्त पत्रों को रख कर ऊपर से ३ तोले लवण के साथ इन्हें ढक देवे । पुन इसे दूसरे कसोरे से बन्द करके गजपुट की आंच से पकावे । स्वाङ्ग शीतल होने पर लवण के साथ ही चूर्ण कर लेवे । मात्रा—२ रत्ती । अनुपान—पर्ण पत्र रस। गुण—समस्त शूल (उदरोद्भव शूल), असाध्य और भयकर शूल रोग को नष्ट करने के लिये हींग, सोंठ, कृष्णजीरक, वच का चूर्ण और मरिच का चूर्ण—१ कर्ष, उष्णोदक ४ कर्ष के साथ पान करे ॥२१७—२२०॥

वक्तव्य—इस उक्त विधि से प्रस्तुत शूलगजकेसरी रस आमाशयोद्भव शूल पर उत्तम गुण करता है । दो रत्ती की मात्रा से अधिक तथा वचादि के अनुपान से प्रयुक्त किया हुआ यह वमन लाता है । वमन होने से आमाशय जनित शूल शीघ्र नष्ट होता है ।

दूसरी विधि —ऊपर के योग में जहा ताम्र पात्रों में कज्जली के गोले को बन्द किया गया था वहा प्राय कज्जली के बराबर उत्तम ताम्रभस्म डालकर इसे निम्बुरस से मर्दन किया जाता है । इस प्रकार इन तीनों का गोला बनाकर मिट्टी के शराव में नीचे ऊपर लवण देकर इसे गजपुट (३—४ सेर उपलों) से पाक किया जाता है । लवण का परिमाण ताम्र और कज्जली के समान होता है। पाकानन्तर सलवण चूर्ण कर लिया जाता है । सुपाक में सिद्धौषध का वर्ण कृष्ण होता है । अधिक पाक में धूसर हो जाता है । इस विधान से प्रस्तुत यह रस वमनादि दोषों से सर्वथा मुक्त होता है और शूल रोग की प्राय समस्त अवस्थाओं में २—४ रत्ती तक नि शङ्क प्रयुक्त होकर शूल रोग को नष्ट करता है । वायु और श्लेष्म जनित शूल के लिये उत्तम औषध है ।

अथ अग्निमान्द्यादौ अग्नितुण्डीवटीरस —

शुद्धं सूतं विषं गन्धमजमोदां फलत्रयम् ।
स्वर्जिक्षारं यवक्षारं वह्निसैन्धवजीरकम् ॥२२१॥
सौवर्चलं विडङ्गानि सामुद्रं त्र्यूषणं समम् ।
विषमुष्टिं सर्वतुल्यां जम्बीराम्लेन मर्दयेत् ॥२२२॥
मरिचाभां वटीं खादेद्वह्निमान्द्यप्रशान्तये ।

अग्नितुण्डी वटी निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद, विशुद्ध गन्धक, शुद्ध मीठा तेलिया, अजमोद का चूर्ण, हरीड का चूर्ण, बहेड़े का चूर्ण, आमले का चूर्ण, सज्जीखार, जौंखार, चीते की जड की छाल का चूर्ण, सैन्धा नमक, कालाजीरा, सौंचल नमक, वायविडग का चूर्ण, सामुद्र लवण, काली पीपल का चूर्ण, काली मिरच का चूर्ण, सोंठ का चूर्ण—प्रत्येक सम भाग। विषमुष्टी (शुद्ध कुचिले का) चूर्ण सब के समान। पारद गन्धक की कज्जली करे और शेष सब औषधें कज्जली वाले खरल में डाल कर निम्बु के स्वरस से मर्दन करे। पुन. मरिचाभ (१-१ रत्ती) गोलियां बनाकर सुखा लेवे। मात्रा—१ रत्ती। भोजन के उपरांत। उष्णोदक से। गुण—मन्दाग्नि रोग और वात विकार नष्ट होते हैं ॥२२१—२२२॥

अथ अजीर्णकण्टको रस —

शुद्धसूतं विषं गन्धं समं सर्वं विचूर्णयेत् ॥२२३॥
मरिचं सर्वतुल्यांशं कण्टकार्याः फलद्रवैः।
मर्दयेद्भावयेत्सर्वमेकविंशतिवारकम् ॥२२४॥
वटीं गुञ्जात्रयं खादेत्सर्वाजीर्णप्रशान्तये।
अजीर्णकण्टकः सोऽयं रसो हन्ति विषूचिकाम् ॥२२५॥

अजीर्ण कण्टक रस निर्माणार्थ—शुद्ध पारद, सुशोधित मीठा तेलिया, शुद्ध गन्धक—प्रत्येक सम भाग (१—१ तोला)। कालीमिरच का चूर्ण ३ तोला।

विधि—पारद गन्ध की कज्जली बनावे और विष को फेनोद्गम पर्यंत मर्दन करे। पुन सबको एक खरल में डालकर छोटी कंटकारी के फलों के रस से मर्दन करे और भावना देकर सुखाता जावे। इस प्रकार २१ भावना देवे और सुखाकर रख लेवे। मात्रा—तीन रत्ती (व्यावहारिक मात्रा—१—२ रत्ती)। गुण—सब प्रकार के अजीर्ण (भोजन का भली प्रकार पाक न होना) तथा विसूचिका (हैजा) रोग दूर होता है। अनुपानार्थ—दोष भेदानुसार अजीर्ण में उष्णोदक, आर्द्रक रस तथा मधु से प्रयोग करे। विसूचिकार्थ लवंगाम्बु से प्रयोग करे ॥२२३—२२५॥

मन्थानभैरवो रस —

मृतं सूतं मृतं ताम्रं हिङ्गु पुष्करमूलकम्।
सैन्धवं गन्धकं तालं कटुकीं चूर्णयेत्समम् ॥२२६॥
पुनर्नवादेवदालीनिर्गुण्डीतण्डुलीयकैः।
तिक्तकोषातकीद्रावैर्दिनैकं मर्दयेद्दृढम् ॥२२७॥
माषमात्रं लिहेत्क्षौद्रे रसं मन्थानभैरवम्।
कफरोगप्रशान्त्यर्थं निम्बक्वाथं पिबेदनु ॥२२८॥

मन्थान भैरव रस निर्माणार्थ—पारद भस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध हींग (घृतभृष्ट),

पोहकर मूल का चूर्ण, सैन्धा नमक, शुद्ध गधक, शुद्ध हरिताल (वर्किया), कौड—प्रत्येक समभाग ग्रहण करे और उत्तम खरल में डालकर यथाक्रम—पुनर्नवा (इट-सिट), देवदाली (घघर वेल), निर्गुण्डी (सम्हालू), चौलाई, कड़वी तोरी इनके स्वरस (अथवा अभाव में क्वाथ) से एक २ दिन भावना देकर सुखा लेवे । मात्रा—१ माशा (वर्तमान में—२—४ रत्ती तक देवे) । अनुपान—मधु (शहद) मिलाकर चाटे और ऊपर से नीम के छिलके का क्वाथ पान करे । गुण—इस से कफ एवं कफजनित रोग नष्ट होते हैं ॥२२६—२२८॥

अथ वातनाशनो रस —

सूतहाटकवज्राणि ताम्रं लोहं च माक्षिकम् ।
तालं नीलाञ्जनं तुत्थमहिफेनं समांशकम् ॥२२९॥
पञ्चानां लवणानां च भागमेकं विमर्दयेत् ।
वज्रीक्षीरैर्दिनैकं तु रुद्ध्वाधो भूधरे पचेत् ॥२३०॥
माषैकमार्द्रकद्रावैर्लेहयेद्वातनाशनम् ।
पिप्पलीमूलजक्वाथं सकृष्णमनुपाययेत् ॥२३१॥
सर्वान्वातविकारांस्तु निहन्त्याक्षेपकादिकान् ।

वातनाशन रस निर्माणार्थ—पारदभस्म (रससिन्दूर), स्वर्णभस्म, हीरक भस्म, ताम्रभस्म, लोहभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध हरिताल (वर्किया), शुद्ध काला सुरमा, तुत्थभस्म, अफीम, सैन्धव लवण, सौवर्चल लवण, विड लवण, सामुद्र लवण, रोमक लवण—प्रत्येक समान भाग ।

विधि —सब वस्तुओं को यथामान ग्रहण करके खरल में डालकर सूक्ष्म पीसे और थोहर के दूध से भावना देकर एक दिन मर्दन करके गोला बनाकर शराव सपुट में यथाविधि बन्द करके भूधरयत्र में पकावे । स्वांग शीतल होने पर सुसिद्ध रसौषध को ग्रहण करके पीसे और उत्तम पात्र में स्थापन करे । मात्रा—१ माशा । (वर्तमान में १—२ रत्ती तक देवे) । अनुपान—मधु मिलाकर औषध को चाट लेवे और ऊपर से अदरक का रस (½ तोला) पान करे अथवा पीपली मूल के कषाय में कालीपीपल का प्रक्षेप देकर पान करे । इससे आक्षेपकादि सम्पूर्ण वात विकार नष्ट होते हैं ॥२२९—२३१॥

वक्तव्य—यही रस अन्य पुस्तकों में उन्माद की शान्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है । यथा—

सूतायस्ताम्रमभ्रं च मृतं स्वर्णं समं समम् ।
सूतपादं मृतं वज्रं ताल गन्ध मनःशिलाम् ॥
तुत्थं नीलाञ्जन शुद्धमहिफेनं समं रसात् ।
पञ्चानां लवणानां च प्रतिभागं रसोन्मितम् ॥

चित्रकैर्भृङ्गराजैश्च वज्रीदुग्धैश्च मर्दयेत्।
दिनान्ते गोलकं कृत्वा रुद्ध्वा गजपुटे पचेत्॥
महाभूताङ्कुशो नाम रसो गुञ्जाद्वयं लिहेत्।
आर्द्रकस्य रसैरेव भूतोन्मादप्रशान्तये।
पिप्पल्याऽक्त पिबेच्चानु दशमूलं कषायकम्॥

भूधरयंत्र—

वालुकागूढसर्वाङ्गा गर्ते मूषां रसान्विताम्।
दीप्तोपलैः संवृणुयाद्यन्त्रं तद्भूधराह्वयम्॥

यह रस न केवल वातविकारों को दूर करता है प्रत्युत समस्त कफ रोग तथा वातिक कास के लिये अत्युत्तम औषध है।

अथ सन्निपातादौ कनकसुन्दरो रस—

कनकस्याष्टशाणाः स्युः सूतो द्वादशभिर्मतः ॥२३२॥
गन्धोऽपि द्वादशप्रोक्तस्ताम्रं शाणद्वयोन्मितम्।
अभ्रकं स्याच्चतुःशाणं माक्षिकं च द्विशाणिकम् ॥२३३॥
वङ्गो द्विशाणः सौवीरं त्रिशाणं लोहमष्टकम्।
विषं त्रिशाणिकं कृत्वा लाङ्गली पलसम्मिता ॥२३४॥
मर्दयेद्दिनमेकं तु रसैरम्लफलोद्भवैः।
दद्यान्मृदुपुटं वह्नौ ततः सूक्ष्मं विचूर्णयेत् ॥२३५॥
माषमात्रो रसो देयः संनिपाते सुदारुणे।
आर्द्रकस्वरसेनैव रसोनस्य रसेन वा ॥२३६॥
किलासं सर्वकुष्ठानि विसर्पं च भगन्दरम्।
ज्वरं गरमजीर्णं च जयेद्रोगहरो रसः ॥२३७॥

कनकसुन्दर रस निर्माणार्थ—कनक (सुवर्ण भस्म) ८ शाण (२ तोला), सूत (पारद भस्म) अथवा शुद्ध १२ शाण (३ तोला), शुद्ध गन्धक १२ शाण (३ तोला), ताम्र भस्म २ शाण (६ मासे), अभ्रक भस्म ४ शाण (१ तोला), स्वर्णमाक्षिक भस्म २ शाण (६ मासे), वंगभस्म २ शाण (६ मासे), शुद्ध सौवीराञ्जन (श्वेत सुरमा) ३ शाण (९ मासे), लोहभस्म ८ शाण (२ तोले), शुद्ध मीठा तेलिया ३ शाण (९ मासे), लागली (कलिहारी) १ पल (४ तोले)।

विधि —उपरोक्त औषधों को यथामान ग्रहण करके स्वच्छ सुदृढ खरल में पेषण करे। पुनः बिजोरा निम्बु अथवा जम्बीरी आदि अम्लरस फलों के रस में १ दिन मर्दन करे और गोला बना लेवे। इस गोले को यथाविधि सपुट में

बन्द करके (लघु गजपुट की) अग्नि का पुट देवे । स्वाग शीतल होने पर यथाविधि सम्पुट भेदन करके पक्वौषध को निकालकर सूक्ष्म पीसकर रख लेवे । मात्रा—एक माशा (वर्तमान में १—३ रत्ती व्यवहार करे) । अनुपान—अदरक अथवा लहसन के रस से प्रयोग करे । गुण—भयकर सन्निपात, किलासकुष्ठ तथा अन्य कुष्ठ, विसर्परोग, भगन्दर रोग, ज्वर, गर (सयोगज विष), अजीर्णरोग—यह सब नष्ट होते हैं ॥२३२—२३७॥

सन्निपातभैरवो रस —

रसो गन्धस्त्रिकर्षः स्यात् कुर्यात्कज्जलिकां तयोः ।
ताराभ्रताम्रवङ्गाहिसाराश्चैकैककार्षिकाः ॥२३८॥
शिग्रुज्वालामुखीशुण्ठीबिल्वेभ्यस्तण्डुलीयकात् ।
प्रत्येकं स्वरसैः कुर्याद्यामैकैकं विमर्दनम् ॥२३९॥
कृत्वा गोलं वृतं वस्त्रे लवणापूरिते न्यसेत् ।
काचभाण्डे ततः स्थाल्यां काचकूपीं निवेशयेत् ॥२४०॥
वालुकाभिः प्रपूर्याथ वह्निर्यामद्वयं भवेत् ।
तत उद्धृत्य तं गोलं चूर्णयित्वा विमिश्रयेत् ॥२४१॥
प्रवालचूर्णकर्षेण शाणमात्रविषेण च ।
कृष्णसर्पस्य गरलैर्द्विवेलं भावयेत्तथा ॥२४२॥
तगर मुशली मांसी हेमाह्वा वेतसः कणा ।
नीलिनी पत्रकं चैला चित्रकश्च कुठेरकः ॥२४३॥
शतपुष्पा देवदाली धत्तूरागस्त्यमुण्डिकाः ।
मधूकजातीमदनरसैरेषां विमर्दयेत् ॥२४४॥
प्रत्येकमेकवेलं च ततः संशोष्य धारयेत् ।
बीजपूरार्द्रकद्रावैर्मरिचैः षोडशोन्मितैः ॥२४५॥
रसो द्विगुञ्जाप्रमितः संनिपातेषु दीयते ।
प्रसिद्धोऽयं रसो नाम्ना संनिपातस्य भैरवः ॥२४६॥

सन्निपात भैरव रस निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद १॥ तोला, विशुद्ध गन्धक १॥ तोला । स्वच्छ खरल में दोनों की कज्जली करे और ताम्र भस्म १ तोला, चांदी की भस्म १ तोला, पीतल भस्म १ तोला, वग भस्म १ तोला, नाग (सीसा) भस्म १ तोला, सार (लोह) भस्म १ तोला ।

विधि —प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली करे और पश्चात् अन्य

भस्में कज्जली के खरल में डालकर सोहांजने की छाल का रस, ज्वालामुखी (वृश्चिकाली बूटी) स्वरस, सोंठ के क्वाथ से विल्वमूल त्वक् कपाय से तथा चौलाई के पत्रों के स्वरस से एक २ दिन भावना देकर गोला वना सुखा लेवे। इस गोले को काचपात्र (कांच निर्मित कसोरों) में अथवा पाक योग्य शीशी में डालकर यथाविधान मृदावलिप्त करके सूखने पर वालुका यंत्र में रखकर दो पहर की अग्नि देवे। स्वांगशीतल होने पर यथाविधि औषध प्राप्त करके खरल में डालकर पीसे । पुन. इस सिद्ध रस में प्रवाल भस्म १ तोला, मीठा तेलिया १ शाण तथा सर्पविप (काले साप का जहर) १ माशा। सव को मिलाकर उपरोक्त शिग्रु ज्वालामुखी आदि द्रव्यों के स्वरस से (मिलित से) दो भावनायें देवे। और तगर, मुसली, जटामासी, चोक, जलवेतस, कालीपीपल, नीलिनी (वरतमा), तेजपत्र, छोटी इलायची, चीते की छाल, तुलसी, सौंफ, घघरवेल, धत्तूरा, अगस्तिया, गोरख मुण्डी, महुआ, चमेली, मदन (राडा)— इन सबके स्वरस अथवा क्वाथ से पृथक् २ एक २ भावना देकर सुखाकर रख लेवे। मात्रा—२ रत्ती (½—१ रत्ती) व्यवहार करे। अनुपान—वीजपूर (विजोरे निम्बु का रस १ तोला), अदरक का रस (१ तोला), मरिच चूर्ण १ माशा। औषध को भक्षण करके ऊपर से उपरोक्त अनुपान प्रयोग करे। प्रयोग और गुण—सन्निपातों में प्रयोग करे। इस से सन्निपात रोग दूर होता है । सन्निपात को दूर करने के लिये यह सन्निपात भैरव प्रसिद्ध रस है ॥२३८—२४६॥

वक्तव्य—वालुका यंत्र के लिये मिट्टी की एक सुदृढ़ हाडी ली जाती है। उसके तल भाग में एक रुपया भर के आकार का छिद्र किया जाता है। हांडी के वाह्य प्रदेश को कपड मिट्टी से मजबूत वना लेना चाहिये। हाडी के इस कृत्रिम छिद्र पर श्वेताभ्रक का एक टुकड़ा रख कर उसके ऊपर औषध पूरित काचकूपी रख देवे और उसके इतस्तत शुष्क और चालनी से छना हुआ वालु शीशी के कण्ठ प्रदेश तक भर देवे। इस प्रकार निर्मित यंत्र को वालुका यंत्र कहते हैं। यह कूपी में पकाने योग्य रसों के लिये अत्युत्तम साधन है।

ग्रहणीकपाटो रस —

तारमौक्तिकहेमानि सारश्चैकैकभागकाः ।
द्विभागो गन्धकः सूतस्त्रिभागो मर्दयेदिमान् ॥२४७॥
कपित्थस्वरसैर्गाढं मृगशृङ्गे ततः क्षिपेत् ।
पुटेन्मध्यपुटेनैव तत उद्धृत्य मर्दयेत् ॥२४८॥
वलारसैः सप्तवेलमपामार्गरसैस्त्रिधा ।
लोध्रप्रतिविषामुस्तधातकीन्द्रयवामृताः ॥२४९॥
प्रत्येकमेषां स्वरसैर्भावना स्यात्त्रिधा त्रिधा ।

माषमात्रो रसो देयो मधुना मरिचैस्तथा ॥२५०॥
हन्यात्सर्वानतीसारान्ग्रहणीं सर्वजामपि ।
कपाटो ग्रहणीरोगे रसोऽयं वह्निदीपनः ॥२५१॥

ग्रहणी कपाट रस निर्माणार्थ—चान्दी की भस्म, मोतियों की भस्म, सोने की भस्म, लोह भस्म—१ । १ तोला । शुद्ध गन्धक २ तोला, शुद्ध पारद ३ तोला । प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली करे और शेषद्रव्य मिलाकर कैथ के फल के रस से मर्दन करे । सूखने पर इस औषध को हिरण के सींग के मध्य भाग में (सींग को वरमे से सछिद्र करके) भर देवे । इस पर मिट्टी लगाकर इसे मध्यपुट में फूंक लेवे । पुन यथाविधि औषध ग्रहण करके खरल में डालकर खरैटी के स्वरस की सात भावना देवे और अपामार्ग (ओंगा) के स्वरस से तीन भावना देवे तथा लोध्र (पठानी लोध), अतीस, नागरमोथा, धाय के फूल, इन्द्रजौं, गिलोय—इनके प्रत्येक के स्वरस अथवा क्वाथ से ३ । ३ भावना देकर सुखा लेवे । मात्रा—१ माशा (वर्तमान में २—४ रत्ती तक) । अनुपान—शहद और काली मिरच के चूर्ण के साथ चाट लेवे । गुण—सर्व प्रकार के अतीसार, त्रिदोषोद्भव संग्रहणी को नाश करता है तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करता है ॥२४७—२५१॥

ग्रहणी वज्रकपाट रस—

मृतसूताभ्रकं गन्धं यवक्षारं सटङ्कणम् ।
अग्निमन्थं वचां कुर्यात्सूततुल्यानिमान्सुधीः ॥२५२॥
ततो जयन्तीजम्बीरभृङ्गद्रावैर्विमर्दयेत् ।
त्रिवासरं ततो गोलं कृत्वा संशोष्य धारयेत् ॥२५३॥
लोहपात्रे शरावं च दत्त्वोपरि विमुद्रयेत् ।
अधो वह्निं शनैः कुर्याद्यामार्धं तत उद्धरेत् ॥२५४॥
रसतुल्यां प्रतिविषां दद्यान्मोचरसं तथा ।
कपित्थविजयाद्रावैर्भावयेत्सप्तधा पृथक् ॥२५५॥
धातकीन्द्रयवा मुस्तां लोध्रं बिल्वं गुडूचिका ।
एतद्रसैर्भावयित्वा वेलैकैकं च शोषयेत् ॥२५६॥
रसं वज्रकपाटाख्य शाणैकं मधुना लिहेत् ।
वह्निं शुण्ठी विडं बिल्वं लवणं चूर्णयेत्समम् ॥२५७॥
पिबेदुष्णाम्बुना चानु सर्वजां ग्रहणीं जयेत् ।

१—'रास्ना' इत्यपि पाठ ।

ग्रहणी वज्रकपाट रस निर्माणार्थ—पारदभस्म १ तोला, अभ्रकभस्म १ तोला, शुद्ध गंधक १ तोला, यवक्षार १ तोला, भुना सुहागा १ तोला, अरनी त्वक् चूर्ण १ तोला, वच का चूर्ण १ तोला।

विधि—पारद गन्धक की कज्जली करके अवशिष्ट द्रव्य इसमें डालकर इस जयन्ती और भृंगराज के रस से तीन २ दिन मर्दन करके गोला बना लेवे। गोले को सुखाकर लोह निर्मित्र पात्रों के शराव संपुट में बन्द करके यथाविधि सन्धि बधन करके चूल्हे पर रखकर वालुका यंत्रविधि से अग्नि देवे। आधा पहर अग्नि देने के पश्चात् स्वाग शीतल होने पर संपुट भेदन करके औषध प्राप्त करके खरल में पीसे और सिद्ध रस के बराबर अतीस तथा मोचरस (शाल्मली निर्यास) का चूर्ण डाले और कैंथ के फल के रस तथा भाग के रस से पृथक् २ सात २ भावना देवे तथा धाय के फूल, इन्द्रजौं, नागरमोथा, पठानीलोध, बेलगिरी, गिलोय—इनके पृथक् २ रस से एक २ भावना देकर सुखा लेवे। मात्रा—१ शाण (३ माशा, वर्त्तमान में ४—८ रत्ती तक) व्यवहार करे। शहद से चाट कर ऊपर से—चीते की छाल का चूर्ण, सोंठ का चूर्ण, विडलवण, बेलगिरी, सैंधा नमक (समान भाग लेकर ३—६ माशा तक) उष्णोदक से पान करे। गुण—तीनों दोषों से होने वाला संग्रहणी रोग दूर होता है। (तथा अन्य अतीसार और आन्त्रदौर्बल्य नष्ट होते हैं ॥२५२—२५७॥

अथ वाजीकरणो मदनकामदेवो रस —

तारं वज्रं सुवर्णं च ताम्रं सूतकगन्धकम् ॥२५८॥
लोहं क्रमविवृद्धानि कुर्यादेतानि मात्रया।
विमर्द्य कन्यकाद्रावैर्न्यसेत्काचमये घटे ॥२५९॥
विमुद्रां पिठरीमध्ये धारयेत्सैन्धवावृते।
पिठरी मुद्रयेत्सम्यक् ततश्चुल्ल्यां निवेशयेत् ॥२६०॥
वह्निं शनैः शनैः कुर्याद्दिनैकं तत उद्धरेत्।
स्वाङ्गशीतं च संचूर्ण्य भावयेदर्कदुग्धकैः ॥२६१॥
अश्वगन्धा च काकोली वानरी मुशली क्षुरो[1]।
त्रिस्त्रिर्वेलं रसैरासां शतावर्याश्च भावयेत् ॥२६२॥
पद्मकन्दकसेरूणां रसैः काशस्य भावयेत्।
कस्तूरीव्योपकर्पूरकङ्कोलैलालवङ्गकम् ॥२६३॥
पूर्वचूर्णादष्टमांशमेतच्चूर्णं विमिश्रयेत्।

१—'क्षुक' इत्यपि पाठ।

सर्वैः समां शर्करां च दत्वा शाणोन्मितं पिबेत् ॥२६४॥
गोदुग्धाद्विपलेनैव मधुराहारसेवकः ।
अस्य प्रभावात्सौन्दर्यं बलं तेजोऽभिवर्धते ॥२६५॥
तरुणी रमयेद्बह्वीः शुक्रहानिर्न जायते ।

मदनकामदेव रस निर्माणार्थ—चान्दी की भस्म १ भाग (१ तोला), वज्र (हीरे की भस्म इसके अभाव में वैक्रातभस्म) २ भाग (२ तोला), स्वर्णभस्म ३ भाग (३ तोला), ताम्बे की भस्म ४ भाग (४ तोला), विशुद्ध पारद ५ भाग (५ तोला), शुद्ध गन्धक ६ भाग (६ तोला), लोहभस्म ७ भाग (७ तोला, अत्युत्तम भस्म हो)।

विधि—पारद और गन्धक की कज्जली करे। तत्पश्चात् कज्जली वाले खरल में चान्दी आदि समस्त भस्मों को यथामान मिलाकर घीकुआर के रस में मर्दन करके सुखा लेवे। इस शुष्कीभूत चूर्ण को मृदावलिप्त काचकूपी (शीशी) में डालकर उसके मुख पर डाट लगाकर मुखमुद्रा कर देवे। पुन इस शीशी को वालुका यन्त्र विधान से लवण के मध्य में रख कर चूल्हे पर रक्खे और चार प्रहर की मन्द २ आँच देवे। स्वाग शीतल होने पर यथाविधि यन्त्र भेदन करके सिद्ध औषध को प्राप्त करे और खरल में डालकर असगन्ध, काकोली, कौंच की जड (के क्वाथ), सफेद मुसली, ताल मखाना, शतावरी, पद्मकन्द (भें), कसेरु और काश (तृण विशेप) के स्वरस अथवा यथाविधि परिसाधिन क्वाथ से पृथक् २ तीन २ भावनायें देवे। भावनाओं के पश्चात् शुष्क होने पर इस सिद्धरस को तोले और इस तुलित रस में, कस्तूरी, कालीपीपल, काली मिरच, सोंठ, कर्पूर, शीतलचीनी, छोटी इलायची, और लौंग का चूर्ण अष्टमाश (मिलित) मिला देवे। और पुन सब के बराबर मिशरी मिलाकर उत्तम चूर्ण कर लेवे। मात्रा—१ शाण (३ माशा)। वर्तमान में १ मासा। अनुपान—गो दूध २ पल (शृतशीत अथवा शृतोष्ण मिशरी मिला हुआ आधा पाव) पान करे। पथ्य—मधुर आहार (अन्न, फल आदि मीठे रसों वाले पदार्थों का अधिक सेवन करे)। गुण—इसके निरतर सेवन से सुन्दरता, बल और तेज—इनकी वृद्धि होती है तथा अधिक स्त्री सेवन (मैथुन) की शक्ति उत्पन्न होती है। इसके प्रभाव से शुक्र गाढा होता है तथा शीघ्र च्युत नही होता एव शुक्र क्षय जनित रोगों से शरीर सुरक्षित रहता है ॥२५८—२६५॥

कन्दर्प सुन्दर रस—

सूतो वज्रमहिर्मुक्ता तारं हेमासिताभ्रकम् ॥२६६॥
रसैः कर्षांशकानेतान्मर्दयेदिरिमेदजैः ।
प्रवालचूर्णं गन्धश्च द्विद्विकर्षं विमिश्रयेत् ॥२६७॥

ततोऽश्वगन्धास्वरसैर्विमर्द्य मृगशृङ्गके।
क्षिप्त्वा मृदुपुटे पक्त्वा भावयेद्धातकीरसैः ॥२६८॥
काकोली मधुकं मांसी बलात्रयबिसेङ्गुदम्।
द्राक्षापिप्पलिवन्दाकं वरी पर्णीचतुष्टयम् ॥२६९॥
परूषकं कसेरुश्च मधूकं वानरी तथा।
भावयित्वा रसैरेषां शोषयित्वा विचूर्णयेत् ॥२७०॥
एला त्वक्पत्रकं मांसी लवङ्गागरुकेशरम्।
मुस्तं मृगमदः कृष्णा जलं चन्द्रश्च मिश्रयेत् ॥२७१॥
एतच्चूर्णैः शाणमितै रसं कन्दर्पसुन्दरम्।
खादेच्छाणमितं रात्रौ सिता धात्री विदारिका ॥२७२॥
एतासां कर्षचूर्णेन सर्पिष्कर्षेण संयुतम्।
तस्यानु द्विपल क्षीरं पिबेत्सुस्थितमानसः ॥२७३॥
रमणी रमयेद्बह्वीः शुक्रहानिर्न जायते।

कन्दर्पसुन्दर रस निर्माणार्थ—पारदभस्म, हीरकभस्म (अभाव में वैक्रात भस्म), नागभस्म, मोतीभस्म, चान्दीभस्म, स्वर्णभस्म, कृष्णाभ्रकभस्म—प्रत्येक एक २ तोला। पुन. इरिमेद (विट्खदिर) के स्वरस से पीसे और प्रवाल (मूंगा) भस्म, शुद्ध गन्धक—प्रत्येक दो २ कर्ष (२। २ तोला) लेवे। सबको यथाविधि खरल में पीसकर असगन्ध के स्वरस अथवा क्वाथ से भावना देकर सुखा लेवे और हिरन के सीग को कोरित करके उसके अन्दर भर देवे। इस शृग को शराव सम्पुट में वन्द करके सन्धि लेप करे और मृदुपुट में फूक लेवे। स्वाग शीतल होने पर सशृग औषध को पीसकर धाय के फूलों के रस से तथा काकोली, मुलेठी, जटामासी, वला, अतिबला, नागबला, विस (कमल कन्द), इगुदी (ठागी), मुनक्का, कालीपीपल, वन्दाक (कल्पित रास्ना), शतावरी, पर्णीचतुष्टय (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी), फालसा, कसेरु, महुआ के फूल, कौंच की जड (अथवा वीज)—इन सबके स्वरस अथवा क्वाथ से एक २ भावना देकर सुखा लेवे। पुन छोटी इलायची का चूर्ण, दालचीनी का चूर्ण, तेजपत्र चूर्ण, वशलोचन, लौंग का चूर्ण, अगरु का चूर्ण, नागकेशर चूर्ण, नागरमोथा चूर्ण, कस्तूरी, कालीपीपल का चूर्ण, नेत्रबाला का चूर्ण और कर्पूर। उपरोक्त सब औषधों का चूर्ण समान भाग लेकर रख लेवे। इन मिलित औषधों का चूर्ण १ शाण और कन्दर्प सुन्दर रस १ शाण (३ मासा) तथा धात्री चूर्ण और विदारी कन्द का चूर्ण एक कर्ष परिमाण। उक्त भक्षणीय मात्रा में मिलाकर सेवन करे और ऊपर से मिशरी मिलाकर

आधा पाव दूध पीवे । स्वस्थ पुरुष के इस प्रकार इस रस के सेवन से उसमें अनेक स्त्रियों को भोगने की शक्ति उत्पन्न होती है और वीर्यक्षय नहीं होता ॥२६७--२७३॥

वक्तव्य—मात्रा अधिक है । चिकित्सक वयोबल के अनुसार मात्रा स्थिर करे । औषध अत्युत्तम और अनुभव सिद्ध है ।

अथ लोहरसायनम्—

शुद्धं रसेन्द्रं भागैकं द्विभागं शुद्धगन्धकम् ॥२७४॥
क्षिपेत्कज्जलिकां कुर्यात्तत्र तीक्ष्णभवं रजः ।
क्षिप्त्वा कज्जलिकातुल्यं प्रहरैकं विमर्दयेत् ॥२७५॥
ततः कन्याद्रवैर्घर्मे त्रिदिनं परिमर्दयेत् ।
ततः सञ्जायते तस्य सोष्णो धूमोद्गमो महान् ॥२७६॥
अत्यन्तं पिण्डितं कृत्वा ताम्रपात्रे निधापयेत् ।
मध्ये धान्यैकशूकस्य त्रिदिनं धारयेद्बुधः ॥२७७॥
उद्धृत्य तस्मात्खल्वे च क्षिप्त्वा घर्मे निधाय च ।
रसैः कुठारच्छिन्नायास्त्रिवेलं परिभावयेत् ॥२७८॥
संशोष्य घर्मे काथैश्च भावयेत्त्रिकटोस्त्रिधा ।
वासामृताचित्रकाणां रसैर्भाव्यं क्रमात्त्रिधा ॥२७९॥
लोहपात्रे ततः क्षिप्त्वा भावयेत्त्रिफलाजलैः ।
निर्गुण्डीदाडिमत्वग्भिर्विसभृङ्गकुरण्टकैः ॥२८०॥
पलाशकदलीद्रावैर्बीजकस्य शृतेन च ।
नीलिकालम्बुपाद्रावैर्बब्बूलफलिकारसैः ॥२८१॥
भावयेत्त्रित्रिवेलं च ततो नागबलारसैः ।
शतावरीगोक्षुरुभिः पातालगरुडीद्रवैः ॥२८२॥
त्रित्रिवेलं यथालाभं भावयेदेभिरौषधैः ।
ततः प्रातर्लिहेत्क्षौद्रघृताभ्यां कोलमात्रकम् ॥२८३॥
पलमात्रं वराक्वाथं पिबेदस्यानुपानकम् ।
मासत्रयं शीलितं स्याद्वलीपलितनाशनम् ॥२८४॥
मन्दाग्निं श्वासकासौ च पाण्डुतां कफमारुतौ ।
पिप्पलीमधुसंयुक्तं हन्यादेतन्न संशयः ॥२८५॥
वातास्रं मूत्रदोषांश्च ग्रहणीं गुदजां रुजम् ।

अण्डवृद्धिं जयेदेतच्छिन्नासत्त्वमधुप्लुतम् ॥२८६॥
बलवर्णकरं वृष्यमायुष्यं परमं स्मृतम् ।
जयेत्सर्वामयान्कालादिदं लोहरसायनम् ॥२८७॥
कूष्माण्डं तिलतैलं च माषान्नं राजिकां तथा ।
मद्यमम्लरसं चैव त्यजेल्लोहस्य सेवकः ॥२८८॥

लोह रसायन निर्माणार्थ—विशुद्ध पारद एक भाग, विशुद्ध गन्धक दो भाग। विधिवत् कज्जली करे और कज्जली के समान परिमाण में तीक्ष्ण (फौलाद) भस्म मिलाकर एक प्रहर मर्दन करे। पुन. इन तीनों औषधों को घीकुआर के रस से तीन दिन तक मर्दन करे। जब मर्दन करते हुए यह समस्त पदार्थ उत्तप्त हो जायँ तथा इनमें से धूमोद्गम हो तब समस्त पदार्थों का गोला बनाकर ताम्रपात्र में रख देवे और (एरंड पत्रों से आच्छादित करके) धान्य राशि में तीन दिन तक पडा रहने देवे। पश्चात् धान्यराशि से निकाल कर खरल में डाले और पीसकर धूप में रख देवे और वनतुलसी के स्वरस की तीन भावना देवे और सुखा लेवे। इसी प्रकार त्रिकटु (काली मिरच, काली पीपल, सोंठ, मिलित भाव्य द्रव्य के सम परिमाण में लेकर चतुर्गुण जल डालकर चतुर्थांशावशिष्ट) क्वाथ से तीन भावना देकर सुखावे एव वासा मूलत्वक्, गिलोय तथा चित्रक के रस (अथवा क्वाथ) से तीन २ भावना देवे। पुन शुष्कीभूत पदार्थ को लोह पात्र में डालकर त्रिफला (हरीतकी, वहेडा, आमला) क्वाथ, निगुण्डी (सम्हालू) क्वाथ, दाडिमत्वक् (अनार वृक्ष की छाल) क्वाथ, बिस (भें-कमलकन्द) क्वाथ, भृङ्ग (भांगरा) क्वाथ, कुरण्टक (पियावासा) क्वाथ, पलाश (ढाक) त्वक् क्वाथ, कदली (केलाकन्द) स्वरस, विजयसार क्वाथ, नीलिका (वसमा) क्वाथ, गोरखमुण्डी क्वाथ, बब्बूल फलिका (कीकर की फलियों का) क्वाथ – इन प्रत्येक के क्वाथ अथवा स्वरस (यथालाभ) से तीन २ भावनायें देवे। तत्पश्चात् नागवला (गंगेरन), शतावरी, गोखरु, पाताल गरुड़ी (छिलहिट तरडी)—इनके क्वाथ अथवा स्वरस से तीन २ भावना देकर सुखाकर रख लेवे (इस प्रकार लोह रसायन तैयार करे)। मात्रा—एक कोल (६ माशा)। वर्त्तमान में १—३ मासा व्यवहार करे। अनुपान—घृत (६ माशे), मधु (१ तोला) औषध के साथ मिलाकर चाटे। ऊपर से यथाविधि परिसाधित त्रिफला क्वाथ ८ तोला पान करे। गुण—इस प्रकार ३ मास पर्यन्त सेवन करने से वली (झुर्रिया), पलित (केशों का श्वेत होना), मन्दाग्नि, दमा, खासी, पाण्डुत्व (पीलापन), नष्ट होता है तथा कालीपीपल और मधु (शहद) से सेवन की जावे तो इससे वायु और कफ जनित विकार दूर होते हैं। लोह रसायन को गुडूची सत्त्व और मधु से सेवन करने से वातरक्त, मूत्रदोष (प्रमेह, मूत्राघातादि), सग्रहणी रोग, बवासीर, अण्डवृद्धि (हरनियां) आदि रोग नष्ट होते हैं। इसके यथाविधान सेवन से बल

और वर्ण (सुन्दरता) की वृद्धि होती है, वीर्य बढता है, आयु की वृद्धि होती है तथा निरन्तर अभ्यास से यह लोह रसायन सम्पूर्ण रोगों को नाश करती है। लोह सेवन में त्याज्य पदार्थ—कूष्माण्ड (पेठा), तिलतैल, माष की दाल, राई, मद्य (शराब) तथा अम्लरस यह सब पदार्थ लोह सेवन करने वाले को त्याग देने चाहियें॥२७४-२८८॥

वक्तव्य—इस विधान में कई लोह चूर्ण (शुद्ध फौलाद के चूर्ण) को व्यवहार करते हैं। परन्तु अत्यधिक गुण वृद्धि के लिये यदि तीक्ष्ण भस्म प्रयोग की जावे तो भी दोष नहीं है। यह लोह रसायन अत्यंत गुणकर योग है।

जैपालशोधनम्—

जैपालं रहितं त्वगङ्कुररसज्ञाभिर्मले माहिषे
निक्षिप्तं त्र्यहमुष्णतोयविमलं खल्वे सवासोऽर्दितम्।
लिप्तं नूतनखर्परेषु विगतस्नेहं रजःसंनिभं
निम्बूकाम्बुविभावितं च बहुशः शुद्धं गुणाढ्यं भवेत्॥२८९॥

जयपाल शोधनार्थ—जमालगोटे के बीजों को लेकर उनके ऊपर का छिलका और मध्यस्थित अंकुर (जिह्विका) दूर कर देवे और वस्त्रखण्ड में बाधकर पोटली बना लेवे। इस पोटली को भैंस के गोबर में डालकर तीन दिन पडा रहने देवे। पुन तीन दिन के पश्चात् पोटली से जमालगोटे के बीजों को निकाल कर उष्णोदक से प्रक्षालन करके स्वच्छ वस्त्रखण्ड में बाधकर खरल में सवस्त्र मर्दन करे। जब क्षुण्ण से हो जायें तब वस्त्र से निकाल कर खरल में सूक्ष्म कल्क करे और मिट्टी के नये पात्र के ऊपर लेप कर देवे। जब यह लेप स्नेहरहित चूर्णीभूत सा होवे तब पुन निम्बु रस से बहुश (३—४ बार) भावित करके सुखा लेवे। इस प्रकार जमालगोटे के बीज शुद्ध और गुणकारक हो जाते हैं॥२८९॥

वक्तव्य—१—अनेक बार यह देखने में आता है कि विरेचनार्थ प्रयुक्त होने वाली जयपाल मिश्रित औषधें इच्छित विरेचन नहीं लाती। इस दोष की निवृत्ति के लिये शोधनार्थ वही जयपाल ग्रहण करने उचित होंगे जिनका बाह्य प्रदर्शन (छिलका) श्वेत हो। पुराने जयपाल बीजों का छिलका कृष्ण वर्ण का हो जाता है और इनके अन्दर से प्राप्त होने वाली जयपाल की मज्जा (गिरी) भी काली निकलती है। पुराने बीजों में विरेचन शक्ति नष्ट होने के कारण से ही औषधें पूर्ण विरेचन करने में असमर्थ रहती हैं। शोधनार्थ सर्वदा जयपाल नूतन तथा श्वेत मज्जा वाले होने चाहियें। २—ऊपर जयपाल शोधन की जो विधि दी गई है वह प्रक्षिप्त है और निश्चय से ही शोधन करने वाले अन्वेषकों ने इसे आदिकाल में अन्वेषण किया होगा। कारण कि अन्य विधिया जो जयपाल बीजों के शोधनार्थ वर्तमान में व्यवहार होती हैं वह इससे अधिक सरल हैं। एवं इन से शुद्ध जयपाल वर्णाकृति आदि में अधिक उत्तम प्राप्त होते हैं। ३—जयपाल बीजों को शुद्ध

करने का अभिप्राय बीजों के अन्दर रहने वाले तैलाश की अधिकता को न्यून करना है। परन्तु ध्यान रहे कि तैलाश को अधिक मात्रा में नष्ट कर देने के कारण शुद्ध जयपाल हीनवीर्य हो जाते हैं। प्रसङ्गत जयपाल शोधन की अन्य विधि नीचे लिखी जाती है। यथा—

निस्तुषं जयपालं च द्विधा कृत्वा विचक्षणः ।
एतद्बीजस्य मध्यन्तु पत्रवत्परिवर्ज्जयेत् ॥
अष्टमांशेन चूर्णेन टङ्कणस्य च मेलयेत् ।
त्रिरात्रं गोमये क्षिप्त्वा पाच्यं दुग्धेन सम्प्लुतम् ॥
एव वै शुद्धिमाप्नोति जैपालममृतोपमम् ।

जमालगोटे के बीजों का ऊपर का छिलका उतार कर अन्दर से प्राप्त होने वाली मज्जा को चाकू से द्विधा विभक्त करे। बीज के द्विधा विभक्त होने पर इनके अन्दर से अत्यत पतला श्वेत अथवा पीत वर्ण का द्विधा विभक्त पत्र निकलता है। इसी को जिह्विका और अङ्कुर कहते हैं। इस अङ्कुर में जयपाल बीज की अपेक्षा विषांश अधिक होता है। अत इन जिह्विकाओं को अत्यन्त सावधानी से पृथक् करे। जयपाल बीजों का छिलका तथा अङ्कुरादि को पृथक् करने के पश्चात् जयपाल मज्जा को तौले। जितनी मज्जा हो उससे आठवा भाग कच्चा सुहागा मिलाकर पोटली में बाधे। इस पोटली को गोमय (गोबर) में डुबो देवे। यदि शोधनार्थ जयपाल मज्जा एक पाव हो तो गोबर ८ सेर तथा जल १६ सेर डालकर शनै २ मन्द आंच पर तीन दिन पकावे। प्रत्येक दिन में ४। ५ घटा अग्नि देकर अवशिष्ट समय मे पोटली को गोबर में ही पडा रहने देवे। परतु यह विधान शीत ऋतु में अनुकूल पड़ता है। अत्युष्ण ऋतु में तीन दिन गोबर में पडा रहने से सड जाते हैं। अत' ग्रीष्म ऋतु में आठ घंटा उक्त विधि से गोबर में पकाकर पोटली को निकाल लेवे और स्वच्छ जल से प्रक्षालन करके दूसरे स्वच्छ वस्त्र खण्ड में बांध-कर गोदूध में ४ घटा पकाकर निकाल लेवे और स्वच्छ जल से प्रक्षालन करके एक दो घटा धूप में रख देवे। जिससे प्रचुर जलीयांश सूख जावे। तदनतर खरल में पीसकर मसी शोषक पत्र पर लेप करे और ऊपर से मसी शोषक पत्र से ढाप कर किसी गुरुतर भार अथवा पाषाण खड के नीचे रख देवे। इस क्रिया से फालतू तैलाश मसी शोषक पत्र पर चिपट जायेगा और जयपाल शुद्ध हो जायेंगे। अथवा धूप से उठाकर शुष्क से जयपाल बीजों को तैल निष्पीडन यन्त्र (बादाम रोगन निकालने की मैशीन) में डालकर निष्पीडन कर लेवे। इस विधि से तैल भी प्राप्त होता है और जयपाल भी शुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार शुद्ध जयपाल का चूर्ण सुन्दर और दोषरहित प्राप्त होता है। मात्रा—¼ रत्ती से १ रत्ती तक। अनुपान—शर्करोदक। गुण—विरेचनार्थ अथवा विरेचन साध्य रोगों को नष्ट करने के लिये। जयपाल तैल की मात्रा—२—५ बूंद तक। अनुपान—पतासे

में, मिशरी के टुकडे में अथवा खाड में मिलाकर भक्षण करना और ऊपर से दूध अथवा आवश्यकतानुसार अन्य पदार्थ का पान करना । तैल तीव्र रेचक है तुरत विरेचन लाने के लिये उपयुक्त औषध है । श्वास के वेग को शान्त करने में प्राय व्यवहार होता है । इसका तैल 'क्रोटन ऑयल' के नाम से अंग्रेजी औषध विक्रेताओं के पास से मिल सकता है ।

विषशोधनम्—

विषं तु खण्डशः कृत्वा वस्त्रखण्डेन बन्धयेत् ।
गोमूत्रमध्ये निक्षिप्य स्थापयेदातपे त्र्यहम् ॥२६०॥
गोमूत्रं च प्रदातव्यं नूतनं प्रत्यहं बुधैः ।
त्र्यहेऽतीते समुद्धृत्य शोषयेन्मृदु पेषयेत् ॥२६१॥
शुद्ध्यत्येवं विषं तच्च योग्यं भवति चार्तिजित् ।
अथवा—खण्डीकृत्य विषं वस्त्रपरिबद्धं तु दोलया ॥२६२॥
अजापयसि संस्विन्नं यामतः शुद्धिमाप्नुयात् ।
अजादुग्धाभावतस्तु गव्यक्षीरेण शोधयेत् ॥२६३॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-
संहितायां चिकित्सास्थाने मध्यमखण्डे रस-
कल्पना नाम द्वादशोऽध्याय ॥१२॥

समाप्तोऽयं मध्यमखण्डः ।

विप (वत्सनाभ, मीठा तेलिया) शुद्ध करने के लिये मीठे तेलिया के कन्दाकृति खण्डों को साधारण कूटकर छोटे २ खडों मे विभक्त कर लेवे । पुन विष के खडित खडों को स्वच्छ वस्त्र खड में वाधकर पोटली वना लेवे । इस पोटली को गोमूत्र के भाड में डालकर धूप में रख देवे और प्रतिदिन पहिले दिन का गोमूत्र निकाल देवे और नित्य नया गोमूत्र डालता रहे । इस प्रकार तीन दिन करे। चौथे दिन पोटली से विप खडों को निकालकर जल से प्रक्षालन करके पीसे और सुखाकर रख लेवे । इस विधि से विष शुद्ध और सेवन करने योग्य तथा रोगनाशक हो जाता है ।

दूसरी विधि – अथवा विप को छोटे २ खडों में विभक्त करके स्वच्छ वस्त्र खड में पोटली वाधे और इस पोटली को वकरी के दूध से पूर्ण पात्र में दोला यत्र विधान से १ प्रहर (४ घटा) स्वेदित करे । वकरी के दूध के अभाव (अलाभ) में गोदूध से इसी प्रकार शुद्ध करने से भी विप शुद्ध हो जाता है ॥२६०—२६३॥

वक्तव्य—(१)—आयुर्वेद में विपों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया

है—स्थावर और जंगम। स्थावर विष १० प्रकार के और जंगम विष १६ प्रकार के होते हैं। यह वत्सनाभ स्थावर विषातर्गत कन्द विषों में परिगणित होता है।

उत्पत्तिस्थान और क्षुप परिचय—

सिन्दुवारदलः पार्श्वे तरुवृद्धिविवर्जितः।
नीलपुष्पः कन्दविषो क्षुपो हस्तद्वयोच्छ्रितः॥
वत्सनाभ इति ख्यातो रसतन्त्रविचक्षणैः।
गढपाले च काश्मीरे नेपालादौ च जायते॥ (रसतरंगिणी)

वत्सनाभ कन्द परिचय—

दैर्घ्ये तु पञ्चांगुलतः परं सप्तांगुलोन्मितः।
व्यासे चैकाङ्गुलात् सार्द्धद्व्यङ्गुलप्रमितस्तथा॥
आमूलचूलं क्रमशः स्थूलश्च पाण्डुरप्रभः।
कन्दोऽस्य भिषजां वर्यैर्वत्सनाभ इति स्मृतः॥
दीर्घमूलं स्थूलकन्द वत्सनाभविषक्षुपम्।
उत्पाट्य शीतसमये वसन्ते वा समाहरेत्॥ (रसतरङ्गिणी)

ऊपर वत्सनाभ के क्षुप और कन्द का परिचय दिया गया है। यह प्राय बारह तेरह हजार फुट की ऊचाई पर होने वाला पदार्थ है। पृथ्वी के भीतर से इसके क्षुप का कन्द प्राय श्वेताभ निकलता है। परन्तु कृत्रिम विधियों से इसे काला बना दिया जाता है। (२)—अशुद्ध वत्सनाभ में हृदय के तन्तु समूह को तथा उसके कार्य में शैथिल्य उत्पन्न करने की शक्ति है। इसके प्रभाव से हृद्गति के अवरुद्ध होने से मृत्यु उपस्थित हो जाती है। परन्तु गोमूत्र द्वारा शुद्ध कर लेने से हृदय पर आपत्तिजनक प्रभाव नहीं होता। सौभाग्य (सुहागा) में भी वत्सनाभ शुद्ध करने की शक्ति विद्यमान है। (३)—अपने शरीर की शक्ति से बलवती और प्राण-घातक मात्रा से रोगी का शरीर शीतल और शीतस्वेद से युक्त होता है, कण्ठ में खराश होता है, जिह्वा में चरपराहट तथा पिपीलिका चलने की सी अवस्था का प्रतीत होना और जिह्वा का भीतर की ओर खीचा जाना प्रतीत होता ह, घबराहट अत्युग्र होती है, हृदय प्रतिक्षण डूबता हुआ प्रतीत होता है, शिर चकराना तथा कभी २ वमन भी होते हैं। शास्त्रकार अनुपयुक्त विधि से भक्षण किये हुए विष के आठ वेग मानते हैं। यथा—

वेगान्यष्ट प्रजायन्ते सहसा विषशीलिनः।
प्रथमे त्वग्विकारः स्याद्द्वितीये वेपथुर्भवेत्॥
दाहो वेगे तृतीये स्याच्चतुर्थे विकृतो भवेत्।
फेनोद्गतिः पञ्चमे स्यात्स्कन्धयोर्भङ्गता ततः॥
जाड्यता सप्तमे वेगे चाष्टमे मरणं ध्रुवम्। (रसरत्न०)

अत्यधिक मात्रा ऊपर के अनिष्टकारक उपद्रवों को उत्पन्न करती है।

वत्सनाभ के गुण—

विषं तु कटुकं तिक्तमुष्णं चैव कषायकम् ।
योगवाहि परं चैतन्महोत्कृष्टं रसायनम् ॥
त्रिदोषघ्नं विशेषेण मतं वातबलासनुत् ।
दीपनं शीतशमनं बृंहणं बलवर्द्धनम् ॥
अग्निमान्द्यप्रशमनं प्लीहोदरनिबर्हणम् ।
वातरक्तापहं चैव श्वासकासविधूननम् ॥
गुदामयग्रहणिकागुल्मनिर्दलनं परम् ।
कुष्ठपाण्डुज्वरहरं त्वामवातप्रणाशनम् ॥
विनिहन्ति विशेषेण तिमिरं च निशान्धताम् ॥
अभिष्यन्दं नेत्रशोथं कर्णशोथं च दारुणम् ।
कर्णशूलं शिरःशूलं गृध्रसीं कटिवेदनाम् ॥
आखुवृश्चिकसर्पाणां विषं चैवाविलम्बितम् ॥ (र० त०)

वत्सनाभ विष का औषधार्थ प्रयोग न केवल आयुर्वेद में ही होता है प्रत्युत अन्य चिकित्सापद्धतियों में भी प्रचुरता से व्यवहार होता है। इसके विशिष्ट तथा अद्भुत गुणों का वर्णन इस प्रकार है। यथा—

विषं विशेषतो वातवेदनाहरमुत्तमम् ।
मूत्रलं स्वेदजननं शूलनिर्मूलनं परम् ॥
प्रवृद्धतापशमनं तथा शोथनिषूदनम् ।
तत्तद्धेतुप्रवृद्धाया हृद्गतेश्च नियामकम् ॥
स्वेदसञ्जनकान्येषां भेषजानामपेक्षया ।
परन्तु तापशमनं न चानिस्वेदकृत्तथा ॥
प्रवृद्धरक्तसञ्चारसुसंयमनसंविधौ ।
अमोघास्त्रमिदं ख्यातं सर्वोत्कृष्टं महौषधम् ॥
रसतन्त्रचिकित्सायां बाहुल्येन निरूपिते ।
मस्तिष्कदेशे संवृद्धां रक्तसञ्चरणक्रियाम् ।
नाशयत्याशु मस्तिष्के जातं वा रक्तसञ्चयम् ॥
फुप्फुसच्छदशोथघ्नस्तथा फुप्फुसशोथनुत् ।
तथा शोथसमुद्भूतविविधज्वरवेगजित् ॥
शोथं विनाशयत्याशु हृदयावरणोत्थितम् ।
तथान्त्रावरणोद्भूतं ज्वरं च विनिहन्त्यलम् ॥ (रस तरं०)
गलशोथं तुण्डिकेरीं तथैव गलशुण्डिकाम् ।
अन्यांश्च तरुणान्कण्ठरोगानाशु निहन्त्यलम् ॥
सदाहं सस्रवं तीव्रशिरोवेदनयान्वितम् ।

सदाहभ्रूयुगं हन्ति प्रतिश्यायं नवोत्थितम् ॥
सकफां बहुरक्तां वा स्वल्परक्तामुपक्रमे ।
प्रवृद्धमलवेगाढ्यां विनिहन्ति प्रवाहिकाम् ॥
ऊर्ध्वजत्रुगता या तु नाडिका पञ्चमी मता ।
शूलं तदुत्थितं शीघ्रं विनिहन्ति विशेषतः ॥
बहुवेगं वाल्पवेगं प्रगाढारक्तलोहितम् ।
ज्वरान्वितं तूर्ध्वगतं रक्तपित्तं व्यपोहति ॥
अन्तर्दाहसमायुक्तं द्रुतं प्रबलनाडिकम् ।
पिपासया परिगतं द्रुतहृद्गतिसंयुतम् ॥
अजीर्णाध्मानसंयुक्तं तथैव स्वेदवर्जितम् ।
अतिमात्राभिसंवृद्धगात्रतापांशसंगतम् ॥
कासकम्पशिरःशूलैः पर्याकुलमनारतम् ।
अस्थैर्यारतिवैचित्यभयोद्वेगादिसंयुतम् ॥
वातवेदनयाक्रान्तं त्वारक्तमुखमण्डलम् ।
शुष्कोष्णचर्मसंस्पर्शं प्रगाढारक्तमूत्रकम् ॥
शीतपूर्वं तु दाहान्तं ज्वरं विविधहेतुजम् ।
विषं विधिप्रयुक्तं तु नाशयत्याशु निश्चितम् ॥
विविधोत्थानसंस्थानां त्वसह्यत्वप्रकाशिकाम्
स्पर्शासहां रात्रिभवां वेदनां च निहन्त्यलम् ॥ (रसतरंगिणी)

विषसेवनविधिः—

तावदेव प्रयोक्तव्यं विषं होरात्रयोत्तरम् ।
गात्रतापो भवेन्नेह यावत् खलु शतांशिकम् ॥
विषं भवति पीयूषं मात्रया विनियोजितम् ।
तदेवामात्रया युक्तं द्रुतं मुष्णाति जीवितम् ॥
मात्रा—कलांशतो रक्तिकया वस्वंशप्रमितं विषम् ।
विमलं विनियुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया ॥

शुद्ध वत्सनाभ की मात्रा का उपरोक्त नियम भेषजान्तर से तथा पृथक्त्वेन एक सा ही उचित होता है।

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकाया द्वितीय-खण्डे द्वादशोऽध्याय ॥१२॥

इति श्रीशार्ङ्गधरसंहिताद्वितीय खण्ड सम्पूर्णम्।

ओम्

शार्ङ्गधरसंहिता ।

रहस्यार्थप्रकाशिका-भाषाटीका-सहिता ।

तृतीयखण्डे प्रथमोऽध्यायः ।

अथ स्नेहपानविधि —

स्नेहश्चतुर्विधः प्रोक्तो घृतं तैलं वसा तथा ।
मज्जा च—

घृत (गोघृत), तैल (तिलोद्भूत), वसा (चरवी–'शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता'), मज्जा (हड्डियों के भीतर रहने वाला स्नेह—'स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वाभ्यन्तराश्रिता')—इन (जाति) भेदों से स्नेह (चिक्कणता उत्पन्न करने वाले तरल पदार्थ) चार प्रकार के होते हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेदज्ञों ने अनागत रोग प्रतिषेधार्थ जिन उपायों का संग्रह किया है उनमें एक अनुष्ठान 'पञ्चकर्म' के नाम से पुकारा जाता है । उसी पञ्चकर्म की सिद्धि के लिये सर्व प्रथम स्नेह पान का वर्णन किया जाता है ।

ऊपर जिन स्नेहों का नामोल्लेख किया गया है वह प्रत्येक पृथक् २ केवल तथा अन्य औषधों के संयोग से संस्कृत किये हुए पृथक् २ दो दो तीन २ तथा आवश्यकता के अनुसार व्यवहार होते हैं । यह प्रत्येक स्नेह कोष्ठ, व्याधि और ऋतु भेद के अनुसार भिन्न २ तथा भिन्न २ मात्रा से प्रयोग किये जाते हैं ।

स्नेह पान सम्बन्ध में महर्षि अग्निवेश ने भगवान् पुनर्वसु से एक प्रश्न किया है जो इस स्थल पर अधिक महत्त्व द्योतक है । यथा—

किं योनयः कति स्नेहाः के च स्नेहगुणाः पृथक् ।
कालोनुपाने कः कस्य कतिधा च विचारणा ॥
कति मात्राः कथं मानाः का च केषूपदिश्यते ।
कश्च केभ्यो हितः स्नेहः प्रकर्षः स्नेहने च कः ॥
स्नेह्याः के के च न स्नेह्याः स्निग्धातिस्निग्धलक्षणम् ।
किं पानात्प्रथमं पीते जीर्णे किं च हिताहितम् ॥
के मृदुक्रूरकोष्ठाः का व्यापदः सिद्धयश्च काः ।

शोधने शमने चैव स्नेहे का वृत्तिरिष्यते ॥
नरेषु केषु विधिना केन योज्या विचारणाः ।
स्नेहस्याप्यमितज्ञान ! ज्ञानमिच्छामि वेदितुम् ॥

चरकीय स्नेह सम्बन्धी इसी शैली को वैद्यवर शार्ङ्गधर ने अपनाया है। स्थावर और जङ्गम भेद से स्नेह दो प्रकार का है।

स्नेह पान का काल—

—तं पिबेन्मर्त्यः किञ्चिदभ्युदिते रवौ ॥१॥

उपरोक्त चारों प्रकार के स्नेहों को किंचित् सूर्योदय होने पर (व्याधि भेद तथा उचित मात्रानुसार) पान करे (अथवा 'शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि') ॥१॥

योनि भेद—

स्थावरो जङ्गमश्चैव द्वियोनिः स्नेह उच्यते ।

स्थावर (वानस्पतिज) और जगम (प्राणिज) भेद से स्नेह (वर्ग) दो प्रकार का होता है।

वक्तव्य—स्थावर में वनस्पति, वृक्ष, वीरुध और ओषधी आदि के बीजों से प्राप्त स्नेह का ग्रहण होता है। जगम में जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज, प्राणियों की वसा, मज्जा एव इनके दुग्धादि से प्राप्त घृतादि का ग्रहण होता है। यदुक्तं चरके—

तिलः पियालाभिषुकौ विभीतकश्चित्राभयैरण्डमधूकसर्षपा. ।
कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसीनिकोठकाक्षोडकरंजशिग्रुकाः ॥
स्नेहाशया. स्थावरसंज्ञितास्तथा स्युर्जंगमा मत्स्यमृगाः सपक्षिण ।
तेषां दधिक्षीरघृतामिषं वसा स्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते ॥

वरावरत्व—

तिलतैलं स्थावरेषु जङ्गमेषु घृतं वरम् ॥२॥

स्थावर स्नेहों में तिल तैल तथा जाङ्गम स्नेहों में घृत श्रेष्ठ होता है ॥२॥

मिलित स्नेहों की सज्ञा—

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतो महान् ।

घृत और तिल तैल (सम परिमाण में मिश्रित) दोनों को 'यमक' कहते हैं। घृत, तैल और वसा (सम परिमाण में मिलित) तीनों को 'त्रिवृत' कहते हैं। घृत, तैल, वसा तथा मज्जा (सम परिमाण में मिश्रित) चारों को 'महान्' योग कहते हैं।

स्नेह सात्म्य में कालावधि—

पिबेत्त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहं तथा ॥३॥

सप्तरात्रात्परं स्नेहः सात्मीभवति सेवितः।

शरीर को स्निग्ध करने के लिये यदि स्नेह पान विधेय हो तो घृत (घृत का अच्छ भाग) तीन दिन तक पान करे, तैल चार दिन तक पान करे, वसा (मास स्नेह-चरवी) पांच दिन तक पान करे और मज्जा छः दिन तक पान करे। इस विधान से कोष्ठ स्निग्ध हो जाता है। एव सात दिन के उपरांत स्नेह शरीर के सात्म्य हो जाता है। अतः स्नेहन कार्यार्थ उक्त नियमानुसार ही स्नेह पान उपयुक्त होता है ॥३॥

वक्तव्य—शरीर को पूर्णरीत्या शुद्ध करने के लिये सर्व प्रथम इस बात की आवश्यकता है कि कोष्ठस्थ वात वैगुण्य शात कर लिया जावे। इस कार्य की उत्तमता के लिये उक्त विधि से किया हुआ स्नेह पान अभ्यन्तर के शुष्कीभूत और लीन प्राय मलों को स्निग्ध कर देता है। स्निग्ध हुए मल वमन विरेचनादि से निरुपद्रव शरीर से बाहिर हो जाते हैं। सात दिन के पश्चात् स्नेह मलादिकों को उदीरण नही करता। यदुक्तं वाग्भटे—

सात्मीभूतो हि कुरुते न मलानामुदीरणम्।

अथवा मृदु कोष्ठ को स्नेहन करने के लिये घृत, मृदुतर कोष्ठ को स्नेहन करने के लिये घृत तैल (यमक) स्नेह पान करे तथा मध्य कोष्ठ स्नेहनार्थ तैल, एव मध्यतर कोष्ठ स्नेहनार्थ त्रिवृत (घृत, तैल, वसा) स्नेह पान करे एवं क्रूर कोष्ठ स्नेहनार्थ मज्जा और क्रूरतर कोष्ठ स्नेहनार्थ महास्नेह (घृत, तैल, वसा और मज्जा) का पान करे। इस प्रकार त्रिविध कोष्ठों को तर-तम आदि भेदों से स्नेहन करना और इसी प्रकार दिन मर्यादा का निर्धारण करना व्याधित मनुष्य की हित कामना के लिये चिकित्सक का कर्त्तव्य है।

स्नेहपान की मात्रा—

दोषकालाग्निवयसां बलं दृष्ट्वा प्रयोजयेत् ॥४॥
हीनां च मध्यमां ज्येष्ठां मात्रां स्नेहस्य बुद्धिमान्।

दोष—वात, पित्त, कफ इनका बलाबल उत्कृष्टबल, मध्यबल और हीन बल का विचार कर तथा काल—शीत, उष्ण और वर्षा, अग्नि—सम-विषम-मन्द तथा तीक्ष्ण (किस अग्नि में कौन स्नेह देना है। पक्व देना है अथवा अपक्व) इन पाचकाग्नियों का बल विचार कर तथा वय—आयुभेद बाल, युवा और वृद्ध एवं प्रकृति और सात्म्यासात्म्य का पूर्ण ज्ञान करके बुद्धिमान् वैद्य को स्नेह की हीन (अल्पमात्रा), मध्य (साधारण मात्रा) और ज्येष्ठ (प्रबल अथवा पूर्ण) मात्रा का प्रयोग करना चाहिये ॥४॥

वक्तव्य—यथादोषं यथाकालं यथाव्याधिं यथाबलम्।
स्नेहपक्वमपक्वं वा पाकं युञ्ज्याच्चिकित्सकः ॥

अन्यच्च—हीनमध्योत्तमा मात्रा तास्ताभ्यश्च ह्रसीयसीम् ।
कल्पयेद्वीक्ष्य दोषादीन् प्रागेव तु कनीयसीम् ॥

अन्यच्च—अज्ञानकोपे हि बहु कुर्याज्जीवितसंशयम् । (वाग्भट)

अर्थात् स्नेह की हीन, मध्य और उत्कृष्ट मात्रा किस दोष में, किस काल में, किस ऋतु में, किस अग्नि में किस भेद से प्रयोग करना यह वैद्य के अपने अनुभव पर स्थित किया गया है ।

अमात्रा सेवित स्नेह का परिणाम—

अमात्रया तथाऽकाले मिथ्याहारविहारतः ॥५॥
स्नेहः करोति शोफार्शस्तन्द्रानिद्राविसंज्ञताः ।

स्नेहपान में यदि (उपरोक्त हीन मध्यादि) मात्रा का ध्यान न रक्खा जावे तथा स्नेह असमय (विपरीत समय) में सेवन किया जावे एवं स्नेहपान करने पर मिथ्याहार (कालातिरिक्त, अतिमात्र, विषमाशनादि) किया जाय तो स्नेह—शोथ (सूजन), अर्श (बवासीर), तन्द्रा, अनिद्रा तथा विसञ्ज्ञता (संज्ञाशून्यत्व) को उत्पन्न करता है ॥५॥

वक्तव्य— मिथ्याहार के लक्षण—

यथा—अकाले चातिसात्म्यं वा असात्म्यं यच्च भोजनम् ।
विषमाशनं च यद् भुक्तं मिथ्याहारः स कथ्यते ॥

स्नेहपान में पूर्ण संयत होकर रहना चाहिए। अन्यथा उद्रिक्त दोष अन्य रोग उत्पन्न करने में सहायक होते हैं ।

अमात्रोद्भव शोफादि का उपाय—

प्रकुर्याल्लंघनं तत्र स्वेदं ज्ञात्वा विरेचनम् ॥६॥

यदि अमात्रा सेवित स्नेह से विकार उत्पन्न हों तो लंघन (उपवास स्वेद तथा विरेचनों द्वारा उन उपद्रवों को शान्त करे ॥६॥

मात्रा निर्णय—

देया दीप्ताग्नये मात्रा स्नेहस्य पलसंमिता ।
मध्यमाय त्रिकर्षा स्याज्जघन्याय द्विकार्षिकी ॥७॥

जिन मनुष्यों की पाचकाग्नि दीप्त (समाग्नि) हो उन्हें स्नेह की एक पल (४ तोले) की मात्रा उचित होती है, जिनकी मध्यमाग्नि तथा जो मध्यबल हों उन्हें ३ तोला की मात्रा पर्याप्त होती है तथा जिनकी पाचकाग्नि निर्बल हो तथा जो हीनबल हों उन्हें स्नेह की २ तोला की मात्रा उचित होती है ॥७॥

वक्तव्य— मात्रा परिमाण—

उत्तमस्य पल मात्रा त्रिभिश्चाक्षैश्च मध्यमा ।
जघन्यस्य पलार्धेन स्नेहक्वाथौषधेषु च ॥

मात्रा के अन्य भेद—

अथवा स्नेहमात्राः स्युस्तिस्रोऽन्याः सर्वसंमताः ।
अहोरात्रेण महती जीर्यत्याह्नि तु मध्यमा ॥८॥
जीर्यत्यल्पा दिनार्धेन सा विज्ञेया सुखावहा ।

अथवा अन्य आचार्यो द्वारा स्नेह की तीन मात्रायें मानी गई हैं । यथा— स्नेह की जो मात्रा आठ प्रहर (२४ घंटा) में पचे वह महती (बडी) मात्रा कहलाती है और जो एक दिन (४ प्रहर) में पचे वह मध्यम मात्रा कहलाती है तथा जो स्नेह मात्रा आधे दिन (२ प्रहर) में पाक को प्राप्त होती है वह अल्प मात्रा होती है तथा यही अल्प मात्रा सुखकारक मानी जाती है ॥८॥

वक्तव्य—यद्यपि ऊपर कर्षमानानुसार स्नेह मात्रा का वर्णन किया गया है परन्तु अनेक बार यह देखने में आता है कि बृहत्काय तथा महाशन करने वालों को कर्षमानानुमोदित मात्रा कुछ भी प्रभाव उत्पन्न नही करती । अत ऐसे बलिष्ठों के लिये उनके वयोबल के अनुसार मात्रा स्थिर करे। प्रयुक्त मात्रा कितने समय में जीर्ण होती है यह ध्यान में रक्खे ।

मात्रा भेद से स्नेह के गुण—

अल्पा स्याद्दीपनी वृष्या स्वल्पदोषेषु पूजिता ॥९॥
मध्यमा स्नेहनी ज्ञेया बृंहणी भ्रमहारिणी ।
ज्येष्ठा कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी ॥१०॥

स्नेह की अल्प (हलकी, २ तोला की) मात्रा दीपनी (अग्नि दीपक) तथा वृष्य (वीर्य वर्द्धक) होती है । एव मध्यम (३ तोला की) मात्रा स्नेहनी (स्निग्ध करने वाली), बृंहणी (रसादि बढ़ाने वाली) तथा भ्रम रोग को नष्ट करने वाली होती ह और ज्येष्ठ (महती, ४ तोले की) मात्रा कुष्ठ, विष (विष वेग तथा जीर्ण विष प्रभाव), उन्माद, ग्रह बाधा और अपस्मार (मिरगी) को नष्ट करने वाली होती है ।

वक्तव्य—सम्प्रदायानुसार ध्यान रहे कि स्नेह की अल्प मात्रा—अल्प दोष तथा हीनबल मनुष्यों को दी जाती है । मध्यम मात्रा—मध्यम दोष तथा मध्यम बल मनुष्यों के लिये कार्य साधक होती है और उत्तम मात्रा—पूर्ण लक्षण युक्त दोष तथा पूर्ण बल मनुष्यों के लिए व्यवहृत होती है ।

अल्पमात्राप्रयोगविधि । यदाह चरक —

ये तु वृद्धाश्च बालाश्च सुकुमाराः सुखोचिताः ।
रिक्तकोष्ठत्वमहितं येषां मन्दाग्नयश्च ये ॥
ज्वरातिसारकासाश्च येषां चिरसमुत्थिताः ।
स्नेहमात्रां पिबेयुस्ते ह्रस्वां ये चावरा बले ॥
परिहारे सुखा चैषा मात्रा स्नेहनबृंहणी ।
वृष्या बल्या निराबाधा चिरं चाप्यनुवर्तते ॥

मध्यम मात्रा प्रयोग विधि.—

अरुष्केस्फोटपिडिका कण्डूपामाभिरर्दिताः।
कुष्ठिनश्च प्रमीणश्च वातशोणितिकाश्च ये॥
नातिवह्वाशिनश्चैव मृदुकोष्ठास्तथैव च।
पिवेयुर्मध्यमां मात्रां मध्यमाश्चापि ये वले॥
मात्रैपा मन्दविभ्रशा न चातिवलहायिनी।
सुखेन च स्नेहयति शोधनार्थे च युज्यते॥

उत्तम मात्रा सेवन विधि —

प्रभूतस्नेहसात्म्या ये क्षुत्पिपासासहा नराः।
पावकश्चोत्तमवलो येषां ये चोत्तमा वले॥
गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये।
उन्मत्ताः कृच्छ्रमूत्राश्च गाढवर्चस एव च॥
पिवेयुरुत्तमां मात्रा तस्याः पाने गुणान् शृणु।
विकारान् शमयत्येपा शीघ्र सम्यक् प्रयोजिता॥
दोपानुकर्पिणी मात्रा सर्वमार्गानुसारिणी।
वल्या पुनर्नवकरी शरीरेन्द्रियचेतसाम्॥

स्नेहन कार्यार्थ रोगानुसार स्नेह मात्रा निर्धारण में सर्वदा चरकीय उक्त वचनों का स्मरण कर लेना चाहिये।

दोषानुसार स्नेह पान—

केवलं पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम्।
पेयं वहुकफे चापि व्योपक्षारसमन्वितम्॥११॥

पित्तजनित विकारों को शान्त करने के लिये (अनुपान रहित) केवल घृत घृत का अच्छ भाग) आवश्यक मात्रानुसार प्रयोग करे। वातदोष शात करने के लिये घृत की उचित मात्रा में सैन्धा लवण (१ माशा) मिलाकर पान करे। कफ वृद्धि अथवा कफ प्रधान दोप शात करने के लिये घृत की उचित मात्रा में त्रिकटु (१—३ माशा) और यवक्षार (१ माशा) मिलाकर पान करे॥११॥

घृत पान के योग्य रोगी—

रूक्षक्षतविषार्तानां वातपित्तविकारिणाम्।
हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिष्पानं प्रशस्यते॥१२॥

रूक्ष (रूक्ष अन्नों के अधिक सेवन तथा वात प्रकृति के कारण जिनकी अँतडियां रूक्ष हो गई हैं), क्षत (उरःक्षत अथवा अभिघातज क्षत के कारण जिनका रुधिर अधिक नष्ट हो गया है), विष (स्थावर अथवा जंगम विष भक्षण करने से

१—अरुषिका। २—प्रमीण अत्यर्थ प्रमेहपीडिता।

जो पीडित हुए हैं)—इनसे पीडित मनुष्यों तथा वातपित्त से पृथक् २ अथवा मिश्रित दोषद्वय के विकारों से जो पीड़ित हैं तथा जिनकी मेधा (धारणा शक्ति) और स्मृति (स्मरण शक्ति) क्षीण हो गई हो उन्हें घृत (घृत का अच्छ भाग) पान हित होता है ॥१२॥

वक्तव्य—घृत पान के योग्य रोगियों के लक्षण चरक भगवान् ने अधिक विस्तार से कहे हैं। यथा—

वातपित्तप्रकृतयो वातपित्तविकारिणः ।
चक्षुःकामाः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाऽबलाः ॥
आयुःप्रकर्षकामाश्च बलवर्णस्वरार्थिनः ।
पुष्टिकामाः प्रजाकामाः सौकुमार्यार्थिनश्च ये ॥
दीप्त्योजःस्मृतिमेधाग्निबुद्धीन्द्रियबलार्थिनः ।
पिबेयुः सर्पिरार्ताश्च दाहशस्त्रविषाग्निभिः ॥

तैल पान के योग्य रोगी—

कृमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः ।
पिबेयुस्तैलसात्म्या ये तैलं दार्ढ्यार्थिनस्तु ये ॥१३॥

जो कृमिकोष्ठ (जिन के कोष्ठ में कीड़े विद्यमान हों) तथा अनिलाविष्ट—(वातव्याधि से जिनके शरीर व्याप्त हों) एवं जिनके शरीर में कफ तथा मेद (चरबी) की वृद्धि हो और जिनको शरीर के दृढ करने की इच्छा हो उन्हें तैल (तिल तैल अथवा सस्कृत तैल उचित मात्रा से) पान करना चाहिये ॥१३॥

वक्तव्य— चरक मत—

प्रवृद्धश्लेष्ममेदस्काश्चलस्थूलगलोदराः ।
वातव्याधिभिराविष्टा वातप्रकृतयश्च ये ।
बलं तनुत्वं लघुतां स्थिरतां दृढगात्रताम् ॥
स्निग्धश्लक्ष्णतनुत्वक्त्व ये च काङ्क्षन्ति देहिनः ।
कृमिकोष्ठाः क्रूरकोष्ठास्तथा नाडीभिरर्दिता ।
पिबेयुः शीतले काले तैल तैलोचितास्तु ये ॥

वसापानयोग्य रोगी—

व्यायामकर्षिताः शुष्करेतोरक्ता महारुजः ।
महाग्निमारुतप्राणाः वसायोग्या नराः स्मृताः ॥१४॥

नीचे लिखे लक्षणों वाले रोगी वसा पान करने के योग्य होते हैं। जैसे-व्यायाम कर्षित (अत्यधिक दण्ड कसरत करने से जो कृश हो गए हों) तथा जिनका वीर्य और रुधिर सूख गया है एवं जिनके शरीर में अत्यंत पीडायें हों तथा जाठराग्नि प्रदीप्त हो, वायु प्रवृद्ध हो, प्राण (बल) स्थिर हो ऐसे (रोगी) मनुष्य वसापान करने के योग्य होते हैं ॥१४॥

मज्जापान योग्य रोगी—

क्रूराशयाः क्लेशसहा वातार्ता दीप्तवह्नयः।
मज्जानं च पिबेयुस्ते सर्पिर्वा सर्वतो हितम् ॥१५॥

क्रूराशय (जिनका कोष्ठ अत्यन्त करड़ा है) तथा क्लेशसह (जो दुःख को सहन कर सकते हों) एवं जो वायुजनित रोगों से पीड़ित हैं और जिनकी जठराग्नि प्रदीप्त है ऐसे मनुष्यों को मज्जा (अस्थि के भीतर का स्नेह) पान हितकर होता है। मज्जास्नेह के अथवा सर्वस्नेह के अभाव में घृत पान (ही) पथ्य होता है ॥१५॥

स्नेह पान का समय—

शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि।
वातपित्ताधिके रात्रौ वातश्लेष्माधिके दिवा ॥१६॥

स्नेहनार्थ यदि स्नेह पान करना हो तो शीतकाल में स्नेह को दिन (प्रातःकाल किञ्चित्सूर्योदय) में और उष्णकाल में रात्रि (सायकाल) के समय (उचित मात्रा से) पान करे। एवं दोष भेदानुसार—वातपित्त की अधिकता को शान्त करने के लिये रात्रि में तथा वातश्लेष्माधिक्य की शान्ति के लिये दिन में स्नेह पान हितकर होता है ॥१६॥

घृत तैल के प्रयोग में भेद—

नस्याभ्यञ्जनगण्डूषमूर्धकर्णाक्षितर्पणैः।
तैलं घृतं वा युञ्जीत दृष्ट्वा दोषबलाबलम् ॥१७॥

दोष (वात, पित्त, कफ तथा रस रक्तादि धातु एवं प्रकुपित मलादि के) बल को भली प्रकार विचार कर नस्य (नासा के द्वारा), अभ्यंग (मर्दन से), गण्डूष (स्नेह को मुख में भर कर कुल्ला करना), मूर्ध (शिरोवस्ति द्वारा स्नेह धारण), कर्ण (कान में डालना), एवं अक्षितर्पण (आंख में स्नेह पूर्ण करके उसे तृप्त करना) आदि विधियों में जहां घृत प्रयोग उपयुक्त हो वहां घृत तथा जहां तैल प्रयोग उपयुक्त हो वहां तैल का प्रयोग करे ॥१७॥

वक्तव्य—यह वैद्य के अनुभव का विषय है कि वह घृत तैलादि स्नेहों को आवश्यकतानुसार भेषजांतर संसिद्ध अथवा संस्कार रहित प्रयोग करे। आवश्यकतानुसार दोनों का प्रयोग दोष रहित माना जाता है।

स्नेह सेवन में अनुपान—

घृते कोष्णजलं पेयं तैले यूषः प्रशस्यते।
वसामज्ज्ञोः पिबेन्मण्डमनुपानं सुखावहम् ॥१८॥

घृत पान के पश्चात् गरम जल, तैल पान के पीछे यूष (मूंग का पानी), या वसा और मज्ज स्नेह के पश्चात् मण्ड (मॉड) का अनुपान करे ॥१८॥

वक्तव्य— अनुपान का प्रभाव—

अनुपानं करोत्यूर्जां तृप्तिं व्याप्तिं दृढाङ्गताम्।
अन्नसंघातशैथिल्यविक्लृत्तिजरणानि च ॥ (वाग्भट०)

अन्यच्च— सर्व स्नेहों में उष्णोदक—

जीर्णाजीर्णविशंकायां पुनरुष्णोदकं पिबेत्।
तेनोद्गारे विशुद्धिः स्यात्ततश्च लघुता रुचिः ॥
उष्णोदकानुपानं च स्नेहानामथ शस्यते ॥
परन्तु—ऋते भल्लातकस्नेहात्तत्र तोयं तु शीतलम् ॥

भात के साथ स्नेहपान—

स्नेहद्विषः शिशून् वृद्धान्सुकुमारान् कृशानपि।
उष्णकामानुष्णकाले सह भक्तेन पाययेत् ॥१६॥

जिनको स्नेह (चिकनाई) से द्वेष (ग्लानि अथवा अरुचि) हो, शिशु अवस्था (३—४ वर्ष की आयु), वृद्ध अथवा सुकुमार (कोमल प्रकृति) एवं अत्यन्त कृश (दुर्बल) तथा तृष्णातुर रोगियों को ग्रीष्म ऋतु में चावलों के भात के साथ स्नेह पान करावे ॥१६॥

सद्य स्नेहन—

सर्पिष्मती बहुतिला यवागूः स्वल्पतण्डुला।
सुखोष्णा सेव्यमाना तु सद्यः स्नेहनकारिणी ॥२०॥

स्वल्प तण्डुल एवं अधिक तिलों से सिद्ध की हुई यवागू घृत डालकर पान करने से सद्य' (शीघ्र, उसी दिन अथवा ३ दिन में) स्नेह कारिणी होती है (यवागू निर्माण विधि मध्यमखण्ड के २ अध्याय में देखो) ॥२०॥

अन्य योग—

शर्कराचूर्णसंभृष्टे दोहनस्थे घृते तु गाम्।
दुग्ध्वा क्षीरं पिबेदुष्णं सद्यः स्नेहनमुच्यते ॥२१॥

दूध दुहने योग्य स्वच्छ पात्र में मिशरी का चूर्ण और गोघृत (आवश्यक मात्रानुसार) डाले और इनके ऊपर गोस्तनों से दूध दुहे। इस प्रकार धारोष्ण दूध को स्नेहनार्थ पान करने से सद्यः स्नेहन होता है ॥२१॥

स्नेह के अजीर्ण में उपाय—

मिथ्याचाराद्बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति।
विष्टभ्य वापि जीर्येत वारिणोष्णेन वामयेत् ॥२२॥

स्नेहपान के पश्चात् मिथ्याचार (आहार विहार में अनियमित) अथवा अधिक मात्रा के कारण स्नेह जीर्ण (स्नेह का भली प्रकार पाक) नही होता अथवा

विष्टम्भ से पाक हो ऐसी अवस्था में कोष्ठ स्थित अपक स्नेह को उष्णोदक से वमन द्वारा निकाल देवे ॥२२॥

वक्तव्य— स्नेहपान में हिताचरण—

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षयाशय. ।
न वेगरोधव्यायामक्रोधशोकहिमातपान् ॥
प्रवातयानयानाध्वभाष्याभ्यासनसंस्थितीः ।
नीचात्युच्चोपधानाह: स्वप्नधूमरजांसि च ॥
यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत् ॥ (वाग्भट)

इस से भिन्न आचरण को ही मिथ्याचार कहते हैं ।

स्नेहाजीर्ण में प्रतीकार—

स्नेहस्याजीर्णशङ्कायां पिबेदुष्णोदकं नरः ।
तेनोद्गारो भवेच्छुद्धो भक्तं प्रति रुचिस्तथा ॥२३॥

स्नेह पान के अनतर यदि स्नेह के सम्यक् पाक में अपचन की शिकायत हो तो थोडा २ गरम जल पान करने से स्नेह पाक होकर उद्गार शुद्धि तथा भोजन में रुचि उत्पन्न होती है ॥२३॥

स्नेहपान जनित तृष्णा की चिकित्सा—

स्नेहेन पैत्तिकस्याग्निर्यदा तीक्ष्णतरीकृतः ।
तदास्योदीरयेत्तृष्णां विषमां तस्य वामयेत् ॥२४॥
शीतं जलं पाययच्च पिपासा तेन शाम्यति ।

पित्त प्रकृति के मनुष्यों के स्नेहपान करने पर जठराग्नि अत्यन्त उद्दीप्त होकर प्रवल तृष्णा रोग को उत्पन्न करती है । ऐसी अवस्था में वमन (उष्णोदक से) करवा देवे और शीतल जल पान करने से तृष्णा शात हो जाती है ॥२४॥

वक्तव्य— स्नेहपीतस्य चेत्तृष्णा पिबेदुष्णोदकं नर. ।
एवं चानुपशाम्यन्त्यां स्नेहमुष्णाम्बुना वमेत् ॥

स्नेहपान के अयोग्य रोगी—

अजीर्णी वर्जयेत्स्नेहमुदरी तरुणज्वरी ॥२५॥
दुर्बलोऽरोचकी स्थूलो मूर्च्छार्तो मदपीडितः ।
दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च वान्तस्तृष्णाश्रमान्वितः ॥२६॥
अकालप्रसवा नारी दुर्दिने च विवर्जयेत् ।

जिनको नित्य अजीर्ण (अपचन) का प्रकोप रहता हो उन्हें स्नेहपान (स्नेहनार्थ असस्कृत स्नेह) त्याग देना चाहिये तथा उदर रोग (जलोदरादि), तरुण ज्वर (नया बुखार), दुर्बलता, अरुचि, स्थूलता (मोटापन), मूर्च्छा तथा मद से

पीडितावस्था में एवं वस्ति प्रयोग के तत्काल पश्चात्, विरेचन के पश्चात्, वमन के पश्चात् तथा तृषा (प्यास) और श्रम (थकान) से पीडितावस्था में स्नेहपान त्याग देवे। जिस स्त्री के अकाल (उचित समय से प्रथम) में ही प्रसव हो गया हो एवं दुर्दिन (मेघ अथवा वर्षा युक्त दिन) में भी स्नेह पान त्याज्य होता है ॥२५—२६॥

वक्तव्य— तन्त्रान्तरीय व्यवस्था—

स्नेह्या नत्वातिमन्दाग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः ।
ऊरुस्तम्भातिसारामगलरोगगरोदरैः ॥
मूर्च्छाछर्द्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्च पीडिताः ।
उपप्रसूताशुक्ते च नस्ये वस्तौ विरेचने ॥ (वाग्भट)

स्नेहपान के योग्य रोगी—

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तमानसाः ॥२७॥
वृद्धा बालाः कृशा रूक्षाः क्षीणास्राः क्षीणरेतसः ।
वातार्तास्तिमिरार्ता ये तेषां स्नेहनमुत्तमम् ॥२८॥

स्नेहपान के लिये नीचे लिखी अवस्थाओं के रोगी प्रशस्त होते हैं। यथा—जिनको स्वेदित करना हो (यह स्वेद साध्य रोगों में दिया जाता है। इस से शरीर से पसीना निकलता है), जिन को विरेचन देना हो, जिनका शरीर मद्य पान, स्त्री सेवन और व्यायाम (दण्ड कसरत) में अधिक प्रीति होने से क्षीण हो गया है तथा वृद्ध, बाल, कृश, रूक्ष एवं क्षीणरुधिर तथा क्षीणवीर्य और वातरोग, तिमिर (नेत्ररोग) रोग इत्यादि अवस्थाओं में ग्रसित मनुष्यों को स्नेह पान कराकर स्निग्ध करना चाहिये ॥२७—२८॥

सुस्निग्ध रोगी के लक्षण—

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम् ।
मृदुस्निग्धाङ्गता ग्लानिः स्नेहोद्वेगोऽथ लाघवम् ॥२९॥
विमलेन्द्रियता सम्यक् स्निग्धे रूक्षे विपर्ययः ॥

कोष्ठान्तर्गत वायु का अनुलोम भाव, जाठराग्नि की दीप्ति, वर्च (पुरीष) पर चिकनापन तथा शिथिलता (ढीलापन) हो, अङ्गों में कोमलता तथा चिक्कणता एवं स्नेहपान में द्वेष तथा शरीर में लघुता और इन्द्रियों में विमलता उत्पन्न हो तब मनुष्य को सम्यक् स्निग्ध जानना चाहिये और रूक्षता में उचित स्नेहाभाव के कारण उपरोक्त लक्षणों से विपरीत लक्षण होते हैं ॥२९॥

वक्तव्य— रूक्ष के लक्षण—

यदुक्तं चरके—पुरीषं ग्रथितं रूक्षं वायुरप्रगुणो मृदुः ।
पक्ता खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम् ॥

अन्यत्राप्युक्तम्—रूक्षं पुरीषं ग्रथितं पक्वान्नं न विपच्यते।
उरो विदह्यते वायुः कोष्ठादुपरि धावति॥
दुर्बलो दुर्बलश्चापि रूक्षो भवति मानवः।

अतिस्निग्ध के लक्षण—

भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुदे दाहः प्रवाहिका॥३०॥
तन्द्रातिसारः पाण्डुत्वं भृशं स्निग्धस्य लक्षणम्।

आवश्यकता से अधिक स्नेहपान करने से भोजन में अरुचि, मुखस्राव (मुँह से लार का गिरना), गुदा में दाह अथवा पाक, प्रवाहिका (पेचिश-मरोड़), तन्द्रा, अतिसार, पीलापन इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं॥३०॥

वक्तव्य— चरकोक्त लक्षण—

पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता।
अत्युत्क्लेशोऽरुचिस्तन्द्री स्यादतिस्निग्धलक्षणम्॥

हीन और अतिस्निग्ध का उपाय—

रूक्षस्य स्नेहनं स्नेहैरतिस्निग्धस्य रूक्षणम्॥३१॥

रूक्ष मनुष्य को स्नेह (सद्य. स्निग्धकारक तैल घृतादि) से स्नेह न करे और अति स्निग्ध मनुष्य को रूक्षता उत्पन्न करने वाले आहार और विहार प्रयोग करा कर रूक्ष बनावे। ऐसा करने से अति स्निग्धता से एवं अति रूक्षता से होने वालें कष्ट स्वय दूर हो जाते हैं॥३१॥

रूक्ष योग—

श्यामाकचणकाद्यैश्च तक्रपिण्याकसक्तुभिः।

श्यामाक (क्षुद्रधान्य) और चणक आदि रूक्ष अन्न तथा तक्र (स्नेह रहित) पिण्याक (खली) और सत्तू आदि रूक्ष पदार्थों के प्रयोग से स्नेहाधिक्य को शान्त करे।

वक्तव्य—अथवा वाग्भटोक्त रूक्षवर्ग का प्रयोग करे। यथा—

क्षुत्तृष्णोल्लेखनस्वेदरूक्षपानान्नभेषजम्।
तक्रारिष्टखलोद्दालयवश्यामाककोद्रवम्॥
पिप्पली त्रिफला क्षौद्रं पथ्या गोमूत्रगुग्गुलुः।
यथास्वं प्रतिरोगं च स्नेहव्यापदि साधनम्॥

स्नेहसेवन के गुण—

दीप्ताग्निः शुद्धकोष्ठश्च पुष्टधातुर्दृढेन्द्रियः।
निर्जरो बलवर्णाढ्यः स्नेहसेवी भवेन्नरः॥३२॥

स्नेह सेवन करने वाले मनुष्य की जठराग्नि दीप्त होती है, कोष्ठ शुद्ध (मल-रहित) होता है, रसादि धातुएँ पुष्ट (पोषित) होती हैं, ज्ञान और कर्मेन्द्रियां

बलवान् होती हैं, वृद्धावस्था विलम्ब से प्राप्त होती हैं तथा बल और वर्ण बढ़ता है ॥३२॥

स्नेहसेवन में वर्जनीय—

स्नेहे व्यायामसंशीतवेगांघातप्रजागरान् ।
दिवा स्वप्नमभिष्यन्दि रूक्षान्नं च विवर्जयेत् ॥३४॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शाङ्गधराचार्येण विरचितायां शाङ्गधर-
संहितायामुत्तरखण्डे स्नेहविधिर्नाम
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

स्नेहपान करने के समय में दण्ड कसरत, अत्यंत शीत वातादि का सेवन, उपस्थित मलमूत्रादि के वेगों का रोकना, रात्रिजागरण, दिवास्वाप, अभिष्यन्दि (अपने पिच्छिल रस के कारण रसवाही स्रोतों के मार्ग में बाधा पहुंचाने वाला) तथा रूक्ष भोजन त्याग देवे ॥३४॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शाङ्गधर-
संहिताया. रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकायामुत्तरखण्डे
प्रथमोऽध्याय ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

स्वेद के भेद—

स्वेदश्चतुर्विधः प्रोक्तस्तापोष्मौ स्वेदसंज्ञितौ ।
उपनाहो द्रवः स्वेदः सर्वे वातार्तिहारिणः ॥१॥

ताप स्वेद, ऊष्म स्वेद, उपनाह स्वेद तथा द्रव स्वेद—इस भेद से स्वेद चार प्रकार का होता है। सब प्रकार के स्वेद वायु और उस से उत्पन्न होने वाले विकारों को नष्ट करते हैं ॥१॥

वक्तव्य—स्नेह के पश्चात् स्वेद विधि का वर्णन शास्त्रीय विधि से अनुमोदित है। इसी लिये स्नेह के अनन्तर स्वेदाध्याय कहा गया है। उक्तं च सुश्रुते—

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः ।
दारुशुष्कमिवानामे शरीरं तस्य दीर्यते ॥

चरकेऽपि—स्नेहपूर्वप्रयुक्तेन स्वेदमावर्जितेऽनिले ।
पुरीषमूत्ररेतांसि न सज्जन्ति कदाचन ॥

वाग्भटेऽपि—शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः ।
शक्यं कर्मण्यतां नेतुं किमु गात्राणि जीवताम् ॥

विस्तार में न जाते हुए श्रीशार्ङ्गधराचार्य ने सक्षेप से ४ प्रकार के स्वेदों का वर्णन किया है। परन्तु चरक भगवान् १३ प्रकार के स्वेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

शंकरः प्रस्तरो नाडी परिषेकोवगाहनम् ।
जेताकोष्मघनः कर्षः कुटी भूः कुम्भिरेव च ।
कूपो दोलक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश ॥

दोष भेद से स्वेद प्रयोग—

स्वेदौ तापोष्मजौ प्रायः श्लेष्मघ्नौ समुदीरितौ ।
उपनाहस्तु वातघ्नः पित्तसङ्गे द्रवो हितः ॥२॥

ताप और ऊष्म संज्ञक स्वेद कफ को नष्ट करते हैं। उपनाह संज्ञक स्वेद वायु को नष्ट करता है। द्रव संज्ञक स्वेद पित्त शांत करने के लिये हित होता है ॥३॥

वक्तव्य—तापोपनाहद्रववाष्पपूर्वाः स्वेदास्तदान्त्यः प्रथमौ कफे स्तः ।
वायौ द्वितीयः पवने कफे च पित्तोपसृष्टे विहितस्तृतीयः ॥

स्वेदसाध्य रोगों में विजय प्राप्त करने के लिये उपरोक्त नियमों का पालन अनिवार्य है।

शरीर भेद से स्वेद का त्रिविधत्व—

महाबले महाव्याधौ शीते स्वेदो महान्स्मृतः ।
दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्ये मध्यतमो मतः ॥३॥

स्वेद साध्य रोगी पूर्ण बलवान् हो अथवा व्याधि पूर्ण बल युक्त हो तथा शीतकाल अथवा रोगी शीत पीड़ित हो, ऐसी अवस्थाओं में महास्वेद (पूर्ण स्वेद) प्रदान करे। दुर्बल रोगी और अल्प लक्षण युक्त व्याधि में साधारण स्वेद देवे तथा मध्य बल एवं मध्यम दोषों से उत्पन्न व्याधि को शांत करने के लिये मध्यम (न अल्प न अधिक) स्वेद देवे ॥३॥

विशेष रहस्य—

बलासे रूक्षणस्वेदो रूक्षस्निग्धः कफानिले ।
कफमेदावृते वाते कोष्णं गेहं रवेः करान् ॥४॥
नियुद्धं मार्गगमनं गुरुप्रावरणं ध्रुवम् ।
चिन्ताव्यायामभारांश्च सेवेतामयमुक्तये ॥५॥

कफजनित रोगों की शान्ति के लिये रूक्ष स्वेद (बालुका, वस्त्र, कपाल, अगार, ईंट आदि को गरम करके उत्ताप पहुंचाना) प्रयोग करे। कफ और वात विकारों को शान्त करने के लिये रूक्ष-स्निग्ध स्वेद्य विधि से स्वेदित करे। कफ और मेद (चरवी) के द्वारा उत्पन्न रोगों को शान्त करने के लिये उष्णगृह (शुष्क हमाम) का सेवन करे तथा सूर्य की किरणों का सेवन करे (तेज धूप में बैठे)। नियुद्ध (कुश्ती) करना, मार्गगमन (दौड़ लगाना), भारी और गरम कपड़ा ओढना, चिंता द्वारा मन को क्षुब्ध करना, व्यायाम शील होना, मुग्दर आदि बोझल भारों का उठाना, कफ मेदो जनित विकारों को नाश करने के लिये हित होता है ॥४—५॥

प्रथम स्वेदन योग्य रोगी—

येषां नस्यं विधातव्यं बस्तिश्चापि हि देहिनाम् ।
शोधनीयाश्च ये चित्पूर्वं स्वेद्याश्च ते मताः ॥६॥

जिनको नस्य देना हो, जिन्हें अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना हो तथा जिन्हें वमन विरेचन से शुद्ध करना हो ऐसे रोगियो को उपरोक्त कर्म करने के पूर्व स्वेदित कर लेना चाहिये ॥६॥

शस्त्रकाल पर स्वेद—

स्वेद्याः पूर्वं त्रयः प्लीहभगन्दर्यर्शसस्तथा ।
अश्मर्यश्चातुरो जन्तुः समये शस्त्रकर्मणः ॥७॥

प्लीहावृद्धि, भगन्दर, बवासीर तथा पथरी के रोगी को शस्त्रकर्म (आपरेशन) करने के समय स्वेदित करे। इससे शस्त्रार्ह स्थान मृदु हो जाता है जिससे रोगी और वैद्य दोनों को सुविधा रहती है ॥७॥

पश्चात् स्वेदन योग्य रोगी—

पश्चात्स्वेद्या गते शल्ये मूढगर्भगदे तथा ।
काले प्रजाताऽकाले वा पश्चात्स्वेद्या नितम्बिनी ॥८॥

जिन के शरीर से शल्य (प्रविष्ट शल्यकण्टकादि) निकाल लिया हो तथ मूढ गर्भ आहरण कर लिया गया हो एवं कालप्रजात (जिस स्त्री के ठीक समय पर प्रसव हो) और अकालप्रजात (जिस स्त्री के नवमास से पूर्व अथवा दशमास वे पश्चात् प्रसव हो)—ऐसी स्त्री को विगत शल्य होने के उपरान्त स्वेदित करने स अप्राकृतिक वेदनायें शान्त होती हैं ॥८॥

स्वेद व्यवस्था—

सर्वान् स्वेद्यान् निवाते च जीर्णाहारे च कारयेत् ।

सर्वप्रकार के (आगे वर्णित) स्वेद निर्वात स्थान (गृह) में तथा भुक्त आहार के सम्यक् परिपक्व होने पर आरम्भ करे ।

स्वेद से लाभ—

स्वेदाद्धातुस्थिता दोषाः स्नेहक्लिन्नस्य देहिनः ॥९॥
द्रवत्वं प्राप्य कोष्ठान्तर्गता यान्ति विरेकताम् ।

रसरक्तादि धातुओं में स्थित वातादि दोष स्नेह से क्लेदित शरीर से स्वेद द्वारा द्रव भाव को प्राप्त होकर कोष्ठ (मार्ग) से स्वेद वहन करने वाले स्रोतों से बाहर निकल जाते हैं ॥९॥

स्वेदित की रक्षा—

स्विद्यमानशरीरस्य हृदयं शीतलैः स्पृशेत् ॥१०॥
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी ।

स्नेह मर्दन के पश्चात् जिस रोगी को स्वेदित किया जावे उसके हृदय को तथा नेत्रों को शीतल कदली आदि के पत्रों से शीतल करके रक्षा करता रहे। ऐसा करने से हृदय और नेत्र जो अत्यत कोमल स्थान हैं उनमें स्वेद से कोई विकृति नहीं होती। वृषणद्वय की भी सर्वांग स्वेद में इसी प्रकार रक्षा करे अन्यथा अधिक स्वेद से इन अवयवों में विकार उत्पन्न हो जाते हैं ॥१०॥

स्वेदकर्म के अयोग्य रोगी—

अजीर्णी दुर्बलो मेही क्षतक्षीणः पिपासितः ॥११॥
अतिसारी रक्तपित्ती पाण्डुरोगी तथोदरी ।
मदार्तो गर्भिणी चैव न हि स्वेद्या विजानता ॥१२॥
एतानपि मृदुस्वेदैः स्वेदसाध्यानुपाचरेत् ।

जिनको निरन्तर अपचन का विकार रहता हो अथवा अजीर्ण जन्य उपद्रव उत्पन्न हो गये हों, रोगी अत्यन्त दुर्बल हो, प्रमेह अथवा तज्जन्य विकारों से युक्त हो, रक्तादि धातुओं के नाश से जो क्षीण हो गया हो, जिसे प्यास अधिक लगती हो, अतिसार (दस्त) रोग से पीडित हो, रक्तपित्त रोग से ग्रसित हो (नाक से अथवा उभय मार्ग से खून निकलता हो) पाण्डु रोग से युक्त हो, उदर रोग (जलोदरादि) से युक्त हो, मद्य (शराव) का प्रभाव जिस पर व्याप्त हो, जो स्त्री गर्भवती हो—ऐसे रोगियों को बुद्धिमान् वैद्य स्वेदित न करे। परन्तु इन उपरोक्त स्वेद वर्जित रोगियों के कदाचित् ऐसी व्याधि उत्पन्न हो जाये जो स्वेदद्वारा साध्य होने योग्य हो तब इन्हें मृदु स्वेद से स्वेदित करे। कारण कि इनको पूर्ण अथवा अधिक स्वेदित करने से इनकी मृत्यु हो जाती है । अत. पूर्ण सावधानता से सानुभव कार्य करे ॥११—१२॥

मृदुस्वेद—

मृदुस्वेदं प्रयुञ्जीत तथा हृन्मुष्कदृष्टिषु ॥१३॥

हृदय, अण्डकोष और दृष्टि (आख)—इनमें मृदु स्वेद प्रदान करे ॥१३॥

वक्तव्य—मृदु स्वेद का निर्णय योग्य चिकित्सक की अपनी बुद्धि पर अवलम्बित है। हृदय, मुष्क और आख यह अत्यन्त कोमल मर्मस्थान हैं। स्वेद के प्रभाव से हृदय के तन्तु शीघ्र दुर्बल होकर नियमित कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं, जिसका परिणाम मृत्यु है । अण्डकोष और नेत्रों में श्लेष्माधिक्य होने के कारण इनको भी मृदुस्वेदार्ह स्थिर किया गया है। क्योंकि स्थानीय श्लेष्मा ही स्वेद से वाष्प रूप होकर प्राप्त होता है ।

अतिस्वेद जनित रोग—

अतिस्वेदात्सन्धिपीडा दाहस्तृष्णा क्लमो भ्रमः ।
पित्तासृक्पिटिकाकोपस्तत्र शीतैरुपाचरेत् ॥१४॥

अत्यधिक स्वेद देने से सन्धि स्थानों में दर्द, दाह, प्यास, क्लम (ग्लानि), भ्रम, पित्त, रुधिर प्रकोप, फुन्सियां इत्यादि उपद्रव उत्पन्न होते हैं । इनकी शाति के लिये शीत उपाय (मधुर, स्निग्ध और शीतल उपचार) करे ॥१४॥

तापस्वेद के लक्षण—

तेषु तापाभिधः स्वेदो वालुकावस्त्रपाणिभिः ।
कपालकन्दुकाङ्गारैर्यथायोग्यं प्रयुज्यते ॥१५॥

पूर्वोक्त चतुर्विध स्वेदों में से ताप स्वेद देने के लिये वालुका (रेत), वस्त्र (चौतहा वस्त्र अथवा 'लोगड'), पाणि (हाथ, हाथों को गरम करके नेत्रादि में ताप पहुंचाना), कपाल (ठीकरा अथवा पाषाण खण्ड ईंट आदि), कन्दुक (वस्त्र-निर्मित अथवा लोह-पाषाण-मृत्तिकादि से निर्मित गोलाकार) पदार्थ को गरम

करके योग्य स्थान व्याधि और कालादि का विचार करके आवश्यकता के अनुसार प्रयोग करे ॥१५॥

ऊष्मस्वेद—

ऊष्मस्वेदः प्रयोक्तव्यो लोहपिण्डेष्टकाश्मभिः।
प्रतप्तैरम्लसिक्तैश्च काये नक्तकवेष्टिते ॥१६॥
अथवा वातनिर्नाशिद्रव्यक्वाथरसादिभिः।
उष्णैर्घटं पूरयित्वा पार्श्वे छिद्रं विधाय च ॥१७॥
विमुद्र्यास्यं त्रिखण्डां च धातुजां काष्ठवंशजाम्।
षडङ्गुलास्यां गोपुच्छां नली युञ्ज्याद् द्विहस्तिकाम् ॥१८॥
सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतम्।
हस्तिशुण्डिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणम् ॥१९॥
पुरुषायाममात्रां वा भूमिमुत्कीर्य खादिरैः।
काष्ठैर्दग्ध्वा तथाभ्युक्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः ॥२०॥
वातघ्नपत्रैराच्छाद्य शयानं स्वेदयेन्नरम्।
एवं माषादिभिः स्विन्नैः शयानं स्वेदमाचरेत् ॥२१॥

समग्र शरीर अथवा उसके किसी अंगविशेष को नक्तक करञ्जुआ (अथवा अन्य वातहर द्रव्यों) के पत्रों से लपेट कर लोहपिण्ड, ईंट अथवा पाषाण खड को अग्नि में डाल कर अत्युष्ण करे और उसे उष्ण पिण्ड पर निम्बु जम्बीरी का रस अथवा काजी से सिंचन करके पत्र वेष्टित स्थान पर रख देवे। इस से स्वेद निकलता है। इसको ऊष्मस्वेद कहते हैं।

अथवा वायु को नष्ट करने वाले दशमूल एरण्ड धत्तूर आदि के क्वाथ अथवा स्वरस को सुदृढ घडे में भरकर, घडे के मुख के ऊपर एक मिट्टी का छोटा भाण्डा देकर दोनों के मुखों को मिलाकर भली प्रकार वन्द कर देवे और ऊपर के घड़े के गले में छोटा सा छेद कर लेवे। पुन एक नली जो त्रिखण्डात्मक हो (तीन भागों में विभक्त अथवा मृदु, मध्य और तीव्र स्वेद भेद से जिसके भीतर का छिद्र उत्तरोत्तर बड़ा बनाया गया हो ऐसी नली और) जो लोह ताम्रादि धातु से अथवा लकडी वा वांस की पोरी से वनी हो, जिसका प्रथम खण्ड ६ अगुल गोपुच्छाकृति तथा जिसकी समग्र लम्बाई दो हाथ की हो, ऐसी नली का एक किनारा ऊपर वाले भाण्डे के छेद में लगा कर सन्धिलेप करे और दूसरा किनारा स्वभ्यक्त तथा भारी कपडों से ढके शरीर के भाग में स्थित करे (ऐसे यन्त्र को चूल्हे पर रख कर नीचे अग्नि जलावे। अग्निदान से घट में उत्थित जलवाष्प

निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच कर स्वेद उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार हाथी की सूंड के सदृश नलिका से वात विकार युक्त रोगियो को स्वेदित करे ।

अथवा—स्वच्छ भूमि भाग में पुरुष के आकार के समान एक गढा (जिस में मनुष्य सो सके) खोदकर (मृत्तिकादि से रिक्त करके) उस में खैर की लकडी जलावे (जितनी लकडियों से गढा चारों ओर का खूब गरम हो जावे) और अगारो को बीच से निकाल कर दूध, काजी और जल से सिचन करे । जब उस में से सिचन के कारण से वाष्पोद्गम हो तब एरण्ड, धत्तूरा आदि के पत्तों को गढे में बिछा कर, जिस मनुष्य को सर्गाग स्वेद देना हो उसे गढे में सुला कर और ऊपर से वात नाशक पत्तों से ढक देवे । इसी प्रकार मापादि वात नाशक क्वाथ से गढे को सिचन करे और मापादि के पत्र ही रोगी के नीचे ऊपर बिछा कर सुलावे और स्वेदित करे ॥१६—२१॥

उपनाहस्वेदविधि —

अथोपनाहः स्वेदं च कुर्याद्वातहरौषधैः ।
प्रदिह्य देहं वातार्तं क्षीरमांसरसान्वितैः ॥२२॥
अम्लपिष्टैः सलवणैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ।
उपग्राम्यानूपमांसैर्जीवनीयगणेन च ॥२३॥
दधिसौवीरकक्षीरैर्वीरतर्वादिना तथा ।
कुलित्थमापगोधूमैरतसीतिलसर्षपैः ॥२४॥
शतपुष्पादेवदारुशेफालीस्थूलजीरकैः ।
एरण्डमूलबीजैश्च रास्नामूलकशिग्रुभिः ॥२५॥
मिशिकृष्णाकुठेरैश्च लवणैरम्लसंयुतैः ।
प्रसारिण्यश्वगन्धाभ्यां बलाभिर्दशमूलकैः ॥२६॥
गुडूचीवानरीबीजैर्यथालाभं समाहृतैः ।
क्षुण्णैः स्विन्नैश्च वस्त्रेण बद्धैः संस्वेदयेन्नरम् ॥२७॥
महाशाल्वणसंज्ञोऽयं योगः सर्वानिलार्तिहृत् ।

वातहारक (काकोल्यादि, दशमूलादि) द्रव्यों के (आवश्यकतानुसार) त्वक् पत्रादि लेकर काजी के साथ पीसकर चटनी सी बना लेवे और इस सुपेषित कल्क को (लोह पात्र में डालकर) दूध, मास रस, लवण, अम्लरस (जम्बीरी आदि) डालकर पकावे । लेप करने योग्य होने पर इसे उतार लेवे और सुखोष्ण लेप को वायु से पीड़ित रोगी मनुष्य के शरीर (अथवा पीडास्थान) पर लगावे । इसको उपनाह स्वेद कहते हैं ।

महाशाल्वण स्वेद के लिये ग्राम्य (घोडा, खच्चर, गधा और भेड़, पुच्छकादि जीवों का मास) और आनूप (भैंस, सूअर, हंस, सारस, क्रौंच आदि जीवों का) मास (सुस्विन्न) तथा जीवनीय गण की औषधें (जीवनीय गण—अष्टवर्ग, मुलेठी, जीवती, मुद्गपर्णी, माषपर्णी), दही, काजी, दूध, वीरतर्वादिगण (सुश्रुतोक्त) के यथाप्राप्त द्रव्य, कुलथी (अन्न), उड़द, गोधूम, अलसी, तिल, सरसों, सौंफ, देवदारु, अस्थिसंहार, काला जीरा, एरण्ड की जड़, एरण्ड के बीज, रास्ना, मूलक (मूलिया), सोहाजना, कडवी सौंफ, काली पीपल, तुलसी (मरुआ), सैंधानमक, अम्ल (गलगल का रस), प्रसारिणी, असगध, धनिया, खरैटी, दशमूल, गिलोय, कौंच की जड़—इन सबको यथालाभ (और यथामान तथा यथावश्यकता) ग्रहण करके कूटे और उपरोक्त द्रव पदार्थों में पकाकर पोटली में बाधे और यथावश्यक पीडित स्थान पर रखकर स्वेद देवे। यह महाशाल्वण स्वेद सम्पूर्ण वात जनित पीडाओं को शात करता है ॥२२—२७॥

द्रवस्वेदविधि —

द्रवस्वेदस्तु वातघ्नद्रव्यक्काथेन पूरिते ॥२८॥
कटाहे कोष्ठके वाऽपि सूपविष्टोऽवगाहयेत् ।

वातघ्न द्रव्यों (दशमूलादि यथामान तथा यथावश्यक द्रव्य) से यथाविधि विनिर्मित क्काथ कटाह अथवा टप में डालकर सुखपूर्वक इसमें बैठ कर अवगाहन करे। इसको द्रव स्वेद कहते हैं ॥२८॥

वक्तव्य—क्काथ गरम हो और ऐसे पात्र में डाला जाय जिसमें रोगी मनुष्य भली प्रकार बैठ सके। इस स्वेद विधि का वर्त्तमान में अधिक प्रचार है। इसको 'टप बाथ' कहते हैं। यह अत्यत लाभदायक स्वेद विधान है।

द्रव स्वेद की विधि —

नाभेः षडङ्गुलं यावन्मग्नः क्काथस्य धारया ॥२९॥
कोष्णया स्कन्धयोः सिक्तस्तिष्ठेत् स्निग्धतनुर्नरः ।
एवं तैलेन दुग्धेन सर्पिषा स्वेदयेन्नरम् ॥३०॥

वातव्याधि पीड़ित मनुष्य के शरीर पर तैलादि का मर्दन करके उसे पूर्वोक्त कटाह अथवा टप में बिठावे (अथवा खडा कर देवे) और उसके कन्धों पर वातघ्न द्रव्यों से यथाविधि सिद्ध क्काथ को डालता जावे। यह क्काथ सहन करने योग्य उष्ण हो। कन्धों पर पडता हुआ क्काथ जब नाभि से छ अगुल ऊपर (हृदय से नीचे) तक आजावे तब बन्द कर देवे। यह इसका धारण विधान है। इसी प्रकार आवश्यकता के अनुसार तैल, घृत और दूध (गरम किये हुओं) से भी स्वेद दिया जाता है ॥२९—३०॥

वक्तव्य—यह सब विधिया निर्वात स्थान और गरम कमरे में होनी चाहियें। क्वाथ द्वारा द्रव स्वेद (स्नान) के पीछे शरीर को स्वच्छ और शुष्क वस्त्र से पोंछकर भारी कपडा ओढ लेवे अथवा बिस्तरे में बैठ जावे। घृत तैलादि के पश्चात् शरीर को मर्दन करे। तदनतर उद्वर्तन करके समयानुकूल उष्णोदक से स्नान करे और पुन. शरीर को पोंछकर अल्पकाल के लिये बिस्तरे में बैठे और चित्त को स्वस्थ होने देवे।

अवगाहन का समय—

एकान्तरे ब्यन्तरे वा स्नेहो युक्तोऽवगाहने।

यदि स्नेह (घृत तैलादि) से अवगाहन करना हो तो एक २ अथवा दो २ दिन के अन्तर से (आवश्यकतानुसार) व्यवहार करे।

वक्तव्य— शास्त्रान्तर से स्नेहावगाहन का समय—

कटाहे मृण्मये पात्रे किं वा पाषाणसंभवे।
आकण्ठमग्नो निवसेत् प्रहरं प्रातरेव वा॥
रोमान्तेष्वनुकूपेषु स्थित्वा मात्राशतत्रयम्।
ततः प्रविशति स्नेहैश्चतुर्भिर्गच्छति त्वचम्॥
पञ्चभिश्च भजेद्रक्तं षड्भिर्मांसं प्रपद्यते।
मेदः स्थानं सप्तशतैरष्टभिश्चास्थिषु व्रजेत्॥
नवभिर्याति मज्जानं ततो मात्रां न कारयेत्॥ (वैद्यालङ्कार)

सर्वांग स्वेदनार्थ अन्यत्र भी कण्ठ पर्यन्त स्नेह धारण व्यवस्था है। यथा—

द्रोणीं काष्ठस्य तैलेन सुखोष्णेन प्रपूरयेत्।
तत्र स्थित्वा यथामात्रा कण्ठपर्यन्तमाहनुम्॥
सुखिनः सुकुमारस्य सुखार्थी श्रमपीडितः।
गाहयेत् घटिकासार्धं तैलद्रोण्यां च यत्नतः॥
ततो निःसृत्य हस्ताभ्यां खट्वायां चर्मके पुनः।
सुखेन मर्दनं कृत्वा यावत्तैलं विशुष्यति॥
उद्वर्तनं ततः कुर्यात्स्नानं च विधिपूर्वकम्।

गुण—त्वचि कान्तिकरं सद्यः पारुष्यं च विनश्यति॥
बलपुष्टिकरं सद्यो वातरोगं च नाशयेत्।
अन्ये च त्वग्भवा रोगा मन्दानलसमुद्भवाः॥
यस्य शुष्यति सर्वांगं गतिर्यस्य तु विह्वला।
तस्य द्रोण्यां च तैलेषु गाहयेद्घटिकात्रयम्॥
क्षीणेन्द्रिया· क्षीणशुक्रा ज्वरक्षीणाश्च ये नराः।
वातार्तौ वृषणौ येषामन्त्रवृद्धिश्च दारुणा॥
पङ्गुलः पीठसर्पी च गृध्रसीवातशूलवान्॥

कलापखञ्जकं तूनीं प्रतूनीं च विशेषतः ।
एतान्सर्वान् हि हन्त्याशु छिन्नाभ्र इव मारुतम् ॥

स्वेदित पुरुष की हृदयादि रक्षा—

चरकीय—पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी ।
मुक्तावलीभिः शुद्धाभिः शीतलैर्भाजनैरपि ।
जलार्द्रैः सजलैर्हस्तैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत् ॥

अवगाहन का फल—

शिरामुखैर्लोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयेत् ॥२१॥
शरीरे बलमाधत्ते युक्तः स्नेहोऽवगाहने ।

स्नेह का सम्यक् अवगाहन शिराओं के मुख, रोमकूप और धमनियों को तथा धातुओं को तृप्त (स्निग्ध) करता है एवं शरीर में बल (स्फूर्ति, स्निग्धता सुन्दरता, उत्साह) प्राप्त होता है ॥२१॥

वक्तव्य— मात्रा निर्णय—

मात्राभिस्त्रिश्चतुःपञ्चषट्सप्ताष्टभिराव्रजेत् ।
रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाधातून् यथाक्रमम् ॥

धारणीय मात्रा का लक्षण—

स्फजा ऊनः करावर्तं कुर्याता स्फोटिकया युताम् ।
एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥
वेदनोपक्षयः पञ्चशतसप्तशतानि वा ।
सहस्रं वापि मात्राणां कुर्याद्दोषबलाबलम् ॥

धातुवर्धन में हेतु—

जलसिक्तस्य वर्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरास्तरोः ॥२२॥
तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते ।
नातः परतरः कश्चिदुपायो वातनाशनः ॥२३॥
शीतशूलाद्युपरमे स्तम्भगौरवनिग्रहे ।
दीप्ताग्नौ मार्दवे जाते स्वेदनाद्विरतिर्मता ॥२४॥

जिस प्रकार वृक्ष मूल में जलसिंचन से वृक्ष बढ़ता है उसी प्रकार स्नेह द्वारा सिंचित हुए शरीर के धातु बढ़ते हैं। वात विकारों को नष्ट करने के लिये इस उपाय से बढ़कर कोई उपाय नहीं। जब वातार्त स्थान के शीत और शूलादि उपद्रव शान्त हों तथा स्तम्भ (क्रियाहीनता) और भारीपन नष्ट हो एवं रोगी मनुष्य की जठराग्नि बलवान् हो जाये तथा शरीर में मृदुता (आरोग्यता) प्राप्त हो तब शनैः २ स्वेद छोड़ना चाहिये ॥२२—२४॥

स्वेद के पश्चात् कर्त्तव्य—

सम्यक्स्विन्नं विमृदितं स्नानमुष्णाम्बुभिः शनैः।
भोजयेच्चानभिष्यन्दि व्यायामं च न कारयेत् ॥३५॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधरसंहितायामुत्तरखण्डे स्वेदविधिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

जिस रोगी मनुष्य के शरीर से स्वेद निकाला गया हो उसके शरीर को शनैः २ मर्दन करके उष्णोदक से शनैः २ स्नान करावे। अभिष्यन्दि (पिच्छिलता उत्पादक) भोजन तथा व्यायाम को त्याग देवे। इस प्रकार हिताचरण करे ॥३५॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकायामुत्तरखण्डे द्वितीयोऽध्याय ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः।

वमन विरेचन काल—

शरत्काले वसन्ते च प्रावृट्काले च देहिनाम्।
वमनं रेचनं चैव कारयेत्कुशलो भिषक् ॥१॥

शरत् काल (शरद् ऋतु—कार्त्तिक, मार्गशीर्ष मास), वसन्त काल (वसंत ऋतु—फाल्गुन, चैत्र), प्रावृट् (प्रावृद् ऋतु—आषाढ़, श्रावण)—इन तीनों ऋतुओं में मनुष्यों को कुशल वैद्य (प्रवीण तथा जिसे दोष, देश, काल, सात्म्य, प्रकृति, आयु, अग्नि, धातु और मल तथा सचयादि का भली प्रकार ज्ञान हो) वमन (ऊर्ध्व भाग से दोषहरण) तथा विरेचन (अधोभाग द्वारा दोष निर्हरण) करावे ॥१॥

वक्तव्य—प्रावृट् एक ऐसी ऋतु है जिसमें न अधिक वर्षा और न अधिक धूप ही रहती है। यथा—

अतिप्रविष्टेनातिघर्मे प्रावृडित्यभिधीयते।
तत्रैव शोधनं पथ्यं न वर्षासु कदाचन ॥ (अग्निवेश)

वमन कराने योग्य रोगी—

बलवन्तं कफव्याप्तं हृल्लासार्तिनिपीडितम्।
तथा वमनसात्म्यं च धीरचित्तं च वामयेत् ॥२॥

वमन साध्य रोगों में वमन कराने के लिये रोगी कैसा हो? रोगी बलवान् (वमन जन्य क्लेश को सहन करने की शक्ति रखता) हो, कफ व्याप्त (कफ प्रधान रोगों से पीडित) हो, हृल्लास (उपस्थित वमनत्व) हो तथा जो सर्वदा वमन (कय) करने का अभ्यासी एवं धैर्यशील हो ऐसे रोगी को वमन करावे ॥२॥

वक्तव्य—वमन प्राय आमाशय के रोगों में विशेषकर श्लेष्मानुबन्धी विकारों में अत्यन्त लाभकारक उपाय है। वमन से आमाशय की झिल्ली तथा उसके रसोत्पादक पिण्डों की क्रियाहीनता नष्ट होती है। वामक औषधें आमाशय के अन्दर पहुँचकर सचित कफ को द्रवीभूत कर देती हैं और औषधीय उद्वेग से द्रव भाव को प्राप्त हुआ श्लेष्मा मुख द्वारा बाहिर निकल आता है। इससे आमाशय शुद्ध हो जाता है तथा श्लेष्म विकार मन्दाग्नि कास श्वासादि नष्ट होते हैं।

वमनसाध्य रोग—

विषदोषे स्तन्यरोगे मन्देऽग्नौ श्लीपदेऽर्बुदे।
हृद्रोगकुष्ठवीसर्पमेहाजीर्णभ्रमेषु च ॥३॥
विदारिकापचीकासश्वासपीनसवृद्धिषु।

अपस्मारे ज्वरोन्मादे तथा रक्तातिसारिषु ॥४॥
नासाताल्वोष्ठपाकेषु कर्णस्रावे द्विजिह्वके ।
गलशुण्ड्यामतीसारे पित्तश्लेष्मगदे तथा ॥५॥
मेदोगदेऽरुचौ चैवं वमनं कारयेद् भिषक् ।

निम्न लिखित रोगों में वमन (कय) कराना हितकर होता है। यथा—विष दोष (जब भक्षित विष आमाशय में हो), स्तन्य रोग (स्तन चूचुकों का शोथ विद्रधी आदि), मन्दाग्नि (पचन शक्ति का अभाव), श्लीपद (फीलपाद, पाओं का मोटा होना), अर्बुद (रसौली), हृद्रोग (वात श्लेष्म जनित अथवा हृदय की गुरुता), कुष्ठ, विसर्प (सुर्खवाद), प्रमेह, अजीर्ण, भ्रमरोग, विदारी (व्याई), अपची (फूटी हुई गण्डमाला की ग्रंथियाँ), खांसी, दमा, पुराना जुकाम, अंडवृद्धि *(हरनिया), अपस्मार (मृगी), ज्वर (श्लेष्म प्रधान पुराण ज्वर), उन्माद (पागलपन,* मालिखौलिया), रक्तातिसार, नाक और ओठों तथा तालु (तालवे) के पक जाने पर, कान के बहने, द्विजिह्विका (जिह्वारोग), गलशुण्डी (गलरोग), अतीसार, पित्त और कफ से उत्पन्न विकारों पर, मेद (चरवी) के अधिक बढ़ जाने तथा अरुचि (भोजनेच्छा के अभाव) में वमन (कय) कराना हितकर होता है ॥३—५॥

वमन के अयोग्य रोगी—

न वामनीयस्तिमिरी न गुल्मी नोदरी कृशः ॥६॥
नातिवृद्धो गर्भिणी च न स्थूलो न क्षुधातुरः ।
मदार्तो बालको रूक्षः क्षुधितश्च निरूहितः ॥७॥
उदावर्त्यूर्ध्वरक्ती च दुश्छर्दिः केवलानिली ।
पाण्डुरोगी कृमिव्याप्तः पठनात्स्वरघातकः ॥८॥

तिमिर (काच, मोतियाबिन्द) रोग, गुल्म रोग, उदर रोग और कृशता रोग युक्त मनुष्य को वमन न करावे। तथा अतिवृद्ध मनुष्य, गर्भिणी स्त्री, अत्यधिक मोटे मनुष्य, क्षुधा (भूख) से पीड़ित मनुष्य, मद से पीडित मनुष्य, बालक (जो अति दुर्बल हो), रूक्षोदर वाले, भूखे, निरूहण बस्ति लिये हुए, उदावर्त रोग, ऊर्ध्व-गामी रक्तपित्त रोग युक्त मनुष्य, दुश्छर्दित, केवल वातविकार युक्त रोगी, पाण्डु रोग पीड़ित, कृमि रोगी (जिसके उदर में कीडे पड़ गये हों) तथा ऊंचे स्वर से पढ़ने के कारण जिनका स्वर बैठ गया हो ऐसे रोगियों को वमन हितकर नही होता ॥६-८॥

वक्तव्य—यहां बालक को वमन का निषेध है। परन्तु वमन जन्म से ही हितकर कहा गया है। यथा—

अञ्जनं च तथा लेपः स्नानमभ्यङ्गकर्म च ।
वमनं प्रतिमर्शश्च जन्मप्रभृति शस्यते ॥ (शार्ङ्गधर)

अतः यहाँ वमन को सहन न करने की शक्ति वाले बालक का निषेध है । दुश्छर्दित को भी वमन का निषेध है परन्तु सुश्रुत में 'छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते' कहा है ।

अवश्यवमनाद्रोगाः कृच्छ्रतां यान्ति देहिनः ।
असाध्यतां वा गच्छन्ति नैते वाम्या ह्यतिश्रुताः ॥

वमन के अयोग्यों को वमन—

एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये विषपीडिताः ।
कफव्याप्ताश्च ते वाम्या मधुकक्वाथपानतः ॥९॥
सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं न वामयेत् ।
पीत्वा यवागूमाकण्ठं क्षीरतक्रदधीनि वा ॥१०॥
असात्म्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुत्क्लिश्य देहिनः ।
स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक् प्रवर्तते ॥११॥

जिन रोगों में वमन का निषेध किया गया है यदि उनके रोगी अजीर्ण, विषबाधा और कफ से पीडित हों तब मुलेठी का क्वाथ पिलाकर सुकुमार, कृश, बालक, वृद्ध तथा भीरु (डरपोक) रोगियों को वमन करावे । अथवा यवागू को पेट भरकर पिलाकर वमन करावे अथवा दूध, छाछ और दही (उचित मात्रा में) भर पेट पीकर वमन करावे । स्निग्ध तथा स्वेदित किये हुए मनुष्य को असात्म्य भोजन तथा कफ कारक भोजनों के द्वारा उत्क्लेशित करके वमन देने से उचित वमन होती है ॥९—११॥

वक्तव्य—'मधुकक्वाथ' मुलेठी का क्वाथ, अभाव में शहद को पानी में क्वथित करके पान करे । यथा—

प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्णं न निवारयेत् ।
अलब्धपाकमाश्वेव तयोस्तस्मान्निवर्त्तते ॥

स्नेह वमनादि व्यवस्था—

स्निग्धस्विन्नशरीरस्य दद्यात्प्रच्छर्दनं त्र्यहात् ।
दशरात्रे गते वान्ते भूयो दद्याद्विरेचनम् ॥ (भालुकि)

वमन में हितकर पदार्थ—

वमनेषु च सर्वेषु सैन्धवं मधु वा हितम् ।

वमनकारक औषधों (क्वाथ चूर्णादि) में सैंधानमक अथवा शहद हित होता है

विरेचन में हितकर पदार्थ—

बीभत्सं वमनं दद्याद् विपरीतं विरेचनम् ॥१२॥

बीभत्स पदार्थ (जो रस और वर्ण में विकृत हो तथा मन में ग्लानि उत्पन्न

करें) वमन कारक होते हैं। इनसे विपरीत (भिन्न) मन की दशा को ठीक रखने वाले भाव और पदार्थ विरेचन कारक होते हैं ॥१२॥

वमनार्थ क्वाथ्य और क्वाथ का मान—

क्वाथ्यद्रव्यस्य कुडवं श्रपयित्वा जलाढके ।
अर्धभागावशिष्टं च वमनेष्ववचारयेत् ॥१३॥

वामक कषाय बनाने की विधि—क्वाथार्थ वामक द्रव्य (पटोल, वासा, निम्बादि) समस्त अथवा एक (कुट्टित) एक कुडव (१६ तोले)। क्वाथ पाकार्थ—जल ४ प्रस्थ (४ सेर)। अवशिष्ट क्वाथ—अर्ध भागावशिष्ट (२ सेर)। इस विधि से सिद्ध किए हुए क्वाथ को वमनार्थ प्रयोग करे ॥१३॥

वक्तव्य—यह अवशिष्ट मात्रा एक बार ही पिलाने योग्य नहीं प्रत्युत जितनी एक वार पान की जा सके उतनी करे। बार २ थोडा २ पान करे।

वामक द्रव्य—

फलजीमूतकेक्ष्वाकुकुटजा' कृतवेधन ।
धामार्गवश्च संयोज्या' सर्वथा वमनेष्वमी ॥

अर्थात्—मैनफल, कड़वी तोरी, कड़वी तुम्बी, कूडे की छाल, कृत वेधन (अमलतास अथवा माल कांगनी), धामार्गव (अपामार्ग अथवा पीतपुष्पा कोषातकी)—इन वामक द्रव्यों को आवश्यकता के अनुसार क्वाथ, कल्क, चूर्णादि के रूप में व्यवहार करे। चक्रपाणि इसी पाठ को इस प्रकार लिखता है—'चतुर्भागावशिष्टं तु वमनेष्ववचारयेत्'। यहा आधा न रखकर केवल चतुर्थांश शेष रक्खा है।

अन्यमत से क्वाथ पान की मात्रा—

क्वाथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्तिता ।
मध्यमा षण्मिता प्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी ॥१४॥

वामक द्रव्यों से यथाविधि परिसाधित वस्त्रपूत नौ प्रस्थ क्वाथ की एक मात्रा ज्येष्ठ मात्रा कहलाती है, छः प्रस्थ अवशिष्ट पेय क्वाथ की मात्रा मध्य मात्रा होती है और तीन प्रस्थ अवशिष्ट पेय क्वाथ की मात्रा छोटी (हलकी) मात्रा कहलाती है ॥१४॥

वामक कल्कादि की मात्रा—

कल्कचूर्णावलेहानां त्रिपलं श्रेष्ठमात्रया ।
मध्यमं द्विपलं विद्यात्कनीयस्तु पलं भवेत् ॥१५॥

वमनार्थ यदि कल्क (शिलापेषित) चूर्ण (वस्त्रपूत), और अवलेह (चाटने योग्य) प्रयुक्त करने हों तो (रोग और दोषानुसार) उनकी तीन पल की उत्तम मात्रा होती है, दो पल की मध्य मात्रा होती है और एक पल की मात्रा हीन (अथवा अल्प) मात्रा होती है ॥१५॥

उत्तम, मध्यम और हीन शोधन के लक्षण—

वमने चापि वेगाः स्युरष्टौ पित्तान्तमुत्तमाः ।
षड्वेगा मध्यमा वेगाश्चत्वारस्त्ववरे मताः ॥१६॥

वमन के वेग तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम वेग—इसमें आठ वमन होने से उत्तम वमन होता है, मध्यम वेग—इसमें छ वमन होने से मध्यम वमन (शोधन) होता है और अवर (हीन) वेग—इसमें चार वमन होने से अवर वेग (हीन शोधन) होता है ॥१६॥

वमनादि के प्रस्थ का परिमाण—

वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे ।
सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥१७॥

वमन विरेचन तथा रुधिर मोक्षण में व्यवहार होने योग्य क्वाथादि के प्रस्थ का मान १३॥ पल (दस छटाक ४ तोला) का चिकित्सकों द्वारा व्यवहार होता है।

दोषानुसार वामक द्रव्य—

कफं कटुकतीक्ष्णोष्णैः पित्तं स्वादुहिमैर्जयेत् ।
सुस्वादुलवणाम्लोष्णैः संसृष्टं वायुना कफम् ॥१८॥
कृष्णा राठफलं सिन्धु कफे कोष्णजलैः पिबेत् ।
पटोलवासानिम्बैश्च पित्ते शीतजलं पिबेत् ॥१९॥
सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत् ।
अजीर्णे कोष्णपानीयैः सिन्धु पीत्वा वमेत्सुधीः ॥२०॥

कफ की वृद्धि को नष्ट करने के लिये कटु, तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों को वामक कषाय के साथ) पान करे। पित्ताधिक्य को शात करने के लिये मधुर शीतल औषधों को (वामक द्रव्यों के कषाय के साथ) पान करे। कफ मिश्रित वात विकारों को नष्ट करने के लिये मधुर, लवण, खट्टे तथा उष्ण द्रव्यों को (वामक द्रव्यों के कषाय के साथ) पान करे।

कफनाशार्थ वामक द्रव्य—मैनफल, काली पीपल और सैन्धालवण (सब यथोचित मान में मिलाकर उष्णोदक से पान करे। पित्तनाशार्थ वामक द्रव्य—पटोल पत्र, वासा पत्र, निम्बपत्र (उचित मात्रा में पीसकर) शीतल जल से पान करे। कफ-युक्त वात पीडार्थ-मैनफल के चूर्ण को दूध में मिलाकर पान करे तथा अजीर्ण (रसशेषाजीर्ण) नाशार्थ-सैंधव नमक को उष्णोदक में मिलाकर वमन कर देवे ॥१८-२०॥

वक्तव्य—सैंधवलवण और उष्णोदक का वामक योग निरापद योग है। वर्तमान में प्राय अधिक व्यवहृत होता है। एक गिलास गरम जल में १

तोला लवण पर्याप्त होता है। जब तक पूर्ण लघुता न हो, बार २ इसी योग का व्यवहार करता रहे।

वमनविधिः—

वमनं पाययित्वा च जानुमात्रासने स्थितम् ।
कण्ठमेरण्डनालेन स्पृशन्तं वामयेद्भिषक् ॥२१॥
ललाटं वमतः पुंसः पार्श्वे द्वे च प्रबोधयेत् ।

कुशल वैद्य रोगी मनुष्य को वमन कारक औषध पिलाकर जानुमात्र (२ फुट) ऊंचे आसन (चौकी अथवा कुरसी) पर बैठाकर एरण्ड की नाल (टहनी) से कण्ठ को स्पर्श करके वमन (कय) करावे। वमन करते हुए मनुष्य के मस्तक तथा दोनो पसवाड़ों को (दूसरा मनुष्य) सहारा देता रहे ॥२१॥

वक्तव्य—वामक औषध पानानतर चित्त को वमन की तरफ उकसाता रहे। जब पूर्ण हृल्लास हो (जी मिचलावे) तब दातून की विधि से एरण्ड नाल को कण्ठ में स्पर्श करे। इससे पूर्ण वेगयुक्त वमन होता है।

दुर्वान्त के लक्षण—

प्रसेको हृद्ग्रहः कोठः कण्डूर्दुश्छर्दिताद्भवेत् ॥२२॥

उचित वमन न होने से मुख से जलस्राव हृद्ग्रह (भारीपन), कोठ (चकत्ते) तथा खाज उत्पन्न हो जाती है ॥२२॥

अतिवान्त के लक्षण—

अतिवान्ते भवेत्तृष्णा हिक्कोद्गारौ विसंज्ञता ।
जिह्वानिःसर्पणं चाक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहतिः ॥२३॥
रक्तच्छर्दिः ष्ठीवनं च कण्ठे पीडा च जायते ।

नियमित संख्या अथवा रोगी मनुष्य की सहन शक्ति से अधिक वमन होने से तृषा, हिचकी, डकारों का आना, संज्ञानाश, जीभ का मुख से बाहर निकलना, नेत्रों के वर्ण और गति में परिवर्तन का होना, ठोडी का जकड जाना, वमन में रक्त का आना (अथवा रक्त का ही वमन होना), बार २ थूकना और गले में पीड़ा—यह दुर्लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ॥२३॥

वक्तव्य—वमन करने वाले की यह दशा अत्यन्त भयावह होती है। योग्य चिकित्सक को अत्यन्त सावधानी से ऐसी अवस्था की चिकित्सा करनी उचित है, अन्यथा मृत्यु दूर नही होती।

अतिवमनोत्पन्न रोगों की चिकित्सा—

वमनस्यातियोगे तु मृदु कुर्याद्विरेचनम् ॥२४॥
वमनान्तःप्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहः ।

स्निग्धाम्ललवणैर्हृद्यैर्घृतक्षीररसैर्हितः ॥२५॥
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः ।
निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कं लिप्त्वा प्रवेशयेत् ॥२६॥
व्यावृतेऽक्षिणि घृताभ्यक्ते पीडयेच्च शनैः शनैः ।
हनुमोक्षे स्मृतः स्वेदो नस्यं च श्लेष्मवातहृत् ॥२७॥
रक्तपित्तविधानेन रक्तच्छर्दिमुपाचरेत् ।
धात्रीरसाञ्जनोशीरलाजाचन्दनवारिभिः ॥२८॥
मन्थं कृत्वा पाययेच्च सघृतक्षौद्रशर्करम् ।
शाम्यन्त्यनेन तृष्णाद्याः पीडाश्च्छर्दिसमुद्भवाः ॥२९॥

यदि वमन अत्यधिक आवें तो रोगी को साधारण विरेचक (मस्तु, क्षीर, द्राक्षा, गुलकन्द आदि) औषधों से विरेचन करावे । यदि वमन के अति योग से जिह्वा अन्तःप्रविष्ट (संकुचित) हो जाये तब हृद्य (हृदय को प्रिय अथवा मन को प्रसन्न करने वाले), स्निग्ध, अम्ल, लवण मिश्रित (चटपटे) पदार्थ, चर्व्य भोजन के साथ मिला कर देवे तथा घृत, दूध और मास रस कवल ग्रह विधि से अथवा उचित विधि से प्रयोग करे ।

एव अन्तःप्रविष्ट जिह्वा के रोगी के सामने दूसरा मनुष्य खट्टे फलों को (व्यंगवृत्ति से जिह्वा का 'चटाखा' निकाल कर) खावे। इस प्रकार जिह्वा की ग्रन्थियों से जल स्राव होने लगता है तथा अम्ल रस की पूर्व स्मृति होने से रोगी भी जिह्वा द्वारा 'चटाखा' निकालने की चेष्टा करता है। यही चेष्टा औषध रूप हो जाती है।

निःसृत जिह्वा—अधिक वमनों से जिह्वा मुख के बाहिर लटक जाती है। ऐसी अवस्था में तिल और मुनक्का दोनों को पीस कर इस कल्क को लम्बमान जिह्वा पर लेप कर देवे। इससे जिह्वा स्निग्ध होकर अन्तःप्रविष्ट हो जाती है।

यदि अत्यधिक वमनों से आखो में विकृति हो जाये तब आखों को घी से चुपड़ कर शनै शनै मर्दन करे । इससे आंखों की विकृति प्रकृति में परिणत हो जाती है ।

यदि हनु (ठोडी) निष्क्रिय हो जावे तो वात श्लेष्म को दूर करने वाली औषधों (कल्क, लेप अथवा द्रव) से स्वेद देवे और तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करे । इस चिकित्सा से यह उपद्रव शांत हो जाता है । (इस रोग में वात प्रकोप से कर्ण के समीप का हनु बन्धन शिथिल हो जाता है। इसी स्थान पर स्वेदन, मर्दन और लेप विहित होता है।)

यदि कय में रक्त मिश्रित अथवा रुधिर की ही कय होती हो तो ऐसी

अवस्था में 'रक्तपित्त' की चिकित्सा के विधान से उसकी चिकित्सा करे। अथवा—आमले का चूर्ण, रसौंत, खस, धान की खील, श्वेत चन्दन और जल (सब को मन्थ-विध्युक्त मात्रानुसार लेकर) यथाविधान मंथ बनावे। इस मंथ में घृत, शहद और मिशरी मिला कर पान करे। इससे रक्त छर्दि, तृष्णा (प्यास) तथा अत्यधिक वमनों से होने वाले अन्य रोग (निर्बलता, विसंज्ञता, क्षोभ और हृदय की दुर्बलता, मुख की विरसता आदि) दूर होते हैं ॥२४—२६॥

सम्यक् वान्त के लक्षण—

हृत्कण्ठशिरसां शुद्धिर्दीप्ताग्नित्वं च लाघवम्।
कफपित्तविनाशश्च सम्यग्वान्तस्य चेष्टितम् ॥३०॥

भली प्रकार निरापद वमन होने से—हृदय, गला और शिर की शुद्धि—हलकापन होता है, जठराग्नि की दीप्ति होती है, शरीर लघु (हलका) हो जाता है और कफ, पित्त तथा इनसे उत्पन्न हुए विकार नष्ट होते हैं। रोगी में इस प्रकार के सद्गुण उत्पन्न होने से उसे सम्यक् वान्त माना जाता है ॥३०॥

वमनोपरान्त पथ्य—

ततोऽपराह्णे दीप्ताऽग्निं मुद्गषाष्टिकशालिभिः।
हृद्यैश्च जाङ्गलरसैः कृत्वा यूषं च भोजयेत् ॥३१॥

वामक औषध के प्रभाव से जब उचित वमन हो चुकें और रोगी को भूख का अनुभव होने लगे तब तीसरे प्रहर के पश्चात् (सायकाल) मूंग, साठी के चावल तथा रक्तशालि (लाल चावल)—इनसे हृदय को प्रिय (स्वादु-रुचिर) लगने वाली यूप बनाकर रोगी को पिलावे तथा जागल जीवों के मांस से सिद्ध रस एवं अन्य हृदय को प्रिय तथा हितकर पदार्थों की यूष बनाकर भोजनार्थ प्रदान करे।

उत्तम वमन के लाभ—

तन्द्रा निद्राऽऽस्यदौर्गन्ध्यं कण्डूं च ग्रहणीं विषम्।
सुवान्तस्य न पीडायै भवन्त्येते कदाचन ॥३२॥

उचित वमन होने पर तन्द्रा, निद्रा, आलस्य, मुख की दुर्गन्ध, खाज, संग्रहणी रोग, विष प्रकोप इत्यादि रोग (अथवा इनसे होने वाली पीडायें) प्रायः कभी नहीं होते ॥३२॥

वमन में पथ्य—

अजीर्णं शीतपानीयं व्यायामं मैथुनं तथा।
स्नेहाभ्यङ्गं प्रकोपं च दिनैकं वर्जयेत्सुधीः ॥३३॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-संहितायामुत्तरखण्डे वमनविधिर्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अजीर्ण में भोजन अथवा अजीर्ण कारक गुरुपाकी भोजन, शीतल जल का पान, व्यायाम (परिश्रम), मैथुन, तैल मर्दन, क्रोध इत्यादि पदार्थ तथा व्यवहार एक दिन के लिये (आवश्यकता होने पर अधिक समय तक भी) त्याग देवे ॥३३॥

वक्तव्य—

वमनादिविधानेषु यावत्कालं तु गच्छति ।
तावत्तु परिहर्तव्यं शीततोयादिमैथुनम् ॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-
संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकायामुत्तर-
खण्डे तृतीयोऽध्याय ॥३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः।

विरेचनविधि —

स्निग्धस्विन्नस्य वान्तस्य दद्यात्सम्यग् विरेचनम् ।

सम्यक् संशोधन के लिये जिस मनुष्य को स्नेह पान से स्निग्ध, स्वेद से स्वेदित और वामक औषधों से वामित किया हो, उसे उत्तम विरेचन देवे । ('अन्यथा योजितं ह्येतत् ग्रहणीगदकृन्मतम्' अर्थात् संशोधन कर्म में उपरोक्त विधान से भिन्न विधि का आश्रय लिया जावे तब संग्रहणी रोग के होने की सम्भावना रहती है)।

वमन राहित विरेचन का दोष—

अवान्तस्य त्वधःस्रस्तो ग्रहणीं छादयेत्कफः ॥१॥
मन्दाग्निं गौरवं कुर्याज्जनयेद्वा प्रवाहिकाम् ।
अथवा पाचनैरामं बलासं च विपाचयेत् ॥२॥
स्निग्धस्य स्नेहनैः कार्यं स्वेदैः स्विन्नस्य रेचनम् ।

बिना वमन करवाने के यदि विरेचन कारक औषध दी जावे तो उद्रिक्त हुआ कफ आमाशय के नीचे ग्रहणी कला को आच्छादित करके मन्दाग्नि, शरीर में भारीपन अथवा प्रवाहिका (पेचिश) को उत्पन्न कर देता है। ऐसी अवस्था में आम (आहार का अपक्व रस) और कफ (वृद्धिगत) को पाचक (आम पाचन— सोंठ, एरण्डादि) औषधों से पकावे और पुन आम और कफ के सुपरिपक्व होने पर फिर उस रोगी को स्नेहन द्रव्यों से स्निग्ध करे और स्वेद विधि से स्वेदित करके विरेचन देवे। इस प्रकार करने से उद्धत दोष शान्त होते हैं तथा उत्तम शोधन हो जाता है ॥१—२॥

वक्तव्य—जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपकः ॥
स्नेहस्वेदैः प्रचलिता रसैः स्निग्धैरुदीरिताः।
दोषाः कोष्ठगता जन्तोः सुखं हन्ति विरेचनैः ॥

वमन के पश्चात् विरेचनार्थ दिन मर्यादा—

सम्यक् प्रवृत्ते वमने सप्तरात्रे गते सति ।
सुसंस्कृतशरीरस्य प्रदातव्यं विरेचनम् ॥
वातं षडहसंसृष्टं पुनः संस्नेहितं तथा ।
उष्णं लघु त्र्यहं भुक्तैः षोडशेऽह्नि विरेचयेत् ॥

विरेचन का समय—

शरदृतौ वसन्ते च देहशुद्ध्यै विरेचयेत् ॥३॥

अन्यदात्ययिके कार्ये शोधनं शीलयेद्बुधः।

विरेचन के लिये उपयुक्त ऋतु शरद् (आश्विन, कार्त्तिक) होती है तथा वसत ऋतु (चैत्र, वैशाख) में भी शोधनार्थ विरेचन देना चाहिए। अथवा अन्य ऋतुओं में विरेचन की अत्यत आवश्यकता होने पर वैद्य शोधन (विरेचन) का प्रयोग करे।

विरेचन के योग्य रोगी—

पित्ते विरेचनं युञ्ज्यादामोद्भूते गदे तथा ॥४॥

उदरे च तथाध्माने कोष्ठशुद्ध्यै विशेषतः।

पित्ताधिक्य एव पित्त जनित रोग, आम वात, उदर रोग, आध्मान (पेट का फूलना) और कोष्ठ (उदर) को शुद्ध करने के लिये विरेचन (दस्त) देने का यत्न करे ॥४॥

वक्तव्य— यथा—

शरीरजातानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्।
वस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलघृतं मधु ॥

शरीर शोधन में विरेचन की उत्तमता—

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः ॥५॥

ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः।

कुपित हुए दोष (वात, पित्त और कफ) लङ्घन (उपवास) तथा पाचन क्रियाओं से जीते जा सकते हैं। परन्तु इस प्रकार जीते हुए दोष कदाचित् फिर भी कुपित हो जाते हैं। परञ्च जिन कुपित वातादि दोषों को वमन विरेचनादि शोधन विधान से शुद्ध किया जाता है, उनका पुनरुद्भव (दोबारा उत्पत्ति) नही होता ॥५॥

विरेचन के अयोग्य रोगी—

बालवृद्धावतिस्निग्धः क्षतक्षीणो भयान्वितः ॥६॥

श्रान्तस्तृषार्तः स्थूलश्च गर्भिणी च नवज्वरी।

नवप्रसूता नारी च मन्दाग्निश्च मदात्ययी ॥७॥

शल्यार्दितश्च रूक्षश्च न विरेच्या विजानता।

बालक, वृद्ध, अतिस्निग्ध, क्षतक्षीण (क्रमश धातुक्षय से क्षीण), भय विकम्पित, थकित, तृषा पीडित, स्थूल (अत्यन्त), गर्भवती स्त्री, नवज्वरी (तरुण ज्वर, अविसर्गी ज्वर वाला), नवप्रसूता स्त्री (तत्काल अथवा १॥ मास से प्रथम), मन्दाग्नि पीडित, मदात्यय रोग पीडित, शल्य से पीडित और रूक्ष (कोष्ठ) मनुष्यों

को विरेचन के मर्म को जानने वाला वैद्य विरेचन न करावे ॥६—७॥

वक्तव्य—यद्यपि उपरोक्त अवस्था और रोगों से युक्त मनुष्यों को साधारणतया विरेचन का निषेध है। परन्तु अत्यन्त आवश्यकता में आज्ञा भी है। यथा—

'अग्निक्षारविरेकैस्तु बालवृद्धौ विवर्जयेत्।
तत्साध्येषु विकारेषु मृद्वीं कुर्यात् लघुक्रियाम् ॥'
'अत्यन्तपित्ताद्विपरीतदेहान् विरेचयेत्तानपि मन्दमन्दम्।'
'नचातिऽस्निग्धकायस्य दद्यात्स्नेहविरेचनम्।
दोषाः प्रभाविता भूयो लीयन्ते तेन वर्त्मसु ॥'
'विरूक्षं स्नेहसात्म्यन्तु भूयः संस्निह्य रेचयेत्।'
'विरेचनैर्यान्ति नरा विनाशमज्ञप्रयुक्तैरविरेचनीयाः।'

विरेचन के योग्य रोगी—

जीर्णज्वरी गरव्याप्तो वातरक्ती भगन्दरी ॥८॥
अर्शःपाण्डूदरग्रन्थिहृद्रोगारुचिपीडिताः।
योनिरोगप्रमेहार्ता गुल्मप्लीहव्रणार्दिताः ॥९॥
विद्रधिच्छर्दिविस्फोटविषूचीकुष्ठसंयुताः।
कर्णनासाशिरोवक्त्रगुदमेढ्रामयान्विताः ॥१०॥
प्लीहशोथाक्षिरोगार्ताः क्रिमिक्षाणानिलार्दिताः।
शूलिनो मूत्रघातार्ता विरेकार्हा नरा मताः ॥११॥

विरेचन द्वारा सिद्ध होने वाले रोग यह हैं—जीर्ण ज्वर, विषयुक्त, वात रक्त, भगन्दर, बवासीर, पाण्डुरोग, ग्रन्थिरोग (गाठ), हृद्रोग, अरुचि, योनिरोग (गर्भाशय सम्बन्धी), प्रमेह (मूत्र दोष), गुल्म (गोला), प्लीहावृद्धि, व्रणरोग, विद्रधी (सूजन), वमन (अधिक वमन में विरेचन ठीक होता है), विस्फोट, हैजा, कुष्ठ (कोढ़) तथा कान, नाक, शिर, मुख, गुदा, मूत्रेन्द्रिय, प्लीह, शोथ, आख के रोग, उदरक्रिमियों द्वारा तथा वात विकारों से पीडित, शूलरोग, मूत्राघात—इन रोगो से पीड़ित मनुष्य विरेचनों के योग्य होते हैं ॥८—११॥

विरेचनार्थ कोष्ठ भेद—

वहुपित्तो मृदुः कोष्ठो वहुश्लेष्मा च मध्यमः।
वहुवातः क्रूरकोष्ठो दुर्विरेच्यः स कथ्यते ॥१२॥

पित्त प्रधान कोष्ठ 'मृदु' होता है। कफ प्रधान कोष्ठ 'मध्यम' होता है। वात प्रधान कोष्ठ 'क्रूर' होता है ॥१२॥

वक्तव्य—कोष्ठ का दोष प्राधान्य विचित्र रहस्य है। प्राय देखने में यह आता है कि किसी रोगी को एक बार इच्छाभेदी रस भी उपयुक्त विरेचन नही लाता

और उसी रोगी को दूसरी बार साधारण विरेचक औषध से ही पर्याप्त विरेचन हो जाते हैं। अत. यह अवस्था उसके स्वास्थ्य और ऋतु से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। प्राय. कोष्ठों का मृदु, मध्य और क्रूरत्व प्रकृति के अनुसार होता है। पित्त प्रकृति का मृदु कोष्ठ, श्लेष्म प्रकृति का मध्य और वात प्रकृति का क्रूर कोष्ठ माना जाता है।

कोष्ठानुरूप मात्राभेद—

मृद्वी मात्रा मृदौ कोष्ठे मध्यकोष्ठे च मध्यमा ।
क्रूरे तीक्ष्णा मता द्रव्यैर्मृदुमध्यमतीक्ष्णकैः ॥१३॥

मृदु (पित्तप्रधान) कोष्ठ विरेचनार्थ मृदु (कोमल-पहिले दर्जे की) औषधों की मृदु मात्रा प्रयोग करे, मध्यकोष्ठ (विरेचनार्थ) मध्यम श्रेणी (दूसरे दर्जे) की औषधों की मध्य (साधारण) मात्रा प्रयोग करे और क्रूर (वातप्रधान) कोष्ठ के विरेचन के लिये तीक्ष्ण (तीसरे दर्जे की) औषधों की तीक्ष्ण (पूर्ण) मात्रा प्रदान करे ॥१३॥

मृदु मध्यादि औषधें—

मृदुर्द्राक्षापयश्चाम्बुतैलैरपि विरिच्यते ।
मध्यमस्त्रिवृतातिक्ताराजवृक्षैर्विरिच्यते ॥१४॥
क्रूरः स्नुक्पयसा हेमक्षीरीदन्तीफलादिभिः ।

मृदुकोष्ठ विरेचनार्थ मृदु द्रव्य—मुनक्का, दूध, अम्बु (उष्णोदक अथवा काजी आदि तुषाम्बु), एरण्डतैल । मध्यकोष्ठ विरेचनार्थ मध्यम द्रव्य—निशोत, कटुकी, अमलतास का गूदा (साधारण मात्रा ½—१ तोला)। क्रूरकोष्ठ विरेचनार्थ तीक्ष्ण द्रव्य—थोहर का दूध, चोक और शुद्ध जमालगोटा के बीज। आदि शब्द से इन्द्रवारुणी सामुद्रलवणादि ॥१४॥

विरेचनों की संख्या से मात्रा का बराबरत्व—

मात्रोत्तमा विरेकस्य त्रिंशद्वेगैः कफान्तिका ॥१५॥
वेगैर्विंशतिभिर्मध्या हीनोक्ता दशवेगिका ।

विरेचनकर द्रव्यों की जिस मात्रा से ३० विरेचन (दस्त) हों उसको उत्तम मात्रा कहते हैं। इस से कफ (अपक्व आहार रसावशिष्ट आम) का नाश होता है। जिस मात्रा से २० वेग (दस्त) हों वह मध्यम मात्रा कहलाती है और जिस मात्रा से केवल १० वेग (दस्त) हों, उसे हीन मात्रा कहते हैं ॥१५॥

वक्तव्य—३०, २० और १० वेगों की मात्रास्थिति चिकित्सक के अधीन है। एक रोगी के लिये यदि दश वेग ही से कफ निःसरण हो तब उसके लिये वही उत्तम मात्रा है। उपरोक्त शास्त्रीय वेगमात्रा अन्धाधुन्द प्रयोग में नहीं लाई जाती क्योंकि अनुचित मात्रा प्राण नाश करनेवाली होती है। अत अविचल सिद्धान्त यही है कि जिस रोगी को जितने दस्तों की आवश्यकता हो, उस का

बल देखकर दस्त करावे ।

कषायरूप में विरेचनीय मात्रा—

द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं च पलं भवेत् ॥१६॥
पलार्धं च कषायाणां कनीयस्तु विरेचनम् ।

क्रूरकोष्ठ को विरेचन देने के लिये विरेचक कषाय की २ पल की मात्रा प्रयोग करे (साध्य द्रव्य और जलादि का मान द्वितीय अध्याय में देखो)। मध्यकोष्ठ विरेचनार्थ—मध्यम द्रव्यों से सिद्ध कषाय की १ पल की मात्रा प्रदान करे। मृदुकोष्ठ विरेचनार्थ—मृदु द्रव्यों से सिद्ध कषाय की २ तोला की मात्रा प्रयोग करे ॥१६॥

विरेचनार्थ कल्कादि की मात्रा—

कल्कमोदकचूर्णानां कर्षं मध्वाज्यलेहतः ॥१७॥
कर्षद्वयं पलं वापि वयोरोगाद्यपेक्षया ।

यदि विरेचनार्थ—कल्क (शिलापिष्ट), मोदक अथवा चूर्णादि का प्रयोग करना हो तो १ तोला भर की मात्रा से प्रयोग करे। इन पृथक् २ की एक मात्रा में शहद और घृत आवश्यकतानुसार विषम मान में मिलाकर प्रयोग करे अथवा आयु और रोगादि का बलाबल देखकर दो तोले और चार तोले भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं ॥१७॥

कोष्ठभेद से औषध व्यवस्था—

पित्तोत्तरे त्रिवृच्चूर्णं द्राक्षाक्वाथादिभिः पिबेत् ॥१८॥
त्रिफलाक्वाथगोमूत्रैः पिबेद्व्योषं कफार्दितः ।
त्रिवृत्सैन्धवशुण्ठीनां चूर्णमम्लैः पिबेन्नरः ॥१९॥
वातार्दितो विरेकाय जाङ्गलानां रसेन वा ।

पित्तोत्तर कोष्ठ (मृदु) अथवा पित्त प्रधान रोगों की शान्ति के लिये मुनक्का के काढे में निशोत का चूर्ण (आवश्यक मात्रा) डालकर पान करे। कफार्दित अथवा कफ प्रधान (मध्यकोष्ठ) रोगों को शान्त करने के लिये त्रिफला (हरीतकी, बिभीतक, आमले यथाविधि परिसाधित) क्वाथ के साथ निशोत के चूर्ण को पान करे। वातार्दित—वातजन्य रोगों से पीड़ित अथवा (क्रूरकोष्ठ) वाले को निशोत का चूर्ण, सैन्धानमक, सोंठ का चूर्ण, अम्ल- (काजी निम्बू स्वरसादि) से पान करें अथवा जागल जीवों (हरिण, ऐण, तित्तर, लावक) के मास रस से उक्त त्रिवृत, सैन्धव, सोंठ के चूर्ण को पान करे। इस प्रक्रिया से दोषानुकूल उत्तम विरेचन होते हैं ॥१८-१९॥

एरण्डतैल का प्रयोग—

एरण्डतैलं त्रिफलाक्वाथेन द्विगुणेन च ॥२०॥
युक्तं पीतं पयोभिर्वा न चिरेण विरिच्यते ।

एरण्डतैल (Castor Oil) को द्विगुण त्रिफला कषाय से सेवन करे अथवा एरण्डतैल को दूध (शृतोष्ण) से सेवन करे। इससे शीघ्र विरेचन होते हैं।

वक्तव्य—चिकित्सक समाज के पास एरण्डतैल एक अमोघ अस्त्र है। यह सर्वदा आबाल वृद्ध स्त्री पुरुष आदि सबको व्यवहार कराया जा सकता है। मृदु, मध्य, क्रूरादि प्रत्येक कोष्ठ में इसका उत्तम प्रभाव पडता है। मात्रा इसकी भिन्न भिन्न हुआ करती है। एक बार की मात्रा क्रूरकोष्ठ के लिये ५ तोला होगी, मध्यार्थ २॥ तोला और मृदुकोष्ठार्थ एक दो तोला पर्याप्त है। अनुपान रूप में दूध का व्यवहार होता है।

प्रत्येक विरेचक द्रव्य अंतडियों की रस ग्रन्थियों से जल खींच कर विरेचन लाता है। परन्तु एरण्डतैल में यह विशेषता है कि वह अंतड़ियों में सलग्न मल को अपनी चिक्कणता के कारण धकेलता है। इस प्रकार शरीर को क्षति से रक्षित करता हुआ यह विरेचन लाता है।

देशीय व्यापारी प्राय इसके बीजों पर लिपटी हुई भिल्ली को तैल निकालने से प्रथम दूर नहीं करते। यह भिल्ली सविष होने के कारण तैल को भी विपाक्त कर देती है और तैल के वर्ण को मलिन कर देती है। ऐसा तैल प्रयोज्य नहीं है। एरण्डतैल अनुपान और मात्रा भेद से असख्य रोगों को दूर करता है।

ऋतुभेद से विरेचन। वर्षाऋतु में विरेचनार्थ—

त्रिवृता कौटजं बीजं पिप्पली विश्वभेषजम् ॥२१॥
समृद्वीकारसक्षौद्रं वर्षाकाले विरेचनम् ।

वर्षाऋतु में विरेचन की आवश्यकता पर निशोत, इन्द्रजौ, काली पीपल, सोंठ—प्रत्येक का चूर्ण (यथावश्यक) लेकर मुनक्का के क्वाथ में मधु मिलाकर प्रयोग करे। इससे विरेचन होते हैं (और वर्षाऋतुजन्य दोष सचय नष्ट होता) है ॥२१॥

शरद् ऋतु में विरेचनार्थ—

त्रिवृद्दुरालभामुस्ताशर्करोदीच्यचन्दनम् ॥२२॥
द्राक्षाम्बुना सयष्टीकं शीतलं च घनात्यये ।

घनात्यय (शरत् काल) में विरेचनार्थ—निशोत, धमासा, नागरमोथा, मिशरी, खस, श्वेतचन्दन और मुलेठी का चूर्ण (आवश्यक मानानुसार) लेकर, किशमिश के क्वाथ को शीतल करके इसके साथ चूर्ण का सेवन करे। इससे विरेचन होते हैं (और शरत्काल के पैत्तिक रोग शात होते हैं) ॥२२॥

हेमन्त ऋतु में विरेचनार्थ—

त्रिवृता चित्रकं पाठा ह्यजाजी सरला वचा ॥२३॥
हेमक्षीरी च हेमन्ते चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ।

हेमन्त ऋतु में विरेचनार्थ—निशोत, चीते की जड की छाल, पाठा (जलजमनी), श्वेत जीरक, कृष्ण निशोत, चोक और वच—इनका चूर्ण (आवश्यक मात्रा) में लेकर (प्रात.) उष्णोदक से पान करे । यह योग हेमंत ऋतु में विरेचनार्थ उत्तम है ॥२३॥

शिशिर और वसन्त ऋतु में विरेचनार्थ—

पिप्पली नागरं सिन्धु श्यामा त्रिवृतया सह ॥२४॥
लिहेत्क्षौद्रेण शिशिरे वसन्ते च विरेचनम् ।

काली पीपल, सोंठ, सैन्धा नमक, काली निशोत और श्वेत निशोत—इन का चूर्ण (आवश्यक मात्रा में उचित) मधु मिला कर शिशिर और वसन्त ऋतु में विरेचनार्थ प्रयोग करे ॥२४॥

ग्रीष्म ऋतु में विरेचनार्थ—

त्रिवृता शर्करा तुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम् ॥२५॥

ग्रीष्म ऋतु में विरेचनार्थ—निशोत चूर्ण (६ माशा से १ तोला) और मिशरी (चूर्णापेक्षा द्विगुण) मिलाकर मन्दोष्ण जल से प्रयोग करे ॥२५॥

सर्व ऋतुओं में विरेचक योग—

त्रिवृतां हपुषां दन्तीं सप्तलां कटुरोहिणीम् ।
स्वर्णक्षीरीं च संचूर्ण्य गोमूत्रे भावयेत्त्र्यहम् ॥२६॥
एष सर्वर्तुको योगः स्निग्धानां मलदोषहा ।

निशोत, जमालगोटा, हाऊबेर, सप्तला (थोहर) मूलत्वक्, कुटकी, चोक—इनका चूर्ण (प्रत्येक समभाग) लेकर खरल में डाले और गोमूत्र से यथाक्रम तीन भावना देकर सुखा लेवे । इस चूर्ण की उचित मात्रा (६ माशा से १ तोला तक) उष्णोदक से पान करे । इससे उत्तम विरेचन होंगे ॥२६॥

अभयादि मोदक—

अभया मरिचं शुण्ठीविडङ्गामलकानि च ॥२७॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं त्वक्पत्रं मुस्तमेव च ।
एतानि समभागानि दन्ती च द्विगुणा भवेत् ॥२८॥
त्रिवृदष्टगुणा ज्ञेया षड्गुणा चात्र शर्करा ।
मधुना मोदकान्कृत्वा कर्षमात्रप्रमाणतः ॥२९॥
एकैकं भक्षयेत्प्रातः शीतं चानु पिबेज्जलम् ।
तावद्विरिच्यते जन्तुर्यावदुष्णं न सेवते ॥३०॥
पानाहारविहारेषु भवेन्नियन्त्रणः सदा ।

विषमज्वरमन्दाग्निपाण्डुकासभगन्दरान् ॥३१॥
दुर्नामकुष्ठगुल्माशोंगलगण्डभ्रमोदरान् ।
विदाहप्लीहमेहांश्च यक्ष्माणं नयनामयान् ॥३२॥
वातरोगांस्तथाऽऽध्मानं मूत्रकृच्छ्राणि चाश्मरीम् ।
पृष्ठपार्श्वोरुजघनजङ्घोदररुजं जयेत् ॥३३॥
सततं शीलनादेषां पलितानि प्रणाशयेत् ।
अभयामोदका ह्येते रसायनवराः स्मृताः ॥३४॥

हरड़ की छाल, कालीमिरच, सोंठ, वायविडंग, आमले, कालीपीपल, पीपरामूल, दालचीनी, नागरमोथा—इनका चूर्ण प्रत्येक का एक २ भाग (१—१ तोला)। दन्ती (जमाल गोटे की जड़ का चूर्ण, अथवा कई दंती बीज शुद्ध देते हैं) मूल २ तोले, निशोत का चूर्ण ८ तोले, शर्करा ६ तोले । समग्र औषधों को परस्पर मिलाकर शहद के साथ एक २ तोले परिमाण के मोदक बना लेवे । इनमें से एक मोदक प्रातः काल शीतल जल से सेवन करे । जबतक उष्ण जल का पान न करे तब तक विरेचन होते रहते हैं । इसके प्रयोग काल में खान, पान, और विहार सम्बन्धी विशेष नियंत्रण (बन्धन) नहीं है ।

गुण—विषमज्वर, मन्दाग्नि, पाण्डुरोग, खांसी, भगंदर, बवासीर, कुष्ठ, गुल्म, गलगंड, भ्रम, उदर रोग, दाह, प्लीहा वृद्धि, प्रमेह, राजयक्ष्मा, नेत्र रोग, वात विकार, अफारा, मूत्रकृच्छ्र, पथरी—इन रोगों को नष्ट करता है तथा—पीठ, पसवाड़े, छाती, वंक्षण, जङ्घा तथा उदर—इन स्थानों की पीडाओं को दूर करता है । एवं इसके निरन्तर सेवन करने से पलित रोग नष्ट होता है । यह अभयादिमोदक नाम वाली औषध उत्तम रसायन है ॥२७—३४॥

वक्तव्य—वर्त्तमान के लिये इसकी एक तोला की मात्रा अधिक है। व्यवहार में ३—६ मासा आती है । यह अल्प मात्रा से शनै २ प्रयुक्त किया हुआ अधिक लाभ करता है । कदाचित् इसके सेवन से विरेचन अधिक होने लगें तब तुरन्त दो चार घूंट गरम जल के पान कर लेने से शीघ्र ही विरेचन थम जाते हैं । इसके प्रयोग में किसी प्रकार की हानि नही होती ।

विरेचकौषध पानानन्तर कर्त्तव्य—

पीत्वा विरेचनं शीतजलैः संसिच्य चक्षुषी ।
सुगन्धि किञ्चिदाघ्राय ताम्बूलं शीलयेद्वरम् ॥३५॥
निर्वातस्थो न वेगांश्च धारयेन्न स्वपेत्तथा ।
शीताम्बु न स्पृशेत् क्वापि कोष्णनीरं पिबेन्मुहुः ॥३६॥

विरेचन कारक औषध के सेवन करने के पश्चात् (जब नेत्रों में दाह हो) ठंडे जल से दोनों नेत्रों को छीटे देवे। एवं मनको स्थिर करने के लिये सुगन्धित फूलों का सूंघना तथा सुगन्ध युक्त पान (ताम्बूल) सेवन हितकर होता है।

विरेचक औषध के प्रभाव से जब विरेचन होने लगें तब (तीव्र) हवा में न बैठे तथा उपस्थित शौच के वेग को धारण न करे एव विरेचकौषधजनित उत्क्लेश के प्रभाव से उत्पन्न निद्रा का सेवन न करे और शीतल जल का पान तथा स्पर्श न करे। विरेचनौषध की सहायता के लिये बार २ थोड़ा २ गरम जल पान करता रहे ॥३५—३६॥

वक्तव्य—विरेचकौषध पानानन्तर प्राय उत्क्लेश (जी मिचलाना) होता है। ऐसी अवस्था में मन को दूसरी ओर आकर्षित करने के लिये ताम्बूल भक्षण तथा सुगन्ध सेवन की आज्ञा है। कारण कि उत्क्लेश अधिक होने से वमन होने की सम्भावना रहती है। वमन होने से पीत औषध निकल जाती है, जिससे उचित विरेचन नही होते। अत इस दोषसे बचने के लिये कुशल वैद्य अन्य उपाय भी अपनी समझ के अनुसार रोगी को बता देवे।

जब विरेचन आरंभ हों तब शीतल जल का अशौच प्रक्षालनादि में त्याग कर देवे। कारण कि शीतल जल स्तम्भक होने के कारण गुदवलियों में सकोच उत्पन्न करता है। जयपाल के विरेचन को छोड़कर अन्य विरेचकौषधों में शीतल जल का पान भी निषिद्ध है। दस्तों में शीतल जल पान करने से कोष्ठ में वायु भर जाता है।

सम्यक् विरिक्त के लक्षण—

बलासौषधपित्तानि वायुर्वान्ते यथा व्रजेत् ।
रेकात्तथा मलं पित्तं भेषजं च कफो व्रजेत् ॥३७॥

वामक औौषध सेवन के पश्चात् जैसे प्रथम—कफ, औषध (वामक), पित्त और वायु यथाक्रम निकलते हैं उसी प्रकार विरेचक औषध सेवन के पश्चात् क्रमश मल (पुरीष), पित्त, विरेचक औषध और कफ निकलते हैं ॥३७॥

वक्तव्य—तात्त्विक विचारानुसार वामक औषधों में अग्नि और वायु तत्त्व का प्राधान्य होता है। इसी कारण जब वामक औषध उदर में पहुचती है तब शीघ्र ही अपने प्रभाव से अन्दर की श्लेष्मिक कला तथा रसग्रन्थियों को उत्तेजित करके, उनसे अत्यधिक मात्रा में तरल स्राव उदरस्थ करती है। पुन इसी द्रव-समूह को अग्नि और वायुतत्त्व ऊर्ध्वगामी स्वभाव के कारण मुख मार्ग से ऊपर की ओर खींचकर मुख से बाहिर कर देते हैं। इस प्रक्रिया से उदरीय श्लेष्मिक कला और रसग्रन्थियाँ जो अनुपयुक्त मल सचय के कारण स्वकार्य में शिथिलीभूत हो जाती हैं पुन. शुद्ध और स्वकार्य साधक शक्ति सम्पन्न हो जाती हैं। यही उद्देश्य वमन कर्म से महर्षियों को अभिप्रेत था।

विरेचक औषधों में जल और पृथ्वी तत्त्व प्रधान होता है और इन्हीं तत्त्वों का प्रभाव प्रायः नित्य देखा जाता है । जैसे—एक रोगी को प्रातःकाल नियमानुसार बन्धा हुआ पुरीष आता है परन्तु उसी मनुष्य को जब विरेचक औषध दी जाती है तो २—४ घंटा के पश्चात् ही उसे धड़ाधड़ पतले दस्त आरम्भ हो जाते हैं । कारण स्पष्ट है कि विरेचक औषधान्तर्गत जल और पृथ्वी के सूक्ष्म परन्तु बलिष्ठ परमाणुओं ने अभ्यन्तर की रस ग्रन्थियों को अत्यधिक मात्रा में जल उत्पन्न करने के लिये विवश कर दिया । आवश्यकता से अधिक जल अंतड़ियों में ठहर नहीं सकता । अतः उदर में वृद्धिंगत जलीयांश अधोगमनशील जल और पृथ्वी के परमाणुओं द्वारा प्रेरित किया हुआ गुद मार्ग से बाहर निकल जाता है और उदर में अनुपयुक्त मल संचय को पतला करके उदर से बाहिर कर देता है ।

वामक और विरेचक औषधों में शक्ति भिन्नता के कारण अनेक भेद हैं जिनको महर्षियों ने मृदु, मध्य और तीक्ष्ण भेद से स्थान दिये हैं । इन भेदों को भली प्रकार समझकर प्रयोग करने से सफलता चिरस्थायी रहती है ।

दुर्विरिक्त के लक्षण—

दुर्विरिक्तस्य नाभेस्तु स्तब्धत्वं कुक्षिशूलता ।
पुरीषवातसंगश्च कण्डूमण्डलगौरवाः ॥३८॥
विदाहोऽरुचिराध्मानं भ्रमश्छर्दिश्च जायते ।

विरेचक औषध सेवन के पश्चात् यदि उत्तम विरेचन न हों अथवा पानाहार में नियम भंग होने पर नाभि (पक्वाशय में) कठिनता (भारीपन), कुक्षि (कोख) में शूल (मन्द वेदना), मल और अधो वायु का निरोध, शरीर में खाज तथा चकत्तों का होना एव शरीर का भारीपन, दाह, अरुचि, आध्मान पेट का फूलना), भ्रम तथा वमन का होना यह लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ॥३८॥

दुर्विरिक्त की चिकित्सा—

तं पुनः पाचनैः स्नेहैः पक्त्वा संस्नेह्य रेचयेत् ॥३९॥
तेनास्योपद्रवा यान्ति दीप्तोऽग्निर्लघुता भवेत् ।

जिस मनुष्य को विरेचक औषध सेवन करने पर भी उत्तम विरेचन न हों तथा उपरोक्त दुर्लक्षण उत्पन्न हो जायें उसको पाचन औषधों (आरग्वधादिगणोक्त) के प्रयोग से आमदोष को पकावे । पुनः स्नेहपान से स्निग्ध करके विरेचन देवे । इस प्रकार करने से उस मनुष्य के उपद्रव शान्त होते हैं और पाचकाग्नि दीप्त होकर शरीर में लघुता प्राप्त होती है । दुर्विरिक्त के लिये यही चिकित्साक्रम उचित है ॥३९॥

अतिविरिक्त के लक्षण—

विरिक्तस्यातियोगेन मूर्छा भ्रंशो गुदस्य च ॥४०॥

शूलं कफातियोगः स्यान्मांसधावनसंनिभम् ।
मेदोनिभं जलाभासं रक्तं वाऽपि विरिच्यते ॥४१॥

आवश्यकता से अधिक अत्यन्त दस्त होने से—मूर्च्छा, गुदभ्रंश (गुदा का वाहिर निकल आना), शूल, कफ का अतिसरण और मास के धोवन के समान तथा चरवी के समान एवं जल के समान अथवा केवल रक्त का ही गुद मार्ग से पात होता है ॥४०—४१॥

अतिविरिक्त की चिकित्सा—

तस्य शीताम्बुभिः सिक्त्वा शरीरं तण्डुलाम्बुभिः ।
मधुमिश्रैस्तथा शीतैः कारयेद्वमनं मृदु ॥४२॥

अत्यन्त विरेचनों से मूर्च्छित रोगी के शरीर, हृदय, आंख और मस्तक आदि को शीतल जल से सिंचन करे (छीटे लगावे) और शीतल तण्डुलोदक में शहद मिलाकर पान करावे अथवा अत्यन्त हलका वमन करावे ॥४२॥

नाभिलेप—

सहकारत्वचः कल्को दध्ना सावीरकेण वा ।
पिष्टो नाभिप्रलेपेन हन्त्यतीसारमुल्बणम् ॥४३॥

आम्रवृक्ष की गीली छाल को दही अथवा काजी के साथ अत्यन्त वारीक पीसकर नाभि पर लेप करने से तीव्र अतिसार नष्ट होता है (यह लेप दो अंगुल मोटा होना चाहिये) ॥४३॥

अन्य औषध—

अजाक्षीरं पिबेद्वापि वैष्किरं हारिणं तथा ।
शालिभिः षष्टिकैः स्वल्पं मसूरैर्वापि भोजयेत् ॥४४॥

अत्यन्त विरिक्त मनुष्य को बल रक्षणार्थ—बकरी का दूध, विष्किर (लाव-तित्तर आदि) रस, हिरण के मास का रस, शालि (लाल चावल), षष्टिक (साठी के चावल) चावलों के भात के साथ देवे । अथवा मसूर की दाल को पतली सी बना कर थोड़ी सी भोजन के लिये देवे ॥४४॥

अन्य उपाय—

शीतैः संग्राहिभिर्द्रव्यैः कुर्यात् संग्रहणं भिषक् ।

एव अन्य ठंडी और संग्रहण (कबज) करने वाली औषधों के प्रयोग से संग्रहण चिकित्सा करे ।

सुविरिक्त के लक्षण—

लाघवे मनसस्तुष्टावनुलोमे गतेऽनिले ।
सुविरिक्तं नरं ज्ञात्वा पाचनं पाययेन्निशि ॥४५॥

उचित विरेचन होने पर मन में प्रसन्नता, वायु का अनुलोम भाव, प्राप्त होता है । इस प्रकार लक्षणोंयुक्त सुविरिक्त मनुष्य को रात्रि में पाचन औषध

(पाचकाग्नि के बल की वृद्धि के लिये) सेवन करावे ॥४५॥

विरेचन का लाभ—

इन्द्रियाणां बलं बुद्धेः प्रसादो वह्निदीपनम् ।
धातुस्थैर्यं वयःस्थैर्यं भवेद्रेचनसेवनात् ॥४६॥

यथासमय अथवा आवश्यकता पर शरीर को विरेचन द्वारा शुद्ध करने से इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) में बल की प्राप्ति तथा शुद्धता होती है। एव बुद्धि (रज, तम आदि दोषों से) निर्मल होती है। पाचकाग्नि दीप्त होती है। रसादि धातुओं की स्थिरता (वृद्धि) होती है। शरीर दृढ होता है। यह सब शुभ लक्षण प्राप्त होते हैं।

विरेचनान्त में नियम पालन—

प्रवातसेवा शीताम्बु स्नेहाभ्यङ्गमजीर्णताम् ।
व्यायामं मैथुनं चैव न सेवेत विरेचितः ॥४७॥

जिस मनुष्य ने विरेचन किए हों वह अत्यधिक वायु का सेवन (निर्वलावस्था में अत्यन्त शीत वायु का सेवन), शीतल जल का पान (उसी दिन अथवा दो तीन दिन पश्चात् तक, कारण कि वह स्रोतोरोधक होता है), स्नेह का मर्दन, अजीर्ण में भोजन, व्यायाम, मैथुन इत्यादि, सब को त्याग देवे।

सुविरिक्त का भोजन विधान—

शालिषष्टिकमुद्गाद्यैर्यवागूं भोजयेत्कृताम् ।
जाङ्गलैर्विष्किराणां वा रसैः शाल्योदनं हितम् ॥४८॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-
संहितायामुत्तरखण्डे विरेचनविधिर्नाम
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

विरेचन आने के पश्चात् क्षुधा लगने पर शालि चावल, साठी के चावल, मूंग अथवा मसूर आदि से सिद्ध की हुई यवागू देवे। अथवा जांगल जीवों के मांस रस से वा विष्किर (लाव तीतर) जीवों के मांस रस से शालिचावलों के भात को देवे ॥४८॥

वक्तव्य— यदुक्तं वाग्भटे—

संशोधनास्रविस्रावस्नेहयोजनलङ्घनैः ।
यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात्क्रमं पेयादिकं भजेत् ॥

अन्यच्च—पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम् ।
क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायां शार्ङ्गधर-
संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकायां भाषाटीकायामुत्तरखण्डे
वमनविधिर्नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

दो प्रकार की वस्तियां—

वस्तिर्द्विधाऽनुवासाख्यो निरूहश्च ततः परम् ।
वस्तिभिर्दीयते यस्मात्तस्माद्वस्तिरिति स्मृतः ॥१॥

अनुवासन और निरूह भेद से वस्तिया दो प्रकार की होती हैं । इस विधान में यथानियम निर्धारित औपधों को वस्ति द्वारा (चर्म निर्मित पुटक प्रयोग किया जाता है, इसलिये इसे वस्ति कहते हैं ॥१॥

वक्तव्य—वस्तिना दीयते, वस्ति वा पूर्वमन्वेति अतो वस्ति. इति वृद्धवाग्भट । वस्तिना अजादिमूत्राधारेण यतो दीयतेऽतो वस्ति । अथवा यतो दत्त सत् पूर्वमादौ वस्तिमनुगच्छत्यतो वस्ति इति शशिलेखा च । अनुवसन्नपि न दुष्यति, अनुदिवस वा दीयते इत्यनुवासनवस्ति । दोषनिर्हरणाच्छरीररोहणाद्वा निरूह इति सुश्रुत ।

कार्य और गुण भेद से वस्तियों की अनेक कल्पनाएँ और अनेक नाम हैं जो यथाक्रम आवेंगे। प्रधानतया वस्ति प्रयोग वात विकार शान्त्यर्थ होता है। यथा—

वातोल्बणेषु दोषेषु वाते वा वस्तिरिष्यते ॥ (वाग्भट)

वात दोष शान्त्यर्थ वस्तिकर्म, पित्त दोष शान्त्यर्थ विरेचन तथा कफ प्रकोप शान्त्यर्थ वमन शास्त्रानुमोदित विधिया हैं । यथा—

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम् ।
वस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु ॥

वर्तमान में वस्तिकर्म के लिये दो प्रकार के यंत्र प्रयुक्त होते हैं एक 'इरीगेटर' दूसरा 'डूश' । इन प्राप्तव्य यंत्रों से भी अपना काम चल सकता है । शास्त्रीय विधि द्वारा प्रतिपादित वस्ति यंत्रों का वर्णन आगे होगा ।

दोनों वस्तियों के लक्षण—

यः स्नेहैर्दीयते स स्यादनुवासननामकः ।
कषायक्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते ॥२॥

जो वस्ति स्नेह (दोषों के अनुसार औपधों से सिद्ध तैलादि) से दी जाती है वह 'अनुवासन' कहलाती है । जो वस्ति कषाय (क्वाथ), दूध और तैल (सुसस्कृत) से दी जाती है वह 'निरूह वस्ति' कहलाती है ॥२॥

अनुवासनादि वस्तियों का क्रम—

तत्रानुवासनाख्यो हि वस्तिर्यः सोऽत्र कथ्यते ।

पूर्वमेव ततो वस्तिर्निरूहाख्यो भविष्यति ॥३॥
निरूहादुत्तरश्चैव वस्तिः स्यादुत्तराभिधः ।
अनुवासनभेदश्च मात्रावस्तिरुदीरितः ॥४॥

वस्तियों के वर्णन में पूर्व अनुवासन वस्ति का वर्णन होगा तदनंतर निरूह वस्ति का और निरूह वस्ति के पश्चात् उत्तर वस्ति का (यह मूत्रेन्द्रिय में प्रयुक्त होती है) वर्णन होगा। अनुवासन वस्ति का एक और भेद 'मात्रा वस्ति' के नाम से कहा गया है। इन सब का पूर्ण विस्तार युक्त वर्णन यथाक्रम आगे किया जायगा ॥३—४॥

मात्रा वस्ति में स्नेह मात्रा—

पलद्वयं तस्य मात्रा तस्मादर्धाऽपि वा भवेत् ।

मात्रा वस्ति में स्नेह की दो पल (८ तोले) अथवा एक पल (४ तोले) की मात्रा प्रयुक्त होती है। (इस वस्ति कर्म में औषधों से परिपक्व स्नेह ग्रहण किया जाता है। प्राय. सुकुमार एवं बालकों के लिये यह वस्ति उपयोगी होती है)।

अनुवासन के योग्य रोगी—

अनुवास्यस्तु रूक्षः स्यात्तीक्ष्णाग्निः केवलानिली ॥५॥

रूक्ष (स्नेहपान रहित) मनुष्य तथा जिन की अग्नि तीक्ष्ण (भस्मकावस्था तक पहुची हुई भी) हो एवं जिनके केवल वात जनित रोग (निरन्तर) हों, ऐसे मनुष्यों को 'अनुवासन वस्ति' प्रयोग करनी चाहिये ॥५॥

वक्तव्य—वायु की प्रधानता दर्शाने के लिये ही ग्रन्थकार ने 'केवलानिली' कहा है। कारण कि वात शक्ति के न्यूनाधिक होने से ही शरीर में अन्य दोषों का प्रकोप होता है। यथा—

पित्तं पंगु. कफः पंगु. पङ्गवो मलधातव. ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥

यदि वस्ति प्रयोग केवल वात को ही दूर करने वाला होता तो यह आज्ञा शास्त्र में विद्यमान न होती।

यथा—पित्तं वा कफपित्तं पित्ताशयगतं हरेत् ।
संसनं त्रीन् मलान् वस्तिः पक्वाशयगतं हरेत् ॥

अन्यत्र—वस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते ।
संसर्गे सन्निपाते च वस्तिरेव सदा हित. ॥ (सुश्रुत)

अन्यान्तर से अनुवासनार्ह मनुष्यों के लक्षण—

विशेषतस्त्वमी पाण्डुकामलामेहपीनसाः ।
निरन्नप्लीहविड्भेदी गुरुकोष्ठकफोदराः ॥
अभिष्यन्दभृशस्थूलक्रिमिकोष्ठाढ्यमारुता. ।
पीते विषे गरेऽपच्यां श्लीपदीगलगण्डवान् ॥

अत उपरोक्त रोगों से जुष्ट मनुष्य अनुवासन वस्ति के योग्य होते हैं।

अनुवासन वस्ति के अयोग्य रोगी—

नानुवास्यस्तु कुष्ठी स्यान्मेही स्थूलस्तथोदरी ।
नास्थाप्या नानुवास्याः स्युरजीर्णोन्माददतृड्युताः ॥६॥
शोकमूर्च्छारुचिभयश्वासकासक्षयातुराः ।

कुष्ठ रोग से पीडित, प्रमेह से पीडित तथा मेदस्वी पुरुष एवं उदर रोग से पीडित मनुष्यों को अनुवासन वस्ति का प्रयोग न करे अर्थात् ऐसे रोगियो को वस्ति प्रयोग की आवश्यकता पर अनास्थाप्य (निरूह वस्ति) का प्रयोग करे। एवं अजीर्ण, उन्माद, तृषा, शोक, मूर्च्छा, अरुचि, भय, श्वास, कास और क्षय के रोगियों को भी अनुवासन वस्ति न देकर निरूह वस्ति का प्रयोग करे ॥६॥

वक्तव्य— यदुक्तं सुश्रुते—

उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः ।
अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्याः कथञ्चन ॥

वस्ति निर्माणार्थ द्रव्य—

नेत्रं कार्यं सुवर्णादिधातुभिर्वृक्षवेणुभिः ॥७॥
नलैर्दन्तैर्विषाणाग्रैर्मणिभिर्वा विधीयते ।

वस्ति के नेत्र निर्माणार्थ—स्वर्ण, चान्दी, लोहा, ताम्बा, वग, पीतल, कांसा आदि तथा (सीसम या सागोन की) लकड़ी, बास, नल (नड), दात, विषाण (सीग) और मणिया तथा अन्य पाषाणादि का ग्रहण होता है। इन उपरोक्त पदार्थों से यथाविधान आवश्यकता के अनुसार वस्ति नेत्र का निर्माण करे ॥७॥

वक्तव्य—'नेत्र' वस्ति के उस अवयव का नाम है जिसका एक सिरा चर्म निर्मित वस्ति के अग्रभाग से बाधा जाता है और दूसरा सिरा स्नेह से चिकना करके गुदा में प्रवेश किया जाता है। यह वस्तिनेत्र कनिष्ठिका के परिमाण का स्थूल और भीतर से छिद्रयुक्त होता है। अवस्था (आयु) भेद के अनुसार इसकी लम्बाई चौडाई भिन्न २ हुआ करती है। वर्तमान में विदेशी औषध विक्रेताओं के यहां वस्तिनेत्र प्रस्तुत मिलते हैं।

आयु भेद से नेत्र का परिमाण—

एकवर्षात्तु षड्वर्षं यावन्मानं षडङ्गुलम् ॥८॥
ततो द्वादशकं यावन्मानं स्यादष्टसंयुतम् ।
ततः परं द्वादशभिरङ्गुलैर्नेत्रदीर्घता ॥९॥

एक वर्ष की आयु वाले से छ वर्ष की आयुवाले रोगी के लिये वस्तिनेत्र की लम्बाई छ अंगुल परिमित होनी चाहिये। छ वर्ष से बारह वर्ष की आयु वाले रोगी के लिये वस्तिनेत्र का मान आठ अंगुल होना चाहिये। बारह वर्ष से

ऊपर की आयु वाले रोगी के लिये वारह अंगुल परिमित वस्तिनेत्र होना चाहिये।

वक्तव्य—नेत्रवस्ति की अगुलियों का परिमाण रोगी की अंगुलियों का होता है, भिन्न पुरुप की अंगुलियों का नहीं। एक वर्ष से छ. वर्ष तक के रोगी के लिये वस्तिनेत्र छ अगुल, सात से १२ वर्ष की आयु वाले रोगी के लिये ८ अंगुल और १३ वर्ष की आयु से ऊपर की आयु वाले रोगी के लिये १२ अगुल परिमाण का वस्तिनेत्र होना चाहिये। मतान्तर में भिन्न विधान भी है। यथा—

पड्द्वादशाष्टागुलसम्मितानि पड्विंशतिद्वादशवर्षजानाम्।

अर्थात् छ. वर्ष की आयु तक ६ अगुल परिमित, वारह वर्ष की आयु तक आठ अगुल परिमित, एव वीस वर्ष से ७० वर्ष की आयु वाले मनुष्य के लिये १२ अगुल नेत्रवस्ति का परिमाण होता है। अथवा सात वर्ष से प्रति वर्ष एक तृतीयाश (⅓) अगुल परिमित वस्तिनेत्र को वढाकर वारह वर्षीय आयु वाले को आठ अगुल का वस्तिनेत्र प्रयोग करे। इसी विधान से वारह वर्ष के पश्चात् प्रति वर्ष के हिसाव से आधा अगुल वस्तिनेत्र वढ़ाकर वीस वर्ष में पूरे वारह अंगुल का वस्तिनेत्र प्रयोग करे।

वस्तिनेत्र के छिद्र का परिमाण—

मुद्गच्छिद्रं कलायाभं छिद्रं कोलास्थिसन्निभम्।
यथासंख्यं भवेन्नेत्रं श्लक्ष्णं गोपुच्छसन्निभम् ॥१०॥
आतुराङ्गुष्ठमानेन मूले स्थूलं विधीयते।
कनिष्ठिकापरीणाहमग्रे च गुटिकामुखम् ॥११॥
तन्मूले कर्णिके द्वे च कार्ये भागाच्चतुर्थकात्।
योजयेत्तत्र वस्तिं च वन्धद्वयविधानतः ॥१२॥

वस्तिनेत्र में जो छिद्र (कपाय अथवा तैलादि नि सारणार्थ) वनाया जाता है, उसे छ अगुल वाले वस्तिनेत्र में मूग के दाने के वरावर वनावे। और आठ अगुल परिमित बस्तिनेत्र में कलाय (मटर) के वीज के प्रवेश योग्य छिद्र वनावे। तथा वारह अगुल परिमित वस्तिनेत्र के छिद्र का व्यास जगली वेर की गुठली के वरावर वनावे। इस प्रकार क्रमानुसार स्वच्छ और श्लक्ष्ण छिद्र वस्तिनेत्र में वनावे तथा वस्तिनेत्र का वाह्य भाग अत्यत श्लक्ष्ण (खरस्पर्श रहित) और गौ के पुच्छ के आकार का वनावे। अर्थात् वस्तिनेत्र अपने पिछले प्रान्त से दूसरे प्रात तक वाह्याकृति में कृश (पतला) होता जावे। वस्तिनेत्र का वह प्रात (किनारा) जो वस्ति से वाधना है, रोगी के अगूठे के समान स्थूल (मोटा) होना चाहिये। एव वस्तिनेत्र का वह प्रात जो गुदा में प्रवेश करना है, रोगी की कनिष्ठिका (छोटी अगुली) के समान और मुख भाग पर गुटिकाकृति (किनारेदार गोल, किनारे साफ और मुडे हुए होने से गुदवलियों में क्षत नहीं होते) होना चाहिये। इस प्रकार जव

वस्तिनेत्र तैयार हो जाये तब वस्ति नेत्र के उस प्रांत में जो चर्म वस्ति से बाधना है, बस्ति नेत्र की समस्त लम्बाई के चतुर्थ भाग पर सुन्दराकृति की दो कर्णिकाए बनावे। यह कर्णिकाए (गढ़े, वलय अथवा कुछ २ गहरे गोल दायरे) थोड़े २ अंतर पर होती हैं। इन कर्णिकाओं पर चर्म निर्मित वस्ति मुख को मिलाकर दृढ सूत्र से बांध देवे। इस प्रकार सुबद्ध वस्ति, नेत्र के साथ सन्नद्धीभूत रहती है ॥१०—१२॥

वस्ति पुटक के लिये उपयुक्त चर्म—

मृगाजशूकरगवां महिषस्यापि वा भवेत्।
मूत्रकोशस्य वस्तिस्तु तदलाभेन चर्मजः ॥१३॥
कषायरक्तः सुमृदुर्वस्तिः स्निग्धो दृढो हितः।

वस्ति पुटक बनाने के लिये हरिण, बकरा, सूअर, बैल तथा भैंस—इन जन्तुओं के मूत्राशय की वस्ति बनावे (वृद्ध जीवों की वस्ति उत्तम होती है) अथवा मूत्राशय के अभाव में उपरोक्त जीवो की चमड़ी से ही वस्ति निर्माण करे। वस्ति अथवा वस्ति चर्म की शुद्धि के लिये उसे कषायरसप्रधान (त्रिफला, बब्बूल, लोध्र, माजू आदि) द्रव्यों के क्वाथ में क्वथित करके शुद्ध कर लेवे। प्रयोगार्ह वस्ति कोमल, स्निग्ध और मजबूत होनी चाहिये ॥१३॥

वक्तव्य— बस्त्यर्थ चर्म लक्षण—

दृढस्तनुर्नष्टशिरो विगन्धः कषायरक्तः सुमृदुः सुशुद्धः।
नृणां वयो वीक्ष्य यथानुरूपं नेत्रेषु योज्यस्तु सुबद्धसूत्रः॥(चक्र०)

व्रणवस्ति—

व्रणवस्तेस्तु नेत्रं स्याच्छ्लक्ष्णमष्टाङ्गुलोन्मितम् ॥१४॥
मुद्गच्छिद्रं गृध्रपक्षनलिकापरिणाहि च।

व्रण अथवा नाडी व्रण विशोधनार्थ बस्तिनेत्र का परिमाण आठ अंगुल होना चाहिये। वस्तिनेत्र कोमल मुद्ग परिमाण युक्त छिद्रान्वित तथा गीध के पक्ष के समान स्थूल नलिका युक्त होना चाहिये ॥१४॥

उचित वस्ति प्रयोग का फल—

शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः ॥१५॥
कुरुते परिवृद्धिं च वस्तिः सम्यगुपासितः।

यथोचित विधि से प्रयुक्त की हुई अनुवासन बस्ति से शरीर की वृद्धि, शारीरिक वर्ण में उज्ज्वलता तथा बल, आरोग्यता एव आयु की वृद्धि होती है॥१५॥

वक्तव्य— उक्त च सुश्रुते—

वीर्येण वस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात्।
पक्वाशयस्थः स्वस्थोऽर्कश्चापो यद्वन्महीतलात् ॥

अन्यच्च—वस्तिर्वयः स्थापयिता सुखायुर्वर्णाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च ।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां निरत्यय सर्वगदापहश्च ॥

वस्ति कर्म के लिये समय निर्देश—

दिवा शीते वसन्ते च स्नेहवस्तिः प्रदीयते ॥१६॥
ग्रीष्मवर्षाशरत्काले रात्रौ स्यादनुवासनम् ।

शीत (हेमन्त-शिशिर) और वसन्त ऋतुओं में स्नेह वस्ति (अनुवासन) का प्रयोग दिन में करे और ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् ऋतु में स्नेह वस्ति का प्रयोग रात्रि के समय में किया करे ॥१६॥

वक्तव्य—हेमन्तादि ऋतुओं में अत्यत शीत के कारण रात्रि काल में प्रयुक्त वस्ति निष्फल जाती है । इस कारण से दिन में सूर्य की विद्यमानावस्था में प्रयोग करे । एव विध ग्रीष्मादि ऋतुओं में दिन के समय अत्यत गरमी होने के कारण रोगी तृषादि से व्याकुल रहता है । ऐसी अवस्था में प्रयुक्त की हुई वस्ति भी यथोक्त लाभप्रद नहीं रहती । अत अति उष्ण दिनों में वस्ति के प्रयोग के लिये रात्रि का समय अत्युपयुक्त होता है । यथा—

उष्णाभिभूतेषु तथातिशीतान् शीताभिभूतेषु तथा सुखोष्णान् ।
तत्प्रत्यनीकेषु सम प्रयुक्तान् सर्वत्र वस्तीन् प्रविभज्य दद्यात् ॥

वस्ति काल में भोजन विधान—

न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥१७॥

वस्ति कर्म के उपयुक्त रोगी को अत्यत स्निग्ध भोजन कराकर अनुवासन वस्ति का प्रयोग न करे ॥१७॥

भोजन में वैपरीत्य का फल—

मदं मूर्च्छां च जनयेद् द्विधा स्नेहः प्रयोजितः ।
रूक्षं भुक्तवतोऽत्यन्नं बलं वर्णश्च हीयते ॥१८॥

अधिक स्निग्ध पदार्थों के भोजन के पश्चात प्रयुक्त की हुई अनुवासन वस्ति मद और मूर्च्छा को उत्पन्न करती है । एव रूक्ष और अति अन्न सेवन के पश्चात् प्रयुक्त अनुवासन वस्ति, वल और वर्ण का नाश करती है ॥१८॥

वस्ति की हीन और अतिमात्रा का निषेध—

हीनमात्रावुभौ वस्ती नातिकार्यकरौ स्मृतौ ।
अतिमात्रौ तथाऽनाहक्लमातीसारकारकौ ॥१६॥

वस्ति मार्ग के द्वारा प्रयुक्त होने वाले क्वाथ अथवा स्नेह हीन मात्रा (आवश्यकता से अल्प परिमाण) में प्रयुक्त होने से अनुवासन तथा निरूह वस्ति अतिकार्यकर (रोगनाशक) नहीं होती । एव स्नेह और क्वाथादि की अत्यधिक मात्रा आनाह, क्लम और अतीसार रोग को उत्पन्न करने वाली होती है ॥१६॥

वस्ति की मात्रा—

उत्तमस्य पलैः षड्भिर्मध्यमस्य पलैस्त्रिभिः।
पलस्यार्धेन हीनस्य युक्ता मात्रानुवासने ॥२०॥

उत्तम (पूर्ण) वल युक्त रोगी के लिये अनुवासन वस्ति की मात्रा ६ पल (२४ तोले स्नेह) की होती है। मध्यवल रखने वाले रोगी के लिये ३ पल (१२ तोले स्नेह) की मात्रा होती है। एव हीन वलयुक्त मनुष्यों के लिये अनुवासन वस्ति की मात्रा डेढ पल (६ तोले) स्नेह की होती है ॥२०॥

वक्तव्य—अष्टाङ्गहृदयकार अनुवासन की मात्रा इस प्रकार स्थिर करते हैं। यथा—

यथायथं निरूहस्य पादो मात्रानुवासने।

अर्थात् आयु के क्रम के अनुसार निरूह वस्ति की जो मात्रा स्थिर की गई है, उस २ वर्ष में अनुवासन वस्ति की मात्रा निरूह वस्ति की मात्रा से चतुर्थांश ग्रहण की जाती है।

स्नेह वस्ति के सहायक पदार्थ—

शताह्वसैन्धवाभ्यां च देयं स्नेहे च चूर्णकम्।
तन्मात्रोत्तममध्यान्त्याः षट्चतुर्द्वयमाषकैः ॥२१॥

अनुवासन वस्ति में प्रयुक्त होने वाले स्नेह को केवल प्रयोग न करे प्रत्युत उसमें सौंफ का चूर्ण और सैन्धा नमक ६, ४ और २ माषा उत्तम, मध्यम और अधम वस्तिमानानुसार मिलाकर प्रयोग करे ॥२१॥

वक्तव्य—विधि—अनुवासन वस्ति द्वारा प्रयुक्त होने वाले स्नेह को साधारण उष्ण करके सौंफ और सैन्धव यथामान मिलाकर वस्ति द्वारा प्रयोग करे। यथा—

स तु सैन्धवचूर्णेन शताह्वेन च संयुतः।
भवेत्सुखोष्णश्च तथा निरेति सहसा सुखम् ॥
विरिक्तश्चानुवास्यश्चेत् सप्तरात्रात्परं तदा।

उष्ण किया हुआ स्नेह प्रयोग करने से कोष्ठ में लीन नहीं होता और सुखपूर्वक गुदमार्ग से वाहिर निकल जाता है।

विरेचनानन्तर अनुवासन का नियम—

विरेचनात्सप्तरात्रे गते जातवलाय च।
भुक्तान्नायानुवास्याय वस्तिर्देयोऽनुवासनः ॥२२॥

आवश्यकता के अनुसार उचित विरेचन होने के सात दिन के पश्चात् जव रोगी में वल आ जाय, तव उसे विधि के अनुसार भोजन कराकर (ऋतुभेदानुसार) अनुवासन वस्ति का प्रयोग करे ॥२२॥

वस्ति प्रयोग विधि—

अथानुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुस्वेदितं शनैः ।
भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतचङ्क्रमणं ततः ॥२३॥
उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं योजयेत्स्नेहवस्तिना ।
सुप्तस्य वामपार्श्वेन वामजङ्घाप्रसारिणः ॥२४॥
कुञ्चितापरजङ्घस्य नेत्रं स्निग्धगुदे न्यसेत् ।
वद्ध्वा वस्तिमुखं सूत्रैर्वामहस्तेन धारयेत् ॥२५॥
पीडयेद् दक्षिणेनैव मध्यवेगेन धीरधीः ।
जृम्भाकासक्षवादींश्च वस्तिकाले न कारयेत् ॥२६॥

अनुवासन वस्ति प्रयोग करने योग्य रोगी के शरीर पर तैल का मर्दन करके गरम पानी से भीगे वस्त्र को रोगी के शरीर पर शनै. २ फिराकर स्वेदित करे (वाह्य शरीर को नरम कर लेवे)। तदनन्तर रोगी को शास्त्राज्ञा और व्याधि के अनुसार भोजन कराकर थोडी देर पर्यन्त टहलने देवे (जव भुक्त भोजन स्वस्थान स्थित हो जावे)। पुन मल मूत्र त्यागकर (नतमस्तक रखने वाली उत्तम काष्ठ निर्मित शय्या (तखत पोश) पर सुला देवे) वाई करवट लेट जाये और वाई जांघ को सीधा फैलाकर दूसरी जाघ को सिकोड़ कर (दक्षिण पाद को शय्या पर टिका देवे) तैल से स्निग्ध (चिकने) किये हुए मल मार्ग में तैल से स्निग्ध वस्ति-नेत्र को वायें हाथ से पकड कर गुद मार्ग में (शनै. २) प्रवेश करे (वस्तिनेत्र को कर्णिका पर्यन्त मलमार्ग में प्रवेश कर देवे)। पुन स्नेहपूर्ण वस्ति को दायें हाथ से मध्य वेग क्रम (न जलदी और न देर) से पीडन करे। इस पीडन क्रिया से वस्तिस्थ स्नेह नलिका मार्ग से गुदा में प्रवेश करता है अत पीडन काल में पूर्ण सावधान हो कर मध्य वेग से पीडन करे, हाथ निष्कम्प रहे। वस्ति के प्रयोग काल में—जम्भाई का लेना, खासना और छींकना सर्वथा त्याज्य होता है। कारण कि इन क्रियाओं के हेतु स्नेह का सम्यक् प्रवेश नहीं होता ॥२३—२६॥

वस्तिपीडन में काल निर्देश—

त्रिंशन्मात्रामितः कालः प्रोक्तो वस्तेस्तु पीडने ।
ततः प्रणिहितः स्नेह उत्तानो वाक्शतं भवेत् ॥२७॥

यथाविधि सुस्निग्ध मलमार्ग में स्नेहाक्त वस्तिनेत्र को प्रविष्ट करके ३० मात्रा (गम्भीरता से ३० गिनने) तक पीडन करे। एवं वस्तिस्थ सम्पूर्ण स्नेह भीतर पहुंच जाने पर १०० गिनने पर्यन्त पीठ के भार लेटा रहे ॥२७॥

मात्रा का लक्षण—

जानुमण्डलमावेष्ट्य कुर्याच्छोटिकया युतम् ।

एका मात्रा भवेदेषा सर्वत्रैष विनिश्चयः ॥२८॥

जानु (घुटने) के ऊपर हाथ को गोलाकार घुमाकर चुटकी बजाने को एक मात्रा कहते हैं। इस प्रकार की ३० चुटकी बजाने से बस्तिपीडन का समय पूर्ण होता है। ऐसा ही सर्वत्र निश्चय है ॥२८॥

वस्तिप्रणिधानानन्तर कर्तव्य—

प्रसारितैः सर्वगात्रैर्यथावीर्यं विसर्पति।
ताडयेत्तलयोरेनं त्रीन् वारांश्च शनैः शनैः ॥२९॥
स्फिजोश्चैवं ततः श्रोणी शय्यां चैवोत्क्षिपेत्ततः।
जाते विधाने तु ततः कुर्यान्निद्रां यथासुखम् ॥३०॥

(पूर्वोक्त विधि से जिसे अनुवासन बस्ति का प्रयोग किया गया हो) चित्त (पीठ केवल) लेटे हुए अनुवासित मनुष्य को कुछ समय तक अपने हाथ पैरों को प्रसारित (फैलाए रख) करके उत्तम शय्या पर लेटे रहना चाहिये। इससे रस रक्तादि धातुओं का अंगों में भली प्रकार प्रसरण होता है। एवंविध वीर्य्य (स्नेह) का प्रभाव समग्र शरीर में प्रसरण करता है। तदनंतर रोगी के हाथ और पैरों के तल प्रदेश को शनैः २ तीन २ बार ताडन (करतलाघात) करे। इसी प्रकार रोगी के नितम्ब प्रदेश तथा श्रोणी (कटि) प्रदेश में तीन २ करतलाघात करके रोगी के आघातित प्रदेशों को शय्या से थोडा २ उत्तोलन (ऊपर को उठाया) करे। इस प्रकार विधि विधान करने के पश्चात् (स्वेच्छापूर्वक) यथासुख सोने देवे।

सम्यक् अनुवासित के लक्षण—

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहं प्रत्येति यस्य तु।
उपद्रवं विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः ॥३१॥

जिस अनुवासित रोगी का बस्ति विधि से दिया हुआ स्नेह अधोवायु तथा विष्टा के सहित, विना उपद्रव के शीघ्र (१ प्रहर के पश्चात्) गुद मार्ग से वाहिर निकलता है उसे उत्तम अनुवासित कहते हैं ॥३१॥

वक्तव्य—शार्ङ्गधराचार्य्य ने स्नेह के प्रत्यागत होने के लिये समय स्थिर नही किया, केवल 'शीघ्र' शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु मतातर में इस प्रकार है। यथा—

'विना पीडां त्रियामस्थः स सम्यगनुवासितः।'

उपद्रवों के लिये सुश्रुत लिखते हैं—

'ओषचोषौ विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः'।

'ऊषः प्रादेशिको दाहः, चोषो वेदनाविशेषः'।

प्रत्यागत स्नेह व्यवस्था—

जीर्णान्नमथ सायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः।

लघ्वन्नं भोजयेत् कामं दीप्ताग्निस्तु नरो यदि ॥३२॥

अनुवासित मनुष्य के यथासमय स्नेह के प्रत्यागत होने (लौटने) पर दीप्ताग्नि मनुष्य को पूर्वनिर्दिष्ट भोजन के जीर्ण होने पर सायंकाल लघु अन्न (पेयादि) देवे ॥३२॥

अनुवासन व्यापद् में प्रतीकार—

अनुवासिताय दातव्यमितरेऽह्नि सुखोदकम् ।
धान्यशुण्ठीकषायो वा स्नेहव्यापत्तिनाशनम् ॥३३॥

अनुवासित वस्ति वाले पुरुष को यदि क्षुधा न हो एवं किसी प्रकार का कोई कष्ट हो तब दूसरे दिन थोड़ा सा गरम जल पिलावे अथवा धनियां और सोंठ का (क्वाथ विधान से कथित करके) क्वाथ पान करावे ॥३३॥

वक्तव्य— स्नेह वस्ति की व्यापत्तियां—

वस्तिनेत्र को मलमार्ग में प्रविष्ट करने के ६ दोष होते हैं । इनको 'प्रणिधानदोष' कहते हैं ।

१ चलित—वस्तिनेत्र कम्पितावस्था में प्रविष्ट किया जावे । २ विवर्तित—वस्तिनेत्र का उलट जाना । ३ पार्श्वावपीडित—वस्तिनेत्र का गुदा के एक पार्श्व में पीड़ित होना । ४ उत्क्षिप्त—वस्तिनेत्र का ऊपर की ओर झुकाव होना । ५ अवसन्न—वस्तिनेत्र का नीचे की ओर झुकाव होना । ६ तिर्यक्क्षिप्त—वस्तिनेत्र का तिर्यक् वक्रगति से प्रविष्ट होना ।

यह प्रणिधान दोष होते हैं और ११ दोष नेत्र के होते हैं । यथा—

१ अतिस्थूल—वस्तिनेत्र का अत्यन्त स्थूल होना । २ कर्कश—वस्तिनेत्र का खुरदरा होना । ३ अवनत—टेढा झुकाव (यह दोष वस्तिनेत्र के मार्ग का है) । ४ अणु—वस्तिनेत्र का अत्यन्त सूक्ष्म होना । ५ भिन्न—वस्तिनेत्र का फटना या टूटना । ६ सन्निकृष्ट कर्णिक—जिसका किनारा अत्यन्त समीप हो । ७—विप्रकृष्ट कर्णिक—जिसका किनारा अत्यन्त दूर हो । ८ सूक्ष्मछिद्र—वस्तिनेत्र के भीतर का मार्ग अत्यन्त छोटा हो । ९ अतिछिद्र—वस्तिनेत्र के भीतर का मार्ग अत्यन्त बड़ा हो । १० अतिदीर्घ—वस्तिनेत्र की लम्बाई आवश्यकता से अधिक हो । ११ अतिह्रस्व—वस्तिनेत्र की लम्बाई बहुत कम हो । (सुश्रुत)

सम्भवतः वस्तिदोष इस प्रकार जानने—१ बहुलता—चर्मपुटक निर्मित वस्ति का बड़ा होना । २ अल्पता—चर्मपुटक निर्मित वस्ति का छोटा होना । ३ सच्छिद्रता—चर्मपुटक निर्मित वस्ति का छिद्रयुक्त होना । ४ प्रस्तीर्णता—चर्मपुटक निर्मित वस्ति का बहुत फैली हुई होना । ५ दुर्बद्धता—चर्मपुटक निर्मित वस्ति शिथिलता से बांधना । यह ५ दोष वस्ति के होते हैं ।

वस्ति पीडन के दोष—

१ अतिपीडन—वस्ति को अत्यधिक पीडन करना । २ शिथिल पीडन—

वस्ति को शिथिलता वा विषम गति से पीडन करना । ३—बार बार पीडन—वस्ति को कई बार थोडा थोडा पीडन करना । ४—कालातिक्रम—वस्ति को समय चूक कर दबाना ।

यह पीडन दोष होते हैं । कुशल चिकित्सक को सर्वदा इन से बचते रहना चाहिये । इसी में रोगी और वैद्य दोनों का कल्याण है । वस्ति सम्बन्धी उपरोक्त दोष सुश्रुत से लिये गये हैं । अवशिष्ट द्रव्यदोष, शय्यादोष, वैद्यदोष, आतुर के दोष—यह सब सुश्रुत चिकित्सा स्थान अध्याय ३५ में देखें ।

दोष क्रमानुसार स्नेह वस्ति—

अनेन विधिना षड्वा सप्त चाष्टौ नवाऽपि वा ।
विधेया वस्तयस्तेषामन्तरा तु निरूहणम् ॥३४॥

उपर्युक्त विधि के अनुसार छ , सात, आठ अथवा नौ स्नेह वस्ति करना और वीच में (यदि मलादि का सचय प्रतीत होतो) निरूहण वस्ति करके साफ करते रहना चाहिये ॥३४॥

वक्तव्य—अन्तरा निरूहणं दद्याद्दोषसाधनाय । तथाह चरक.—

त्रीन्पञ्चवारांश्चतुरोथ षड्वा वाताधिकेभ्यस्त्वनुवासनीयान् ।
स्नेहान् प्रदायाशु भिषग्विदध्यात्स्रोतोविशुद्ध्यर्थमतो निरूहम् ॥

'अन्तरा तु निरूहणम्' इत्यत्र अन्ते चैव निरूहणम् इति पाठान्तरं भावमिश्रेण कृतम् । तन्मतेन अन्ते निरूहणं कुर्यादिति सिद्धान्त । अत्र वृद्धवाग्भट एवमाह—

एवं कफे स्नेहवस्तिमेकं त्रीन्वा प्रयोजयेत् ।
पञ्च वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वानिले ॥
पुनस्ततोप्ययुग्मांस्तु पुनरास्थापनं ततः ।

सुश्रुतेऽपि—**रूक्षस्य वहुवातस्य द्वौ त्रीन्वाप्यनुवासनम् ।**
दत्त्वा स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत् ॥

अन्यच्च—**स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैकमेवात्र शीलयेत् ।**
स्नेहात् पित्तकफोत्क्लेशौ स्यातां न पवनाद्भयम् ॥
तस्मान्निरूहोऽनुवासो निरूहश्चानुवासितः ।
नैवं पित्तकफोत्क्लेशौ स्यातां पवनाद्भयम् ॥ (सुश्रुत)
रूक्षाय वहुवाताय स्नेहवस्तिं दिने दिने ।
दद्याद्वैद्यस्ततोऽन्येषामग्न्यावाधभयात्त्र्यहात् ॥

अर्थात् रूक्ष और अधिक वायु वाले मनुष्य को नित्य प्रतिदिन स्नेहवस्ति देनी चाहिये । अन्य मनुष्यों को जठराग्नि की वाधा के भय से तीन तीन दिन के अंतर से अनुवासन वस्ति का प्रयोग करे । एव इसी अंतराल में निरूहण वस्ति करता रहे ।

सख्यात्मक स्नेहवस्ति के गुण—

दत्तस्तु प्रथमो वस्तिः स्नेहयेद्वस्तिवङ्क्षणौ ।

सम्यग्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्थमनिलं जयेत् ॥३५॥
बलं वर्णं च जनयेत्तृतीयस्तु प्रयोजितः ।
चतुर्थपञ्चमौ दत्तौ स्नेहयेतां रसासृजी ॥३६॥
षष्ठो मांसं स्नेहयति सप्तमो मेद एव च ।
अष्टमो नवमश्चापि मज्जानं च यथाक्रमम् ॥३७॥
एवं शुक्रगतान्दोषान्द्विगुणः साधु साधयेत् ।
अष्टादशाष्टादशकान्वस्तीनां यो निषेवते ॥३८॥
स कुञ्जरबलोऽप्यश्वं जयेत्तुल्योऽमरप्रभः ।
रूक्षाय बहुवाताय स्नेहबस्तिं दिने दिने ॥३९॥
दद्याद्वैद्यस्तथान्येषामग्न्याबाधामपाहरेत् ।
स्नेहोऽल्पमात्रो रूक्षाणां दीर्घकालमनत्ययः ॥४०॥
तथा निरूहः स्निग्धानामल्पमात्रः प्रशस्यते ।

प्रथम की एक वस्ति प्रयोग करने से वस्ति स्थान और वक्षण (नलों) को स्निग्ध करती है तथा यथाविधि दूसरी वस्ति ऊपर (मूर्द्धा) के वायु को (वात जनित विकारों को) जीतती है। तीसरी वस्ति बल और सुन्दर रूप उत्पन्न करती है। चौथी अनुवासन वस्ति रस में चिक्कणता उत्पन्न करती है। पाचवी अनुवासन वस्ति रुधिर में चिक्कणता उत्पन्न करती है। छठी स्नेह वस्ति मांस को स्निग्ध करती है। सातवीं स्नेह वस्ति मेद (चरबी) को स्निग्ध (शुद्ध) करती है। आठवी और नवीं स्नेह वस्ति अस्थि और मज्जा धातु को स्निग्ध (पुष्ट) करती हैं। तथा इनसे द्विगुण (दूनी १८) वस्ति शुक्रगत सम्पूर्ण दोषों को दूर करके उसे शुद्ध करती हैं। जो मनुष्य इस उपर्युक्त विधान से वस्तियों का सेवन करता है और यथोचित विधि तथा पथ्यादि सहित उपयोग करता है, वह हाथी के समान बलवान् तथा घोडे के समान वेग वाला हो जाता है और देवताओं जैसी काति वाला हो कर सब प्रकार के पापों (दोषों) से दूर रह कर श्रुतिधर बन जाता है और १००० वर्ष की आयु वाला हो जाता है।

रूक्ष और अधिक वायु वाले मनुष्य को स्नेह वस्ति प्रतिदिन देनी चाहिये और अन्य मनुष्यों को जठराग्नि (मन्दता) की बाधा के भय से तीन तीन दिन के अन्तर से अनुवासन वस्ति देनी चाहिये। रूक्ष मनुष्यों को थोडी मात्रा की स्नेह वस्ति सर्वदा हानिकारक नही (किन्तु गुणकारक ही होती है) इसी प्रकार स्निग्ध मनुष्यों को थोडी मात्रा वाली निरूहण वस्ति भी सदा हित होती है (इच्छानुसार जब चाहे प्रयोग करे) ॥३५—४०॥

वस्तिदत्त स्नेह की तात्कालिक प्रत्यागति में—

अथवा यस्य तत्कालं स्नेहो निर्याति केवलः ॥४१॥
तस्यान्योऽन्यतरो देयो न हि स्निह्यत्यतिष्ठति ।

अथवा यथाविधि प्रदत्त वस्ति का स्नेह तत्काल विना मल के गुदमार्ग से लौट आवे तब उस रोगी को थोडी मात्रा की दूसरी वस्ति देनी चाहिये क्योंकि विना कुछ देर ठहरने के स्निग्ध पदार्थ स्निग्धता नही कर सकता ॥४१॥

वक्तव्य—अनुवासन द्रव्य अत्युष्ण होने से, अति तीक्ष्ण होने से अथवा वायु के धकेले से या वायु के साथ मिलकर या अधिक स्नेह मात्रा होने से अथवा भारीपन से तथा शयनादि नियम में प्रमाद करने से वस्ति प्रदत्त स्नेह शीघ्र बाहर आ जाता है । इसी कारण दूसरी वार पूर्ण सावधान होकर यथाविधि अल्प स्नेह से अनुवासन वस्ति करावे और दूसरी वार की वस्ति में पूर्ण सावधान रहे एव रोगी को पूर्ण नियंत्रण में रक्खे । इस प्रकार से बस्तिदत्त स्वल्प स्नेह ठहर जाता है और रोगी को यथोक्त फल प्राप्त होता है ॥४१॥

अनुवासन वस्ति के वाहिर न निकलने पर उपद्रव—

अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः ॥४२॥
तदा शैथिल्यमाध्मानं शूलं श्वासश्च जायते ।
पक्वाशये गुरुत्वं च—

अशुद्ध (वमन विरेचनादि से रहित) मनुष्य के प्रयुक्त हुई अनुवासन वस्ति भीतर (कोष्ठ) के मल से मिश्रित (लीन) होने के कारण बाहर नही निकलती। ऐसी अवस्था में रोगी के शरीर में शिथिलता, आध्मान (पेट का फूलना), शूल, श्वास और पक्वाशय (पेट) में भारीपन होता है ॥४२॥

उपद्रवों की चिकित्सा—

—तत्र दद्यान्निरूहणम् ॥४३॥
तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधैर्युक्ता फलवर्तिर्हिता तथा ।
यथानुलोमनं वायुर्मलं स्नेहश्च जायते ॥४४॥
तथा विरेचनं दद्यात्तीक्ष्णं नस्यं च शस्यते ।

जब अनुवासन वस्ति बाहिर न लौटकर उपर्युक्त दशा को उत्पन्न करे तब तीव्र (रेचक) औषधों से सिद्ध शीघ्र प्रभाव करने वाली निरूहण वस्ति का प्रयोग करे तथा फलवर्ति (उत्तर वस्ति अध्याय में निर्दिष्ट) का प्रयोग करे, जिससे वायु (अपान वायु) अनुलोम (प्रकृत दशा में) होकर मल मिश्रित स्नेह के साथ बाहिर निकले तथा तीव्र विरेचन और तीक्ष्ण नस्य का उपयोग करे ॥४३—४४॥

वक्तव्य—सुश्रुत में स्नेह वस्ति के लिये सब से प्रथम यह आज्ञा है—

स्नेहवस्तिर्विधेयस्तु नाविशुद्धस्य देहिन. ।
स्नेहवीर्यं तथा दत्ते देहेनानुविसर्पति ॥

अप्रत्यागत स्नेह वस्ति के और भी उपद्रव सुश्रुताचार्य लिखते हैं—

उपद्रवाभिभूतेषु स्नेहे वस्तिकषायता ।
जृम्भा वातरुजस्तास्ता वेपथुर्विषमज्वरः ॥

यस्य नोपद्रवं कुर्यात्स्नेहबस्तिरनिःसृतः ॥४५॥
सर्वोऽल्पो वा वृते रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता ।

अत्यन्त रूक्षता के कारण अनुवासित व्यक्ति का स्नेह, प्रकुपित वायु से आवृत होकर सर्वांश में अथवा अल्पाश में वाहिर नहीं निकलता । इस पर भी यदि कोई उपद्रव अप्रत्यागत स्नेह से उत्पन्न न हो तो विज्ञ वैद्य स्नेह को वाहिर निकालने का प्रयत्न न करे ॥४५॥

चिकित्सा कब करे—

अनायातं त्वहोरात्रे स्नेहं संशोधनैर्हरेत् ॥४६॥
स्नेहवस्तावनायाते नान्यः स्नेहो विधीयते ।

अनुवासन वस्ति द्वारा प्रदत्त स्नेह अहोरात्र (२४ घटा) में भी वाहिर न आवे तब उसको सशोधन (विरेचक औषधों के प्रयोग) से वाहिर निकाले । स्नेह वस्ति के न लौटने पर अन्य अनुवासन (स्नेह) बस्ति नहीं देनी चाहिये ॥४५॥

वक्तव्य—अथवा स्नेह वस्ति के अनुलोमनार्थ —

कुष्ठक्रमुककल्कन्तु पाययेच्चाम्लसंयुतम् ।
औष्ण्यात्तैक्ष्ण्यात् सरत्वाच्च वस्तिः सोऽस्यानुलोमयेत् ॥

अन्यच्च—गोमूत्रेण त्रिवृत्पथ्याकल्क वात्रानुलोमनम् । (वृन्दमाधव)

अथ अनुवासनार्थं गुडूच्यादितैलम्—

गुडूच्येरण्डपूतीकभार्ङ्गीवृषकरोहिषम् ॥४७॥
शतावरीं सहचरं काकनासां पलोन्मिताम् ।
यवमाषातसीकोलकुलित्थान्प्रसृतोन्मितान् ॥४८॥
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा द्रोणशेषेण तेन च ।
पचेत्तैलाढकं पेष्यैर्जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥४९॥
अनुवासनमेतद्धि सर्ववातविकारनुत् ।

अनुवासन वस्ति में प्रयोग करने योग्य गुडूच्यादि तैल साधनार्थ—विशुद्ध तिल तैल एक आढक (४ सेर, यथाविधि मूर्च्छित करे) । क्वाथार्थ—गुडूची (आर्द्र), एरण्डमूलत्वक्, करञ्जुआ की छाल, भाडंगी, वासामूलत्वक्, रोहिष (तृण विशेष), शतावरी, पियावासा, काकनासा—प्रत्येक एक २ पल (४-४ तोले) ।

यथाविधि क्षुण्ण (कूट) कर पात्र में डाल देवे और जौं (अन्न), उडद, अलसी, वदरी फलत्वक्, कुलथी (अन्न)—प्रत्येक एक २ प्रसृत (२—२ पल), यथाविधि कूटकर उपरोक्त गुडूच्यादि औषधों के साथ पात्र में डाल देवे। क्वाथ पाकार्थ—जल ४ द्रोण (६४ सेर) डालकर शनै. २ पाक करे। जब क्वथित क्वाथ का जल चतुर्थांश अवशिष्ट रहे तव उतारकर यथाविधान वस्त्रपूत करे और पूर्व मूर्च्छित तैल में डालकर पकावे। क्वाथ पाक होने के पश्चात् जीवनीयगण ('अष्टवर्ग सयष्टीको जीवन्ती मुद्गपर्णिका') की प्रत्येक औषध को एक २ पल परिमाण लेकर यथाविधि शिलापेषण करके कल्क बनावे और तैल के पात्र में डालकर ऊपर से १६ सेर पानी डालकर शनै २ पाक करे। पाकान्त में सिद्ध तैल को ग्रहण करके वस्त्रपूत करके प्रयोग करे। इस सिद्ध तैल को अनुवासन वस्ति में प्रयोग करे। इससे सम्पूर्ण वात विकार नष्ट होते हैं ॥४७—४९॥

वस्ति कर्म की व्यापत्तिया—

षट्सप्ततिव्यापदस्तु जायन्ते वस्तिकर्मणः।
दूषितात्समुदायेन ताश्चिकित्स्यास्तु सुश्रुतात् ॥५०॥

वस्ति कर्म में विधि भ्रष्टता अथवा नियम पालन में प्रमाद के कारण ७६ प्रकार के व्यापद (रोग अथवा उपद्रव) उत्पन्न होते हैं। उनकी शान्ति के लिये सुश्रुतोक्त चिकित्सा करनी चाहिये (सुश्रुत संहिता चिकित्सास्थान अध्याय ३७ में वस्ति व्यापद की विस्तृत चिकित्सा का वर्णन है) ॥५०॥

वक्तव्य— सुश्रुतोक्त ७६ वस्ति व्यापदों के नाम—

वस्तिनेत्र के दोष—

१—नेत्रचलित
२—विवर्तित
३—पार्श्वावपीडित
४—अत्युत्क्षिप्त
५—अवसन्न
६—तिर्यक्क्षिप्त

इति षट् प्रणिधानदोषाः।

७—अतिस्थूल
८—कर्कश
९—अवनत
१०—अणु
११—भिन्न
१२—सन्निकृष्ट
१३—विप्रकृष्टकर्णिक
१४—सूक्ष्म
१५—अतिछिद्र
१६—अतिदीर्घ
१७—अतिह्रस्व

इत्येकादश नेत्रदोषाः।

१८—बहुलता
१९—अल्पता
२०—सच्छिद्रता
२१—प्रस्तीर्णता
२२—दुर्बद्धता

इति पञ्च वस्तिदोषाः।

२३—अतिपीडितता
२४—शिथिलपीडिता
२५—वार २ पीडन
२६—कालातिक्रम

इति चत्वारः पीडनदोषाः।

२७—आमता
२८—हीनता
२९—अतिमात्रता
३०—अतिशीतता
३१—अत्युष्णता
३२—अतितीक्ष्णता
३३—अतिमृदुता
३४—अतिस्निग्धता
३५—अतिरूक्षता
३६—अतिसान्द्रता
३७—अतिद्रवता

इत्येकादश द्रव्यदोषाः।

३८—अवाक्शीर्ष
३९—उच्छीर्ष
४०—न्युब्जशीर्ष
४१—उत्तानपाद
४२—सकुञ्चितदेह
४३—देहस्थितता (बैठे होना)
४४—दक्षिणपार्श्वशयन

इति सप्त शय्यादोषाः।

४५-५९—पन्द्रह आतुरनिमित्तज
६०—अशमीभूत
६१—मलव्यामिश्र
६२—दूरानुप्रविष्ट
६३—अस्विन्न
६४—अनुष्ण
६५—अल्प
६६—भुक्तवतो
६७—अल्पाशन
६८—अयोग
३६—आध्मान
७०—परिकर्तिका
७१—परिस्राव
७२—प्रवाहिका
७३—हृदयोपसरण
७४—अगग्रह
७५—अतियोग
७६—जीवादान

वस्तिव्यापद की यथाक्रम सुश्रुतीय चिकित्सा—

अथ नेत्रे विचलिते तथा चैव विवर्तिते।
गुदे क्षत रुजा वा स्यात्तत्र सद्यः क्षतक्रिया॥
अत्युत्क्षिप्तेऽवसन्ने च नेत्रे पायौ भवेद्रुजा।
विधिरत्रापि पित्तघ्न कार्यः स्नेहैश्च सेचनम्॥
तिर्यक्प्रणिहिते नेत्रे तथा पार्श्वावपीडिते।
मुखस्यावरणाद्वस्तिर्न सम्यक् प्रतिपद्यते॥
ऋजुनेत्रं विधेयं स्यात्तत्र सम्यग् विजानता॥
अतिस्थूले कर्कशे च नेत्रे चावनते तथा।
गुदे भवेत् क्षतं रुक् च साधनं पूर्ववत्स्मृतम्॥
आसन्नकर्णिके नेत्रे भिन्नेऽणौ वाऽप्यपार्थकः।
अवसेको भवेद्वस्तेस्तस्माद्दोषान् विवर्जयेत्॥
प्रकृष्टकर्णिके रक्त गुदमर्मप्रपीडनात्।
क्षरत्यत्राऽपि पित्तघ्नो विधिर्वस्तिश्च पिच्छिल॥
प्रत्यागच्छस्ततः कुर्याद्रोगान् वस्तिविघातजान्॥
दीर्घे महास्रोतासि च ज्ञेयमत्यवपीडवत्।
प्रस्तीर्णे बहले चापि वस्तौ दुर्बद्धदोषवत्॥

वस्तावल्पेऽल्पता वाऽपि द्रव्यस्याऽल्पा गुणा मताः ।
दुर्बद्धे चाणुभिन्ने च विज्ञेयं भिन्ननेत्रवत् ॥
अतिप्रपीडितो वस्तिः प्रयात्यामाशयं ततः ।
वातेरितो नासिकाभ्यां मुखतो वा प्रपद्यते ॥
तत्र तूर्णं गलापीडं कुर्याच्चाप्यवधूननम् ।
शिरःकायविरेकौ च तीक्ष्णौ सेकांश्च शीतलान् ॥
शनैः प्रपीडितो वस्तिः पक्वाधानं न गच्छति ।
न च सम्पादयत्यर्थांस्तस्माद्युक्तं प्रपीडयेत् ॥
भूयो भूयोऽवपीडेन वायुरन्तः प्रपीड्यते ।
तेनाध्मानं रुजश्चोग्रा यथास्वं तत्र वस्तयः ॥
कालातिक्रमणात्क्लेशो व्याधिश्चाभिप्रवर्धते ।
तत्र व्याधिवलघ्नं तु भूयो वस्तिं निधापयेत् ॥
गुदोपदेहशोफौ तु स्नेहोऽपक्वः करोति हि ।
तत्र संशोधनो वस्तिर्हितं चापि विरेचनम् ॥
हीनमात्रावुभौ वस्ती नातिकार्यकरौ मतौ ।
अतिमात्रौ तथाऽनाहक्लमातीसारकारकौ ॥
मूर्च्छां दाहमतीसारं पित्तं चात्युष्णतीक्ष्णकौ ।
मृदुशीतावुभौ वातविवन्धाध्मानकारकौ ।
तत्र हीनादिषु हितः प्रत्यनीकः क्रियाविधिः ।
तत्र सान्द्रे तनुं वस्तिं तनौ सान्द्रं च दापयेत् ॥
स्निग्धोऽतिजाड्यकृद्रूक्षस्तम्भाध्मानकृदुच्यते ।
वस्तिं रूक्षमतिस्निग्धे स्निग्धं रूक्षे च दापयेत् ॥
अतिपीडितवद्दोपान् विधिं चाप्यवशीर्षके ।
उच्छीर्षके समुन्नाहं वस्तिः कुर्याच्च मेहनम् ॥
तत्रोत्तरो हितो वस्तिः सुस्विन्नस्य सुखावहः ।
न्युब्जस्य वस्तिर्नाप्नोति पक्वाधानं विमार्गगः ॥
हृद्गुदं वाधते चात्र वायुः कोष्ठमथापि च ।
उत्तानस्यावृते मार्गे वस्तिर्नान्तः प्रपद्यते ॥
नेत्रसंवेजनभ्रान्तो वायुश्चान्तः प्रकुप्यति ।
देहे संकुचिते दत्त सक्थ्नोरप्युभयस्तथा ॥
न सम्यगनिलाविष्टो वस्तिः प्रत्येति देहिनः ।
स्थितस्य वस्तिर्दत्तस्तु क्षिप्रमायात्यवाङ्मुखः ॥
न चाशयं तर्पयति तस्मान्नार्थकरो हि सः ।
नाप्नोति वस्तिर्दत्तस्तु कृत्स्नं पक्वाशयं पुनः ॥

दक्षिणाश्रितपार्श्वस्य वामपार्श्वानुगो यतः ।
न्युब्जादीनां प्रदान च वस्तेनैव प्रशस्यते ॥
पश्चादनिलकोपोऽत्र यथास्वं तत्र कारयेत् ।
व्यापदः स्नेहवस्तेस्तु वक्ष्यन्तेऽत्र चिकित्सिते ॥
अयोगाद्यास्तु वक्ष्यामि व्यापदः सचिकित्सिताः ।
अनुष्णोऽल्पौषधो हीनो वस्तिर्नैति प्रयोजितः ॥
विष्टम्भाध्मानशूलैश्च तमयोगं प्रचक्षते ।
तत्र तीक्ष्णो हितो वस्तिस्तीक्ष्णं चापि विरेचनम् ॥
सशेषान्नेऽथवा भुक्ते वहुदोषे च योजितः ।
अत्याशितस्यातिवहुर्वस्तिर्मन्दोष्ण एव च ॥
अनुष्णलवणस्नेहो ह्यतिमात्रोऽथवा पुनः ।
तथा वहुपुरीषं च क्षिप्रमाध्मापयेन्नरम् ॥
हृत्कटीपार्श्वपृष्ठेषु शूलं तत्रातिदारुणम् ।
तत्र तीक्ष्णतरो वस्तिर्हितं चाप्यनुवासनम् ॥
अतितीक्ष्णोष्णलवणौ रूक्षो वस्तिः प्रयोजितः ।
सपित्तं कोपयेद्वायु कुर्याच्च परिकर्तिकाम् ॥
नाभिवस्तिगुदं तत्र छिनत्तीवातिदेहिनः ।
पिच्छावस्तिर्हितस्तस्य स्नेहश्च मधुरैः शृतः ॥
अत्यम्ललवणस्तीक्ष्णः परिस्रावाय कल्पते ।
दौर्वल्यमङ्गसादश्च जायते तत्र देहिनः ॥
परिस्रवेत्ततः पित्तं दाहं सञ्जनयेद्गुदे ।
पिच्छावस्तिर्हितस्तत्र वस्तिक्षीरघृतेन च ॥
प्रवाहिका भवेत्तीक्ष्णा निरूहात्सानुवासनात् ।
सदाहशूलं कृच्छ्रेण कफासृगुपवेश्यते ॥
पिच्छावस्तिर्हितस्तत्र पयसा चैव भोजनम् ।
सर्पिर्मधुरकैः सिद्धं तैलं चाप्यनुवासनम् ॥
अतितीक्ष्णो निरूहो वा सवाते चानुवासनः ।
हृदयस्योपसरणं कुरुते चाङ्गपीडनम् ॥
दोषैस्तत्र रुजस्तास्ता मदो मूर्च्छाङ्गगौरवम् ।
सर्वदोषहरं वस्तिं शोधनं तत्र दापयेत् ॥
रूक्षस्य वहुवातस्य तथा दुःशायितस्य च ।
वस्तिरङ्गग्रहं कुर्याद्रूक्षो मृद्वल्पभेषजः ॥
तत्राङ्गसादः प्रस्तम्भो जृम्भोद्वेष्टनवेपकाः ।
पर्वभेदश्च तत्रेष्टाः स्वेदाभ्यञ्जनवस्तयः ॥

अत्युष्णतीक्ष्णोऽतिबहुर्दत्तोऽतिस्वेदितस्य च।
अल्पदोषस्य वा वस्तिरतियोगाय कल्पते।
विरेचनातियोगेन समानं तच्चिकित्सितम्॥
पिच्छावस्तिप्रयोगश्च तत्र शीतः सुखावहः।
अतियोगात्परं यत्र जीवादानं विरिक्तवत्॥
देयस्तत्र हितश्चापि पिच्छाबस्तिः सशोणितः।
इत्युक्ता व्यापदः सर्वाः सलक्षणचिकित्सिताः॥
भिषजा च तथा कार्यं यथैता न भवन्ति हि॥ (सु०चि०३७अ०)

अनुवासन वस्ति में पथ्य व्यवस्था—

पानाहारविहाराश्च परिहाराश्च कृत्स्नशः।
स्नेहपानसमाः कार्या नात्र कार्या विचारणा॥५१॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-
संहितायामुत्तरखण्डे स्नेहवस्तिविधिर्नाम
पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

अनुवासन वस्ति सेवन करने वाले मनुष्य को पान (पेय पदार्थों में), आहार (भोज्य पदार्थों में) और विहार (कर चरणादि कायिक व्यापार) तथा परिहार आदि के लिये स्नेह पान के समान नियंत्रण में रहना चाहिये। इसके नियमों को पालन करने में किसी प्रकार का ऊहापोह न करे॥५१॥

वक्तव्य—विधिपूर्वक अनुवासन वस्ति सेवन के लाभ—

अष्टादशाष्टादशकवस्तीनां यो निषेवते।
यथोक्तेन विधानेन परिहारक्रमेण च॥
स कुञ्जरबलोऽश्वस्य जवतुल्योऽमरप्रभः।
नीतिवाक्यश्रुतिधरः सहस्रायुर्नरो भवेत्॥
अन्यदपि—मूलसेकाद्यथा वृक्षः स्निग्धश्च नवपल्लवः।
तथा वस्तिप्रदानात्स्यान्नरः कान्तिबलादिमान्॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायां शार्ङ्गधर-
संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकायां भाषाटीकायामुत्तरखण्डे
स्नेहविधिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

निरूहवस्ति की विधि और उसके के भेद—

निरूहवस्तिर्बहुधा भिद्यते कारणान्तरैः ।
तैरेव तस्य नामानि कृतानि मुनिपुङ्गवैः ॥१॥
निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः ।
स्वस्थानस्थापनाद्दोषधातूनां स्थापनं मतम् ॥२॥

निरूहण वस्ति (क्वाथ, दुग्ध, गोमूत्रादि) कारण भेद से अनेक प्रकार की होती है और कारण भेद (भिन्नता) के अनुसार उसके भिन्न २ नाम श्रेष्ठ मुनियों ने स्थिर किये हैं । निरूहण वस्ति का दूसरा नाम (पर्याय) आस्थापन वस्ति है । विकृत और दुष्ट दोष (वात, पित्त, कफ) और धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र) को स्वस्थान में यथास्थान स्थित करने से इस को आस्थापन वस्ति कहते हैं ॥१—२॥

वक्तव्य—दोषनिर्हरणाच्छरीररोहणाद्वा निरूह. । (इति सुश्रुत)
आसमन्तात् आयु' वयो स्थापयतीति आस्थापनम् ।
तद्वय.स्थापनाद्दोपस्थापनाद्वास्थापनमित्युच्यते ।
स्नेहैर्यो दीयते स स्यादनुवासननामकः ।
पय कषायै. सोऽपि निरूहास्थापनो मत' ॥

दोषानुसार निरूहण की मात्रा—

निरूहस्य प्रमाणं च प्रस्थं पादोत्तरं परम् ।
मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनं च कुडवास्त्रयः ॥३॥

निरूहण वस्ति में प्रयुक्त होने वाले द्रव पदार्थ—तैल, गोमूत्र, कांजी, क्वाथ, मांस रसादिक समस्त अथवा व्यस्त का मान उत्तम मात्रा के लिये पादोत्तर प्रस्थ (सवा प्रस्थ) होता है । इस प्रकार की उत्तम मान की वस्ति प्रवल दोषों में व्यवहृत होती है । मध्य दोषों की निवृत्ति के लिये निरूहण की मध्यमात्रा एक प्रस्थ होती है । एवं साधारण दोषों की निवृत्ति के लिये निरूहण की हीन (साधारण) मात्रा तीन कुडव की होती है ॥३॥

वक्तव्य—अनुवासन वस्ति के पश्चात् निरूहण वस्ति तीसरे दिन करने की आज्ञा है । यथा—

अनुवास्य स्निग्धतनुं तृतीयेऽह्नि निरूहणम् ।
मध्याह्ने किञ्चिदावृत्य प्रयुञ्जे वस्तिमण्डले ॥ (चक्र०)

निरूहण वस्ति में प्रयुक्त होनेवाले द्रव्यों का पृथक् २ मान इस प्रकार है—

मधुस्नेहनकल्काख्यकषाया वाप्यतः क्रमात् ।
त्रीणि षड् द्वे दश त्रीणि पलान्यनिलरोगिणाम् ॥
पित्ते चत्वारि चत्वारि त्रिपञ्च च चतुष्टयम् ।
षट् त्रीणि द्वे दश त्रीणि कफे चापि निरूहणम् ॥

अर्थात् वातप्रधान रोगों को शान्त करने के लिये पांच निरूह द्रव्यों को पृथक् २ इस मात्रा से लेवे—शहद ३ पल, स्नेह ६ पल, कल्क २ पल, कषाय (क्वाथ) १० पल, आवाप (दूध, काजी, गोमूत्र आदि आवश्यक प्रक्षेप्य द्रव्य ३ पल अर्थात् उपरोक्त पाच द्रव्यो की एक वार के लिये मिलित मात्रा २४ पल की होती है। पित्त प्रधान रोगों को शांत करने के लिये उपरोक्त निरूहण द्रव्यों की मात्रा इस प्रकार ग्रहण करे—शहद ४ पल, स्नेह ४ पल, कल्क २ पल, कषाय १० पल, एव आवाप ४ पल । एव कफ प्रधान रोगों को शान्त करने के लिये उपरोक्त निरूहण द्रव्यों की मात्रा इस प्रकार ग्रहण करे—शहद ६ पल, स्नेह ३ पल, कल्क २ पल, कषाय १० पल, आवाप ३ पल प्रयोग करे । उपरोक्त निरूहण द्रव्यों के मान में आयु के न्यूनाधिक होने पर द्रव्यों को भी न्यूनाधिक कर लेना चाहिये।

सुश्रुतीय मतानुसार निरूहण द्रव्यों के परस्पर मिलाने की विधि नीचे लिखी जाती है । इस में उपरोक्त पाच द्रव्यों के अतिरिक्त सैन्धव का प्रयोग भी किया गया है, जो उपयुक्त प्रतीत होता है । यथा—

गम्भीरे भाजनेन्यस्मिन्मथ्नीयात्तं खजेन च ।
यथा च साधु मन्येत न सान्द्रो न तनुः सम
दत्त्वादौ सैन्धवस्याऽक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम् ।
विनिर्मथ्य ततो दद्यात्स्नेहस्य प्रसृतित्रयम् ॥
एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत् ।
संमूर्च्छिते कषायं तु चतुःप्रसृतिसंमितम् ॥
वितरेच्च तदावापमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम् ।
एवं प्रकल्पितो बस्तिर्द्वादशप्रसृतो भवेत् ॥

अर्थात् एक उत्तम सुदृढ और वडे पात्र में निरूहण के द्रव्यों को डालकर यथाविधि खज के साथ मंथन करे और देख लेवे कि मथित पदार्थ न अधिक गाढा हो और न बहुत पतला ही रहे। सब पदार्थ परस्पर मिलकर ठीक एकसे हो जाने चाहियें ।

योजना प्रकार—

दत्त्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम् ।
पात्रे तलेन मथ्नीयादनु स्नेह शनैः शनैः ॥
सम्यक्सुमथिते दद्यात्फलकल्कमथापरम् ।

ततो यथोचितान् कल्कान् भागैः स्वैः श्लक्ष्णपेषितान् ॥
कषायप्रसृतान् पञ्च सुपूतांस्तत्र दापयेत् ।
रसक्षीराम्लमूत्राणां दोषावस्थामवेक्ष्य तु ॥

अर्थात् सब से प्रथम पात्र में १ तोला सैंधव पीस कर डाले और ४ पल मधु डाल कर खज के द्वारा पात्र के तल प्रदेश में मथन करे। मथन काल में शनैः २ मात्रानुसार स्नेह भी डालता जावे। इन तीनों पदार्थों के ठीक मथित होने पर फल कल्क (पीस कर) मिला देवे। एवं अन्य जो कल्कादि हों वह भी पीस कर अपने २ भागों के अनुसार डाल देवे। फिर वस्त्र से छना हुआ पाच प्रसृत (१० पल) क्वाथ भी डाल देवे और रोगी के दोषों और बल काल को विचार कर मास रस, दूध, काजी, गोमूत्र आदि को भी आवश्यक मात्रानुसार मिला देवे।

मात्रा के लिये विशेषाज्ञा—

ज्येष्ठायाः खलु मात्रायाः प्रमाणमिदमीरितम्
अप्रह्रासे भिषक्कुर्यात्तद्वत्प्रसृतिह्रापनम् ॥
यथा वयोनिरूहाणां कल्पनेयमुदाहृता ।
सैन्धवादिद्रवान्तानां सिद्धिकामैर्भिषग्वरैः ॥

अर्थात् वस्तियों का यह परिमाण जो ऊपर दिया गया है यह बडी से बड़ी मात्रा का परिमाण है। चिकित्सक इस में से घटा कर यथावश्यक जितनी प्रसृति उचित समझे उतनी (इसी हिसाब से) घटा कर प्रयोग करे। अवस्था के अनुसार सिद्धि चाहने वाले वैद्यवरों ने सैन्धव से लेकर द्रव (क्वाथ मूलादि) तक की निरूहण वस्ति में ऐसी कल्पना की है। सद्वैद्य इस में भी अपनी बुद्धि और अनुभव के अनुसार न्यूनाधिक कल्पना कर सकता है।

अनास्थाप्य रोगी—

अतिस्निग्धोत्क्लिष्टदोषो क्षतोरस्कः कृशस्तथा ।
आध्मानच्छर्दिहिक्कार्शःकासश्वासप्रपीडितः ॥४॥
गुदशोफातिसारार्तो विषूचीकुष्ठसंयुतः ।
गर्भिणी मधुमेही च नास्थाप्यश्च जलोदरी ॥५॥

जो मनुष्य अति स्निग्ध हो, जो उत्क्लिष्ट (वमनोन्मुख) दोष वाला हो, उर क्षत रोग से पीडित हो, अत्यन्त कृश (दुर्बल) हो उसे तथा आध्मान, छर्दि (कय), हिचकी, बवासीर, खासी, दमा, गुदा में पीड़ा, सूजन, अतीसार, विषूची (हैजा), कुष्ट (महाकुष्ठ), गर्भिणी स्त्री तथा मधु प्रमेह और जलोदर रोग से पीडित रोगियों को आस्थापन (निरूहवस्ति) का प्रयोग न करे ॥४—५॥

वक्तव्य— उक्तं च—

भयोन्मादस्तथा शोषाजीर्णारुचिप्रमोहिनः ।
मूर्च्छाकुष्ठोदरस्थौल्यश्वासकासक्षयातुराः ॥

शोथभ्रममदच्छर्दियुता घस्त्यमलाचलाः।
नास्थाप्या नानुवास्याश्च वातरोगादृते नराः॥

अन्यभेद—उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः।
अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्याः कथञ्चन॥

जलोदर रोगी निरूहण के अयोग्य होता है, समस्त उदर विकार वाले नेही। एवं प्रमेहों में मधु प्रमेह वाला तथा कुष्ठ में महाकुष्ठ युक्त निरूहण के अयोग्य होता है। यही अल्प अथवा स्पष्ट भेद है।

निरूहण वस्ति के योग्य रोगी—

वातव्याधावुदावर्ते वातासृग्विषमज्वरे।
मूर्च्छातृष्णोदरानाहमूत्रकृच्छ्राश्मरीषु च॥६॥
वृद्धासृग्दरमन्दाग्निप्रमेहेषु निरूहणम्।
शूलेऽम्लपित्ते हृद्रोगे योजयेद्विधिवद्बुधः॥७॥

वात जनित रोग, उदावर्त, वातरक्त, विषम ज्वर, मूर्च्छा, प्यास, उदर विकार, आनाह (पेट का फूलना, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी (पथरी), प्रवृद्ध प्रदर विकार, मन्दाग्नि, प्रमेह, शूल (उदरशूल), अम्लपित्त तथा हृद्रोग—इन रोगों में बुद्धिमान् वैद्य विधि के अनुसार निरूहण वस्ति का प्रयोग करे॥६—७॥

वक्तव्य—मूत्रकृच्छ्र के साथ मूत्राघात का भी ग्रहण होता है तथा स्त्री पुरुष दोनों के मूत्र, रज और वीर्य के दोषों का ग्रहण मानना चाहिये। यदुक्तम्–'मूत्ररेतोरजोदोषान् स्त्रीणां हन्ति निरूहणम्' एवं प्रमेहों में मधु मेही को छोड़ कर शेष प्रमेहों में प्रयोज्य है।

निरूहण वस्ति की विधि तन्त्रान्तर से लिखी जाती है—

नात्युच्छ्रितं नाप्यतिनीचपादपीठं शयनं प्रशस्तम्।
प्रधानमृद्वास्तरणोपपन्नं प्राक्शीर्षकं शुक्लपटोत्तरीयम्॥
प्रक्षिप्य वस्तौ मथितं खजेन सुबद्धपुच्छास्य च निर्वलीकम्।
अङ्गुष्ठमध्येन सुखं विधाय संस्थापनीया किल वर्त्तियन्त्रैः॥
तैलाक्तगात्रं कृतमूत्रविट्कं नाभिक्षयाक्तं शयने मनुष्यम्।
समे च देशे ननु शीर्षचक्षुषा नात्युच्छ्रिते नस्तरुणोपपन्ने॥
सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं कृत्वा जयेदस्य भुजोपनाहम्।
निकुञ्च्य सव्येतरमस्य सक्थिं वामं प्रसार्य प्रणयेच्च वास्तिम्॥
स्निग्धे गुदे नेत्रचतुर्थभागं स्निग्धैर्जनैर्जानु च पृष्ठवंशम्।
आकम्पनोत्क्षेपणलाघवादीन् पाण्यङ्गुलीश्चापि निदर्शयन्ति॥
प्रपीड्य चैकग्रहणेन दत्ते नेत्रं शनैरेव ततोऽपकर्षेत्।
तिर्यक् प्रणीतेन भयातिधारा गुदे व्रणः स्याच्चालिते च नेत्रे॥
दत्तः शनैर्नाशयमेति वस्तिः कण्ठं प्रधावत्यतिपीडितस्तु॥

निरूहण वस्ति का प्रकार—

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं स्निग्धस्विन्नमभोजितम् ।
मध्याह्ने गृहमध्ये च यथायोग्यं निरूहयेत् ॥८॥
स्नेहवस्तिविधानेन बुधः कुर्यान्निरूहणम् ।
जाते निरूहे च ततो भवेदुत्कटकासनः ॥९॥
तिष्ठन्मुहूर्तमात्रं तु निरूहागमनेच्छया ।
अनायातं मुहूर्तं तु निरूहं शोधनैर्हरेत् ॥१०॥
निरूहैरेव मतिमान् क्षारमूत्राम्लसैन्धवैः ।

यथाविधि स्नेहपान से स्निग्ध तथा स्वेदविधान से स्वेदित मनुष्य एवं जो मनुष्य अधोवायु, मल, मूत्र का त्याग कर चुका है उसको उस दिन भोजन न कराकर मध्याह्न के समय ऐसे गृह में जहां वायु और धूप आदि का सीधा प्रकोप न होता हो पूर्वोक्त स्नेहवस्ति प्रकार के अनुसार उचित विधान से निरूहण वस्ति का प्रयोग करे। निरूहण वस्ति होने के उपरान्त मनुष्य को दो घड़ी पर्यन्त उत्कटासन (पाओं के भार पृथ्वी) पर वैठना चाहिये। यदि इस प्रकार नियत समय तक निरूहण वस्ति वाहिर न निकले तव क्षार, गोमूत्र, अम्लरस (काजी) और सैंधव आदि के साथ शोधन निरूहण वस्ति से प्रथम प्रदत्त निरूहण को आहरण (वाहिर) करे ॥८—१०॥

वक्तव्य—अशुद्धश्च मलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः ।
तदाङ्गे सदनाध्मानशूलाः श्वासश्च जायते ॥
पक्वाशयगुरुत्वं च तत्र दद्यान्निरूहणम् ।
तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधैरेवं सिद्धं चाप्यनुवासनम् ॥ (चक्रदत्त)

उत्तम निरूहवस्ति के लक्षण—

यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायवः ॥११॥
लाघवं चोपजायेत सुनिरूढं तमादिशेत् ।

वस्ति प्रयोग के पीछे क्रमानुसार जिस मनुष्य के विष्ठा, पित्त, कफ और वायु का निःसरण होता है तथा शरीर में लघुता प्राप्त हो ऐसे मनुष्य को सम्यक् निरूढ कहते हैं ॥११॥

दुर्निरूढ के लक्षण—

यस्य स्याद्वस्तिरल्पाल्पवेगो हीनमलानिलः ॥१२॥
मूर्च्छार्तिजाड्यरुचिमान् दुर्निरूढं तमादिशेत् ।

निरूहण वस्ति देने के पश्चात् यदि वस्ति के वाहिर आने का वेग थोड़ा

थोडा हो एवं विष्ठा, पित्त, कफ और वायु का निर्गमन यथारीत्या न हो तथा मूर्च्छा, अतिसार, भारीपन और अरुचि का प्रादुर्भाव हो तो ऐसे मनुष्य को दुर्निरूढ कहते हैं ॥१२॥

वक्तव्य—सम्यक् बस्ति के अन्य लक्षण और प्रयोग—

विविक्तता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः।
आस्थापनस्नेहवस्त्योः सम्यग्दाने तु लक्षणम्॥

कब निरूहण वस्ति का प्रयोग करे—

अनेन विधिना युञ्ज्यान्निरूहं बस्तिदानवित्।
द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथोचितम् ॥१३॥

पूर्वोक्त वस्तिदान की विधि से आवश्यकता के अनुसार दो बार, तीन बार अथवा चार बार निरूहण वस्ति का प्रयोग करे। सम्यक् निरूहण बस्ति के लक्षण उत्पन्न होने पर फिर निरूहण वस्ति का प्रयोग न करे ॥१३॥

वक्तव्य—इस परिभाषा में कुछ विषमता है। यथा—

सस्नेह एकः पवने पित्ते द्वौ पयसा सह।
कषायकटुरूक्षाद्याः कफे कोष्णास्त्रयो हिताः॥

अन्यच्च—स्निग्धोष्ण एकः पवने निरूहौ द्वौ स्वादुशीतौ पयसा च पित्ते।
त्रयः समूत्राः कटुकोष्णतीक्ष्णाः कफे निरूहानयनं विधेयाः॥

भोजन विधान—

पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात्।
निरूहं भोजयित्वा च ततस्तमनुवासयेत् ॥१४॥

जिन मनुष्यों को निरूहण वस्ति प्रयोग की गई है उन्हें अन्नदान अथवा क्षुधा होने पर यथाक्रम अर्थात् यदि रोगी पित्ताविष्ट है तब गोदूध के साथ चावलों का भात खावे, यदि श्लेष्माविष्ट है तव मूंग की यूष पीवे, यदि वाताभिभूत है तब भोजन काल में मांसरस के साथ चावलों का भात खावे। तत्पश्चात् अनुवासन बस्ति का प्रयोग करे ॥१४॥

वक्तव्य— यदुक्तम्—

प्रत्यागते कोष्णजलावसिक्तः शाल्यन्नमद्यात्तनुना रसेन।
जीर्णे च सायं लघु चाल्पमात्रं भुक्तोऽनुवास्यः परिबृंहणार्थम्॥

सुकुमारादि में वस्ति प्रयोग—

सुकुमारस्य वृद्धस्य बालस्य च मृदुर्हितः।
बस्तिस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु तेषां हन्याद्बलायुषी ॥१५॥

सुकुमार (नाजुक मिजाज) वृद्ध तथा अल्पायु बालकों को (यदि निरूह वस्ति की आवश्यकता हो तब) मृदु वस्ति का प्रयोग करे। इनको तीक्ष्ण (पूर्ण

तथा तीक्ष्णौषधों से सिद्ध) वस्ति देने से वल और आयु का ह्रास होता है ॥१५॥

वक्तव्य—　　यदुक्तमन्यत्—

विशेषात्सुकुमाराणां हीन एव क्रमो हितः ।
मृदुर्वस्तिः प्रयोक्तव्यो विशेषाद्बालवृद्धयोः ॥

उत्क्लेशनादि वस्ति प्रयोग—

दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं ततः ।
पश्चात् संशमनीयं च दद्याद्वस्तिं विचक्षणः ॥१६॥

जिस दोष को नष्ट करने के लिये निरूह वस्ति प्रयुक्त करनी हो उसी दोष को उत्क्लेशित (संघीभूत दोष को पतला) करने वाले द्रव्यों से सिद्ध करके प्रथम वस्ति प्रयोग करे । इससे आगे द्रवीभूत दोषों को वाहिर निकालने वाली औषधों से सिद्ध वस्ति प्रयोग करे । एवं विकृत दोषों के वाहिर निकल जाने पर दोष को शमन (शांत) करने वाली औषधों से सिद्ध निरूहण वस्ति का प्रयोग करे ।

उत्क्लेशन वस्ति के द्रव्य—

एरण्डबीजं मधुकं पिप्पली सैन्धवं वचा ।
हपुषाफलकल्कश्च वस्तिरुत्क्लेशनः स्मृतः ॥१७॥

एरण्डबीज, मुलेठी, काली पीपल, सैन्धा नमक, वच, हाऊवेर और मैनफल—इन औषधों का कल्क पीस कर पूर्वोक्त द्रवादि पदार्थों से मिलाकर प्रयोग करे । यह उत्क्लेशन वस्ति दोषों को पतला करने वाली होती है ॥१७॥

दोषहर वस्ति—

शताह्वा मधुकं बीजं कौटजं फलमेव च ।
सकाञ्जिकः सगोमूत्रो वस्तिर्दोषहरो मतः ॥१८॥

सौंफ मीठी, मुलेठी, इन्द्रजौं, मैनफल—इनको यथामान कांजी और गोमूत्र से मिला कर वस्ति करने से दोष निकल जाते हैं । यह दोषों को निकालने वाली दोषहर वस्ति है ॥१८॥

शोधन वस्ति—

शोधनद्रव्यनिष्क्वाथस्तत्कल्कैः स्नेहसैन्धवैः ।
युक्त्या खजेन मथिता वस्तयः शोधनाः स्मृताः ॥१९॥

शोधन द्रव्यों (निशोथ आदि) का क्वाथ करे और उन्हीं का कल्क तथा स्नेह, सैन्धानमक मिलाकर खज (रई, मधाणी) से युक्तिपूर्वक मथन करे । यह शोधन करने वाली वस्ति है ॥१९॥

शमन वस्ति—

प्रियङ्गुर्मधुकं मुस्ता तथैव च रसाञ्जनम् ।
सक्षीरः शस्यते वस्तिर्दोषाणां शमनः स्मृतः ॥२०॥

प्रियंगु, मुलेठी, नागरमोथा, रसौंत—इन में दूध मिलाकर बस्ति प्रयोग करने से (शेष रहे) दोष शांत होते हैं। यह दोषों को शमन करनेवाली बस्ति है ॥२०॥

लेखन बस्ति—

त्रिफलाक्काथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमायुताः ।
ऊषकादिप्रतीवापैर्बस्तयो लेखनाः स्मृताः ॥२१॥

त्रिफला का क्काथ, गोमूत्र, शहद और जवाखार तथा (सुश्रुतोक्त) ऊषकादि-गण का कल्क डालकर यथाविधि मथित करके बस्तिप्रयोग करना। यह लेखन बस्ति है ॥२१॥

बृंहण बस्ति—

बृंहणद्रव्यनिष्काथैः कल्कैर्मधुरकैर्युताः ।
सर्पिर्मांसरसोपेता बस्तयो बृंहणाः स्मृताः ॥२२॥

विदारीकन्द, शतावरी, अश्वगन्धादि बृंहण द्रव्यों के क्काथ में काकोल्यादि मधुर द्रव्यों का कल्क मिलाकर घृत और मासरस डालकर बस्ति प्रयोग करना बृंहण बस्ति कहलाती है ॥ २२॥

पिच्छिल बस्ति—

बदर्यैरावतीशेलुशाल्मलीधन्वनागराः ।
क्षीरसिद्धाः क्षौद्रयुक्ता नाम्ना पिच्छिलसंज्ञिताः ॥२३॥
अजोरभ्रैणरुधिरैर्युक्ता देया विचक्षणैः ।
मात्रा पिच्छिलबस्तीनां पलैर्द्वादशभिर्मता ॥२४॥

बेर के फल का चूर्ण, ऐरावती (नागबला), शेलु (श्लेष्मातक अर्थात् ल्हेसुआ), सेमल की छाल, धन्वनागर (धन्वन-धम्मण वृक्ष के अंकुर)—इन सब को पीसकर दूध में पकावे और शहद मिलाकर बस्ति प्रयोग करे। यह पिच्छिल बस्ति (गाढा करने वाली तथा रक्तादि को रोकनेवाली) है। इस पिच्छिल बस्ति में बकरे मेढे और काले मृग का रुधिर लिया जाता है। पिच्छिल बस्ति की १२ पल (४८ तोले) की मात्रा होती है ॥२३—२४॥

निरूहार्थ द्रव्यों का परिमाण—

दत्त्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम् ।
विनिर्मथ्य ततो दद्यात्स्नेहस्य प्रसृतित्रयम् ॥२५॥
एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत् ।
संमूर्च्छिते कषायं तु चतुःप्रसृतिसंमितम् ॥२६॥
क्षिप्त्वा विमथ्य दद्याच्च निरूहं कुशलो भिषक् ।

वाते चतुष्पलं क्षौद्रं दद्यात्स्नेहस्य षट्पलम् । [ह्रा]स होता है ॥१७॥
पित्ते चतुष्पलं क्षौद्रं स्नेहं दद्यात्पलत्रयम् ।
कफे च षट्पलं क्षौद्रं क्षिपेत्स्नेहं चतुष्पलम् ॥२[८॥]

प्रथम एक स्वच्छ और बडे पात्र में सैन्धालवण एक अक्ष (ए[क तोला]) और ऊपर से शहद दो प्रसृति (४ पल, १६ तोले) डालकर हाथ से मथन[कर] पुन स्नेह (सस्कृत तैल अथवा घृत) तीन प्रसृति (६ पल, २४ तोले) डालकर सब को भली प्रकार मथन करके मिलावे। इनके परस्पर मिल जाने पर कल्क (शिलापेपित द्रव्य जो अपेक्षित हो) एक प्रसृत (२ पल, ८ तोले) डालकर मिलावे। पुन सब के मिलने पर कषाय (उपयुक्त औषधों से बना हुआ क्वाथ) चार प्रसृत (आठ पल, ३२ तोले) डालकर सब को परस्पर खूब मिलावे (फेंटे)। तत्पश्चात् इस औषध समुदाय को निरूहण वस्ति के विधान से प्रयोग करे। यदि वातजनित रोगों को दूर करने के लिये निरूहण वस्ति का उपयोग करना हो तो पूर्वोक्त वस्तु समुदाय में मधु ४ पल और स्नेह ६ पल डालना चाहिये। यदि पित्त रोग दूर करने के लिये निरूहण का प्रयोग करना हो तो मधु ४ पल तथा स्नेह ३ पल प्रयोग करे। एव यदि कफजनित रोगों को दूर करने के लिये निरूहण का प्रयोग करना हो तो मधु ६ पल (२४ तोले) तथा स्नेह ४ पल प्रयोग करना चाहिये॥ २५—२८॥

मधुतैलिक वस्ति—

एरण्डक्वाथतुल्यांशं मधु तैलं पलांशकम् ।
शतपुष्पापलार्धेन सैन्धवार्धेन संयुतम् ॥२९॥
मधुतैलिकसंज्ञोऽयं वस्तिः खजविलोडितः ।
मेदोगुल्मक्रिमिप्लीहमलोदावर्तनाशनः ॥३०॥
बलवर्णकरश्चैव वृष्यो दीपनबृंहणः ।

आवश्यकता अथवा उचित मानानुसार यथाविधि परिसाधित वस्त्रपूत एरण्ड क्वाथ में एरण्ड क्वाथ के समान शहद और तैल डाले तथा आधा पल (दो तोले) मीठी सौंफ का चूर्ण एव सौंफ से आधा सैंधानमक (१ तोला) डालकर परस्पर यथाविधि खज के साथ आलोडन करे। इसको मधुतैलिक वस्ति कहते हैं। इसके प्रयोग से मेदावृद्धि अथवा दुष्टि, गुल्मरोग, उदर के कीडे, प्लीहावृद्धि, मलकी विष्टब्धता, उदावर्त आदि रोग नष्ट होते हैं। एव यह बल और वर्ण को बढाने वाली है तथा वृष्य (वीर्यवर्धक), दीपन (अग्निदीपक), बृंहण (मासादि धातुवर्द्धक) होती है ॥२९—३०॥

दीपनवस्ति—

क्षौद्राज्यक्षीरतैलानां प्रसृतं प्रसृतं भवेत् ।

हपुषासैन्धवाक्षांशो वस्तिः स्याद्दीपनः परः ॥३१॥

शहद, घी, दूध तथा तैल—यह पृथक् पृथक् एक २ प्रसृत (८।८ तोले), हाऊवेर और सैन्धानमक एक २ अक्ष (कर्ष) परिमित लेकर यथाविधि सबको आलोडित करके प्रयोग करे। यह दीपन वस्ति कहलाती है ॥३१॥

युक्तरथवस्ति—

एरण्डमूलनिष्क्वाथो मधु तैलं ससैन्धवम् ।
एष युक्तरथो वस्तिः सवचापिप्पलीफलः ॥३२॥

एरण्डमूल के क्वाथ में—शहद, तैल, सैन्धा नमक, वच, कालीपीपल और मैनफल का समान भाग चूर्ण डालकर यथाविधि प्रयोग करे। इसको युक्तरथ वस्ति कहते हैं। यह सब रोगों में हितकर होती है ॥३२॥

सिद्ध वस्ति—

पञ्चमूलस्य निष्क्वाथस्तैलं मागधिका मधु ।
ससैन्धवः समधुकः सिद्धवस्तिरिति स्मृतः ॥३३॥

पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूल—विल्व, अग्निमथ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी—इन की छाल) के क्वाथ में—तैल, काली पीपल का चूर्ण, शहद, सैन्धा नमक, मुलेठी—इन सबका समान भाग चूर्ण परस्पर यथाविधि मिलाकर बस्ति विधान के अनुसार प्रयोग करे। यह सिद्ध वस्ति कहलाती है ॥३३॥

पथ्यापथ्य—

स्नानमुष्णोदकैः कुर्याद् दिवा स्वप्नमजीर्णताम् ।
वर्जयेदपरं सर्वमाचरेत्स्नेहवस्तिवत् ॥३४॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-संहितायामुत्तरखण्डे निरूहवस्तिविधिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

जिस को निरूहण वस्ति का प्रयोग किया गया हो, उसे उष्णोदक से स्नान करावे तथा उसको दिन में सोना और अजीर्ण में भोजन करना एव अन्य अनुवासन वस्ति में त्याज्य कर्मों का त्याग कर देना चाहिये। स्नेहवस्ति विधान में जो परिचर्या कही गई है, उसका आचरण करना चाहिये ॥३४॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-सहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकायमुत्तरखण्डे निरूहणवस्तिविधिर्नाम षष्ठोऽध्याय ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

उत्तरवस्ति का विधान—

अतः परं प्रवक्ष्यामि वस्तिमुत्तरसंज्ञितम् ।
द्वादशाङ्गुलकं नेत्रं मध्ये च कृतकर्णिकम् ॥१॥
मालतीपुष्पवृन्ताभं छिद्रं सर्षपसन्निभम् ।

अब इस (अनुवासन और निरूहण वस्ति के) के अनन्तर (मूत्राशय और गर्भाशय शोधनार्थ) उत्तर वस्ति की विधि का वर्णन करते हैं। यथा—उत्तर वस्ति के नेत्र (नलिका) का परिमाण (लम्बाई) १२ अंगुल (रोगी की अंगुलियों से) होना चाहिये और मध्य भाग में (६ अगुल पर) कर्णिका (मुद्रिकाकार) बनावे। इसकी नली मालती के फूल की डंडी के समान कोमल तथा भीतर से सरसों के दाने के बराबर छिद्र होना चाहिये ॥१॥

वक्तव्य—इस क्रिया की साधना के लिये भी वस्ति का शेष आकार प्रकार अनुवासन वस्ति के सदृश ही होता है। वर्तमान में इस के लिये भी यंत्र बने बनाये मिलते हैं। इस सम्बन्ध में सुश्रुतीय मत भी देखने योग्य है। यथा—

चतुर्दशांगुलं नेत्रमातुरांगुलसंमितम् ।
मालतीपुष्पवृन्ताग्रं छिद्रं सर्षपनिर्गमम् ॥
स्नेहप्रमाणं परमं प्रकुञ्चश्चात्र कीर्तितः ॥
पञ्चविंशादधो मात्रां विदध्याद् बुद्धिकल्पिताम् ॥
निविष्टकर्णिकं मध्ये नारीणां चतुरंगुले ।
मूत्रस्रोत परीणाहं मुद्गवाहि दशांगुलम् ।
मेढ्रायाससमं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः ।
तासामपत्यमार्गे तु निदध्याच्चतुरंगुलम् ॥
द्व्यंगुलं मूत्रमार्गे तु कन्यानां त्वेकमंगुलम् ।
विधेयं चांगुल तासां विधिवद्वक्ष्यते यथा ॥
स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वांगुलीमूलसंमितम् ।
देयं प्रमाणं परममर्वाग्बुद्धिविकल्पितम् ॥

उत्तरवस्ति में स्नेह मात्रा—

पञ्चविंशतिवर्षाणामधो मात्रा द्विकार्षिकी ॥२॥
तदूर्ध्वं पलमात्रा च स्नेहस्योक्ता भिषग्वरैः ।

बुद्धिमान् वैद्य पचीस वर्ष की आयु से कम आयु वाले मनुष्यों को उत्तर

वस्ति में २ तोला स्नेह की मात्रा प्रयोग करे और इससे ऊपर की आयु के मनुष्यों में एक पल परिमाण स्नेह की मात्रा व्यवहार करे ॥२॥

उत्तर वस्ति की विधि —

अथास्थापनशुद्धस्य तृप्तस्य स्नानभोजनैः ॥३॥
स्थितस्य जानुमात्रे च पीठेऽन्विष्यशलाकया ।
स्निग्धया मेढ्रमार्गे च ततो नेत्रं नियोजयेत् ॥४॥
शनैःशनैर्घृताभ्यक्तं मेढ्ररन्ध्रेऽङ्गुलानि षट् ।
ततोऽवपीडयेद्वस्तिं शनैर्नेत्रं च निर्हरेत् ॥५॥
ततः प्रत्यागते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमो हितः ।

जिसे निरूहण वस्ति से शुद्ध कर लिया गया हो तथा जो भोजन और स्नान से तृप्त (प्रसन्न) हो गया हो, ऐसे मनुष्य को जानु प्रमाण (१ हाथ) ऊंचे उत्तम आसन पर बैठा कर उचित विधि से तैयार की हुई चिक्कण (स्निग्ध शलाका से मूत्र मार्ग का अन्वेषण करके तदुपरात उत्तर वस्ति के नेत्र को मेढ्र मार्ग में प्रवेश करे । शनै २ छः अगुल तक प्रवेश कर देवे । पुन वस्ति (कोप) को शनै २ प्रपीडन करके स्नेह के प्रविष्ट होने पर मूत्र मार्ग से नेत्र को निकाल लेवे । जब यथाकाल उत्तर वस्तिप्रदत्त स्नेह लौट आवे तत्पश्चात् अनुवासन वस्ति में कथित आहार विहार का क्रम पालन करे ॥३—५॥

स्त्रियों के वस्ति देने का विधान—

स्त्रीणां कनिष्ठिकास्थूलं नेत्रं कुर्याद्दशाङ्गुलम् ॥६॥
मुद्गप्रवेशयोग्यं च योन्यन्तश्चतुरङ्गुलम् ।
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे च सूक्ष्मं नेत्रं नियोजयेत् ॥७॥

स्त्रियों के गर्भाशय शोधनार्थ योनिमार्ग में देने योग्य उत्तर वस्ति की नलिका की लम्बाई दश अगुल होनी चाहिये और उसके भीतर का छिद्र मूंग के दाने के प्रवेश योग्य हो । ऐसी नलिका को यथाविधि स्नेहाभ्यक्त करके यदि उत्तर वस्ति गर्भाशय शोधनार्थ प्रयुक्त करनी हो तो योनि के अन्दर उत्तर वस्ति की नली ४ अगुल प्रवेश करे और यदि मूत्र मार्ग शोधनार्थ प्रयुक्त करनी हो तो दो अगुल प्रवेश करे ॥६—७॥

वालकों को वस्ति देने की विधि—

मूत्रकृच्छ्रविकारेषु वालानां त्वेकमङ्गुलम् ।
शनैर्निष्कम्पमाधेयं सूक्ष्मं नेत्रं विचक्षणैः ॥८॥

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि जब मूत्रकृच्छ्रादि विकार वालकों (१६ वर्ष पर्यंत के) हों तब उनके उत्तर वस्ति के मार्गों में केवल एक अगुल परिमित बस्ति

नलिका प्रवेश करे। इस क्रिया के करते समय अनुभवी वैद्य का हाथ कंपरहित (स्थिर) होना चाहिये। एव इनके लिये वस्तिनेत्र भी सूक्ष्म (पतला, आयु के अनुसार इन्द्रियों के छिद्रयोग्य) होना चाहिये ॥८॥

स्त्रियों के लिये स्नेह मात्रा—

योनिमार्गेषु नारीणां स्नेहमात्रा द्विपालिकी ।
मूत्रमार्गे पलोन्माना बालानां च द्विकार्षिकी ॥९॥

यदि उत्तर वस्ति का प्रयोग गर्भाशय शोधनार्थ हो तो स्नेह का परिमाण २ पल होता है। यदि मूत्राशय अथवा मूत्रमार्ग शोधनार्थ हो तो १ पल होता है। एव बालकों के लिये स्नेहमान २ कर्ष (२ तोला) का होता है ॥९॥

स्त्रियों में उत्तर वस्ति प्रयोग करने की विधि —

उत्तानायै स्त्रियै दद्यादूर्ध्वजान्वै विचक्षणः ।
अप्रत्यागच्छति भिषग्वस्तावुत्तरसंज्ञिते ॥१०॥
भूयो वस्तिं निदध्याच्च संयुक्तैः शोधनैर्गणैः ।
फलवर्तिं निदध्याद्वा योनिमार्गे दृढां भिषक् ॥११॥
सूत्रैर्विनिर्मितां स्निग्धां शोधनद्रव्यसंयुताम् ।
दह्यमाने तथा वस्तौ दद्याद्वस्तिं विशारदः ॥१२॥
क्षीरिवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन वा ।
वस्तिः शुक्ररुजः पुंसां स्त्रीणामार्तवजां रुजम् ।
हन्यादुत्तरवस्तिस्तु नोचितो मेहिनां क्वचित् ॥१३॥

यदि स्त्री को उत्तर वस्ति का प्रयोग करना हो तो स्त्री के दोनों घुटने ऊंचे करके और दोनों पैरों को ऊचे उठाये हुए, सीधी लेटी हुई के चतुर वैद्य उत्तर वस्ति देवे। यदि उत्तर वस्ति का स्नेह उलटा नही निकले तो फिर वैद्य शोधन द्रव्यों से युक्त दूसरी वस्ति का प्रयोग करे अथवा फलवर्ति का प्रयोग करे। यह फलवर्ति शोधन (रेचक) द्रव्यों से तैयार करे और स्निग्ध करके सूत्र से बाधकर प्रवेश करे। इस फलवर्ति के प्रयोग से यदि वस्ति में दाह होवे तो क्षीरी वृक्ष (वट, गूलरादि) के त्वक् के कषाय को ठडा करके अथवा शीतल दूध से वस्ति देवे। इस से दाहादि उपद्रव शात होते हैं। विधि विहित उत्तर वस्ति के प्रयोग से पुरुषों के शुक्रदोष और स्त्रियों के आर्त्तव दोष दूर होते हैं। प्रमेह (मधुमेह) के रोगियों को उत्तर वस्ति का प्रयोग न करे ॥१०—१३॥

उत्तर वस्ति के गुण दोष—

सम्यक्दत्तस्य लिङ्गानि व्यापदः क्रम एव च ।

वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य शमनं स्नेहवस्तिना ॥१४॥

सम्यक् उत्तर वस्ति के लक्षण और व्यापद (उत्तर वस्ति जनित रोग) और उत्तर वस्ति देने की विधि एव चिकित्सादि सब अनुवासन वस्ति के समान जाने ॥१४॥

फलवर्ति—

घृताभ्यक्ते गुदे क्षेप्या श्लक्ष्णा स्वाङ्गुष्ठसन्निभा ।
मलप्रवर्तिनी वर्तिः फलवर्तिश्च सा स्मृता ॥१५॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-संहितायामुत्तरखण्डे उत्तरवस्तिविधिर्नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

रेचक औषधों से यथाविधि तैयार की हुई, रोगी के अंगूठे जितनी मोटी वत्ती को घी से चुपड कर घृताभ्यक्त गुदा में प्रवेश करे। इसके प्रयोग से मल प्रवर्तन होता है। इसे फलवर्त्ति कहते हैं ॥१५॥

वक्तव्य— वर्तिविधान—

आरग्वधस्य पत्रेषु निर्गुण्ड्याः स्वरसेषु च ।
कुर्याद्गोमूत्रपिष्टेषु वर्तीर्वापि ससैन्धवाः ।
मुद्गैलासर्षपसमाः प्रविभज्य वयांसि तु ।
वस्ते रोगमनार्थाय ता निदध्याच्छलाकया ॥ (सु चि.)

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकायामुत्तरखण्डे उत्तरवस्तिविधिर्नाम सप्तमोऽध्याय ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ।

नस्यविधि—

नस्यं तत्कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्यं यदौषधम् ।
नावनं नस्यकर्मेति तस्य नामद्वयं मतम् ॥१॥

जो औषध नासामार्ग से (श्वास के ऊर्ध्वगमन के साथ) ग्रहण की जाती है, उस को 'नस्य' कहते हैं। नावन और नस्यकर्म—यह दो उसके पर्याय हैं ॥१॥

वक्तव्य—नासामार्ग से ग्रहण करने के लिये यहां केवल औषध का सङ्केतमात्र है। इस कार्य के लिये प्रायः क्वाथ, स्वरस, स्नेह (औषध संस्कृत अथवा संस्कार रहित—दोनों) और चूर्ण प्रभृति अनेक प्रकार की औषधें प्रयुक्त होती हैं। इन की मात्रा और उपयोग का वर्णन आगे किया जायगा। जिस प्रकार वमन विरेचन से शरीर का शोधन किया जाता है उसी प्रकार नस्य विधान से ग्रीवा से ऊपर शिरोभाग का शोधन और तद्गत रोगों का शमन किया जाता है। शिर स्थित श्लेष्मा और शिरोरोगों को दूर करने के लिये नस्यकर्म अत्यन्त हितकर विधान है। यह नस्यकर्म मनुष्य को जन्म से ही सात्म्य होता है ऐसी आज्ञा शास्त्र में विद्यमान है।

नस्य के भेद—

नस्यभेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा ।
रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम् ॥२॥

पूर्वोक्त नस्य (नासागृहीत औषध) के दो भेद हैं—१ रेचन नस्य, २ बृंहण नस्य। रेचन नस्य—वृद्ध, श्लिष्ट एवं लीन हुए दोषों को कर्षण (नाश) करती है और बृंहण नस्य—स्नेहन (स्निग्धता) करती है ॥२॥

वक्तव्य—श्रीशार्ङ्गधराचार्य ने साधारणतया नस्य को दो भागों में विभक्त करके सागर को गागर में बन्द कर दिया है। अन्य आचार्यों ने नस्यकर्म के अन्य जितने भी भेद कहे हैं, वे प्रायः कर्मभेद से इन्हीं दो भागों में समा जाते हैं। वाग्भटकार उपक्रम भेद से नस्य को दो ही प्रकार का मानते हैं। यथा—

उपक्रम्यस्य हि द्वित्वाद्द्विधैवोपक्रमो मतः ।
एकः संतर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥

एवं वाग्भटकार विषयभेद से तीन प्रकार का भी मानते हैं। यथा—

विरेचनं शिरःशूलं जाड्यं स्पन्दगलामये ।
शोफगण्डक्रिमिग्रन्थिकुष्ठापस्मारपीनसे ॥
बृंहणं वातजे शूले सूर्यावर्त्ते स्वरक्षये ।
नासास्यशोषे तिमिरे वाक्संगे कृच्छ्रबाहुके ॥

शमनं नीलिकाव्यङ्गकेशदोषाक्षिरोगिषु ।
यथास्वं योगिकैः स्नेहैर्यथास्वं च प्रसाधितैः ॥
कल्कक्वाथादिभिश्चाद्यं मधुपष्टासवैरपि ।
बृंहणं धन्वमासोत्थरसासृक्स्वपुटैरपि ।
शमनं योजयेत्पूर्वैः क्षीरेण सलिलेन च ॥

इस त्रिविधात्मक नस्य के शमन नस्य को बृंहण नस्य में अन्तर्भावित कर लें तो वही दो भेद रह जाते हैं।

अन्य आचार्यों के मत से—

नस्यं शिरोविरेकश्च प्रतिमर्शोऽवपीडनम् ।
ज्ञेयं प्रधमनं चैतन्नस्तकर्म तु पञ्चधा ॥ (रविगुप्त०)

दृढवल के मत में एक और विशेषता—

नावनं चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च ।
प्रतिमर्शश्च विज्ञेयो नस्तः कर्म तु पञ्चधा ॥

काश्मीरास्तु षट्प्रकारं पठन्ति । यथा—

अवपीडं प्रधमनं नस्यं रेचनतर्पणम् ।
प्रतिमर्शश्च धूमश्च नस्तः कर्म तु षड्विधम् ॥

अत' शिरोविरेचने प्रधमनावपीडनसञ्ज्ञावन्तर्भूतौ । ते तु कर्षणत्वात्कर्षणेऽन्तर्भूतौ । प्रतिमर्पमर्शौ तु बृंहणेऽन्तर्भूतौ, एव धूमोऽपि शोधनशमनत्वात् यथ स्वान्तर्भावनीय इति सुस्थितमेतत् ।

नस्यकर्मार्थ समय—

कफपित्तानिलध्वंसे पूर्वमध्यापराह्णके ।
दिने तु गृह्यते नस्यं रात्रावप्युत्कटे गदे ॥३॥

कफ, पित्त और वायु (इन द्वारा होनेवाले रोगों अथवा इनकी प्रवलता) को जीतने के लिये यथाक्रम—प्रात काल, मध्याह्नकाल और सायंकाल (यथाविधान और यथावश्यक) नस्य का प्रयोग करे। अत्युत्कट (वृद्ध) रोग में रात्रि को भी देवे। अर्थात् कफ के रोगों को दूर करने के लिये दिन के पूर्वकाल प्रात सूर्योदय होने पर, क्योंकि यह कफ के प्रकोप का काल है। पित्त के रोगों को दूर करने के लिये मध्याह्नकाल (१२—२ बजे) में यथावश्यक नस्य का प्रयोग करे, कारण कि पित्त के प्रकुपित होने का यही समय है। वातजनित रोगों को शान्त करने के लिये सायकाल (६।७ बजे) वातनाशक औषधों से परिसाधित स्नेह का प्रयोग करे॥३॥

वक्तव्य—यथा दोषोदये काले रोगिणे नावनं हितम् ।

स्वस्थावस्था में यथा—

शरद्वसन्तयोः स्वस्थे पूर्वाह्णे संप्रयोजयेत् ।
वर्षासु शीतजे ग्रीष्मे सायं मध्यंदिने तथा ॥

अवस्था और रोगभेद से नस्य का त्याग—

नस्यं त्यजेद्भोजनान्ते दुर्दिने चापतर्पिते ।
तथा नवप्रतिश्यायी गर्भिणी गरदूषितः ॥४॥
अजीर्णी दत्तबस्तिश्च पीतस्नेहोदकासवः ।
क्रुद्धः शोकाभिभूतश्च तृषार्तो वृद्धबालकौ ॥५॥
वेगावरोधी स्नातश्च स्नातुकामश्च वर्जयेत् ।

भोजन करने के तत्काल पीछे तथा दुर्दिन में (जब आकाश में मेघ अथवा आंधी हो), एवं असतर्पितावस्था में नस्य का प्रयोग न करे तथा नूतन प्रतिश्याय में (पुराने प्रतिश्याय में निषेध नहीं), गर्भवती स्त्री को, गरदूषित (विषदूषित) मनुष्य को, अजीर्ण रोग वाले को, एवं जिसे वस्ति प्रयोग किया गया हो, जिसने स्नेहपान किया हो, जिसने जल अथवा मद्यादि का सेवन किया हो, जो क्रोधाभिभूत हो, शोक सतप्त हो, तृषा से पीडित हो, वृद्ध एव बालक हो, मलमूत्रादि वेगों का जिसने निरोध किया हो, जिसने स्नान कर लिया हो अथवा स्नान करना शेष हो, ऐसे मनुष्यों को नस्य का प्रयोग न करे ॥४—५॥

आयुभेद से नस्य प्रयोग—

अष्टवर्षस्य बालस्य नस्यकर्म समाचरेत् ॥६॥
अशीतिवर्षादूर्ध्वं च नावनं नैव दीयते ।

आठ वर्ष की आयु वाले बालक को नस्य कर्म का प्रयोग करे और अस्सी वर्ष की आयु से ऊपर नस्य कर्म का प्रयोग न करे ॥६॥

वैरेचनिक नस्य—

अथ वैरेचनं नस्यं ग्राह्यं तैलैः सुतीक्ष्णकैः ॥७॥
तीक्ष्णभेषजसिद्धैर्वा स्नेहैः क्वाथै रसैस्तथा ।

शिरो विरेचनार्थ तीक्ष्ण तैल (सर्षपादि) अथवा तीक्ष्ण शिरोविरेचक (मरिच, पिप्पली, शृगवेर, शिग्रुबीज आदि) द्रव्यों के स्वरस अथवा क्वाथ से यथाविधि परिसाधित स्नेह से नस्य प्रदान करे ॥७॥

शिरोविरेचन नस्य की मात्रा—

नासिकारन्ध्रयोरष्टौ षट् चत्वारश्च बिन्दवः ॥८॥
प्रत्येकं रेचने योज्या मुख्यमध्यान्त्यमात्रया ।

शिरोविरेचक औषधों से यथाविधि परिसाधित स्नेह नासा के दोनों छिद्रों में आठ बून्द (आठ आठ दोनों ओर) प्रयोग करना उत्तम मात्रा कहलाती है, छः बून्द (छ छ दोनों ओर) प्रयोग करना मध्य मात्रा कहलाती है और दोनों नासामार्गो में चार बूद (चार चार दोनों ओर) प्रयोग करना हीनमात्रा कहलाती है ॥८॥

वक्तव्य—चत्वारो विन्दव पट् वा तथाष्टौ वा यथावलम् ।
शिरोविरेचने योज्या ऊर्ध्व जत्रुविकारिणाम् ॥

विन्दुलक्षणं वाग्भटे—

प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयामग्नसमुद्धृतात् ।
यावत्पतत्यसौ विन्दुर्दशाष्टौ पट्क्रमेण ते ॥
मर्शस्योत्कृष्टमध्योना मात्रास्ता एव च क्रमात् ॥

अर्थात् प्रदेशिनी (अंगूठे के साथ की अंगुली) के दो पर्व स्नेहपात्र में डुबोकर निकाल लेवे। उस से जो विन्दु च्युत हो, उसी का विन्दु रूप से ग्रहण होता है। यहा नस्य की उत्तम मात्रा के लिये दश विन्दु, मध्यमात्रा के लिये आठ विन्दु और हीन मात्रार्थ छ. विन्दु ग्रहण करने का निर्देश है। यह दश, आठ और छ विन्दु एक २ नासा पुट में दिये जाते हैं। गयदासाचार्य अपनी टीका में लिखते हैं कि—'प्रायोगिके नस्ये प्रत्येकं नासापुटयोरष्टौ विन्दवः स्नेहनार्थे तद्द्विगुणा शुक्तिप्रमाणा ' इति ।

नस्य कर्म में औषधमान—

नस्यकर्मणि दातव्यं शाणैकं तीक्ष्णमौषधम् ॥९॥
हिङ्गु स्याद्यवमात्रं तु माषैकं सैन्धवं मतम् ।
क्षीरं चैवाष्टशाणं स्यात्पानीयं च त्रिकार्षिकम् ॥१०॥
कार्षिकं मधुरं द्रव्यं नस्यकर्मणि योजयेत् ।

नस्य कर्मार्थ तीक्ष्ण—मरिच, पिप्पली, शुण्ठी, शृंगवेर, शोभाञ्जनादि औषधें (एक वार में) एक शाण (अथवा आयु और आवश्यकतानुसार) व्यवहार करे। हीग एक यव परिमित व्यवहार करे, सैन्धव एक मासा और दूध आठ शाण (६४ विंदु) व्यवहार करे तथा जल तीन कर्ष (३ तोले) व्यवहार करे और मधुर द्रव्य (शर्करा, मिशरी, अनार, इक्षुरसादि) एक तोला व्यवहार करे (नस्य विधान में शाण आठ विन्दुओं का माना जाता है। इसी अध्याय में आगे इसका निर्णय है)।

शिरोविरेचन नस्य के भेद—

अवपीडः प्रधमनं द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ ॥११॥
शिरोविरेचनस्यात्र तौ तु देयौ यथायथम् ।

अवपीडन और प्रधमन भेद से शिरोविरेचन नस्य दो प्रकार का होता है। इन दोनों में से जहां जिसकी आवश्यकता हो वहां उसका प्रयोग करे ॥११॥

अवपीडन नस्य की विधि और लक्षण—

कल्कीकृतादौषधाद्यः पीडितो निःसृतो रसः ॥१२॥
सोऽवपीडः समुद्दिष्टस्तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ।

नस्यार्थ प्रयुक्त होने वाली औषध को कल्कीभूत (शिलापेषित) करके वस्त्र से निष्पीडन करे और स्वरस निकाल लेवे । इस स्वरस को नासा पुटों में प्रयोग करे । इसको 'अवपीडन' नस्य कहते हैं ॥१२॥

प्रधमन नस्य के लक्षण—

षडङ्गुला द्विवक्त्रा या नाडी चूर्णं तया धमेत् ॥१३॥
तीक्ष्णं कोलमितं वक्त्रवातैः प्रधमनं हि तत् ।

छः अंगुल लम्बी और दो मुखों वाली एक नलिका तैयार करे । इस नलिका में (पिप्पली कट्फलादिक) तीक्ष्ण द्रव्यों का कोल परिमित वस्त्रपूत चूर्ण डालकर वक्त्रवात (मुख की फूक) से औषध को प्रेरित करे । इसको 'प्रधमन' नस्य कहते हैं ॥१३॥

वक्तव्य—नली का एक किनारा अंगूठे और अंगुली से दबा कर उसके ऊपर के मुख से नस्य द्रव्यों का चूर्ण डाले और अगुलियों से जो किनारा दबाया गया है उस भाग को रोगी की नासा में रख कर नाली के ऊपर के मुख से बल-पूर्वक फूक मारने से नली स्थित औषध रोगी की नासिका में प्रविष्ट हो जाती है ।

रेचन और स्नेहन नस्य के योग्य रोगी—

ऊर्ध्वजत्रुगते रोगे कफजे स्वरसंक्षये ॥१४॥
अरोचके प्रतिश्याये शिरःशूले च पीनसे ।
शोफापस्मारकुष्ठेषु नस्यं वैरेचनं हितम् ॥१५॥
भीरुस्त्रीकृशबालानां नस्यं स्नेहेन दीयते ।

ऊर्ध्वजत्रुगत (ग्रीवा, गल, तालु, शिर आदि के) रोग, कफजनित स्वर भेद, अरुचि, प्रतिश्याय, शिरोव्यथा, पीनस (नजला), सूजन, मृगी और कुष्ठ विकार में रेचन नस्य हित होता है । भीरु (डरपोक), सुकुमार प्रकृति की स्त्री, कृश रोगी तथा बालकों को स्नेहयुक्त बृंहण नस्य प्रयोग करे ॥१४—१५॥

अवपीडन नस्य के योग्य रोगी—

गलरोगे सन्निपाते निद्रायां विषमज्वरे ॥१६॥
मनोविकारे कृमिषु युज्यते चावपीडनम् ।

गलरोग (कण्ठशालूक, रोहिणी, श्लेष्मप्रकोप), सन्निपात (कफप्रधान सन्निपात, जिनमें तन्द्राधिक्य हो), निद्राधिक्य, विषम ज्वर, मनोविकार (मद, मूर्च्छा, अपस्मार, सन्यास, उन्माद, भूतोन्माद आदि), क्रिमि रोग (क्रिमिज शिरोरोग)—इन सब में अवपीडन नस्य का प्रयोग करे ॥१६॥

प्रधमन नस्य के योग्य रोगी—

अत्यन्तोत्कटदोषेषु विसंज्ञेषु च दीयते ॥१७॥
चूर्णं प्रधमनं धीरैस्तद्धि तीक्ष्णतरं यतः ।

अत्यन्त प्रवृद्ध विकार (मूर्च्छा, अपस्मार एवं अन्य मनोविकार) तथा विसंज्ञा (किसी भी रोग में जब दोषों का प्रभाव मस्तिष्क पर पूर्णतया होता है और हृदय से आने वाली संज्ञा चेतनाधिकृत (मस्तिष्क) तक नहीं पहुंचती तब विसंज्ञता होती है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों के कार्य में शिथिलता हो जाती है) अवस्था में शिरोविरेचक तीक्ष्णतर द्रव्यों के चूर्ण को नाडी में डालकर प्रधमन करे ॥१७॥

गुडादि नस्य—

नस्यं स्याद्गुडशुण्ठीभ्यां पिप्पल्या सैन्धवेन वा ॥१८॥
जलपिष्टेन तेनाक्षिकर्णनासाशिरोगदाः ।
मन्याहनुगलोद्भूता नश्यन्ति भुजपृष्ठजाः ॥१९॥

गुड और सोंठ का वस्त्रपूत चूर्ण जल में पीस कर प्रयोग करे अथवा काली पीपल के चूर्ण और सैन्धव को जल में पीसकर नस्य विधि से प्रयोग करे। इनसे आख, कान, नाक, शिर, ग्रीवा, हनु (ठोडी), गल रोग तथा भुजा और पीठ के रोग नष्ट होते हैं ॥१८—१९॥

मधूकसारादिनस्य—

मधूकसारकृष्णाभ्यां वचामरिचसैन्धवैः ।
नस्यं कोष्णजले पिष्टं दद्यात्संज्ञाप्रबोधनम् ॥२०॥
अपस्मारे तथोन्मादे सन्निपातेऽपतन्त्रके ।

मधूकसार (महुआ की लकड़ी का चूर्ण), काली पीपल, वच, सैन्धानमक— इन सबको यथामात्र ग्रहण करके गरम जल से पीसकर नस्य प्रयोग करे। इससे विनष्ट सज्ञा (चेतना) उद्बुद्ध होती है। अपस्मार, उन्माद, सन्निपात तथा वात-जनित अपतन्त्रक आदि रोग नष्ट होते हैं ॥२०॥

तन्द्राहर सैन्धवादि नस्य—

सैन्धवं श्वेतमरिचं सर्षपाः कुष्ठमेव च ॥२१॥
बस्तमूत्रेण पिष्टानि नस्यं तन्द्रानिवारणम् ।

सैन्धा नमक, सफेद मरिच (शिग्रुबीज), श्वेत सरसों के बीज और कूठ—इनको बकरी के मूत्र में पीसकर नस्य देने से तन्द्रा नष्ट होती है। ('तन्द्रा श्लेष्मतमोऽनिलै') ॥२१॥

मरिचादि नस्य—

रोहीतमत्स्यपित्तेन भावितं सैन्धवं वचा ॥२२॥
मरिचं पिप्पली शुण्ठी कङ्कोलं लशुनं पुरम् ।
कट्फलं चेति तच्चूर्णं देयं प्रधमनं बुधैः ॥२३॥

सैन्धानमक, वच, कालीमिरच, कालीपीपल, सोंठ, शीतल चीनी,

लहसन, भैंसिया गूगल और कायफल—इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर रोहु मछली के पित्ते से भावना देकर सुखा लेवे । इस शुष्कीभूत चूर्ण को प्रधमन नस्य विधि से बुद्धिमान् वैद्य प्रयोग करे ॥२२—२३॥

वक्तव्य—मरिचादि नस्य में लशुन और गूगल को छोड कर शेष औषधों का अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्रपूत चूर्ण कर लेवे । पुन. शुद्ध गूगल के ऊपर से मृ त्तिका, रोम तथा काष्ठ खण्डादि को चाकू से पृथक् करके डाले एव लहसन की तुरियों के ऊपर से श्वेतवर्ण की काचली सी उतार कर प्रथम पीसकर अन्य औषध समुदाय से मिलावे तदनन्तर भावना देकर सुखावे । यह भी तन्द्रादि को निवारण करती है ।

बृहण नस्य की विधि—

अथ बृंहणनस्यस्य कल्पना कथ्यतेऽधुना ।
मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्वौ भेदौ स्नेहनौ मतौ ॥२४॥
मर्शस्य तर्पणी मात्रा मुख्या शाणैः स्मृताष्टभिः ।
मध्यमा च चतुःशाणैर्हीना शाणमिता स्मृता ॥२५॥
एकैकस्मिंस्तु मात्रेयं देया नासापुटे बुधैः ।
मर्शस्य द्वित्रिवेलं वा वीक्ष्य दोषबलाबलम् ॥२६॥
एकान्तरं द्व्यन्तरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः ।
त्र्यहं पञ्चाहमथवा सप्ताहं वा सुयन्त्रितम् ॥२७॥
मर्शे शिरोविरेके च व्यापदो विविधाः स्मृताः ।
दोषोत्क्लेशात्क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥२८॥
दोषोत्क्लेशनिमित्तासु युञ्ज्याद्वमनशोधनम् ।
अथ क्षयनिमित्तासु यथास्वं बृंहणं हितम् ॥२९॥
शिरोनासाक्षिरोगेषु सूर्यावर्तार्धभेदके ।
दन्तरोगे बले हीने मन्याबाहंसजे गदे ॥३०॥
मुखशोषे कर्णनादे वातपित्तगदे तथा ।
अकालपलिते चैव केशश्मश्रुप्रपातने ॥३१॥
युज्यते बृंहणं नस्यं स्नेहैर्वा मधुरद्रवैः ।

पूर्व कथनानन्तर अब बृहण नस्य (मस्तिष्क भाग के क्षयप्राप्त धातुओं को बढाने) की विधि कही जाती है। बृंहण नस्य के दो भेद होते हैं—१ मर्श, २ प्रतिमर्श । यह दोनों प्रकार के नस्य स्नेहन (चिक्कणता उत्पन्न) करने

वाले होते हैं। 'मर्श' नस्य की तर्पण (स्नेहन) मात्रा आठ शाण (६४ बिन्दु) की होती है, चार शाण (३२ बिन्दु) की मध्यम मात्रा और एक शाण (८ बिन्दु) की हीन मात्रा होती है। उपर्युक्त प्रत्येक प्रकार की मात्रा दोषों के बलाबल के अनुसार नासापुटकों द्वारा प्रयोग करे। एवं 'मर्श नस्य' को दोषों के अनुसार दिन में दो अथवा तीन वार प्रयोग करे। अथवा एक २, दो २, एवं तीन २, पाच २ अथवा सात २ दिन के अंतर से प्रयोग करे। निरन्तर देने से सात्म्य हो जाती है। 'मर्श नस्य' शिर का विरेचन करती हैं। इसके अधिक प्रयोग से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इनके कारण दोपों का अत्यधिक उत्क्लेश और क्षय होता है। इस कारण से उत्पन्न हुए दोपों को दूर करने के लिये वमन तथा विरेचन कारक औषधों का सेवन करावे और दोषों के क्षय के कारण से उत्पन्न होने वाले रोगों को बृंहण द्रव्यों से सिद्ध नस्य को प्रयोग करे अथवा बृंहण द्रव्यों का सेवन करके क्षय हुए अश को पूर्ण करे। मस्तकरोग, नासारोग, आख के रोग, सूर्यावर्त (यह रोग सूर्योदय के साथ वढ़ता है), अर्धावभेदक (शिर के आधे भाग में व्यथा का होना), दन्तरोग, निर्वलता, ग्रीवा, वाहु, कन्धे—इनके रोगों (वातश्लेष्मानुवन्धी) में तथा मुखशोप, कर्णनाद (कान में अनेक प्रकार का नाद होना), वात और पित्त के विकारों पर तथा समय से प्रथम पलितो (वालों की सफेदी) की व्याप्ति एवं केश और दाढी मूछ के वालों के झडने पर स्नेहन नस्य का प्रयोग करे अथवा मधुर द्रव्य (जीवनीयगण) से सिद्ध स्नेह का प्रयोग करे ॥२४—३१॥

कुङ्कुमनस्य—

सशर्करं पयःपिष्टं भृष्टमाज्येन कुङ्कुमम् ॥३२॥
नस्यप्रयोगतो हन्याद्वातरक्तभवा रुजः।
भ्रूशङ्खाक्षिशिरःकर्णसूर्यावर्तार्धभेदकान् ॥३३॥

बृंहण नस्यार्थ—उत्तम कश्मीरी केशर (४ रत्ती) घृत में साधारण सा भून कर दूध (१ तोला) में पीसे और (४ रत्ती) मिशरी मिलाकर नस्य विधि से प्रयोग करे। इससे वातरक्तजनित (शिरोदेश में होने वाली) पीड़ा नष्ट होती है एवं भौं, कनपटी, आंख, शिर और कान के रोग (वातजनित) तथा सूर्यावर्त और आधे शिर की पीड़ा नष्ट होती है (यह उक्त रोगों के लिये अन्यर्थ योग है) ॥३२—३३॥

बृहण नस्य—

नस्यं स्यादणुतैलेन तथा नारायणेन वा।
माषादिना वा सर्पिर्भिस्तत्तद्दोषजसाधितैः ॥३४॥

अणुतैल (वातव्याधि चिकित्सा में सुश्रुतोक्त), नारायणतैल अथवा मापादि-तैल, एवं जिस २ दोष की शाति के लिये नस्य देनी हो, उस २ दोष को शात करने वाले द्रव्यों से घृत सिद्ध करके प्रयोग करे ॥३४॥

वक्तव्य—यद्यपि कई पुस्तकों में अणुतैल के स्थान पर एरण्डतैल का निर्वचन है परन्तु आयुर्वेद की वृहत्संहिताएँ एरण्डतैल के पक्ष में नहीं हैं। यदुक्त सुश्रुते—

गवां सकृत् क्वाथविपक्वमुत्तमं हितं च तैलं तिमिरेषु नस्ततः।
घृतं तथा केवलमेव पैत्तिके तथाणुतैलं पवनासृगुच्छ्रयो. ॥

यद्यपि एरण्डतैल भी वात नाशकत्वेन हित हो सकता है परन्तु महावात व्याधि में कथित अणुतैल वातरक्त की उत्तम औषध है। इसका व्यवहार आशु फलप्रद है।

दोषानुसार स्नेहव्यवस्था—

तैलं कफे स्याद्वाते च केवले पवने वसा।
दद्यान्नस्यं सदा पित्ते सर्पिर्मज्जानमेव च ॥३५॥

नस्यकर्म के लिये अवस्थाभेद से चतुर्विध स्नेह का उपयोग हुआ है। यथा— कफजनित तथा वातजनित अर्थात् कफवातजनित शिरोरोगों को दूर करने के लिये (औषध सस्कृत) तैल का प्रयोग करे, केवल (प्रवल) वातविकारों को शात करने के लिये वसा (शुद्धमासस्नेह) का प्रयोग करे, एवं पित्तजनित रोगों को दूर करने के लिये सर्वदा गोघृत अथवा मज्जा (अस्थिस्नेह) का उपयोग करे ॥३५॥

माषादि नस्य पक्षाघात पर—

माषात्मगुप्तारास्नाभिर्बलारुबुकरोहिषैः।
कृतोऽश्वगन्धया क्वाथो हिङ्गुसैन्धवसंयुतः ॥३६॥
कोष्णो नस्यप्रयोगेण पक्षाघातं सकम्पनम्।
जयेदर्दितवातं च मन्यास्तम्भापबाहुकौ ॥३७॥

माषादि क्वाथार्थ—उड़द, कौंच की जड़, रास्ना, खरैटी की जड़, एरण्डमूल त्वक्, रोहिषतृण तथा असगन्ध को समान भाग लेकर कूटे और क्वाथविधि से क्वाथ करे। क्वाथ प्रस्तुत होने पर वस्त्र से छान लेवे और इस क्वाथ में घृतभृष्ट हींग और सैन्धानमक थोडा २ डालकर सुखोष्ण क्वाथ की नस्य देवे। इसके प्रयोग से कम्पयुक्त पक्षाघात (वातरोग), अर्दित (लकवा) एव ग्रीवास्तम्भ और अपबाहुक (वातविकार) रोग नष्ट होते हैं ॥३६—३७॥

वक्तव्य—अर्दित रोग को नष्ट करने में इस योग को आयुर्वेद के अनुभवी वैद्य अधिक व्यवहार करते हैं। अन्य आचार्यों ने भी इस योग को ग्रहण किया है—

माषबलाशूकशिम्बीकत्तृणरास्नोरूवूकाश्वगन्धानाम्।
क्वाथो नस्यनिपीतो रामठलवणान्वितः कोष्णः ॥
अपहरति पक्षाघातं मन्यास्तम्भं सकर्णरुजम्।
दुर्जयमर्दितवातं सप्ताहाज्जयति चावश्यम् ॥

विधि —उपर्युक्त योग के सब द्रव्य एक २ तोला ग्रहण करके क्वाथ योग्य कूट लेवे। पुन चतुर्गुण जल डालकर क्वाथ विधि से पाक करे और चतुर्थांश रहने पर अग्नि से उतार कर यथाविधि वस्त्र से छान लेवे। पुन इस क्वाथ में एक २ मासा हीग और सैंधानमक मिला देवे। इस काल में यदि क्वाथ शीतल हो जावे तो पुन उसे कवोष्ण कर इस समग्र क्वाथ को नासामार्ग से पान करे। इस प्रकार व्यवहार करने से अर्दित (मुख का टेढ़ा होना) शीघ्र नष्ट होता है।

प्रतिमर्श नस्य की मात्रा—

प्रतिमर्शस्य मात्रा तु द्विद्विबिन्दुमिता मता।
प्रत्येकशो नस्तकयोः स्नेहेनेति विनिश्चितम् ॥३८॥

घृतादि स्निग्ध पदार्थों की प्रतिमर्श नस्य की दो दो बून्दों की मात्रा होती है। ऐसी दो दो बिन्दु की मात्रा एक २ नासापुट में देनी चाहिये ॥३८॥

बिन्द्वात्मक मात्रा—

स्नेहे ग्रन्थिद्वयं यावन्निमग्ना चोद्धृता ततः।
तर्जनी यं स्रवेद्बिन्दुं सा मात्रा बिन्दुसंज्ञिता ॥३९॥
एवंविधैर्बिन्दुसंज्ञैरष्टभिः शाण उच्यते।
स देयो मर्शनस्ये तु प्रतिमर्शो द्विबिन्दुकः ॥४०॥

घृत तैलादि के नाम से पुकारे जानेवाले स्निग्ध पदार्थों में तर्जनी अंगुली के दो पर्व डुबोकर निकालने के पश्चात् जो बिन्दुस्राव होता है उस को 'बिन्दु' कहते हैं। इस विधि के अनुसार आठ बिन्दुओं को शाण कहते हैं (पूर्व निर्धारित परिभाषा से ग्रहण होनेवाला शाण यहा ग्राह्य नहीं)। इस प्रकार आठ बिन्द्वात्मक शाण की मात्रा 'मर्श' नस्य में प्रयुक्त होती है और 'प्रतिमर्श' नस्य में केवल दो बिन्दु प्रयुक्त होते हैं। इसी को प्रतिमर्श नस्य कहते हैं ॥३९—४०॥

प्रतिमर्श नस्य का समय—

समयाः प्रतिमर्शस्य बुधैः प्रोक्ताश्चतुर्दश।
प्रभाते दन्तकाष्ठान्ते गृहान्निर्गमने तथा ॥४१॥
व्यायामाध्वव्यवायान्ते विण्मूत्रान्तेऽञ्जने कृते।
कवलान्ते भोजनान्ते दिवासुप्तोत्थिते तथा ॥४२॥
वमनान्ते तथा सायं प्रतिमर्शः प्रयुज्यते।

बुद्धिमान् वैद्यों ने प्रतिमर्श ग्रहण करने के लिये १४ समय निर्धारित किये हैं। यथा—१—प्रात काल (शय्या छोडते ही), २—दातून करने के पीछे, ३—घर से बाहर जाते समय, ४—दण्ड कसरत करने के पीछे, ५—मार्ग चलने के पश्चात्, ६—मैथुन के पीछे, ७—मल त्यागने के अनन्तर, ८—मूत्र छोडने के

पश्चात्, ६—नेत्रों में अञ्जन करने के पश्चात, १०—कवल धारण के बाद, ११—भोजनानन्तर, १२—दिन में सोकर उठने के पश्चात, १३—वमनकर्म के पश्चात्, १४—सायकाल के समय। इस प्रकार निर्धारित समयों के पश्चात् यथाविधि उचितरीत्या प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग करे ॥४१—४२॥

प्रतिमर्श नस्य से तृप्त के लक्षण—

ईषदुच्छिन्दनात्स्नेहो यदा वक्त्रं प्रपद्यते ॥४३॥
नस्ये निषिक्तं तं विद्यात्प्रतिमर्शप्रमाणतः।
उच्छिन्दन्न पिबेच्चैतन्निष्ठीवेन्मुखमागतम् ॥४४॥

प्रतिमर्श विधि के अनुसार नासामार्ग में डाला हुआ स्नेह यदि साधारण उच्छिघन (अथवा छींक) से कण्ठ में पहुंच जावे तब उत्तम प्रतिमर्श हुआ जानना चाहिये। एव उपरोक्त क्रमानुसार कण्ठ में प्राप्त स्नेह को गले के नीचे न जाने देवे, बल्कि मुखमार्ग से वाहर थूक देवे ॥४३—४४॥

प्रतिमर्श नस्य के योग्य रोगी—

क्षीणे तृष्णास्यशोषार्ते बाले वृद्धे च युज्यते।
प्रतिमर्शेन शाम्यन्ति रोगाश्चैवोर्ध्वजत्रुजाः ॥४५॥
वलीपलितनाशश्च बलमिन्द्रियजं भवेत्।

जो मनुष्य धातुशोष से युक्त हों, तृष्णा से पीड़ित हो, जिनका मुख सूखता रहता हो—ऐसे रोगों से पीड़ित तथा वालक और वृद्धों में प्रतिमर्श नस्य का उपयोग करे। इस से ग्रीवा से ऊपर होने वाले रोग तथा वली और पलित रोग नष्ट होते हैं। एव इन्द्रियों (प्रधानता से ज्ञानेन्द्रियों) का वल बढ़ता है ॥४५॥

पलितरोगहर नस्य—

बिभीतनिम्बगम्भारी शिवा शेलुश्च काकिनी ॥४६॥
एकैकं तैलनस्येन पलितं नश्यति ध्रुवम्।

बहेड़े की मींगी, नीम के वीजों की गिरी, गम्भारी के वीजों की मज्जा, हरीड (वडी) के वीजों की मज्जा, शेलु (शाखोटक) मज्जा, काकिनी (रक्तगुंजा)—इन सब के वीजों के पृथक् २ (यन्त्रनिष्पीडन विधि से प्राप्त) तैल की नस्य लेने से निश्चय ही पलित रोग नष्ट होता है ॥४६॥

वक्तव्य—ग्रीवा से ऊपर के भाग के केशों की श्वेतता को पलित रोग कहते हैं। इसकी विस्तृत व्याख्या पूर्वखण्ड के ७ वें अध्याय में देखें। यहा केवल इतना ही पर्याप्त है कि यह केशों की सफेदी अकाल व्याप्त होने पर इस प्रकार की चिकित्सा से दूर हो सकती है। उपरोक्त वीजों में से किसी भी वीज का तैल कोल्हू मे निकलवाकर इस कार्य में प्रयोग करे। अग्निद्वारा सिद्ध तैल इस कार्य में

सफल नही होता। छ मास तक इस क्रिया का अभ्यास करने से लाभ होता है। यह अन्वर्थ योग है।

नस्यग्रहणविधि —

अथ नस्यविधिं वक्ष्ये नस्यग्रहणहेतवे ॥४७॥
देशे वातरजोमुक्ते कृतदन्तनिघर्षणम् ।
विशुद्धं धूमपानेन स्विन्नभालगलं तथा ॥४८॥
उत्तानशायिनं किंचित्प्रलम्बशिरसं नरम् ।
आस्तीर्णहस्तपादं च वस्त्राच्छादितलोचनम् ॥४९॥
समुन्नमितनासाग्रं वैद्यो नस्येन योजयेत् ।
कोष्णमच्छिन्नधारं च हेमताराादिशुक्तिभिः ॥५०॥
शुक्त्या वा यत्र युक्त्या वा प्लोतैर्वा नस्यमाचरेत् ।

नस्य ग्रहण (यथोक्त फलप्राप्त्यर्थ) के लिये नस्य प्रयोग करने की विधि इस प्रकार है। यथा—नस्य प्रयोग के लिये वायु और धूल से रहित स्थान होना चाहिये। ऐसे स्थान में ऐसे रोगी को बैठावे जिसने दातून कर ली हो और धूम पान से जो शुद्ध हो चुका हो, एव भाल (ललाट) प्रदेश तथा कण्ठ जिसका स्वेदित कर लिया गया हो। पुन ऐसे रोगी को उत्तान भाव से (पीठ के भार चित्त लेटे हुए) सुला देवे। रोगी का शिर कुछ नीचे की ओर झुका हुआ होना चाहिये और रोगी के हाथ और पाओं को ऋजुरीत्या लम्बा पसार देवे, एवं नेत्रों को स्वच्छ वस्त्र से ढाप देवे और रोगी की नासा के अग्र भाग को ऊंचा करके बुद्धिमान् वैद्य कोष्ण स्नेह (नस्य में प्रयुक्त होने वाले) को स्वर्ण अथवा चांदी की शुक्ति (सिप्पी) में डालकर अविच्छिन्न धारा से नाक में डाले एवं आवश्यकतानुसार प्रयोज्य स्नेह को प्लोत विधि (रूई के फोहे को स्नेह से तर करके नाक में निचोड़ देने) से प्रयोग करे ॥४७—५०॥

नस्य के पश्चात् कर्म —

नस्येष्वासिच्यमानेषु शिरो नैव प्रकम्पयेत् ॥५१॥
न कुप्येन्न प्रभाषेत नोच्छिदेन्न हसेत्तथा ।
एतैर्हि विहितः स्नेहो नैवान्तः संप्रपद्यते ॥५२॥

नस्य प्रयोग काल में (जब नाक में स्नेह डाला जा रहा हो) शिर को न हिलावे, क्रोध न करे, भाषण न करे, छींकना अथवा उच्छिंघन न करे, हंसे नही। इस प्रकार के आचरण करने से नासाप्रदत्त स्नेह भली प्रकार मस्तिष्क तक नहीं पहुचता ॥५१—५२॥

प्रमाद के दोष—

ततः कासप्रतिश्यायशिरोक्षिगदसंभवः ।
शृङ्गाटकमभिप्लाव्य स्थापयेन्न गिलेद्द्रवम् ॥५३॥

प्रमाद पूर्वक नस्य का आचरण करने से खासी, जुकाम, शिरोरोग और आखों के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अत नस्य सेवन करते समय पूर्ण सावधान रहे। नस्य प्रयुक्त स्नेह को शृगाटक (मर्म, नासाविवर) में (नियतावधि पर्यन्त) धारण करे, तुरन्त वाहर न निकाले ॥५३॥

नस्य धारण की मात्रा—

पञ्च सप्त दशैव स्युर्मात्रा नस्यस्य धारणे ।

नस्यप्रदत्त स्नेह को पांच, सात और दश मात्रापर्यन्त धारण करे।

वक्तव्य—नस्य धारण में पाच सात और दश मात्राओं का निर्देश दोप और दोपों के तारतम्य के अनुसार इस प्रकार जाने। कफप्रकोप और साधारण रोगों में पाच मात्रा पर्यन्त नस्यस्नेह को धारण करे। पित्तप्रकोप और मध्यदोषारब्ध पैत्तिक रोगों को शांत करने के लिये सात मात्रा पर्यत धारण करे। वातप्रकोप और प्रवल दोषारब्ध वात रोगों को शात करने के लिये दश मात्रा पर्यत स्नेह धारण करे।

मात्रालक्षण—यावत्पर्येति हस्ताग्र दक्षिणं जानुमण्डलम् ।
निमेषोन्मेषकालेन सम मात्रा तु सा स्मृता ॥ (वाग्भट)

नस्यधारणानन्तर कर्तव्य—

उपविश्याथ निष्ठीवेन्नासावक्त्रगतं द्रवम् ॥५४॥
वामदक्षिणपार्श्वाभ्यां निष्ठीवेत्संमुखे न हि ।

नस्य प्रदत्त स्नेह को यथाविधि धारण करने के पश्चात् सावधान होकर उठ वैठे और नासा तथा मुख में अवस्थित स्नेह को (मुख में खैंचकर) कभी वाम और कभी दक्षिण पार्श्वों में थूकता रहे। सीधा मुख रखकर सामने न थूके। तिर्यक् निष्ठीवन से नासामार्गस्थित स्नेह का भली प्रकार नि सरण होता है ॥५४॥

नस्यानन्तर त्याज्य कर्म—

नस्ये नीते मनस्तापं रजः क्रोधं च संत्यजेत् ॥५५॥
शयीत निद्रां त्यक्त्वा च प्रोत्तानो वाक्शतं नरः ।
तथा वैरेचनस्यान्ते धूमो वा कवलो हितः ॥५६॥

नस्यकर्म के विधिपूर्वक समाप्त होने के पश्चात् मन को सतप्त करने वाले भावों से तथा धूल (गर्दा) से एव क्रोध से वचता रहे अर्थात् इन को त्याग देवे और १०० गिनने पर्यंत चित्त लेटा रहे, इस काल में सोवे नहीं। वैरेचन (छींक लाने वाली) नस्य के पीछे धूमपान तथा कवल धारण हितकर होता है ॥५५—५६॥

नस्य के तीन प्रयोग—

नस्ये त्रीण्युपदिष्टानि लक्षणानि प्रयोगतः ।
शुद्धिहीनातियोगानि विशेषाच्छास्त्रचिन्तकैः ॥५७॥

यथाविधि प्रयुक्त नस्य के शुद्धि (सम्यक्) लक्षण, हीन लक्षण और अति लक्षण (योग) तीन प्रकार के, आयुर्वेद शास्त्र को जाननेवालों ने कहे हैं ॥५७॥

शिर शुद्धि के लक्षण—

लाघवं मनसः शुद्धिः स्रोतसां व्याधिसंक्षयः ।
चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥५८॥

यदि नस्य का उत्तम उपयोग हुआ हो तो शरीर और शिर में लघुता होती है, मन प्रसन्न रहता है, स्रोत शुद्ध होते हैं, रोग और रोगजनित कष्ट का नाश होता है, चित्त और इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) में प्रसन्नता रहती है। यह सब लक्षण उत्तम विधि से शिर शुद्ध होने पर होते हैं ॥५८॥

वक्तव्य—स्रोतों से यहा प्राण, धातु, मल, अन्न और जलवाही स्रोतों से तात्पर्य है और व्याधि सक्षय से नस्य से, साध्य होनेवाले रोगो से है ।

तन्त्रान्तर से नस्य सेवन का लाभ—

प्रसन्नदृष्टिर्दृढदन्तकेशः शशाङ्कवक्त्रः पलितैर्विहीनः ।
पिकाभिकण्ठः कमलास्यगन्धो नस्योपसेवी भवतीह मर्त्यः ॥

अन्यच्च—इन्द्रियाणां च वैमल्यं कुर्यादास्यसुगन्धताम् ।
हनुदन्तशिरोग्रीवात्रिकवाहूरसां बलम् ॥
वलीपलितखालित्यं व्यङ्गानामप्यसंभवः ॥

हीनशोधन का लक्षण—

कण्डूपदेहो गुरुता स्रोतसां कफसंभवः ।
मूर्ध्नि हीनविशुद्धेस्तु लक्षणं परिकीर्तितम् ॥५९॥

नस्यद्वारा शिर के हीन शोधन होने पर (मुखनासा आदि में) खाज, उपदेहता (मुख में कफलिप्त सा प्रतीत होना), शरीर और शिर में भारीपन तथा स्रोतों से कफ का स्राव होता है ॥५९॥

अतिशोधन के लक्षण—

मस्तुलुङ्गागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः ।
शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढं विरेचिते ॥६०॥

शिर के अत्यधिक विरेचन (अधिक छींकें आने) से—मस्तुलुंग (मस्तिष्क) का स्राव होता है, वायु की वृद्धि होती है, इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) में भ्रम हो जाता है, शिर खाली सा प्रतीत होता है ॥६०॥

हीन और अतिशुद्धि की चिकित्सा—

हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत् ।
सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्ये निषेचयेत् ॥६१॥

शिर के हीन और अतिशोधन में जो विकार उत्पन्न हों, उन की शान्ति के लिये यथाक्रम हीनशोधन में कफनाशक तथा अतिशोधन में वातनाशक चिकित्सा प्रयोग में लावे । शिर के सम्यक् शोधन में गोघृत की नस्य लेता रहे ॥६१॥

अतिस्निग्ध के लक्षण और चिकित्सा —

कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः ।
लक्षणं तदतिस्निग्धे तत्र रूक्षं प्रदापयेत् ॥६२॥
भोजयेच्चानभिष्यन्दि नस्याचारिकमादिशेत् ।

स्निग्ध नस्य के अत्यधिक उपयोग से शिर से नासामार्ग द्वारा कफ का स्राव होता है, शिर में भारीपन तथा इन्द्रियों में भ्रान्ति होती है । यह लक्षण शिर के अतिस्निग्ध होने पर होते हैं । ऐसी अवस्था में रूक्ष आहार विहार का सेवन हितकर होता है । अत भोजन अनभिष्यन्दी देवे और नस्य में रूक्ष पदार्थों का उपयोग करे ।

वक्तव्य—नस्यसेवी के लिये वाग्भटोक्त आचार—

उष्णोदकोपचारी स्याद्ब्रह्मचारी क्षपाशयः ।
न वेगरोधी व्यायामक्रोधशोकहिमातपान् ॥
प्रवातपानयानाध्वभाष्यात्मासनसंस्थिति' ।
नीचात्युच्चोपधानाह· स्वप्नं धूमरजांसि च ॥

पञ्चकर्मों के नाम—

वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम् ।
एतानि पञ्च कर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः ॥६३॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-
संहितायामुत्तरखण्डे नस्यविधिर्नामा-
ष्टमोऽध्याय ॥८॥

वमन कर्म (कय कराना), रेचनकर्म (दस्त कराना), नस्यकर्म (नस्य देना), निरूहवस्ति और अनुवासन वस्ति—इन पांचों को समुदाय रूप से वैद्य लोग 'पञ्चकर्म' कहते हैं ॥६३॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायां शार्ङ्गधर-
संहितायां रहस्यार्थप्रकाशिकायां भाषाटीकायामुत्तरखण्डे
नस्यविधिर्नामाष्टमोऽध्याय ॥८॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

धूमसंख्या—

धूमस्तु षड्विधः प्रोक्तः शमनो बृंहणस्तथा ।
रेचनः कासहा चैव वामनो व्रणधूपनः ॥१॥

कार्यभेद से धूम छः प्रकार का होता है । यथा—१ शमन (उद्धत दोषों को शांत करने वाला), २ बृंहण (बल और धातुवर्द्धक), ३ रेचनधूम (जिस से शिर के और शरीर के दोषों का स्राव हो), ४ कासहर धूम (जिस से खांसी, कण्ठ के रोग तथा हिक्का श्वासादि नष्ट हों), ५ वामनीयधूम (वमनकारक), ६ व्रणधूम (नासा मार्ग से पीतधूम) अथवा व्रणधूम (यह व्रणादि भरने तथा कीटाणुओं से व्रण की रक्षा करने के लिये प्रयुक्त होता है) । इस प्रकार धूम विधान छः प्रकार का होता है ॥१॥

वक्तव्य—नस्य प्रयोग से ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों का नाश होता है । एवंविध धूमपान से भी ऊर्ध्वजत्रुज रोग दूर होने के कारण नस्यविधि के पीछे धूमपान का विधान उपयुक्त ही प्रतीत होता है । उक्तं च वाग्भटे—

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते ।
जत्रूर्ध्वं कफवातोत्थविकाराणामजन्मने ॥
उच्छेदाय च वातानां पिबेद्धूमं सदात्मवान् ।

श्रीचरकाचार्य ने धूम तीन प्रकार का माना है । यथा—१ प्रायोगिक, २ स्नैहिक, ३ दोषवैरेचनिक । श्रीसुश्रुताचार्य ने धूम पांच प्रकार का माना है । यथा—१ प्रायोगिक, २ स्नेहन, ३ वैरेचनिक, ४ कासघ्न और ५ वामनीय । श्रीवाग्भटाचार्य—१ स्निग्ध, २ मध्य और ३ तीक्ष्ण भेद से तीन प्रकार का मानते हैं । श्रीशार्ङ्गधराचार्य ने इसी धूम को स्पष्ट समझाने के लिये ६ प्रकार का माना है । इन का अंतर्भाव इस प्रकार है । यथा—शमन, व्रणधूपन और बृंहण—इन तीनों का अंतर्भाव स्नेहन धूम में होता है । रेचन और वामनीय का एकीभाव तीक्ष्ण धूम में होता है ।

शमनधूम के वाग्भटोक्त लक्षण—

न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि ।
शमीकरोति च क्रुद्धान् तत्संशमनमुच्यते ॥

शमनादि धूमों के पर्याय—

शमनस्य तु पर्यायौ मध्यः प्रायोगिकस्तथा ।
बृंहणस्यापि पर्यायौ स्नैहिको मृदुरेव च ॥२॥

१—'व्रणधूपन' इत्यपि पाठः ।

रेचनस्यापि पर्यायौ शोधनस्तीक्ष्ण एव च ।

शमन धूम के दो पर्याय (नाम) और हैं—१ मध्य, २ प्रायोगिक (जिसके प्रयोग से वात और कफ स्वस्थानस्थित रहें) । बृंहण धूम के भी और दो पर्याय हैं। यथा—१ स्नेहन और २ मृदु धूम । इसी प्रकार रेचन धूम के भी दो पर्याय और होते हैं । यथा—१ शोधन और २ तीक्ष्ण । इस प्रकार छ प्रकार का धूमपान तीन प्रकार के धूमपान के अन्तर्भूत हो जाता है ॥२॥

धूम पान के अयोग्य रोगी—

अधूमार्हाश्च खल्वेते श्रान्तो भीतश्च दुःखितः ॥३॥
दत्तवस्तिर्विरिक्तश्च रात्रौ जागरितस्तथा ।
पिपासितश्च दाहार्तस्तालुशोपी तथोदरी ॥४॥
शिरोऽभितापी तिमिरी छर्द्याध्मानप्रपीडितः ।
क्षतोरस्कः प्रमेहार्तः पाण्डुरोगी च गर्भिणी ॥५॥
रूक्षः क्षीणोऽभ्यवहृतक्षीरक्षौद्रघृतासवः ।
भुक्तान्नदधिमत्स्यश्च बालो वृद्धः कृशस्तथा ॥६॥

श्रान्त (थका हुआ), भयभीत, मानसिक दु ख से दु खी, जिसने वस्ति और विरेचन का सेवन किया हो, जिसने रात में जागरण किया हो, जो तृषा से पीडित हो, जो दाह और तालु शोप से पीडित हो, उदर रोगी, शिरोरोगी, तिमिर (काच) रोगी तथा जो क्षय और आध्मान से पीडित हो तथा उर क्षत का रोगी, प्रमेही, पाण्डुरोगी, गर्भवती स्त्री, रूक्ष, क्षीण (धातुशोपी) और जिसने दूध, शहद, घृत और आसव (मद्य) पान किया हो और जिसने अन्न, दही तथा मछली सेवन की हो, एव बाल, वृद्ध तथा कृश (दुर्वल) रोगियों को धूमपान न करावे । उपरोक्त रोगी धूमपान के अयोग्य होते हैं ॥३—६॥

अकाल में धूमपान—

अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान् ।

अकाल में (समय और आवश्यकता के विना) और अत्यधिक धूम्रपान अनेक उपद्रवों को उत्पन्न करता है ।

इस की चिकित्सा—

तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनाञ्जनतर्पणम् ॥७॥
सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षां पयो वा शर्करास्बु वा ।
मधुराम्लौ रसौ वापि शमनाय प्रदापयेत् ॥८॥

अत्यधिक और अकाल में धूमपान से यदि उपद्रव (कोई रोग) हों तो

उनकी शान्ति के लिये रोगी को गोघृत का पान करावे और नावन (नस्य) देवे, नेत्रों में अंजन लगावे, तर्पण (तृप्तिकारक मण्डादि का) पान करावे, एवं रोगी को घृत, गन्ने का रस, द्राक्षा (किशमिश-मुनक्का), दूध अथवा शरबत तथा मधुर (मीठे) और अम्ल (खट्टे) रसों का सेवन करावे। ऐसा करने से धूमपानोद्भव उपद्रव शान्त होते हैं ॥७—८॥

धूमपान का समय और गुण—

धूमस्तु द्वादशाद्वर्षाद् गृह्यतेऽशीतिकान्न च ।
कासश्वासप्रतिश्यायान्मन्याहनुशिरोरुजः ॥९॥
वातश्लेष्मविकारांश्च हन्याद्धूमः प्रयोजितः ।

बारह वर्ष की आयु से अस्सी वर्ष की आयु तक (धूमपानसाध्य व्याधियों की शान्ति के लिये यथाविधान) धूमपान करे। धूमपान के (सम्यक्) उपयोग से खासी, दमा, प्रतिश्याय (जुकाम), ग्रीवा, ठोडी और शिर के तथा वातश्लेष्मोद्भव रोग नष्ट होते हैं ॥९॥

धूमपान के गुण—

धूमप्रयोगात्पुरुषः प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः ॥१०॥
दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिवदनो भवेत् ।

धूम के (उचित) प्रयोग से पुरुष (मनुष्य) की ज्ञानेन्द्रिया, वाणी और मन प्रसन्न होते हैं तथा केश (शिर के वाल), दांत और दाढी मूछ के वाल दृढ होते हैं, एव मुख सुगन्धयुक्त हो जाता है ॥१०॥

धूम्र नलिका विधान—

धूमनाडी भवेत्तत्र त्रिखण्डा च त्रिपर्विका ॥११॥
कनिष्ठिकापरीणाहा राजमाषागमान्तरा ।
धूमनाडी भवेद्दीर्घा शमने रोगिणोऽङ्गुलैः ॥१२॥
चत्वारिंशन्मितैस्तद्वद्द्वात्रिंशद्भिर्मृदौ मता ।
तीक्ष्णे चतुर्विंशतिभिः कासघ्नी षोडशोन्मितैः ॥१३॥
दशाङ्गुलैर्वामनीये तथा स्याद्व्रणनाडिका ।
कलायमण्डलस्थूला कुलित्थागमरन्ध्रिका ॥१४॥

धूमपान करने के लिये जो धूम नलिका तैयार करनी हो वह त्रिखंड युक्त तीन पर्वों वाली होनी चाहिये। जिसका परिणाह (मोटाई) छोटी अंगुली के समान हो और जिसमें राजमाष (छोटी रोंगी, रुआं) का बीज जाने योग्य छिद्र हो उस का प्रयोग धूमपानार्थ करे। शमन (प्रायोगिक) धूम पान के लिये नलिका की

लम्बाई ४० अगुल की होनी चाहिये। 'मृदु' धूमपान के लिये ३२ अंगुल की होनी चाहिये। 'तीक्ष्ण' धूमपान के लिये २४ अगुल लम्बी नली हो। 'कासघ्न' धूमपान के लिये नली की लम्बाई १६ अगुल होनी चाहिये। 'वामनीय' धूमपान के लिये नली की लम्बाई १० अगुल पर्यन्त हो। एव १० अंगुल पर्यंत ही व्रण धूपनार्थ नलिका बनावे। इनकी मोटाई कलाय (मटर) के बराबर होनी चाहिये और इनके अन्दर का छिद्र कुलथी का बीज जाने योग्य होना चाहिये ॥११—१४॥

धूमपानार्थ ईषिका विधान—

अथेषिकां प्रलिम्पेच्च सुश्लक्ष्णां द्वादशाङ्गुलाम्।
धूमद्रव्यस्य कल्केन लेपश्चाष्टाङ्गुलः स्मृतः ॥१५॥
कल्कं कर्षमितं लिप्त्वा छायाशुष्कं च कारयेत्।
ईषिकामपनीयाथ स्नेहाक्तां वर्तिमादरात् ॥१६॥
अङ्गारैर्दीपितां कृत्वा धृत्वा नेत्रस्य रन्ध्रके।
वदनेन पिबेद् धूमं वदनेनैव संत्यजेत् ॥१७॥
नासिकाभ्यां ततः पीत्वा मुखेनैव वमेत्सुधीः।
शरावसम्पुटे क्षिप्त्वा कल्कमङ्गारदीपितम् ॥१८॥
छिद्रं नेत्रं निवेश्याथ व्रणं तेनैव धूपयेत्।

धूमपानार्थ वर्तिका बनाने की विधि इस प्रकार है। यथा—प्रथम एक ईपिका (काना, शरखंड यह तृण जाति का पदार्थ है और पंचतृण में ग्रहण होता है) १२ अगुल लम्बी और कोमल तथा सूक्ष्म सी लेवे। जिन औषधों का धूम रोगी को पिलाना हो उन द्रव्यों का मिश्रित चूर्ण एक कर्ष परिमित लेकर उसको शिला द्वारा बारीक पीसकर उपरोक्त ईपिका के आठ अंगुल तक लेप कर देवे और इस लेपित शलाका को छाया में रखकर सुखा लेवे। जब शलाकालिप्त लेप सूख जावे तब सावधानी के साथ शनै २ शलाका को बीच से खैंच लेवे। शलाका को पृथक् करने के पश्चात् बाहर के लेप के भीतर शलाका का छिद्र बना रहेगा। उस छिद्र में एक बारीक शलाका स्नेह से भिगोकर प्रविष्ट कर देवे और पुन इस के नेत्र (किनारे) पर जलता हुआ अग्नि का अंगारा रखकर मुखमार्ग से धूम ग्रहण करे। ऐसा करने से जलती हुई वर्त्तिका का धूम मुख में भर जायगा। इस धूम को मुखमार्ग से ही बाहर निकाल देवे। पुन नासिका मार्ग से धूम को पी (खैंच) कर मुख से बाहर फेंक देवे। इस प्रकार बुद्धिमान् को धूम का व्यवहार करना चाहिये। एव व्रण (घाव) को धूपित करने के लिये एक प्याले में अग्नि और धूपन द्रव्यों को डाले और ऊपर से एक और प्याला जिसमें (धूमनलिका आने योग्य) छिद्र हो उसको ऊपर रखकर दोनों की सन्धि बन्द कर देवे और

प्याले के छिद्र में धूम नलिका लगाकर व्रण स्थान को धूम देवे (इस विधान में नीचे के प्याले में पड़ी हुई अग्नि शांत न हो जाये, इसके लिये उचित प्रबन्ध कर लेवे । अन्यथा अग्नि शांत होने से धूम्रोद्गम नहीं होगा) ॥१५—१८॥

वक्तव्य—पीत धूम के निःसारण में मत भेद भी है। यथा—

मुखेन तं वमेत्पूर्वं नासिकायां पुनः पिबेत् ।

अन्यच्च—मुखपीतं मुखेनैव नस्तपीतं च नस्ततः ॥

यो वमेन्नस्ततो धूमं नस्तपीतं मुखेन वा ।

स नेत्रकर्णनासास्यसंश्रयात् लभते गदान् ॥

अन्यच्च—उरःकण्ठाश्रये रोगे मुखेनैव पिबेन्नरः ।

शिरःकण्ठाक्षिनासौष्ठे नासया सततं पिबेत् ॥

तिर्यक्त्वे तु मुखेनैव नासया न कथंचन ।

प्रगाढं पानमिच्छन्ति धूमस्यांशेन तद्विदः ॥

शमनादि धूमों की औषधें—

एलादिकल्कं शमने स्निग्धं सर्जरसं मृदौ ॥१६॥

रेचने तीक्ष्णकल्कं च कासघ्नं क्षुद्रिकोषणम् ।

वामने स्नायुचर्माद्यं दद्याद्धूमस्य पानकम् ॥२०॥

व्रणे निम्बवचाद्यं च धूपनं संप्रशस्यते ।

'शमन' (प्रायोगिक) धूमपान प्रयोग के लिये—सुश्रुतीय एलादि गण की औषधों को पीस कर प्रयोग करे। 'मृदु' (बृंहणाख्य) धूम प्रयोगार्थ—घृत स्निग्ध सर्जरस (राल) का प्रयोग करे। 'रेचन' (शोधनाख्य) धूमपानार्थ—तीक्ष्ण (शिरोविरेचक) द्रव्यों का प्रयोग करे। 'कासघ्न' धूमपानार्थ—छोटी कंटकारी और काली मिरच का प्रयोग करे। 'वामनीय' धूमपानार्थ—स्नायु, चर्म, खुर, शृंग अस्थि, शुष्क मासादि का प्रयोग करे। व्रणधूपनार्थ—वचा और निम्बपत्रों का प्रयोग करे। इस प्रकार विधिविहित धूमपान हित और लाभप्रद होता है॥१६-२०॥

बालकों के लिये अपराजित धूप—

अन्येऽपि धूमा गेहेषु कर्तव्या रोगशान्तये ॥२१॥

मयूरपिच्छं निम्बस्य पत्राणि बृहतीफलम् ।

मरिचं हिङ्गु मांसी च बीजं कार्पाससम्भवम् ॥२२॥

छागरोमाहिनिर्मोकं विष्ठा बैडालिकी तथा ।

गजदन्तश्च तच्चूर्णं किंचिद्घृतविमिश्रितम् ॥२३॥

गेहेषु धूपनं दत्तं सर्वान्बालग्रहाञ्जयेत् ।

पिशाचान् राक्षसाञ्जित्वा सर्वज्वरहरं भवेत् ॥२४॥

घर को शुद्ध करने के लिये तथा गृहवासियों की रक्षा (कीटाणुजनित बाधा) के लिये अन्य धूपन द्रव्यों से घर में धूम प्रयोग करे। यथा—मोरपख की चन्द्रिकाए, नीम के पत्र, बडी कटेली के फल, कालीमिरच, हींग, जटामासी कार्पास बीज (बिनौले), बकरी के बाल, साप की काचली, बिल्ली की विष्ठा, हाथी दात का बुरादा—यह सब समान भाग ग्रहण कर के मोटा २ कूट लेवे और इस चूर्ण को घृत से स्निग्ध कर के घर के बीच हवन कुण्ड में अग्नि के साथ डाल कर धूनी दिया करे। इस प्रकार धूम प्रयोग से (बालकों को दु ख पहुंचाने वाले) सम्पूर्ण बालग्रह नष्ट हो जाते हैं, एव इसके प्रयोग से पिशाच ग्रह, राक्षस ग्रह और उनसे होने वाली बाधाए नष्ट होती हैं। इस का निरतर प्रयोग सब तरह के ज्वरों को भी नष्ट कर देता है ॥२१—२४॥

धूम पान में पथ्य और नेत्रविचार—

परिहारस्तु धूमेषु कार्यो रेचननस्यवत्।
नेत्राणि धातुजान्याहुर्नलवंशादिजान्यपि ॥२५॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचिताया
शार्ङ्गधरसंहितायामुत्तरखण्डे धूमपानविधिर्नाम
नवमोऽध्यायः ॥९॥

सब प्रकार के धूम पान में आहार विहार सम्बन्धी वही नियम पालन करने चाहियें जिनका निर्देश 'रेचन नस्य' में किया गया है। धूमपानार्थ—नेत्र (नली, मुखस्थानीय) स्वर्ण, रजतादि धातुओं से तथा नल (नड अथवा नरसल) और बास आदि उपयुक्त पदार्थों से बनाकर प्रयोग करे ॥२५॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृतायाशार्ङ्गधर-
संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकायामुत्तरखण्डे
नवमोऽध्याय ॥९॥

अथ दशमोऽध्यायः।

गण्डूष, कवल और प्रतिसारण की विधि.—

चतुर्विधः स्याद्गण्डूषः स्नैहिकः शमनस्तथा।
शोधनो रोपणश्चैव कवलश्चापि तद्विधः ॥१॥

गंडूप (कुल्ला करना, गरारे करना) चार प्रकार का होता है। यथा— १ स्नेहिक गंडूप (घृत तैलादि को मुख में धारण करना), २ शमनगंडूष (स्वादु, मधुर और शीत पदार्थों को मुख में धारण करना), ३ शोधन गंडूष (कटु, उष्ण और तीक्ष्ण द्रव्यों से सिद्ध क्वाथादि को मुख में धारण करना), ४ रोपण गंडूष (कषाय, तिक्त और मधुरादि द्रव्यों से सिद्ध द्रव पदार्थ मुख में धारण करना)। इस *प्रकार गंडूप चार प्रकार का होता है और इसी प्रकार कवल भी चार प्रकार का होता* है। यथा—स्नेहिक कवल, शमन कवल, शोधन कवल और रोपण कवल ॥१॥

वक्तव्य—एक औषध अथवा औषध समुदाय के स्वरस, क्वाथ, हिम, फाट अथवा तत्सिद्ध घृत तैलादिक पदार्थों को मात्रा और काल तथा दोषानुसार विधिविधान से मुख में धारण करके गरारों की प्रक्रिया के अनुकूल मुख से बाहर कर देने को गंडूष कहते हैं। मुख और कंठस्थित रोगों को दूर करने के लिये इस विधि का आश्रय लिया जाता है। एवं इस विधान से मुख, जिह्वा, कंठादि स्वेदित भी हो जाते हैं। इसमें प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का दोष और रोगानुसार वर्णन ग्रन्थकर्ता ने स्वयं आगे किया है।

कवल और गंडूष में केवल इतना ही भेद है कि गंडूष में द्रव पदार्थ व्यवहार में आते हैं और कवल में शिलापिष्ट कल्क का उपयोग होता है। शेष नियम और प्रयोग विधि गंडूप के सदृश होती है।

दोष भेद से स्नैहिकादि गण्डूष प्रयोग—

स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते स्वादुशीतैः प्रसादनः।
पित्ते कट्वम्ललवणैरुष्णैः संशोधनः कफे ॥२॥
कषायतिक्तमधुरैः कदुष्णो रोपणो व्रणे।
चतुष्प्रकारो गण्डूषः कवलश्चापि कीर्तितः ॥३॥

वातप्रकोप तथा वातजनित रोगों की शान्ति के लिये स्निग्ध तथा उष्ण द्रव्यों से साधित 'स्नेहिक गंडूष' होता है। पित्तप्रकोप तथा पित्तज रोगों की शान्ति के लिये मधुर तथा शीतल द्रव्यों से साधित गंडूष 'प्रसादन गंडूप' (शमन) कहलाता है। कफकोप तथा कफजनित रोगों की शान्ति के लिये

कटु, अम्ल, लवण और रूक्ष द्रव्यों से साधित गंडूष 'शोधन गडूष' कहलाता है। व्रण का शोधन और रोपण करने के लिये कसैले, मीठे और कड़वे द्रव्यों से साधित गडूष का प्रयोग करे। इस से व्रण प्रक्षालन किया जाता है। अथवा यह मुख के व्रणों में गडूष विधि से भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार गडूष चार प्रकार का होता है और कवल भी ठीक इसी प्रकार जानना ॥२—३॥

गण्डूष और कवल लक्षण—

असंचारी मुखे पूर्णो गण्डूषः कवलश्चरः ।
तत्र द्रवेण गण्डूषः कल्केन कवलः स्मृतः ॥४॥

जिस गडूषीय द्रव पदार्थ को मुख में भरने से उसका संचार भली प्रकार न हो सके (अर्थात् मुह के अन्दर की वस्तु को चलाया न जा सके) उसको गडूष कहते हैं। शिलापेषित कल्क को मुख में रखकर मुख को सुख से चलाया जा सके उसको कवल कहते हैं। गडूष द्रव पदार्थों से और कवल शिलापेषित कल्क से होता है।

वक्तव्य—सुखं सञ्चार्य्यते या तु सा मात्रा कवले हिता ।
असञ्चार्य्या तु या मात्रा गण्डूषे सा प्रकीर्त्तिता ॥

गण्डूष और कवल की औषधों की मात्रा—

दद्याद्द्रवेषु चूर्णं च गण्डूषे कोलमात्रकम् ।
कर्षप्रमाणः कल्कश्च दीयते कवले बुधैः ॥५॥

व्याधि को नष्ट करने वाले द्रव्यों से यथाविधि परिसाधित गण्डूषीय द्रव पदार्थ में एक कोल (६ माशा) गंडूषीय द्रव्यों का चूर्ण डाल कर गंडूष करावे। (यहा द्रव परिमाण मुख की पूर्णतया पूर्णता है) कवलार्थ—कल्क द्रव्य १ तोला बुद्धिमान् वैद्य व्यवहार करे ॥५॥

आयुभेदानुसार गण्डूषादि—

धार्यन्ते पञ्चमाद्वर्षाद्गण्डूषकवलादयः ।
गण्डूषान्सुस्थितः कुर्यात् स्विन्नभालगलादिकः ॥६॥
मनुष्यस्त्रींस्तथा पञ्च सप्त वा दोपनाशनात् ।
कफपूर्णास्यता यावच्छेदो दोपस्य वा भवेत् ॥७॥
नेत्रघ्राणस्रुतिर्यावत्तावद्गण्डूषधारणम् ।

गण्डूप और कवल को पाच वर्ष की आयु से ऊपर धारण करे। गण्डूष धारण करने के समय स्वस्थ चित्त होकर बैठे और गण्डूषीय पदार्थ को मस्तक और गले में स्वेद आने पर्यन्त धारण करे। इस प्रकार तीन, पांच अथवा सात बार गण्डूष धारण करे अथवा दोष (व्याधि) दूर होने पर्यंत करता रहे। दूसरा लक्षण—अथवा कफ से मुख पूर्ण होने तक तथा दोषविच्छेद (व्याधि नाश) होने पर्यन्त एवं जब तक नेत्र और नासिका से जलस्राव हो तब तक गण्डूष धारण करे ॥६–७॥

तिलकल्कोदकं क्षीरं स्नेहो वा स्नैहिके हितः ॥८॥

वातरोग शान्ति के लिये स्नेहिक गण्डूष—तिल कल्क (शिलापेपित तिल) में जल डाल कर वस्त्र द्वारा निष्पीडन करके उसमें दूध मिलाकर गण्डूष करे अथवा घृत तैलादि स्निग्ध पदार्थो को गण्डूष विधि से प्रयोग करे। इस प्रकार यह स्नेहिक गण्डूष वातजनित रोगों को शान्त करता है ॥८॥

वक्तव्य— तिल क्षीरादि को पृथक् और समस्त, उभय प्रकार से प्रयोग किया जाता है। यथा—

गण्डूष' शर्कराक्षौद्रपिष्टमासपयस्तिलै ।
व्यस्तै समस्तैर्योज्यस्तु मुखे क्षारादितापिते ॥

अन्यच्च—ताम्बूलमध्यस्थितचूर्णकेन दग्ध मुखं यस्य भवेत् कथंचित् ।
तैलेन गण्डूषमसौ विदध्यादम्लारनालेन पुनः पुनर्वा ॥

दाहनाशन (शमन) गण्डूष—

तिला नीलोत्पलं सर्पिः शर्करा क्षीरमेव च ।
सक्षौद्रो हनुवक्त्रस्थो गण्डूषो दाहनाशनः ॥९॥

तिल, नीलोफर, घृत, खाड, दूध और शहद (यथामान) सब मिलाकर मुख में धारण कर गण्डूष करने से (पित्तजनित) दाह शान्त होता है ॥९॥

मुखव्रणादि में मधु गण्डूष—

वैशद्यं जनयत्यास्ये संदधाति मुखव्रणान् ।
दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगण्डूषधारणम् ॥१०॥

असली शहद को मुख में धारण कर के गडूष कर देने से मुख शुद्ध होता है तथा मुख स्थित व्रण भर जाते हैं एवं दाह और तृषा की शाति होती है ॥१०॥

विषहर गण्डूष—

विषक्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा ।

मुख के भीतर विप (वत्सनाभादि), क्षार (तीव्र, प्रतिसारणीय तथा पानीय क्षार के प्रयोग से) तथा अग्नि (गरमागरम वस्तु के) प्रयोग से यदि क्षत स्फोट (छाले) आदि उत्पन्न हों तब केवल गोघृत अथवा दूध के गण्डूष करने चाहियें ।

दांतों के हिलने पर गण्डूष—

तैलसैन्धवगण्डूषो दन्तचाले प्रशस्यते ॥११॥

हिलते हुए दांतों की रक्षा के लिये तिलतैल में सैन्धानमक मिलाकर गंडूष करना प्रशस्त (हितकर) होता है ॥११॥

मुख शोष पर गण्डूष—

शोषं मुख य वैरस्यं गण्डूषः काञ्जिको जयेत् ।

मुख के सूखने और मुख की विरसता दूर करने के लिये काजी का गंडूष हित होता है (विशेष वर्णन मध्यम खंड के १०म अध्याय में देखो)।

कफनाशक गण्डूष—

सिन्धुत्रिकटुराजीभिरार्द्रकेण कफे हितः ॥१२॥

सैन्धानमक, काली पीपल, सोंठ और काली मिरच का चूर्ण, राई और अदरक—इन सब को मिलाकर (जलयोग) गंडूष करने से मुखभागीय कफरोग तथा कफाधिक्य नष्ट होता है। ॥१२॥

कफ और रक्त पित्त पर गण्डूष—

त्रिफलामधुगण्डूषः कफासृक्पित्तनाशनः।

त्रिफला क्वाथ में मधु मिलाकर कुल्ले करने से कफप्रकोप तथा रक्तपित्त (मसूड़ों से रक्त गिरना) नष्ट होता है।

मुख पाक पर गण्डूष—

दार्वी गुडूची त्रिफला द्राक्षा जात्याश्च पल्लवाः ॥१३॥
यवासश्चेति तत्क्वाथः षष्ठांशक्षौद्रसंयुतः।
शीतो मुखे धृतो हन्यान्मुखपाकं त्रिदोषजम् ॥१४॥

दारुहलदी, गिलोय, बड़ी हरड़ का छिलका, बहेड़ा, आमला, मुनक्का, चमेली के पत्र और जवासा—इनका क्वाथ बनाकर क्वाथ से छठा भाग मधु मिला कर शीतीभूत कषाय को मुख में धारण कर गण्डूष करने से त्रिदोषज मुख पाक (मुख का पकना और छाले) दूर होता है ॥१४॥

गण्डूष और प्रतिसारण—

यस्यौषधस्य गण्डूषस्तस्यैव प्रतिसारणम्।
कवलश्चापि तस्यैव ज्ञेयोऽत्र कुशलैर्नरैः ॥१५॥

(आवश्यकतानुसार) जिस औषध का गण्डूष किया जाता है, उसी का प्रतिसारण (मंजन) और कवल भी प्रयोग में आता है ॥१५॥

वक्तव्य— प्रतिसारण विधान—

विभाज्य भेषजं बुद्ध्या कुर्वीत प्रतिसारणम्।
कल्को रसक्रिया क्षौद्रं चूर्णं चेति चतुर्विधम् ॥
अङ्गुल्यग्रप्रणीतं तु यथास्वं मुखरोगिणाम्।
तस्य योगमयोगं च कवलोक्तं विभावयेत् ॥

कफवातनाशक कवल—

केसरं मातुलुङ्गस्य सैन्धवोषणसंयुतम्।
हन्यात्कवलतो जाड्यमरुचिं कफवातजाम् ॥१६॥

विजोरे निम्बु का केशर, सैंधानमक और कालीमिरच का चूर्ण (समान भाग) मिलाकर कवल धारण करने से मुख की जडता (रसज्ञान का ठीक न होना) तथा अरुचि और कफवातजनित रोग दूर होते हैं ॥१६॥

प्रतिसारण के भेद—

कल्कोऽवलेहश्चूर्णं च त्रिविधं प्रतिसारणम्।
अङ्गुल्यग्रगृहीतं च यथास्वं मुखरोगिणाम् ॥१७॥

कल्क (शिलापेषित द्रव्य), अवलेह (किसी द्रव्य अथवा चूर्णादि को मधु में मिलाकर चटनी सी बना लेनी) और चूर्ण (पौडर) भेद से प्रतिसारण (मजन) तीन प्रकार का होता है। इन में से किसी भी द्रव्य को अंगुली के अग्रभाग पर लेकर मुखरोग युक्त रोगी के दांतों में मर्दन करे ॥१७॥

प्रतिसारण चूर्ण—

कुष्ठं दार्वी समङ्गा च पाठा तिक्ता च पीतिका।
तेजनी मुस्तलोध्रे च चूर्णं स्यात्प्रतिसारणम् ॥१८॥
रक्तस्रुतिं दन्तपीडां शोथं दाहं च नाशयेत्।

कूठ, दारुहलदी, मजीठ, पाठा, कुटकी, हलदी, तेजवल, नागरमोथा, पठानीलोध—इन सब का वस्त्रपूत चूर्ण समान भाग ग्रहण करके प्रतिसारण (मंजन) तैयार करे। इस के प्रयोग से दांतों से खून का बहना, दांतों की पीड़ा, दंतवेष्ट शोथ और दाह नष्ट होता है ॥१८॥

वक्तव्य—यह कुष्ठादि चूर्ण दंत, मुख और कण्ठ के रोगों के लिये अत्यन्त हितकर है। प्राय. अनुभवी वैद्य इस का अधिक व्यवहार करते हैं। इस योग में कर्पूर और स्फुटिका अधिक मिला लेनी चाहिये।

गण्डूषादि का हीन योग—

हीनयोगात्कफोत्क्लेशो रसज्ञानारुची तथा।
अतियोगान्मुखे पाकः शोषस्तृष्णा क्लमो भवेत् ॥१९॥

गण्डूष और कवलादि के हीन योग (जितना चाहिये उस से कम) में जिह्वा के रसज्ञान में न्यूनता तथा अरुचि हो जाती है और अतियोग (आवश्यकता से अधिक प्रयोग) में मुखपाक, शोष (मुखशोष), तृषा और क्लम (जी मिचलाना) होता है ॥१९॥

शुद्ध गण्डूष के लक्षण—

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम्।
इन्द्रियाणां प्रसादश्च गण्डूषे शुद्धिलक्षणम् ॥२०॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-
संहितायामुत्तरखण्डे गण्डूषादिविधिर्नाम
दशमोऽध्याय ॥१०॥

गण्डूषादि के उचित प्रयोग में—व्याधि (रोग) का नाश होता है, मन की प्रसन्नता, मुख के स्वाद में उत्तमता एव मुख में लघुता होती है और ज्ञानेन्द्रियों की निर्मलता होती है। यह लक्षण प्रकट होने से गण्डूषादि का सम्यक् प्रयोग समझा जाता है ॥२०॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-
संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकायामुत्तरखण्डे
गण्डूषादिविधिर्नाम दशमोऽध्याय ॥१०॥

अथ एकादशोऽध्यायः ।

लेप के पर्याय—

आलेपस्य च नामानि लिप्तो लेपश्च लेपनम् ।
दोषघ्नो विषहा वर्ण्यो मुखलेपस्त्रिधा मतः ॥१॥

लेप के तीन नाम (पर्याय शब्द) हैं। यथा—१ लिप्त, २ लेप, ३ लेपन। इसी को आलेप भी कहते हैं। तीन अर्थों को सिद्ध करने के कारण भी लेप तीन ही प्रकार का होता है। यथा—१ दोषघ्न (पीडा, दाह, शोथादिनाशक) २ विषहर (सविष प्राणियो के दंशज तथा जयपाल भल्लातकादि विषनाशक), ३ वर्ण्य लेप (वर्णप्रसादक एव नीलिका व्यग मुख छायादि नाशक)। इस प्रकार मुख्यतया लेप के तीन प्रकार होते हैं ॥१॥

वक्तव्य—त्वचा में होने वाले रोगों को नष्ट करने के लिये आयुर्वेदज्ञों ने लेप के प्रकार का आविष्कार करके इस बात का पुष्ट प्रमाण दिया है कि किसी भी औषध को किसी भी दूध, जल, कांजी, गोमूत्रादि द्वारा सूक्ष्म पीसकर त्वचा पर लगाने से वह रोग को नष्ट करती है। कारण कि त्वचा में अवस्थित रोम कूपों द्वारा लेपित लेप का प्रभाव अन्त प्रविष्ट होकर रोग नाश करने में समर्थ होता है। इसी कारण सम्पूर्ण शोथो में सर्व प्रथम सामान्य और प्रधान उपचार लेप माना गया है। यह लेप जब तक गीला रहे, तब तक ही लाभ करता है।

लेप लगाने की विधि—

तत्र प्रतिलोममालिम्पेन्नानुलोमं प्रतिलोमे हि सम्यगौषधमवतिष्ठतेऽनुप्रविशति रोमकूपान् स्वेदवाहिभिः शिरामुखैश्च वीर्यं प्राप्नोति। (सुश्रुत)

अर्थात् लेप प्रतिलोम (रोमों की गति के सामने) करना चाहिये। अनुलोम (रोमों की गति के अनुगत) लेप करना उचित नही। कारण कि प्रतिलोम लेप करने से औषध ठीक २ लग (चिपक) जाती है और रोम कूप अर्थात् रोमों के मुख में प्रवेश करती है तथा स्वेदवाहिनियों (नसों) के मुखों में प्रविष्ट होकर अपने पराक्रम को प्राप्त होती है अर्थात् पूर्ण गुण करती है।

न च शुष्यमाणमुपेक्षेतान्यत्र पीडयितव्यात्। शुष्को ह्यपार्थकोऽरुष्करश्च।

अर्थात् एक बार का लगाया हुआ लेप जब सूख जावे तब उसे अधिक समय तक लगा हुआ न रहने देवे (सूखते ही पृथक् कर देवे)। सूखा हुआ लेप निरर्थक होता है और व्रण विस्फोटकादि को उत्पन्न करता है।

अन्यच्च—अविदग्धेषु शोफेषु हितमालेपनं भवेत्।
यथास्व दोषशमनं दाहकण्डूरुजापहम् ॥

त्वक्प्रसादनमेवाग्र्यं मांसरक्तप्रसादनम् ।
दाहप्रशमनं श्रेष्ठं तोदकण्डूविनाशनम् ॥
मर्मदेशेषु ये रोगा गुह्येष्वपि तथा नृणाम् ।
संशोधनाय तेषां हि कुर्यादालेपनं भिषक् ॥

लेप में स्नेह प्रदान—

षड्भाग पैत्तिके स्नेहं चतुर्भागं तु वातिके ।
अष्टभाग तु कफजे स्नेहमात्रां प्रदापयेत् ॥

अर्थात् पित्तजनित रोगों की शांति के लिये लेप में यदि स्नेह डालना हो तो (लेप के द्रव्यों से) छठा भाग और वातप्रशान्ति के लिये चतुर्थ भाग तथा कफजनित रोगों की शान्ति के लिये अष्टमांश स्नेह डाल कर लेप का प्रयोग करे ।

लेप कहां करे—

प्रदेहसाध्ये व्याधौ तु हितमालेपनं दिवा ।
पित्तरक्ताभिघातोत्थे सविषे च विशेषतः ॥

अन्यच्च—नच पर्य्युषितं लेपं कदाचिदुपचारयेत् ।
ऊष्माणं वेदनां दाह घनत्वाज्जनयेत्स हि ॥
उपर्य्युपरि लेपं तु न कदाचित्प्रदापयेत् ।
नच तेनैव लेपेन प्रदेहं दापयेत्पुनः ॥
शुष्कभावात्स निर्वीर्यो युक्तोऽपि स्यादपार्थकः ॥

अर्थात् पर्युषित (बासी, प्रथम दिवस का पीसा हुआ दूसरे दिन) लेप कभी न लगावे । क्योंकि कडा पड़ जाने से वह लेप गरमी, पीडा, दाह और घनता (कडापन) उत्पन्न करता है । लेप के ऊपर भी लेप कभी न करना चाहिये । कारण कि शुष्क हो जाने से निर्वीर्य हो जाता है और उस पर प्रयुक्त किया प्रदेह निरर्थक होता है।

लेप की मात्रा—

त्रिप्रमाणश्चतुर्भागस्त्रिभागाऽर्धाङ्गुलोन्नतः ।
आर्द्रो व्याधिहरः स स्याच्छुष्को दूषयति च्छविम् ॥२॥

उपर्युक्त त्रिविध लेप की लेपन मात्रा भी तीन ही प्रकार की है । यथा— दोषघ्न लेप—अगुली के चतुर्थ भाग सदृश मोटा, विषहर लेप—अगुली के तीसरे भाग सदृश मोटा, प्रसादक लेप—अगुली (१ पर्व) के आधे भाग सदृश मोटा होना चाहिये । जब तक लेप गीला रहे तब तक रोगनाश करने में सामर्थ्य रहता है और सूखा लेप लगा रहने से छवि (कान्ति) को दूषित कर देता है ॥२॥

वक्तव्य— छाया और प्रभा के भेद—

वर्णमात्रप्रतिच्छाया प्रभावर्णप्रकाशिनी ।
आसन्नात् लक्ष्यते छाया प्रभा दूराच्च लक्ष्यते ॥

सुश्रुतीय मतानुसार लेप प्रमाण—

तस्य प्रमाणमार्द्रमाहिषचर्मोत्सेधमुपदिशन्ति ।

अर्थात् लेप का प्रमाण गीले भैंस के चमडे के समान मोटा होना योग्य है।

रात्रि में लेप का निषेध—

न चालेपं रात्रौ प्रयुञ्जीत माभूच्छैत्यपिहितोष्मणस्तदनिर्गमाद्विकारप्रवृत्तिरिति ।

अर्थात् रात्रि में लेप का प्रयोग न करे। क्योंकि लेप की शीतलता के कारण उष्णता के रुके हुए परमाणु अन्य रोगों को उत्पन्न करते हैं। इस से आगे रोग, दोष और अवस्था भेद के अनुसार अनेक लेपो का सविधि वर्णन होगा।

शोथघ्न लेप—

पुनर्नवां दारुशुण्ठीं सिद्धार्थं शिग्रुमेव च ।
पिष्ट्वा चैवारनालेन प्रलेपः सर्वशोथजित् ॥३॥

साठी की जड, देवदारु, सोंठ, सरसों, सुहाजने की छाल—इन सबको सम परिमाण में लेकर काजी के साथ शिला पर पीसकर लेप करने से सर्व प्रकार के (दोषज तथा अभिघातज) शोथ (सूजन) नष्ट होते हैं ॥३॥

दाहनाशक लेप—

बिभीतफलमज्जाया लेपो दाहार्त्तिनाशनः ।

बहेडे के फल की गुठली के अंदर की मज्जा (मिंगी) को (जल अथवा दूध में) पीसकर लेप करने से दाह (जलन) तथा पीडा शात होती है।

दशाग लेप (विषघ्न)—

शिरीषं मधुयष्टी च तगरं रक्तचन्दनम् ॥४॥
एला मांसी निशायुग्मं कुष्ठं वालकमेव च ।
इति संचूर्ण्य लेपोऽयं पञ्चमांशघृतप्लुतः ॥५॥
जलेन क्रियते सुज्ञैर्दशाङ्ग इति संज्ञितः ।
विसर्पान् विषविस्फोटान् शोथान्दुष्टव्रणाञ्जयेत् ॥६॥

सिरस (वृक्ष) की छाल, मुलेठी, तगर, लालचन्दन, बडी इलायची के बीज, जटामांसी, हलदी, दारुहलदी, कूठ, सुगन्ध वाला—इन सब औषधों का पृथक् २ वस्त्रपूत चूर्ण सम परिमाण में एकत्रित करे और समस्त चूर्ण की अपेक्षा से पंचमाश गोघृत इस चूर्ण में मिलाकर इसे भली प्रकार स्निग्ध कर लेवे। आवश्यकतानुसार गरम अथवा शीतल जल से पीसकर अनुभवी चिकित्सक इसका प्रयोग करे। यह 'दशांग' नाम वाला लेप विसर्प (सुर्खवात), विष (त्वग्गत विष प्रभाव), विस्फोट (छाले), शोथ (सूजन) तथा दुष्ट व्रण (पुराने स्रावशील विगड़े हुए घाव)—इन सब रोगों को दूर करता है ॥४—६॥

वक्तव्य—यह शार्ङ्गधराचार्य का एक अन्वर्थ और चमत्कृत योग है। विसर्प रोग की यह उत्तम औषध है । उपरोक्त सब रोगों में यह अवश्य लाभ करता है ।

विषघ्न लेप—

अजादुग्धतिलैर्लेपो नवनीतेन संयुतः ।
शोथमारुष्करं हन्ति लेपो वा कृष्णमृत्तिकैः ॥७॥

भिलावे का तैल शरीर पर लग जाने से त्वचा पर शोथ हो जाता है (यह रक्तवर्ण का तथा रक्तवर्ण की पिडिकाओं से युक्त होता है) । उसको दूर करने के लिये बकरी के दूध में सफेद तिलो को पीसकर और उनमें माखन मिलाकर लेप करे । इस से लाभ होता है । इसी प्रकार काली मिट्टी का लेप भी भिलावे के शोथ को दूर करता है ॥७॥

वक्तव्य—भल्लातक जनित शोथ को दूर करने के लिये नारियल की गिरी को दूध में पीसकर भी प्रयोग किया जाता है ।

कीटघ्न लेप—

लाङ्गल्यतिविषालावुजालिनीमूलबीजकैः ।
लेपो धान्याम्बुसंपिष्टः कीटविस्फोटनाशनः ॥८॥

कलिहारी की जड, अतीस, कडवी तोरी के बीज, कटुतुम्बी के बीज और मूली के बीज—इन सबको समभाग लेकर काजी में पीसकर लेप करने से कीट-विस्फोट (सविष कीटों—प्राणियों के दंशजनित छाले और शोथ) दूर होते हैं ॥८॥

मुखकान्तिकर लेप—

रक्तचन्दनमञ्जिष्ठालोध्रकुष्ठप्रियङ्गवः ।
वटाङ्कुरा मसूराश्च व्यङ्गघ्ना मुखकान्तिदाः ॥९॥

लालचदन, मंजीठ, लोध्र, कूठ, प्रियगु के फूल, वट के अंकुर, मसूर (अन्न)—इन सबको जल में पीसकर लेप करने से मुखस्थित व्यग (नील और कृष्णवर्ण के चकत्ते) दूर होते हैं और मुख के वर्ण में उज्वलता आती है ॥९॥

अन्ययोग—

मातुलुङ्गजटा सर्पिः शिला गोशकृतो रसः ।
मुखकान्तिकरो लेपः पिटिकाव्यङ्गकालजित् ॥१०॥

विजोरा निम्बु की जड का छिलका, घृत, मैनसिल, गोवर का रस—सब को समान भाग लेकर यथाविधि पीसकर लेप करने से मुखस्थित पिटिका (युवान पिडिका), व्यग तथा कालक (नीले दाग) नष्ट होते हैं तथा मुख की कान्ति बढती है।

वक्तव्य—विधि—विजोरा निम्बू की जड के छिलके को प्रथम गोवर के रस में पीसे और पुन इसमें मैनसिल मिलाकर पीसे। तत्पश्चात् इसमें गोघृत मिला कर लेप करे। लेप धारण और उतारने की विधि अध्याय के आरम्भ में देखो ।

तरुणपिटिकाहर लेप—

लोध्रधान्यवचालेपस्तारुण्यपिटिकापहः ।
तद्वद्गोरोचनायुक्तं मरिचं मुखलेपनम् ॥११॥
सिद्धार्थकवचालोध्रसैन्धवैश्च प्रलेपनम् ।

पठानीलोध, धनिया, वच—इन को जल में पीस कर लेप करने से युवा अवस्था में उत्पन्न होने वाली मुख की पिडिकाए (फुंसियाँ) नष्ट होती हैं। इसी प्रकार गोरोचन और काली मिरच के चूर्ण को जल में पीस कर लेप करने से भी मुख पिटिकाओं का नाश होता है। तथा श्वेत सरसों के बीज, वच, पठानी लोध्र और सैन्धा नमक—इन को जल से पीस कर लेप करने से भी मुख की फुन्सियां दूर होती हैं ॥११॥

व्यङ्गहर लेप—

व्यङ्गेषु चार्जुनत्वग्वा मञ्जिष्ठा वा समाक्षिका ॥१२॥
लेपः सनवनीतो वा श्वेताश्वखुरजा मषी ।

अर्जुन वृक्ष (कोह) की छाल का चूर्ण अथवा मजीठ का चूर्ण, सोनामाखी की भस्म अथवा श्वेत वर्ण के घोडे के खुरों को दग्ध कर के उनकी भस्म, पृथक् २ एक एक वस्तु माखन के साथ मिला कर लेप करने से व्यंग रोग नष्ट होता है।

मुख की झाई पर लेप—

अर्कक्षीरहरिद्राभ्यां मर्दयित्वा विलेपनात् ॥१३॥
मुखकाष्ण्यं शमं याति चिरकालोद्भवं ध्रुवम् ।

आक का दूध और हलदी का चूर्ण—दोनों को परस्पर मर्दन करके लेप करने से चिरकालोद्भव मुख के काले चकत्ते अवश्य नष्ट होते हैं ॥१३॥

अन्ययोग—

वटस्य पाण्डुपत्राणि मालती रक्तचन्दनम् ॥१४॥
कुष्ठं कालीयकं लोध्रमेभिर्लेपं प्रयोजयेत् ।
तारुण्यपिटिकाव्यङ्गनीलिकादिविनाशनम् ॥१५॥

वट (वृक्ष) के पीले पत्ते, चमेली के पत्ते, लाल चंदन, कूठ, अगर, लोध्र—इन सब को जल से पीस कर मुख पर लेप करने से युवान पिटिका, व्यग, नीलिका आदि का नाश होता है ॥१४—१५॥

अरुंषिकानाशक लेप—

पुराणमथ पिण्याकं पुरीषं कुक्कुटस्य च ।
मूत्रपिष्टः प्रलेपोऽयं शीघ्रं हन्यादरुंषिकाम् ॥१६॥

पिण्याक (तिलों से तैल निकालने के पश्चात् का अवशिष्ट पदार्थ 'खली') पुरानी (१ वर्ष की) लेकर और मुर्गे की विष्ठा दोनों को गोमूत्र में पीस कर लेप करने से अरुंषिका (यह छोटी २ पिडिकायें शिर में होती हैं) की फुन्सियां दूर होती हैं ॥१६॥

अन्य लेप—

खदिरारिष्टजम्बूनां त्वग्भिर्वा मूत्रसंयुतैः।
कुटजत्वक्सैन्धवं च लेपो हन्यादरुंषिकाम् ॥१७॥

खदिर (खैरवृक्ष) की छाल, नीम के वृक्ष की छाल और जामुन के वृक्ष की छाल के चूर्ण को गोमूत्र में पीस कर लेप करे। अथवा कूड़े की छाल के चूर्ण के साथ सेन्धा नमक मिलाकर गोमूत्र में पीस कर लेप करने से अरुंषिका रोग नष्ट होता है ॥१७॥

वक्तव्य—अरुंषिका की फुंसिया अगर साधारण हों तो ऊपर के योगों से लाभ हो जायेगा। अन्यथा यह बडी भयंकर व्याधि है। इन की प्रबलावस्था में सुश्रुतीय इस चिकित्सा का आश्रय लेना चाहिये—

'अरुंषिकाहृते रक्ते सेचयेन्निम्बवारिणा'।

अर्थात् अरुंषिका की पिडिकाओं को शस्त्र से भेदन करके इन से रक्त निकाल कर नीम के पानी से सेचन करे।

दारुणहर लेप—

प्रियालबीजमधुककुष्ठमाषैः ससैन्धवैः।
कार्यो दारुणके मूर्ध्नि प्रलेपो मधुसंयुतः ॥१८॥[1]

प्रियाल बीज (चिरोंजी), मुलेठी, कूठ उड़द, सैन्धा नमक—इन सब को पीस कर दारुण रोग वाले रोगी के शिर पर मधु मिला कर लेप करे। इससे दारुण रोग नष्ट होता है।

वक्तव्य—दारुण रोग शिर की व्याधि है। माधवनिदान में क्षुद्र रोगान्तर्गत इसका वर्णन है। यथा—

दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते।
कफमारुतकोपेन विद्याद्दारुणकं तु तत् ॥

दारुण की अन्य चिकित्सा—

आम्रबीजस्य चूर्णं तु शिवाचूर्णं समं द्वयम्।
दुग्धपिष्टः प्रलेपोऽयं दारुणं हन्ति दारुणम् ॥

---

१ अत्र परं ग्रन्थान्तरे—'काञ्जिकेस्तु त्रिरात्राह लेपो दारुणकापह' इत्यधिक पाठ।

दारुण पर अन्य लेप—

दुग्धेन खाखसं बीजं प्रलेपाद्दारुणं जयेत् ।
आम्रबीजस्य चूर्णं तु शिवाचूर्णसमं द्वयम् ॥१६॥
दुग्धपिष्टः प्रलेपोऽयं दारुणं हन्ति दारुणम् ।

खशखास के वीजों (पोस्तदाना) को दूध से पीसकर लेप करने से दारुण रोग नष्ट होता है । एवं आम की गुठली के भीतर की मज्जा और बडी हरीड का चूर्ण दोनों समभाग लेकर दुग्ध में पीसकर लेप करे । इससे भयंकर दारुण रोग नष्ट होता है ॥१६॥

इन्द्रलुप्त पर लेप—

रसस्तिक्तपटोलस्य पत्राणां तद्विलेपनात् ॥२०॥
इन्द्रलुप्तं शमं याति त्रिभिरेव दि ध्रुवम् ।

कडवे पटोल के पत्तों के स्वरस को इन्द्रलुप्त रोग पर लेप करने से तीन दिन में इन्द्रलुप्त रोग नष्ट होता है ॥२०॥

वक्तव्य— १—इन्द्रलुप्त के लक्षण—

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ॥
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येपामसंभवः ।
तदिन्द्रलुप्त—

इस रोग का प्रभाव प्रायः दाढी, मूंछ के वालो पर होता है। इसे 'वालचर' भी कहते हैं । २—पटोल दो प्रकार का होता है। शाक भाजी में व्यवहार आने वाला मीठा 'परवल' कहलाता है और औषधों में प्रायः कडवा परवल उपयुक्त होता है । परस्पर इन दोनों की वर्णाकृति में कोई भेद नही होता । केवल स्वाद में अंतर होने से ही मीठे और कडवे का ज्ञान होता है ।

इन्द्रलुप्त पर अन्य लेप—

इन्द्रलुप्तापहो लेपो मधुना बृहतीरसः ॥२१॥
गुञ्जामूलं फलं वापि भल्लातकरसोऽपि वा ।

बड़ी कटेरी के फलों के रस में शहद मिलाकर लेप करने से अथवा गुञ्जा (घूंगची) की जड अथवा रत्तियों के फलों की मज्जा को (भेड के दूध में) पीसकर लेप करने से अथवा भिलावे के फल के स्वरस को लेप करने से इन्द्रलुप्त रोग नष्ट होता है (भिलावे के कच्चे फल के रस में तथा भिलावे के तैल में त्वचा पर स्फोट उत्पन्न करने का गुण है। इसी से यह इसमें लाभ करना है) ॥२१॥

केशवर्द्धक लेप—

गोक्षुरस्तिलपुष्पाणि तुल्ये च मधुसर्पिषी ॥२२॥

शिरःप्रलेपनं तेन केशसंवर्धनं परम् ।

गोखरू का चूर्ण, तिलों के फूल—दोनों को समभाग लेकर शहद और घी के साथ मिलाकर शिर में लेप करने से शिर के केश बढते हैं ॥२२॥

रोमोत्पादक लेप—

हस्तिदन्तमषीं कृत्वा छागीदुग्धं रसाञ्जनम् ॥२३॥
रोमाण्यनेन जायन्ते लेपात्पाणितलेष्वपि ।

हाथी के दांत की मसी (भस्म) और रसौंत-दोनों को (सम) लेकर बकरी के दूध में पीसकर जिस स्थान के बाल उड गये हों उस स्थान पर लेप करने से बाल उत्पन्न हो जाते हैं। इसके प्रभाव से हाथ की हथेलियों में भी बाल उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—हाथी दांत के बुरादे को अथवा टुकडों को शराव सम्पुट में बन्द करके यथाविधि साधारण पुट देवे । इस से हाथी दांत के टुकडे कृष्णवर्ण के पीसने योग्य हो जाते हैं । इसी को 'मषी' कहते हैं और यही प्रयोग होती है । यह योग आयुर्वेद की प्राय सब पुस्तकों में देखा जाता है । इसलिये अधिक महत्त्व का है । परन्तु इस से लाभ तब ही होता है जब इसको, जिस स्थान पर लगाना हो उस स्थान को प्रथम खरस्पर्शी कपडे से इतना रगडे जिस से स्थान रक्तवर्ण का हो जावे । चिरकाल के रुग्ण स्थान पर निरन्तर दो सप्ताह प्रयोग करने से लाभ होता है । पाणितल की अतिशयोक्ति निश्चयात्मक गुण प्रदर्शन में व्यवहृत होती है ।

इन्द्रलुप्त पर अन्यलेप—

यष्टीन्दीवरमृद्वीकातैलाज्यक्षीरलेपनैः ॥२४॥
इन्द्रलुप्तं शमं याति केशाः स्युः सघना दृढाः ।

मुलेठी, कमल, और बडी दाख—इन तीन औषधों को तिलों के तैल तथा गौ के दूध और घृत में पीसकर लेप करने से इन्द्रलुप्त रोग शांत होता है तथा केश घने और दृढ हो जाते हैं ॥२४॥

केशवर्द्धक अन्यलेप—

चतुष्पदानां त्वग्रोमनखशृङ्गास्थिभस्मभिः ॥२५॥
तैलेन सह लेपोऽयं रोमसंजननः परः ।

चतुष्पाद (गौ, घोडा, बकरी, भेड़, गधा, ऊंट आदि) प्राणियों की त्वचा रोम, नाखून, सींग, और हड्डी—इन की भस्म (अन्तर्विदग्ध) तिल तैल के साथ मिलाकर लेप करने से यह रोम और केशों को बढाने और उत्पन्न करने में अत्युत्तम है

केशकृष्णीकरण—

इन्द्रवारुणिकाबीजतैलेनाभ्यङ्गमाचरेत् ॥२६॥

प्रत्यहं तेन जायन्ते कुन्तला भृङ्गसन्निभाः ।

इन्द्रवारुणी (तुम्मे के) बीजों का तैल निकाल कर श्वेत केशों पर नित्य मर्दन करने से श्वेतकेश भौंरे के सदृश काले हो जाते हैं ॥२६॥

वक्तव्य—इन्द्रवारुणी के बीजों का तैल इस कार्य के लिये कोहलू से निकाल कर प्रयोग करे । पातालयन्त्रविधि से प्राप्त तैल में गुणकर अंश अग्निताप के कारण नष्ट हो जाता है । इसके नित्य अभ्यंग के साथ इसी तैल की नस्य भी लेनी चाहिये । इस प्रकार छः मास करने से इस योग का प्रभाव प्रत्यक्ष होता है ।

पलितनाशक लेप—

अयोरजो भृङ्गराजस्त्रिफला कृष्णमृत्तिका ॥२७॥
स्थितमिक्षुरसे मासं लेपनात् पलितं जयेत् ।

लोह चूर्ण, भागरे का चूर्ण, हरीड बहेडा और आमले का चूर्ण तथा काली मिट्टी—इस वस्तु समुदाय को आप्लुतावस्था तक गन्ने के रस में भिगोकर एक मास तक घडे में पड़ा रहने देवे और पश्चात् निकाल कर श्वेत केशों पर लेप करने से केशों की श्वेतता अवश्य नष्ट होती है ॥२७॥

वक्तव्य—पलित रोग तब उत्पन्न होता है जब क्रोध और शोक के कारण शरीरोष्मा शिर की त्वचा में प्राप्त होती है । तब पित्ताधिक्य होने से बाल पक कर श्वेत हो जाते हैं । इस को पलित रोग कहते हैं ।

अन्यलेप—

धात्रीफलत्रयं पथ्यं द्वे तथैकं बिभीतकम् ॥२८॥
पञ्चाम्रमज्जा लोहस्य कर्षैकं च प्रदीयते ।
पिष्ट्वा लोहमये भाण्डे स्थापयेदुषितं निशि ॥२९॥
लेपोऽयं हन्ति नचिरादकालपलितं महत् ।

आमले (आर्द्र) के तीन दाने, हरीड़ (बडी, गीली) के २ दाने, बहेडा (गीला) एक (सब के फलों को ऊपर से कूट कर छिलका उतार लेवे), पाच आमो की गुठलियों की मज्जा (गुठली फोड कर प्राप्त होने वाला पदार्थ) और लोह चूर्ण १ तोला—सबको एकत्र कर लोह के खरल में अत्यन्त बारीक पीसकर (जल से पेषण कर) एक रात्रि पर्यंत इस वस्तु समुदाय को लोह पात्र (खरल) में ही पडा रहने देवे । दूसरे दिन इस को श्वेत बालों पर लेप करने से यह शीघ्र ही पलित रोग को नष्ट करता है (व्याधिप्रभाव अथवा नजला के कारण यदि अल्पायु में केश श्वेत होने लगें तब इसका प्रयोग लाभकर सिद्ध होता है । निरन्तर प्रयोग करता रहे) ॥२८—२९॥

केशकृष्णीकरण—

त्रिफला नीलिकापत्रं लोहं भृङ्गरजः समम् ॥३०॥

अविमूत्रेण संपिष्टं लेपात्कृष्णीकरं स्मृतम् ।

त्रिफला (हरीड़, बहेड़ा और आमला के फलों का छिलका), नीलिकापत्र (नील 'वसमा' के पत्र), लोह चूर्ण और भागरा के पत्र—इन सबको समान भाग लेकर बकरी के मूत्र में पीस कर लेप करने से केशों को काला बना देता है ॥३०॥

पलितनाशक कल्प—

त्रिफलालोहचूर्णं च दाडिमत्वग्बिसं तथा ॥३१॥
प्रत्येकं पञ्चपलिकं चूर्णं कुर्याद्विचक्षणः ।
भृङ्गराजरसस्यापि प्रस्थषट्कं प्रदापयेत् ॥३२॥
क्षिप्त्वा लोहमये पात्रे भूमिमध्ये निधापयेत् ।
मासमेकं ततः कुर्याच्छागीदुग्धेन लेपनम् ॥३३॥
कूर्चे शिरशि रात्रौ च संवेष्टयैरण्डपत्रकैः ।
स्वपेत्प्रातस्ततः कुर्यात्स्नानं तेन च जायते ॥३४॥
पलितस्य विनाशश्च त्रिभिर्लेपैर्न संशयः ।

हरीड, बहेडा और आमला (इनके फलों का छिलका), लोह चूर्ण, अनार के फल का छिलका, बिस (भें, कमलकन्द)—प्रत्येक वस्तु पाच २ पल (एक पाव, २०—२० तोला) लेकर सूक्ष्म चूर्ण करे और इस सुचूर्णित वस्तु समुदाय को लोहपात्र (जो घटाकार बना हो) में डालकर ऊपर से छ प्रस्थ भागरे का रस (वस्त्रपूत करके) डाल देवे और (यथाविधि सन्धिमुद्रा करके) लोहपात्र आने योग्य गढ़ा पृथ्वी में खोदकर उस के मध्य में इस सन्धित घट को रखकर ऊपर से गढा भरकर बन्द करे और एक मास पर्यन्त इसी प्रकार भूमध्य में पड़ा रहने देवे। पुन यथासमय निकाल कर सिद्धौषध के कुछ भाग को बकरी के दूध से पीस कर श्वेत केशों पर ब्रुश से रात को लेप करे। लेप के ऊपर एरण्ड के पत्ते रखकर बाध देवे और सो जावे और प्रात काल उठकर (यथाविधि) स्नान करे। इस प्रकार तीन दिन (रात्रि) लेप करने से पलित रोग (केशों की श्वेतता) का नाश होता है॥३१-३४॥

कशनाशक योग—

शङ्खचूर्णस्य भागौ द्वौ हरितालं च भागिकम् ॥३५॥
मनःशिला चार्धभागा स्वर्जिका चैकभागिका ।
लेपोऽयं वारिपिष्टस्तु केशानुत्पाट्य दीयते ॥३६॥
अनया लेपयुक्त्या च सप्तवेलं प्रयुक्तया ।
निर्मूलकेशस्थानं स्यात् क्षमणस्य शिरो यथा ॥३७॥

शखचूर्ण (भस्म) २ भाग, वर्किया हरताल १ भाग, मैनसिल ½ भा

सज्जी १ भाग—सबको पृथक् २ बारीक पीस कर मिलावे और जल (निम्बु) से पीस कर जिस स्थान से केश निर्मूल करने हों वहां के केशों को प्रथम (मोचने से) उखाड़ कर लेप करे। इस प्रकार युक्तिपूर्वक सात बार (जब एक बार केशों को उखाड़ कर लेप करने से जो केश दूसरी बार जन्म लें उन्हें फिर उखाड़ कर पूर्ववत् लेप करता रहे) लेप करने से उस स्थान के केश निर्मूल नष्ट हो जाते हैं और शिर, तरे से मूडे हुए सन्यासी के शिर के समान चिकना हो जाता है ॥३५—३७॥

अन्यलेप—

तालकं शाणयुग्मं स्यात्पट्शाणं शङ्खचूर्णकम्।
द्विशाणिकं पलाशस्य क्षारं दत्त्वा प्रमर्दयेत् ॥३८॥
कदलीदण्डतोयेन रविपत्ररसेन वा।
अस्यापि सप्तभिर्लेपै रोम्णां शातनमुत्तमम् ॥३९॥

वर्किया हरताल २ शाण (६ माशे), शख चूर्ण (भस्म) ६ शाण (१॥ तोला), पलाश क्षार २ शाण (६ माशा)—इन को केले के दंड के जल अथवा आक के पत्तों के पानी से मर्दन करके लेप करे। इस प्रकार सात बार लेप करने से रोम नष्ट हो जाते हैं ॥३८—३९॥

श्वित्रनाशक लेप—

सुवर्णपुष्पी कासीसं विडङ्गानि मनःशिला।
रोचना सैन्धवं चैव लेपनाच्छ्वित्र नाशनम् ॥४०॥

सुवर्णपुष्पी (स्वर्णजूही), कासीस (काही सबज), वायविडंग, मैनसिल, गोरोचन और सैन्धा नमक—इन सब को जलसे पेषण करके लेप करने से श्वित्र-कुष्ठ (फुलबहरी का सफेद दाग) नष्ट होता है ॥४०॥

अन्यलेप—

वायस्येडगजाकुष्ठकृष्णाभिर्गुटिका कृता।
वस्तमूत्रेण संपिष्टा प्रलेपाच्छ्वित्रनाशिनी ॥४१॥

काकमाची, चक्रमर्द (दोनों की जड का छिलका), कूठ, कालीपीपल—इन सब को समभाग लेकर गोमूत्र में पीसकर लेप करने से श्वित्रकुष्ठ नष्ट होता है ॥४१॥

अन्यलेप—

तालकं शाणमात्रं स्याच्चतुःशाणा च बाकुची।
गोमूत्रपिष्टं तच्चूर्णं लेपनाच्छ्वित्रनाशनम् ॥४२॥

वर्किया हरताल ३ माशा, बावची १ तोला—दोनों को गोमूत्र में पीसकर लेप करने से श्वित्र कुष्ठ नष्ट होता है ॥४२॥

श्वेतकुष्ठप्रयोग—

वाकुची वेतसो लाक्षा काकोदुम्बरिका कणा ।
रसाञ्जनमयश्चूर्णं तिलाः कृष्णास्तदेकतः ॥४३॥
चूर्णयित्वा गवां पित्तैः पिष्ट्वा च गुटिका कृता ।
अस्याः प्रलेपाच्छ्वित्राणि प्रणश्यन्त्यतिवेगतः ॥४४॥

बावची के बीज, वेतस, लाख, कठूमर (दुग्ध अथवा मूलत्वक्), काली पीपल, रसौंत, लोह चूर्ण, काले तिल—इन सब को समभाग लेकर सूक्ष्म पीसे और गौ के पित्ते से भावना देकर गोली बनाकर सुखा रखे। इन का (निम्बुरस में घिस कर) लेप करने से श्वित्र, किलास आदि कुष्ठ रोग शीघ्र नष्ट होते हैं ॥४३-४४॥

सिध्महर लेप—

धात्री सर्जरसश्चैव यवक्षारश्च चूर्णितः ।
सौवीरेण प्रलेपोऽयं प्रयोज्यः सिध्मनाशने ॥४५॥

आमले का चूर्ण, राल का चूर्ण, जौखार—इन तीनों औषधों को कांजी के साथ पीस कर सिध्म नष्ट करने के लिये लेप करे ॥४५॥

वक्तव्य—सिध्म रोग त्वचा का रोग है। यह प्राय. कठ और छाती के आस पास चितकबरे दागों के रूप में होता है। भाषा में इसे 'थिम्म' कहते हैं।

सिध्महर अन्य लेप—

दार्वी मूलकबीजानि तालकं सुरदारु च ।
ताम्बूलपत्रं सर्वाणि कार्षिकाणि पृथक् पृथक् ॥४६॥
शङ्खचूर्णं शाणमात्रं सर्वाण्येकत्र कारयेत् ।
लेपोऽयं वारिणा पिष्टः सिध्मनां नाशनः परः ॥४७॥

दारुहलदी की छाल का चूर्ण, मूली के बीजों का चूर्ण, वर्किया हरताल का चूर्ण, देवदारु का चूर्ण, पान के पत्तों का चूर्ण—प्रत्येक एक एक तोला और शंखचूर्ण (भस्म) १ शाण (३ माशे)। सब को इकट्ठा कर के जल के साथ पीसकर लेप करे। इससे सिध्म रोग शीघ्र नष्ट होता है ॥४६—४७॥

नेत्ररोगहर लेप—

हरीतकी सैन्धवं च गैरिकं च रसाञ्जनम् ।
विडालको-जले पिष्टः सर्वनेत्रामयापहः ॥४८॥

बडी हरीड का छिलका, सैन्धा नमक, गेरी और रसौंत (दार्वीसार)—सब को समान भाग लेकर यथाविधान जल से पीस कर बिडालक (नेत्र पलकों के बाहर लगाने योग्य लेप) तैयार करे। इस का प्रयोग करने से (रक्तता, अभिष्यन्द, जलस्राव आदि) सब नेत्र रोग नष्ट होते हैं ॥४८॥

अन्य लेप—

रसाञ्जनं व्योषयुतं संपिष्टं वटकीकृतम् ।
कण्डूं पाकान्वितां हन्ति लेपादञ्जननामिकाम् ॥४६॥

रसौंत, कालीपीपल, कालीमिरच, सोंठ—सब को समान भाग लेकर जल से पीस कर गोली बनावे और जल से घिसकर लेप करने से खाज और पाकावस्था में प्राप्त अञ्जनिका (अञ्जनहारी, ग्वाडनी) नष्ट होती है ॥४६॥

कण्डू (खाज) नाशक योग—

प्रपुन्नाटस्य बीजानि वाकुची सर्षपास्तिलाः ।
कुष्ठं निशाद्वयं मुस्तं पिष्ट्वा तक्रेण चैकतः ॥५०॥
प्रलेपादस्य नश्यन्ति दद्रूकण्डूविचर्चिकाः ।

प्रपुन्नाट (चक्रमर्द, पमाड़ के बीज), बावची के बीज, श्वेत सरसों, तिल, कूठ, हलदी, दारुहलदी, नागरमोथा—प्रत्येक का चूर्ण सम भाग लेकर खट्टी छाछ में पीस कर लेप करने से दाद, खाज और विचर्चिका (कुष्ठ) रोग नष्ट होते हैं (आरम्भिक दाद और खाज के लिये यह उत्तम योग है) ॥५०॥

पामाहर अन्यलेप—

हेमक्षीरी विडङ्गानि दरदं गन्धकस्तथा ॥५१॥
दद्रूघ्नः कुष्ठसिन्दूरे सर्वाण्येकत्र मर्दयेत् ।
धत्तूरनिम्बताम्बूलीपत्राणां स्वरसैः पृथक् ॥५२॥
अस्य प्रलेपमात्रेण पामादद्रूविचर्चिकाः ।
कण्डूश्च रकसश्चैव प्रशमं यान्ति वेगतः ॥५३॥

चोक की जड का चूर्ण, वायविडग का चूर्ण, शिंगरफ, गंधक, आमलासार, पमाड की जड का चूर्ण, कूठ, सिन्दूर—सब को सम भाग लेवे। पुन खरल में डालकर धतूरे के पत्तों के रस से, नीम के पत्तों के रस से तथा पान के पत्तों के रस से पृथक् २ एक एक भावना देवे। इस उत्तम औषध लेप के लगाने मात्र से पामा, दाद, विचर्चिका, खाज और रकस (यह भी क्षुद्रकुष्ठान्तर्गत रोग है। सुश्रुत निदान में इस का वर्णन है) शीघ्र नष्ट होते हैं ॥५१—५३॥

कण्डूपामाहर अन्यलेप—

दूर्वाभया सैन्धवं च चक्रमर्दः कुठेरकः ।
एभिस्तक्रयुतो लेपः कण्डूपामाविनाशनः ॥५४॥

दूर्वा (दूब), हरीड, सैंधानमक, पमाड़ की जड़ का छिलका, कुठेरक (राम तुलसी)—इन सब को सम परिमाण में लेकर खट्टी छाछ के साथ पीसकर लेप करने से खाज और दाद का नाश होता है ॥५४॥

अन्यलेप—

दूर्वानिशायुतो लेपः कण्डूपामाविनाशनः ।
कृमिदद्रूहरश्चैव शीतपित्तापहः स्मृतः ॥५५॥

दूर्वाघास और हलदी—दोनों को (खट्टी छाछ में) पीस कर लेप करने से खाज और पामा (पाओं) तथा कृमि, दाद और शीत पित्त (छपाकी) दूर होते हैं ।

अन्यलेप—

सिद्धार्थरजनीकुण्ठप्रपुन्नाटतिलैः सह ।
कटुतैलेन संमिश्रं दद्रूघ्नं च प्रलेपनम् ॥५६॥

सफेद सरसों, हलदी, कूठ, पमाड के बीज और तिल—प्रत्येक का चूर्ण सम परिमाण में लेकर कड़वे तेल में मिलाकर लेप करने से दाद का रोग दूर होता है ।

वातिक विसर्पहर लेप—

रास्ना नीलोत्पलं दारु चन्दनं मधुकं बला ।
घृतक्षीरयुतो लेपो वातवीसर्पनाशनः ॥५७॥

रास्ना, नीलोफर, देवदारु, रक्तचन्दन, मुलेठी और बला (खरेटी) की जड़—सबको पृथक् २ चूर्णकर सब का समान भाग चूर्ण लेकर घी के साथ स्निग्ध करे और दूध में पीसकर लेप करने से वातविसर्प नष्ट होता है ॥५७॥

वक्तव्य—इस रोग में त्वचा के ऊपर रक्तवर्ण का शोथ हो जाता है और सूचीवत् वेदना भी होती है। शोथ प्रसरणशील होता है। इसको सुर्खबाद भी कहते हैं।

पित्त विसर्वहर लेप—

मृणालं चन्दनं लोध्रमुशीरं कमलोत्पलम् ।
सारिवामलकी पथ्या लेपः पित्तविसर्पनुत् ॥५८॥

कमल की डंडी, रक्त चंदन, पठानी लोध, खस, रक्त कमल, नीलोफर, सारिवा, आमले और हरीड का छिलका—प्रत्येक का चूर्ण सम परिमाण में लेकर (गोदूध में) पीसकर लेप करने से पित्तजनित विसर्प नष्ट होता है ॥५८॥

कफविसर्पहर लेप—

त्रिफला पद्मकोशीरं समङ्गा करवीरकम् ।
नलमूलमनन्ता च लेपः श्लेष्मविसर्पहा ॥५९॥

बडी हरीड़ का छिलका, बहेड़े का छिलका, आमले, पद्माख, खस, मञ्जीठ, श्वेत कनेर, रक्त कनेर, नड का मूल, अनन्ता (अनन्त मूल, यवासक)—इन सब औषधों के वस्त्रपूत चूर्ण को जल में पीस कर लेप करने से कफजनित विसर्प रोग नष्ट होता है ॥५९॥

पित्तजवातरक्तहर लेप—

मांसी सर्जरसो लोध्रं मधुकं सहरेणुकम् ।
मूर्वा नीलोत्पलं पद्मं शिरीषकुसुमैः सह ॥६०॥
प्रलेपः पित्तवातास्रे शतधौतघृतप्लुतः ।

जटामासी, राल, लोध्र, मुलेठी, रेणुका, मूर्वा, नीलोफर, पद्माख और सिरस के फूल—सब को पृथक् २ पीसकर प्रत्येक का सम भाग चूर्ण लेवे और १०० वार जल से धोए हुए घृत के साथ लेप करने से पित्तानुबन्धी वातरक्त दूर होता है ॥६०॥

नासास्रुतरक्तहर लेप—

आमलं घृतभृष्टं तु पिष्टं काञ्जिकवारिभिः ॥६१॥
जयेन्मूर्ध्नि प्रलेपेन रक्तं नासिकया स्रुतम् ।

आमले के चूर्ण को घी में भून (हलका भर्जन) कर काजी (धान्याम्ल) में पीसकर मस्तक पर लेप करने से नासामार्ग से निकलने वाला रुधिर बन्द होता है।

वातिक शिरपीडाहर लेप—

कुष्ठमेरण्डतैलेन लेपात्काञ्जिकपेषितम् ॥६२॥
शिरोर्ति वातजां हन्यात्पुष्पं वा मुचुकुन्दजम् ।

कूठ के चूर्ण में एरण्ड तैल मिला कर काजी के साथ पीस कर लेप करे। इस से वातदोष से उत्पन्न होने वाली शिरोव्यथा दूर होती है। अथवा मुचुकुन्द के फूलों को उपर्युक्त विधि से पीस कर शिर पर लेप करने से भी वातिक शिरोव्यथा नष्ट होती है ॥६२॥

अन्यलेप—

देवदारु नतं कुष्ठं नलदं विश्वभेषजम् ॥६३॥
सकाञ्जिकः स्नेहयुतो लेपो वातशिरोर्तिनुत् ।

देवदारु, तगर, कूठ, जटामासी, सोंठ—इन सबका पृथक् २ वस्त्रपूत चूर्ण करके सम परिमाण में लेवे और काजी के साथ पीसे। तदनतर स्नेह (एरण्ड तैल) मिलाकर (मथन करे और सुमथित होने पर) शिर पर लेप करे। इससे वातजनित शिरोवेदना नष्ट होती है ॥६३॥

रक्तपितज शिरोवेदनाहर लेप—

चन्दनोशीरयष्ट्याह्वबलाव्याघ्रनखोत्पलैः ॥६४॥
क्षीरपिष्टैः प्रलेपः स्याद्रक्तपित्तशिरोर्तिजित् ।

लालचन्दन, खस, मुलेठी, खरैटी की जड का छिलका, व्याघ्रनख (सुगन्ध द्रव्य 'नख'), कमल फूल—इन सब के चूर्ण को एकत्र करके गोदूध से शिला पर पेषण करके शिर पर लेप करे। इससे रक्तपित्तजनित शिरोवेदना नष्ट होती है ॥६४॥

रक्तपित्तहर लेप—

धात्रीकसेरुह्रीबेरपद्मपद्मकचन्दनैः ॥६५॥
दूर्वोशीरनलानां च मूलैः कुर्यात्प्रलेपनम् ।
शिरोऽर्तिं पित्तजां हन्याद्रक्तपित्तरुजं तथा ॥६६॥

आमले का चूर्ण, कसेरु, सुगन्ध वाला, कमलपुष्प, पद्माख, रक्तचन्दन दूर्वा घास, खस, नड्मूल (जड)—सब को यथाविधि (दूध में) पीसकर मस्तक पर लेप करने से पित्तज तथा रक्तपित्तजनित पीडा शांत होती है ॥६५—६६॥

कफज शिरोव्यथाहर लेप—

हरेणुनतशैलेयमुस्तैलागरुदारुभिः ।
मांसीरास्नारुबूकैश्च कोष्णो लेपः कफार्तिनुत् ॥६७॥

रेणुका, तगर, शैलेय (शिलापुष्प), नागरमोथा, बड़ी इलायची, अगर, देवदारु, जटामासी, रास्ना, एरण्ड मूलत्वक्—सब को बराबर भाग लेकर (कांजी में) पीसकर गरम करके मस्तक पर लेप करे। इस से कफजनित शिरोवेदना नष्ट होती है ॥६७॥

अन्यलेप—

शुण्ठीकुष्ठप्रपुन्नाटदेवकाष्ठैः सरोहिषैः ।
मूत्रपिष्टैः सुखोष्णैश्च लेपः श्लेष्मशिरोर्तिनुत् ॥६८॥

सोठ, कूठ, पमाड के बीज, देवदारु, रोहिष (तृण)—इन सब को गोमूत्र में पीस कर सुखोष्ण लेप करने से कफजनित शिरोव्यथा दूर होती है ॥६८॥

सूर्यावर्त और अर्धावभेदकहर लेप—

सारिवाकुष्ठमधुकवचाकृष्णोत्पलैस्तथा ।
लेपः सकाञ्जिकस्नेहः सूर्यावर्तार्धभेदयोः ॥६९॥

सारिवा, कुठ, मुलेठी वच, कालीपीपल, नीलोफर—सब को एकत्र कर काजी में पीसे और इस पिष्ट लेप में थोडा सा घृत मिलाकर स्निग्ध करके मस्तक पर लगावे। इस से सूर्यावर्त (जो शिरोव्यथा सूर्योदय से आरम्भ होकर सूर्यास्त पर्यन्त रहे) और अर्धावभेद (आधे शिर की पीडा)—दोनों नष्ट होते हैं ॥६९॥

शङ्खादि सब प्रकार का शिरोव्यथा पर लेप—

वरी नीलोत्पलं दूर्वा तिलाः कृष्णाः पुनर्नवा ।
शङ्खकेऽनन्तवाते च लेपः सर्वशिरोर्तिजित् ॥७०॥

शतावरी, नीलोफर, दूर्वा घास, तिल, कालीपीपल, पुनर्नवा (सांठी इटसट) की जड—सब को यथाविधि पीसकर मस्तक पर लेप करने से शंखोद्भव शूल वातादि तीनों दोषों की दुष्टि से कटपटी में शूल होता है), अनन्त वात (शिरो-

देश में दुष्ट दोष—शिर, भ्रू, मन्या आदि अनेक स्थानों पर व्यथा उत्पन्न करते हैं) तथा अन्य सब प्रकार की शिरोव्यथा नष्ट होती हैं ।।७०।।

लेप के दो भेद—

अथ लेपविधिश्चान्यः प्रोच्यते सुज्ञसंमतः ।
द्वौ तस्य कथितौ भेदौ प्रलेपाख्यप्रदेहकौ ।।७१।।

लेप के दो भेद और हैं जो अनुभवी चिकित्सकों के द्वारा माने हुए हैं । इन में से पहला प्रलेप और दूसरा प्रदेह के नाम से कहा जाता है । अब इनकी विधियों का वर्णन किया जाता है ।।७१।।

दोनों लेपों की मोटाई का परिमाण—

चर्मार्द्रं माहिषं यद्वत्प्रोन्नतं सा मितिस्तयोः ।
शीतस्तनुर्विशोषी च प्रलेपः परिकीर्तितः ।।७२।।
आर्द्रो घनस्तथोष्णः स्यात्प्रदेहः श्लेष्मवातहा ।

प्रलेप और प्रदेह सञ्ज्ञक दोनों प्रकार के लेपों की मोटाई गीले भैंस के चर्म के बराबर (⅛ इंच होनी चाहिये । शीत (शीतल द्रव्यों से साधित), तनु (पतला २), विशोषी (विशेष शीतल अथवा स्रोत प्रवेशी) प्रलेप (लेप) कहलाता है (पित्तघ्न होता है) । एवं आर्द्र घन तथा उष्ण (स्पर्शोष्ण) प्रदेह कफवात को नष्ट करने वाला होता है ।।७२।।

लेप लगाने की विधि —

रोमाभिमुखमादेयौ प्रलेपाख्यप्रदेहकौ ।।७३।।
वीर्यं सम्यग्विशत्याशु रोमकूपैः शिरामुखैः ।

प्रलेप और प्रदेह सञ्ज्ञक लेपों को सर्वदा प्रयोग करते समय रोमाभिमुख (रोमों को खडा करके, इस प्रकार करने से स्वेदवाहिनियों के मुख खुल जाते हैं) लेप करे । ऐसा करने से रोमकूप (स्वेद) वाहिनी शिराओं के मुखों में औषध (लेप) का वीर्य (प्रभाव) शीघ्र प्रवेश करता है । जिस से लाभ भी शीघ्र होता है ।।७३।।

रात्रि में लेप का निषेध—

न रात्रौ लेपनं कुर्याच्छुष्यमाणं न धारयेत् ।।७४।।
शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति ।

रात्रि को लेप न करे । दिन में जो लेप किया हुआ समयांतर में सूख जावे उसे शीघ्र लेप स्थान से उतार देवे । कारण कि सूखा हुआ लेप अकड जाने के कारण लेप स्थान और आस पास में पीडा उत्पन्न कर देता है ।।७४।।

रात्रि में लेप के निषेध का कारण—

तमसा पिहितो ह्यूष्मा रोमकूपमुखे स्थितः ।।७५।।

विना लेपेन निर्याति रात्रौ नो लेपयेदतः ।

रात्रि में प्राय सोमराज्य होने के कारण कफाधिक्य होता है । इस कारण रोमकूपों के छिद्र पिहित (वन्द से) रहते हैं । अत रात्रि में लेप लगाने से रोम कूपों के सर्वतोभावेन अवरुद्ध होने का भय रहता है । इस कारण रात्रि को लेप न लगावे । (शरीरोष्मा का रोम कूपों द्वारा निकलते रहना शरीर के लिये उपयोगी है । एव विना लेप के शरीरोष्मा का रोम कूपों द्वारा नि सरण थोड़ा वहुत होता ही रहता है और यह नि सरण होता ही रहे, इसी कारण रात्रि को लेप का निषेध किया गया है (दिन में सूर्य के प्रभाव के कारण और स्वेद निर्गमन के कारण ऐसा नही होता) ॥७५॥

रोग विशेष में रात्रि में लेपाज्ञा—

रात्रावपि प्रलेपादिविधिः कार्यो विचक्षणैः ॥७६॥

अपक्वशोथे गम्भीरे रक्तश्लेष्मसमुद्भवे ।

जो शोथ (व्रणशोथ) अपक्व हो, गम्भीर व्रण हो, एव जिस व्रण शोथ की रक्त और कफ से उत्पत्ति हो ऐसी अवस्थाओं में अनुभवी वैद्य रात्रि को भी लेप लगा सकते हैं । (कारण कि ऐसे रोगों के स्थानो पर व्याधि प्रभाव के कारण उत्ताप अधिक होता है अत पूर्वोक्त वाधा यहा हानिकर नहीं होती) ॥७६॥

व्रण की अवस्थाओं पर लेप—

आदौ शोथहरो लेपो द्वितीयो रक्तसेचनः ॥७७॥

तृतीयश्चोपनाहः स्याच्चतुर्थः पाटनक्रमः ।

पञ्चमो शोधनो भूयात्षष्ठो रोपण इष्यते ॥७८॥

सप्तमो वर्णकरणो व्रणस्यैते क्रमान्मताः ।

(शारीर व्रण की चिकित्सा में) सव से पहले व्रण की सूजन को दूर करने वाला लेप लगावे, पुन रक्तावसेचन करे । तृतीयावस्था में उपनाह (स्वेद नि · सारक) सज्ञक लेप लगावे । पुन जव भेदन करने योग्य होवे तव शस्त्र प्रयोग से पाटन कर्म करे । पाटनानन्तर व्रण शोधक औषधों का लेप करे । जव व्रण पूर्णतया शुद्ध (स्रावरहित) हो जावे तव व्रण को भरने वाली औषधों को पीसकर उनका लेप करे । जव व्रण भली प्रकार भर जावे तव व्रण स्थान के मास को आस पास की चमडी के वर्णानुकूल वनाने के लिये वर्णकारक औषधों को पीस कर उनका लेप करे । इस प्रकार व्रणचिकित्सा में यह सात व्रणोपक्रम होते हैं ॥७७-७८

वक्तव्य—सुश्रुतीय द्विव्रणीयाध्याय से यह विवरण लिया गया है । वहा व्रण के ६० उपक्रम हैं । विस्तृत विवरण वहा से देखें । यह सक्षिप्त तथा साधारण· तया व्रणोपक्रम का वर्णन है ।

वातजनित व्रणशोथहर लेप—

बीजपूरं जटामांसी देवदारु महौषधम् ॥७६॥
रास्नाग्निमन्थो लेपोऽयं वातशोथविनाशनः।

विजोरा निम्बु की जड़, जटामासी, देवदारु, सोंठ, रास्ना, अरनी की छाल— सब को समान भाग लेकर जल से पीस कर (सुखोष्ण) लेप करने से वातजनित व्रण शोथ दूर होता है ॥७६॥

पित्तज व्रणशोथहर लेप—

मधुकं चन्दनं मूर्वा नलमूलं च पद्मकम् ॥८०॥
उशीरं वालकं पद्मं पित्तशोथे प्रलेपनम्।

मुलेठी, लाल चन्दन, मूर्वा, नड की जड, पद्माख, खस, सुगन्धवाला और लाल कमल—इन सब को समान भाग लेकर जल से पीस कर (शीत) प्रलेप करने से पित्तजनित व्रणशोथ दूर होता है ॥८०॥

कफज व्रणशोथहर लेप—

कृष्णा पुराणपिण्याकं शिग्रुत्वक्सिकता शिवा ॥८१॥
मूत्रपिष्टः सुखोष्णोऽयं प्रदेहः श्लेष्मशोथहा।

कालीपीपल, पुराणपिण्याक (एक वर्ष की पुराणी तिलों की खली), सोहाजने की छाल, सिता (बालु अथवा खाड), और हरीड की छाल—इन सब को समान भाग लेकर गोमूत्र से पीसे और गरम करके सुखोष्ण लेप का प्रयोग करे। इस से कफजनित व्रण शोथ दूर होता है ॥८१॥

आगन्तुज और रक्तज व्रणशोथहर लेप—

द्वे निशे चन्दने द्वे च शिवा दूर्वा पुनर्नवा ॥८२॥
उशीरं पद्मकं लोध्रं गैरिकं च रसाञ्जनम्।
आगन्तुके रक्तजे च शोथे कुर्यात्प्रलेपनम् ॥८३॥

हलदी, दारुहलदी, लाल चन्दन, श्वेत चन्दन, हरीड, दूर्वा घास, इटसिट की जड, खस, पद्माख, लोध्र, गेरी और रसोंत—इन सब को (जल में) पीस कर लेप करने से आगन्तुक (प्रहारादि के कारण से उत्पन्न होने वाले व्रण) तथा रक्त सचय से उत्पन्न व्रण पर लेप करने से दोनों प्रकार के व्रणशोथ दूर होते हैं ॥८२-८३॥

व्रण पाचक लेप—

शणमूलकशिग्रूणां फलानि तिलसर्षपाः।
सक्तवः किण्वमतसी प्रदेहः पाचनः स्मृतः ॥८४॥

सन के वीज, मूली के वीज, सोहाजने के वीज, तिल, सरसों, वच, किण्व (सुरा वीज), और अलसी (भृष्ट)—सव को एकत्र करके पीसे और सुखोष्ण

लेप करे तो व्रण पक जाता है ॥८४॥

वक्तव्य—यह एक प्रकार की पुलटिश है। इस कारण अग्निभृष्ट अतसी का चूर्ण सब से द्विगुण लेना चाहिये और यह अच्छा मोटा बान्धने एव गरम रहने से शीघ्र लाभ करता है।

व्रणभेदक लेप—

दन्ती चित्रकमूलत्वक्स्नुह्यर्कपयसी गुडः ।
भल्लातकश्च कासीसं सैन्धवं दारणे स्मृतः ॥८५॥

जमालगोटे की जड़, चीते की जड़ की छाल, थोहर का दूध, आक का दूध, गुड, भिलावा, कासीस (काही), और सैंधानमक—इन सबको समान भाग लेकर पीसे और (गोमूत्र में पकाकर) लेप करने से व्रण शोथ शीघ्र फूट जाता है ॥८५॥

अन्य लेप—

चिरबिल्वोऽग्निको दन्ती चित्रको हयमारकः ।
कपोतकङ्कगृध्राणां मलं लेपेन दारणम् ॥८६॥

करज के बीज, चित्रक मूलत्वक्, कलिहारी, जमालगोटे की जड़, रक्त-कनेर की जड, कबूतर, कक (सफेद चील), गीध—इन की विष्ठा—सब को मिला कर पीसे और गरम करके लेप करे तो इससे भी दारण कर्म होता है ॥८६॥

अन्य लेप—

स्वर्जिकायावशूकाद्याः क्षारा लेपेन दारणाः ।

सज्जीखार और जौखार आदि करके और अर्कक्षारादि को पीस कर व्रण पर लेप करने से भी व्रण फूट जाता है।

अन्य लेप—

हेमक्षीर्यास्तथा लेपो व्रणे परमदारणः ॥८७॥

एव हेमक्षीरी के मूल चोक को जल में पीसकर लेप करने से भी बढ़िया दारण कर्म होता है ॥८७॥

व्रणशोधक लेप—

तिलसैन्धवयष्ट्याह्वनिम्बपत्रनिशायुगैः ।
त्रिवृद्घृतयुतैः पिष्टैः प्रलेपो व्रणशोधनः ॥८८॥

तिल, सैन्धानमक, मुलेठी, नीम के पत्र, हलदी, निशोत—इन सब का समान भाग मिला हुआ चूर्ण घृत के साथ मिलाकर लेप करने से व्रण शुद्ध होता है (व्रण का अधिक स्राव नष्ट होता है) ॥८८॥

शोधन रोपण लेप—

निम्बपत्रघृतक्षौद्रदार्वीमधुकसंयुतः ।

तिलैश्च सह संयुक्तो लेपः शोधनरोपणः ॥८६॥

नीम के पत्तों को पीसकर घी और शहद में मिलाकर तथा दारुहलदी के चूर्ण और मुलेठी के चूर्ण को तिलों के साथ पीसकर लेप करने से व्रण का शोधन और रोपण होता है ॥८६॥

व्रणजनित क्रिमियों पर लेप—

करञ्जारिष्टनिर्गुण्डीलेपो हन्याद्व्रणक्रिमीन् ।

लशुनस्याथवा लेपो हिङ्गुनिम्बभवोऽथवा ॥९०॥

करञ्जुआ के पत्र, रीठे के फलों का छिलका, निर्गुण्डी (सम्हालू)—इन सब को समभाग लेकर जल से पीसकर लेप करने से व्रणगत क्रिमियों का नाश होता है। अथवा लहसन की तुरियों को जल में पीसकर लेप करने से भी व्रणोद्भव क्रिमियों का नाश होता है (व्रण पर इस को लगाने से तीव्र चरमराहट होती है) तथा नीम के पत्रों के रस में हींग को पीसकर लेप करने से भी व्रणोद्भव क्रिमियों का नाश होता है (यह तीनों लेप व्रणगत क्रिमियों को नष्ट करने में अत्युत्तम हैं)।

व्रणशोधन रोपण लेप

निम्बपत्रं तिला दन्ती त्रिवृत्सैन्धवमाक्षिकम् ।

दुष्टव्रणप्रशमनो लेपः शोधनरोपणः ॥९१॥

नीम के पत्र, तिल, जमालगोटे की जड़, निशोत और सैन्धानमक—इनको पीसकर शहद में मिलाकर लेप करने से दुष्ट व्रण शान्त होकर उनका शोधन और रोपण होता है ॥९१॥

उदरव्यथानाशक लेप—

मदनस्य फलं तिक्तां पिष्ट्वा काञ्जिकवारिणा ।

कोष्णं कुर्यान्नाभिलेपं शूलशान्तिर्भवेत्ततः ॥९२॥

मैनफल का चूर्ण, कटुकी—दोनों को जल में पीसकर नाभि पर कोष्ण लेप करने से नाभिशूल (अन्तर्विद्रधिजनित शोथ) नष्ट होता है ॥९२॥

वातविद्रधिहर लेप—

शिग्रुशेफालिकैरण्डयवगोधूममुद्गकैः ।

सुखोष्णो बहलो लेपः प्रयोज्यो वातविद्रधौ ॥९३॥

सोहाजने की छाल, निर्गुडी मूलत्वक्, एरड मूलत्वक्, जौं, गोधूम (गेहूं) और मूग—इनको समभाग लेकर (गोमूत्र अथवा जल से) पेषण कर के मोटा २ लेप करे। इस से वातजनित विद्रधि (शोथ) नष्ट होती है ॥९३॥

पित्तजविद्रधिहर लेप—

पैत्तिके सर्पिषा लाजामधुकैः शर्करान्वितैः ।

प्रलिम्पेत्क्षीरपिष्टैर्वा पयस्योशीरचन्दनैः ॥६४॥

लाजा (भृष्टधान्योद्भव), मुलेठी, शर्करा (खाड), क्षीरकाकोली, खस और लालचन्दन—इन सब को समान भाग लेकर गोदूध में पीसे और घृत मिलाकर पित्तजनित विद्रधि नष्ट करने के लिये लेप करे ॥६४॥

कफज विद्रधिहर लेप—

इष्टिका सिकता लोहकिट्टं गोशकृता सह ।
सुखोष्णः स्यात्प्रदेहोऽयं मूत्रैः स्याच्छ्लेष्मविद्रधौ ॥६५॥

ईट (रक्तेष्टिका) का चूर्ण, बालू (रेत), लोहकिट्ट (मडूर) और गोबर—इ सब को गोमूत्र में पीसकर गरम करके लेप करने से, यह लेप कफजनित विद्रधि को नष्ट करता है ॥६५॥

आगन्तुक विद्रधिहर लेप—

रक्तचन्दनमञ्जिष्ठानिशामधुकगैरिकैः ।
क्षीरेण विद्रधौ लेपो रक्तागन्तुनिमित्तजे ॥६६॥

लालचदन, मजीठ, हलदी, मुलेठी और गेरी मिट्टी—सब को बराबर भाग लेकर दूध में पीसकर लेप करने से रक्तजनित तथा आगन्तुक (काष्ठलोष्ठादि प्रहार जनित) विद्रधि रोग नष्ट होता है ॥६६॥

वातज गलगण्डहर लेप—

निचुलः शिग्रुबीजानि दशमूलमथापि वा ।
प्रदेहो वातगण्डेषु सुखोष्णः सम्प्रदीयते ॥६७॥

समुद्रफल, सोंहाजने के बीज—दोनों को जल में पीसकर उष्ण करके लेप करने से वातजनित गलगण्ड रोग नष्ट होता है तथा केवल दशमूल के द्रव्यो की छाल को जल में पीसकर गरम करके लेप करने से वातजनित गलगण्ड रोग दूर होता है ॥६७॥

वक्तव्य—वातादि दोष दूषित होकर कण्ठ के बाह्य भाग में पाक रहित शोथ उत्पन्न करते हैं, उसको गलगड (गिल्लड) कहते हैं । इससे गले की सुन्दरता में विकार हो जाता है । कभी २ यह इतना बढता है कि गले के बाहर एक लोटा सा बन्धा हुआ प्रतीत होता है ।

कफज गलगण्डहर लेप—

देवदारु विशाला च कफगण्डे प्रदेहकः ।

देवदारु और इन्द्रायण की जड़—इन दोनों को (गोमूत्र में) पीसकर (गरम करके) लेप लगाने से कफजनित गलगण्ड रोग नष्ट होता है ।

अपचीनाशक लेप—

सर्षपारिष्टपत्राणि दग्ध्वा भल्लातकैः सह ॥९८॥

छागमूत्रेण संपिष्टमपचीघ्नं प्रलेपनम् ।

सरसों, नीम के पत्र और भिलावे—इन को एक शराव सम्पुट में बन्द करके फूंके और तत्पश्चात् इनकी कृष्ण वर्ण की भस्म को बकरी के मूत्र में पीसकर लेप करने से अपची रोग नष्ट होता है ॥९८॥

वक्तव्य—अपचीरोग गडमाला की दूसरी अवस्था का नाम है । इसमें समयान्तर के पश्चात् गडमाला की ग्रन्थिया फूटकर बहने लग जाती हैं और इनमें निरन्तर स्राव होता है ।

गण्डमालादिकों पर लेप—

सर्षपाः शिग्रुबीजानि शणबीजातसीयवाः ॥९९॥
मूलकस्य च बीजानि तक्रेणाम्लेन पेषयेत् ।
गण्डमालार्बुदं गण्डं लेपेनानेन शाम्यति ॥१००॥

सरसों, सोहाजने के बीज, सन के बीज, अलसी के बीज, जौं तथा मूली के बीज—इन सब को समभाग लेकर खट्टी छाछ में पीसकर लेप लगाने से गडमाला अर्बुद (रसौली) तथा अन्य गड (व्रण) नष्ट होते हैं ॥९९—१००॥

गृध्रसी आदि पर लेप—

तक्षयित्वा क्षुरेणाङ्गं केवलानिलपीडितम् ।
तत्र प्रदेहं दद्याच्च पिष्टं गुञ्जाफलैः कृतम् ॥१०१॥
तेनापबाहुजा पीडा विश्वाची गृध्रसी तथा ।
अन्यापि वातजा पीडा प्रशमं याति वेगतः ॥१०२॥

यदि शरीर का कोई भाग केवल वातजनित पीडा से व्यथित हो तो उस स्थान पर उस्तरे से अत्यन्त हलके से क्षत (पछ) लगावे और (साधारण रक्त दर्शन होने पर) इन क्षतों पर घूगची के फलों को पीस कर लेप करे । इस प्रकार करने से अपबाहुक (वातरोग), विश्वाची (कण्डरागत वातरोग) और गृध्रसी (रीगणवाय) शीघ्र नष्ट होती है ॥१०१—१०२॥

वक्तव्य—इस विधान को ग्रामवासी चिकित्सक और रोगी अधिक व्यवहार में लाते हैं । इस को ग्रामीण भाषा में 'गुल' लगाना कहते हैं । अधिक अनुभवी वैद्य लोग प्रच्छित स्थान पर अर्कदूध, थोहर का दूध, सखिया तथा अन्य अनेक तीव्र औषधों का प्रयोग भी करते हैं । इस के व्यवहार से प्रद्येप्य औषध के अनुसार व्रण हो जाते हैं । जो पुन नवनीतादि लगाने से शान्त हो जाते हैं । इस चिकित्सा में कष्ट तो होता है परन्तु लाभ लगभग शत प्रतिशत ही हुआ करता है । पठित वैद्यों में कष्टभीरुता के कारण इस चिकित्सा का प्राय लोप सा हो गया है ।

श्लीपदरोगहर लेप—

धत्तूरैरण्डनिर्गुण्डीवर्षाभूशिग्रुसर्षपैः ।

प्रलेपः श्लीपदं हन्ति चिरोत्थमपि दारुणम् ॥१०३॥

धत्तूरे के पत्र, एरण्ड के पत्र, सम्हालू के पत्र, पुनर्नवा के पत्र, सोहाजने की छाल, सफेद सरसों—इन सब को समान भाग लेकर जल में पीसे और (गरम करके) लेप लगावे। इस से चिरकालोद्भव तथा भयंकर श्लीपद रोग नष्ट होता है।

वक्तव्य—श्लीपद रोग में प्राय दूपित दोषों की प्रकृति अध.शील होने के कारण पाओं की ओर अग्रसर रहती है, जस से पाव फूल कर हाथी के पाओं के सदृश स्थूल हो जाते हैं। इसी से इस रोग को 'फीलपाद' भी कहते हैं।

कुरण्ड रोग पर लेप—

अजाजीहपुषाकुष्ठमेरण्डबदरान्वितम् ।
काञ्जिकेन तु संपिष्टं कुरण्डघ्नं प्रलेपनम् ॥१०४॥

काला जीरा, हाऊबेर, कूठ, एरण्ड की जड की छाल, बेरी की छाल—इन सब को समान भाग लेकर कांजी में पीसकर (गरम करके) लेप करने से कुरण्ड (अण्डवृद्धि) रोग नष्ट होता है (अण्डवृद्धि का विशेष वर्णन पूर्वखण्ड के सातवें अध्याय में देखें) ॥१०४॥

उपदंशहर लेप—

करवीरस्य मूलेन परिपिष्टेन वारिणा ।
असाध्यापि व्रजत्यस्तं लिङ्गोत्था रुक्प्रलेपनात् ॥१०५॥

कनेर (रक्त) की जड की छाल को जल से पीस कर लेप करने से लिङ्गोद्भव (मेहन की) असाध्य पीडा भी नाश हो जाती है ॥१०५॥

उपदश पर अन्य लेप—

दहेत्कटाहे त्रिफलां सा मषी मधुसंयुता ।
उपदंशे प्रलेपोऽयं सद्यो रोपयति व्रणम् ॥१०६॥

हरीड की छाल, बहेडे की छाल और आमलों को कूट कर कडाही में डाले। ऊपर से ढक्कन देकर नीचे आग जलावे। एक घटा तीव्र आच देने से यन्त्रान्तर्गत त्रिफला की काली भस्म होगी। उसी मषी को शहद में मिला कर उपदंश जनित व्रणों पर मरहम की तरह लगाने से शीघ्र ही उपदशज व्रण (शुद्ध होकर) भर जाते हैं (यह अनुभूत योग है) ॥१०६॥

उपदशपर अन्य लेप—

रसाञ्जनं शिरीषेण पथ्यया च समन्वितम् ।
सक्षौद्रं लेपनं योज्यमुपदंशगदापहम् ॥१०७॥

रसौत, सिरस की छाल का चूर्ण, हरीड का चूर्ण—इन सब को समान भाग लेकर शहद के साथ मिलाकर उपदश के व्रणों पर लगावे। इस से उपदशज व्रण नष्ट होते हैं ॥१०७॥

वक्तव्य—माधवाचार्य ने जिस उपदंश का वर्णन किया है यह योग उसी के लिये है। वर्तमान में जो फिरंग रोग दृष्टिगोचर होता है, वह उपदंश से भिन्न है। इसलिये प्रयोग काल में भली प्रकार निर्णय करके व्यवस्था करने से लाभ अवश्यम्भावी होता है। उपदंश का विशिष्ट वर्णन तथा फिरंग से तारतम्य, पूर्वखंड के सातवें अध्याय में देखें।

अग्निदग्ध पर लेप—

अग्निदग्धे तुगाक्षीरीप्लक्षचन्दनगैरिकैः ।
सामृतैः सर्पिषा स्निग्धैरालेपं कारयेद्भिषक् ॥१०८॥
तिन्दुकीत्वक्कषायैर्वा[1] घृतमिश्रैः प्रलेपयेत् ।
यवान्दग्ध्वा मषीं कार्या तैलेन युतया तथा ॥१०९॥
दद्यात्सर्वाग्निदग्धेषु प्रलेपो व्रणरोपणः ।

वंशलोचन, प्लक्ष (पलाख, पिलखन क्षीरी वृक्ष), लालचन्दन, गेरीमिट्टी, गिलोय (गीली)—इन सब औषधों को समभाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करे। इस चूर्ण को घृत में मिलाकर अग्नि से जले हुए स्थान पर लेप करे। इस से अग्निदग्धजन्य व्यथा नष्ट होती है। एवं तिंदुकी (मधुर तिंदुक वृक्ष) की छाल के चूर्ण अथवा उसके घन कषाय में घृत मिलाकर लगाने से भी अग्निदग्धजन्य दाहादि की शान्ति होती है। तथा जौं (अन्न) को अन्तर्धूमदग्ध करके इनकी काली भस्म को तिल तैल में मिलाकर लेप करने से अग्निदग्ध जन्य व्रण भर जाते हैं (शांत होते हैं)।

वक्तव्य—यवभस्म का योग जले हुए स्थान से होने वाले स्राव को बन्द करता है और व्रण को भरता है।

योनिसंकोचक लेप—

पलाशोदुम्बरफलैस्तिलतैलसमन्वितैः ॥११०॥
मधुना योनिमालिम्पेद्गाढीकरणमुत्तमम् ।

पलाश (ढाक) के फल (बीज, खग्गे) और उदुम्बर (गूलर) के फल—दोनों को पीसकर तिलतैल और शहद मिलाकर योनि को लेपित करने से योनि गाढी (संकुचित) हो जाती है ॥११०॥

वक्तव्य—श्वेत प्रदर, अन्य रोगों के कारण तथा वृद्धावस्था एवं अधिक संतान होने से योनि शिथिल हो जाती है। इस लेप की प्रयोग विधि इस प्रकार है कि—उपरोक्त यथाविधि पिष्ट लेप को स्वच्छ वस्त्र खण्ड पर लगाकर लेप सहित वस्त्र योनि के भीतर प्रविष्ट कर देवे। इस प्रकार निरन्तर कुछ काल तक करते रहने से लाभ होता है।

---

१ 'तण्डुलीयकषायैर्वा' इत्यपि पाठः ।

अन्य लेप—

माकन्दफलसंयुक्तमधुकर्पूरलेपनात् ॥१११॥
गतेऽपि यौवने स्त्रीणां योनिर्गाढाऽतिजायते ।

माकन्दफल (माजुफल) और कर्पूर को पीसकर शहद के साथ मिलाकर योनिलेपन (योनिपूरण—पूर्वोक्त विधि के अनुसार इसको भी वस्त्र खण्ड पर लेप करके योनि में धारण) करने से विगतयौवना (वृद्धा) स्त्री की योनि भी अत्यंत गाढी (तग, सूक्ष्मरन्ध्रा) हो जाती है ॥१११॥

लिंग और स्तनादि वृद्धयर्थ लेप—

मरिचं सैन्धवं कृष्णा तगरं वृहतीफलम् ॥११२॥
अपामार्गस्तिलाः कुष्ठं यवा माषाश्च सर्षपाः ।
अश्वगन्धा च तच्चूर्णं मधुना सह योजयेत् ॥११३॥
अस्य संततलेपेन मर्दनाच्च प्रजायते ।
लिङ्गवृद्धिः स्तनोत्सेधः संहतिर्भुजकर्णयोः ॥११४॥

कालीमिरच, सैन्धानमक, कालीपीपल, तगर, वडी कटेरी के फल, अपामार्ग (चिरचिरा) के वीज, काले तिल, कूठ, जौं, उडद, सफेद सरसों, असगंध—इन सबको समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करे और इस चूर्ण को शहद में मिलाकर लगाने योग्य लेप वनावे। इसको सतत (लगातार) लिंग पर लेप करने से लिंगवृद्धि (दीर्घता और स्थूलता) प्राप्त होती है। स्तनों पर लेप करने से स्तनों की पुष्टि और उत्सेध (ऊंचापन) होता है। भुजा और कर्णफलकों पर प्रयोग करने से इनकी संहति (मोटापन) होती है ॥११२—११४॥

लिंगवृद्धिकारक अन्य योग—

सिताश्वगन्धासिन्धूत्थछागक्षीरैर्घृतं पचेत् ।
तल्लेपान्मर्दनाल्लिङ्गवृद्धिः संजायते परा ॥११५॥

सिता (मिशरी अथवा दालचीनी), असगंध, सैन्धानमक—यह तीनों सुपिष्ट मिश्रित ५ तोले, घृत १ पाव, वकरी का दूध १ सेर, पाकार्थ जल १ सेर, शनैः २ मंद आंच से पका कर घृत सिद्ध करे (विशेष विधि मध्यम खण्ड के नवम अध्याय में देखें)। इस सिद्धौषध के लेप और मर्दन से लिंग की अत्यन्त वृद्धि होती है ॥११५॥

योनिविद्रावणार्थ—

इन्द्रवारुणिकापत्ररसैः सूतं विमर्दयेत् ।
रक्तस्य करवीरस्य काष्ठेन च मुहुर्मुहुः ॥११६॥
तल्लिप्तलिङ्गसंयोगाद्योनिद्रावोऽभिजायते ।

इन्द्रवारुणी (तुम्मे की लता) के पत्तों के रस में शुद्ध पारद को लाल फूल वाले कनेर की लकडी के दंड से घोटे। तदनन्तर इस सिद्धौषध के लेप को लिंग पर लेप करके मैथुन करने से स्त्री की योनि शीघ्र स्खलित होती है (ऐसी विधि स्त्री को वश करने के लिए की जाती है) ।।११६।।

वक्तव्य—यह अत्यन्त गोप्य और चमत्कृत योग है। विधि इस प्रकार है—रक्त कनेर के पुराने झाड को उखाड कर उसके मूल का एक ऐसा दण्ड बनावे जैसा खरल घोटने का मूसल होता है। इस प्रकार की मर्दनार्थ घर्षणी तैयार कर के उसे जल से प्रक्षालन कर लेवे और पत्थर के उत्तम खरल में २ तोला शुद्ध पारद डाले और ऊपर से इन्द्रवारुणी के पत्तों का स्वरस (बिना जलके) एक छटाक इस में डाल कर उसी कनेर की घर्षणी से इस को मर्दन करे। इस प्रकार सात दिन तक निरन्तर रगडने से पारद के कण लीन हो जायँगे और लेप चिपकने वाला गाढ़ा तैयार होगा। यह लेप ऊपर का कार्य करने में अत्युत्तम है। परन्तु स्मरण रहे कि निर्बल और रोगी लिंग पर इसका प्रभाव नही होता। यह स्वस्थों के लिये कौतुक है।

गात्रदुर्गन्धनाशक लेप—

ताम्बूलपत्रचूर्णं तु चूर्णं कुष्ठशिवाभवम् ।।११७।।
वारिणा लेपनं कुर्याद्गात्रदौर्गन्ध्यनाशनम् ।

पान के पत्तों का चूर्ण, कूठ का चूर्ण, हरीतकी का चूर्ण—सब को समान भाग लेकर शरीर पर लेप करने से पसीने से आने वाली दुर्गन्ध गात्रों से नष्ट होती है।

स्वेददौर्गन्ध्य नाशक लेप—

कुलित्थसक्तवः कुष्ठं मांसी चन्दनजं रजः ।।११८।।
सक्तवश्चणकस्यैव त्वक्चैवैकत्र कारयेत् ।
स्वेददौर्गन्ध्यनाशश्च जायतेऽस्यावधूलनात् ।।११९।।

कुलथी के सत्तू, कूठ का चूर्ण, जटामांसी, श्वेतचन्दन का चूर्ण, और चणों का (भूना हुआ) चूर्ण—सब को समभाग मिलाकर स्वेद से दुर्गन्धित स्थानों र अवधूलन (बुरकने अथवा छिडकने) से स्वेदजनित दुर्गन्ध का नाश होता है।

वशीकरण लेप—

वचा सौवर्चलं कुष्ठं रजन्यौ मरिचानि च ।
एतल्लेपप्रभावेण वशीकरणमुत्तमम् ।।१२०।।

वच का चूर्ण, सौंचल लवण, कूठ का चूर्ण, हलदी का चूर्ण, दारुहलदी का चूर्ण और काली मिरच का चूर्ण—सब को यथामान ग्रहण करके जल से पेषण करके (मस्तक पर) लेप करे। इस लेप से लेपित मस्तक को देखने से मनुष्य वश में होते हैं। यह उत्तम वशीकरण कहा गया है ।।१२०।।

शिर में तैल प्रयोग की विधि —

अभ्यङ्गः परिषेकश्च पिचुर्बस्तिरिति क्रमात् ।
मूर्धतैलं चतुर्धा स्याद्बलवच्च यथोत्तरम् ॥१२१॥

अभ्यग (मर्दन करना), परिषेक (तैल का सेचन करना), पिचु प्रयोग (कपास अथवा वस्त्र खण्ड को तैलप्लुत करके धारण करना) और वस्ति (चर्म निर्मित शिरोवस्ति द्वारा प्रयोग करना)—इस प्रकार मूर्ध तैल (शिर में तैल लगाने के चार प्रकार होते हैं। यह यथोत्तर वलवान (अधिकाधिक गुण करने वाले) होते हैं। अर्थात् अभ्यग से परिषेक, परिषेक से पिचु धारण और पिचु धारण से वस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह अधिक गुण करता है। कारण कि इन विधानों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक समय का प्रयोग होता है ॥१२१॥

शिरोवस्ति की विधि —

त्रयोऽभ्यङ्गादयः पूर्वे प्रसिद्धाः सर्वतः स्मृताः ।
शिरोवस्तिविधिश्चात्र प्रोच्यते सुज्ञसंमतः ॥१२२॥

पूर्वोक्त अभ्यंग, परिषेक और पिचु प्रयोग प्रसिद्ध (नित्य व्यवहार में आते) हैं। अत इन में से जो अप्रसिद्ध शिरोवस्ति का विधान है उसकी अनुभवी वैद्यों द्वारा कथित विधि का वर्णन करते हैं ॥१२२।

शिरोवास्ति का विधान—

शिरोवस्तिश्चर्मणः स्याद् द्विमुखो द्वादशाङ्गुलः ।
शिरःप्रमाणं तं बद्ध्वा मस्तके माषपिष्टकैः ॥१२३॥
सन्धिरोधं विधायादौ स्नेहैः कोष्णैः प्रपूरयेत् ।

जिस चर्म की शिरोवस्ति बनानी हो उसको १२ अगुल चौडा लेकर दो मुखों वाली वस्ति बनावे। उस वस्ति की लम्बाई चौडाई रोगी के शिर के अनुसार बना कर उसे मस्तक पर बाध देवे और शिर तथा वस्ति की सन्धि के छिद्रों को उडद के चूर्ण को पानी में पीस कर इस से बन्द कर देवे। सर्व प्रथम सन्धियों को बन्द करके उस शिरोवस्ति में गरम किया हुआ स्नेह (तैल) भर देवे।

वक्तव्य—इस की विस्तृत विधि सुश्रुताचार्य इस प्रकार वर्णन करते हैं। यथा—

रोगाञ्छिरसि संभूतान्हत्वातिप्रवलान् गुणान् ।
करोति शिरसो वस्तिरुक्ता ये मूर्द्धतैलिका ॥
शुद्धस्नेहस्य सायाह्ने यथा व्याध्यशितस्य च ।
ऋज्वासीनस्य वध्नीयाद्वस्तिनकाश ततो दृढम् ॥
यथाव्याधि शृतस्नेहपूर्णं सयम्य धारयेत् ।
तर्पणोक्त दशगुण यथादोप विधानवित् ॥ (सु० उत्तरत०)

शिरोवस्ति के धारण का समय—

तावद्धार्यस्तु यावत्स्यान्नासानेत्रमुखस्रुतिः ॥१२४॥
वेदनोपशमो वापि मात्राणां वा सहस्रकम् ।

चर्मनिर्मित शिरोबस्ति को जब शिर के साथ बाध दिया जावे और उस में यथाविधान तैलादिक भर दिये जावें तब उस तैल को तब तक वस्तिविधि से शिर पर धारण करे जब तक नासा, नेत्र और मुख से (श्लेष्म) स्राव होने लगे। अथवा जिस रोग की निवृत्ति के लिये शिरोबस्ति का प्रयोग किया हो उसकी अथवा उससे उत्पन्न वेदना की शान्ति न हो जावे अथवा एक हजार मात्रा (जानुवेष्टित चुटकी) पर्यन्त धारण करे ॥१२४॥

वक्तव्य—धारयेदरुज. शान्ते याम यामार्धमेव वा।
मात्रालक्षण—यावत्पर्येति हस्ताग्र दक्षिणं जानुमण्डलम्।
निमेषोन्मेषकालेन सम मात्राऽस्य सा स्मृता ॥ (वाग्भट)

कब और कैसे धारण करे—

विना भोजनमेवात्र शिरोबस्तिः प्रशस्यते ॥१२५॥
प्रयोज्यस्तु शिरोबस्तिः पञ्चसप्ताहमेव वा ।

जिस रोगी को शिरोबस्ति का प्रयोग करना हो उसे उस दिन भोजन न करावे। बिना भोजन दिये शिरोबस्ति का प्रयोग हित होता है। दीर्घकालानुबन्धी शिरोवस्ति साध्य रोगो को दूर करने के लिये पाचवें २ अथवा सातवें २ दिन यथाविधान शिरोबस्ति का प्रयोग करे ॥१२५॥

शिरोवस्ति के पश्चात्—

विमोच्य शिरसो बस्तिं गृह्णीयाच्च समन्ततः ॥१२६॥
ऊर्ध्वकायं ततः कोष्णनीरैः स्नानं च कारयेत् ।

जब शिरोबस्ति धारण का समय पूर्ण हो चुके तब उस को शिर से खोल कर उसके भीतर के स्नेह को चारों ओर से यत्नपूर्वक ग्रहण करे और तैलाक्त शिर को उष्ण (अत्यन्त हलके गरम) जल से धो डाले ॥१२६॥

शिरोबस्ति के गुण—

अनेन दुर्जया रोगा वातजा यान्ति संक्षयम् ॥१२७॥
शिरःकम्पादयस्तेन सर्वकालेषु युज्यते ।

इस प्रकार विधिपूर्वक शिरोबस्ति के प्रयोग से शिर प्रकम्पादि दुर्जय (कष्ट से जीतने योग्य) वातजनित रोग नष्ट होते हैं। अत ऐसे तीव्र वातज रोगों को दूर करने के लिये सर्वदा शिरोबस्ति का प्रयोग करे ॥१२७॥

कर्णपूरणविधि —

स्वेदयेत्कर्णदेशं तु किञ्चिन्नुः पार्श्वशायिनः ॥१२८॥

मूत्रैः स्नेहैः रसैः कोष्णैस्ततः श्रोत्रं प्रपूरयेत् ।

जो मनुष्य कर्ण रोग से पीडित हो उस को (दायें अथवा बायें) करवट सुलाकर (जिस कान में व्यथा हो उसे स्वेद काल में नीचे की ओर कर और पूरण काल में ऊपर की ओर कर) स्वेद देवे (कर्णस्वेदनार्थ नाडीस्वेद उत्तम होता है) । तत्पश्चात् गोमूत्र (गरम करके), स्नेह (औषधों से संस्कृत), रस (धत्तूर पत्ररस, अर्कपत्रादि रस) गरम करके कान में डाले (और ऊपर से ईंट को गरम कर के सुहाता सुहाता सेक करे) ॥१२८॥

कर्णगत औषध धारण का काल—

कर्णे च पूरितं रक्षेच्छतं पञ्चशतानि वा ॥१२९॥
सहस्रं वापि मात्राणां श्रोत्रकण्ठशिरोगदे ।

कर्ण, कण्ठ और शिरोगत रोगों को दूर करने के लिये जो औषध (रस, तैल, मूत्रादि) कान में डाली हो उसे ५०० अथवा १००० मात्रा तक धारण करे। ऐसा करने से कर्णगत औषध पूर्ण फलकारक होती है ॥१२९॥

मात्रा का लक्षण—

स्वजानुनः करावर्तं कुर्याच्छोटिकया युतम् ॥१३०॥
एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवैष निश्चयः ।

अपने जानु (गोडे) के चारों ओर घुमाकर हाथ से एक चुटकी बजावे। इतने समय की एक मात्रा होती है। मात्रा के सम्बन्ध का सर्वत्र यही निश्चित सिद्धान्त है।

रस और तैलादि में भेद—

रसाद्यैः पूरणं कर्णे भोजनात्प्राक् प्रशस्यते ॥१३१॥
तैलाद्यैः पूरणं कर्णे भास्करेऽस्तमुपागते ।

रस (अर्कपत्र, धत्तूर पत्र, गोमूत्र) आदि औषधें यदि कान में डालनी हों तो भोजन से प्रथम (भूखे पेट) डाले और यदि तैलादि (औषधों से सिद्ध अथवा असिद्ध) औषधों का प्रयोग करना हो तो सूर्यास्त (निशामुख) होने पर करे (अथवा अत्यावश्यकावस्था में जब रोग प्रबल हो तब ही करे) ॥१३१॥

कर्णशूलहर रस—

पीतार्कपत्रमाज्येन लिप्तं वह्नौ प्रतापयेत् ॥१३२॥
तद्रसः श्रवणे क्षिप्तः कर्णशूलहरः परः ।

आक के परिपक्व पीले वर्ण के पत्तों के ऊपर (प्रथम कपड़े से पोंछकर उनके ऊपर के धूल कणों को दूर कर) गोघृत चुपड़ कर अग्नि पर सेंके । भली प्रकार गरम होने पर इनका रस निचोड लेवे। इस रस को कान में डालने से कान की दर्द (वातजनित पीड़ा) शीघ्र बन्द होती है ॥१३२॥

कर्णशूलपर बकरी का मूत्र—

कर्णशूलातुरे कोष्णं बस्तमूत्रं ससैन्धवम् ॥१३३॥
निःक्षिपेत्तेन शाम्यन्ति शूलपाकादिका रुजः ।

कान की पीडा से व्याकुल मनुष्य के कान में बकरी के मूत्र को गरम करके और उसमें थोड़ा सा सैन्धानमक मिलाकर डाले । इस से कर्णशूल शान्त होता है तथा कान के पाक के कारण होने वाला कर्ण स्राव तथा मन्द २ वेदना भी शात होती है (यह अत्युत्तम योग है । प्राय अनुभवी चिकित्सक इसका नित्य व्यवहार करते हैं । हमारा यह सहस्रों बार का अनुभूत है) ॥१३३॥

कर्णशूल पर अन्ययोग—

शृङ्गबेरं च मधुकं मधु सैन्धवमामलम् ॥१३४॥
तिलपर्णीरसस्तैलं टङ्कणं निम्बुकद्रवम् ।
कदुष्णं कर्णयोर्देयमेतद्वा वेदनापहम् ॥१३५॥

अदरख का रस, मुलेठी, शहद, सैंधानमक, आमले, तिलपर्णी, सुहागा और निम्बू का रस—इन सब को कल्क द्रव्य के रूप में तैल में डालकर यथाविधान तैल सिद्ध करे और कान के दर्द वाले मनुष्य के कान में इस तैल को थोडा गरम करके डाले । इस से कान की पीडा शीघ्र शात होती है ॥१३४—१३५॥

वक्तव्य—यद्यपि ऊपर के योग में तैल साधन की स्पष्ट आज्ञा नही है तथापि कर्णरोगोक्त अन्य 'क्षार तैलादि' में भी ऐसे ही द्रव्य डाले गये हैं । अत यहा भी उसी संगति के अनुसार उपर्युक्त योग का तैल साधन लिख दिया है । तैल साधन विधि मध्यम खण्ड के नवम अध्याय में देखें । अथवा उपर्युक्त योग की संगति इस प्रकार भी लग सकती है । यथा—अदरख के रस के साथ शहद को मिलाकर कान में डाले—यह एक योग, शहद सैन्धानमक तथा आमले का रस-यह दूसरा योग इसको गरम करके डाले, तिलपर्णी के रस के साथ तैल को मिलाकर गरम करके डाले—यह तीसरा योग, निम्बू के रस में सुहागा मिलाकर डाले—यह चौथा योग । इस विभाजन के अनुसार पृथक् २ चार योग होते हैं और समस्त का एक योग तैल पाक विधि के अनुसार ऊपर वता दिया गया है ।

कर्णशूल पर अन्ययोग—

कपित्थमातुलुङ्गाम्लशृङ्गबेररसैः शुभैः ।
सुखोष्णैः पूरयेत्कर्णं कर्णशूलोपशान्तये ॥१३६॥

कैथ का रस, विजोरे निम्बु का रस, अम्लवेत (गलगल) का रस और अदरख का रस—सबको एकत्र कर उष्ण करके कान में डाले । इसके प्रयोग से कर्ण शूल शांत होता है ॥१३६॥

कर्णशूल पर अर्काङ्कुर प्रयोग—

अर्काङ्कुरानम्लपिष्टांस्तैलाक्तांल्लवणान्वितान्।
संनिदध्यात्स्नुहीकाण्डे कोरिते तच्छदावृते ॥१३७॥
पुटपाकक्रमं कृत्वा रसैस्तच्च प्रपूरयेत्।
सुखोष्णैस्तेन शाम्यन्ति कर्णपीडाः सुदारुणाः ॥१३८॥

आक के कोमल २ अंकुरो को लेकर पत्थर के खरल में डाले और उन्हें निम्बू के रस से पीसे और इस कल्क में थोडा सा तेल और सैंधानमक मिलाकर रगडे। पुन इस कल्क को गोलाकार वनाकर एक ऐसे थोहर के डण्डे में भर देवे जिस का मध्य भाग खोखला कर लिया गया हो (थोहर के दण्ड का मध्य भाग उतना ही खाली करे जिसमें कल्क का गोला अथवा कल्क के खण्ड २ आ सकें)। पुन गोला रख देने के पश्चात् खोखले भाग के रिक्त स्थान को थोहर के पत्रों के कल्क से भर देवे। पुन इस दण्ड पर एक २ अगूठा भर मोटी मिट्टी का लेपकर सुखा लेवे और पुटपाक की विधि से पाक करे। तदनन्तर मृत्तिका फोड कर स्वरस निकाल कर कुछ गरम करके कान में डाले। इस से भयंकर कर्णशूल नष्ट होता है।

दीपिका तैल—

महतः पञ्चमूलस्य काण्डान्यष्टाङ्गुलानि च[1]।
क्षौमेणावेष्ट्य संसिच्य तैलेनादीपयेत्ततः ॥१३९॥
यत्तैलं च्यवते तेभ्यः सुखोष्णं तेन पूरयेत्।
ज्ञेयं तद्दीपिकातैलं सद्यो गृह्णाति वेदनाम् ॥१४०॥
एवं स्याद्दीपिकातैलं कुष्ठे देवतरौ तथा।

महत् पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, स्योनाक, पाटला और गम्भारी—इन पांचों) की आठ २ अगुल लम्बी टहनिया (जो पृथक् २ अगुली के समान मोटी हों) लेकर रेशम के सूत्र अथवा वस्त्र से लपेट (बाध) कर तिल तैल से भिगोकर तर कर लेवे। पुन (इस काष्ठ समूह को एक किनारे से) अग्नि लगाकर जलावे। अग्नि के प्रज्वलित होने से वेष्टित काष्ठखण्डों के भीतर से विन्दुरूप से तैलस्राव होगा। उसको प्राप्त करने के लिये (काच अथवा चीनी का) पात्र नीचे धर देवे। इस में सचित तैल को थोडा सा गरम करके कान में डाले। इस दीपिका तैल के प्रयोग से कान की व्यथा शीघ्र नष्ट होती है। इसी प्रकार कूठ और देवदारु की टहनियों से तैल प्राप्त करे। इन से प्राप्त होने वाला तैल भी कर्ण रोगों को दूर करता है (इन उपर्युक्त वस्तुओं से प्राप्त तैल त्वक्रोग, कण्डू, पामा और दुष्ट व्रण प्रशमनार्थ भी व्यवहार में आते हैं) ॥१३९—१४०॥

१—'काण्डमष्टादशांगुलम्' इत्यपि पाठ।

स्योनाक तैल—

तैलं स्योनाकमूलेन मन्देऽग्नौ परिपाचितम् ॥१४१॥
हरेदाशु त्रिदोषोत्थं कर्णशूलं प्रपूरणात् ।

स्योनाक (अरलु) की त्वचा के कल्क से मन्दाग्नि द्वारा तैल पाक करे। इस तैल को कान में डालने से तीनों दोषों से उत्पन्न (भयकर) शूल शात होता है।

वक्तव्य—पाकार्थ—तिलतैल १ सेर, कल्कार्थ—अरलु की छाल शिलापेषित १ पाव, उभय पाकार्थ—जल ४ सेर। मन्दाग्नि से जल समाप्त होने पर्यन्त पाक करे। इस का मध्यपाक उत्तम होगा।

कर्णनादनाशक तैल—

कल्कक्काथेन यष्ट्याह्वकाकोलीमाषधान्यकैः ॥१४२॥
सूकरस्य वसां पक्त्वा कर्णनादार्तिनाशिनी ।

मुलेठी, काकोली, उडद, धान—इन चारों का कल्क तथा इन्ही का क्काथ बनाकर यथाविधान सूअर की चर्वी का पाक करे। इसका प्रयोग कर्णनाद (कान में अनेक प्रकार के शब्दों का सुनाई देना) तथा आर्ति (पीडा) को नष्ट करता है।

वक्तव्य—पाकार्थ—सूअर की चर्वी १ सेर, कल्कार्थ—मधुयष्ट्यादि चारों द्रव्य मिश्रित १ पाव, क्काथार्थ—मधुयष्ट्यादि चारों द्रव्य मिश्रित २ सेर, क्काथ पाकार्थ—जल १६ सेर, अवशिष्ट क्काथ ४ सेर। प्रथम क्काथ पाक करे। तत्पश्चात् कल्क पाक के लिये शुद्ध जल ४ सेर डालकर शनै २ पकावे। यथाविधान सिद्ध होने पर वस्त्रद्वारा छानकर प्रयोग करे।

स्वर्जिकादि तैल कर्णरोग पर—

स्वर्जिका मूलकं शुष्कं हिङ्गु कृष्णासमन्वितम् ॥१४३॥
शतपुष्पा च तैस्तैलं पक्वं सूक्तचतुर्गुणम् ।
प्रणादं शूलबाधिर्यं स्रावं कर्णस्य नाशयेत् ॥१४४॥

सज्जीखार, सूखी हुई मूली, हीग, कालीपीपल और मीठी सौंफ—इन सब का मिश्रित कल्क (शिलापेषित) तैल (तिलज) से चतुर्थांश और सूक्त (सिरका अथवा कांजी) तैल से चतुर्गुण डालकर यथाविधान तैल सिद्ध करे। सुसिद्ध होने पर यथाविधान इस तैल को कान में डालने से कर्णनाद (कान में अनेक प्रकार के शब्दों का सुनाई देना), शूल (पीडा), बाधिर्य (बहरापन अथवा ऊंचा सुनाई पड़ना), स्राव (कान का बहना)—यह सब रोग नष्ट होते हैं ॥१४३—१४४॥

बाधिर्य पर अपामार्ग तैल—

अपामार्गक्षारजले तत्क्षारं कल्कितं क्षिपेत् ।
तेन पक्वं जयेत्तैलं बाधिर्यं कर्णनादकम् ॥१४५॥

अपामार्ग (ओंगा या चिरचिटा) के क्षार को जल में घोलकर तैल से चौगुना क्षारोदक तैयार करे और अपामार्ग के पञ्चाङ्ग को शिलापेषित करके तैल (तिलज) से चतुर्थांश डाले। सब को एक उत्तम पात्र में डालकर मन्दाग्नि से पाक करे। सिद्ध होने पर इस को कान में डालने से बहिरापन और कर्णनाद (कान में अनेक स्वरों के शब्दों का होना) दूर होते हैं ॥१४५॥

वक्तव्य—पाकार्थ—तिलतैल एक सेर, क्षारोदकार्थ—अपामार्गक्षार आधा सेर, जल ४ सेर, कल्कार्थ—अपामार्ग पञ्चाग १ पाव। यथाविधान सब को मिला कर पाक करे। इसके पाकांत में सिद्धतैल नष्टदुग्धाकृति का प्राप्त होगा। उस को ग्रहण कर लेवे। जब प्रयोग करना हो, थोड़ा सा तैल (वही नष्टदुग्धाकृति पदार्थ) चमचा में डालकर गरम करके कान में डाला करे।

कान के नासूर पर शम्बूक तैल—

शम्बूकस्य तु मांसेन पचेत्तैलं तु सार्षपम् ।
तस्य पूरणमात्रेण कर्णनाडी प्रशाम्यति ॥१४६॥

पाकार्थ—सरसों का तैल १ पाव, शम्बूक मास (छोटे २ शख और सिप्पियों को जन्म देने वाले क्रिमि इन में रहते हैं, उनका मांस अर्थात् वही कीट जो इन्हें बनाते हैं) १ पाव। दोनों को कड़ाही में डालकर मन्द आच से पकावे। इस प्रकार सुसिद्ध तैल से कर्णपूरण करने से कर्णनाडी (कान का नासूर, इस रोग में कान चिरकाल तक बहता रहता है) की व्याधि नष्ट होती है ॥१४६॥

वक्तव्य—अन्य पुस्तकों में शम्बूक तैल को शम्बूक के मास के क्वाथ से सिद्ध किया गया है। परन्तु हम ने अपने सम्प्रदायानुसार ऊपर का विधान वर्णन किया है। इस प्रकार के तैल पाकों का वर्णन बृहत् संहिताओं में विद्यमान है।

उदाहरणार्थ—

छुछुन्दर्य्यां विपक्वं तु क्षणात्तैलवरं ध्रुवम् ।
अभ्यगान्नाशयेत्क्षिप्रं गण्डमालां सुदारुणाम् ॥ (सुश्रुत चिकित्सा

कर्णस्राव नाशक योग—

चूर्णं पञ्चकषायाणां कपित्थरसमेव च ।
कर्णस्रावे प्रशंसन्ति पूरणं मधुना सह ॥१४७॥

कषाय रस प्रधान पाच वृक्षों के चूर्ण को कपित्थ (कैंथ) के रस में प्लुत करके शहद मिलाकर कान में डाले। इससे कर्णस्राव (कान का बहना) बन्द होता है।

वक्तव्य—इस श्लोक की सगति में भी मत भेद है। कई आचार्य इस के तीन योग करते हैं। यथा—१—पच कषाय वृक्षों के त्वक् का चूर्ण कान मे बुरकना, २—कपित्थ रस और मधु कान में डालना, ३—जो ऊपर टीका में दिय गया है। गुणत तीनों उत्तम और व्यवहृत हैं।

पञ्च कषाय—

तिन्दुकान्यभया लोध्रः समङ्गा चामलक्यपि ।
ज्ञेया पञ्च कषायास्तु कर्मण्यस्मिन्भिषग्वरैः ॥१४८॥

तिन्दुक (तेन्दु, मधुर), हरीतकी, पठानी लोध, मजीठ और आमले—इन के वृक्षों (की त्वचा छाल) के चूर्ण को इस कार्य में अनुभवी चिकित्सक प्रयोग करे ॥१४८॥

वक्तव्य—अन्य आचार्य आरग्वध, शिरीष, जामुन, अश्वत्थ और शालवृक्ष—इन को पञ्चकषाय से ग्रहण करते हैं ।

स्वर्जिकादि योग—

स्वर्जिकाचूर्णसंयुक्तं बीजपूररसं क्षिपेत् ।
कर्णस्रावरुजादाहाः प्रणश्यन्ति न संशयः ॥१४९॥

बिजोरा निम्बु के रस के साथ सज्जीखार को मिलाकर कान में डालने से कर्णस्राव, कान की पीडा और कान की जलन अवश्य नष्ट होती है। इस में कोई सन्देह नही ॥१४९॥

आम्रादि तैल—

आम्रजम्बूप्रवालानि मधुकस्य वटस्य च ।
एभिः संसाधितं तैलं पूतिकर्णोपशान्तिकृत् ॥१५०॥

आम, जामुन, महुआ और बड़—इन चारों वृक्षों के कोमल २ पत्तों को पीसकर तैल से चतुर्थांश कल्क देवे और तैल से चतुर्गुण पाकार्थ जल देकर यथाविधान तैल सिद्ध करके प्रयोग करे। इससे कान की दुर्गन्ध (यह दुर्गन्ध कर्णस्राव में हुआ करती है) नष्ट होती है ॥१५०॥

कर्णकीटनाशक योग—

पूरणं हरितालेन गवां मूत्रयुतेन च ।
अथवा सार्षपं तैलं कर्णकीटहरं परम् ॥१५१॥

गौ के मूत्र में हरिताल (वर्किया) को घिस कर कान में डालने से अथवा केवल सरसों का तैल कान में डालने से कर्णकीट (कान में उत्पन्न हुआ अथवा कान में घुसा हुआ) नष्ट होता है ॥१५१॥

वक्तव्य—वृद्धवैद्य इस को इस प्रकार बनाते हैं—हरिताल को गौ के मूत्र में घिसकर सरसों के तैल में चतुर्गुण गोमूत्र डाल कर पकावे और प्रयोग करे।

कर्णकीटहर अन्य योग—

स्वरसं शिग्रुमूलस्य सूर्यावर्तरसं तथा ।
त्र्यूषणं चूर्णितं चैव कपिकच्छूजटारसम् ॥१५२॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

शोणितस्राव की विधि —

शोणितं स्रावयेज्जन्तोरामयं प्रसमीक्ष्य च ।
प्रस्थं प्रस्थार्धकं वापि प्रस्थार्धार्धमथापि वा ॥१॥

कुष्ठ, वातरक्त, विसर्प एव अन्य रुधिर के प्रकोप अथवा रक्ताधिक्य से होने वाले रोग और दोष तथा रोगी की प्रकृति और उसके शरीर के वल को भली प्रकार देखकर (समझ कर) रुधिर स्राव की व्यवस्था करे । रुधिर निकालने का परिमाण १ प्रस्थ (१३॥ पल, ऽ॥=४ तोले) अथवा आधा प्रस्थ (ऽ।-२ तोले) अथवा ¼ प्रस्थ (ऽ=३॥ तोले) हो ॥१॥

वक्तव्य—वलिनो वहुदोपस्य वयःस्थस्य शरीरिणः ।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे ॥ (सुश्रुत)

एक प्रस्थ रुधिर उस रोगी के शरीर से निकलवावे जिसको प्रवल रोग हो एव जिसका शरीर पूर्ण वलयुक्त हो । आधा प्रस्थ रुधिर निकालने के लिये मध्य दोप और मध्य वल मनुष्य होना चाहिये । एवं ¼ प्रस्थ उस रोगी के शरीर से रुधिर निकलवावे जिस के शरीर में हीनदोषारब्ध व्याधि हो और जिसका शरीर हीनवल हो ।

रक्तस्राव एक उत्तम चिकित्सा है । आयुर्वेदज्ञ चिकित्सक इसका व्यवहार आदि काल से करते चले आये हैं । यह विधि आयुर्वेदीय सिद्धात 'वृद्धा दोषा. निर्हर्तव्या' का ज्वलंत उदाहरण है । दोषनिर्हरण विधियों में जहा वमन विरेचनादि का वर्णन है वहा यदि उन्छ्रित दोषों अथवा रोगों की शान्ति वमन विरेचनादि से न हो तव वहा रक्त मोक्षण एक उत्तम फलदायक उपाय सिद्ध होता है । दैहिक दशा के दुर्वल होने तथा चिकित्सकों के अनभ्यास के कारण रक्तमोक्षण विधि का प्रचार यत्र तत्र सूक्ष्मतया ही दृष्टिगोचर होता है परन्तु फिर भी ऐसे वहुत से रोग होते हैं जिन का उत्तम और अनिवार्य उपाय रक्त-मोक्षण होता है । ऐसे रोग मनुष्य की प्रकृति और देशभेदानुसार स्थिरता प्राप्त करते हैं ।

शरीर के किस स्थान से रक्तमोक्षण हो और कौन सी शिरा बीधनी है ? उसमें से कितना रक्त निकालना है ? शिरावेध का विस्तृत प्रकार क्या है ? पश्चात् के कर्तव्य क्या हैं ? इत्यादि परमावश्यक वातों का पूर्ण ज्ञान और अभ्यास गुरु से प्रत्यक्ष प्राप्त करके इस कार्य में अग्रसर होना चाहिये । अन्यथा लाभ और यश के स्थान पर हानि और अपयश प्राप्त होगा । क्योंकि—

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्य्यते ।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्य रक्तं जीव इति स्थितिः ॥

रक्तस्राव का समय—

शरत्काले स्वभावेन कुर्याद्रक्तस्रुतिं नरः ।
त्वग्दोषग्रन्थिशोथाद्या न स्यू रक्तस्रुतेर्यतः ॥२॥

जिन रोगियों को रक्तस्रावसाध्य व्याधिया हों अथवा जिन्हें 'फसद' खुलवाने का स्वभाव (आदत) हो, उन्हें शरत्काल (आश्विन कार्त्तिक) में रक्तस्राव (फसद) करना चाहिये । इस से त्वक्दोष (जिलदी बीमारिया—फोडा, फुंसी, कंडू आदि), ग्रन्थि (गाठ) और शोथ (सूजन) आदि नही होती ॥२॥

रुधिर का स्वभाव—

मधुरं वर्णतो रक्तमशीतोष्णं तथा गुरु ।
शोणितं स्निग्धविस्रं स्याद्विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥३॥

शुद्ध रक्त स्वाद में (शर्करांश रहने के कारण) मधुर होता है, वर्ण (रंग) में लाल अशीतोष्ण (न निरन्तर शीत और न निरन्तर उष्ण) होता है और गुरु (भारी) होता है । रुधिर चिकना और आम गन्ध से युक्त होता है तथा पित्त के सदृश इस में दाह (रुधिर में अत्यधिक पित्तमिश्रण होने से) शक्ति भी होती है ।

रुधिर में पञ्चमहाभूतों के गुण—

विस्रता द्रवता रागश्चलनं विलयस्तथा ।
भूम्यादिपञ्चभूतानामेते रक्तगुणाः स्मृताः ॥४॥

रुधिर में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पचमहाभूतों की स्थिति इस प्रकार मानी जाती है । यथा—रुधिर में विस्रता—आमगन्धिता अथवा विगन्धता—यह पृथ्वी का गुण है, रुधिर में द्रवता—पतलापन जल का गुण है, रागता (लाली)—यह अग्नि का गुण है, चलन (नैकत्रस्थितिशीलत्वमयम्) अर्थात प्रसरणशीलता—यह वायु का गुण है, विलयन (लीनता)—आकाश का गुण है । इस प्रकार पृथिव्यादि पचमहाभूतों के गुण रुधिर में होते हैं ॥४॥

वक्तव्य—विस्रता द्रवता रागः स्यन्दनं लघुता तथा ।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥ (सुश्रुत)

दूषित रुधिर के लक्षण—

रक्ते दुष्टे वेदना स्यात्पाको दाहश्च जायते ।
रक्तमण्डलता कण्डूः शोथश्च पिटिकोद्गमः ॥५॥

जब शरीर में रक्त दूषित (विकृत) होता है तब शरीर में पीडा (यह एक अग अथवा सर्वाङ्ग में हो सकती है) होती है, पाक और दाह (यह भी शरीर

के किसी अवयव में अथवा समग्र शरीर में) होते हैं, शरीर में लाल २ मण्डल (चकत्ते) उत्पन्न हो जाते हैं तथा शरीर में कण्डू (खाज), सूजन और पिटिका (छोटी छोटी फुन्सियां) हो जाती हैं ॥५॥

रुधिर की वृद्धि के लक्षण—

वृद्धे रक्ताङ्गनेत्रत्वं शिराणां पूरणं तथा ।
गात्राणां गौरवं निद्रा मदो दाहश्च जायते ॥६॥

(अत्युष्ण आहार विहार के प्रयोग अथवा धूप एवं तीक्ष्ण मद्यादि के अभ्यास से जब शरीर में) रुधिर की अधिकता होती है तब शरीर का प्रत्येक अंग और आंखें लाल वर्ण की हो जाती हैं तथा शरीर की शिराएं (जिनमें दूषित रक्त बहता है) फूल जाती हैं, शरीर के अंग भारी (और मोटे) हो जाते हैं, निद्रा अधिक आती है, हर समय मद चढा हुआ सा प्रतीत होता है तथा शरीर में दाह (जलन) होता है ॥६॥

क्षीण रुधिर के लक्षण—

क्षीणेऽम्लमधुराकांक्षा मूर्च्छा च त्वचि रूक्षता ।
शैथिल्यं च शिराणां स्याद्वातादुन्मार्गगामिता ॥७॥

शरीर में जब (आवश्यकता से न्यून) रुधिर क्षीण (कम) हो जाता है तब खट्टी और मीठी वस्तुए खाने की इच्छा होती है (कारण कि शरीर में जो धातु कम हो जाती है उस को पूर्ण करने वाले द्रव्यों के खाने की प्रबलेच्छा की उत्पत्ति स्वाभाविक होती है), बेहोशी और त्वचा में रूक्षता (खुशकी) जान पडती है, (दूषित रुधिर वहन करने वाली) शिराओं में शिथिलता (ढीलापन) होती है और वातवृद्धि से उन्मार्गगामिता की अवस्था जान पडती है ॥७॥

वातदूषित रक्त के लक्षण—

अरुणं फेनिलं रूक्षं परुषं तनु शीघ्रगम् ।
अस्कन्दि सूचिनिस्तोदि रक्तं स्याद्वातदूषितम् ॥८॥

वायु से दूषित (विकृत) रक्त ईषद् लाल वर्ण का, झागदार, रूक्ष (चिक्कणता से रहित), परुष (पिच्छिलता से रहित), तनु (पतला), शीघ्रगमनशील (आशु प्रसरणशील), अस्कन्दि (स्त्यानरहित अर्थात् न जमने वाला) तथा गात्रों में सूई चुभोने की सी पीडा करने वाला होता है। इन लक्षणों के होने से रक्त में वाताधिक्य जाना जाता है ॥८॥

पित्तदूषित रक्त के लक्षण—

पित्तेन पीतं हरितं नीलं श्यावं च विस्रकम् ।
अस्कन्द्युष्णं मक्षिकाणां पिपीलानामनिष्टकम् ॥९॥

पित्तदूषित रक्त पीला, हरा, नीले वर्ण का, श्यामप्रभ, आम (पृथ्वी की) गन्धयुक्त, तथा अस्कन्दि (स्त्यान रहित) और उष्ण (गरम) होता है। एव पित्त दूषित रक्त मक्षियों और पिपीलिकाओं (चिऊँटियों) को प्रिय (खाद्य) नहीं होता।

कफदूषित रुधिर के लक्षण—

शीतलं वहलं स्निग्धं गैरिकोदकसन्निभम् ।
मांसपेशीप्रभं स्कन्दि मन्दगं कफदूषितम् ॥१०॥

कफ से दूषित रुधिर शीत (स्पर्श और वीर्य में अपेक्षाकृत शुद्ध रुधिर से ठडा), वहल (स्थूल-साधारणावस्था से अधिक गाढा), स्निग्ध (चिक्कणता वहुल) और वर्ण में गेरी मिट्टी के जल के समान तथा मासपेशी सदृश (जमा हुआ खण्डात्मक पाण्डुलोहित वर्ण), स्कन्दि (जमने वाला) तथा मन्दगति से चलने वाला होता है ॥१०॥

द्विदोष तथा त्रिदोषदूषित रक्त के लक्षण—

द्विदोषदुष्टं संसृष्टं त्रिदुष्टं पूतिगन्धकम् ।
सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं च जायते ॥११॥

दो दोषों से दूषित रक्त (जिन दो दोषों से दूषित हो, उन) दोनों दोषों के लक्षणों से युक्त होता है और त्रिदुष्ट (तीनों दोषों से) दूषित रक्त पूति (सडी हुई) गन्ध वाला होता है और सब दोषों से दूषित (न्यूनाधिक) लक्षणों के साथ २ काजी के वर्ण का सा होता है ॥११॥

विषदूषित रक्त के लक्षण—

विषदुष्टं भवेच्छयावं नासिकोन्मार्गगं तथा ।
विस्रं काञ्जिकसंकाशं सर्वकुष्ठकरं वहु ॥१२॥

विषदूषित रक्त काले वर्ण का, नासा मार्ग से प्रवृत्त, आम गन्धयुक्त तथा काजी के वर्ण का, एव अत्यधिक दूषित हुआ होता है। यह सब प्रकार के कुष्ठों को उत्पन्न करने वाला होता है ॥१२॥

शुद्धरक्त के लक्षण—

इन्द्रगोपप्रभं ज्ञेयं प्रकृतिस्थमसंहतम् ।

जिस रुधिर में किसी विशेष दोष का प्राधान्य न हो वह वीरवहूटी के वर्ण के समान शुद्ध लाल रग का होता है तथा प्रकृतिस्थ (शुद्ध) रक्त असंहत (पतला) होता है।

रुधिरस्रावसाध्य रोग—

शोथे दाहेऽङ्गपाके च रक्तवर्णेऽसृजः स्रुतौ ॥१३॥
वातरक्ते तथा कुष्ठे सपीडे दुर्जयेऽनिले ।

पाणिरोगे श्लीपदे च विपदुष्टे च शोणिते ॥१४॥
ग्रन्थ्यर्बुदापचीक्षुद्ररोगरक्ताधिमन्थिषु ।
विदारीस्तनरोगेषु गात्राणां सादगौरवे ॥१५॥
रक्ताभिष्यन्दतन्द्रायां पूतिघ्राणास्यदेहके ।
यकृत्प्लीहविसर्पेषु विद्रधौ पिटिकोद्गमे ॥१६॥
कर्णौष्ठघ्राणवक्त्राणां पाके दाहे शिरोरुजि ।
उपदंशे रक्तपित्ते रक्तस्रावः प्रशस्यते ॥१७॥

शोथ (सूजन), दाह (जलन), रक्तवर्ण का अगपाक तथा अगदाह (दाह के कारण शरीर के रक्त होने पर), वातरक्त एवं रक्तपित्त रोग तथा कुष्ठ, पीड़ा-युक्त अत्यन्त कष्ट से जीतने योग्य वातजनित विकार, हाथों के दाह, श्लीपदरोग, विषदूषित रक्त, ग्रन्थि (शरीर पर गाठों का होना), अर्बुद (रसौली), अपची, क्षुद्ररोग (अरुषिकादि), रक्ताधिमन्थ (रक्ताधिक्य के कारण नेत्रों का दुखना), विदारी, स्तनरोग, शरीरावयवों की शिथिलता तथा शरीर का भारीपन, रक्ताभिष्यन्द, तन्द्रा, नाक, मुख और शरीर से दुर्गन्ध का आना, यकृतविकार, प्लीहावृद्धि, विसर्परोग, विद्रधी (शोथ), अगों पर फुन्सियों का होना, कान ओंठ नाक और मुख—इनके पकने पर, अगों में दाह और शिर में पीडा होने पर तथा उपदश और रक्तपित्तादि (रोमान्तिकी गति) रोगों में रक्तस्राव (फसद खोलना) हितकर होता है ॥१३—१७॥

रक्तस्राव की विधि —

एषु रोगेषु शृङ्गैर्वा जलौकालाबुकैरपि ।
अथवापि शिरामोक्षैः कुर्याद्रक्तस्रुतिं नरः ॥१८॥

ऊपर कहे हुए रक्तस्राव साध्य रोगों में सीग, जोंक, तूंबी अथवा शिरा-मोक्षण विधि से (जहा जिस की आवश्यकता हो अनुभवी वैद्य उसी विधि की सहायता से) रक्तस्राव करे ॥१८॥

वक्तव्य—रक्तस्राव का विधान अत्यन्त सावधानता से करने योग्य होता है। दृष्टकर्मा वैद्य को ही इस उपाय का अवलम्बन करना श्रेयस्कर होता है। अनुभव रहित चिकित्सक रोगियों के प्राण नष्ट कर देते हैं। कारण कि उन्हें रक्त के न्यूनाधिक निकलने का ज्ञान नही होता। रक्तस्राव में प्रवृत्त वैद्य सुश्रुत के इस वाक्य को सर्वदा स्मरण रखें।

नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते ।
शिराणां व्यधन कार्यमरोगे वा कदाचन ॥

अन्यच्च—व्यभ्रे वर्षासु विध्येत ग्रीष्मकाले तु शीतले
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रय स्मृता

अन्यत्र—यथा कुसुम्भपुष्पेषु पूर्वं स्रवति पीतिका ।
तथा शिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते ॥
अन्यत्र—मूर्च्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृषितस्य च ।
न वहन्ति शिरा विद्धास्तथानुत्थितयन्त्रिता ॥
अन्यत्र—रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः ।
न चातिप्रस्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत् ॥
अन्यत्र—वलिनो वहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः ।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे ॥

रक्तस्राव के अयोग्य रोगी—

न कुर्वीत शिरामोक्षं कृशस्यातिव्यवायिनः ।
क्लीवस्य भीरोर्गर्भिण्याः सूतिकापाण्डुरोगिणाम् ॥१९॥
पञ्चकर्मविशुद्धस्य पीतस्नेहस्य चार्शसाम् ।
सर्वाङ्गशोथयुक्तानामुदरश्वासकासिनाम् ॥२०॥
छर्द्यतीसारयुक्तानामतिस्विन्नतनोरपि ।
ऊनषोडशवर्षस्य गतसप्ततिकस्य च ॥२१॥
आघातस्रुतरक्तस्य शिरामोक्षो न शस्यते ।
एषां चात्ययिके रोगे जलौकाभिस्तु निर्हरेत् ॥२२॥

कृश (अत्यन्त दुर्वल) मनुष्य, एवं जो मैथुन में अधिक प्रवृत्ति रखता हो, नपुंसक हो, भयभीत हो, गर्भिणी स्त्री, प्रसूता स्त्री, पाण्डुरोगी, जिस ने पञ्चकर्म (स्नेहपान, स्वेद, वमन, विरेचन तथा वस्ति प्रयोग) किया हो अथवा केवल स्नेहपान किया हो, ववासीर के रोगी, सर्वाङ्ग में जिस के सूजन हो, उदर रोग से पीड़ित, श्वास और कास से पीडित, छर्दि (कय) और अतीसार युक्त रोगी अथवा जिस को अत्यधिक स्वेद दिया गया हो, एवं जिसकी आयु १६ वर्ष से न्यून और ७० वर्ष से ऊपर हो, जिसके किसी प्रकार के वाह्याघात से रुधिर स्राव हो रहा हो—ऐसे रोगियों का रक्तमोक्षण न करे। यदि उपर्युक्त रोगियों को ऐसे रोग हों जो रक्तस्राव के बिना साध्य न हों तो अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर इनका रक्त जोंक लगवा कर निर्हरण करे ॥१९—२२॥

वातादि दोषों के अनुसार रक्तनिर्हरण—

तथा च विषदुष्टानां शिरामोक्षोऽपि शस्यते ।
गोशृङ्गेण जलौकाभिरलावुभिरपि त्रिधा ॥२३॥
वातपित्तकफैर्दुष्टं शोणितं स्रावयेद्बुधः ।

द्विदोषाभ्यां तु संदुष्टं त्रिदोषैरपि दूषितम् ॥२४॥
शोणितं स्रावयेद्युक्त्या शिरामोक्षैः पदैस्तथा ।

एव यदि उपर्युक्त रोगियों (अथवा उन से भिन्न रोगियों) का रक्त विष के प्रभाव से दूषित (विकृत) हो तो रक्तस्राव शिरामोक्ष द्वारा हित होता है। गोशृङ्ग, जोंक और अलावु (बीबी)—यह तीन विधिया साधारणतया रक्तस्राव में प्रयुक्त होती हैं। यदि वातदोप से दूषित रक्त निकालना हो तो गोशृङ्ग के प्रयोग से निकाले, यदि पित्तदूपित रुधिर निकालना हो तो जोंक लगाकर निकाले और यदि कफ दोप से दूपित रक्त निकालना हो तो अलावु (बीबी अथवा बीबडियों) से रक्त स्राव करे। एवं यदि रुधिर दो दोषो से अथवा तीनों दोषों से दूषित हो तो (अनुभवी वैद्य) शिरामोक्ष अथवा पछने की युक्ति (विधि) से निकाले ॥२३-२४॥

वक्तव्य—पुराने आविष्कारकों द्वारा आविष्कृत शृंग, जलौका और अलावु प्रयोग की यह तीनों विधिया प्राय निरापद हैं। कारण कि इन विधियों से अत्यधिक रक्तस्राव नही होता।

शृंग—इस विधान में गौ, बकरी, भेड और हिरण का सीग प्रयुक्त होता है। सीग का वह भाग जो प्राणि के शरीर से चिपटा होता है उसे यथाकाल ग्रहण करके घिस लिया जाता है और ठीक सम गोलाई में बना लिया जाता है। सींग के ऊपर का संकुचित भाग थोडा सा काटकर उसके मुख (अग्र) भाग को भी घिसकर ठीक गोल बना लिया जाता है। प्रयोग काल में रोगी के शरीर के उस स्थान पर, जहा से रक्त निकालना हो, पछने से ५—७ पच्छ लगाकर सीग के चौडे भाग को प्रच्छित स्थान पर लगाकर जोर से दबाया जाता है और सींग के ऊपर वाले छोटे छिद्र में मुख लगाकर पूर्ण बल के साथ आचूषण (अन्दर की ओर खीचना) किया जाता है। इस प्रकार करने से प्रच्छित मार्ग से रुधिर मुख की वायु से ऊपर की ओर खीचा जाता है और पुन इसे बाहिर निकाल दिया जाता है। जब तक आवश्यकता हो इसी विधि से सीग का प्रयोग किया जाता है।

जलौका प्रयोग—शास्त्रकारों ने १२ प्रकार की जोंकों का वर्णन किया है। उनमें ६ प्रकार की जोंकें विषयुक्त होती हैं। विषयुक्त जोंक रुधिर निकालने में ग्रहण नही की जाती। इन से भिन्न विषरहित जोंकें भी ६ प्रकार की होती हैं। निर्विष जोंकें रक्तावसेचन में प्रशस्त मानी गई हैं।

सविष जोंकों के नाम—

तत्र सविषाः कृष्णा कर्बुरा अलगर्दा इन्द्रायुधा सामुद्रिका गोचन्दना चेति। (सु० सू० अ० १३)

विषयुक्त जलौका के लक्षण—

१ तास्वञ्जनचूर्णवर्णा पृथुशिराः कृष्णा। २ वर्मिमत्स्यवदायता

छिन्नोन्नतकुक्षिः कर्बुरा । ३ रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुख्यलगर्दा । ४ इन्द्रायुधवदूर्ध्वराजिभिश्चित्रिता इन्द्रायुधा । ५ ईषदसितपीतिका विचित्रपुष्पाकृतिचित्रा सामुद्रिका । ६ गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणुमुखी गोचन्दनेति ।

यदि प्रमाद अथवा अज्ञान से रक्तस्रावणार्थ विष युक्त जलौकावचारण की जावें तो यह दोष उत्पन्न होते हैं—

'ताभिर्दष्टे पुरुषदंशश्वयथुरतिमात्रं कण्डूर्मूर्च्छा ज्वरो दाहश्छर्दिर्मदः सदनमिति लिङ्गानि भवन्ति'।

ऐसे विकार उत्पन्न होने पर सुश्रुत कल्प स्थानोक्त 'महागद' नामक प्रयोग के यथोचित पीने, लगाने, नस्य और धूपन करने से जलौकोद्भव विष की शान्ति होती है ।

विष रहित जोंकों के नाम—

'अथ निर्विषाः—कपिला पिंगला शंकुमुखी मूषिका पुण्डरीकमुखी सावरिका चेति'। (सु० सू० १३ अ०)

इन के लक्षण—

१ तत्र मन शिलारञ्जिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धमुद्गवर्णा कपिला । २ किञ्चिद्रक्ता वृत्तकाया पिंगाशुगा च पिंगला । ३ यकृद्वर्णा शीघ्रपायिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी शंकुमुखी । ४ मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च मूषिका । ५ मुद्गवर्णा पुण्डरीकतुल्यवक्त्रा पुण्डरीकमुखी । ६ स्निग्धा पद्मपत्रवर्णाऽष्टादशाङ्गुलप्रमाणा सावरिका च पश्वर्थे ।

त्याज्य जलौका के लक्षण—

रोमपृष्ठा च कपिला रक्तरेखा च दुर्बला ।
वर्जनीया विशेषेण भिषजा कीर्त्तिमिच्छता ॥

अन्यच्च—स्थूलमध्याः परिक्लिष्टा पृथ्व्यो मन्दविचेष्टिताः ।
अग्राहिण्योल्पपायिन्यः सविषाश्च न पूजिताः ॥

जलौका शोधन—

चिरन्तन जलौकान्तु ताम्रपात्रेषु रक्षयेत् ।
चतुर्माष निशाच्चूर्णं जलाष्टकपले क्षिपेत् ॥
तस्मिन् क्षिपेज्जलौकां तां स्वयं लालां परित्यजेत् ।
त्यक्तलाला जलौका च सा योज्या रक्तमोक्षणे ॥

जलौकावचारण विधि —जिस स्थान पर जोंक लगानी हो उस स्थान को प्रथम मिट्टी और गोवर से लीप कर शुष्क वस्त्र से पोंछ कर यथाविधि शुद्ध जोंकों को गीले कपड़े में ग्रहण करके चिपका देवे अथवा जोंक को पकड कर उसका मुख उस स्थान पर लगा देवे । इस प्रकार वह चिपट जाती है । जब यह रक्त

से पूर्ण हो जाती हैं तब स्वयं ही दंशस्थान से छूट जाती हैं। ऐसे स्थान पर शुद्ध हलदी का चूर्ण लगा कर वस्त्र खण्ड रख कर पट्टी बाध देवे। इसी प्रकार दूसरे दिन भी लगावे।

अलाबु—(तोंबी) इसका प्रयोग कूजा अथवा 'कपिगलास' की तरह होता है। जिस स्थान पर अलाबु प्रयोग करना हो उस स्थान को पोछ कर पछ लगा देवे। एक छोटा सा वस्त्र खड प्रज्वलित कर के अलाबु में डाल देवे और उसे तत्काल उलटा करके साफ किये हुए स्थान पर लगा देवे। इस से प्रच्छित मार्ग से रुधिराकर्षण होता है।

शृंग, जलौका और अलाबु प्रयोग में कारण—

उष्णं समधुरं स्निग्धं गवां शृङ्गं प्रकीर्त्तितम्।
तस्माद्वातोपसृष्टे तु हित तदवसेचने॥

पित्तार्थ—शीताधिवासा मधुरा जलौका वारिसम्भवा।
तस्मात्पित्तोपसृष्टे तु हिता सा त्ववसेचने॥

श्लेष्मार्थ—अलाबु कटुकं रूक्ष तीक्ष्णं च परिकीर्तितम्।
तस्माच्छ्लेष्मोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने॥

शृगादि से रक्ताकर्षण—

गृह्णाति शोणितं शृङ्गं दशाङ्गुलमितं बलात् ॥२५॥
जलौका हस्तमात्रं तु तुम्बी च द्वादशाङ्गुलम्।
पदमङ्गुलमात्रस्य शिरा सर्वाङ्गशोधिनी ॥२६॥

उत्तम विधि से सीग का प्रयोग करने से प्रयुक्त स्थान से सीग दश २ अंगुल परिमित चारों ओर के समीपवर्ती स्थान से बलपूर्वक रुधिर खींच लेता है। एवंविध जोंक एक हाथ परिमित चारों ओर के स्थान से रुधिर आकर्षण करती है तथा तूम्बी १२ अंगुल तक आस पास के स्थान का रुधिर खैंचती है और पद (उस्तरे द्वारा लगाया हुआ पच्छ) एक अंगुल परिमित आस पास की दूरी से रुधिर को खैंच लेता है, एवं शिरामोक्षण (फसद खोलना) सर्वांग (समग्र शरीर) रुधिर का शोधन (आकर्षण) करती है ॥२५—२६॥

वक्तव्य—शृगादि के प्रयोग में एक और रहस्य इस प्रकार है—

अवगाढे जलौका स्यात्प्रच्छन्नं पिण्डिते हितम्।
शिरा च व्यापके रक्ते शृङ्गालावु त्वचि स्थिते॥

किन अवस्थाओं में रुधिर नहीं निकलता—

शीते निरन्ने मूर्च्छायां तन्द्राभीतिमदश्रमैः।
युतानां न स्रवेद्रक्तं तथा विण्मूत्रसङ्गिनाम् ॥२७॥

शीत ऋतु, शीत स्थान, और शीत दिवस में तथा निरन्नावस्था में (जब उपवास किया हो अथवा अधिक समय से भूख हो), एवं मूर्च्छा, तन्द्रा, भय, मद और थकावट से युक्त रोगियों के तथा विष्ठा, मूत्र और वायु की जिन्हें सम्यक् प्रवृत्ति न हो अथवा इनको धारण किया हो ऐसे मनुष्यों के शरीर से रक्तस्राव नही होता।

वक्तव्य— तन्त्रान्तरेऽप्युक्तम—

मदमूर्च्छाश्रमार्तानां वात विण्मूत्रसङ्गिनाम् ।
निद्राऽभिभूतभीतानां नृणां नाऽसृक् प्रवर्तते ॥

रक्त की अप्रवृत्ति में उपाय—

अप्रवर्तितरक्ते च कुष्ठत्रिकटुसैन्धवैः ।
मर्दयेद्व्रणवक्त्रं च तेन सम्यक् प्रवर्तते ॥२८॥

यदि उपर्युक्त शीतादि हेतुओ से रक्तस्रावार्थ किये गए व्रण से रक्तस्राव न हो तब कूठ का चूर्ण, काली पीपल का चूर्ण, काली मिरच का चूर्ण और सैन्धा नमक मिलाकर व्रण के मुख पर मर्दन करे। ऐसा करने से भली प्रकार रक्त प्रवृत्ति होती है (यह उपाय शिरामोक्षण के लिये है) ॥२८॥

शोणित मोक्षण का समय—

तस्मान्न शीते नात्युष्णे न स्विन्ने नातितापिते ।
पीत्वा यवागूं तृप्तस्य स्रावयेच्छोणितं बुधः ॥२९॥

अतएव शोणित मोक्षण के लिये वही समय उपयुक्त है, जब न अधिक शीत और न अधिक गरमी हो तथा जिसे स्वेद न दिया गया हो, जो श्रम तथा सूर्य, अग्नि आदि से तप्त न हो। ऐसे मनुष्य को यवागू पिला कर तृप्त (संतुष्ट) करके बुद्धिमान् वैद्य रक्तस्राव करावे ॥२९॥

वक्तव्य—त्यभ्रे वर्षासु विध्येत ग्रीष्मकाले तु शीतले ।
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयो मताः ॥ (सुश्रुत)

इस अवस्था के अनुसार समय निर्धारण करे।

रक्त की सम्यक् प्रवृत्ति के लक्षण—

लाघवं वेदना शान्तिर्व्याधेर्वेगपरिक्षयः ।
सम्यग्विस्राविते लिङ्गं प्रसादो मनसस्तथा ॥

अन्यच्च—सम्यग्गत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते ।
शुद्धं तदा विजानीयात्सम्यग्विस्रावितञ्च तत् ॥

शिरा मोक्षण में प्रथम कैसा रुधिर निकलता है—

यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका ।
तथा शिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते ॥

रक्त की अतिप्रवृत्ति में हेतु—

अतिस्विन्नस्योष्णकाले तथैवातिशिराव्यधात् ।
अतिप्रवर्तते रक्तं तत्र कुर्यात्प्रतिक्रियाम् ॥३०॥

जिस मनुष्य को अति स्वेद दिया गया हो तथा शिरा वेधन अत्यंत उष्ण काल (कडकती धूप अथवा धूप से सतप्त समय) में करने से एवं शिरा (फसद की रग) के अत्यधिक विद्ध होने (अथवा शस्त्रद्वारा शिरा मुख के अधिक खुले होने) से अत्यधिक रक्त प्रवृत्ति होती है। ऐसा होने पर उसकी प्रतिक्रिया (चिकित्सा) करे।

शोणितातिप्रवृत्ति की चिकित्सा—

अतिप्रवृत्ते रक्ते च लोध्रसर्जरसाञ्जनैः ।
यवगोधूमचूर्णैर्वा धवधन्वनगैरिकैः ॥३१॥
सर्पनिर्मोकचूर्णैर्वा भस्मना क्षौमवस्त्रयोः ।
मुखं व्रणस्य बद्ध्वा च शीतैश्चोपचरेद्व्रणम् ॥३२॥

शोणित स्रावार्थ शस्त्र द्वारा किये गये व्रणमार्ग से रुधिर की अति प्रवृत्ति (अतिस्राव) हो तब पठानी लोध, राल और काला सुरमा—इन तीनों को सूक्ष्म पीसकर तथा जौं और गोधूम (कणक) का चूर्ण मिलाकर सब को इकठ्ठा करके इस चूर्ण की एक चुटकी व्रण मार्ग पर रखकर दाब देवे अर्थात् चूर्ण की चुटकी हाथ की अंगुली से दबी रहे अथवा धव (वृक्ष की त्वचा के चूर्ण) और धामन (वृक्ष की त्वचा के) चूर्ण और गेरीमिट्टी—सब को समान भाग लेकर उपरोक्त विधि से प्रयोग करे। एव सांप की काचली की भस्म तथा रेशमी और कपासी कपडे की भस्म को व्रण स्थान पर रख देवे। इस से भी व्रणमार्ग बन्द होकर रक्त स्राव बन्द हो जाता है। एव व्रण के मुख को यथाविहित सूत्रादि से बाधकर शीतोपचार करे।

अन्य उपचार—

विध्येदूर्ध्वं शिरां तां च दहेत्क्षारेण वाग्निना ।
व्रणं कषायः संधत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम् ॥३३॥
व्रणास्यं पाचयेत्क्षारो दाहः संकोचयेच्छिराम् ।

रक्तबन्द करने के जो उपाय ऊपर दिये गये हैं उन से यदि रक्तस्राव बन्द न हो तो पूर्व के व्रण से कुछ ऊपर पुन शिरा के मध्य में व्रण करे (अर्थात् पुन विद्ध करे)। इस से भी रक्त स्राव बन्द होता है। अथवा क्षार प्रयोग वा अग्नि प्रयोग से दाह कर्म करे। कषाय (कषैला) रसप्रधान (सकोचक) औषधों को व्रण के मुखपर लगाने से रक्तस्राव बन्द होता है। शीतल उपचारों से रक्तगति स्कन्दित होती (ठहरती) है। क्षार प्रयोग से व्रण का मुख पाचित (कुथित होकर फूल जाता है जिस से रक्त बंद) होता है और अग्नि प्रयोग (अग्निद्वारा दग्ध) करने से विवृत शिरामुख संकुचित होता है ॥३३॥

वक्तव्य—वन्ध विधान—बाहु अथवा जङ्घा की शिरा से यदि अधिक रक्त स्राव हो और साधारण उपचार से लाभ न हो तो विवृत मुख शिरा को सदंश यन्त्र मे दृढ़तया पकड़ कर उसे कुछ बाहर की ओर खीचे और इसके आकर्षित भाग को रेशमी सूत्र से दृढ़ बांध देवे और उस अंग को ऊपर उठा देवे जिस से रक्तगति सहसा व्रण मुख तक न पहुच सके। ऐसा करने से तुरंत अत्यधिक रक्त स्राव वन्द हो जाता है।

ऊर्ध्व वेधन—यह उपचार अत्यन्त सावधानी से करने योग्य है। पूर्व के व्रण के ऊपर यदि व्रण करने की आवश्यकता हो तो पूर्व के व्रण स्थान से आठ या छ अंगुल की उंचाई पर व्रण किया जाता है और इसका मुख अत्यन्त स्वल्प होना चाहिये। इसका प्रभाव यह होता है कि वेगपूर्वक वहता हुआ रुधिर इसी स्वल्प मार्ग से निकलने का प्रयत्न करता है जिस से मार्ग की अल्पता के कारण रक्त निःसृति में अवश्य न्यूनता होती है।

क्षार प्रयोग—इस कार्य के लिये प्रतिसारणीय और पानीय दोनों क्षार प्रयुक्त होते हैं। इनके प्रयोग से व्रण मार्ग के तन्तु अत्यत शिथिल हो जाते हैं, जिस से रक्त को निकलने में अवश्य असुविधा होती है।

अग्नि प्रयोग—इस कार्य के लिए एक ऐसा लोह खण्ड लिया जाता है जो शुद्ध तथा स्वच्छ हो और जिसका अग्र भाग चान्दी की दुअन्नी भर चौड़ा हो। इस लोहशलाका को अग्निवत् लाल वर्ण का करके विवृत शिरामुख पर लगा दिया जाता है। इसके प्रभाव से व्रण स्थान के समीप के शिरातन्तु, मास और त्वचा का भाग फूल जाता है जिसके कारण से रक्त निकलने का मार्ग वन्द हो जाता है और रक्त निःसृति की गति थम जाती है। जब अन्य उपाय निरर्थक हों तब इनका उपयोग करे अन्यथा न करे।

अग्निदग्धसाध्य रोग—

वामाण्डशोथे दक्षस्य करस्यांगुष्ठमूलजाम् ॥२४॥
दहेच्छिरां व्यत्यये तु वामांगुष्ठशिरां दहेत् ।
शिरादाहप्रभावेण मुष्कशोथः प्रणश्यति ॥२५॥
विषूच्यां पार्ष्णिदाहेन जायतेऽग्नेः प्रदीपनम् ।
संकुचन्ति यतस्तेन रसश्लेष्मवहाः शिराः ॥२६॥
यदा वृद्धिर्यकृत्प्लीह्नोः शिशोः संजायतेऽसृजः ।
तदा तत्स्थानदाहेन संकुचन्त्यसृजः शिराः ॥२७॥

यदि मनुष्य के बायें अण्डकोष पर शोथ (सूजन) हो तो दाहने हाथ के अंगुष्ट के मूल (मणिबन्ध के समीप) में शिरा को दाग देवे। इसी प्रकार यदि

दक्षिणाण्डकोप में सूजन हो तब वाम हाथ के अगुष्ठ मूल में शिरा दहन करे। इस प्रकार शिरादाह करने से अण्डकोषों की सूजन नष्ट होती है। एवंविध विसूचिका (हैजे) के रोगी की एडी को अग्निदग्ध करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, जिस से रस तथा श्लेष्मादि वहन करने वाली शिराए (ग्रन्थियॉ) सकुचित होकर रोगी के प्राणों की रक्षा होती है। (यह क्रिया प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात् आती है। पार्ष्णिदाह से अभिप्राय एडी से ऊपर और गुल्फ के नीचे की कण्डरा से है।) एवं जब अल्प अवस्था वाले बालकों के यकृत् और प्लीहा की वृद्धि रक्ताधिक्य के कारण हो तब वृद्धिगत स्थानों पर अग्नि दाह करने से रक्त वहन करने वाली शिराओं का संकोच होता है और यकृत् तथा प्लीहा की वृद्धि नष्ट होती है॥३४-३७॥

अत्यन्त रक्तस्राव का निषेध—

रक्ते दुष्टेऽवशिष्टेऽपि व्याधिर्नैव प्रकुप्यति ।
अतः स्राव्यं सावशेषं रक्तं नातिक्रमो हितः ॥३८॥

शरीर में दुष्ट रक्त के (स्वल्प मात्रा में) अवशिष्ट रहने से रोग का प्रकोप नही होता अत. रक्तस्राव सावशेष ही करे। निरवशेष करने का क्रम हितकर नही होता।

वक्तव्य—अनुभवी वैद्य रक्तस्राव के समय रोगी के सामने बैठ जाते हैं और देखते रहते हैं कि कब बन्द करना है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस दोष दुष्टि की शान्ति के लिये रक्तस्राव किया गया हो, उस दोष की प्रतीति रक्त में होती रहती है। वैद्य के लिये यह उपदेश दिया गया है कि रुधिर निकलते समय यह विचार न करे कि समस्त दोष निकल जायॅ तब बन्द करेंगे। क्योंकि समस्त दोष तब ही शान्त होंगे जब समस्त रुधिर की इतिश्री हो जायगी। ऐसा होने से रोगी की मृत्यु अवश्यम्भावी है। अत उचित यह है कि थोडा (शरीर के बल के अनुसार मात्रा में) रक्त निकाल कर बन्द कर देवे और अवशिष्ट दोष को शमन चिकित्सा से शान्त करे। दोष की प्रबलता नष्ट होने से अवशिष्ट स्वल्प दोष व्याधिवर्द्धन में असमर्थ रहता है।

अत्यधिक रक्तस्राव से हानि—

आन्ध्यमाक्षेपकं तृष्णां तिमिरं शिरसो रुजम् ।
पक्षाघातं श्वासकासौ हिक्कां दाहं च पाण्डुताम् ॥३९॥
कुरुतेऽतिस्रुतं रक्तं मरणं वा करोति च ।

अत्यधिक रक्त निकल जाने से अन्धापन, आक्षेपक (यह वातविकार है। इसमें रोगी अगों को इधर उधर पटकता रहता है), प्यास, तिमिर (नेत्ररोग), शिरोव्यथा, पक्षाघात (अधरग), श्वास, खासी, हिचकी, दाह और पाण्डुता (शरीर का पीलापन) होती है अथवा मरण होता है॥३९॥

रुधिर की महत्ता—

देहस्योत्पत्तिरसृजा देहस्तेनैव धार्यते ॥४०॥
विना तेन व्रजेज्जीवो रक्षेद्रक्तमतो बुधः ।

रक्त से शरीर की उत्पत्ति होती है और रक्त से (शरीर में रहने से) ही शरीर का धारण होता है। एवं ऐसे अत्यावश्यकीय पदार्थ (रक्त) के विना जीवात्मा इसमें रह नहीं सकता। अत बुद्धिमान् वैद्य यत्न से रक्त की रक्षा करे (अर्थात् बार २ रक्तस्राव करके शरीर का नाश न करे) ॥४०॥

रक्त की प्रस्रुतावस्था में उपचार—

शीतोपचारैः कुपिते स्रुतरक्तस्य मारुते ॥४१॥
कोष्णेन सर्पिषा शोथं सव्यथं परिषेचयेत् ।

यदि शस्त्रकृत व्रण पर पित्तकोप से दाह उत्पन्न हो तब शीतोपचार (चन्दन का लेप अथवा आर्द्रवस्त्रावगुण्ठन) करे और यदि वातप्रकोप से शोथ और पीडा की अधिक वृद्धि हो तो गरम किये हुए शुद्ध गोघृत से (पिचु विधान द्वारा) सेक करे।

वक्तव्य—　　　　सुश्रुतेऽप्युक्तम्—

या वेदना शस्त्रनिपातजाता तीव्रा शरीरं प्रदुनोति जन्तोः ।
घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन ॥

पथ्य व्यवस्था—

क्षीणस्यैणशशोरभ्रहरिणच्छागमांसजः ॥४२॥
रसः समुचितः पाने क्षीरं वा षष्टिका हिताः ।

रक्तस्राव के कारण से जो क्षीण (निर्बल) हो गया हो ऐसे मनुष्य को ऐण (काले वर्ण का मृग), शश (खरगोश), उरभ्र (मेढा), हरिण (रक्तवर्ण का मृग) और छाग (बकरा)—इनके मास का (यथाविधि परिसाधित) रस पीने के लिये देवे अथवा साठी के चावलों का भात दूध के साथ खाने को देवे (ऐसा करने से बल और रक्त की वृद्धि होती है) ॥४२॥

सम्यक् रक्तस्राव के लक्षण—

पीडाशान्तिर्लघुत्वं च व्याधेरुद्रेकसंक्षयः ॥४३॥
मनःस्वास्थ्यं भवेच्चिह्नं सम्यग्विस्राविते ऽसृजि ।

उचित विधि और उचित मात्रा से रक्तस्राव होने पर पीडा (व्याधि) की शांति, शरीर में लघुता, रोग की वृद्धि अथवा तीव्रता का क्षय (ह्रास) और मन की प्रसन्नता होती है। यह ठीक रक्तस्राव के लक्षण होते हैं ॥४३॥

रक्तस्राव के पश्चात् त्याज्यवर्ग—

व्यायाममैथुनक्रोधशीतस्नानप्रवातकान् ॥४४॥

एकाशनं दिवास्वप्नं क्षाराम्लकटुभोजनम् ।
शोकं वादमजीर्णं च त्यजेदाबलदर्शनात् ॥४५॥

इति श्रीदामोदरसूनुना शार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां
शार्ङ्गधरसंहितायामुत्तरखण्डे शोणितस्राव-
विधिर्नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

व्यायाम (परिश्रम अथवा दण्ड कसरत), मैथुन (स्त्री सहवास), क्रोध, शीतल जल से स्नान और शीतल वायु का सेवन, एकाशन (दिन में केवल एक बार अथवा निरंतर एक ही अन्न का भोजन करना), दिन में सोना, खारे, खट्टे और तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन करना तथा शोक (चिन्ता), वाद (वाद विवाद) और अजीर्ण में भोजन करना—इन सब को बल प्राप्त होने तक त्याग देवे ॥४४-४५॥

इति श्रीआयुर्वेदाचार्यकविराजहरदयालवैद्यवाचस्पतिकृताया शार्ङ्गधर-
संहिताया रहस्यार्थप्रकाशिकाया भाषाटीकायामुत्तरखण्डे
शोणितस्रावविधिर्नाम द्वादशोऽध्याय ॥१२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

नेत्रीय उपचारों के नाम—

सेक आश्चोतनं पिण्डी बिडालस्तर्पणं तथा ।
पुटपाकोऽञ्जनं चैभिः कल्पैर्नेत्रमुपाचरेत् ॥१॥

नेत्रभाग में होने वाले रोगों को नष्ट करने तथा नेत्रों को स्वस्थ एवं प्रसन्न रखने के लिये शास्त्रकारों ने सात प्रकार के उपाय स्थिर किये हैं। यथा—सेक (सेचन करना), आश्चोतन (औषधस्वरस, दूध अथवा स्नेहादि का विन्दुरूप से नेत्रों में डालना), पिण्डी (वनस्पति के पत्तों अथवा अन्य त्वक् चूर्णादि को पीस कर घृत में भूनकर पिण्ड सा बनाकर नेत्रों पर धारण करना), बिडाल (नेत्र पलकों पर लेप लगाना), तर्पण (स्नेह भर कर नेत्रों को तृप्त करना), पुटपाक (पुटपक्व औषध के स्वरस अथवा कल्क का प्रयोग) और अञ्जन (लेखन, रोपण और प्रसादाजन) करना। इन सात कल्पों (विधियों) से नेत्र रोगों की चिकित्सा करे ॥१॥

सेकविधि —

सेकस्तु सूक्ष्मधाराभिः सर्वस्मिन्नयने हितः ।
मीलिताक्षस्य मर्त्यस्य प्रदेयश्चतुरङ्गुलात् ॥२॥

सब प्रकार के नेत्र रोगों में (जिनमें सेक हितकर हो) रोगी के नेत्र बंद करा कर चार अगुल के अतर से उनके ऊपर सूक्ष्म धारा से (दूध, घृत अथवा तैलादि) का सेक (सेचन) करे। इस प्रकार सेक करना नेत्र रोगों में हितकर होता है।

वक्तव्य—सेक और आश्चोतन लगभग एक ही प्रकार के होते हैं। इनके उपयोग में भी बहुत थोड़ा अन्तर है। जैसे सुश्रुत ने कहा है—

यथादोषोपयुक्तं तु नातिप्रबलमोजसा ।
रागमाश्चोतनं हन्ति सेकस्तु बलवत्तरम् ॥

अर्थात् जो दोष अति प्रबल न हुआ हो उसको दोषानुसार प्रयुक्त किया हुआ 'आश्चोतन कर्म' अपने पराक्रम से जीत लेता है और जो दोष बढ़कर बलवान हो गया हो उसको सेक (सेचन कर्म) नष्ट करता है। चार अंगुल और सूक्ष्म धारा से यह अभिप्राय है कि रोगी के नेत्रों पर उतनी ही ऊचाई से उतनी ही पतली धारा शनै २ लगावे जिस से रोगी की आख को धारा के कारण से कोई कष्ट न हो। इस सेचन का प्रचलित विधान इस प्रकार है—चूर्णादि औषध, दूध, घृत और तैलादि जिस से भी सेक करना हो उससे पिचु को तर करके आंख पर टकोर करे। जैसा कहा है —

अव्यक्तेऽक्षिगदे कार्यं ग्लोतस्थैर्गुण्ठन बहिः ।

यह सेक-स्नेहन, रोपण और लेपन भेद से तीन प्रकार का है ।

दोषानुसार सेक विधान—

स चापि स्नेहनो वाते रक्ते पित्ते च रोपणः ।
लेखनश्च कफे कार्यस्तस्य मात्राऽधुनोच्यते ॥३॥

वातजनित रोगों की शान्ति के लिये 'स्नेहन' (सर्पिर्मांसवसामज्जामेद-स्वाद्वौषधै कृत । स्नेहन इति विख्यात.') सेक करे । रक्त पित्त (पृथक् २ अथवा मिलित) से उत्पन्न हुए विकारों की शान्ति के लिये 'रोपण' ('स्तन्यजाङ्गलमध्वाज्यतिक्तकद्रव्यपाचित । दृष्टेर्बलार्थं शीतश्च सेक कार्योऽपि रोपण ॥') सेक करे । कफजनित विकारों को शान्त करने के लिये 'लेखन' सेक करे । (दोष लेखन—'स्नेहो हितोतिरूक्षस्य स्निग्धस्यापि हि लेखन । जाङ्गलाना यकृन्मासैर्लेखनद्रव्य-संयुतै' । 'कृष्णलोहरजस्ताम्रशङ्खविद्रुमसिन्धुजै' ।

समुद्रफेनकासीसस्रोतोजदधिमस्तुभिः ।
लेखने लेखनस्वेदो विहितोयं भिषग्वरैः ॥

उपरोक्त तीनों प्रकार के सेचनों की मात्रा (धारण मात्रा) अब (आगे) कही जाती है।

सेक की धारण मात्रा—

षड्वाक्शतैः स्नेहनेषु चतुर्भिश्चैव रोपणे ।
वाक्शतैश्च त्रिभिः कार्यः सेको लेखनकर्मणि ॥४॥

स्नेहन सेक (स्नेहन द्रव्यों द्वारा) ६०० गिनने पर्यन्त धारण करे, रोपण सेक (रोपण द्रव्यों से सिद्ध) ४०० गिनने पर्यन्त धारण करे और लेखन (दोष लेखन द्रव्यों से सिद्ध) सेक ३०० गिनने पर्यन्त धारण करे (अथवा ६००, ४०० और ३०० अक अथवा गुरु अक्षरोच्चारण पर्यन्त नेत्रो पर सूक्ष्म और अविरल धारा डालता रहे) ॥४॥

सेक का समय—

कार्यस्तु दिवसे सेको रात्रौ चात्ययिके गदे ।

सेक कर्म का (प्राय) दिन में प्रयोग करे अथवा अत्यत आवश्यकता और रोग की प्रबलता के कारण रात्रि को भी प्रयोग करे ।

वक्तव्य— मात्रा का लक्षण—

निमेषोन्मेषणं पुंसामगुल्याश्छोटिकाथवा ।
गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृता बुधैः ॥

दोषानुसार सेक व्यवस्था—

एरण्डत्वक्पत्रमूलैः शृतमाजं पयो हितम् ॥५॥
सुखोष्णं सेचनं नेत्रे वाताभिष्यन्दनाशनम् ।

एरण्ड की छाल, पत्ते और जड—इन से यथाविधि परिसाधित वकरी के सुखोष्ण दूध से नेत्रों का सेचन, वाताभिष्यन्द (वातजनित नेत्र रोग) दूर करने में हित होता है ॥५॥

वक्तव्य— क्षीरसाधन परिभाषा—

द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् ।
क्षीरावशेषः कर्त्तव्यो क्षीरपाके त्वय विधि. ॥

अन्यत्र—कण्टकारीशिफैरण्डमूल त्वक्पत्रसाधितम् ।
क्षीरमाजं हित सेके चक्षु.स्यन्दाधिमन्थयोः ॥

वाताभिष्यन्द नेत्ररोग है और अनेक नेत्रीय रोगों को उत्पन्न करने वाला है।

यथा—वातात् पित्तात् कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विध' ।
प्रायेण जायते घोर सर्वनेत्रामयाकरः ॥

वाताभिष्यन्द तथा मारुतपर्यय पर सेक—

परिषेको हितो नेत्रे पयः कोष्णं ससैन्धवम् ॥६॥
रजनीदारुसिद्धं वा सैन्धवेन समन्वितम् ।
वाताभिष्यन्दशमनं हितं मारुतपर्यये ॥७॥
शुष्काक्षिपाके च हितमिदं सेचनकं सदा ।

वकरी के दूध को गरम करे और उसमें थोडा सा सैन्धानमक मिलाकर सहन करने योग्य धारा से सेचन करे। एवं हलदी और देवदारु (क्षीरपाकविधि से सिद्ध करके)—इनसे सिद्ध वकरी के दूध में सैन्धानमक मिलाकर (उचित विधि से) सेचन करने से वाताभिष्यन्द, मारुतपर्यय और शुष्काक्षिपाक रोग नष्ट होते हैं ।

वक्तव्य— मारुतपर्यय के लक्षण—

वार वारं च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मारुतः ।
रुजश्च विविधास्तीव्राः स ज्ञेयो वातपर्ययः ॥

शुष्काक्षिपाक के लक्षण—

यत्कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म संलक्षनेत्राविलदर्शनं यत् ।
सरूक्षणं यत् प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥

रक्तपित्त और अभिघातज पीडा पर सेक—

सावरं मधुकं तुल्यं घृतभृष्टं सुचूर्णितम् ॥८॥
छागक्षीरे घृतं सेकात्पित्तरक्ताभिघातजित् ।

पठानीलोध और मुलेठी—दोनों के वस्त्रपूत चूर्ण को (गो) घृत में (साधारण) भूनकर वकरी के दूध में मिलाकर (यथाविधि) सेक करे । अथवा वकरी के दूध में घी मिलाकर यथाविधि सेक करने से पित्तरक्तजनित अभिष्यन्द अथवा पीड़ा तथा अभिघातज पीड़ा दूर होती है ॥८॥

रक्ताभिष्यन्दहर सेक—

त्रिफलालोध्रयष्टीभिः शर्कराभद्रमुस्तकैः ॥९॥
पिष्टैः शीताम्बुना सेको रक्ताभिष्यन्दनाशनः ।

हरीड़, बहेडा, आमला, लोध्र, मुलेठी, खाड और नागरमोथा—इन सब को (समान भाग) लेकर चूर्ण करे और शीतल जल में पीसकर (स्वच्छ वस्त्र से जल को छान लेवे) यथाविधि इसका सेक करने से रक्ताभिष्यन्द (तीव्रलालीयुक्त आख दुखना) नष्ट होता है ॥९॥

रक्ताभिष्यन्दहर अन्य सेक—

लाक्षामधुकमञ्जिष्ठालोध्रकालानुसारिवाः ॥१०॥
पुण्डरीकयुतः सेको रक्ताभिष्यन्दनाशनः ।

वेरी की लाख, मुलेठी, मंजीठ, लोध, तगर और कमल पुष्प—इन सब को शीतल जल में पीसकर पोटली में बाधकर सेक करे अथवा इनका जल वस्त्रपूत करके उस से धारावद्ध सेक करने से रक्ताभिष्यन्द दूर होता है ॥१०॥

नेत्रशूलनाशक सेक—

श्वेतलोध्रं घृते भृष्टं चूर्णितं पटविस्तुतम् ॥११॥
उष्णाम्बुना विमृदितं सेकाच्छूलघ्नमम्बके ।

सफेद लोध्र के सूक्ष्म चूर्ण को घी में (साधारण) भूनकर गरम जल में मर्दन (मन्थन) करे। पुन इसको वस्त्र से छान कर यथाविधि नेत्रों में सेक करने से नेत्रशूल नष्ट होता है ॥११॥

वक्तव्य—इस औषध का व्यवहार सुखोष्ण तथा पिचु (टकोर) द्वारा किया जाता है। नेत्र का शूल और शोथ इस से तत्काल शात होते हैं।

आश्चोतन कर्म—

अथाश्चोतनकं कार्यं निशायां न कथञ्चन ॥१२॥

दोषघ्न तरल पदार्थों को विन्दु रूप से आखों पर डालना आश्चोतन कहलाता है। आश्चोतन कर्म का प्रयोग रात्रि में कदापि न करे (सदा दिन में प्रयोग करे)।

आश्चोतन की विधि —

उन्मीलितेऽक्षिणि दृङ्मध्ये विन्दुभिर्द्व्यङ्गुलाद्धितम् ।

उन्मीलित (उद्घाटित-खुली हुई आखों पर) नेत्रों के मध्य भाग में दो अगुल (१ इञ्च) की ऊचाई से (आश्चोतनार्थ प्रस्तुत तरल पदार्थ-स्नेहादि) विन्दु गिराने को आश्चोतन कहते हैं और यही आश्चोतन कर्म हितकर होता है।

गुणानुरूप विन्दु प्रक्षेपण—

विन्दवोऽष्टौ लेखनेषु स्नेहने दश विन्दवः ॥१३॥

रोपणे द्वादश प्रोक्तास्ते शीते कोष्णरूपिणः ।
उष्णे च शीतरूपाः स्युः सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥१४॥

लेखन (दोषलेखनार्थ) कर्म के लिये यदि आश्चोतन कर्म करना हो तो (पूर्व विधि के अनुसार) लेखन करने वाले द्रव्य की आठ बूद आख में डाले, यदि 'स्नेहन' आश्चोतन करना हो तो दश बून्द डाले और यदि 'रोपण' आश्चोतन करना हो तो बारह बून्द डाले। शीत काल में आश्चोतन कर्म करना हो तो यथा-गुण तरल पदार्थों को कोष्ण (सुहाता हुआ गरम) करके प्रयोग करे और यदि उष्ण काल (गरमी के मौसिम) में आश्चोतन कर्म का उपयोग करना हो तो उन्ही तरल पदार्थों को शीतल करके प्रयोग करे। इस विधान में पूर्वाचार्यों का सर्वत्र ऐसा ही निश्चय है ॥१३—१४॥

वक्तव्य— विन्दु के लक्षण—

प्रदेशिन्या निमग्ने द्वे पर्वणी गलितोऽखिलम् ।
नस्यादिषु तु विज्ञेयो भिषग्भिर्विन्दुसंज्ञक. ॥

वातादि भेद मे योजना—

वाते तिक्तं तथा स्निग्धं पित्ते मधुरशीतलम् ।
तिक्तोष्णरूक्षं च कफे क्रमादाश्चोतनं हितम् ॥१५॥

वातजनित नेत्र पीडा को शान्त करने के लिये कड़वे और स्निग्ध पदार्थों से आश्चोतन करे, पित्तजनित नेत्र रोगों की शान्ति के लिये मधुर और शीतल द्रव्यों से आश्चोतन करे तथा कफजनित विकारों को नष्ट करने के लिये कड़वे, गरम तथा रूक्ष द्रव्यों से आश्चोतन कर्म करे। इस प्रकार दोषानुरूप आश्चोतन कर्म हितकर होता है ॥१५॥

आश्चोतन की मात्रा—

आश्चोतनानां सर्वेषां मात्रा स्याद्वाक्शतं हितम् ।
निमेषोन्मेषणं पुंसामङ्गुल्योश्छोटिकाऽथवा ॥१६॥
गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृता बुधैः ।

सम्पूर्ण आश्चोतन कर्मों में १०० मात्रा (वाङ्मात्रा) अर्थात् एक सौ गिनने में जितना समय लगे उतने काल तक आश्चोतन कर्म करना हितकर होता है।

मात्रा का लक्षण—मनुष्यों के (साधारणरीत्या) आखों के खोलने और मीचने में जितना समय लगे अथवा चुटकी बजाने में जितना समय लगे एवं गुरु अक्षर जैसे 'का' के उच्चारण (बोलने) में जितना समय व्यय हो उसको 'वाङ्मात्रा' कहते हैं। ऐसी १०० मात्रा का व्यवहार बुद्धिमानों ने आश्चोतन कर्म में हितावह माना है ॥१६॥

वाताभिष्यन्दहर आश्चोतन—

बिल्वादिपञ्चमूलेन बृहत्येरण्डशिग्रुभिः ॥१७॥
क्काथ आश्चोतने कोष्णो वाताभिष्यन्दनाशनः ।

बिल्वादि (बृहत्) पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमंथ, श्योनाक, गम्भारी और पाटला), बड़ी कटेरी, एरण्ड मूल, सोहाजने की छाल—इन सब को (समान भाग लेकर) क्काथविधि से क्वाथ बनाकर इस क्काथ को वस्त्रपूत कर लेवे। इस मन्दोष्ण क्काथ से आश्चोतन करने से वातजनित अभिष्यन्द (नेत्ररोग) नष्ट होता है ॥१७॥

वात पित्तोत्थ अभिष्यन्द का उपाय—

अम्बुपिष्टैर्निम्बपत्रैस्त्वचं लोध्रस्य लेपयेत् ॥१८॥
प्रताप्य वह्निना पिष्ट्वा तद्रसो नेत्रपूरणात् ।
वातोत्थं रक्तपित्तोत्थमभिष्यन्दं विनाशयेत् ॥१९॥

नीम के पत्रों को जल के साथ (शिला पर) पीसकर लोध की त्वचा (छिल॰ के खडों) पर लेप करे और इसको अग्नि पर तपाकर स्वरस निचोड़ लेवे। इस स्वरस को (आश्चोतन विधि से) नेत्रों में डालने से वातजनित तथा रक्तपित्तोत्थ अभिष्यन्द नष्ट होता है ॥१८—१९॥

वक्तव्य— अन्यमते तु—

निम्बस्य पत्रैः परिलिप्य लोध्रं स्वेदाग्निना चूर्णमथापि कल्कम् ।
आश्चोतनं मानुषदुग्धयुक्त पित्तास्रदाहापहमग्र्यमुक्तम् ॥

सर्व प्रकार के अभिष्यन्द पर आश्चोतन—

त्रिफलाश्चोतनं नेत्रे सर्वाभिष्यन्दनाशनम् ।

त्रिफला के यथाविधि परिसाधित क्काथ को वस्त्रपूत करके (मन्दोष्ण) आश्चोतन करने से सब प्रकार के अभिष्यन्द दूर होते हैं ।

रक्तपित्तादि पर आश्चोतन—

स्त्रीस्तन्याश्चोतनं नेत्रे रक्तपित्तानिलार्तिजित् ॥२०॥
क्षीरसर्पिर्घृतं वापि वातरक्तरुजं जयेत् ।

स्त्री के स्तनों के दूध से आश्चोतन कर्म करने से रक्तपित्तजनित तथा वातजनित पीडा नष्ट होती है तथा दूध से निकले हुए घृत द्वारा आश्चोतन कर्म करने से वातरक्तजनित पीडा दूर होती है ॥२०॥

वक्तव्य—नेत्र में तात्कालिक आघातजनित पीडा की शान्ति के लिये स्त्रीस्तन्य से किया हुआ आश्चोतन तुरत लाभ करता है ।

पिण्डी विधान—

पिण्डी कवलिका प्रोक्ता बध्यते पट्टवस्त्रकैः ॥२१॥

नेत्राभिष्यन्दयोग्या सा व्रणेष्वपि निबध्यते ।

अभिष्यन्द और व्रण पर बाधने योग्य औषधं पीसकर वस्त्रपट्ट द्वारा नेत्रो पर बाधी जाती हैं । इसको पिण्डी और कवलिका कहते हैं । यह अभिष्यन्द और आखों के व्रणों (क्षाराग्नि शस्त्र तथा जलौकादिजनित व्रणों) पर बाधने से लाभकारक होती हैं ॥२१॥

अभिष्यन्दाधिमन्थ पर शिरोविरेचन—

अभिष्यन्देऽधिमन्थे च सञ्जाते श्लेष्मसम्भवे ॥२२॥
स्निग्धस्विन्नोत्तमाङ्गस्य शिरस्तीक्ष्णैर्विरेचयेत् ।

श्लेष्मजनित अभिष्यन्द और अधिमथ रोग में रोगी के शिर को स्निग्ध और स्वेदित करके तीक्ष्ण शिरोविरेचन (नस्य) के प्रयोग से शिरोविरेचन देवे ॥२२॥

अधिमथ पर शिरावेधन—

अधिमन्थेषु सर्वेषु ललाटे वेधयेच्छिराम् ॥२३॥
अशान्ते सर्वथा मन्थे भ्रुवोरुपरि दाहयेत् ।

सर्व प्रकार के अधिमथों (अभिष्यन्द की उपेक्षा करने से अधिमथ रोग उत्पन्न होता है) पर मस्तक के मध्य भाग की शिरा का वेधन करे (१—२ तोला तक रुधिर निकाले) । इस चिकित्सा से भी यदि अधिमथ रोग शात न हो तो भृकुटी के रोमों के मध्य में अग्निदाह प्रयोग करे ॥२३॥

वक्तव्य—एक लोह शलाका जो १ बालिस्त भर लम्बी हो और जिसका तल भाग छोटी दुअन्नी भर चौडा हो उसे लाल करके भृकुटी स्थान को दग्ध करे ।

सब अभिष्यन्दों पर कवलिका प्रयोग—

अभिष्यन्देषु सर्वेषु बध्नीयात्पिण्डिकां बुधः ॥२४॥

सब प्रकार के अभिष्यन्दों को दूर करने के लिये (तत्तद्दोपनाशक द्रव्यों से निर्मित) बुद्धिमान् वैद्य पिण्डका का प्रयोग करे ॥२४॥

वातिक अभिष्यन्दहर पिण्डिका—

वाताभिष्यन्दशान्त्यर्थं स्निग्धोष्णा पिण्डिका भवेत् ।
एरण्डपत्रमूलत्वङ्निर्मिता वातनाशिनी ॥२५॥

एरण्ड के पत्र, मूल और त्वक् को दूध में पीसकर (कल्क सा बना कर) पिण्डी बनावे । पुन इसे घृत से स्निग्ध करके गरम करे और नेत्रों पर बाधे । इस से वातजनित अभिष्यन्द (नेत्रों का अधिक पीडा युक्त दुखना) नष्ट होता है ।

पित्ताभिष्यन्दहर पिण्डी—

पित्ताभिष्यन्दनाशाय धात्रीपिण्डी सुखावहा ।
महानिम्बफलोद्भूता पिण्डी वा पित्तनाशिनी ॥२६॥

आमलो के चूर्ण को (दूध में) पीसकर पिण्डी बनावे और इस पिण्डी को (शीतल ही) नेत्रो पर बाधे। इससे पित्तजनित अभिष्यन्द नष्ट होता है। अथवा महानिम्ब (बकायन) के बीजों को (दूध में) पीसकर पिण्डी बनाकर बांधने से भी पित्ताभिष्यन्द दूर होता है ॥२६॥

कफाभिष्यन्दहर पिण्डी—

शिग्रुपत्रकृता पिण्डी श्लेष्माभिष्यन्दनाशिनी।

सुहांजने के पत्रों को जल से पीसकर पिण्डी बनाकर नेत्रों पर बांधने से कफोद्भूत अभिष्यन्द दूर होता है।

कफपित्ताभिष्यन्दहर पिण्डी—

निम्बपत्रकृता पिण्डी श्लेष्मपित्तहरा भवेत् ॥२७॥
त्रिफलापिण्डिका प्रोक्ता नाशने श्लेष्मपित्तयोः।

नीम के पत्तों को जल से पीसकर यथाविधि पिण्डी बनाकर बांधने से कफ पित्तोद्भव अभिष्यन्द नष्ट होता है। एव त्रिफला के चूर्ण को जल से पीसकर यथा-विधि पिण्डी बनाकर बांधने से भी कफपित्तजनित अभिष्यन्द दूर होता है ॥२७॥

रक्ताभिष्यन्द पर पिण्डी—

पिष्ट्वा काञ्जिकतोयेन घृतभृष्टा च पिण्डिका ॥२८॥
लोध्रस्य हरति क्षिप्रमभिष्यन्दमसृग्भवम्।

लोध के चूर्ण को घी में भून कर काजी (तुषाम्बु) से पीस कर यथाविधि पिण्डी बना कर नेत्रों पर बाधने से शीघ्र ही रक्तजनित अभिष्यन्द दूर होता है ॥२८॥

शोथ कण्ड्वादि पर पिण्डी—

शुण्ठीनिम्बदलैः पिण्डी सुखोष्णा स्वल्पसैन्धवा ॥२९॥
धार्या चक्षुषि संयोगाच्छोथकण्डूव्यथापहा।

सोंठ का चूर्ण और नीम के पत्तों को दृढरीत्या शिला पर सूक्ष्म पीसे और थोडा सा सैन्धानमक मिला कर नेत्रों पर धारण करे (बाधे)। इस से नेत्रों का शोथ (सूजन) और कण्डू (खाज) तथा पीडा दूर होती है ॥२९॥

विडालक विधि —

विडालको बहिर्लेपो नेत्रे पक्ष्मविवर्जितः ॥३०॥
तस्य मात्रा परिज्ञेया मुखलेपविधानवत्।

(बन्द किये हुए) नेत्रों के पलकों पर पक्ष्मवली को छोड़ कर जो लेप किया जाता है उसको 'विडालक' कहते हैं। इसका विधान और मात्रा (कितना मोटा लेप करना और कितनी देर रखना) मुख लेप की तरह होते हैं ॥३०॥

वक्तव्य—किसी एक वस्तु अथवा वर्ति आदि को जल में घिस कर

पतला सा लेप करने को विडालक कहते हैं। इस कार्य के लिये जिस वस्तु का प्रयोग करना हो उसे प्राय. जल में घिस कर और घृष्ट पदार्थ को अंगुली के साथ उठाकर शनै. २ पलकों पर लेप कर दिया जाता है।

सर्वनेत्ररोगनाशक लेप—

यष्टीगैरिकसिन्धूत्थदार्वीताक्ष्यैः समांशकैः ॥३१॥
जलपिष्टैर्बहिर्लेपः सर्वनेत्रामयापहः ।

मुलेठी, गेरीमिट्टी, सैन्धानमक, दारु हलदी की छाल और रसौत—इन सब को समान भाग लेकर चूर्ण करे और जल में पीसकर नेत्रों के पलकों पर लेप करे। इस से सब प्रकार के नेत्ररोग (अभिष्यन्द, शोथ, कण्डू, पीडा) नष्ट होते हैं (रसौत का चूर्ण नहीं होता। इसे शेष द्रव्यों के साथ डाल कर पीस लेवे) ॥३१॥

अन्य छ लेप—

रसाञ्जनेन वा लेपः पथ्याविश्वदलैरपि ॥३२॥
कुमारिकाग्निपत्रैर्वा दाडिमीपल्लवैरपि ।
वचाहरिद्रानिम्बैर्वा तथा नागरगैरिकैः ॥३३॥

रसौत को जल से घिस कर लेप करने से नेत्र रोग (अभिष्यन्दादि) नष्ट होते हैं। अथवा हरीतकी चूर्ण, सोंठ का चूर्ण—इन को एरण्ड के पत्रों के रस से पीस कर लेप करे। अथवा अपमार्ग के पत्रों को घीकुआर के रस से पीस कर लेप करे तथा अनार के पत्रों को जल से पीस कर लेप करे। अथवा वच, हलदी और नीम के पत्तों को जल से पीस कर लेप करे। एवं सोंठ और गेरीमिट्टी—दोनों को जल से पीस कर लेप करने से सब प्रकार के अभिष्यन्द नष्ट होते हैं। इस प्रकार यह छ योग नेत्रों के शोथ, कण्डू और पीडादि को नष्ट करने में लाभदायक होते हैं।

नेत्र पीडाहर लेप—

दग्ध्वा ससैन्धवं लोध्रं मधूच्छिष्टयुते घृते ।
पिष्टमञ्जनलेपाभ्यां सद्यो नेत्ररुजापहम् ॥३४॥

सैन्धा नमक और पठानी लोध के चूर्ण को दग्ध (फूक) करके मोम और घी मिला कर पीसे (मर्दन करे)। इसको नेत्रों में डालने और बाहर लगाने से नेत्र पीडा शीघ्र शांत होती है ॥३४॥

वक्तव्य—१ तोला लोध्र चूर्ण में ३ माशा सैन्धव चूर्ण मिला कर तवे पर बिछा कर २ इञ्च चौडा विस्तृत कर देवे और ऊपर से मिट्टी के प्याले से ढक कर सन्धि लेप कर देवे। इस को चूल्हे पर रख कर एक घटा साधारण अग्नि देकर स्वांगशीतल होने पर निकाल लेवे। पुन २ तोला शुद्ध गव्य घृत को कड़छी में डाल कर गरम करे और इस में ३ माशा मधूच्छिष्ट (देसी मोम) डाले। जब यह घृत में

विलीन हो जाए तब इसको नीचे उतार लेवे । पुनः इस में अन्तर्विदग्ध सैन्धव और लोध्र चूर्ण को बारीक पीस कर डाले और शीत होने पर्यन्त स्थूलाग्र लौहदण्ड से मर्दन करे। इस प्रकार इस योग को तैयार करे। यह लाभदायक योग है ॥३५॥

नेत्रपीडाहर लेप—

लोहस्य पात्रे संघृष्टो रसो निम्बफलोद्भवः ।
किंचिद्धनो बहिर्लेपान्नेत्रबाधां व्यपोहति ॥३५॥

पके हुए नीम के फलों के रस को लोह पात्र में डाले और (नीम के दण्ड से) मर्दन करे। जब घर्षित रस प्रलेप करने योग्य गाढा हो जाये तब नेत्र पलकों पर लेप करे। इससे नेत्र सम्बन्धी पीडा दूर होती है ॥३५॥

अर्मनाशक लेप—

संचूर्ण्य मरिचं केशराजस्वरसमर्दनात् ।
लेपनादर्मणां नाशं करोत्येष प्रयोगराट् ॥३६॥

कालीमिर्चों के चूर्ण को (खरल में डालकर) भागरे के स्वरस से (सात) भावना देवे और प्रति भावना में दृढ मर्दन करे। इस लेप के (प्रयोग) से अर्मरोग शान्त होता है (अर्म का वर्णन पूर्वखण्ड के सातवें अध्याय में देखें) ॥३६॥

अञ्जननामिका पर लेप—

स्विन्नां भित्वा विनिष्पीड्य भिन्नामञ्जननामिकाम् ।
शिलैलानतसिन्धूत्थैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ॥३७॥

नेत्र पलकों पर होने वाली अञ्जननामिका (गुहेरी, गुआडनी, निहाली) पिडिका (फुंसी) को स्वेदित करके (उष्ण जल में पिचु प्लुत करके स्वेद देकर) शस्त्र से फाडकर निष्पीडन (दबा) करके उसमें से होने वाले स्राव को पोंछ लेवे और इसके शस्त्रज व्रण के भीतर तथा बाहर शुद्ध मैनशिल, बड़ी इलायची का चूर्ण और सैन्धानमक—सब को समान भाग लेकर पीसे और शहद मिलाकर लेप करे (रगड़ देवे) ॥३७॥

तर्पण के योग्य नेत्र—

अथ तर्पणकं वच्मि नेत्रतृप्तिकरं परम् ।
यद्रूक्षं परिशुष्कं च नेत्रं कुटिलमाविलम् ॥३८॥
शीर्णपक्ष्मशिरोत्पातकृच्छ्रोन्मीलनसंयुतम् ।
तिमिरार्जुनशुक्राद्यैरभिष्यन्दाधिमन्थकैः ॥३९॥
शुष्काक्षिपाकशोथाभ्यां युक्तं वातविपर्ययैः ।
तन्नेत्रं तर्पणे योज्यं नेत्ररोगविशारदैः ॥४०॥

श्रीशार्ङ्गधराचार्य जी कहते हैं कि अब (सेक, आश्चोतन, बिडालकादि के

पश्चात्) तर्पण (दृष्टिप्रसादनक) कर्म कहते हैं । जब नेत्र रूक्ष (रूखे से), शुष्क (सूखे से), कुटिल (टेढे), आविल (मलिन वर्ण के) हों तथा शीर्णपक्ष्म (पलकों के वालों का नाश) हों तथा शिरोत्पात रोग हो तथा आखों का कष्ट से उन्मीलन (आकुचन) हो, तिमिर, अर्जुन, शुक्र (फूला), अभिष्यन्द और अधिमंथ, शुष्काक्षिपाक, अक्षिशोथ, वातविपर्यय इत्यादि रोग होने पर आखों को तर्पण (तृप्त) करना अनुभवी वैद्यों द्वारा अनुमोदित है ।।३८—४०।।

तर्पण में वर्जित—

दुर्दिनात्युष्णशीतेषु चिन्तायासभ्रमेषु च ।
अशान्तोपद्रवे चाक्ष्णि तर्पणं न प्रशस्यते ।।४१।।

मेघ, वायु, आधी वा वर्षादि के दिन, अति गरमी, अति शीतकाल चिन्ता और भ्रम—इन में तथा उपद्रव शान्त न हुआ हो (अर्थात् उपद्रव की प्रवला वस्था में)—ऐसे समय में नेत्रों में तर्पण करना श्रेष्ठ नही ।।४१।।

तर्पण की विधि—

वातातपरजोहीने देशे चोत्तानशायिनः ।
आधारौ माषचूर्णेन क्लिन्नेन परिमण्डलौ ।।४२।।
समौ दृढावसंबाधौ कर्तव्यौ नेत्रकोशयोः ।
पूरयेद्घृतमण्डेन विलीनेन सुखोदकैः ।।४३।।
अथवा शतधौतेन सर्पिषा क्षीरजेन वा ।

ऊपर का पाठ ग्रन्थकर्ता ने सुश्रुत से लिया है । वहा एक आवश्यक श्लोव इससे प्रथम और दिया गया है । यथा—

संशुद्धदेहशिरसो जीर्णान्नस्य शुभे दिने ।
पूर्वाह्णे चापराह्णे वा कार्यमक्ष्णोश्च तर्पणम् ॥

अर्थात् वमन विरेचनादि से शरीर को शुद्ध करके और शिरोविरेचव नस्यादि से शिर शुद्ध करके शुभ दिन में भोजन के पच जाने पर पूर्वाह्ण (दो प्रहर स प्रथम) अथवा अपराह्ण (दो प्रहर के पीछे) नेत्रों को तर्पण (तृप्तिकारक विधि) करन चाहिये । जहां वायु, धूप और धूलि न हो (अर्थात् ऐसे स्थान पर जहा इसका सीध प्रहार रोगी पर न हो सके) ऐसे स्थान पर रोगी को सीधा सुलाकर उडद क आटा गूंधकर नेत्रों के चारों तरफ उसकी आड (आलवाल) सी वना देवे । यह आलवाल (गोल डूगा दायरा) ऐसे वनावे जो ऊंचाई में एक समान हो और उस में छिद्र आदि न हो (छिद्र होने से इसके भीतर का स्नेह वाहर निकल आता है) फिर गरम जल में घृत का मण्ड (उपरि स्वच्छ भाग) डालकर ऊपर तक भर देवे अथवा १०० वार धोया हुआ घृत अथवा दूध से प्राप्त किया हुआ घृत (उसी विधान से) भर देवे ।।४२—४३।।

वक्तव्य—तर्पणार्थ सर्वदा गव्य घृत हितकर होता है । यथा—

गव्यक्षीरोत्थित सर्पिस्तर्पणार्थे विधीयते ।
दृष्टिप्रसादनश्रेष्ठ तिमिरस्यापकर्षणम् ॥

पूरण मात्रा—

निमग्नान्यक्षिपक्ष्माणि यावत्स्युस्तावदेव हि ॥४४॥
पूरयेन्मीलिते नेत्रे तत उन्मीलयेच्छनैः ।

गरम जल मिले हुए घृत मण्ड को आखो में पक्ष्म के वाल डूबने तक पूरण करे । पूरण करते समय आंखें वन्द कर लेवे और पूरण करने के पश्चात् शनै २ आखों को खोलने की चेष्टा करे (ऐसा करने से स्नेह चक्षुगोलक के भीतर पूर्णतया प्रविष्ट होकर आसमन्तात् नेत्रों को तृप्त कर देता है) ॥४४॥

तर्पण में स्नेह धारण की मात्रा—

धारयेद्वर्त्मरोगेषु वाङ्मात्राणां शतं बुधः ॥४५॥
स्वच्छे कफे सन्धिरोगे मात्रापञ्चशतं हितम् ।
शुक्ले च षट्शतं कृष्णरोगे सप्तशतं मतम् ॥४६॥
दृष्टिरोगेष्वष्टशतमधिमन्थे सहस्रकम् ।
सहस्रं वातरोगेषु धार्यमेवं हि तर्पणम् ॥४७॥

वर्त्मरोग (साधारण कृच्छ्रोन्मीलनादि) नष्ट करने के लिये पूर्वोक्त विधि के अनुसार १०० गुरु अक्षर उच्चारण करने में जितना समय लगे उतने समय तक तर्पक पदार्थ को धारण करे । स्वस्थ मनुष्य (तन्दुरुस्त आदमी) अपनी आखों के चल की वृद्धि के लिये, कफरोग और सन्धिगत (स्रावादि) रोग शात करने के लिये ५०० बार गुरु 'का' अक्षर उच्चारण पर्यन्त तर्पण धारण करे । शुक्ल (भागगत) रोगों को नष्ट करने के लिये ६०० बार गुरु अक्षर उच्चारण करने पर्यन्त तर्पण धारण करे । कृष्ण (भागगत) रोगों को नष्ट करने के लिये ७०० बार गुरु अक्षर उच्चारण करने पर्यन्त तर्पण धारण करे । दृष्टिभागगत (नकुलान्ध्यादि) रोगों को नष्ट करने के लिये ८०० बार गुरु अक्षर उच्चारण करने पर्यन्त तर्पण धारण करे । अधिमथ (नेत्ररोग) को नष्ट करने के लिये १००० बार गुरु अक्षर उच्चारण करने पर्यत तर्पण धारण करे । वात (नेत्रभागगत) रोग शात करने के लिये १००० बार गुरु अक्षर उच्चारण करने पर्यत तर्पण धारण करे ॥४५—४७॥

वक्तव्य—रोग और स्थान भेदानुसार तर्पण की धारण मात्रा में मत भेद है । यदुक्तं सुश्रुते—

आपक्ष्माग्रात्ततः स्थाप्यं पंच तद्वाक्शतानि च ।
स्वस्थे कफे षट् पित्तेऽष्टौ दश वाते तदुत्तमम् ॥

अन्यच्च—रोगस्थानविशेषेण केचित्कालं प्रचक्षते ।
यथाक्रमोपदिष्टेषु त्रीण्येकं पंच सप्त च ॥
दश दृष्ट्यामथाष्टौ च वाक्शतानि विभावयेत् ।

अर्थात् कोई २ आचार्य रोग के स्थान विशेष के भेद से तर्पण के धारण के समय का भेद करते हैं । यथा—सन्धिगत रोगों में ३०० मात्रा, वर्त्मगत रोगों के लिये १०० मात्रा शुक्लगत रोगों की शांति के लिये ५०० मात्रा, कृष्णगत रोगों की शांति के लिये ७०० मात्रा, दृष्टिगत रोगों की शांति के लिये १००० मात्रा अथवा ८०० मात्रा पर्यंत स्नेह धारण करे ।

धारण किये हुए स्नेह को निकालने की विधि—

ततश्चापांगतः स्नेहं स्रावयित्वाक्षि शोधयेत् ।

अर्थात् धारण किये हुए स्नेह को अपांग की ओर से (छिद्र करके) स्नेह को निकाले और आंख को शुद्ध करे ।

तर्पणोत्तर कर्त्तव्य—

स्विन्नेन यवपिष्टेन स्नेहवीर्येरितं ततः ।
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विशोधयेत् ॥४८॥

सुने जौ के उबटन (पिट्ठी) से स्नेह के पराक्रम और चिकनाई के अनुसार शुद्ध कर फिर यथायोग्य (दोषानुसार) धूमपान कराकर नेत्रों के कफ को शोधन करे ।

तर्पण के समय का अन्तर—

एकाहं वा त्र्यहं वापि पञ्चाहं चेष्यते परम् ।

तर्पण करने की अवधि इस प्रकार है कि न्यून दोष में एक दिन मध्य दोष शान्त्यर्थ तीन दिन और उत्कृष्ट दोष शान्त्यर्थ पांच दिन तर्पण करना चाहिये ।

सम्यक् तर्पित के लक्षण—

तर्पणे तृप्तिलिङ्गानि नेत्रेष्वेतानि भावयेत् ॥४९॥
सुखस्वप्नावबोधं च वैशद्यं वर्णपाटवम् ।
निर्वृत्तिर्व्याधिशान्तिश्च क्रियालाघवमेव च ॥५०॥

तर्पण कर्म में नेत्रों की सम्यक् तृप्ति इन लक्षणों से जाननी चाहिये । जैसे—सुखपूर्वक ठीक निद्रा का आना और समय पर जाग उठना (अर्थात् सोने और जागने में कोई कष्ट न हो) और नेत्रों में हलकापन उजलापन और वर्ण का निर्मल होना (नेत्रों का प्रकृत वर्ण होना), क्लेश न होना तथा रोग का नाश हो जाना तथा खोलने और मीचने आदि क्रियाओं में हलकापन होना । ऐसे लक्षण उत्पन्न होने पर नेत्र सम्यक् तर्पित समझे जाते हैं ॥४९—५०॥

अतितर्पण के लक्षण—

अथ सास्रु गुरु स्निग्धं नेत्रं स्यादतितर्पितम् ।

नेत्रों के अत्यंत तृप्त होने से—नेत्रों से जलस्राव होता है तथा नेत्र भारी हो जाते हैं एवं चिकनाई अधिक हो जाती है।

वक्तव्य— सुश्रुतमते—

गुर्वाविलमतिस्निग्धमश्रुकंडूपदेहवत् ॥
ज्ञेयं दोषसमुत्क्लिष्टं नेत्रमत्यर्थतर्पितम्।

हीन तर्पण के लक्षण—

रूक्षमस्राविलं रुग्णं नेत्रं स्याद्धीनतर्पितम् ॥५१॥

उचित तर्पण न होने से नेत्र—रूक्ष, स्रावयुक्त, मलिन, रुग्ण (व्याधि की वृद्धि) और आभारहित होते हैं। इन लक्षणों से हीन तृप्ति का बोध होता है॥५१॥

हीन और अति तर्पित की चिकित्सा—

रूक्षस्निग्धोपचाराभ्यामेतयोः स्यात्प्रतिक्रिया।

यदि नेत्रों का अति तर्पण हो गया हो तो रूक्ष औषधों से उपचार करना चाहिये और यदि हीन तर्पण हुआ हो तो स्निग्ध उपचार करना चाहिये। ऐसा करने से इन के कारण से उत्पन्न होने वाले नेत्र के कष्ट दूर होते हैं।

पुटपाक विधान—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि पुटपाकस्य साधनम् ॥५२॥
द्वौ बिल्वमात्रौ मांसस्य पिण्डौ स्निग्धौ सुपेषितौ।
द्रव्याणां बिल्वमात्रं तु द्रवाणां कुडवो मतः ॥५३॥
तदेकस्थं समालोड्य पत्रैः सुपरिवेष्टितम्।
पुटपाकेन तत्पक्त्वा गृह्णीयात्तद्रसं बुधः ॥५४॥

पूर्वोक्त कथनानन्तर अब पुटपाक के सिद्ध करने और उस के प्रयोग विधान को कहते हैं। यथा—

उत्तम, स्निग्ध और श्लक्ष्ण मास (अस्थि रहित) को लेकर कूटे और बारीक पीस लेवे। पुन इस पिष्ट मांस में जैसा पुटपाक बनाना हो (स्नेहन, रोपण और लेखन) उन्हीं के अनुसार (यथोक्त) द्रव्य १ पल डाले और चार पल द्रवपदार्थ (यदि स्नेहन पुटपाक सिद्ध करना हो तो पल भर स्नेहन द्रव्य के साथ पतले पदार्थ भी स्नेहन ही दिये जाते हैं इसी तरह अन्यों में भी व्यवस्था जाने) मिला कर गोला बनावे। इस गोले के ऊपर पत्र, (कमल, कदली, गम्भारी, जामुन आदि लपेट देवे (ऊपर से सूत्र से बांध देवे) और पुटपाक विधान के अनुसार मृत्तिका लगाकर पका लेवे। स्वाग शीतल होने पर यथाविधि भेदन करके स्वरस प्राप्त कर लेवे। इसका विस्तृत वर्णन मध्यम खंड के द्वितीय अध्याय में देखें ॥५२—५४॥

वक्तव्य— पुटपाक का त्रिविधत्व—

स्नेहनो लेखनीयश्च रोपणीयश्च स त्रिधा।

तीनों का उपयोग—

हित स्निग्धोतिरूक्षस्य स्निग्धस्यापि च लेखनः ।
दृष्टेर्बलार्थमितर· पित्तासृग्व्रणवातनुत् ॥

पुटपाकार्ह नेत्र—ततः प्रशान्तदोषेषु पुटपाकक्षमेषु च ।
पुटपाकः प्रयोक्तव्यो नेत्रेषु भिषजा भवेत् ॥

अन्यच्च—पुटपाकस्तथैतेषु नस्यं येषु च गर्हितम् ।
तर्पणार्हा न ये प्रोक्ता स्नेहपानक्षमाश्च ये ॥

अर्थात् जिनको तर्पण कराना योग्य है उन्ही को पुटपाक का प्रयोग कराना उचित है, तथा जिनको नस्य वर्जित है उन को पुटपाक भी वर्जित है, जो मनुष्य तर्पण के योग्य नहीं हैं उनको पुटपाक भी विधेय नहीं है तथा जो मनुष्य स्नेहपान के अयोग्य हैं वह पुटपाक के भी अयोग्य होते हैं ।

पुटपाक की पाक विधि—

काश्मरीकुमुदैरण्डपद्मिनीकदलीभवैः ।
मृदावलिप्तमङ्गारैः खादिरैरवकूलयेत् ॥
कतकाश्मन्तकैरण्डपाटलावृषवादरैः ।
सक्षीरद्रुमकाष्ठैर्वा गोमयैर्वापि युक्तितः ॥
स्विन्नमुद्धृत्य निष्पीड्य रसमादाय तं नृणाम् ।
तर्पणोक्तविधानेन यथावदवचारयेत् ॥
कनीनिके निषेच्यः स्यान्नित्यमुत्तानशायिन ।
रक्ते पित्ते च तौ शीतौ कोष्णौ वातकफापहौ ॥

तर्पणोक्तविधानेन यथावदुपचारयेत् ।
दृष्टिमध्ये निषेच्यः स्यान्नित्यमुत्तानशायिनः ॥५५॥

उपरोक्त विधान से प्राप्त पुटपाक सावित पदार्थो के स्वरस को तर्पणोक्त विधान से प्रयोग करे अर्थात् पुटपाक के रोगी को (निरापद्द स्थान में) चित्त (सीधा) लिटा कर प्राप्त स्वरस को दृष्टि के मध्य भाग में निक्षेपण करे ॥५५॥

पुटपाक के भेद—

स्नेहनो लेखनश्चैव रोपणश्चेति स त्रिधा ।

स्नेहन (आखों को स्निग्ध करने वाला), लेखन (लीनीभूत दोषों को उखाडने वाला), रोपण (दृष्टिबलवर्धक)—इस प्रकार पुटपाक तीन प्रकार का होता है ।

त्रिविध पुटपाकों का प्रयोग—

हितः स्निग्धोऽतिरूक्षस्य स्निग्धस्यापि हि लेखनः ॥५६॥
दृष्टेर्बलार्थमितरः पित्तासृग्व्रणवातनुत् ।

इन तीनों प्रकार के पुटपाकों में से स्नेहन पुटपाक अतिरूक्ष को करना

चाहिये और अति स्निग्ध को लेखन पुटपाक करना चाहिए तथा तीसरा रोपण पुटपाक दृष्टि के बल की वृद्धि के लिये तथा पित्त रक्त विकार और व्रण तथा वात विकार नाश करने के लिये प्रयोग करना चाहिये ॥५६॥

स्नेहन पुटपाक—

सर्पिर्मांसवसामज्जामेदःस्वाद्वौषधैः कृतः ॥५७॥
स्नेहनः पुटपाकश्च धार्यो द्वे वाक्शते दृशोः।

'स्नेहन पुटपाक'—घृत, मांस, चरबी, मज्जा और मेद इनसे तथा काकोल्यादि गण की स्वादु औषधों से बनाया हुआ पुटपाक स्नेहन पुटपाक होता है। इसको २०० मात्रा के उच्चारण काल तक धारण करना चाहिये ॥५७॥

लेखन रोपण पुटपाक—

जाङ्गलानां यकृन्मांसैर्लेखनद्रव्यसंयुतैः ॥५८॥
कृष्णलोहरजस्ताम्रशङ्खविद्रुमसिन्धुजैः।
समुद्रफेनकासीसस्रोतोजदधिमस्तुभिः ॥५९॥
लेखनो वाक्शतं धार्यस्तस्यैतावद्विधारणम्।
स्तन्यजाङ्गलमध्वाज्यतिक्तकद्रव्यपाचितः ॥६०॥
लेखनात्त्रिगुणो धार्यः पुटपाकस्तु रोपणः।
वितरेत्तर्पणोक्तां तु क्रियां व्यापत्तिदर्शने ॥६१॥

'लेखन पुटपाक'—जगली जीवों (एण, हरिण लाव, तित्तिर आदि) के यकृत् (कलेजा) तथा मास में लेखन द्रव्य—कृष्णलोह (फौलाद) का चूर्ण, ताम्र का चूर्ण, शख, मूंगा और सैंधानमक, समुद्रझाग, कसीस, सुरमा, दही का पानी—इन सब को (यथामानानुसार) मिलाकर तैयार किया हुआ पुटपाक 'लेखन पुटपाक' होता है। लेखन पुटपाक के धारण करने का समय अधिक से अधिक १०० मात्रा के उच्चारण काल पर्यन्त होता है। 'रोपण पुटपाक'—स्त्री का दूध, जंगली जीवों का मांस, शहद, घृत और तिक्त (कड़वे) द्रव्य—इनसे सिद्ध किया हुआ पुटपाक रोपण पुटपाक होता है। इसको लेखन से तिगुने अर्थात् ३०० मात्रा के उच्चारण काल तक धारण करना चाहिये।

व्यापत्ति में चिकित्सा—यदि पुटपाक के हीनादि योगों के कारण कोई रोग उत्पन्न हो तब तर्पण के हीनातियोगों की चिकित्सा के सदृश चिकित्सा करे ॥५८-६१॥

अञ्जन विधान—

अथ सम्पक्कदोषस्य प्राप्तमञ्जनमाचरेत्।
हेमन्ते शिशिरे चैव मध्याह्नेऽञ्जनमिष्यते ॥६२॥

पूर्वाह्णे चापराह्णे च ग्रीष्मे शरदि चेष्यते ।
वर्षासु नाभ्रे नात्युष्णे वसन्ते च सदैव हि ॥६३॥

नेत्र विकारों की जिन अवस्थाओं में सेक तर्पणादि का उपयोग होता है उन से ऊपर जब नेत्रविकार करने वाले दोषों का परिपाक हो (साधारणतया वातदोष ७ दिन में, पित्त १० दिन में, और कफ १२ दिन में पकता है) तब उनकी शान्ति के लिये अञ्जन (शलाका द्वारा औषध प्रयोग) का उपयोग करे । हेमन्त ऋतु (मार्गशिर, पौष) और शिशिर ऋतु (माघ, फाल्गुन) में मध्याह्न काल (१०—२ बजे तक) में अञ्जन लगावे । ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ, आपाढ) में तथा शरद ऋतु (आश्विन, कार्त्तिक) में प्रातःकाल और सायंकाल अञ्जन का प्रयोग करे । एवं वर्षा ऋतु (श्रावण, भाद्रपद) में बादलों से रहित दिन में तथा जिस दिन अत्यधिक गरमी न हो उस दिन अञ्जन का सेवन करे । वसन्त ऋतु (चैत्र, वैशाख) में प्रातः, सायं, मध्याह्न आदि सब कालों में अञ्जनों का प्रयोग करना चाहिये ॥६२-६३॥

अञ्जनों के भेद—

लेखनं रोपणं चैव तथा स्यात्स्नेहनाञ्जनम् ।

लेखन, रोपण और स्नेहन भेद से अञ्जन तीन प्रकार का होता है ।

लेखनाञ्जन—

लेखनं क्षारतीक्ष्णाम्लरसैरञ्जनमिष्यते ॥६४॥

खारी, तीक्ष्ण और खट्टा—इन रसों से सिद्ध अञ्जन 'लेखन' अञ्जन कहलाता है ॥६४॥

रोपण अञ्जन—

कषायतिक्तरसयुक्सस्नेहं रोपणं मतम् ।

कषैला और कड़वा तथा स्नेह—इन से सिद्ध अञ्जन को 'रोपणाञ्जन' कहते हैं ।

प्रसादन अञ्जन—

मधुरं स्नेहसम्पन्नमञ्जनं च प्रसादनम् ॥६५॥

सस्नेह मधुर रस से सिद्ध अञ्जन 'प्रसादनाञ्जन' कहलाता है ॥६५॥

वक्तव्य— अञ्जन प्रयोग की विशेष अवस्था—

व्यक्तरूपेषु दोषेषु शुद्धकायस्य केवले ।
नेत्र एव स्थिते दोषे प्राप्तमञ्जनमाचरेत् ॥
लेखनं रोपणं चापि प्रसादनमथापि वा । (सु० सं०)

लेखनाञ्जन की विधि और लाभ—

तत्र पंचरसान्व्यस्तानाद्यैकं रसवर्जितान् ।
पंचधा लेखनं युञ्ज्याद्यथादोषमतन्द्रितः ॥

नेत्रवर्त्मशिराकोपस्रोतःशृङ्गाटकाश्रितम् ।
मुखनासाक्षिभिर्दोषमोजसा स्रावयेत्तु तत् ॥

अर्थात् लेखनांजन में पांचों रस एक २ या दो २ करके होते हैं, जिन में आदि का एक मधुर रस नहीं होता। ऐसे पांच प्रकार से दोषों के अनुसार अनुभवी वैद्य लेखनाजन का प्रयोग करे (यथा—वात दोष में अम्ल और लवण रस प्रधान, पित्त दोष में कषाय, एव कफ दोष शान्त्यर्थ—कटु तिक्त कषाय, रक्ताधिक्य में पित्तवत् और ससर्ग तथा सन्निपात में स्वबुद्धि अनुसार रसों का मिश्रण करके मिश्रित रूप से प्रयोग करे)। यह लेखनांजन नेत्र, वर्त्म, शिराकोश, स्रोत और शृंगाटक मर्म—इन स्थानों के दोषों को अपने बल से मुख, नासिका, और नेत्रों द्वारा निकाल देता है।

रोपणाञ्जन और लाभ—

कषायतिक्तकं चापि सस्नेहं रोपणं मतम् ।
तत्स्नेहशैत्याद्वर्ण्यं स्याद् दृष्टेश्च बलवर्द्धनम् ॥

प्रसादनाजन और लाभ—

मधुरं स्नेहसम्पन्नमञ्जन तु प्रसादनम् ।
दृष्टिदोषप्रसादार्थं स्नेहनार्थं च तद्धितम् ॥

प्रयोगोपदेश—

यथादोषं प्रयोज्यानि तानि दोषविशारदैः ।
अंजनानि यथोक्तानि प्राह्णसायाह्नरात्रिषु ॥

अञ्जनों की त्रिविधाकृति—

गुटिकारसचूर्णानि त्रिविधान्यञ्जनानि च ।
कुर्याच्छलाकयाऽङ्गुल्या हीनानि च यथोत्तरम् ॥६६॥

गुटिका (गोली या वत्ती), रस (तरल अथवा प्रवाही अञ्जन), चूर्ण (चूर्णाकृति, पीसे हुए शुष्क अजन)—इस प्रकार अञ्जनों की तीन श्रेणिया हैं। इनको सलाई अथवा अगुली से प्रयोग किया जाता है। एव गुटिका से रस और रसाजन से चूर्णाजन गुणों में हीन होते हैं ॥६६॥

अञ्जनों का निषेध—

श्रान्ते प्ररुदिते भीते पीतमद्ये नवज्वरे ।
अजीर्णे वेगघाते च नाञ्जनं सम्प्रचक्षते ॥६७॥

श्रान्त (थकित), रुदित (रोया हुआ), भयभीत तथा जिसने मद्यपान किया हो, एव नवज्वर में, अजीर्ण रोग में तथा मल, मूत्र, जृम्भा, अश्रु आदि वेगो के धारण करने वाले मनुष्यों को अजन का प्रयोग नही करना चाहिये ॥६७॥

वक्तव्य— यदुक्तं सुश्रुते—

श्रमोदावर्तरुदितमद्यक्रोधभयज्वरैः ।
वेगाघातशिरोदोषैश्चार्तानां नेष्यतेऽञ्जनम् ॥
रागरुक्तिमिरास्रावशूलसंरम्भसंभ्रमान् ।
निद्राक्षयं च कुरुते निषिद्धे युक्तमञ्जनम् ।

अन्यच्च—निद्राक्षये क्रियाशक्ति प्रवाते दृग्बलक्षयम् ।
रजोधूमहते रागस्रावाधीमन्थसंभवम् ॥
संरम्भशूलौ नस्यान्ते शिरोरुजि शिरोरुजम् ।
शिरःस्नातेऽतिशीते च रवावनुदितेऽपि च ॥
दोषस्थैर्यादपार्थं स्याद्दोषोत्क्लेशं करोति च ।
अजीर्णेऽप्येवमेव स्यात्स्रोतोमार्गावरोधनात् ॥
दोषवेगोदये दत्तं कुर्यात्तांस्तानुपद्रवान् ।
तस्मात्परिहरन्दोषानञ्जनं साधु साधयेत् ॥

वर्तिप्रयोग—

हरेणुमात्रां कुर्वीत वर्तिं तीक्ष्णाञ्जने भिषक् ।
प्रमाणं मध्यमेऽध्यर्धं द्विगुणं तु मृदौ भवेत् ॥६८॥

तीक्ष्णाञ्जन (लेखनाञ्जन) की वत्ती का परिमाण हरेणुमात्र (छोटे मसूर के समान), मध्यमाञ्जन डेढ मसूर के समान तथा मृदु अञ्जन की बत्ती का परिमाण द्विगुण (दो हरेणुमात्र) होता है। यह गुटिका अथवा वर्तिका का परिमाण है ।

द्रवाञ्जन का परिमाण—

रसक्रिया तूत्तमा स्यात् त्रिविडङ्गमिता हिता ।
मध्यमा द्विविडङ्गा स्याद्धीना त्वेकविडङ्गिका ॥६९॥

रसक्रिया (प्रवाही अञ्जनों) की तीन वायविडङ्ग तुल्य उत्तम मात्रा होती है। दो वायविडङ्ग के तुल्य औषध का प्रयोग मध्यमात्रा कहलाता है और एक वायविडङ्ग समान औषध का नेत्रों में प्रयोग करना हीन (हलकी अथवा निकृष्ट) मात्रा कहलाती है ॥६९॥

चूर्णाञ्जनों की मात्रा—

वैरेचनिकचूर्णं तु द्विशलाकं विधीयते ।
मृदौ तु त्रिशलाकं स्याच्चतस्रः स्नैहिकेऽञ्जने ॥७०॥

विरेचन चूर्ण (जिसके प्रयोग से नेत्रों से जल स्राव हो) की दो सलाइयां नेत्रों में लगावे (तीक्ष्णाञ्जन में) और मृदुचूर्णाञ्जन की ३ शलाका लगावे तथा स्नेहन चूर्णाञ्जन की ४ सलाइयां प्रयोग करे ॥७०॥

शलाका निर्माण—

मुखयोः कुण्ठिता श्लक्ष्णा शलाकाष्टाङ्गुलोन्मिता ।
अश्मजा धातुजा वा स्यात्कलायपरिमण्डला ॥७१॥

अञ्जन प्रयोग के लिये पत्थर अथवा स्वर्ण, रजत, ताम्र, नाग, यशदादि की सलाई आठ अगुल लम्बी बनावे । उसके दोनों ओर के किनारे कुण्ठित (कूट पीटकर जिसके अग्रभाग को अगुली के अग्रभाग की तरह बना दिया गया हो) और श्लक्ष्ण अर्थात् किनारों को पत्थर पर घिसकर कोमल बना लिया गया हो एव जिस का मध्यभाग (अगुली से पकडने का स्थान) मटर के समान स्थूल और गोलाकार हो । ऐसी शलाका अञ्जनों के लिये प्रयोग करे ॥७१॥

वक्तव्य— अञ्जन लगाने की विधि—

वामेन अक्षि निर्भुज्य हस्तेन सुसमाहितः ।
शलाकया दक्षिणेन क्षिपेत्कानीनमञ्जनम् ॥
अपाङ्गं वा यथायोग्यं कुर्याच्चापि गतागतम् ।
वर्त्मोपलेपि वा यत्तदङ्गुल्यैव प्रयोजयेत् ॥

कर्मानुसार शलाकानिर्माण—

ताम्रलोहाश्मसंजाता शलाका लेखने मता ।
सुवर्णरजतोद्भूता शलाका स्नेहने मता ॥७२॥
अङ्गुली च मृदुत्वेन कथिता रोपणे बुधैः ।

ताम्र, लोह अथवा पत्थर से बनी हुई सलाई लेखनाञ्जन प्रयोग करने में प्रयुक्त करे । सुवर्ण और चादी से बनी सलाई स्नेहन कर्मार्थ प्रयोग करे । कोमल होने के कारण रोपणाञ्जन अगुली से ही प्रयोग करे ॥७२॥

समय निर्देश—

सायं प्रातर्नाञ्जनं स्यात्तत्सदा नैव कारयेत् ॥७३॥
नातिशीतोष्णवाताभ्रवेलायां संप्रशस्यते ।
कृष्णभागादधः कुर्यादपाङ्गं यावदञ्जनम् ॥७४॥

(आवश्यकतानुसार) सायकाल और प्रातःकाल अञ्जन को लगावे । जब शीत, उष्ण और वर्षा की अधिकता हो एव आकाश बादलों से घिरा हो तब अञ्जन को न लगावे । अञ्जन लगाते समय नेत्र बुद्बुद् के काले भाग से नीचे शलाका घर्षण करे । शलाका का आरम्भ (नेत्र में प्रवेश) अपाग (कनपटी) की ओर से करे ॥७३—७४॥

चन्द्रोदया वर्ति—

शङ्खनाभिर्बिभीतस्य मज्जा पथ्या मनःशिला ।

पिप्पली मरिचं कुष्ठं वचा चेति समांशकम् ॥७५॥
छागीक्षीरेण संपिष्य वर्ति कृत्वा यवोन्मिताम् ।
हरेणुमात्रां संघृष्य जलैः कुर्यादथाञ्जनम् ॥७६॥
तिमिरं मांसवृद्धिं च काचं पटलमर्वुदम् ।
रात्र्यान्ध्यं वार्षिकं पुष्प वर्तिश्चन्द्रोदया जयेत् ॥७७॥

शखनाभि (आवर्ताकृति शख का मध्य भाग यह अत्यन्त दृढ और स्वच्छ होने के कारण ग्राह्य है। प्राय वैद्य लोग इस योग में इस की भस्म लेते हैं और कई अपक्व शखनाभि को घिस कर डालते हैं), वहेडे की मिंगी, हरीतकी चूर्ण, शुद्ध मैनसिल, कालीपीपल का चूर्ण, कालीमिरच का चूर्ण, कूठ का चूर्ण और वच का चूर्ण—प्रत्येक वस्तु का वस्त्रपूत चूर्ण समान भाग एकत्र कर खरल में डाले और वकरी के दूध से भावना देकर दृढ पेषण करे और जौं के आकार की वत्ती वना लेवे। प्रयोग काल में जल के साथ हरेणु मात्र घिस कर अञ्जन करे। इस से तिमिर, मांसवृद्धि, काच, पटलार्वुद, रात्र्यन्ध (अधराता), एक वर्ष का फूला—यह सव रोग दूर होते हैं ॥७५-७७॥

वक्तव्य—प्रथम एक पत्थर के स्वच्छ और दृढ खरल में मन शिला को वकरी के दूध में पीसे और दूसरे खरल में वहेड़े की मज्जा को भी इसी प्रकार पीसे। जव दोनों पृथक् २ अत्यन्त वारीक हो जायँ तव सुपिष्ट वहेडे की मज्जा को मन शिला के खरल में डाल कर मिला देवे। ऊपर से एक पाव वकरी का दूध डाल कर घोटे (यदि प्रत्येक द्रव्य १—१ तोला हो तो एक पाव दूध पर्याप्त है)। तदनन्तर अवशिष्ट औषधों के वस्त्रपूत चूर्ण को इसी खरल में डाल कर रगडना शुरू कर देवे। निरन्तर रगडने के पश्चात् जव पिष्ट औषध वत्ती वनाने योग्य हो तो यथाविधान वत्तिया वना कर छाया में सुखा लेवे।

प्रयोग विधि—स्वच्छ पत्थर के छोटे से टुकडे पर दो बूंद जल डाल कर उस पर वत्ती का अग्रभाग घिसे। जव घृष्ट पदार्थ घिसे चन्दन की तरह हो जाये तव इस घृष्ट पदार्थ को अगुली से उठाकर शलाका के अग्रभागों पर लगा देवे और यथाविधि इस को नेत्रों में लगावे। इस में लिखे हुए लाभ इस से अवश्य होते हैं। यह तीक्ष्णाजन है। अत रात्रि को प्रयोग करे।

करञ्जवर्ति —

पलाशपुष्पस्वरसैर्बहुशः परिभाविता ।
करञ्जबीजवर्त्तिस्तु दृष्टेः पुष्पं विनाशयेत् ॥७८॥

करञ्जुए के वीजों को पीसकर पलाश (ढाक) के फूलों के रस से वहुत (सात) वार भावना देकर सुखा लेवे और यथाविधान वर्ति वना कर जल से घिस कर प्रयोग करे। इस के प्रयोग से दृष्टि का पुष्प (फोला) नष्ट होता है ॥७८॥

समुद्रफेनादिवर्ति —

समुद्रफेनसिन्धूत्थशङ्खदत्ताण्डवल्कलैः ।
शिग्रुबीजयुतैर्वर्तिः शुक्रादींश्छस्त्रवल्लिखेत् ॥७६॥

समुद्र झाग, सैन्धानमक, शंख (भस्म), दत्ताण्ड (कुक्कड के अंडे) के छिलके की भस्म और सुहाजने के बीज—इन सब को समान भाग लेकर पीसे और यथा-विधान वर्ति बनाकर प्रयोग करने से यह शस्त्र की तरह (शीघ्र) आख के फूले को नष्ट करती है ॥७६॥

दन्तवर्ति —

दन्तैर्दन्तिवराहोष्ट्रगोहयाजखरोद्भवैः ।
शङ्खमुक्ताम्भोधिफेनयुतैः सर्वैर्विचूर्णितैः ॥८०॥
दन्तवर्तिः कृता श्लक्ष्णा शुक्राणां नाशिनी परा ।

हाथी, सूअर, ऊँट, गौ, घोडा, बकरा और गधा—इनके दात पृथक् २ सूक्ष्म पीस कर (अथवा भस्म बनाकर) समान भाग तोल लेवे और शख (भस्म) तथा मोती (बढिया) और समुद्र झाग—यह भी समान भाग अर्थात् उपरोक्त दांतों की भस्म यदि पृथक् २ एक एक तोला हो तो यह शंखादि द्रव्य भी पृथक् २ एक २ तोला लेवे । सबको समान भाग लेकर बारीक पीसे और जल से (यवाकृति) कोमल बत्तिया बनावे । यह शुक्र (फोला) नष्ट करने में अत्युत्तम हैं ॥ ८० ॥

तन्द्रानाशकवर्त्ति —

नीलोत्पलं शिग्रुबीजं नागकेशरकं तथा ॥८१॥
एतत्कल्कैः कृता वर्तिरतितन्द्रां विनाशयेत् ।

नीलोफर का चूर्ण, सुहांजने के बीजों का चूर्ण और नागकेशर का चूर्ण—सबको समान भाग लेकर जल से पीसकर बत्ती बनावे । इसको जल से घिस कर आखों में प्रयोग करने से तन्द्रा (अर्धनिद्रितावस्था) नष्ट होती है ॥८१॥

पुष्पवर्ति —

तिलपुष्पाण्यशीतिः स्युः षष्टिः पिप्पलितण्डुलाः ॥८२॥
जातीकुसुमपञ्चाशन्मरिचानि च षोडश ।
सूक्ष्मं पिष्ट्वा जले वर्तिः कृता कुसुमिकाभिधा ॥८३॥
तिमिरार्जुनशुक्राणां नाशिनी मांसवृद्धिहृत् ।
एतस्याश्चाञ्जने मात्रा प्रोक्ता सार्धहरेणुका ॥८४॥

तिलों के फूल ८० (सख्या में), कालीपीपल के दाने (जो पीपल के भीतर से सर्षपाकृति निकलते हैं) ६० (सख्या में), चमेली के फूल ५०, कालीमिरच के

दाने १६ (संख्या में)—इन सब को उक्त मानानुसार लेकर जल के साथ (उत्तम पत्थर के खरल में) पीसे और यथाविधान वत्तिया बना लेवे । इसको कुसुमिका (पुष्प) वर्त्ति कहते हैं । इन के प्रयोग से तिमिर, अर्जुन (आंख के शुक्लभाग में रक्तवर्ण का विन्दु सा होना), शुक्र और मांसवृद्धि—इनका नाश होता है । इसको जल से घिसकर १।। हरेणु मात्र आंख में डाले ।।८२—८४।।

रसाञ्जनवर्ति —

रसाञ्जनं हरिद्रे द्वे मालतीनिम्बपल्लवाः ।
गोशकृद्रससंयुक्ता वर्तिर्नक्तान्ध्यनाशिनी ।।८५।।

रसौंत, हलदी, दारुहलदी, चमेली के पत्ते और नीम के पत्ते—इन सब को समान भाग लेकर गौ के गोवर के रस से पीसे और वत्ती बना लेवे और प्रयोग काल में भी गौ के गोवर के रस से घिसकर प्रयोग करे । इस से नक्तान्ध्य (रात को देखने की शक्ति का नाश) रोग दूर होता है ।।८५।।

धात्र्यादिवर्ति —

धात्र्यक्षपथ्याबीजानि एकद्वित्रिगुणानि च ।
पिष्ट्वा वर्तिं जलैः कुर्यादञ्जनं द्विहरेणुकम् ।।८६।।
नेत्रस्रावं हरत्याशु वातरक्तरुजं तथा ।

आमले के बीजो की मज्जा १ तोला, बहेड़े की मिंगी २ तोले, हरीड़ की गुठली के भीतर की मज्जा ३ तोला—इन सबको यथाविधान पत्थर के खरल में जल से पीसकर दो हरेणु समान जल से घिसकर नेत्रों में प्रयोग करे । इससे नेत्रों का जल स्राव तथा नेत्रों में होने वाली वातरक्त सम्बन्धी पीडा दूर होती है ।।८६।।

वक्तव्य—कही २ धात्रीवर्ति के आगे यह निम्नोद्धृत पाठ और दृष्टिगोचर होता है । यथा—

पारावतमलं निष्कं मरिचं माषमात्रकम् ।
घृष्ट्वा बद्ध्वा निम्बवर्तीनां तोयं पर्युषितं जयेत् ॥
नक्तान्ध्य चिरकालस्थं हन्ति साज्य न संशय. ।
श्वेतं पलाण्डुस्वरसं हन्ति नक्तान्ध्यमानवम् ॥
सौराष्ट्रीं कर्षमेकं तु तत्समं खर्परं न्यसेत् ।
टंकार्धं तुत्थकं योज्य सूक्ष्मं कृत्वा स चैकनः ॥
कांस्यपात्रेण ताम्रेण घर्षयेन्निम्बुकद्रवैः ।
चतुर्थदिनपर्यन्तं मर्दयेच्छोषयेत्पुन ॥
घृतेन सहितां युक्त्या वटिकां कारयेद्बुधः ।
नार्याः स्तन्येन वर्तिः सा नेत्रदृष्टिप्रसादिनी ॥
आजन्मगतवर्त्मानः पुनरेव भवन्ति च ।
कण्डूस्रावं हरेच्छीघ्रं गृध्रदृष्टिर्भवेन्नर. ॥

रसक्रिया—

तुत्थमाक्षिकसिन्धूत्थं सिताशङ्खमनःशिलाः ॥८७॥
गैरिकोदधिफेनं च मरिचं चेति चूर्णयेत् ।
संयोज्य मधुना कुर्यादञ्जनार्थं रसक्रियाम् ॥८८॥
वर्त्मरोगार्मतिमिरकाचशुक्रहरां पराम् ।
वटक्षीरेण संयुक्तो मुख्यः कर्पूरजः कणः ॥८९॥
क्षिप्रमञ्जनतो हन्ति कुसुमं तु द्विमासिकम् ।

नीलाथोथा, स्वर्णमाक्षिक भस्म, सैंधानमक, मिशरी, शंख (नाभि भस्म), शुद्ध मैनसिल, गेरीमिट्टी (स्वर्ण गेरु), समुद्रभाग और कालीमिरच का चूर्ण—सबको समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके शहद मिलाकर अञ्जन करे। इससे वर्त्म (पलकों के) रोग अर्म (श्वेत भागीय पञ्चविध) रोग, तिमिर, काच (मोतिया बिन्द), शुक्र (फूला)—यह सब नष्ट होते हैं। यह लेखन कर्मार्थ रसक्रिया है। तत्काल के आख के फूले पर इसे घर्षण करने से तुरन्त लाभ करती है। एवं अत्युत्तम कर्पूर के टुकडे को बोढ (वट) के दूध में घिसकर अञ्जन करने से दो मास का फूला तुरन्त नष्ट होता है ॥८७—८९॥

वक्तव्य—यह उत्तम योग है। अभिष्यन्द और अभिघातादि से तथा शीतलाजनित तुरन्त के फूले पर उत्तम लाभ करता है।

निद्राहर योग—

क्षौद्राश्वलालासंघृष्टैर्मरिचैर्नेत्रमञ्जयेत् ॥९०॥
अतिनिद्रा शमं याति तमः सूर्योदयादिव ।

घोडे के मुख की लार में कालीमिरच को घिसकर उसमें शहद मिलाकर अञ्जन करे। इससे अतिनिद्रा शीघ्र शात होती है। जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट होता है उसी प्रकार इसके प्रयोग से अतिनिद्रा रोग नष्ट होता है ॥९०॥

प्रबोधाञ्जन—



जातीपुष्पं प्रवालं च मरिचं कटुकी वचा ॥९१॥
सैन्धवं बस्तमूत्रेण पिष्टं तन्द्राघ्नमञ्जनम् ।

मालती के फूल और प्रवाल, चमेली की कलिया (पुष्पितावस्था का पूर्व रूप), कालीमिरच, कुटकी, वच, सैन्धानमक—इन सबको समान भाग लेकर बकरी के मूत्र में पीसकर अञ्जन करे। इससे तन्द्रा (अर्धनिद्रितावस्था) दूर होती है ॥९१॥

अन्य प्रबोधाञ्जन—

शिरीषबीजगोमूत्रकृष्णामरिचसैन्धवैः ॥९२॥
अञ्जनं स्यात्प्रबोधाय सरसोनशिलावचैः ।

सिरस के बीजों की गिरी, कालीपीपल और कालीमिरच—इन सबको समान भाग लेकर गोमूत्र में पीसे और वत्ती बना लेवे । प्रयोग काल में गोमूत्र से घिस कर प्रबोधनार्थ नेत्रों में अञ्जन करे । अथवा लहसन की तुरिया, शुद्ध मैनसिल और वच—इनको समान भाग लेकर लहसन के रस में पीसकर और लहसन के ही स्वरस में घिसकर विसञ्ज्ञा नष्ट करने के लिये प्रबोधार्थ, आखों में अञ्जन करे ।

नेत्रदाहनाशक रसक्रिया—

दार्वी पटोलं मधुकं सनिम्बं पद्मकोत्पलम् ॥६३॥
प्रपौण्डरीकं चैतानि पचेत्तोये चतुर्गुणे ।
विपाच्य पादशेषं तु शृतं नीत्वा पुनः पचेत् ॥६४॥
शीते तस्मिन् मधु सितां दद्यात्पादांशिकां नरः ।
रसक्रियैषा दाहाश्रुरक्तरागरुजो हरेत् ॥६५॥

दारुहलदी की छाल, पडोलपत्र, मुलेठी, नीम की छाल, पद्माख, कमल-पुष्प, श्वेतकमल—सब समान भाग (प्रत्येक १—१ पाव) लेकर यथाविधि कूट लेवे और उत्तम पात्र में डालकर पाकार्थ—जल ७ सेर डालकर क्वाथविधि से पाक करे । जब चतुर्थांश जल शेष रहे तब पात्र को चूल्हे से नीचे उतार कर यथावस्र हाथ से मसल कर क्वाथ को वस्त्र से छान लेवे । इस छने हुए क्वाथ को पुन शुद्ध पात्र में डालकर चूल्हे पर चढाकर मन्द २ अग्नि से पकावे । जब गाढ़ा (रसक्रिया तुल्य) हो जावे तब अग्नि से नीचे उतार कर रख लेवे । शीतल होने पर इस अवशिष्ट रसक्रिया से चतुर्थांश मिशरी और शहद (मिले हुए चतुर्थांश) मिलाकर रख लेवे । इस सिद्धौषध को सलाई पर लगाकर नेत्रों में लगाने से नेत्रदाह (जलन), नेत्रस्राव और नेत्रों की लाली दूर होती है ॥६३—६५॥

रसाञ्जनादि रसक्रिया—

रसाञ्जनं सर्जरसो जातीपुष्पं मनःशिला ।
समुद्रफेनो लवणं गैरिकं मरिचानि च ॥६६॥
एतत्समांशं मधुना पिष्ट्वा प्रक्लिन्नवर्त्मनि ।
अञ्जनं क्लेदकण्डूघ्नं पक्ष्मणां च प्ररोहणम् ॥६७॥

रसौंत, राल, चमेली के फूल, शुद्ध मैनसिल, समुद्रझाग, सैन्धानमक, गेरी, कालीमिरच—इन सब को समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करे और शहद मिला कर नेत्रों में अञ्जन करे । इससे प्रक्लिन्नवर्त्मरोग, क्लेद और नेत्रों की खाज नष्ट होती है तथा पलकों के वालों का प्ररोहण (वृद्धि) होता है ॥६६—६७॥

गुडूच्यादि रसाञ्जन—

गुडूचीस्वरसः कर्षः क्षौद्रं स्यान्माषकोन्मितम् ।

सैन्धवं क्षौद्रतुल्यं स्यात्सर्वमेकत्र मर्दयेत् ॥६८॥
अञ्जयेन्नयनं तेन पिल्लार्मतिमिरं जयेत् ।
काचं कण्डूं लिङ्गनाशं शुक्लकृष्णगतान्गदान् ॥६६॥

गिलोय का स्वरस एक तोला, शहद एक माशा, सैन्धा नमक एक माशा— सब को मिला कर दृढ मर्दन करे और पुन इस रसक्रिया को सलाई के साथ नेत्रों में अञ्जन करने से पिल्ल, अर्मरोग, तिमिररोग, काच (मोतियाविन्द), नेत्रों की खाज, लिगनाश (देखने की शक्ति का नाश) तथा नेत्रो के शुक्ल और कृष्ण भाग में होने वाले रोगो का नाश होता है ॥६८—६६॥

पुनर्नवादि रसाञ्जन—

दुग्धेन कण्डूं क्षौद्रेण नेत्रस्रावं च सर्पिषा ।
पुष्पं तैलेन तिमिरं काञ्जिकेन निशान्धताम् ॥१००॥
पुनर्नवा जयेदाशु भास्करस्तिमिरं यथा ।

इटसिट की जड को (स्त्री के) दूध में घिस कर अञ्जन करने से नेत्रों की खाज दूर होती है। शहद के साथ पुनर्नवा के मूल को घिस कर अजन करने से नेत्रों का जल स्राव दूर होता है। गोघृत के साथ पुनर्नवा के मूल को घिस कर अञ्जन करने से पुष्प (फोला) दूर होता है। तिल तैल के साथ पुनर्नवा के मूल को घिस कर अञ्जन करने से तिमिर रोग नष्ट होता है। काजी (तुपोदक अथवा सिरका) के साथ पुनर्नवा मूल को घिस कर अञ्जन करने से निशान्धता (रात को न देखना, नष्ट होता है। उपर्युक्त नेत्र रोगों को प्रयोग भेद से पुनर्नवा शीघ्र ही उसी प्रकार जीत लेती है जैसे सूर्य भगवान् अन्धकार को ॥१००॥

वब्बूलपत्रादिरसाञ्जन—

वब्बूलदलनिःक्वाथो लेहीभूतस्तदञ्जनात् ॥१०१॥
नेत्रस्रावं जयत्येप मधुयुक्तो न संशयः ।

वब्बूल (कीकर) के पत्रों को कूट कर चतुर्गुण जल डाल कर क्वाथ करे। पुन चतुर्थांश रहने पर उतार कर मसले और वस्त्रद्वारा छान लेवे। पुन इस वस्त्रपूत क्वाथ को स्वच्छ पात्र में डाल कर मद २ आच से पकावे। जव गाढा हो जावे तव शहद मिला कर सलाई से इस को आखों में डाले। यह नेत्रों से होने वाले जल स्राव को दूर करता है ॥१०१॥

रोपणार्थ, हिज्जल रसाञ्जन—

हिज्जलस्य फलं घृष्ट्वा पानीये नित्यमञ्जनम् ॥१०२॥
चक्षुःस्रावोपशान्त्यर्थं कार्यमेतन्महौपधम् ।

समुद्रफल के वीजों को स्वच्छ शिला खण्ड पर जल से घिसकर शलाका

द्वारा अञ्जन करे। इस से नेत्रों का जल वहना वन्द होता है । यह जलस्राव को रोकने के लिये उत्तम औषध है ॥१०२॥

प्रसादनार्थ कतकादि रसाञ्जन—

कतकस्य फलं घृष्ट्वा मधुना नेत्रमञ्जयेत् ॥१०३॥
ईषत्कर्पूरसहितं स्मृतं नेत्रप्रसादनम् ।

कतक (निर्मली) के वीजों को शहद से घिसकर और थोडा सा कर्पूर साथ में घिसकर अञ्जन करने से नेत्रों की वलवृद्धि, प्रसन्नता और नेत्रों में शैत्यता होती है।

शिरोत्पातहर रसाञ्जन—

सर्पिः क्षौद्रं चाञ्जनं स्याच्छिरोत्पातस्य शान्तये ॥१०४॥

शिरोत्पात (वेदनायुक्त अथवा वेदनारहित आखों का रक्तवर्ण होना) रोग को शात करने के लिये शुद्ध गोघृत और असली शहद मिलाकर अजन करना चाहिये ॥१०४॥

कृष्णसर्पवसा रसक्रिया—

कृष्णसर्पवसा शङ्खः कतकात्फलमञ्जनम् ।
रसक्रियेयमचिरादन्धानां दर्शनप्रदा ॥१०५॥

काले साप की वसा (चरवी), शख (नाभि भस्म), निरमली के वीज (यह श्वेताभ गोलाकृति होते हैं)—इन तीनों को रसक्रिया के विधान से तैयार करके अञ्जन करने से अन्धों को दीखने लग जाता है ॥१०५॥

वक्तव्य—यह योग आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों और मान्य संहिताओं में भी आता है अत सिद्ध योग प्रतीत होता है। विज्ञापनदाता लोग भी इसके नाम के गीत गाते हैं।

विधि—काला फणिहर साप जो एक घटे के अन्दर का मरा हुआ हो, उसको हाडी में डालकर पाताल यत्र की विधि से तैल निकाल लेवे। यह सर्पवसा है। यह १ तोला, शख भस्म ६ माशे और ६ माशा निरमली के वीजों को स्त्री के दूध में घिसकर मिलावे और इसे दृढ मर्दन करे और इस सिद्ध औषध को शीशी में भर कर रख लेवे। इस में से रात्रि को एक सलाई एक आख में और दूसरी सलाई दूसरी आख में लगावे। इस प्रकार सेवन करने से शीघ्र ही दृष्टि को रोकने वाला पदार्थ नष्ट होता है और आख देखने योग्य हो जाती है। यह काच (दृष्टि रोग मोतियाविन्द) की उत्तम औषध है। इसी रोग में इसका व्यवहार करना चाहिये।

कई वैद्य इसका प्रयोग इस प्रकार करते हैं—घिसी हुई निरमली को शंख भस्म में मिला देते हैं और इन दोनों का सूक्ष्मचूर्ण वना लेते हैं। सर्पवसा को यथाविधि प्राप्त करके शीशी में रख लेते हैं और प्रयोगकाल में प्रथम सलाई के अग्रभाग को सर्पवसा में डुवोकर वाद में शख और निरमली के चूर्ण में डुवो कर और आखों

में अञ्जन कर लेवे। इसके लगाने से कुछ कष्ट होता है परन्तु क्षति कोई नही होती। उष्णकाल अथवा मध्याह्न में इसका प्रयोग न करे। इसी प्रकार का एक और उत्तम विधान सुश्रुत संहिता में वर्णित है। यथा—

प्रत्यञ्जनं स्रोतसि यत्समुत्थितं क्रमाद्रसक्षीरघृतेषु भावितम्।
स्थितं दशाहत्रयमेतदञ्जन कृष्णोरगास्ये कुशसंप्रवेष्टिते॥
तन्मालतीक्षारकसैन्धवायुतं सदाञ्जनं स्यात्तिमिरेऽथ रागिणि।
सुभावितं वा पयसा दिनत्रयं काचापहं शास्त्रविदः प्रचक्षते॥

अर्थात् काले सुरमे को क्रमश मांसरस, दूध, घृत—इन की (१०—१०) भावना देवे और सुखाकर गोली बना लेवे और तत्काल के मरे हुए काले सर्प के मुख में भरकर और ऊपर से सर्प के मुख को कुशा से लपेट कर ३० दिन तक मृत्पात्र में बन्द करके (पृथ्वी के अन्दर गढ़ा खोदकर गाड कर) पड़ा रहने देवे। पुन एक मास के पश्चात् अञ्जन की गोली निकाल कर चमेली के फूलों का क्षार और सैन्धानमक (अञ्जन मान से आधा क्षार और आधा सैन्धव) डालकर रगडे। इस प्रकार व्यवहार करे। एवं दूध से भावना देकर प्रयोग करने से काचरोग नष्ट होता है। ऐसा शास्त्रज्ञ वैद्य कहते हैं।

लेखनाञ्जन—

दक्षाण्डत्वक्शिलाकाचशङ्खचन्दनसैन्धवैः।
द्रव्यैरञ्जनयोगोऽयं पुष्पार्मादिविलेखनः॥१०६॥

मुरगे के अण्डों का छिलका (भस्म), शुद्ध मैनसिल, काच (कालीबोतल ; कांच का चूर्ण), शङ्ख (भस्म), श्वेत चन्दन, सैन्धानमक—इन सब को समान ाग लेकर चूर्ण करे। इस चूर्णाञ्जन को प्रयोग करने से (घिसने से) फूला और र्मरोग शात होते हैं॥१०६॥

रात्र्यन्धनाशक योग—

कणा छागयकृन्मध्ये पक्त्वा नेत्रयुगेऽञ्जिता।
अचिराद्धन्ति नक्तान्ध्यं तद्वत्सक्षौद्रमूषणम्॥१०७॥

वकरे के यकृत् (कलेजे) के मध्य भाग में स्वच्छ कालीपीपल को रक्खे और स पिप्पलीपूरित यकृत् को कलईदार बर्तन में डालकर ऊपर से ढक देवे और मन्द २ ाँच से पकावे। जब पीपल स्विन्न होकर फूल जावे तब इस को इसी यकृत के) के साथ घिसकर नेत्रों में अञ्जन करे। इस प्रकार करने से शीघ्र ही रतौंधा नष्ट ा है। एवं उसी प्रकार स्विन्न कालीमिरचों को पीसकर शहद के साथ मिलाकर ान करने से भी रात को न देखने का रोग नष्ट होता है॥१०७॥

वक्तव्य—रात्र्यन्धरोग में खाने के लिये भी बकरे का यकृत प्रयुक्त किया गया है।

नक्तान्ध्यहर चूर्णाञ्जन—

शाणार्धं मरिचं द्वौ च पिप्पल्यर्णवफेनयोः ।
शाणार्धं सैन्धवं शाणा नव सौवीरकाञ्जनात् ॥१०८॥
पिष्टं सुसूक्ष्मं चित्रायां चूर्णाञ्जनमिदं शुभम् ।
कण्डूकाचकफार्तानां मलानां च विशोधनम् ॥१०९॥

कालीमिरच का चूर्ण २ मासे. कालीपीपल का चूर्ण ४ मासे. समुद्रझाग का चूर्ण ४ मासे. सैन्धानमक का चूर्ण २ मासे. सुरमा ३ तोला—सब को यथाविधि उत्तम खरल में पीसकर उचित पात्र में रख लेवे । इसके प्रयोग करने से नेत्रों की खाज. काच तथा कफजनित नेत्ररोग नष्ट होते हैं एवं नेत्रों के मल (गीद) को नष्ट करता है ॥१०८—१०९॥

रोपणाञ्जन—खर्परचूर्ण—

शिलायां रसकं पिष्ट्वा सम्यगासाव्य वारिणा ।
गृहीयाचज्जलं सर्वं त्यजेच्चूर्णमधोगतम् ॥११०॥
शुष्कं च तज्जलं सर्वं पर्पटीसन्निभं भवेत् ।
विचूर्ण्य भावयेत्सम्यक् त्रिवेलं त्रिफलारसैः ॥१११॥
कर्पूरस्य रजस्तत्र दशमांशेन निक्षिपेत् ।
अञ्जयेन्नयने तेन सर्वदोषहरं भवेत् ॥११२॥
सर्वरोगहरं चूर्णं चक्षुषोः सुखकारि च ।

उत्तम शिला अथवा खरल में अत्युत्तम खपरिया (यशद कारण. कारवेल्लक अथवा दर्दुर जाति का) डालकर जल से पेषण करे। अत्यन्त बारीक पीसने के पश्चात् इस में जल डालकर इसे घोल लेवे और तत्काल इसके जल को स्वच्छ पात्र में निकाल लेवें । तदन्तर इस जल को स्वच्छ होने पर्यंत पड़ा रहने देवे। पुनः इस स्वच्छ जल को निकाल देवे और पात्र के तल में खपरिया का वह भाग जो जल में घुल गया था नीचे बैठा हुआ पर्पटी के स्वरूप में मिलेगा। उसे प्राप्त करके खरल में डाले और इस पर्पटीवत् पदार्थ को त्रिफला क्वाथ से तीन भावना देवे। सूख जाने पर पुनः इस भावित पदार्थ में दशमांश कर्पूर मिलाकर चूर्ण बना लेवे । इसका प्रयोग नेत्रों के सब दोषों (वात. पित्त, कफ रक्त आदि से उत्पन्न) नष्ट करता है और अभिष्यन्द, अधिमन्थ. दाह. कण्डू आदि रोग ... नेत्रों को सुखदायक (नेत्रज्योतिवर्धक) होता है ॥११०—११२॥

प्रक्षालनाञ्जन—

अभितप्तं द्विसप्तवारं निषिञ्चेत्त्रिफलारसैः ॥११३॥